'कल्याण' के ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१—'कल्याण'के ५६वें वर्ष-(सन् १९८२) का विशेषाङ्क—'श्रीवामनपुराणाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४३२ पृष्ठोंमें पाठ्यसामग्री है और ८ पृष्ठोंमें सूची आदि। यथास्थान कई रंगीन चित्र भी दिये गये हैं।

२—जिन ग्राहक महानुभावोंके मनीआर्डर आ गये हैं, उनको विशेषाङ्क फरवरीके अङ्कके साथ रजिस्ट्रीद्वारा तथा जिनके रुपये नहीं प्राप्त हुए हैं, उनको वी० पी० द्वारा ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार भेजा जा सकेगा। 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क २०.०० रुपये मात्र है, जो विशेषाङ्कका ही मूल्य है।

३—मनीआर्डर कूपनमें अथवा वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या कृपया स्पष्टरूपसे अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या स्मरण न रहनेकी स्थितिमें '*पुराना ग्राहक*' लिख दें। नया ग्राहक बनना हो तो '*नया ग्राहक*' लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर 'व्यवस्थापक' कल्याण-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर' के पतेपर भेजें, किसी व्यक्तिके नामसे न भेजें।

४—ग्राहक-संख्या या '*पुराना ग्राहक*' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिख जायगा जिससे आपकी सेवामें 'श्रीवामनपुराणाङ्क' नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक संख्याके क्रमसे इसकी वी० पी० भी जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० भी चला जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप वी० पी० लौटायें नहीं; कृपया प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको नया ग्राहक बनाकर उन्हींको वी०पी०से गये 'कल्याण'के अङ्क दे दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुग्रह करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बच जायेगा और आप 'कल्याण'के पावन प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५—विशेषाङ्क—'श्रीवामनपुराणाङ्क' फरवरीवाले दूसरे अङ्कके साथ सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड पोस्टसे भेजा जा रहा है। शीघ्रता और तत्परता रहनेपर भी सभी ग्राहकोंको इन्हें भेजनेमें लगभग ५-६ सप्ताह तो लग ही जाते हैं। ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही भेजनेकी प्रक्रिया है, अतः कुछ ग्राहकोंको विलम्बसे ये दोनों अङ्क मिलेंगे। कृपालु ग्राहक परिस्थिति समझकर हमें क्षमा करेंगे।

६—आपके 'विशेषाङ्क' के लिफाफे (या रैपर) पर आपकी जो ग्राहक-संख्या और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी०-नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकता होनेपर उसके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार किया जा सके। इस कार्यसे हमारे कार्यालयको सुविधा और कार्यवाहीमें शीघ्रता होती है।

७—'कल्याण-व्यवस्था विभाग' को अलग तथा 'व्यवस्थापक गीताप्रेस'को पृथक् पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये। पतेकी जगह केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५ (उ० प्र०) भी लिखना चाहिये।

८—'कल्याण सम्पादन विभाग', 'साधक-सङ्घ' तथा 'नाम जप विभाग' को भेजे जानेवाले पत्रादिपर भी अभिप्रेत विभागका नाम लिखनेके बाद 'पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर', पिन—२७३००५(उ० प्र०) इस प्रकार पता लिखना चाहिये। पता स्पष्ट और पूर्ण रहनेसे पत्रादि यथास्थान शीघ्र पहुँचते हैं और कार्यमें शीघ्रता होती है।

व्यवस्थापक—'कल्याण' कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

वा० पु० अं० क—

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं। इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना परम मङ्गल कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदिकी कोई बाधा नहीं है। आजके समयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है अतः धर्मप्राण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे 'गीता-रामायण प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग चालीस हजार है। इसमें श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त उपासना विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याण-पथ उज्ज्वल करें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण प्रचार-संघ, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये जीवनमें सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्परायणता इत्यादि दैवी गुणोंका ग्रहण और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा इत्यादि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३४वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी। सदस्यताका शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको मात्र ४० पैसेके डाक-टिकट या मनीआर्डर अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगाइये। पता—

संयोजक—साधक-संघ, द्वारा 'कल्याण-सम्पादकीय विभाग' पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर, पिन-२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय, दिव्यतम जीवनग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक उजागर करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग बीस हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४५० (चार सौ पचास) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

॥ श्रीहरिः ॥

(१९८२ ई० ५६वाँ वर्ष)

श्रीवामनपुराणाङ्क

(लेखोंकी सूची)

श्रीवामनपुराणाङ्कके विषयोंकी सूची

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

कल्याणके द्वितीय अङ्कके (शेष वामनपुराणीय) विषयोंकी सूची

चित्र-सूची (द्वितीय अङ्क)

'एवं मया पुण्यतमं पुराणं तुभ्यं तथा वामनकीर्तितं वै ।

भगवान् वामन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ये मानवा विगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति।
ते धौतपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम्॥
(श्रीवा० पु० ९३। ७१)

वर्ष ५६ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०७, जनवरी १९८२ ई० { संख्या १ पूर्ण संख्या ६६२

मङ्गलाचरणम्

स्वस्ति स्वागतमर्थ्यहं वद विभो किं दीयतां मेदिनी
का मात्रा मम विक्रमत्रयपदं दत्तं जलं दीयताम्।
मा देहीत्युशनाब्रवीद्धरिरयं पात्रं किमस्मात्परं
चेत्येवं बलिनार्चितो मखमुखे पायात्स वो वामनः॥

'आपका कल्याण हो।' 'आपका स्वागत है।' 'मैं याचक हूँ।' 'प्रभो! कहिये। क्या दिया जाय।' 'मुझे भूमि (दानम) दीजिये।' 'कितनी मात्रामें?' 'मेरे पगसे तीन पग।' 'दे दी।' 'संकल्पका जल दीजिये।' 'मत दो ये याचक भिक्षुक नहीं, साक्षात् विष्णु हैं'—ऐसा शुक्राचार्यने कहा। (तो बलिने कहा—) 'इनसे बढ़कर दान देनेका उत्तम पात्र कौन हो सकता है!' इस प्रकार परिचर्चाके बाद राजा बलिके यज्ञारम्भमें पूजित वामन भगवान् हम सबकी—याचक-श्रोता, पाठक-पाठिका प्रभृतिकी—सदा रक्षा करें। (—सु० र० भा०)

वेदकृत वामनरूपधारी विष्णुका स्तवन

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥ १६ ॥
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे ॥ १७ ॥
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन् ॥ १८ ॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १९ ॥
तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २० ॥
तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥ २१ ॥
(ऋ० मं० १ सू० २२)

जिस भू-प्रदेशमे अपने सातों छन्दोंद्वारा विष्णुने त्रिविध पाद-क्रम किया था, उसी भू-प्रदेशसे देवता लोग हमारी रक्षा करें ॥ १६ ॥ विष्णुने इस जगत्की परिक्रमा की, उन्होंने तीन प्रकारसे अपने पैर रक्खे और उनके धूलियुक्त पैरसे जगत् छिप-सा गया ॥ १७ ॥ विष्णु जगत्के रक्षक हैं, उनको आघात करनेवाला कोई नहीं है। उन्होंने समस्त धर्मोंको धारण कर तीन पगोंमें परिक्रमण किया ॥ १८ ॥ विष्णुके कर्मोंके बलसे ही यजमान अपने व्रतोंका अनुष्ठान करते हैं। उनके कर्मोंको देखो। वे इन्द्रके उपयुक्त सखा हैं ॥ १९ ॥ आकाशमें चारों ओर विचरण करनेवाली आँखें जिस प्रकार दृष्टि रखती हैं, उसी प्रकार विद्वान् भी सदा विष्णुके उस परम पदपर दृष्टि रखते हैं ॥ २० ॥ स्तुतिवादी और मेधावी मनुष्य विष्णुके उस परम पदसे अपने हृदयको प्रकाशित करते हैं ॥ २१ ॥

अदितिकृत वामन-स्तुति

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद
तीर्थश्रव श्रवणमङ्गलनामधेय।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥
विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय
स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध
व्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ॥
आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी-
र्द्योभूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात्
त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥

(अदितिने कहा—) आप यज्ञके स्वामी हैं और स्वयं यज्ञ भी आप ही हैं। अच्युत! आपके चरणकमलोंका आश्रय लेकर लोग भवसागरसे तर जाते हैं। आपके यश-कीर्तनका श्रवण भी संसारसे तारनेवाला है। आपके नामोंके श्रवणमात्रसे ही कल्याण हो जाता है। आदिपुरुष! जो आपकी शरणमें आ जाता है, उसकी सारी विपत्तियोंका नाश आप कर देते हैं। भगवन्! आप दीनोंके स्वामी हैं। आप हमारा कल्याण कीजिये। आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं और विश्वरूप भी आप ही हैं। अनन्त होनेपर भी स्वच्छन्दतासे आप अनेक शक्ति और गुणोंको स्वीकार कर लेते हैं। आप सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। नित्य निरन्तर बढ़ते हुए पूर्ण बोधके द्वारा आप हृदयके अन्धकारको नष्ट करते रहते हैं। भगवन्! मैं आपको नमस्कार करती हूँ। प्रभो! अनन्त! जब आप प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्योंको ब्रह्माजीकी लंबी आयु, उनके ही समान दिव्य शरीर, प्रत्येक अभीष्ट वस्तु, अतुलित धन, स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल सारी सम्पत्ति, सिद्धियाँ, अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्ग और केवल (अद्वितीय) ज्ञानतक प्राप्त हो जाता है, फिर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना आदि जो छोटी-छोटी कामनाएँ हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। (आप समस्त मनोरथोंके फल-रूप हैं।) (श्रीमद्भा० ८। १७। ८-१०)

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्

(दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य परमपूज्य स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

इस याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रमाणवचनमें विद्या और धर्म-निर्णयमें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिषरूप षड् वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा आदि दर्शन एवं धर्मशास्त्रके साथ वेद परम प्रमाण हैं। वेदोक्त वचनोंके रहस्य बड़े गूढ़ हैं, अर्थात् मामूली तौरपर शब्द-शब्दार्थ जाननेवाला वेदोंका तात्पर्य नहीं समझ सकता। अङ्ग-उपाङ्गोंके साथ सम्प्रदायके अनुसार अध्ययन करनेवाला ही समझ पायेगा। उपाङ्गोंमें भी पुराणका स्थान प्रथम आया है। वे पुराण ब्राह्म-पाद्मादि भेदसे अठारह हैं।

पुराणोंका परिशीलन वेदोक्त तात्पर्य समझनेमें बड़ा सहायक होता है। इसीलिये पुराणोंमें सर्वत्र कहा गया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

पुराणोंके ज्ञानके बिना अपना तात्पर्य समझनेके प्रयास करनेवाले अल्पज्ञसे वेद डरता है कि वह व्यक्ति मेरा कहीं अपार्थ तो न कर डालेगा? पुराण और इतिहासके साथ जो वेदका ज्ञान प्राप्त होता है, वही सच्चा निकलता है। इसलिये पुराणोंका अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

वेदोंमें जो संग्रह किये या गूढ़रूपसे धर्म बताये गये हैं, वे ही स्मृतियोंमें विस्तारसे व्याख्यात हुए हैं। फिर वे ही कथा-व्याख्यानादिरूपसे पुराणद्वारा स्पष्ट रीतिसे समझाये जाते हैं, जिससे मामूली ज्ञानवाला व्यक्ति भी उसे आसानीसे समझ पावे। उदाहरणके लिये कृष्णयजुर्वेद शिक्षावल्लीमें केवल इतना ही है कि 'सत्यं वद।' स्मृतिकार—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

—इस वचनसे उसीका विस्तार करते हैं। पुराणोंमें सत्यपर अडिग रहनेवाले महाराज हरिश्चन्द्र आदिकी अनेक मनोहर कथाओंके द्वारा सत्यरूप धर्मका उपदेश समझाया गया है, जिसमें सत्यका पालन करनेवाला आरम्भमें कष्ट प्राप्त होनेपर भी अन्तमें उस सत्य-वचनरूप एकमात्र धर्मसे ही परमात्माका साक्षात्कार कर अपना जीवन धन्य बना लेता है। इससे सत्य धर्मकी वैदिक **'सत्यं वद'** विधिवाक्यकी व्याख्या पूरी हो जाती है और हम सत्यरूप धर्मका महत्त्व समझ लेते हैं। वेदका अपार्थ नहीं होने पाता। इसी प्रकार पुराण हमें धृति, क्षमा, दम, ब्रह्मचर्य आदि वेदप्रतिपादित धर्मोंका महत्त्व समझाते हैं।

महापुराणोंमें वामनपुराण भी एक है। इसमें भगवान् श्रीवामनजीका जन्म और उनके लीलाचरित्रके साथ नाना आख्यानोंके द्वारा धर्मका निरूपण किया गया है। धर्मनिरूपण-प्रकरणमें वामनपुराण कहता है—

एतत्प्रधानं पुरुषस्य कर्म
यदात्मसम्बोधसुखं प्रविष्टम् ।
ज्ञेयं तदेव प्रवदन्ति सन्त-
स्तत्प्राप्य देही विजहाति कामान् ॥
(४३ । २५)

पुरुषका प्रधान कार्य यही है कि वह सुखस्वरूप आत्मज्ञान प्राप्त करे। सत्पुरुष उसी आत्माको ज्ञातव्य कहते हैं जिसे प्राप्त करनेपर मनुष्य सारी कामनाओंसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

वामनपुराणके इस तात्त्विक उपदेशमें धर्मका वास्तव अन्तिम स्वरूप व्याख्यात है। आत्माका ज्ञान ही अन्तिम धर्म-साध्य चरम पुरुषार्थ है।

पुराणोंके पर्यालोचनसे लाभ

(तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधिपति परमपूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य महाराजका शुभाशीर्वाद)

आजकल परिस्थिति ऐसी बदल गयी है कि लोगोंकी पुराण-श्रवण और पठन—दोनोंमें श्रद्धा नहीं रह गयी है। यह प्रवृत्ति कैसे सुधरे—इसके लिये हमलोगोंके हृदयमें बड़ी चिन्ता होती है। पुराणानुशीलनसे परम लाभ है। वर्तमान प्रवृत्तिके सुधारके लिये जनताको अपनी प्रवृत्ति सुधारने, सुरुचिको बढ़ानेमें सहायतार्थ 'कल्याण'को अवश्य पढ़ना चाहिये। 'कल्याण' पत्र पुराणों एवं इतिहासोंको एक-एक करके प्राय: यथासमय अपने विशेषाङ्कके द्वारा लोगोंके सामने रखनेके कार्यमें सफल हुआ है, इस बातसे हमें बड़ी प्रसन्नता होती है और हमारा उनके लिये परम आशीर्वाद है। 'कल्याण'के इस प्रयाससे जनताकी अभिरुचि पुराणोंमें बढ़ेगी और वेदार्थका प्रकाश होगा।

बड़े हर्षकी बात है कि 'कल्याण' इस वर्ष वामनपुराणको अर्थसहित अपने विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित करने जा रहा है। उसकी सफलताके लिये हमारा आशीर्वाद है।

वामनपुराण सद्धर्म, नीति एवं सदाचारको जनताके बीच फैलानेवाला आर्ष-ग्रन्थ है। इसे पढ़नेसे लोग विरागी एवं सदाचारी बनेंगे, अपना-पराया कल्याण करेंगे, इस धर्मप्रधान देशका मङ्गल होगा।

अपने सनातन वैदिक धर्मके आधार और प्रमाणभूत मूलग्रन्थ अपौरुषेय वेद ही हैं। पर वेदोंके भाव और उनमें कही हुई बातोंको आख्यानोपाख्यानोंद्वारा सुस्पष्ट करनेका यत्न पुराण ही करते हैं। इसलिये भारतीय विचारक मनीषी वेदोंके व्याख्यानके लिये इतिहास तथा पुराणोंको पढ़ते हैं। पहले अशिक्षित ग्रामीण लोग भी मन्दिर और पवित्र नदियोंके तटोंपर पढ़े पढ़ाये जाते हुए पुराणोंको तथा वैशाख, श्रावण, कार्तिक, माघ आदि मासीय धर्मकृत्य-माहात्म्यों, तीर्थ-माहात्म्योंको श्रवण कर पारमार्थिक लाभ उठाते थे। पुराण इतिहासोंको पढ़नेसे पुरातन प्राचीन राजा-महाराजोंके सफल इतिहास और सामाजिक व्यवस्थाका ज्ञान भी मिलता है। सृष्टि और प्रलय—दोनोंके विषयमें बहुत-सी बातोंका ज्ञान हमको पुराण ही देते हैं। साथ-साथ भूगोल और खगोलके बारेमें भी हम सीख सकते हैं। हमारे धर्मकी बातें कैसे बिना संशय कालके द्वारा ही आजतक पहुँची हैं?—पुराणोंके द्वारा ही तो। पुराणोंको सुनने और पढ़नेसे सब पाप दूर होते हैं और श्रेष्ठ धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक संस्कारोंकी छाप पड़ती है। इससे लोग ईश्वरको सर्वेश मानेंगे और उनमें दृढ़ भक्ति करेंगे। और, फिर ईश्वर चरणारविन्दोंमें प्रपन्न होकर जीवनका वास्तविक फल प्राप्त करेंगे।

पुराणोंमें वामनपुराण बड़े महत्त्वका है। इसमें वामन एवं नर-नारायणके तथा भगवती दुर्गाके बहुत पवित्र चरित्र तो हैं ही, प्रह्लाद आदि भक्तोंके बड़े रम्य आख्यान भी हैं। सुप्रसिद्ध गजेन्द्रमोक्षकी कथा और सुरसार भी इसमें हैं। 'कल्याण' ऐसे उपादेय पुराणका विशेषाङ्क जनकल्याणकी भावनासे निकाल रहा है—यह प्रसन्नताका विषय है। 'कल्याण' अपने इस कार्यमें सफल हो—यह हमारा पुनः आशीर्वाद है।

———

विशेषाङ्क यशस्वी बने

(पश्चिमाम्नाय द्वारका शारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

पुराणोंमें भारतीय संस्कृति भरी है। पुराण ज्ञाननिधि हैं। ऐसे ज्ञानके निधान उपयोगी पुराणोंका प्रकाशन नितान्त आवश्यक है। 'कल्याण' श्रीवामनपुराणाङ्क विशेषाङ्कके रूपमें निकाल रहा है, यह प्रसन्नताकी बात है। इस अवसरपर पूज्यपाद जगद्गुरुका हार्दिक शुभाशीर्वाद है कि यह विशेषाङ्क भगवान् श्रीद्वारकाधीश तथा चन्द्रमौलीश्वरकी अनुकम्पासे सफल और यशस्वी बने।

(प्रे०—मन्त्री)

दानवेन्द्र बलिपर भगवान्‌की अद्भुत कृपा

(धर्मसम्राट् अनन्तश्रीविभूषित परमपूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

जीवोंपर श्रीभगवान्‌की अहैतुकी कृपा सदा ही रहती है। जीव केवल अपने त्याग, तपस्या आदि साधनोंके बलपर इस भवसागरसे कभी तर नहीं सकता। बड़े-बड़े योगीन्द्र, मुनीन्द्र, महात्मागण अनन्त जन्मोंतक त्याग-तपस्या आदि साधनकर श्रीभगवान्‌के पास पहुँचते हैं। किंतु जब भगवान्‌की भास्वती अनुकम्पा भक्तोद्धारके लिये आतुर हो जाती है, तब श्रीभगवान् स्वयं भक्तके पास जानेके लिये बाध्य हो जाते हैं और वे उसका कृपापूर्वक उद्धार करते हैं। श्रीभगवान्‌ने वामनरूप धारणकर दानवेन्द्र बलिको बाँध लिया। वह घटना सचमुच बड़ी ही करुणापूर्ण थी। जिसने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया हो, उस बलिके प्रति श्रीभगवान्‌का यह व्यवहार आपाततः सहसा बड़ा कठोर-सा प्रतीत होता है। किंतु विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इस लीलाके मूलमें भी उन कृपालुकी अनन्त कृपा ही छिपी है। ब्रह्माजी कुछ कहना चाहते थे, पर इसी बीच महामना बलिकी पत्नी श्रीविन्ध्यावलीजी श्रीभगवान्‌के सामने आ जाती हैं। वे कहती हैं—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
(श्रीमद्भा० ८।२२।२०)

अर्थात्—'प्रभो! आपने अपनी क्रीडाके लिये ही इस सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि की है, पर यहाँ जो कुबुद्धि हैं, वे आपकी इस सम्पत्तिपर अपना स्वामित्व अङ्गीकार करते हैं।' वस्तुतः सारा विश्व भगवान्‌का है, अतः सर्वस्व समर्पण ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। इसमें भी भगवत्कृपा ही कारण होती है।

अन्तमें श्रीप्रह्लादजीने कहा कि 'प्रभो! लोग कहते हैं कि भगवान् देवताओंका पक्षपात करनेवाले हैं, किंतु आज यह बात विदित हो गयी कि तत्त्वतः आप असुरोंके भी पक्षपाती हैं, उनपर भी आपकी अजस्र कृपा रहती है। तभी तो आप बलिके घरमें उनके (वामन) द्वारोंपर चक्र लिये हुए खड़े दिखायी पड़ते हैं। यह कैसी विशेषता है कि आप किसी देवताके यहाँ चक्र लिये खड़े नहीं दीखते, पर बलिके यहाँ पहरा दे रहे हैं।'

वस्तुतः यह महान् आश्चर्य है कि भगवान् वामन-रूपमें दानवेन्द्र बलिके सभी द्वारोंपर खड़े दीखते हैं। बलिकी आँखें जहाँ जाती हैं, वहीं श्रीभगवान् दिखायी पड़ते हैं। वस्तुतः बलिका जीवन परम धन्य है।

इस आख्यानको सुनिपुणतया प्रकाशित करता है—वामनपुराण। 'कल्याण'का यह 'श्रीवामनपुराणाङ्क' इसपर और प्रकाश डालेगा।

वामनपुराणके सर्वस्वरूप दो श्लोक

(—श्रीशारदापीठाधिपति अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीधराचार्यजी महाराज)

आर्षग्रन्थ पुराण सर्वसाधारणके उपयोगमें आनेके कारण वेदोंसे कम महत्त्वके नहीं हैं। कहीं-कहीं तो वे उनसे भी अधिक महत्त्वशाली हैं। श्रीरूपगोस्वामीने पुराण शब्दका वेदार्थ-सगत यह निर्वचन किया है कि 'पुरा नयतीति पुराणम्' अर्थात् जो वेदोपदिष्ट गहन गम्भीर तत्त्वोंको सरल भाषामें सब देश, सब काल, सब दिशाओंमें 'गेहे गेहे, जने जने' तक पहुँचाता है, उसे पुराण कहते हैं।

गङ्गा आदि तीर्थोंका महत्त्व, भूप्रदक्षिणा, एकादशी आदि व्रतोंकी उपादेयता, शुभाशुभ कर्मोंके फलोंका विस्तृत विवेचन, वृक्षारोपण सेचन आदिका महत्त्व, पाप-पुण्योंका विवेचन और उनके फलोंसे होनेवाले स्वर्ग-नरकोंका निरूपण, मृत्युके अनन्तर जीवात्माओंकी स्थिति एवं गतिका विवेचन, आत्माकी स्थितिसे इहलोक और परलोक—दोनोंका सम्बन्ध, गो-महिमा और उसके दानका महत्त्व आदि-आदि आर्यजातिके धार्मिक आचरण हैं, उन सबका मूल विशदरूपसे पुराण ही हैं।

पौराणिक विद्वानोंने अन्यत्र पुराणका एक लक्षण 'वेदार्थविज्ञानं पुराणम्'—इस प्रकार भी किया है।

पुराणोंमें सृष्टिकी उत्पत्ति रहस्य आदि पाँच विषयोंका प्रतिपादन है। भूलोक, द्युलोक, ग्रह, नक्षत्र, ताराओं आदिके विस्तृत वर्णनके साथ नक्षत्र-भ्रमण, ग्रहोंके अतिचारों-सौम्याचारोंसे पृथ्वीके प्राणियोंपर होनेवाले परिणामोंका वर्णन भी अग्निपुराणादिमें पाये जाते हैं। पुराणोंमें वर्णित व्याधियोंकी चिकित्साका भी विधान है। पुराण वेदार्थ-ज्ञानके प्रकाशक हैं, व्याख्यान हैं। पुराण ज्ञानकी खान हैं।

अठारह पुराणोंमें वामनपुराणकी भी गिनती है। यह वैष्णव पुराण है। इसमें वैष्णवोंके योग्य संस्कारों तथा सदाचारोंका वर्णन है। इस पुराणमें भक्तिके आठ लक्षणोंमेंसे एक लक्षण यह भी है कि 'मदन्नं नोपजीवति' अर्थात् जो व्यक्ति हमारे द्वारा अपना पेट नहीं पालता, वह भक्त है। भक्तिका आश्रय लेकर पेट पालनेवाला भक्ति-पद्धतिको विकृत कर देता है, वह भक्त नहीं है। यह बात कितनी अच्छी है।

वामनपुराणने भगवद्भक्तोंको नीचे लिखित दो श्लोकोंसे जो अभयदान दिया है, वह उल्लेखनीय है। वे दो श्लोक ये हैं—

१–स्थिते मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः।
धातुसाम्ये स्थिते स्मर्ता विश्वरूपं च मामजम्॥
२–ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसंनिभम्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

अर्थात्—'शारीरिक इन्द्रियाँ, मन और शरीरके सुस्वस्थ रहते हुए जो भक्त प्राणी निरन्तर मेरा चिन्तन करता है तो (उसके) उसकी म्रियमाण अवस्थामें, काष्ठ पाषाण-सन्निभ अवस्थामें होते हुए भी मैं उसका स्मरण रखता हूँ और उसे परमगति प्रदान करता हूँ।'

वामनपुराणके इन दो श्लोकोंको श्रीसम्प्रदायमें विशेष महत्त्व होते हुए इसे परम श्लोक माना गया है। वेदान्तदेशिक स्वामीने इन दो श्लोकोंकी विस्तृत विवेचना की है। इसे 'रहस्यशिखामणि' नाम दिया गया है। ये दो श्लोक वामनपुराणके प्राणरूप और वैष्णवोंके सर्वस्वरूप हैं।

वामनपुराणकी एक झलक

(—अनन्तश्रीविभूषित अयोध्या कोशलेशसदनपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी श्रीरामनारायणाचार्यजी महाराज)

सम्पूर्ण भारतीय विद्याओंमें पुराणविद्याका स्थान सर्वोपरि है। शास्त्रोंका तो यहाँतक कथन है कि—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
(मत्स्यपु० ५३। ३)

पुराणोंकी एक विशेषता यह है कि यदि ध्यानपूर्वक उनका अध्ययन किया जाय तो फिर कुछ भी अध्ययन करना शेष नहीं रह जाता, क्योंकि प्रायः सभी पुराणोंमें—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

—के अनुसार चर-अचररूप चेतन और अचेतनोंकी भौतिक सृष्टि, आजीविका, चरित्रनिर्माणमें आदर्शभूत सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर परात्परतम-तत्त्व परब्रह्म भगवान् श्रीमन्नारायणके सम्पूर्ण अवतार चरित्रोंका चित्रण, पुण्यश्लोक चरित्रोंवाले राजवंशोंका वर्णन, विविध इतिहास, कल्पमें होनेवाले अन्यान्य पवित्र व्यक्तियोंके चरित्र और इन्हीं प्रसङ्गोंमें भूगोल, खगोल, वन-नदी-पर्वत, तीर्थ-व्रत-दान आदि पवित्र कर्मोंका तथा त्याज्योपादेय क्रिया-कलापोंका विशद वर्णन होता है। संक्षिप्तमें—सृष्टिकी उत्पत्ति और विनाश, मनुओं-राजाओं आदिकी वंश-परम्परा, मनुओंका वर्णन तथा विशिष्ट व्यक्तियोंका चरित्र—ये पाँच विषय जिस ग्रन्थमें पूर्णतया वर्णित हों, उसे पुराण कहते हैं—ऐसा लिखा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पुराण संस्कृतिकी निधि हैं।

यह लक्षण पुराणोंमें सर्वथा घटित होता है। संसारकी किसी भी भाषामें पुराणोंके समान सृष्टि विषय विधायक सर्वतोमुख ग्रन्थ देखनेमें नहीं आते। अन्य भाषाकी तो बात छोड़िये, संस्कृतसाहित्यमें भी पुराणोंको छोड़कर अन्य किसी भी ग्रन्थमें इस प्रकारका परिनिष्ठित एवं वैज्ञानिक सृष्टिक्रम विस्तारपूर्वक नहीं मिलता। इसलिये 'पुराण' शब्दका वास्तविक अर्थ ही इस बातका सबसे बड़ा प्रमाण है कि ये पुराणग्रन्थ प्राचीनसे भी अति प्राचीन—यहाँतक कि मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति-कालसे भी पूर्वतम रहस्योंका प्रत्यक्षके समान वर्णन करते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र, कब, कैसे, किस प्रकार बने—इन सब बातोंका परिज्ञान पुराणोंके अतिरिक्त कहीं भी विस्तारसे प्राप्त न हो सकेगा। इतनेपर भी जो गुरुपरम्परा विमुख पुराणोंको नवीन कहनेका दुःसाहस करते हैं, वे न केवल पुराणोंके प्रतिपाद्य विषयसे ही अपरिचित हैं, अपितु पुराण शब्दकी—'पुरा नवं भवति' (निरुक्त ३। ११। २४) इस यास्ककृत व्युत्पत्तिसे तथा इसके साधक व्याकरण-सूत्रोंसे भी सर्वथा अनभिज्ञ ही हैं।

समग्र 'पुराणों'की संख्या १८ है। उपपुराण भी १८ हैं। इनके अतिरिक्त स्थल पुराणों आदिको भी जोड़ें तो इनकी संख्या १०० तक पहुँच जाती है। इन सभी पुराणोंमें भिन्न भिन्न कल्पोंकी सृष्टिके चरित्र हैं। अतः सभी अवतारोंके चरित्र सभी पुराणोंमें होनेपर भी उन-उन कल्पोंमें अवतरित भगवदवतारोंका चरित्र चित्रण किसीमें विस्तारसे तथा किसीमें स्वल्परूपेण तत्तत् कल्पानुसार ज्यों-का-त्यों लिखा गया है। जब-जब पुराणविद्याका लोप होता है, तब-तब स्वयं भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनके रूपमें प्रकट होकर सम्पूर्ण वेदोपवेदोंका विस्तार पुराणके रूपमें करते हैं। यह सनातन प्रथा है—'अष्टादशपुराणानां वक्ता सत्यवतीसुतः।'

सभी पुराणोंकी अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। प्रस्तुत 'वामनपुराण'की यह अलौकिक विशेषता है कि उसके प्रतिपाद्य भगवान् वामन किसीके भी वाम नहीं हैं। एक ओर जहाँ वे इन्द्रके अनुज उपेन्द्र बने हैं,

वहीं दूसरी ओर वे परमभागवत महाराज बलिके द्वारपाल-रूपेण रक्षक बनते हैं। इसीलिये वे दोनोंमें किसीके भी वाम नहीं हैं (अर्थात् 'वाम'+'न'—'वामन' हैं)। इसके अतिरिक्त भी श्रीवामनभगवान्‌के विलक्षण अवतारकी एक और अपूर्व कथा वामनपुराणमें प्राप्त होती है। उसके अनुसार—

चतुर्थस्य कलेरादौ जित्वा देवान् सवासवान्।
धुन्धुः शक्रत्वमकरोद्धिरण्यकशिपौ सति॥
(वा० पु० ७८। १६)

'चतुर्थ कलिके आदि सत्ययुगमें धुन्धु नामका महान् असुर देवताओंके ऊपर विजय प्राप्त कर इन्द्रपदपर आरूढ़ हुआ था, फिर—

तस्मिन् काले स बलवान् हिरण्यकशिपुस्तत।
चचार मन्दरगिरौ दैत्यो धुन्धु समाश्रितः॥

—इस वचनके अनुसार हिरण्यकशिपुने उस धुन्धु नामके महा-असुरके आश्रित होकर ही तपस्या की। सभी देवता धुन्धुके भयसे भीत होकर ब्रह्मलोक गये। धुन्धुको यह समाचार अपने वीरोंद्वारा प्राप्त हुआ। तदनुसार उस दानवेन्द्र धुन्धुने अपने वीरोंको ब्रह्मलोकपर भी चढ़ाई करनेके लिये आदेश दिया। दैत्योंने उसके इस महान् साहसपर आश्चर्य प्रकट करते हुए निवेदन किया कि उस दिव्य स्थानमें केवल पुण्यात्मालोग ही पहुँच सकते हैं, क्योंकि यहाँसे हजारों योजन दूर महर्षियोंसे भरा हुआ 'मह' नामक लोक है। उसमें रहनेवाले परमतेजस्वी महर्षियोंकी स्वाभाविक दृष्टि पड़ने मात्रसे हम सभी दैत्य विनष्ट हो सकते हैं। उससे भी आगे एक करोड़ दूरीपर 'जन' लोक है। जहाँपर श्रीशिवके वाहन भगवान् नन्दीश्वरकी जननी गोमाता कामधेनु अपने चारों स्तनोंसे अनवरत प्रदान करती हुई एवं क्षीरसागरको दुग्धाप्लावित करती हुई अपने समान गौओंके साथ विराजती हैं। उन पुण्यात्माओंके हुंकारमात्रसे सम्पूर्ण असुरकुल नष्ट हो सकता है। उससे भी ऊपर तीन करोड़ योजन दूरीपर सहस्र सूर्योंके समान प्रभाववाले सिद्धोंसे सुसेवित 'तप' नामका लोक है और उससे भी ऊपर अनन्त मार्तण्डसे प्रदीप्त 'सत्य' नामका लोक है, जहाँपर लोकपितामह श्रीब्रह्माजी विराजते हैं, जिनके द्वारा आपको वरदान प्राप्त हुए हैं। उस ब्रह्मलोकमें पहुँचना हम सबके लिये सर्वथा असम्भव है।'

यह सुनकर दानवेन्द्र धुन्धुने पूछा कि उस ब्रह्मलोकमें जानेके लिये कौन-सा पवित्र कर्म आवश्यक है, जिसके करनेसे देवेन्द्र सब देवताओंके साथ वहाँ जा सकते हैं और मैं नहीं जा सकता। उस पुण्यको बताओ, उसे करके हम भी वहाँ जानेकी योग्यता प्राप्त करेंगे। दैत्योंने कहा इसे श्रीशुक्राचार्यजी बता सकते हैं।

तब दानवेन्द्र धुन्धुने उनकी सन्निधिमें पहुँचकर उनके कथनानुसार भार्गवगोत्रीय अमित ब्राह्मणोंद्वारा गोमेध-अश्वमेधादि यज्ञोंकी दीक्षा ग्रहण कर शुक्रशिष्योंके साथ यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। फिर तो मन्त्रोच्चारण-रव एवं यज्ञीय पवित्र धूमसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही व्याप्त हो गया। इससे घबराकर सब देवताओंने भगवान् श्रीहरिकी प्रार्थना की। देवताओंकी प्रार्थना सुन मधुसूदनने उन लोगोंको अभय प्रदान कर धुन्धुको बाँधनेका संकल्प किया—

बन्धनाय मतिं चक्रे धुन्धोर्धर्मध्वजस्य वै।
ततः कृत्वा स भगवान् वामनं रूपमास्थितः॥
वामनं रूपमास्थाय भगवान् भूतभावनः।
देहं त्यक्त्वा निपतन्स्य वाहयन् देविकाजले॥
(वा० पु० ७८। ५२ १)

भगवान् वामन-शरीर धारण कर देविका नदीमें कूद पड़े। इस प्रकार भगवान्‌को देविका नदीमें डूबते उतराते देखकर दैत्यराज धुन्धु एवं ब्राह्मणोंने दयार्द्रचित्त हो शीघ्रतापूर्वक उन्हें निकाला तथा पूछा—'भगवन्! आप कौन हैं और नदीमें कैसे बह रहे हैं?' उन लोगोंके प्रश्नको सुनकर काँपते हुए भगवान्‌ने कहा—'सांकृत्यगोत्र

वेत्ता वारणगोत्रीय प्रभास नामक ब्राह्मणके दो पुत्र हुए। बड़े भाईका नाम नेत्रभास तथा मैं गतिभास छोटा भाई हुआ। छोटा होनेके कारण मुझे वामन भी कहते हैं। पिताजीके स्वर्गवासी हो जानेपर मेरे ज्येष्ठ भ्राताने कहा—

कुब्जवामनखञ्जानां पङ्गूनां भित्रिणामपि।
उन्मत्तानां तथान्धानां धनभागो न विद्यते॥
(वामन पु० ७८। ६४)

ऐसा कहकर मेरे विवादकी शङ्कासे उन्होंने मुझे इस नदीमें फेंक दिया, जिसे निकालकर आप लोगोंने महत्पुण्यका कार्य किया है। यह सुनकर दैत्यराज दानवीर धुन्धुने कहा कि आप अपनी इच्छाके अनुसार दास-दासी, गृह, स्वर्ण, रथ, गज, पृथ्वी, वस्त्रादि जो चाहें सो हमसे प्राप्त करें। दानवश्रेष्ठ धुधुकी इस बातको सुनकर भगवान्‌ने कहा—

मम प्रमाणमालोक्य मामकं च पदत्रयम्।
सम्प्रयच्छस्व दैत्येन्द्र नाधिकं रक्षितुं क्षमः॥
(वामनपु० ७८। ८०)

—भगवान्‌की इस वाणीको सुन करके उसके अनुसार दान देनेके लिये ज्यों ही सङ्कल्प लिया, त्यों ही भगवान्‌ने अपने त्रिविक्रम-रूपको प्रकट कर सम्पूर्ण भूलोकको एक पादमात्रसे नापकर विरोधके लिये उद्यत दैत्योंका संहार करते हुए दूसरे पाँवसे स्वर्गलोक भी नाप लिया तथा तीसरे पदके लिये स्थान न दे सकनेवाले उस दानवश्रेष्ठके ऊपर वे कूद पड़े। उसके साथ भूमिपर गिरनेके कारण तीस हजार योजन गहरा गड्ढा बन गया। उस महागर्तमें दानवेश्वर धुधुको गिरा जानकर दिव्य बालुका मयी वर्षाद्वारा उस महागर्तको पूर्ण करते हुए कृपा-परवश हो स्वयं भी दानवेन्द्रको अपनेमें लीन कर कालिन्दीरूपमें अन्तर्हित हो गये—

एवं पुरा विष्णुरभूच्च वामनो
धुन्धुं विजेतुं च त्रिविक्रमोऽभूत्।
(वा० पु० ७८। ९०)

इस प्रकार वामन भगवान्‌के विभिन्न रूपोंमें अवतारोंका वर्णन और स्तोत्रोंका विवेचन करते हुए चतुर्मुख ब्रह्माने जो कूर्म-कल्पानुसार त्रिविक्रम भगवान्‌के चरित्रके साथ त्रिवर्गका प्रतिपादन किया, वही 'वामनपुराण'के रूपमें विख्यात हुआ।

त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः*।
त्रिवर्गमभ्यधात्तच्च वामनं परिकीर्तितम्॥
पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम्॥
(मत्स्य० ५३। ४४-४५)

उपर्युक्त लक्षण उपलब्ध वामनपुराणमें तो सर्वथा घटित होता है, परंतु पद्य-सङ्ख्यामें चार हजार श्लोकोंकी न्यूनता है। कहा जाता है कि इसका उत्तरभाग किसी आकस्मिक घटनाका विषय अथवा अन्य किसी धर्मविरोधी षड्यन्त्रका शिकार हो गया।

विशेषाङ्क सफल हो

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर श्री 'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी महाराजका शुभाशीर्वचन)

अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक, त्रिभुवन विमोहन, जगदभिन्न-निमित्तोपादनकारण, अनुग्रह विग्रह, अकारण-करुणा वरुणालय, मुक्तोपसृप्य, क्षराक्षरातीत, नित्य निकुञ्ज विहारी, श्रीराधासर्वेश्वर-युगल श्रीगुरुकृपा एवं शास्त्र ज्ञानसे सवेद्य हैं। 'शास्त्रयोनित्वात्'-(ब्र० सू० १। १। ३)का वाक्यार्थ करते हुए आद्याचार्यचरण

* इस प्रमाणसे सिद्ध होता है कि इसके वक्ता चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, पर उपलब्ध पुराणमें वक्तारूपमें पुलस्त्यजी ही दृष्ट हैं। उन्होंने यह कहीं नहीं कहा है कि मैंने चतुर्मुख ब्रह्मासे, जैसा कुछ सुना है, वैसा ही कह रहा हूँ। प्रतीत होता है कि इस प्रकारका श्लोक रहा होगा जो अब लुप्त है। [सं०]

श्रीनिम्बार्क भगवान्ने शास्त्रको ही ब्रह्मज्ञानका कारण बताया है—

'शास्त्रमेव योनिस्तज्ज्ञप्तिकारणं यस्यासौ तद्वेदोक्त-लक्षणलक्षितं वस्तु ब्रह्मशब्दाभिधेयमिति ।'

(ब्र० पा० सौ०)

यह ब्रह्म अनुमानादि (प्रमाण) गम्य नहीं है। वेद ही (आप्त शब्द ही) इसके ज्ञानमें प्रमाण हैं। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर श्रीनिवासाचार्यजी महाराजने वेदान्तकौस्तुभमें लिखा है—

'ब्रह्म नानुमानादिगम्यं किंतु वेदप्रमाणकम्। कुत ? शास्त्रयोनित्वात्। शास्त्रं वेदः योनिः कारणं ज्ञापकप्रमाणं यस्य तत् शास्त्रयोनिस्तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्माच्छास्त्रयोनित्वात्। शास्त्रप्रमाणकत्वात्। वेदैकप्रमाणकमेव ब्रह्मेति सिद्धान्तः।'

वेदादिशास्त्र श्रीसर्वेश्वर प्रभुके निःश्वसित हैं। उपनिषद्ने मुक्तकण्ठसे कहा है—

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणं विद्या उपनिषदः।　　(बृ० ४।५।११)

इतिहास और पुराण निःश्वसित होते हुए भी वेदके आशयका विस्तृत विवेचन करते हैं—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

भागवतकारने तो इतिहास-पुराणको पाँचवाँ वेद भी कहा है—

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते॥

(श्रीमद्भा० १।४।२०)

इस प्रकार पुराणोंका भी महत्त्व निर्विवाद है। इनकी भाषा लौकिक एवं सर्वसंवेद्य है। महर्षि श्रीवे व्यासजीने इनकी रचना सर्वजन हिताय की है। इनमें केवल भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि ही नहीं, अपि विविध विज्ञानका भी रहस्य प्रतिपादित किया गया है। पुराणोंमें अन्यतम एक वामनपुराण भी है जो अपने सर्वथा परिपूर्ण है। इसमें बलि-वामनकी कथा मुख्य है।

बलिका जन्म दानव-कुलमें हुआ है। इस कुल विध्वंसक भगवान्ने वामन-स्वरूप ब्रह्म-तन धारण कि है। शुक्राचार्य सावधान कर देते हैं, तथापि उदारमन दानी बलि अपने वचनसे विमुख नहीं होते। लीलाविहा असुरारिको जानते हुए भी बलि अपने वचनसे विचलि नहीं हुए और जगत्त्रयका विधिपूर्वक दान कर दिया। इ सर्ववेद्य कथानकको मूलमें रखते हुए महर्षि वेदव्यासजी सर्ग, विसर्ग आदि पञ्च लक्षणोंयुक्त 'वामन-पुराण' व विस्तृत रूपसे वर्णित किया है। इस पुराणको उदि कर 'कल्याण' 'श्रीवामनपुराणाङ्क' प्रकाशित कर रहा है— यह प्रसन्नताकी बात है। इसकी सफलताके लि हमारा आशीर्वचन है।

सांस्कृतिक निधि—पुराण

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पावन विचार)

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा है। उन्हें श्रीहरिका रूप बतलाया गया है। जिस प्रकार ... श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्को प्रकाश प्रदान ... सूर्यका विग्रह धारण करते ... विचर उसी प्रकार वे सबके हृदयमें ...

जगत्में ... रूप धारण करके मनुष्योंके हृदय ... पुराण परम पवित्र हैं—

... प्रकाशाय ... नरेश्वरि।
... तये॥
... हरिः।
... परम्॥
... २। ६० ६१)

जिस प्रकार त्रैवर्णिकोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय नित्य करनेकी विधि है, उसी प्रकार पुराणोंका श्रवण भी सबको नित्य करना चाहिये—'पुराणं शृणुयान्नित्यम्' (पद्म० स्वर्ग० ६२ । ५८)। पुराणोंमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका बहुत ही सुन्दर निरूपण हुआ है तथा चारोंका एक दूसरेके साथ क्या सम्बन्ध है—इसे भी भलीभाँति समझाया गया है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥
(१।२।९१०)

'धर्म तो अपवर्ग-(मोक्ष या भगवत्प्राप्ति) का साधक है। धन प्राप्त कर लेना ही उसका प्रयोजन नहीं है। धनका भी अन्तिम साध्य है धर्म, न कि भोगोंका संग्रह। यदि धनसे लौकिक भोगकी ही प्राप्ति हुई तो यह लाभकी बात नहीं मानी गयी है। भोगसंग्रहका भी प्रयोजन सदा इन्द्रियोंको तृप्त करते रहना ही नहीं है, अपितु जितनेसे जीवन-निर्वाह हो सके, उतना ही आवश्यक है। जीवके जीवनका भी मुख्य प्रयोजन भगवत्तत्त्वको जाननेकी सच्ची अभिलाषा ही है, न कि यज्ञादि कर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति।'

यह तत्त्व-जिज्ञासा पुराणोंके श्रवणसे भलीभाँति जगायी जा सकती है। इतना ही नहीं, सारे साधनोंका फल है—भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करना। यह भगवत्प्रीति भी पुराणोंके श्रवणसे सहजमें ही प्राप्त की जा सकती है। पद्मपुराणमें लिखा है—

तस्माद्यदि हरेः प्रीतेरुत्पादे धीयते मतिः।
श्रोतव्यमनिशं पुम्भिः पुराणं कृष्णरूपिणः॥
(स्वर्ग० ६२। ६२)

'इसलिये यदि भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें अपनी बुद्धिको लगाना हो तो सभी मनुष्योंको निरन्तर श्रीकृष्ण-स्वरूपधारी भगवान्‌के स्वरूपभूत पुराणोंका श्रवण करना चाहिये।' इसीलिये पुराणोंका हमारे यहाँ इतना आदर रहा है।

वेदोंकी भाँति पुराण भी हमारे यहाँ अनादि माने गये हैं, उनका रचयिता कोई नहीं है। सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी भी उनका स्मरण ही करते हैं। पद्मपुराणमें लिखा है—

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।'
(पद्म० सृष्टि० १। ४५)

इनका विस्तार सौ करोड़ (एक अरब) श्लोकोंका माना गया है—'शतकोटिप्रविस्तरम्'। उसी प्रसङ्गमें यह भी कहा गया है कि समयके परिवर्तनसे जब मनुष्योंकी आयु कम हो जाती है और इतने बड़े पुराणोंका श्रवण और पठन एक जीवनमें उनके लिये असम्भव हो जाता है, तब पुराणोंका संक्षेप करनेके लिये स्वयं सर्वव्यापी हिरण्यगर्भ भगवान् ही प्रत्येक द्वापरयुगमें व्यासरूपसे अवतीर्ण होते हैं और उन्हें अठारह भागोंमें बाँटकर चार लाख श्लोकोंमें सीमित कर देते हैं। पुराणोंका यह संक्षिप्त संस्करण ही भूलोकमें प्रकाशित होता है। कहते हैं कि स्वर्गादि लोकोंमें आज भी एक अरब श्लोकोंका विस्तृत पुराण विद्यमान है—

कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तथा विभुः।
व्यासरूपस्तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे जगौ।
तथाष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाशितम्॥
अद्यापि देवलोकेषु शतकोटिप्रविस्तरम्।
(पद्म० सृष्टि० १। ५१-५३)

इस प्रकार भगवान् वेदव्यास भी पुराणोंके रचयिता नहीं, अपितु संक्षेपक अथवा संग्राहक ही सिद्ध होते हैं। इसीलिये पुराणोंको 'पञ्चम वेद' कहा गया है—'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छान्दोग्योपनिषद् ७। १। २)। उपर्युक्त उपनिषद्वाक्यके अनुसार यद्यपि इतिहास-पुराण दोनोंको ही 'पञ्चम वेद'की

माँगकर अति विशाल शरीरसे तीनों लोकोंको नापकर बलिको बाँध लिया। समष्टि-धर्मकी स्थापनाके लिये ही भगवान्‌ने बलिके व्यक्ति-धर्मकी उपेक्षा की, यह कार्य वैसे ही उचित है, जैसे सम्पूर्ण शरीरकी रक्षाके लिये आवश्यक होनेपर एक अङ्गको काट देना होता है।

गम्भीर विचार कर देखा जाय तो राजा बलिके धर्मका विनाश नहीं हुआ, क्योंकि व्यक्ति-धर्मके पालनका सर्वोत्कृष्ट अन्तिम फल है परमात्माकी प्राप्ति। सो, राजा बलिको जैसी हुई है वैसी तो स्यात् ही किसीको हुई हो। राजा बलिके शयनगृहमें जितने द्वार हैं, उन सबमें प्रभु वरदानके कारण अनेक रूप धारण करके बलिको दर्शन देनेके लिये खड़े रहते हैं, क्योंकि बलिराजाने वरदान माँगा था कि जब मैं सोकर उठूँ तो जहाँ, जिस द्वारपर, मेरी नजर पड़े वहीं, उसी द्वारपर आपका दर्शन हो।

समष्टि-व्यष्टि-धर्मके सामान्य-विशेष रूपकी बाध्य-बाधकता समझ ली जाय तो छलसे वृन्दाके पातिव्रत-धर्मको भंग करना आदि भगवान्‌की लीलाओंका रहस्य भी स्वयं ही समझमें आ जायगा, क्योंकि एक वृन्दाके पातिव्रतधर्मकी ओटमें ही उसका पति अनेक स्त्रियोंके धर्मका विनाश कर रहा था। अतः भगवान्‌ने छलसे उसके पतिका रूप धारण कर वृन्दाके व्यष्टि-पातिव्रतधर्मको नष्ट कर समष्टि-पातिव्रतधर्मकी रक्षा की थी। यहाँ भी गम्भीरतासे देखा जाय तो वृन्दाको व्यष्टि-पातिव्रतधर्मके पालनका सर्वोत्कृष्ट परम फल परमपति परमात्माकी प्राप्ति जैसा हुई, वैसी तो शायद किसीकी भी नहीं हुई, क्योंकि तुलसी-रूपा वृन्दाका संयोग शालिग्रामरूप भगवान्‌से सदा बना रहता है। अतः भगवान्‌के पूजन, भोग आदि सभी उपचारोंमें तुलसीका उपयोग अनिवार्य है।

बलिको क्यों छला? इस प्रश्नका संक्षिप्त उत्तर इतना ही है कि समष्टिधर्मकी स्थापनाके लिये छला। अतः वामन-अवतारमें भी गीता (४।८) में कथित अवतार-मर्यादाके अनुरूप ही भगवान्‌ने कार्य किया है। फलतः वामनभगवान्‌की लीला और पुराणका स्वारस्य लोकमङ्गलकारी है।

श्रीवामनपुराणकी उपादेयता

(परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मनुष्य-शरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। उसकी प्राप्तिके साधनोंका वर्णन वेदोंमें आता है, जो भगवान्‌के निःश्वास हैं—'यस्य निःश्वसितं वेदाः'। वेदोंके तात्पर्यको समझानेके लिये ही वेदव्यासजी महाराजने पुराणोंकी रचना की। पुराणोंमें इतिहास-(कथानकों-)के द्वारा आख्यान-उपाख्यान एवं वेदोंके विषयोंको ही सरलतासे समझाया गया है। जिन लोगोंका वेदोंमें अधिकार नहीं है, वे भी वेदोंके तत्त्वको सरलतासे समझ सकें, इसीलिये पुराणोंका प्रणयन किया गया है एवं वेदार्थ-सिद्धिके लिये ही स्मृतियोंने भी आचरणका विधान किया है। पुराणों एवं स्मृतियोंको न जाननेसे वेदोंका ठीक अर्थ भी नहीं समझा जा सकता। सही तात्पर्य न समझनेवाले—अनजान मनुष्योंके द्वारा वेदोंकी मर्यादा नष्ट होती है। अतः वेदोंकी रक्षाके लिये पुराणों एवं स्मृतियोंका प्रकाशन हुआ, जिससे कि साधारण जनतातक वेदोंका तात्पर्य पहुँच जाय और वे उससे अपने जीवनको शुद्ध-निर्मल बनाकर उन्नति कर सकें।

'कल्याण' अपने उप्पनवें वर्षके प्रथम अङ्कके रूपमें श्रीवामनपुराणाङ्क (विशेषाङ्क) निकाल रहा है, जो बहुत ही उपादेय है। वामनपुराणमें अनेक अच्छे-अच्छे प्रकरण हैं, जिनमें व्यवहारकी शिक्षाके साथ ही परमार्थ सम्बन्धी बहुत-सी सार बातें बतायी गयी हैं। इस पुराणकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेसे लोक और परलोक-विषयक कल्याण हो सकता है।

वामनावतारी भगवान् विष्णु

ॐ नमो भगवते त्रिविक्रमाय

अथ श्रीवामनपुराणम्

[अथ प्रथमोऽध्याय]

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

भगवान् श्रीनारायण, मनुष्योंमें श्रेष्ठ नर, भगवती सरस्वती देवी और (पुराणोंके कर्ता) महर्षि व्यासजीको नमस्कार करके जय (पुराणों तथा महाभारत आदि ग्रन्थों)का उच्चारण (पठन) करना चाहिये[1] ।

त्रैलोक्यराज्यमाक्षिप्य बलेरिन्द्राय यो ददौ । श्रीधराय नमस्तस्मै छद्मवामनरूपिणे ॥ १ ॥
पुलस्त्यमृषिमासीनमाश्रमे वाग्विदां वरम् । नारदः परिपप्रच्छ पुराणं वामनाश्रयम् ॥ २ ॥
कथं भगवता ब्रह्मन् विष्णुना प्रभविष्णुना । वामनत्वं धृतं पूर्वं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ३ ॥
कथं च वैष्णवो भूत्वा प्रह्लादो दैत्यसत्तम । त्रिदशैर्युयुधे सार्धमत्र मे संशयो महान् ॥ ४ ॥
श्रूयते च द्विजश्रेष्ठ दक्षस्य दुहिता सती । शंकरस्य प्रिया भार्या बभूव वरवर्णिनी ॥ ५ ॥
किमर्थं सा परित्यज्य स्वशरीरं वरानना । जाता हिमवतो गेहे गिरीन्द्रस्य महात्मनः ॥ ६ ॥
पुनश्च देवदेवस्य पत्नीत्वमगमच्छुभा । एतन्मे संशयं छिन्धि सर्ववित् त्वं मतोऽसि मे ॥ ७ ॥
तीर्थानां चैव माहात्म्यं दानानां चैव सत्तम । व्रतानां विविधानां च विधिमाचक्ष्व मे द्विज ॥ ८ ॥

पहला अध्याय प्रारम्भ

(श्रीनारदजीका पुलस्त्य ऋषिसे वामनाश्रयी प्रश्न; शिवजीका लीलाचरित्र और जीमूतवाहन होना)

जिन्होंने बलिसे (भूमि, स्वर्ग और पाताल—इन) तीनों लोकोंके राज्यको छीनकर इन्द्रको दे दिया, उन मायामय वामनरूपधारी और लक्ष्मीको हृदयमें धारण करनेवाले विष्णुको नमस्कार है ।

(एक बारकी बात है कि—)वाग्मियोंमें श्रेष्ठ विद्वद्वर पुलस्त्य ऋषि अपने आश्रममें बैठे हुए थे, (वहीं) नारदजीने उनसे वामनपुराणकी कथा—(इस प्रकार) पूछी । उन्होंने कहा—ब्रह्मन् ! महाप्रभावशाली भगवान् विष्णुने कैसे वामनका अवतार ग्रहण किया था, इसे आप मुझ जिज्ञासुको बतलायें । एक तो मेरी यह शङ्का है कि दैत्यवर्य प्रह्लादने विष्णुभक्त होकर भी देवताओंके साथ युद्ध कैसे किया और ब्राह्मणश्रेष्ठ ! दूसरी जिज्ञासा यह है कि दक्षप्रजापतिकी पुत्री भगवती सती, जो भगवान् शंकरकी प्रिय पत्नी थीं, उन श्रेष्ठ मुखवाली-(सती)ने अपना शरीर त्यागकर पर्वतराज हिमालयके घरमें किसलिये जन्म लिया ? और पुनः वे

१–महाभारतके उल्लेखानुसार नर-नारायण ऋषिरूपमें विभक्त परमात्मा ही हैं, जो बादमें अर्जुन और कृष्ण हुए । ये ही नारायणीय या भागवतधर्मके प्रधान प्रचारक हैं, अतः भागवतीय ग्रन्थोंमें सर्वत्र इन दोनोंको नमस्कार किया गया है । पुराण-प्रवचनमें भी इस श्लोकको माङ्गलिक रूपमें पढ़नेकी प्राचीन प्रथा है ।

महाभारतका प्राचीन नाम 'जय' है, पर उपलक्षणसे पुराणोंका भी ग्रहण किया जाता है । भविष्यपुराणका वचन है—अष्टादश पुराणानि रामस्य चरितं तथा । कार्ष्णं वेदपञ्चमं च यन्महाभारतं विदुः ॥
। जयेति नाम चैतेषां प्रवदन्ति मनीषिणः ॥(भविष्यपुराण १ । १ । ५-९)

अर्थात्-अठारहों पुराण, रामायण और सम्पूर्ण (वेदार्थ) पाँचवाँ वेद, जिसे महाभारत रूपमें जानते हैं—इन सबको मनीषीलोग 'जय' कहते हैं ।

कल्याणी देवदेव (महादेव) की पत्नी कैसे बनीं ? मैं मानता हूँ कि आपको सब कुछका ज्ञान है, अत: मेरी इस शंकाको दूर कर दें । साथ ही सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ हे द्विज ! तीर्थों तथा दानोंकी महिमा और वि व्रतोंकी अनुष्ठान-विधि भी मुझे बताइये ॥ १—८ ॥

एवमुक्तो नारदेन पुलस्त्यो मुनिसत्तम । प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो नारदं तपसो निधिम् ॥ ९

नारदजीके इस प्रकार कहनेपर मुनियोंमें मुख्य तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ तपोधन पुलस्त्यजी नारद कहने लगे ॥ ९ ॥

पुलस्त्य उवाच

पुराणं वामनं वक्ष्ये क्रमान्निखिलमादितः । अवधानं स्थिरं कृत्वा शृणुष्व मुनिसत्तम ॥ १०
पुरा हैमवती देवी मन्दरस्थं महेश्वरम् । उवाच वचनं दृष्ट्वा ग्रीष्मकालमुपस्थितम् ॥ ११
ग्रीष्मः प्रवृत्तो देवेश न च ते विद्यते गृहम् । यत्र वातातपौ ग्रीष्मे स्थितयोर्नौ गमिष्यतः ॥ १२
एवमुक्तो भवान्या तु शंकरो वाक्यमब्रवीत् । निराश्रयोऽहं सुदति सदारण्यचरः शुभे ॥ १३

पुलस्त्यजी बोले—नारद ! आपसे मैं सम्पूर्ण वामनपुराणकी कथा आदिसे (अन्ततक) वर्णन करूँगा । मुनिश्रे आप मनको स्थिर कर ध्यानसे सुनें[1] प्राचीन समयमें देवी हैमवती-(सती) ने ग्रीष्म ऋतुका आगमन देखकर म पर्वतपर बैठे हुए भगवान् शंकरसे कहा—देवेश ! ग्रीष्म ऋतु तो आ गयी है, परंतु आपका कोई घर नहीं जहाँ हम दोनों ग्रीष्मकालमें निवास करते हुए वायु और तापजनित कठिन समयको बिता सकेंगे । सत ऐसा कहनेपर भगवान् शंकर बोले—हे सुन्दर दाँतोंवाली सति ! मेरा कभी कोई घर नहीं रहा । मैं तो स वनोंमें ही घूमता रहता हूँ ॥ १०—१३ ॥

इत्युक्ता शंकरेणाथ वृक्षच्छायासु नारद । निदाघकालमनयत् समं शर्वेण सा सती ॥ १४ ॥
निदाघान्ते समुद्भूतो निर्जनाचरितोऽद्भुतः । घनान्धकारिताशो वै प्रावृट्कालोऽतिरागवान् ॥ १५ ॥
तं दृष्ट्वा दक्षतनुजा प्रावृट्कालमुपस्थितम् । प्रोवाच वाक्यं देवेशं सती सप्रणयं तदा ॥ १६ ॥

नारदजी ! भगवान् शंकरके ऐसा कहनेपर सतीदेवीने उनके साथ वृक्षोंकी छायामें (जैसे-तैसे रहकर) निदाघ (गर्मी-)का समय बिताया । फिर ग्रीष्मके अन्तमें अद्भुत वर्षाऋतु आ गयी, जो अत्यधिक रागको बढ़ानेवाला होती है और जिसमें प्राय: सबका आनागमन अवरुद्ध हो जाता है । (उस समय) मेघोंसे आवृत हो जानेसे दिशाएँ अन्धकारमय हो गयीं । उस वर्षाऋतुको आया देखकर दक्ष-पुत्री सतीने प्रेमसे महादेवजीसे यह वचन कहा—॥ १४–१६ ॥

विवहन्ति वाता हृदयावदारणा गर्जन्त्यमी तोयधरा महेश्वर ।
स्फुरन्ति नीलाभ्रगणेषु विद्युतो वाशन्ति केकारवमेव बर्हिणः ॥ १७ ॥
पतन्ति धारा गगनात् परिच्युता बका बलाकाश्च सरन्ति तोयदान् ।
कदम्बसर्जार्जुनकेतकीद्रुमाः पुष्पाणि मुञ्चन्ति सुमारुताहताः ॥ १८ ॥
श्रुत्वैव मेघस्य दृढं तु गर्जितं त्यजन्ति हंसाश्च सरांसि तत्क्षणात् ।
यथाश्रयान् योगिगणाः समन्ततः प्रवृद्धमूलानपि सन्त्यजन्ति ॥ १९ ॥

१–भविष्यपुराणके प्रमाणानुसार वामनपुराणके वक्ता चतुर्मुख (ब्रह्माजी) हैं, पर यहाँ पुलस्त्यजी ऐसा उल्लेख नहीं करते कि 'पुराणं वामनं वक्ष्ये ब्रह्मणा च यथाश्रुतम् ।' इससे प्रतीत होता है कि एतत्-सम्बन्धी १ श्लोक अनुपलब्ध है । मात्स्यपुराणमें भी चतुर्मुख (ब्रह्मा) के वक्ता होनेका उल्लेख है—

'त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः । त्रिवर्गमभ्यधात्तच्च वामनं परिकीर्तितम् ॥'

✿

इमानि यूथानि वने मृगाणां चरन्ति धावन्ति रमन्ति शम्भो।
तथाचिराभा सुतरां स्फुरन्ति पश्येह नीलेषु घनेषु देव।
नूनं समृद्धिं सलिलस्य दृष्ट्वा चरन्ति शूरास्तरुणद्रुमेषु ॥ २० ॥
उद्वृत्तवेगाः सहसैव निम्नगा जाताः शशाङ्काङ्कितचारुमौले।
किमत्र चित्रं यदनुज्ज्वलं जनं निषेव्य योषिद् भजति त्वशीला ॥ २१ ॥

महेश्वर! हृदयको विदीर्ण करनेवाली वायु वेगसे चल रही है। ये मेघ भी गर्जन कर रहे हैं, नीले मेघोंके बीचमें बिजलियाँ कौंध रही हैं और मयूरगण केकाध्वनि कर रहे हैं। आकाशसे गिरती हुई जलधाराएँ नीचे आ रही हैं। बगुले तथा बगुलोंकी पंक्तियाँ जलाशयोंमें तैर रहे हैं। प्रबल वायुके झोंके खाकर कदम्ब, सर्ज, अर्जुन तथा केतकीके वृक्ष पुष्पोंको गिरा रहे हैं—वृक्षोंसे फूल झड़ रहे हैं। मेघका गम्भीर गर्जन सुनकर हंस तुरंत जलाशयोंको छोड़कर चले जा रहे हैं, जिस प्रकार योगिजन अपने सब प्रकारसे समृद्ध घरको भी छोड़ देते हैं। शिवजी! वनमें मृगोंके ये यूथ आनन्दित होकर इधर-उधर दौड़ लगाकर खेल-कूदकर आनन्दित हो रहे हैं और देव! देखिये, नीले बादलमें विद्युत् भलाभाँति चमक रही है। लगता है, जलकी वृद्धिको देखकर वीरगण हरे-भरे सुपुष्ट नये वृक्षोंपर विचरण कर रहे हैं। नदियाँ सहसा उद्दामवेगसे (बड़े वेगसे) बहने लगी हैं। चन्द्रशेखर! ऐसे उत्तेजक समयमें यदि असुवृत्त व्यक्तिके फंदेमें आकर स्त्री दुःशील हो जाती है तो इसमें क्या आश्चर्य ॥ १७–२१ ॥

नीलैश्च मेघैश्च समावृतं नभः पुष्पैश्च सर्जा मुकुलैश्च नीपाः।
फलैश्च बिल्वाः पयसा तथापगाः पत्रैः सपद्मैश्च महासरांसि ॥ २२ ॥
इतीदृशे शंकर दुःसहेऽद्भुते काले सुरौद्रे ननु ते ब्रवीमि।
गृहं कुरुष्वात्र महाचलोत्तमे सुनिर्वृता येन भवामि शम्भो ॥ २३ ॥
इत्थं त्रिनेत्रः श्रुतिरामणीयकं श्रुत्वा वचो वाक्यमिदं बभाषे।
न मेऽस्ति वित्तं गृहसंचयार्थे मृगारिचर्मावरणं मम प्रिये ॥ २४ ॥
ममोपवीतं भुजगेश्वरः शुभे कर्णेऽपि पद्मश्च तथैव पिङ्गलः।
केयूरमेकं मम कम्बलस्त्वपरो द्वितीयमन्यो भुजगो धनंजयः ॥ २५ ॥
नागस्तथैवाश्वतरो हि कङ्कणं सव्येतरे तक्षक उत्तरे तथा।
नीलोऽपि नीलाञ्जनतुल्यवर्णः श्रोणीतटे राजति सुप्रतिष्ठः ॥ २६ ॥

आकाश नीले बादलोंसे घिर गया है। इसी प्रकार पुष्पोंके द्वारा सर्ज, मुकुलों-(कलियों) के द्वारा नीप (कदम्ब), फलोंके द्वारा बिल्व-वृक्ष एवं जलके द्वारा नदियाँ और कमल-पुष्पों एवं कमल-पत्रोंसे बड़े-बड़े सरोवर भी ढक गये हैं। हे शंकरजी! ऐसी दुःसह, अद्भुत तथा भयंकर दशामें आपसे प्रार्थना करती हूँ कि इस महान् तथा उत्तम पर्वतपर गृह निर्माण कीजिये, हे शम्भो! जिससे मैं सर्वथा निश्चिन्त हो जाऊँ। कानोंको प्रिय लगनेवाले सतीके इन वचनोंको सुनकर तीन नयनवाले भगवान् शंकरजी बोले—प्रिये! घर बनानेके लिये (और उसकी साज-सज्जाके लिये) मेरे पास धन नहीं है। मैं व्याघ्रके चर्ममात्रसे अपना शरीर ढकता हूँ। शुभे! (सूत्रोंके अभावमें) सर्पराज ही मेरा उपवीत (जनेऊ) बना है। पद्म और पिंगल नामके दो सर्प मेरे दोनों कानोंमें (कुण्डलका काम करते) हैं। कम्बल और धनंजय नामके ये दो सर्प मेरे दोनों बाहोंके बाजूबंद हैं। मेरे दाहिने और बाएँ हाथोंमें भी क्रमशः अश्वतर तथा तक्षक नाग कङ्कण बने हुए हैं। इसी प्रकार मेरी कमरमें नीलाञ्जनके वर्णवाला नील नामका सर्प अवस्थित होकर सुशोभित हो रहा है ॥ २२–२६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इति वचनमथोग्रं शंकरात्सा मृडानी ऋतमपि तदसत्यं श्रीमदाकर्ण्य भीता।
अवनितलमवेक्ष्य स्वामिनो वासकृच्छ्रात् परिवदति सरोषं लज्जयोच्छ्वस्य चोष्णम्॥ २७॥

पुलस्त्यजी बोले—महादेवजीसे इस प्रकार कठोर तथा ओजस्वी एवं सत्य होनेपर भी असत्य प्रतीत हो रहे वचनको सुनकर सतीजी बहुत डर गयीं और स्वामीके निवासकष्टको देखकर गरम साँस छोड़ती हुई और पृथ्वीकी ओर देखती हुई (कुछ) क्रोध और लज्जासे इस प्रकार कहने लगीं—॥ २७ ॥

देव्युवाच

कथं हि देवदेवेश प्रावृट्कालो गमिष्यति। वृक्षमूले स्थिताया मे सुदुःखेन पदाम्भव॥ २८॥

सतीदेवी बोलीं—देवेश ! वृक्षके मूलमें दुःखपूर्वक रहकर भी मेरा वर्षाकाल कैसे व्यतीत होगा ! इसीलिये तो मैं आपसे (गृहके निर्माणकी बात) कहती हूँ ॥ २८ ॥

शंकर उवाच

घनावस्थितदेहाया प्रावृट्कालः प्रयास्यति। यथाम्बुधारा न तव निपतिष्यन्ति विग्रहे॥ २९॥

शंकरजी बोले—देवि ! मेघ-मण्डलके ऊपर अपने शरीरको स्थित कर तुम वर्षाकाल भलीभाँति व्यतीत कर सकोगी। इससे वर्षाकी जलधाराएँ तुम्हारे शरीरपर नहीं गिर पायेंगी ॥ २९ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततो हरस्तद्घनखण्डमुन्नतमारुह्य तस्थौ सह दक्षकन्यया।
ततोऽभवन्नाम महेश्वरस्य जीमूतकेतुस्त्विति विश्रुतं दिवि॥ ३०॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद महादेवजी दक्षकन्या सतीके साथ आकाशमें उन्नत मेघमण्डलके ऊपर चढ़कर बैठ गये। तभीसे स्वर्गमें उन महादेवजीका नाम 'जीमूतकेतु' या 'जीमूतवाहन' विख्यात हो गया ॥ ३० ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

[अथ द्वितीयोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततस्त्रिनेत्रस्य गतः प्रावृट्कालो घनोपरि। लोकानन्दकरी रम्या शरत् समभवन्मुने॥ १॥
त्यजन्ति नीलाम्बुधरा नभस्तलं वृक्षांश्च कङ्काः सरितस्तटानि।
पद्माः सुगन्धं निलयानि वायसा रुरुर्विषाणं कलुषं जलाशयाः॥ २॥
विकासमायान्ति च पङ्कजानि चन्द्रांशवो भान्ति लताः सुपुष्पाः।
नन्दन्ति हृष्टान्यपि गोकुलानि सन्तश्च सन्तोषमनुव्रजन्ति॥ ३॥
सरःसु पद्मा गगने च तारका जलाशयेष्वेव तथा पयांसि।
सतां च चित्तं हि दिशां मुखैः समं वैमल्यमायान्ति शशाङ्ककान्तयः॥ ४॥

दूसरा अध्याय प्रारम्भ

(शरदागम होनेपर शंकरजीका मन्दरपर्वतपर जाना और दक्षका यज्ञ)

पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकार तीन नयनवाले भगवान् शिवका वर्षाकाल मेघोंपर बसते हुए ही व्यतीत हो गया। हे मुने ! तत्पश्चात् लोगोंको आनन्द देनेवाली रमणीय शरद् ऋतु आ गयी। इस ऋतुमें नीले मेघ

आकाशको और बगुले घूर्णोंको छोड़कर अलग हो जाते हैं। नदियाँ भी तटको छोड़कर बहने लगती हैं। इसमें कमलपुष्प सुगन्ध फैलाते हैं, कौवे भी घोसलोंको छोड़ देते हैं। रुरुमृगोंके शृङ्ग गिर पड़ते हैं और जलाशय सर्वथा स्वच्छ हो जाते हैं। इस समय कमल विकसित होते हैं, शुभ्र चन्द्रमाकी किरणें आनन्ददायिनी होकर फैल जाती हैं, लताएँ पुष्पित हो जाती हैं, गौवें हृष्ट पुष्ट होकर आनन्दसे विहरती हैं तथा सतोंको महा सुख मिलता है। तालाबोंमें कमल, गगनमें तारागण, जलाशयोंमें निर्मल जल और दिशाओंके मुखमण्डलके साथ सज्जनोंका चित्त तथा चन्द्रमाकी ज्योति भी सर्वथा स्वच्छ एवं निर्मल हो जाती है ॥ १–४ ॥

एतादृशे हर काले मेघपृष्ठाधिवासिनीम् । सतीमादाय शैलेन्द्रं मन्दरं समुपाययौ ॥ ५ ॥
ततो मन्दरपृष्ठेऽसौ स्थित्वा समशिलातले । रराम शम्भुर्भगवान् सत्या सह महाद्युतिः ॥ ६ ॥
ततो व्यतीते शरदि प्रतिबुद्धे च केशवे । दक्षः प्रजापतिश्रेष्ठो यष्टुमारभत क्रतुम् ॥ ७ ॥
द्वादशैव स चादित्याञ्छक्रादींश्च सुरोत्तमान् । सकश्यपान् समामन्त्र्य सदस्यान् समचीकरत्॥ ८ ॥

ऐसी शरद् ऋतुमें शंकरजी मेघके ऊपर वास करनेवाली सतीको साथ लेकर श्रेष्ठ मन्दर पर्वतपर पहुँचे और महातेजस्वी (महाकान्तिमान्) भगवान् शंकर मन्दराचलके ऊपरी भागमें एक समतल शिलापर अवस्थित होकर सतीके साथ विश्राम करने लगे। उसके बाद शरदृतुके बीत जानेपर तथा भगवान् विष्णुके जाग जानेपर प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ दक्षने एक विशाल यज्ञका आयोजन किया। उन्होंने द्वादश आदित्यों तथा कश्यप आदि (ऋषियों) के साथ ही इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओंको भी निमन्त्रित कर उन्हें यज्ञका सदस्य बनाया ॥ ५–८ ॥

अरुन्धत्या च सहितं वसिष्ठं शंसितव्रतम् । सहानसूययात्रिं च सह धृत्या च कौशिकम् ॥ ९ ॥
अहल्यया गौतमं च भरद्वाजममायया । चन्द्रया सहितं ब्रह्मन्नृषिमङ्गिरसं तथा ॥ १० ॥
आमन्त्र्य कृतवान् दक्षः सदस्यान् यज्ञसंसदि । विद्वान् गुणसपन्नान् वेदवेदाङ्गपारगान् ॥ ११ ॥
धर्मं च स समाहूय भार्ययाऽहिंसया सह । निमन्त्र्य यज्ञवाटस्य द्वारपालत्वमादिशत् ॥ १२ ॥

नारदजी ! उन्होंने अरुन्धतीसहित प्रशस्तव्रतधारी वसिष्ठको, अनसूया-सहित अत्रिमुनिको, धृतिके सहित कौशिक (विश्वामित्र) मुनिको, अहल्याके साथ गौतमको, अमायाके सहित भरद्वाजको और चन्द्राके साथ अङ्गिरा ऋषिको आमन्त्रित किया। विद्वान् दक्षने इन गुणसम्पन्न वेद-वेदाङ्गपारगामी विद्वान् ऋषियोंको निमन्त्रितकर उन्हें अपने यज्ञमें सदस्य बनाया। और, उन्होंने (प्रजापति दक्षने) यज्ञमें धर्मको भी उनकी पत्नी अहिंसाके साथ निमन्त्रितकर यज्ञमण्डपका द्वारपाल नियुक्त किया ॥ ९–१२ ॥

अरिष्टनेमिनं चक्रे इध्माहरणकारिणम् । भृगुं च मन्त्रसंस्कारे सम्यग् दक्षः प्रयुक्तवान् ॥१३॥
तथा चन्द्रमसं देवं रोहिण्या सहितं शुचिम् । धनानामाधिपत्ये च युक्तवान् हि प्रजापतिः ॥१४॥
जामातृदुहितृंश्चैव दौहित्रांश्च प्रजापतिः । सशङ्करां सतीं मुक्त्वा मखे सर्वान् न्यमन्त्रयत् ॥१५॥

दक्षने अरिष्टनेमिको समिधा लानेका कार्य सौंपा और भृगुको समुचित मन्त्र-पाठमें नियुक्त किया। फिर दक्षप्रजापतिने रोहिणीसहित 'अर्थशुचि' चन्द्रमाको कोषाध्यक्षके पदपर नियुक्त किया। इस प्रकार दक्षप्रजापतिने केवल शंकरसहित सतीको छोड़कर अपने सभी जामाताओं, पुत्रियों एवं दौहित्रोंको यज्ञमें आमन्त्रित किया ॥ १३–१५ ॥

नारद उवाच

किमर्थं लोकपतिना धनाध्यक्षो महेश्वरः । ज्येष्ठः श्रेष्ठो वरिष्ठोऽपि आद्योऽपि न निमन्त्रितः ॥१६॥

नारदजीने कहा (पूछा)—(पुलस्त्यजी महाराज !) लोकस्वामी दक्षने महेश्वरके सबसे बड़े, श्रेष्ठ, वरिष्ठ, सबके आदिमें रहनेवाले एवं समग्र ऐश्वर्योंके स्वामी होनेपर भी उन्हें (यज्ञमें) क्यों नहीं निमन्त्रित किया ? ॥ १६ ॥

पुलस्त्य उवाच

ज्येष्ठः श्रेष्ठो वरिष्ठोऽपि आद्योऽपि भगवाञ्छिवः । कपालीति विदित्वेशो दक्षेण न निमन्त्रितः ॥१७॥

पुलस्त्यजीने कहा—(नारद !) ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ तथा अग्रणी होनेपर भी भगवान् शिवको कपाली जानकर प्रजापति दक्षने उन्हें (यज्ञमें) निमन्त्रित नहीं किया ॥ १७ ॥

नारद उवाच

किमर्थं देवताश्रेष्ठः शूलपाणिस्त्रिलोचनः । कपाली भगवाञ्जातः कर्मणा केन शंकरः ॥१८॥

नारदजीने (फिर) पूछा—(महाराज !) देवश्रेष्ठ शूलपाणि, त्रिलोचन भगवान् शंकर किस कर्मसे और किस प्रकार कपाली हो गये, यह बतलायें ॥ १८ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्वावहितो भूत्वा कथामेतां पुरातनीम् । प्रोक्तामादिपुराणे च ब्रह्मणाऽव्यक्तमूर्तिना ॥१९॥
पुरा त्वेकार्णवं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् । नष्टचन्द्रार्कनक्षत्रं प्रणष्टपवनानलम् ॥२०॥
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं भावाभावविवर्जितम् । निमग्नपर्वततरु तमोभूतं सुदुर्दशम् ॥२१॥
तस्मिन् स शेते भगवान् निद्रां वर्षसहस्रिकीम् । रात्र्यन्ते सृजते लोकान् राजसं रूपमास्थितः ॥२२॥

पुलस्त्यजीने कहा—नारदजी ! आप ध्यान देकर सुनें। यह पुरानी कथा आदिपुराणमें अव्यक्तमूर्ति ब्रह्माजीके द्वारा कही गयी है। (मैं उसी प्राचीन कथाको आपसे कहता हूँ।) प्राचीन समयमें समस्त स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् एकीभूत महासमुद्रमें निमग्न (डूबा हुआ) था। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, वायु एवं अग्नि—किसीका भी कोई (अलग) अस्तित्व नहीं था। 'भाव' एवं 'अभाव' से रहित जगत्‌की उस समयकी अवस्थाका कोई ठीक-ठीक ज्ञान, विचार, तर्कना या वर्णन सम्भव नहीं है। सभी पर्वत एवं वृक्ष जलमें निमग्न थे तथा सम्पूर्ण जगत् अन्धकारसे व्याप्त एवं दुर्दशाग्रस्त था। ऐसे समयमें भगवान् विष्णु हजारों वर्षोंकी निद्रामें शयन करते हैं एवं रात्रिके अन्तमें राजस रूप ग्रहणकर वे सभी लोकोंकी रचना करते हैं ॥ १९–२२ ॥

राजसः पञ्चवदनो वेदवेदाङ्गपारगः । स्रष्टा चराचरस्यास्य जगतोऽद्भुतदर्शनः ॥२३॥
तमोमयस्तथैवान्यः समुद्भूतस्त्रिलोचनः । शूलपाणिः कपर्दी च अक्षमालां च दर्शयन् ॥२४॥
ततो महात्मा ह्यसृजदहंकारं सुदारुणम् । येनाक्रान्तावुभौ देवौ तावेव ब्रह्मशंकरौ ॥२५॥
अहंकारावृतो रुद्रः प्रत्युवाच पितामहम् । को भवानिह सम्प्राप्तः केन सृष्टोऽसि मां वद ॥२६॥

इस चराचरात्मक जगत्‌का स्रष्टा भगवान् विष्णुका वह अद्भुत राजस स्वरूप पञ्चमुख एवं वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञाता था। उसी समय तमोमय, त्रिलोचन, शूलपाणि, कपर्दी तथा रुद्राक्षमाला धारण किया हुआ एक अन्य पुरुष भी प्रकट हुआ। उसके बाद भगवान्‌ने अतिदारुण अहंकारकी रचना की, जिससे ब्रह्मा तथा शंकर—ये दोनों ही दबकर आक्रान्त हो गये। अहंकारसे व्याप्त शिवने ब्रह्मासे कहा—तुम कौन हो और यहाँ कैसे आये हो ? तुम मुझे यह भी बतलाओ कि तुम्हारी सृष्टि किसने की है ? ॥ २३–२६ ॥

पितामहोऽप्यहंकारात् प्रत्युवाचाथ को भवान् । भवतो जनकः कोऽत्र जननी वा तदुच्यताम् ॥२७॥
इत्यन्योन्यं पुरा ताभ्यां ब्रह्मेशाभ्यां कलिप्रिय । परिवादोऽभवत् तत्र उत्पत्तिर्भवतोऽभवत् ॥२८॥

भवानप्यन्तरिक्षं हि जातमात्रस्तदोत्पतत् । धारयन्नतुलां वीणां कुर्वन् किलकिलाध्वनिम् ॥२९॥
ततो विनिर्जितः शम्भुर्मानिना पद्मयोनिना । तस्थावधोमुखो दीनो ग्रहाक्रान्तो यथा शशी ॥३०॥

(फिर) इसपर ब्रह्माने भी अहंकारसे उत्तर दिया—आप भी बतलाइये कि आप कौन हैं तथा आपके माता पिता कौन हैं? लोक-कल्याणके लिये कलहको प्रिय माननेवाले नारदजी! इस प्रकार प्राचीनकालमें ब्रह्मा और शंकरके बीच एक-दूसरेसे दुर्निवार हुआ। उसी समय आपका भी प्रादुर्भाव हुआ। आप उत्पन्न होते ही अनुपम वीणा धारण किये किलकिला शब्द करते हुए अन्तरिक्षकी ओर ऊपर चले गये। इसके बाद भगवान् शिव मानो ब्रह्माद्वारा पराजित-से होकर राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान दीन एवं अधोमुख होकर खड़े हो गये॥ २७–३०॥

पराजिते लोकपतौ देवेन परमेष्ठिना । क्रोधान्धकारिते रुद्रे पञ्चमोऽथ मुखोऽब्रवीत् ॥३१॥
अहं ते प्रतिजानामि तमोमूर्ते त्रिलोचन । दिग्वासा वृषभारूढो लोकक्षयकरो भवान् ॥३२॥
इत्युक्तः शंकरः क्रुद्धो वदनं घोरचक्षुषा । निर्दग्धुकामस्त्वनिशं ददर्श भगवानजः ॥३३॥
ततस्त्रिनेत्रस्य समुद्भवन्ति वक्त्राणि पञ्चाथ सुदर्शनानि ।
श्वेतं च रक्तं कनकावदातं नीलं तथा पिङ्गजटं च शुभ्रम् ॥ ३४ ॥

(ब्रह्माके द्वारा) लोकपति (शंकर)के पराजित हो जानेपर क्रोधसे अंधे हुए रुद्रसे (श्रीब्रह्माजीके) पाँचवें मुखने कहा—तमोमूर्ति त्रिलोचन! मैं आपको जानता हूँ। आप दिगम्बर, वृषारोही एवं लोकोंको नष्ट करनेवाले (प्रलयकारी) हैं। इसपर अजन्मा भगवान् शंकर अपने तीसरे घोर नेत्रद्वारा भस्म करनेकी इच्छासे ब्रह्माके उस मुखको एकटक देखने लगे। तदनन्तर श्रीशंकरके श्वेत, रक्त, स्वर्णिम, नील एवं पिंगल वर्णके सुन्दर पाँच मुख समुद्भूत हो गये॥ ३१–३४॥

वक्त्राणि दृष्ट्वाऽर्कसमानि सद्यः पैतामहं वक्त्रमुवाच वाक्यम् ।
समाहतस्याथ जलस्य बुद्बुदा भवन्ति किं तेषु पराक्रमोऽस्ति ॥ ३५ ॥
तच्छ्रुत्वा क्रोधयुक्तेन शंकरेण महात्मना । नखाग्रेण शिरश्छिन्नं ब्राह्मं परुषवादिनम् ॥ ३६ ॥
तच्छिन्नं शंकरस्यैव सव्ये करतलेऽपतत् । पतते न कदाचिच्च तच्छंकरकराच्छिरः ॥ ३७ ॥
अथ क्रोधावृतेनापि ब्रह्मणाद्भुतकर्मणा । सृष्टस्तु पुरुषो धीमान् कवची कुण्डली शरी ॥ ३८ ॥
धनुष्पाणिर्महाबाहुर्बाणशक्तिधरोऽव्ययः । चतुर्भुजो महातूणी आदित्यसमदर्शनः ॥ ३९ ॥

सूर्यके समान (उन) दीप्त मुखोंको देखकर पितामहके मुखने कहा—जलमें आघात करनेसे बुद्बुद तो उत्पन्न होते हैं, पर क्या उनमें कुछ शक्ति भी होती है? यह सुनकर क्रोधभरे भगवान् शंकरने ब्रह्माके कठोर भाषण करनेवाले सिरको अपने नखके अग्रभागसे काट डाला, पर वह कटा हुआ ब्रह्माजीका सिर शंकरजीके ही वाम हथेलीपर जा गिरा एवं वह कपाल श्रीशंकरके उस हथेलीमें (इस प्रकार चिपक गया कि गिरानेपर भी) किसी प्रकार न गिरा। इसपर अद्भुतकर्मी ब्रह्माजी अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कवच-कुण्डल एवं शर धारण करनेवाले धनुर्धर विशाल बाहुवाले एक पुरुषकी रचना की। वह अव्यय, चतुर्भुज, बाण, शक्ति और भारी तरकस धारण किये था तथा सूर्यके समान तेजस्वी दीख पड़ता था॥ ३५–३९॥

स प्राह गच्छ दुर्बुद्धे मा त्वां शूलिन् निपातये । भवान् पापसमायुक्तः पापिष्ठं को जिघांसति ॥ ४० ॥
इत्युक्तः शंकरस्तेन पुरुषेण महात्मना । त्रपायुक्तो जगामाथ रुद्रो बदरिकाश्रमम् ॥ ४१ ॥
नरनारायणस्थानं पर्वते हि हिमाश्रये । सरस्वती यत्र पुण्या स्यन्दते सरितां वरा ॥ ४२ ॥

तत्र गत्वा च तं दृष्ट्वा नारायणमुवाच ह । भिक्षां प्रयच्छ भगवन् महाकापालिकोऽस्मि भोः ॥ ४३
इत्युक्तो धर्मपुत्रस्तु रुद्रं वचनमब्रवीत् । सव्यं भुजं ताडयस्व त्रिशूलेन महेश्वर ॥ ४४

उस नये पुरुषने शिवजीसे कहा—दुर्बुद्धि शूलधारी शंकर ! तुम शीघ्र (यहाँसे) चले जाओ, अन्यथा तुम्हें मार डालूँगा । पर तुम पापयुक्त हो, भला, इतने बड़े पापीको कौन मारना चाहेगा । जब उस महापुरुषने शंकरसे इस प्रकार कहा, तब शिवजी लज्जित होकर हिमालय पर्वतपर स्थित बदरिकाश्रमको चले गये, जहाँ नर-नारायणका स्थान है और जहाँ नदियोंमें श्रेष्ठ पवित्र सरस्वती नदी बहती है । वहाँ जाकर और नारायणको देखकर शंकरने कहा—भगवन् ! मैं महाकापालिक हूँ । आप मुझे भिक्षा दें । ऐसा कहनेपर धर्मपुत्र-(नारायण) ने रुद्रसे कहा—महेश्वर ! तुम अपने त्रिशूलके द्वारा मेरी बायीं भुजापर ताडन करो ॥ ४०–४४ ॥

नारायणवचः श्रुत्वा त्रिशूलेन त्रिलोचनः । सव्यं नारायणभुजं ताडयामास वेगवान् ॥ ४५
त्रिशूलाभिहतान्मार्गात् तिस्रो धारा विनिर्ययुः । एका गगनमाक्रम्य स्थिता ताराभिमण्डिता ॥ ४६
द्वितीया न्यपतद् भूमौ तां जग्राह तपोधनः । अत्रिस्तस्मात् समुद्भूतो दुर्वासा शंकरांशतः ॥ ४७
तृतीया न्यपतद्धारा कपाले रौद्रदर्शने । तस्माच्छिशुः समभवत् संनद्धकवचो युवा ॥ ४८
श्यामावदातः शरचापपाणिर्गर्जन्यथा प्रावृषि तोयदोऽसौ ।
इत्थं ब्रुवन् कस्य विशातयामि स्कन्धाच्छिरस्तालफलं यथैव ॥ ४९ ॥

शिवजीने नारायणकी बात सुनकर त्रिशूलद्वारा बड़े वेगसे उनकी वाम भुजापर आघात किया । त्रिशूलद्वारा (भुजापर) प्रताडित मार्गसे जलकी तीन धाराएँ निकल पड़ीं । एक धारा आकाशमें जाकर ताराओंसे मण्डित आकाशगङ्गा हुई, दूसरी धारा पृथ्वीपर गिरी, जिसे तपोधन अत्रिने (मन्दाकिनीके रूपमें) प्राप्त किया और शंकरके उसी अंशसे दुर्वासाका प्रादुर्भाव हुआ । तीसरी धारा भयानक दिखायी पड़नेवाले कपालपर गिरी, जिससे एक शिशु उत्पन्न हुआ । वह (जन्म लेते ही) कवच बाँधे, श्यामवर्णका युवक था । उसके हाथोंमें धनुष और बाण थे । फिर वह वर्षाकालमें मेघ-गर्जनके समान कहने लगा—मैं किसके स्कन्धसे शिरको तालफलके सदृश काटकर गिराऊँ !' ॥ ४५–४९ ॥

तं शंकरोऽभ्येत्य वचो बभाषे नरं हि नारायणबाहुजातम् ।
निपातयैनं नर दुष्टवाक्यं ब्रह्मात्मजं सूर्यशतप्रकाशम् ॥ ५० ॥
इत्येवमुक्तः स तु शंकरेण आद्यं धनुस्त्वाजगवं प्रसिद्धम् ।
जग्राह तूणानि तथाऽक्षयाणि युद्धाय वीरः स मतिं चकार ॥ ५१ ॥
ततः प्रयुद्धौ सुभृशं महाबलौ ब्रह्मात्मजो बाहुभवश्च शार्व ।
दिव्यं सहस्रं परिवत्सराणां ततो हरोऽभ्येत्य विरिञ्चिमूचे ॥ ५२ ॥
जितस्त्वदीयः पुरुषः पितामह नरेण दिव्याद्भुतकर्मणा बली ।
महापृषत्कैरभिपत्य ताडितस्तदद्भुतं चेह दिशो दशैव ॥ ५३ ॥
ब्रह्मा तमीशं वचनं बभाषे नेहास्य जन्मान्यजितस्य शंभो ।
पराजितश्चेष्यतेऽसौ त्वदीयो नरो मदीयः पुरुषो महात्मा ॥ ५४ ॥
इत्येवमुक्तो वचनं त्रिनेत्रश्चिक्षेप सूर्ये पुरुषं विरिञ्चेः ।
नरं नरस्यैव तदा स विग्रहे चिक्षेप धर्मप्रभवस्य देव ॥ ५५ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

श्रीनारायणकी बाहुसे उत्पन्न उस पुरुषके समीप जाकर श्रीशंकरने कहा—हे नर ! तुम सूर्यके समान प्रकाशमान, पर कटुभाषी, ब्रह्मासे उत्पन्न इस पुरुषको मार डालो। शंकरजीके ऐसा कहनेपर उस वीर नरने प्रसिद्ध आजगव नामका धनुष एवं अक्षय तूणीर ग्रहणकर युद्धका निश्चय किया। उसके बाद ब्रह्मात्मज और नारायणकी भुजासे उत्पन्न दोनों नरोंमें सहस्र दिव्य वर्षोंतक प्रबल युद्ध होता रहा। तत्पश्चात् श्रीशंकरजीने ब्रह्माके पास जाकर कहा—पितामह ! यह एक अद्भुत बात है कि दिव्य एवं अद्भुत कर्मवाले (मेरे) नरने दसों दिशाओंमें व्याप्त महान् बाणोंके प्रहारसे ताड़ित कर आपके पुरुषको जीत लिया। ब्रह्माने उस ईशसे कहा कि इस अजितका जन्म यहाँ दूसरोंद्वारा पराजित होनेके लिये नहीं हुआ है। यदि किसीको पराजित कहा जाना अभीष्ट है तो यह तेरा नर ही है। मेरा पुरुष तो महाबली है—ऐसा कहे जानेपर श्रीशंकरजीने ब्रह्माजीके पुरुषको सूर्यमण्डलमें फेंक दिया तथा उन्हीं शंकरने उस नरको धर्मपुत्र नरके शरीरमें फेंक दिया ॥ ५०-५५ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

[अथ तृतीयोऽध्याय]

पुलस्त्य उवाच

ततः करतले रुद्र कपाले दारुणे स्थिते। संतापमगमद् ब्रह्मंश्चिन्तया व्याकुलेन्द्रिय ॥ १ ॥
तत समागता रौद्रा नीलाञ्जनचयप्रभा। सरक्तमूर्द्धजा भीमा ब्रह्महत्या हरान्तिकम् ॥ २ ॥
तामागतां हरो दृष्ट्वा पप्रच्छ विकरालिनीम्। काऽसि त्वमागता रौद्रे केनाप्यर्थेन तद्वद ॥ ३ ॥
कपालिनमथोवाच ब्रह्महत्या सुदारुणा। ब्रह्मवध्याऽस्मि सम्प्राप्ता मां प्रतीच्छ त्रिलोचन ॥ ४ ॥

तीसरा अध्याय प्रारम्भ

(शंकरजीका ब्रह्महत्यासे छूटनेके लिये तीर्थोंमें भ्रमण; बदरिकाश्रममें नारायणकी स्तुति, वाराणसीमें ब्रह्महत्यासे मुक्ति एवं कपाली नाम पड़ना)

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! तत्पश्चात् शिवजीको अपने करतलमें भयंकर कपालके सट जानेसे बड़ी चिन्ता हुई। उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं। उन्हें बड़ा संताप हुआ। उसके बाद कालिखके समान नीले रंगकी, रक्त वर्णके केशवाली भयंकर ब्रह्महत्या शंकरके निकट आयी। उस विकराल रूपवाली स्त्रीको आयी देखकर शंकरजीने पूछा—ओ भयावनी स्त्री ! यह बतलाओ कि तुम कौन हो एवं किसलिये यहाँ आयी हो ? इसपर उस अत्यन्त दारुण ब्रह्महत्याने उनसे कहा—मैं ब्रह्महत्या हूँ, हे त्रिलोचन ! आप मुझे स्वीकार करें—इसलिये यहाँ आयी हूँ ॥ १-४ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं ब्रह्महत्या विवेश ह। त्रिशूलपाणिनं रुद्रं सम्प्रतापितविग्रहम् ॥ ५ ॥
ब्रह्महत्याभिभूतश्च शर्वो बदरिकाश्रमम्। आगच्छन्न ददर्शाथ नरनारायणावृषी ॥ ६ ॥
अदृष्ट्वा धर्मतनयौ चिन्ताशोकसमन्वित। जगाम यमुनां स्नातुं साऽपि शुष्कजलाऽभवत् ॥ ७ ॥
कालिन्दीं शुष्कसलिलां निरीक्ष्य वृषकेतन। प्लक्षजां स्नातुमगमदन्तर्द्धानं च सा गता ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर ब्रह्महत्या संतापसे जलते शरीरवाले त्रिशूलपाणि शिवके शरीरमें समा गयी। ब्रह्महत्यासे अभिभूत होकर श्रीशंकर बदरिकाश्रममें आये, किंतु वहाँ नर एवं नारायण ऋषियोंके उन्हें दर्शन नहीं हुए। धर्मके उन दोनों पुत्रोंको वहाँ न देखकर वे चिन्ता और शोकसे युक्त हो यमुनाजीमें स्नान करने गये, परंतु उसका जल भी सूख गया। यमुनाजीको निर्जल देखकर भगवान् शंकर सरस्वतीमें स्नान करने गये किंतु वह भी लुप्त हो गयी ॥५-८॥

ततोऽनु पुष्करारण्यं मागधारण्यमेव च । सैन्धवारण्यमेवासौ गत्वा स्नातो यथेच्छया ॥ ९ ॥
तथैव नैमिषारण्यं धर्मारण्यं तथेश्वरः । स्नातो नैव च सा रौद्रा ब्रह्महत्या व्यमुञ्चत ॥ १० ॥
सरित्सु तीर्थेषु तथाश्रमेषु पुण्येषु देवायतनेषु शर्वः ।
समायुतो योगयुतोऽपि पापान्नावाप मोक्षं जलदध्वजोऽसौ ॥ ११ ॥
ततो जगाम निर्विण्णः शंकरः कुरुजाङ्गलम् । तत्र गत्वा ददर्शाथ चक्रपाणिं खगध्वजम् ॥ १२ ॥
स दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षं शङ्खचक्रगदाधरम् । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा हरः स्तोत्रमुदीरयत् ॥ १३ ॥

फिर पुष्करारण्य, धर्मारण्य और सैन्धवारण्यमें जाकर उन्होंने बहुत समयतक स्नान किया। उसी प्रकार वे नैमिषारण्य तथा सिद्धपुरमें भी गये और स्नान किये, फिर भी उस भयंकर ब्रह्महत्याने उन्हें नहीं छोड़ा। जीमूतकेतु शंकरने अनेक नदियों, तीर्थों, आश्रमों एवं पवित्र देवायतनोंकी यात्रा की, पर योगी होनेपर भी वे पापसे मुक्ति न प्राप्त कर सके। तत्पश्चात् वे खिन्न होकर कुरुक्षेत्र गये। वहाँ जाकर उन्होंने गरुडध्वज चक्रपाणि (विष्णु) को देखा और उन शङ्ख-चक्र-गदाधारी पुण्डरीकाक्ष-(श्रीनारायण) का दर्शनकर वे हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे—॥ ९–१३ ॥

हर उवाच

नमस्ते देवतानाथ नमस्ते गरुडध्वज । शङ्खचक्रगदापाणे वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥
नमस्ते निर्गुणानन्त अप्रतर्क्याय वेधसे । ज्ञानाज्ञान निरालम्ब सर्वालम्ब नमोऽस्तु ते ॥ १५ ॥
रजोयुक्त नमस्तेऽस्तु ब्रह्ममूर्ते सनातन । त्वया सर्वमिदं नाथ जगत्सृष्टं चराचरम् ॥ १६ ॥
सत्त्वाधिष्ठित लोकेश विष्णुमूर्ते अधोक्षज । प्रजापाल महाबाहो जनार्दन नमोऽस्तु ते ॥ १७ ॥
तमोमूर्ते अहं ह्येष त्वदंशक्रोधसम्भवः । गुणाभियुक्त देवेश सर्वव्यापिन् नमोऽस्तु ते ॥ १८ ॥

भगवान् शंकर बोले—हे देवताओंके स्वामी! आपको नमस्कार है। गरुडध्वज! आपको प्रणाम है। शङ्ख-चक्र-गदाधारी वासुदेव! आपको नमस्कार है। निर्गुण अनन्त एवं अतर्कनीय विधाता! आपको नमस्कार है। ज्ञानाज्ञानस्वरूप, स्वयं निराश्रय किंतु सबके आश्रय! आपको नमस्कार है। रजोगुण, सनातन, ब्रह्ममूर्ति! आपको नमस्कार है। नाथ! आपने इस सम्पूर्ण चराचर विश्वकी रचना की है। सत्त्वगुणके आश्रय लोकेश! विष्णुमूर्ति, अधोक्षज, प्रजापालक, महाबाहु, जनार्दन! आपको नमस्कार है। हे तपोमूर्ति! मैं आपके अंशभूत क्रोधसे उत्पन्न हूँ। हे महान् गुणवाले सर्वव्यापी देवेश! आपको नमस्कार है ॥ १४–१८ ॥

भूरियं त्वं जगन्नाथ जलाम्बरहुताशनः । वायुर्बुद्धिर्मनश्चापि शर्वरी त्वं नमोऽस्तु ते ॥ १९ ॥
धर्मो यज्ञस्तपः सत्यमहिंसा शौचमार्जवम् । क्षमा दानं दया लक्ष्मीर्ब्रह्मचर्यं त्वमीश्वर ॥ २० ॥
त्वं साङ्गाश्चतुरो वेदास्त्वं वेद्यो वेदपारगः । उपवेदा भवानीश सर्वोऽसि त्वं नमोऽस्तु ते ॥ २१ ॥
नमो नमस्तेऽच्युत चक्रपाणे नमोऽस्तु ते माधव मीनमूर्ते ।
लोके भवान् कारुणिको मतो मे त्रायस्व मां केशव पापबन्धात् ॥ २२ ॥
ममाशुभं नाशय विग्रहस्थं यद् ब्रह्महत्याऽभिभवं बभूव ।
दग्धोऽस्मि नष्टोऽस्म्यसमीक्ष्यकारी पुनीहि तीर्थोऽसि नमो नमस्ते ॥ २३ ॥

जगन्नाथ! आप ही पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु, बुद्धि, मन एवं रात्रि हैं, आपको नमस्कार है। ईश्वर! आप ही धर्म, यज्ञ, तप, सत्य, अहिंसा, पवित्रता, सरलता, क्षमा, दान, दया, लक्ष्मी एवं ब्रह्मचर्य हैं। हे ईश! आप अङ्गोंसहित चतुर्वेदस्वरूप, वेद्य एवं वेदपारगामी हैं। आप ही उपवेद हैं तथा सभी कु

आप ही हैं, आपको नमस्कार है। अच्युत! चक्रपाणि! आपको बारबार नमस्कार है। मीनमूर्तिधारी (मत्स्यावतारी) माधव! आपको नमस्कार है। मैं आपको लोकमें दयालु मानता हूँ। केशव! आप मेरे शरीरमें स्थित ब्रह्महत्यासे उत्पन्न अशुभको नष्ट कर मुझे पाप-बन्धनसे मुक्त करें। बिना विचार किये कार्य करनेवाला मैं दग्ध एवं नष्ट हो गया हूँ। आप साक्षात् तीर्थ हैं, अतः आप मुझे पवित्र करें। आपको बारबार नमस्कार है॥१९-२३॥

पुलस्त्य उवाच

इत्थं स्तुतश्चक्रधरः शंकरेण महात्मना। प्रोवाच भगवान् वाक्यं ब्रह्महत्याक्षयाय हि॥ २४॥

पुलस्त्यजीने कहा—भगवान् शंकरद्वारा इस प्रकार स्तुत होनेपर चक्रधारी भगवान् विष्णु शंकरकी ब्रह्महत्याको नष्ट करनेके लिये उनसे वचन बोले—॥ २४॥

हरिरुवाच

महेश्वर शृणुष्वेमां मम वाचं कलस्वनाम्। ब्रह्महत्याक्षयकरीं शुभदां पुण्यवर्धनीम्॥ २५॥
योऽसौ प्राङ्मण्डले पुण्ये मदंशप्रभवोऽव्ययः। प्रयागे वसते नित्यं योगशायीति विश्रुतः॥ २६॥
चरणाद् दक्षिणात्तस्य विनिर्याता सरिद्वरा। विश्रुता वरणेत्येव सर्वपापहरा शुभा॥ २७॥
सव्यादन्या द्वितीया च असिरित्येव विश्रुता। ते उभे तु सरिच्छ्रेष्ठे लोकपूज्ये बभूवतुः॥ २८॥

भगवान् विष्णु बोले—महेश्वर! आप ब्रह्महत्याको नष्ट करनेवाली मेरी मधुर वाणी सुनें। यह शुभप्रद एवं पुण्यको बढ़ानेवाली है।

यहाँसे पूर्व प्रयागमें मेरे अंशसे उत्पन्न 'योगशायी' नामसे विख्यात देवता हैं। वे अव्यय—विकाररहित पुरुष हैं। वहाँ उनका नित्य निवास है। वहींसे उनके दक्षिण चरणसे 'वरणा' नामसे प्रसिद्ध श्रेष्ठ नदी निकली है। वह सब पापोंको हरनेवाली एवं पवित्र है। वहीं उनके वाम पादसे 'असि'नामसे प्रसिद्ध एक दूसरी नदी भी निकली है। ये दोनों नदियाँ श्रेष्ठ एवं लोकपूज्य हैं॥ २५-२८॥

ताभ्यां मध्ये तु यो देशस्तत्क्षेत्रं योगशायिनः। त्रैलोक्यप्रवरं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम्।
न तादृशोऽस्ति गगने न भूम्यां न रसातले॥ २९॥
तत्रास्ति नगरी पुण्या ख्याता वाराणसी शुभा। यस्यां हि भोगिनोऽपीश प्रयान्ति भवतो लयम्॥ ३०॥
विलासिनीनां रशनास्वनेन श्रुतिस्वनैर्ब्राह्मणपुंगवानाम्।
शुचिस्वरत्वं गुरवो निशम्य हास्यादशासन्त मुहुर्मुहुस्तान्॥ ३१॥
व्रजत्सु योषित्सु चतुष्पथेषु पदान्यलक्तारुणितानि दृष्ट्वा।
ययौ शशी विस्मयमेव यस्यां किंस्वित् प्रयाता स्थलपद्मिनीयम्॥ ३२॥
तुङ्गानि यस्यां सुरमन्दिराणि रुन्धन्ति चन्द्रं रजनीमुखेषु।
दिवाऽपि सूर्यं पवनाप्लुताभिर्दीर्घाभिरेव सुपताकिकाभिः॥ ३३॥

उन दोनोंके मध्यका प्रदेश योगशायीका क्षेत्र है। वह तीनों लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ तथा सभी पापोंसे छुड़ा देनेवाला तीर्थ है। उसके समान अन्य कोई तीर्थ आकाश, पृथ्वी एवं रसातलमें नहीं है। ईश! वहाँ पवित्र शुभप्रद विख्यात वाराणसी नगरी है, जिसमें भोगी लोग भी आपके लोकको प्राप्त करते हैं। श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि विलासिनी स्त्रियोंकी करधनीकी ध्वनिसे मिश्रित होकर मङ्गल स्वरका रूप धारण करती है। उस ध्वनिको सुनकर गुरुजन बारबार उपहासपूर्वक उनका शासन करते हैं। जहाँ चौराहोंपर भ्रमण करनेवाली स्त्रियोंके अलक्तक

(महावर) से अरुणित चरणोंको देखकर चन्द्रमाको स्थल-पद्मिनीके चलनेका भ्रम हो जाता है और जहाँ रात्रिका आरम्भ होनेपर ऊँचे-ऊँचे देवमन्दिर चन्द्रमाका (मानो) अवरोध करते हैं एवं दिनमें पवनान्दोलित (हवामें फहरा रहा) दीर्घ पताकाओंसे सूर्य भी छिपे रहते हैं ॥ २९–३३॥

> भृङ्गाश्च यस्यां शशिकान्तभित्तौ प्रलोभ्यमाना प्रतिबिम्बितेषु ।
> आलेख्ययोषिद्विमलाननाब्जेष्वीयुर्भ्रमा नैव च पुष्पकान्तरम् ॥ ३४ ॥
> परिभ्रमश्चापि पराजितेषु नरेषु सम्मोहनलेखनेन ।
> यस्यां जलक्रीडनसङ्गतासु न स्त्रीषु शम्भो गृहदीर्घिकासु ॥ ३५ ॥
> न चैव कश्चित् परमन्दिराणि रुणद्धि शम्भो सहसा ऋतेऽक्षान् ।
> न चाबलानां तरसा पराक्रमं करोति यस्यां सुरतं हि मुक्त्वा ॥ ३६ ॥
> पाशग्रन्थिर्गजेन्द्राणां दानच्छेदो मदच्युतौ । यस्यां मानमदौ पुंसां करिणां यौवनागमे ॥३७॥

जिस (वाराणसी) में चन्द्रकान्तमणिकी भित्तियोंपर प्रतिबिम्बित चित्रमें निर्मित स्त्रियोंके निर्मल मुख-कमलोंको देखकर भ्रमर उनपर भ्रमवश लुब्ध हो जाते हैं और दूसरे पुष्पोंकी ओर नहीं जाते, हे शम्भो ! वहाँ सम्मोहनलेखनसे पराजित पुरुषोंमें तथा घरकी बावलियोंमें जलक्रीडाके लिये एकत्र हुई स्त्रियोंमें ही 'भ्रमण' देखा जाता है, अन्यत्र किसीको 'भ्रमण' (चक्कर रोग) नहीं होता, द्यूतक्रीडा-(जुआके खेल-)के पासोंके सिवाय अन्य कोई भी दूसरेको 'पाश'-(बन्धन)में नहीं डाला जाता तथा सुरत-समयके सिवाय स्त्रियोंके साथ कोई आवेगयुक्त पराक्रम नहीं करता । जहाँ हाथियोंके बन्धनमें ही पाशग्रन्थि (रस्सीकी गाँठ) होती है, उनकी मदच्युतिमें (मदके चूनेमें) ही 'दानच्छेद' (मदकी धाराका टूटना) एवं नर हाथियोंके यौवनागममें ही 'मान' और 'मद' होते हैं, अन्यत्र नहीं, तात्पर्य यह कि दान देनेकी धारा निरन्तर चलती रहती है और अभिमानी एवं मदवाले लोग नहीं हैं ॥ ३४–३७ ॥

> प्रियदोषाः सदा यस्यां कौशिका नेतरे जनाः । तारागणेऽकुलीनत्वं गद्ये वृत्तच्युतिर्विभो ॥ ३८ ॥
> भूतिलुब्धा विलासिन्यो भुजङ्गपरिवारिताः । चन्द्रभूषितदेहाश्च यस्यां त्वमिव शंकर ॥ ३९ ॥
> ईदृशायां सुरेशान वाराणस्यां महाश्रमे । वसते भगवाँल्लोलः सर्वपापहरो रविः ॥ ४० ॥
> दशाश्वमेधं यत्प्रोक्तं मदंशो यत्र केशवः । तत्र गत्वा सुरश्रेष्ठ पापमोक्षमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥

विभो ! जहाँ उल्लूक ही सदा दोषा-(रात्रि) प्रिय होते हैं, अन्य लोग दोषोंके प्रेमी नहीं हैं । तारागणोंमें ही अकुलीनता (पृथ्वीमें न छिपना) है, लोगोंमें कहीं अकुलीनताका नाम नहीं है, गद्यमें ही वृत्तच्युति (छन्दोभङ्ग) होती है, अन्यत्र वृत्त-(चरित्र) च्युति नहीं दीखती । शंकर ! जहाँकी विलासिनियाँ आपके सदृश (भस्म) 'भूतिलुब्धा' 'भुजङ्ग-(सर्प) परिवारिता' एवं 'चन्द्रभूषितदेहा' होती हैं । (यहाँ पक्षान्तरमें–विलासिनियोंके पक्षमें— सङ्गतिके लिये, 'भूति' पद 'भस्म' और 'धन' के अर्थमें, 'भुजङ्ग' पद 'सर्प' एवं 'जार' के अर्थमें तथा 'चन्द्र' पद 'चन्द्रभूषण'के अर्थमें प्रयुक्त है ।) सुरेशान ! इस प्रकारकी वाराणसीके महान् आश्रममें सभी पापोंको दूर करनेवाले भगवान् 'लोल' नामक सूर्य निवास करते हैं । सुरश्रेष्ठ ! वहीं दशाश्वमेध नामका स्थान है तथा वहीं मेरे अंशस्वरूप केशव स्थित हैं । वहाँ जाकर आप पापसे छुटकारा प्राप्त करेंगे ॥ ३८–४१ ॥

१–यहाँ स्पष्ट परिसंख्यालंकार है । परिसंख्यालंकार वहाँ होता है, जहाँ किसी वस्तुका एक स्थानसे निषेध करके उसका दूसरे स्थानमें स्थापन हो । ऐसा वर्णन प्रायः रामायणके अयोध्या वर्णनमें, कादम्बरीमें, काशीवर्णनमें काशी आदिके वर्णनमें भी प्राप्त होता है ।

इत्येवमुक्तो गरुडध्वजेन वृषध्वजस्तं शिरसा प्रणम्य।
जगाम वेगाद् गरुडो यथाऽसौ वाराणसीं पापविमोचनाय ॥ ४२ ॥
गत्वा सुपुण्यां नगरीं सुतीर्थां दृष्ट्वा च लोलं सदशाश्वमेधम्।
स्नात्वा च तीर्थेषु विमुक्तपापः स केशवं द्रष्टुमुपाजगाम ॥ ४३ ॥
केशवं शंकरो दृष्ट्वा प्रणिपत्येदमब्रवीत्। त्वत्प्रसादाद् हृषीकेश ब्रह्महत्या क्षयं गता ॥ ४४ ॥
नेदं कपालं देवेश मद्धस्तं परिमुञ्चति। कारणं वेद्मि न च तदेतन्मे वक्तुमर्हसि ॥ ४५ ॥

भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर शिवजीने उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। फिर वे पाप छुड़ानेके लिये गरुड़के समान तेज वेगसे वाराणसी गये। वहाँ परमपवित्र तथा तीर्थभूत नगरीमें जाकर दशाश्वमेधके साथ 'असी' स्थानमें स्थित भगवान् लोलार्कका[1] दर्शन किया तथा (वहाँके) तीर्थोंमें स्नान कर और पाप-मुक्त होकर वे (वरुणा संगमपर) केशवका दर्शन करने गये। उन्होंने केशवका दर्शन करके प्रणामकर कहा—हृषीकेश! आपके प्रसादसे ब्रह्महत्या तो नष्ट हो गयी, पर देवेश! यह कपाल मेरे हाथको नहीं छोड़ रहा है। इसका कारण मैं नहीं जानता। आप ही मुझे यह बतला सकते हैं ॥ ४२–४५ ॥

पुलस्त्य उवाच

महादेववचः श्रुत्वा केशवो वाक्यमब्रवीत्। विद्यते कारणं रुद्र तत्सर्वं कथयामि ते ॥ ४६ ॥
योऽसौ ममाग्रतो दिव्यो ह्रदः पद्मोत्पलैर्युतः। एष तीर्थवरः पुण्यो देवगन्धर्वपूजितः ॥ ४७ ॥
एतस्मिन्प्रवरे तीर्थे स्नानं शम्भो समाचर। स्नातमात्रस्य चाद्यैव कपालं परिमोक्ष्यति ॥ ४८ ॥
ततः कपाली लोके च ख्यातो रुद्र भविष्यसि। कपालमोचनेत्येवं तीर्थं चेदं भविष्यति ॥ ४९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—महादेवका वचन सुनकर केशवने यह वाक्य कहा—रुद्र! इसके समस्त कारणोंको मैं तुम्हें बतलाता हूँ। मेरे सामने कमलोंसे भरा यह जो दिव्य सरोवर है, यह पवित्र तथा तीर्थोंमें श्रेष्ठ है एवं देवताओं तथा गन्धर्वोंसे पूजित है। शिवजी! आप इस परम श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करें। स्नान करनेमात्रसे आज ही यह कपाल (आपके हाथको) छोड़ देगा। इससे रुद्र! संसारमें आप 'कपाली' नामसे प्रसिद्ध होंगे तथा यह तीर्थ भी 'कपालमोचन' नामसे प्रसिद्ध होगा ॥ ४६–४९ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुक्तः सुरेशेन केशवेन महेश्वरः। कपालमोचने सस्नौ वेदोक्तविधिना मुने ॥ ५० ॥
स्नातस्य तीर्थे त्रिपुरान्तकस्य परिच्युतं हस्ततलात् कपालम्।
नाम्ना बभूवाथ कपालमोचनं तत्तीर्थवर्यं भगवत्प्रसादात् ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुने! सुरेश्वर केशवके ऐसा कहनेपर महेश्वरने कपालमोचनतीर्थमें[2] वेदोक्त विधिसे स्नान किया। उस तीर्थमें स्नान करते ही उनके हाथसे ब्रह्म-कपाल गिर गया। तभीसे भगवान्की कृपासे उस उत्तम तीर्थका नाम 'कपालमोचन' पड़ा ॥ ५०–५१ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

१–लोलार्कके सम्बन्धमें विशेष जानकारीके लिये देखिये सूर्याङ्कके १०८ वें से ११० वें पृष्ठतक प्रकाशित विवरण।
२–कपालमोचन तीर्थ काशीके परिसरमें वकरियाकुण्डसे १ मीलपर स्थित है। इस सम्बन्धमें द्रष्टव्य तीर्थाङ्क पृ० १३४।

[अथ चतुर्थोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एवं कपाली संजातो देवर्षे भगवान् हरः। अनेन कारणेनासौ दक्षेण न निमन्त्रितः ॥ १ ॥
कपालिजायेति मत्वा विदित्वाथ प्रजापतिः। यज्ञे चाहूताऽपि दुहिता दक्षेण न निमन्त्रिता ॥ २ ॥
एतस्मिन्नन्तरे देवीं द्रष्टुं गौतमनन्दिनी। जया जगाम शैलेन्द्रं मन्दरं चारुकन्दरम् ॥ ३ ॥
तामागतां सती दृष्ट्वा जयामेकामुवाच ह। किमर्थं विजया नागाज्जयन्ती चापराजिता ॥ ४ ॥

चौथा अध्याय प्रारम्भ

(विजयाका गौरी सतीसे दक्ष-यज्ञकी वार्ता, सतीका प्राण त्याग, शिवका क्रोध एवं उनके गणोंद्वारा दक्ष-यज्ञका विध्वंस)

पुलस्त्यजी बोले—देवर्षे ! भगवान् शिव इस प्रकार कपाली नामसे ख्यात हुए और इसी कारण वे दक्षके द्वारा निमन्त्रित नहीं हुए। प्रजापति दक्षने सतीको अपनी पुत्री होनेपर भी कपालीकी पत्नी समझकर निमन्त्रणके योग्य न मानकर उसे यज्ञमें नहीं बुलाया। इसी बीच देवीका दर्शन करनेके लिये गौतम-पुत्री जया सुन्दर गुफावाले पर्वतश्रेष्ठ मन्दरपर गयी। जयाको वहाँ अकेली आयी देखकर सती बोलीं—विजये ! जयन्ती और अपराजिता यहाँ क्यों नहीं आयीं ? ॥ १–४ ॥

सा देव्या वचनं श्रुत्वा उवाच परमेश्वरीम्। गता निमन्त्रिताः सर्वा मखे मातामहस्य ताः ॥ ५ ॥
समं पित्रा गौतमेन मात्रा चैवाप्यहल्यया। अहं समागता द्रष्टुं त्वां तत्र गमनोत्सुका ॥ ६ ॥
किं त्वं न व्रजसे तत्र तथा देवो महेश्वरः। नामन्त्रिताऽसि तातेन उताहोस्विद् व्रजिष्यसि ॥ ७ ॥
गतास्तु ऋषयः सर्वे ऋषिपत्न्यः सुरास्तथा। मातृष्वसः शशाङ्कश्च सपत्नीको गतः क्रतुम् ॥ ८ ॥
चतुर्दशेषु लोकेषु जन्तवो ये चराचराः। निमन्त्रिताः क्रतौ सर्वे किं नासि त्वं निमन्त्रिता ॥ ९ ॥

देवीके वचनको सुनकर विजयाने उन सती परमेश्वरीसे कहा—अपने पिता गौतम और माता अहल्याके साथ वे मातामहके सत्र-(यज्ञ)में निमन्त्रित होकर चली गयी हैं। वहाँ जानेके लिये उत्सुक मैं आपसे मिलने आयी हूँ। क्या आप तथा भगवान् शिव वहाँ नहीं जा रहे हैं ? क्या पिताजीने आपको नहीं बुलाया है ? अथवा आप वहाँ जायेंगी ? सभी ऋषि, ऋषि-पत्नियाँ तथा देवगण वहाँ गये हैं। हे मातृष्वसः (मौसी) ! पत्नीके सहित शशाङ्क भी उस यज्ञमें गये हैं। चौदहों लोकोंके समस्त चराचर प्राणी उस यज्ञमें निमन्त्रित हुए हैं। क्या आप निमन्त्रित नहीं हैं ? ॥ ५–९ ॥

पुलस्त्य उवाच

जयायास्तद्वचः श्रुत्वा वज्रपातसमं सती। मन्युनाऽभिप्लुता ब्रह्मन् पञ्चत्वमगमत् ततः ॥ १० ॥
जया मृतां सतीं दृष्ट्वा क्रोधशोकपरिप्लुता। मुञ्चती वारि नेत्राभ्यां सस्वरं विललाप ह ॥ ११ ॥
आक्रन्दितध्वनिं श्रुत्वा शूलपाणिस्त्रिलोचनः। आः किमेतदितीत्युक्त्वा जयाभ्याशमुपागतः ॥ १२ ॥
आगतो ददृशे देवीं लतामिव वनस्पतेः। कृत्तां परशुना भूमौ श्लथाङ्गीं पतितां सतीम् ॥ १३ ॥
देवीं निपतितां दृष्ट्वा जयां पप्रच्छ शङ्करः। किमियं पतिता भूमौ निरुत्साह इवाऽसती ॥ १४ ॥
सा शङ्करवचः श्रुत्वा जया वचनमब्रवीत्। श्रुत्वा मखस्थां दक्षस्य भगिन्यः पतिभिः सह ॥ १५ ॥
आदित्याद्यास्त्रिलोकेश सम शक्रादिभिः सुरैः। मातृष्वसा विपन्नेयमन्तर्दुःखेन दह्यती ॥ १६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन् ! (नारदजी !) वज्रपातके समान जयाकी उस बातको सुनकर क्रोध एवं दुःखसे भरकर सतीने प्राण छोड़ दिये। सतीको मरी हुई देखकर क्रोध एवं दुःखसे भरी जया आँसू बहाते हुए जोर-जोरसे विलाप

करने लगी। रोनेकी करुणध्वनि सुनकर शूलपाणि भगवान् शिव 'अरे क्या हुआ, क्या हुआ'—ऐसा कहकर उसके पास गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने फरसेसे कटी वृक्षपर चढ़ी लताकी तरह सतीको भूमिपर मरी पड़ा देखा तो जयासे पूछा—ये सती कटी लताकी तरह भूमिपर क्यों पड़ी हुई हैं? शिवके वचनको सुनकर जया बोली—हे त्रिलोकेश्वर! दक्षके यज्ञमें अपने-अपने पतिके साथ बहनोंका एवं इन्द्र आदि देवोंके साथ आदित्य आदिका निमन्त्रित होकर उपस्थित होना सुनकर आन्तरिक दुःख (की ज्वाला)से दग्ध हो गयीं। इससे मेरी माताकी बहन (सती)के प्राण निकल गये॥ १०-१६॥

पुलस्त्य उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो रौद्रं रुद्रः क्रोधाप्लुतो बभौ। क्रुद्धस्य सर्वगात्रेभ्यो निश्चेरुः सहसार्चिषः॥१७॥
ततः क्रोधात् त्रिनेत्रस्य गात्ररोमोद्भवा मुने। गणाः सिंहमुखा जाता वीरभद्रपुरोगमाः॥१८॥
गणैः परिवृतस्तस्मान्मन्दराद्धिमसाह्वयम्। गतः कनखलं तस्माद् यत्र दक्षोऽयजत् क्रतुम्॥१९॥
ततो गणानामधिपो वीरभद्रो महाबलः। दिशि प्रतीच्युत्तरायां तस्थौ शूलधरो मुने॥२०॥

पुलस्त्यजीने कहा—जयाके इस भयंकर (अमङ्गल) वचनको सुनकर शिवजी अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उनके शरीरसे सहसा अग्निकी तेज ज्वालाएँ निकलने लगीं। मुने! इसके बाद क्रोधके कारण त्रिनेत्र भगवान् शिवके शरीरके लोमोंसे सिंहके समान मुखवाले वीरभद्र आदि बहुत-से रुद्रगण उत्पन्न हो गये। अपने गणोंसे घिरे भगवान् शिव मंदर पर्वतसे हिमालयपर गये और वहाँसे कनखल चले गये, जहाँ दक्ष यज्ञ कर रहे थे। इसके बाद सभी गणोंमें अग्रगामी महाबली वीरभद्र शूल धारण किये पश्चिमोत्तर (वायव्य) दिशामें चले गये॥ १७—२०॥

जया क्रोधाद् गदां गृह्य पूर्वदक्षिणतः स्थिता। मध्ये त्रिशूलधृक् शर्वस्तस्थौ क्रोधान्महामुने॥२१॥
मृगारिवदनं दृष्ट्वा देवाः शक्रपुरोगमाः। ऋषयो यक्षगन्धर्वाः किमिदं त्वित्यचिन्तयन्॥२२॥
ततस्तु धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान्। द्वारपालस्तदा धर्मो वीरभद्रमुपाद्रवत्॥२३॥
तमापतन्तं सहसा धर्मं दृष्ट्वा गणेश्वरः। करेणैकेन जग्राह त्रिशूलं वह्निसंनिभम्॥२४॥
कार्मुकं च द्वितीयेन तृतीयेनाथ मार्गणान्। चतुर्थेन गदां गृह्य धर्ममभ्यद्रवद् गणः॥२५॥

महामुने! क्रोधसे गदा लेकर जया पूर्व-दक्षिण दिशा (अग्निकोण) में खड़ी हो गयी और मध्यमें क्रोधसे भरे त्रिशूल लिये शंकर खड़े हो गये। सिंहवदन-(वीरभद्र)को देखकर इन्द्र आदि देवता, ऋषि, यक्ष एवं गन्धर्वलोग सोचने लगे कि यह क्या है? तदनन्तर द्वारपाल धर्म धनुष एवं सर्पके समान बाणोंको लेकर वीरभद्रकी ओर दौड़े। सहसा धर्मको आता हुआ देखकर गणेश्वर एक हाथमें अग्निके सदृश त्रिशूल, दूसरे हाथमें धनुष, तीसरे हाथमें बाण और चौथे हाथमें गदा लेकर उनकी ओर दौड़ पड़े॥ २१—२५॥

ततश्चतुर्भुजं दृष्ट्वा धर्मराजो गणेश्वरम्। तस्थावष्टभुजो भूत्वा नानायुधधरोऽव्ययः॥२६॥
खड्गचर्मगदाप्रासपरश्वधवराङ्कुशैः। चापमार्गणभृत्तस्थौ हन्तुकामो गणेश्वरम्॥२७॥
गणेश्वरोऽपि संक्रुद्धो हन्तुं धर्मं सनातनम्। ववर्ष मार्गणांस्तीक्ष्णान् यथा प्रावृषि तोयदः॥२८॥
तावन्योन्यं महात्मानौ शरचापधरौ मुने। रुधिरारुणसिक्ताङ्गौ किंशुकाविव रेजतुः॥२९॥

इसके बाद धर्मराजने चतुर्भुज गणेश्वरको देखा और नानाप्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सज्जित हो तथा आठ भुजाओंको धारणकर उनका सामना किया और गणोंके स्वामी वीरभद्रपर प्रहार करनेकी इच्छासे वे अपने हाथोंमें ढाल, तलवार, गदा, भाला, फरसा, अंकुश, धनुष एवं बाण लेकर खड़े हो गये। गणेश्वर वीरभद्र भी अत्यन्त क्रुद्ध होकर

यमको मारनेके लिये वर्षाकालिक मेघके सदृश उनके ऊपर तीक्ष्ण बाणोंकी वर्षा करने लगे। मुने! धनुषसे निकले रुधिरसे लथपथ (अतएव) लाल शरीरवाले वे दोनों महात्मा पलाश-पुष्पके समान शोभने लगे ॥ २६-२९ ॥

ततो वरास्त्रैर्गणनायकेन जितः स धर्मं तरसा प्रसह्य।
पराङ्मुखोऽभूद्विमना मुनीन्द्र स वीरभद्रः प्रविवेश यज्ञम् ॥ ३० ॥
यज्ञवाटं प्रविष्टं तं वीरभद्रं गणेश्वरम्। दृष्ट्वा तु सहसा देवा उत्तस्थुः सायुधा मुने ॥ ३१ ॥
वसवोऽष्टौ महाभागा ग्रहा नव सुदारुणाः। इन्द्राद्या द्वादशादित्या रुद्रास्त्वेकादशैव हि ॥ ३२ ॥
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च सिद्धगन्धर्वपन्नगाः। यक्षाः किंपुरुषाश्चैव खगाश्चक्रधरास्तथा ॥ ३३ ॥
राजा वैवस्वताद् वंशाद् धर्मकीर्तिस्तु विश्रुतः। सोमवंशोद्भवश्चोग्रो भोजकीर्तिर्महाभुजः ॥ ३४ ॥
दितिजा दानवाश्चान्ये येऽन्ये तत्र समागताः। ते सर्वेऽभ्यद्रवन् रौद्रं वीरभद्रमुदायुधाः ॥ ३ ॥

मुनिराज! इसके बाद श्रेष्ठ शस्त्रोंके कारण वीरभद्रसे पराजित होकर यमराज खिन्न हो कर पीछे हट गये। इधर वीरभद्र यज्ञशालामें घुस गये। मुने! गणधर वीरभद्रको यज्ञमण्डपमें घुसते देखकर सहसा सभी देवता अस्त्र शस्त्र लेकर उठ खड़े हुए। महाभाग आठों वसु, अत्यन्त दारुण नवों ग्रह, इन्द्र आदि दिक्पाल, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, विश्वेदेव, साध्यगण, सिद्ध, गन्धर्व, पन्नग, यक्ष, किंपुरुष, महाबाहु, विहगम, चक्रधर, वैवस्वत-वंशीय प्रसिद्ध राजा धर्मकीर्ति, चन्द्रवंशीय महाबाहु, उग्र बलशाली राजा भोजकीर्ति, दैत्य-दानव तथा वहाँ आये हुए अन्य सभी लोग आयुध लेकर रौद्र वीरभद्रकी ओर दौड़ पड़े ॥ ३०-३५ ॥

तानापतत एवाशु चापबाणधरो गणः। अभिदुद्राव वेगेन सर्वानेव शरोत्करैः ॥ ३६ ॥
ते शस्त्रवर्षमतुलं गणेशाय समुत्सृजन्। गणेशोऽपि वरास्त्रैस्तान् प्रचिच्छेद बिभेद च ॥ ३७ ॥
शरैः शस्त्रैश्च सततं वध्यमाना महात्मना। वीरभद्रेण देवाद्या अवहारमकुर्वत ॥ ३८ ॥
ततो विवेश गणपो यज्ञमध्यं सुविस्तृतम्। जुह्वाना ऋषयो यत्र हवींषि प्रवितन्वते ॥ ३९ ॥

धनुष-बाण धारण किये गणोंने उन देवताओंके आते ही उनपर वेगपूर्वक शस्त्रोंद्वारा आक्रमण कर दिया। इधर देवताओंने भी वीरभद्रके ऊपर अतुलनीय बाणोंकी वर्षा की। गणनायक वीरभद्रने देवताओंके अस्त्रोंको छिन्न भिन्न कर डाला। महात्मा वीरभद्रद्वारा विविध बाणों और अस्त्रोंसे आहत होकर देवता आदि रणभूमिसे भाग चले। तब गणपति वीरभद्र सुविस्तृत यज्ञके मध्यमें प्रविष्ट हुए, जहाँ मुनिगण यज्ञकुण्डमें हविकी आहुति दे रहे थे ॥ ३६-३९ ॥

ततो महर्षयो दृष्ट्वा मृगेन्द्रवदनं गणम्। भीता होत्रं परित्यज्य जग्मुः शरणमच्युतम् ॥ ४० ॥
तानार्तांश्चक्रभृद् दृष्ट्वा महर्षींस्त्रस्तमानसान्। न भेतव्यमितीत्युक्त्वा समुत्तस्थौ वरायुधः ॥ ४१ ॥
समानम्य ततः शार्ङ्गं शरानग्निशिखोपमान्। मुमोच वीरभद्राय कायावरणदारणान् ॥ ४२ ॥
ते तस्य कायमासाद्य अमोघा वै हरेः शराः। निपेतुर्भुवि भग्नाशा नास्तिकादिव याचकाः ॥ ४३ ॥

तब वे महर्षि सिंहमुख वीरभद्रको देखकर भयसे हवन छोड़कर विष्णुकी शरणमें चले गये। चक्रधारी विष्णु भयभीत महर्षियोंको दुःखी देखकर 'डरो मत' ऐसा कहकर अपने श्रेष्ठ अस्त्र लेकर खड़े हो गये और अपने शार्ङ्ग धनुषसे वहाँतक वीरभद्रके ऊपर शरीरको विदीर्ण करनेवाले अग्निशिखाके तुल्य बाणोंकी वर्षा करने लगे। पर श्रीहरिके वे अमोघ (सफल) बाण वीरभद्रके शरीरपर पहुँचकर भी पृथ्वीपर वैसे (यों ही व्यर्थ होकर) गिर पड़े, जैसे कि याचक नास्तिकके पाससे विफल—निराश होकर लौट जाता है ॥ ४०-४३ ॥

शरास्त्वमोघा मोघत्वमापन्ना वीक्ष्य केशव । दिव्यैरस्त्रैर्वीरभद्रं प्रच्छादयितुमुद्यत ॥ ४४ ॥
तानस्त्रान्वासुदेवेन प्रक्षिप्तान्गणनायक । वारयामास शूलेन गदया मार्गणैस्तथा ॥ ४५ ॥
दृष्ट्वा विपन्नान्यस्त्राणि गदां चिक्षेप माधव । त्रिशूलेन समाहत्य पातयामास भूतले ॥ ४६ ॥
मुशलं वीरभद्राय प्रचिक्षेप हलायुध । लाङ्गलं च गणेशोऽपि गदया प्रत्यधारयत् ॥ ४७ ॥
मुशलं सगदं दृष्ट्वा लाङ्गलं च निवारितम् । वीरभद्राय चिक्षेप चक्रं क्रोधात् खगध्वज ॥ ४८ ॥

अपने (अत्यर्थ) बाणोंको व्यर्थ होते देखकर भगवान् विष्णु पुन वीरभद्रको दिव्य अस्त्रोंसे ढक देनेके लिये तैयार हो गये । वासुदेवके द्वारा प्रयुक्त उन बाणोंको गणश्रेष्ठ वीरभद्रने शूल, गदा और बाणोंसे रोककर विफल कर दिया । भगवान् विष्णुने अपने अस्त्रोंको नष्ट होते देखकर उसपर कौमोदकी गदा फेंकी । किंतु वीरभद्रने उसे भी अपने त्रिशूलसे काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया । हलायुधने वीरभद्रकी ओर मूसल और हल फेंका जिसे वीरभद्रने गदासे निवारित कर दिया । गदाके सहित मूसल और हलको नष्ट हुआ देखकर गरुडध्वज विष्णुने क्रोधसे वीरभद्रके ऊपर सुदर्शनचक्र चला दिया ॥ ४४–४८ ॥

तमापतन्तं शतसूर्यकल्पं सुदर्शनं वीक्ष्य गणेश्वरस्तु ।
शूलं परित्यज्य जग्राह चक्रं यथा मधुं मीनवपुः सुरेन्द्र ॥ ४९ ॥
चक्रे निगीर्णे गणनायकेन क्रोधातिरक्तोऽसितचारुनेत्र ।
मुरारिरभ्येत्य गणाधिपेन्द्रमुत्क्षिप्य वेगाद् भुवि निष्पिपेष ॥ ५० ॥

हरिबाहूरुवेगेन विनिष्पिष्टस्य भूतले । सहितं रुधिरोद्गारैर्मुखाच्चक्रं विनिर्गतम् ॥ ५१ ॥
ततो निःसृतमालोक्य चक्रं कैटभनाशन । समादाय हृषीकेशो वीरभद्रं मुमोच ह ॥ ५२ ॥

गणेश्वर वीरभद्रने सैकड़ों सूर्यके सदृश सुदर्शन चक्रको अपनी ओर आते देखा तो शूलको छोड़कर चक्रको इस प्रकार निगल लिया जैसे मीनशरीरधारी विष्णु मधुदैत्यको निगल गये थे । वीरभद्रद्वारा चक्रके निगल लिये जानेपर विष्णुके सुन्दर काले नेत्र क्रोधसे लाल हो गये । वे उसके निकट पहुँच गये और उसे वेगसे उठा लिया तथा पृथ्वीपर पटककर उसे पीसने लगे । भगवान् विष्णुकी भुजाओं और जाँघोंके प्रबल वेगसे भूतलमें पटके गये वीरभद्रके मुखसे रुधिरके फौहारेके साथ चक्र बाहर निकल आया । चक्रको मुखसे निकला देखकर भगवान् विष्णुने उसे ले लिया और वीरभद्रको छोड़ दिया ॥ ४९–५२ ॥

हृषीकेशेन मुक्तस्तु वीरभद्रो जटाधरम् । गत्वा निवेदयामास वासुदेवात्पराजयम् ॥ ५३ ॥
ततो जटाधरो दृष्ट्वा गणेशं शोणिताप्लुतम् । निःश्वसन्तं यथा नागं क्रोधं चक्रे तदाव्यय ॥ ५४ ॥
ततः क्रोधाभिभूतेन वीरभद्रोऽथ शम्भुना । पूर्वोद्दिष्टे तदा स्थाने सायुधस्तु निवेदितः ॥ ५५ ॥
वीरभद्रमथादिश्य भद्रकालीं च शंकर । विवेश क्रोधताम्राक्षो यज्ञवाटं त्रिशूलभृत् ॥ ५६ ॥
ततस्तु देवप्रवरे जटाधरे त्रिशूलपाणौ त्रिपुरान्तकारिणि ।
दक्षस्य यज्ञं विशति क्षयंकरे जातो ऋषीणां प्रवरो हि साध्वस ॥ ५७ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे चतुर्थोऽध्याय ॥ ४ ॥

भगवान् विष्णुद्वारा छोड़ दिये जानेपर वीरभद्रने जटाधारी शिवके निकट जाकर वासुदेवसे हुई अपनी पराजयका वर्णन किया । फिर वीरभद्रको खूनसे लथपथ तथा सर्पके सदृश निःश्वास लेते देख अव्यय जटाधर (शंकर) ने क्रोध किया । उसके बाद क्रोधसे तिलमिलाये शंकरने अस्त्र-सहित वीरभद्रको पहले बतलाये स्थानपर बैठा दिया । वे त्रिशूलधर

शंकर वीरभद्र तथा भद्रकालीको आदेश देकर क्रोधसे लाल आँखें किये यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट हुए। त्रिपुर राक्षसको मारनेवाले उन त्रिशूलपाणि त्रिपुरारि देवश्रेष्ठ जटाधरके दक्ष-यज्ञमें प्रवेश करते ही ऋषियोंमें भारी उत्पन्न हो गया ॥ ५३-५७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

[अथ पञ्चमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

जटाधरं हरिर्दृष्ट्वा क्रोधादारक्तलोचनम्। तस्मात् स्थानादपाक्रम्य कुब्जाम्रेऽन्तर्हितः स्थितः ॥ १
वसवोऽष्टौ हरं दृष्ट्वा सुस्रुवुर्वेगतो मुने। सा तु जाता सरिच्छ्रेष्ठा सीता नाम सरस्वती ॥ २
एकादश तथा रुद्रास्त्रिनेत्रा वृषकेतनाः। कान्दिशीका लयं जग्मुः समभ्येत्यैव शंकरम् ॥ ३
विश्वेऽश्विनौ च साध्याश्च मरुतोऽनलभास्कराः। समासाद्य पुरोडाशं भक्षयन्तो महामुने ॥ ४

पाँचवाँ अध्याय प्रारम्भ

(दक्ष-यज्ञका विध्वंस, देवताओंका प्रताड़न, शंकरके कालरूप और राश्यादि रूपोंमें स्वरूप-कथन)

पुलस्त्यजी बोले—जटाधारी भगवान् शिवको क्रोधसे आँखें लाल किये देखकर भगवान् विष्णु उस स्थानसे हटकर कुब्जाम्र-(ऋषिकेश-) में छिप गये। मुने! क्रुद्ध शिवको देखकर आठ वसु तेजीसे पिघलने लगे। कारण वहाँ सीता नामकी श्रेष्ठ नदी प्रवाहित हुई। वहाँ पूजाके लिये स्थित त्रिनेत्रधारी ग्यारहों रुद्र भयके इधर-उधर भागते हुए शंकरके निकट जाकर उनमें ही लीन हो गये। महामुनि नारद! शंकरको निकट देख विश्वेदेवगण, अश्विनीकुमार, साध्यवृन्द, वायु, अग्नि एवं सूर्य पुरोडाश खाते हुए भाग गये ॥ १—४ ॥

चन्द्रः सममृक्षगणैर्निशां समुपदर्शयन्। उत्पत्याखह्य गगनं स्वमधिष्ठानमास्थितः ॥ ५ ॥
कश्यपाद्याश्च ऋषयो जपन्तः शतरुद्रियम्। पुष्पाञ्जलिपुटा भूत्वा प्रणताः संस्थिता मुने ॥ ६ ॥
असमद् दक्षदयिता दृष्ट्वा रुद्रं बलाधिकम्। शक्रादीनां सुरेशानां कृपणं विललाप ह ॥ ७ ॥
ततः क्रोधाभिभूतेन शंकरेण महात्मना। तलप्रहारैरमरा बहवो विनिपातिताः ॥ ८ ॥

फिर तो ताराओंके साथ चन्द्रमा रात्रिको प्रकाशित करते हुए आकाशमें ऊपर जाकर अपने स्थानमें स्थित हो गये। इधर कश्यप आदि ऋषि शतरुद्रिय-(मन्त्र) का जप करते हुए अञ्जलिमें पुष्प लेकर विनम्रभावसे खड़े हो गये। इन्द्रादि सभी देवताओंसे अधिक बली रुद्रको देखकर दक्ष-पत्नी अत्यन्त दीन होकर बार-बार करुण विलाप करने लगी। इधर क्रुद्ध भगवान् शंकरने थप्पड़ोंके प्रहारसे अनेक देवताओंको मार गिराया ॥ ५—८ ॥

पादप्रहारैरपरे त्रिशूलेनापरे मुने। दृष्ट्यग्निना तथैवान्ये देवाद्याः प्रलयीकृताः ॥ ९ ॥
ततः पूषा हरं वीक्ष्य विनिघ्नन्तं सुरासुरान्। क्रोधाद् बाहू प्रसार्याथ प्रदुद्राव महेश्वरम् ॥ १० ॥
तमापतन्तं भगवान् संनिरीक्ष्य त्रिलोचनः। बाहुभ्यां प्रतिजग्राह करेणैकेन शंकरः ॥ ११ ॥
कराभ्यां प्रगृहीतस्य शम्भुनांशुमतोऽपि हि। कराङ्गुलिभ्यो निश्चेरुरसृग्धाराः समन्ततः ॥ १२ ॥

मुने! शंकरने इसी प्रकार कुछ देवताओंको पैरोंके प्रहारसे कुछको त्रिशूलसे और कुछको अपने तृतीय नेत्रकी अग्निद्वारा नष्ट कर दिया। उसके बाद देवों एवं असुरोंका संहार करते हुए शंकरको देखकर पूषादेवता (सूर्य

(सूर्य) क्रोधपूर्वक दोनों बाहोंको फैलाकर शिवजीकी ओर दौड़े। त्रिलोचन शिवने उन्हें अपनी ओर आते देख एक ही हाथसे उनकी दोनों भुजाओंको पकड़ लिया। शिवद्वारा सूर्यके पकड़ी गयी दोनों भुजाओंकी अङ्गुलियोंसे चारों ओर रक्तकी धारा प्रवाहित होने लगी॥ ९–१२॥

ततो वेगेन महता भ्रामयन्त दिवाकरम्। भ्रामयामास सततं सिंहो मृगशिशुं यथा॥ १३॥
भ्रामितस्यातिवेगेन नारदाशुमतोऽपि हि। भुजौ ह्रस्वत्वमापन्नौ त्रुटितस्नायुबन्धनौ॥ १४॥
रुधिराप्लुतसर्वाङ्गमशुमन्तं महेश्वरः। सनिरीक्ष्योत्ससर्जैनमन्यतोऽभिजगाम ह॥ १५॥
ततस्तु पूषा विहसन् दशनानि विदर्शयन्। प्रोवाचैह्येहि कापालिन् पुनः पुनरथेश्वरम्॥ १६॥

फिर भगवान् शिव दिवाकर सूर्यदेवको अत्यन्त वेगसे ऐसे घुमाने लगे जैसे सिंह हिरण-शावकको घुमाता (दौड़ाता) है। नारदजी! अत्यन्त वेगसे घुमाये गये सूर्यकी भुजाओंके स्नायुबन्ध टूट गये और वे (स्नायुएँ) बहुत छोटी—नष्टप्राय हो गयीं। सूर्यके सभी अङ्गोंको रक्तसे लथपथ देखकर उन्हें छोड़कर शंकरजी दूसरी ओर चले गये। उसी समय हँसते एवं दाँत दिखलाते हुए पूषा देवता (बारह आदित्योंमेंसे एक सूर्य) कहने लगे—ओ कपालिन्! आओ, इधर आओ।॥ १३–१६॥

ततः क्रोधाभिभूतेन पूष्णो वेगेन शम्भुना। मुष्टिनाहत्य दशनाः पातिता धरणीतले॥ १७॥
भग्नदन्तस्तथा पूषा शोणिताभिप्लुताननः। पपात भुवि निःसंज्ञो वज्राहत इवाचलः॥ १८॥
भगोऽभिवीक्ष्य पूषाणं पतितं रुधिरोक्षितम्। नेत्राभ्यां घोररूपाभ्यां वृषध्वजमवैक्षत॥ १९॥
त्रिपुरघ्नस्ततः क्रुद्धस्तलेनाहत्य चक्षुषी। निपातयामास भुवि क्षोभयन्सर्वदेवताः॥ २०॥

इसपर क्रुद्ध रुद्रने वेगपूर्वक मुक्केसे मारकर पूषाके दाँतोंको धरतीपर गिरा दिया। इस प्रकार दाँत टूटने एवं रक्तसे लथपथ होकर पूषा देवता वज्रसे नष्ट हुए पर्वतके समान बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। इस प्रकार गिरे हुए पूषाको रुधिरसे लथपथ देखकर भग देवता (तृतीय सूर्यभेद) भयंकर नेत्रोंसे शिवजीको देखने लगे। इसपर क्रुद्ध त्रिपुरान्तक शिवने सभी देवताओंको क्षुब्ध करते हुए हथेलीसे पीटकर भगकी दोनों आँखें पृथ्वीपर गिरा दीं॥ १७–२०॥

ततो दिवाकराः सर्वे पुरस्कृत्य शतक्रतुम्। मरुद्भिश्च हुताशैश्च भयाज्जग्मुर्दिशो दश॥ २१॥
प्रतियातेषु देवेषु प्रह्लादाद्या दितीश्वराः। नमस्कृत्य ततः सर्वे तस्थुः प्राञ्जलयो मुने॥ २२॥
ततस्तं यज्ञवाटं तु शंकरो घोरचक्षुषा। ददर्श दग्धुं कोपेन सर्वांश्चैव सुरासुरान्॥ २३॥
ततो निलिल्यिरे वीराः प्रणेमुर्दुद्रुवुस्तथा। भयादन्ये हरं दृष्ट्वा गता वैवस्वतक्षयम्॥ २४॥

फिर क्या था? सभी दसों सूर्य इन्द्रको आगे कर मरुद्गणों तथा अग्नियोंके साथ भयसे दसों दिशाओंमें भाग गये। मुने! देवताओंके चले जानेपर प्रह्लाद आदि दैत्य महेश्वरको प्रणामकर अञ्जलि बाँधकर खड़े हो गये। इसके बाद शंकर उस यज्ञमण्डपको तथा सभी देवासुरोंको दग्ध करनेके लिये क्रोधपूर्ण घोर दृष्टिसे देखने लगे। इधर दूसरे वीर महादेवको देखकर भयसे जहाँ-तहाँ छिप गये। कुछ लोग प्रणाम करने लगे, कुछ भाग गये और कुछ तो भयसे ही सीधे यमपुरी पहुँच गये॥ २१–२४॥

त्रयोऽप्यग्निभिर्नेत्रैर्दुःसहं समवैक्षत। दृष्टमात्रास्त्रिनेत्रेण भस्मीभूताभवन् क्षणात्॥ २५॥
अग्नौ प्रणष्टे यज्ञोऽपि भूत्वा दिव्यवपुर्मृगः। दुद्राव विक्लवगतिर्दक्षिणासहितोऽम्बरे॥ २६॥

तमथानुससारेशश्चापमानम्य वेगवान् । शरं पाशुपतं कृत्वा कालरूपी महेश्वरः ॥ २७ ॥
अर्द्धेन यज्ञवाटान्ते जटाधर इति श्रुतः । अर्द्धेन गगने शर्वः कालरूपी च कथ्यते ॥ २८ ॥

फिर भगवान् शिवने अपने तीनों नेत्रोंसे तीनों अग्नियों (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नियों) को उनके देखते ही वे अग्नियाँ क्षणभरमें नष्ट हो गयीं । उनके नष्ट होनेपर यज्ञ भी मृगका शरीर धारण कर आकाशमें दक्षिणाके साथ तीव्रगतिसे भाग गया । कालरूपी वेगवान् भगवान् शिव धनुषको झुकाकर उसपर पाशुपत बाण संधानकर उस मृगके पीछे दौड़े और आधे रूपसे तो यज्ञशालामें स्थित हुए जिनका नाम 'जटाधर' है, इधर आधे दूसरे रूपसे वे आकाशमें स्थित होकर 'काल' कहलाये ॥ २५–२८ ॥

नारद उवाच

कालरूपी त्वयाख्यातः शम्भुर्गगनगोचरः । लक्षणं च स्वरूपं च सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥

नारदजी बोले—(मुने !) आपने आकाशमें स्थित शिवको कालरूपी कहा है । आप उनके स्वरूप और लक्षणोंकी भी व्याख्या कर दें ॥ २९ ॥

पुलस्त्य उवाच

स्वरूपं त्रिपुरघ्नस्य वदिष्ये कालरूपिणः । येनाम्बरं मुनिश्रेष्ठ व्याप्तं लोकहितेप्सुना ॥ ३० ॥
यत्राश्विनी च भरणी कृत्तिकायास्तथांशकः । मेषो राशिः कुजक्षेत्रं तच्छिरः कालरूपिणः ॥ ३१ ॥
आग्नेयांशास्त्रयो ब्रह्मन् प्राजापत्यं कवेर्गृहम् । सौम्यार्द्धं वृषनामेदं वदनं परिकीर्तितम् ॥ ३२ ॥
मृगार्द्धमार्द्रादित्यांशास्त्रयः सौम्यगृहं त्विदम् । मिथुनं भुजयोस्तस्य गगनस्थस्य शूलिनः ॥ ३३ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—मुनिवर ! मैं त्रिपुरको मारनेवाले कालरूपी उन शंकरके स्वरूपका (वास्तविक स्वरूप) बतलाता हूँ । उन्होंने लोककी भलाईकी इच्छासे ही आकाशको व्याप्त किया है । सम्पूर्ण अश्विनी और भरणी नक्षत्र एवं कृत्तिकाके एक चरणसे युक्त भौमका क्षेत्र मेष राशि ही कालरूपी महादेवका सिर कही है । ब्रह्मन् ! इसी प्रकार कृत्तिकाके तीन चरण, सम्पूर्ण रोहिणी नक्षत्र एवं मृगशिराके दो चरण, यह शुक्रकी वृष राशि ही उनका मुख है । मृगशिराके शेष दो चरण, सम्पूर्ण आर्द्रा और पुनर्वसुके तीन चरण बुधका (प्रथम) स्थितिस्थान मिथुन राशि आकाशमें स्थित शिवकी दोनों भुजाएँ हैं ॥ ३०–३३ ॥

आदित्यांशश्च पुष्यं च आश्लेषा शशिनो गृहम् । राशिः कर्कटको नाम पार्श्वे मखविनाशिनः ॥ ३४ ॥
पित्र्यर्क्षं भगदैवत्यमुत्तरांशश्च केसरी । सूर्यक्षेत्रं विभोर्ब्रह्मन् हृदयं परिगीयते ॥ ३५ ॥
उत्तरांशास्त्रयः पाणिश्चित्रार्द्धं कन्यका त्वियम् । सोमपुत्रस्य सद्मैतद् द्वितीयं जठरं विभोः ॥ ३६ ॥
चित्रांशद्वितयं स्वातिर्विशाखायांशकत्रयम् । द्वितीयं शुक्रसदनं तुला नाभिरुदाहृता ॥ ३७ ॥

इसी प्रकार पुनर्वसुका अन्तिम चरण, सम्पूर्ण पुष्य और आश्लेषा नक्षत्रोंवाला चन्द्रमाका क्षेत्र कर्क यज्ञविनाशक शंकरके दोनों पार्श्व (बगल) हैं । ब्रह्मन् ! सम्पूर्ण मघा, सम्पूर्ण पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनीका प्रथम चरण, सूर्यका सिंह राशि शंकरका हृदय कही जाती है । उत्तराफाल्गुनीके तीन चरण, सम्पूर्ण हस्त नक्षत्र एवं चित्राके दो पहले चरण, बुधकी द्वितीय राशि, कन्या राशि शंकरका जठर है । चित्राके शेष दो चरण, स्वातीके चारों चरण एवं विशाखाके तीन चरणोंसे युक्त शुक्रका दूसरा क्षेत्र तुला राशि नाभि है ॥ ३४–३७ ॥

विशाखाशमनूराधा ज्येष्ठा भौमगृहं त्विदम्। द्वितीयं वृश्चिको राशिमेंढ्रं कालस्वरूपिणः ॥ ३८ ॥
मूलं पूर्वोत्तराशश्च देवाचार्यगृहं धनुः। ऊरुयुगलमीशस्य अमरर्षे प्रगीयते ॥ ३९ ॥
उत्तराशास्त्रयो ऋक्षं श्रवणं मकरो मुने। धनिष्ठार्धं शनिक्षेत्रं जानुनी परमेष्ठिनः ॥ ४० ॥
धनिष्ठार्धं शतभिषा प्रौष्ठपद्याशकत्रयम्। सौरे सद्मापरमिदं कुम्भो जङ्घे च विश्रुते ॥ ४१ ॥

विशाखाका एक चरण, सम्पूर्ण अनुराधा और ज्येष्ठा नक्षत्र, मङ्गलका द्वितीय क्षेत्र वृश्चिक राशि कालरूपी महादेवका उपस्थ है। सम्पूर्ण मूल, पूरा पूर्वाषाढ़ और उत्तराषाढ़की प्रथमचरणवाली धनु राशि जो बृहस्पतिका क्षेत्र है, महेश्वरके दोनों ऊरु हैं। मुने! उत्तराषाढ़के शेष तीन चरण, सम्पूर्ण श्रवण नक्षत्र और धनिष्ठाके दो पूर्व चरणका मकर राशि शनिका क्षेत्र और परमेष्ठी महेश्वरके दोनों घुटने हैं। धनिष्ठाके दो चरण, सम्पूर्ण शतभिष और पूर्व भाद्रपदके तीन चरणवाली कुम्भ राशि शनिका द्वितीय गृह और शिवकी दो जङ्घाएँ हैं ॥ ३८-४१ ॥

प्रौष्ठपद्यांशमेकं तु उत्तरा रेवती तथा। द्वितीयं जीवसदनं मीनस्तु चरणावुभौ ॥ ४२ ॥
एवं कृत्वा कालरूपं त्रिनेत्रो यज्ञं क्रोधान्मार्गणैराजघान।
विद्धश्चासौ वेदनाबुद्धिमुक्तः खे संतस्थौ तारकाभिश्चिताङ्गः ॥ ४३ ॥

पूर्वभाद्रपदके शेष एक चरण, सम्पूर्ण उत्तरभाद्रपद और सम्पूर्ण रेवती नक्षत्रोंवाला बृहस्पतिका द्वितीय क्षेत्र एवं मीन राशि उनके दो चरण हैं। इस प्रकार कालरूप धारणकर शिवने क्रोधपूर्वक हरिणरूपधारी यज्ञको बाणोंसे मारा। उसके बाद बाणोंसे विद्ध होकर, किंतु वेदनाकी अनुभूति न करता हुआ, वह यज्ञ ताराओंसे घिरे शरीरवाला होकर आकाशमें स्थित हो गया ॥ ४२-४३ ॥

नारद उवाच

राशयो गदिता ब्रह्मंस्त्वया द्वादश वै मम। तेषां विशेषतो ब्रूहि लक्षणानि स्वरूपतः ॥ ४४ ॥

नारदजीने कहा—ब्रह्मन्! आपने मुझसे बारहों राशियोंका वर्णन किया। अब विशेष रूपसे उनके स्वरूपके अनुसार लक्षणोंको बतलायें ॥ ४४ ॥

पुलस्त्य उवाच

स्वरूपं तव वक्ष्यामि राशीनां शृणु नारद। यादृशा यत्र संचारा यस्मिन् स्थाने वसन्ति च ॥ ४५ ॥
मेषः समानमूर्तिश्च अजाविकधनादिषु। संचारस्थानमेवास्य धान्यरत्नाकरादिषु ॥ ४६ ॥
नवशाद्वलसंछन्नवसुधायां च सर्वशः। नित्यं चरति फुल्लेषु सरसां पुलिनेषु च ॥ ४७ ॥
वृषः सदृशरूपो हि चरते गोकुलादिषु। तस्याधिवासभूमिस्तु कृषीवलधराश्रयः ॥ ४८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी! आपको मैं राशियोंका स्वरूप बतलाता हूँ, सुनिये। वे जैसी हैं तथा जहाँ विचार और निवास करती हैं वह सभी वर्णित करता हूँ। मेष राशि भेड़के समान आकारवाली है। बकरी, भेड़, धन-धान्य एवं रत्नाकरादि इसके संचार-स्थान हैं तथा नवदूर्वासे आच्छादित समग्र पृथ्वी एवं पुष्पित वनस्पतियोंसे युक्त सरोवरोंके पुलिनोंमें यह नित्य सचरण करता है। वृषभके समान रूपयुक्त वृषराशि गोकुलादिमें विचरण करती है तथा कृषकोंकी भूमि इसका निवासस्थान है ॥ ४५-४८ ॥

स्त्रीपुंसयोः समं रूपं शय्यासनपरिग्रहः। वीणावाद्यधृङ् मिथुनं गीतनर्तकशिल्पिषु ॥ ४९ ॥
स्थितः क्रीडारतिर्नित्यं विहारावनिरस्य तु। मिथुनं नाम विख्यातं राशिर्द्वेधात्मकः स्थितः ॥ ५०

ककः कुलीरेण समः सलिलस्थः प्रकीर्तितः । केदारवापीपुलिने विविक्तावनिरेव च ॥ ५१
सिंहस्तु पर्वतारण्यदुर्गकन्दरभूमिषु । वसते व्याधपल्लीषु गह्वरेषु गुहासु च ॥ ५२

मिथुन राशि एक स्त्री और एक पुरुषके साथ-साथ रहनेके समान रूपवाली है। यह शय्या और आस-
स्थित है। पुरुष-स्त्रीके हाथोंमें वीणा एवं (अन्य) वाद्य हैं। इस राशिका संचरण गानवालों, नाचनेवाले
शिल्पियोंमें होता है। इस द्विस्वभाव राशिको मिथुन कहते हैं। इस राशिका निवास क्रीडास्थल एवं विहारभू
होता है। कर्क राशि केकड़ेके रूपके समान रूपवाली है एवं जलमें रहनेवाली है। जलसे पूर्ण क्यारी एवं
अथवा बालुका एवं एकान्त भूमि इसके रहनेके स्थान हैं। सिंह राशिका निवास वन, पर्वत, दुर्गमस्थान,
व्याधोंके स्थान, गुफा आदि होता है ॥ ४९-५२ ॥

व्रीहिप्रदीपिकाकरा नावारूढा च कन्यका । चरते स्त्रीरतिस्थाने वसते नड्वलेषु च ॥ ५
तुलापाणिश्च पुरुषो वीथ्यापणविचारकः । नगराध्वानशालासु वसते तत्र नारद ॥ ५
श्वभ्रवल्मीकसंचारी वृश्चिको वृश्चिकाकृतिः । विषगोमयकीटादिपाषाणादिषु संस्थितः ॥ ५
धनुस्तुरङ्गजघनो दीप्यमानो धनुर्धरः । वाजिशूरास्त्रविद्वान् स्थायी गजरथादिषु ॥ ५

कन्या राशि अन्न एवं दीपक हाथमें लिये हुए है तथा नौकापर आरूढ है। यह स्त्रियोंके रतिस्था-
सदन, कण्डा आदिमें विचरण करता है। नारद! तुला राशि हाथमें तुला लिये हुए पुरुषके रूपमें गलि-
बाजारोंमें विचरण करती है तथा नगरों, मार्गों एवं भवनोंमें निवास करती है। वृश्चिक राशिका आकार
जैसा है। यह गड्ढे एवं वल्मीक आदिमें विचरण करती है। यह विष, गोबर, कीट एवं पत्थर आदिमें भी
करती है। धनु राशिकी जंघा घोड़ेके समान है। यह ज्योतिःस्वरूप एवं धनुष लिये है। यह घुड़सवारी,
कार्य एवं अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञाता तथा शूर है। गज एवं रथ आदिमें इसका निवास होता है ॥ ५३-५६ ॥

मृगास्यो मकरो ब्रह्मन् वृषस्कन्धेक्षणाङ्गजः । मकरोऽसौ नदीचारी वसते च महोदधौ ॥ ५
रिक्तकुम्भश्च पुरुषः स्कन्धधारी जलाप्लुतः । द्यूतशालाचरः कुम्भः स्थायी शौण्डिकसद्मसु ॥ ५
मीनद्वयमथासक्तं मीनस्तीर्थाब्धिसंचरः । वसते पुण्यदेशेषु देवब्राह्मणसद्मसु ॥ ५
लक्षणा गदितास्तुभ्यं मेषादीनां महामुने । न कस्यचित् त्वयाख्येयं गुह्यमेतत् पुरातनम् ॥ ६०
एतत् मया ते कथितं सुरर्षे यथा त्रिनेत्रः प्रममाथ यज्ञम् ।
पुण्यं पुराणं परमं पवित्रमाख्यातवान् पापहरं शिवं च ॥ ६१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ब्रह्मन्! मकर राशिका मुख मृगके मुख-सदृश एवं कंधे वृषके कंधोंके तुल्य तथा नेत्र हाथीके नेत्रोंके
समान हैं। यह राशि नदीमें विचरण करती तथा समुद्रमें निवास करती है। कुम्भ राशि रिक्त घड़ेको कं
लिये जलसे भीगे पुरुषके समान है। इसका संचार-स्थान द्यूतगृह एवं स्थायी (मधुशाला) है। मीन राशि
युगल मछलियोंके आकारवाली है। यह तीर्थस्थान एवं समुद्रदेशमें संचरण करती है। इसका निवास प
देशों, देवमन्दिरों एवं ब्राह्मणोंके घरोंमें होता है। महामुने! मैंने आपको मेषादि राशियोंका लक्षण बतलाया
और इस प्राचीन रहस्यको किसी भाग्यमें न बतलायेंगे। देवर्षे! भगवान् शिवने जिस प्रकार यज्ञका ध्वं-
किया, उसका मैंने आपसे वर्णन कर दिया। इस प्रकार मैंने आपसे श्रेष्ठतम, परम पवित्र, पापहारी एवं
कारी अत्यन्त पुरातन पुराण-आख्यान सुनाया ॥ ५७-६१ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

[अथ षष्ठोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

हृदयो ब्रह्मणो योऽसौ धर्मो दिव्यवपुर्मुने। दाक्षायणी तस्य भार्या तस्यामजनयत्सुतान् ॥ १ ॥
हरिं कृष्णं च देवर्षे नारायणनरौ तथा। योगाभ्यासरतौ नित्यं हरिकृष्णौ बभूवतुः ॥ २ ॥
नरनारायणौ चैव जगतो हितकाम्यया। तप्येतां च तपः सौम्यौ पुराणावृषिसत्तमौ ॥ ३ ॥
प्रालेयाद्रिं समागम्य तीर्थे बदरिकाश्रमे। गृणन्तौ तत्परं ब्रह्म गङ्गाया विपुले तटे ॥ ४ ॥

छठा अध्याय प्रारम्भ

(नर नारायणकी उत्पत्ति, तपश्चर्या, बदरिकाश्रमकी वसन्तश्री शोभा, काम दाह और कामकी अनङ्गताका वर्णन)

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! ब्रह्माजीके हृदयसे जो दिव्यदेहधारी धर्म प्रकट हुआ था, उसने दक्षकी पुत्री 'मूर्ति' नामकी भार्यासे हरि, कृष्ण, नर और नारायण नामक चार पुत्रोंको उत्पन्न किया[1]। देवर्षे ! इनमें हरि और कृष्ण ये दो तो नित्य योगाभ्यासमें निरत हो गये और पुरातन ऋषि शान्तमना नर तथा नारायण संसारके कल्याणके लिये हिमालय पर्वतपर जाकर बदरिकाश्रम तीर्थमें गङ्गाके निर्मल तटपर (परब्रह्मके नाम ॐकारका जप करते हुए) तप करने लगे ॥ १—४ ॥

नरनारायणाभ्यां च जगदेतच्चराचरम्। तापितं तपसा ब्रह्मञ्छक्रः क्षोभं तदा ययौ ॥ ५ ॥
संक्षुब्धस्तपसा ताभ्यां क्षोभणाय शतक्रतुः। रम्भाद्यप्सरसः श्रेष्ठाः प्रेषयत्स महाश्रमम् ॥ ६ ॥
कन्दर्पश्च सुदुर्धर्षश्चूताङ्कुरमहायुधः। समं सहचरेणैव वसन्तेनाश्रमं गतः ॥ ७ ॥
ततो माधवकन्दर्पौ ताश्चैवाप्सरसो वराः। बदर्याश्रममागम्य विचिक्रीडुर्यथेच्छया ॥ ८ ॥

ब्रह्मन् ! नर-नारायणकी दुष्कर तपस्यासे सारा स्थावर-जङ्गमात्मक यह जगत् परितप्त हो गया। इससे इन्द्र विक्षुब्ध हो उठे। उन दोनोंकी तपस्यासे अत्यन्त व्यग्र इन्द्रने उन्हें मोहित करनेके लिये रम्भा आदि श्रेष्ठ अप्सराओंको उनके विशाल आश्रममें भेजा। कामदेवके आयुधोंमें अशोक, आम्रादिकी मंजरियाँ विशेष प्रभावक हैं। इन्हें तथा अपने सहयोगी वसन्त ऋतुको साथ लेकर वह भी उस आश्रममें गया। अब वे वसन्त, कामदेव तथा श्रेष्ठ अप्सराएँ—ये सब बदरिकाश्रममें जाकर निर्बाध क्रीडा करने लग गये ॥ ५—८ ॥

ततो वसन्ते सम्प्राप्ते किंशुका ज्वलनप्रभाः। निष्पत्राः सततं रेजुः शोभयन्तो धरातलम् ॥ ९ ॥
शिशिरं नाम मातङ्गं विदार्य नखरैरिव। वसन्तकेसरी प्राप्तः पलाशकुसुमैर्मुने ॥ १० ॥
मया तुषारौघकरी निर्जितः स्वेन तेजसा। तमेव हसते नूनं वसन्तः कुन्दकुड्मलैः ॥ ११ ॥
वनानि कर्णिकाराणां पुष्पितानि विरेजिरे। यथा नरेन्द्रपुत्राणि कनकाभरणानि हि ॥ १२ ॥

तब वसन्त ऋतुके आ जानेपर अग्नि-शिखाके सदृश कान्तिवाले पलाश पत्रहीन होकर रातदिन पृथ्वीकी शोभा बढ़ाते हुए सुशोभित होने लगे। मुने ! वसन्तरूपी सिंह मानो पलाश-पुष्परूपी नखोंसे शिशिररूपी गजराजको विदीर्ण कर वहाँ अपना साम्राज्य जमा चुका था। वह सोचने लगा—मैंने अपने तेजसे शीतसमूह रूपी हाथीको जीत लिया है और वह कुन्दकी कलियोंके बहाने उसका उपहास भी करने लगा है। इधर सुवर्णके अलङ्कारोंसे मण्डित राजकुमारोंके समान पुष्पित कचनार-अमलतासके वन सुशोभित होने लगे ॥ ९—१२ ॥

---

[1] यह बात भागवत २। ७। ६ आदिमें विशेष स्पष्टरूपमें कही गयी है। जिज्ञासु वहाँ भी देखें।

पुलस्त्य उवाच

यदा दक्षसुता ब्रह्मन् सती याता यमक्षयम्। विनाश्य दक्षयज्ञं स विचचार त्रिलोचनः ॥ २६ ॥
ततो वृषध्वजं दृष्ट्वा कन्दर्पः कुसुमायुधः। अपत्नीकं तदाऽस्त्रेण उन्मादेनाभ्यताडयत् ॥ २७ ॥
ततो हरः शरेणाथ उन्मादेनाशु ताडितः। विचचार मदोन्मत्तः काननानि सरांसि च ॥ २८ ॥
स्मरन् सतीं महादेवस्तथोन्मादेन ताडितः। न शर्म लेभे देवर्षे बाणविद्ध इव द्विपः ॥ २९ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—ब्रह्मन्! दक्ष-पुत्री सतीके प्राण-त्याग करनेपर शिवजी दक्ष-यज्ञका ध्वंस कर (जहाँ तहाँ) विचरण करने लगे। तब शिवजीको स्त्री-रहित देखकर पुष्पास्त्रवाले कामदेवने उनपर अपना 'उन्मादन'-नामक अस्त्र छोड़ा। इस उन्मादन-बाणसे आहत होकर शिवजी उन्मत्त होकर वनों और सरोवरोंमें घूमने लगे। देवर्षे! बाणविद्ध गजके समान उन्मादसे व्यथित महादेव सतीका स्मरण करते हुए बड़े अशान्त हो रहे थे—उन्हें चैन नहीं था ॥ २६-२९ ॥

ततः पपात देवेशः कालिन्दीसरितं मुने। निमग्ने शंकरे आपो दग्धाः कृष्णत्वमागताः ॥ ३० ॥
तदाप्रभृति कालिन्द्या भृङ्गाञ्जननिभं जलम्। आस्यन्दत् पुण्यतीर्था सा केशपाशमिवावनेः ॥ ३१ ॥
ततो नदीषु पुण्यासु सरस्सु च नदेषु च। पुलिनेषु च रम्येषु वापीषु नलिनीषु च ॥ ३२ ॥
पर्वतेषु च रम्येषु काननेषु च सानुषु। विचरन् स्वेच्छया नैव शर्म लेभे महेश्वरः ॥ ३३ ॥

मुने! उसके बाद शिवजी यमुना नदीमें कूद पड़े। उनके जलमें निमज्जन करनेसे उस नदीका जल काला हो गया। उस समयसे कालिन्दी नदीका जल भृंग और अंजनके सदृश कृष्णवर्णका हो गया एवं वह पवित्र तीर्थोंवाली नदी पृथ्वीके केशपाशके सदृश प्रवाहित होने लगी। उसके बाद पवित्र नदियों, सरोवरों, नदों, रमणीय नदी-तटों, वापियों, कमलवनों, पर्वतों, मनोहर काननों तथा पर्वत शृङ्गोंपर स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हुए भगवान् शिव कहीं भी शान्ति नहीं प्राप्त कर सके ॥ ३०-३३ ॥

क्षणं गायति देवर्षे क्षणं रोदिति शंकरः। क्षणं ध्यायति तन्वङ्गीं दक्षकन्यां मनोरमाम् ॥ ३४ ॥
ध्यात्वा क्षणं प्रस्वपिति क्षणं स्वप्नायते हरः। स्वप्ने तथेदं गदति तां दृष्ट्वा दक्षकन्यकाम् ॥ ३५ ॥
निर्घृणे तिष्ठ किं मूढे त्यजसे मामनिन्दिते। मुग्धे त्वया विरहितो दग्धोऽस्मि मदनाग्निना ॥ ३६ ॥
सति सत्यं प्रकुपिता मा कोपं कुरु सुन्दरि। पादप्रणामावनतमभिभाषितुमर्हसि ॥ ३७ ॥

देवर्षे! वे कभी गाने, कभी रोने और कभी कृशाङ्गी सुन्दरी सतीका ध्यान करने। ध्यान करके कभी सोने और कभी स्वप्न देखने लगते थे, स्वप्नकालमें सतीको देखकर वे इस प्रकार कहते थे—निर्दये! ठहरो, हे मूढे! मुझे क्यों छोड़ रही हो? हे अनिन्दिते! हे मुग्धे! तुम्हारे विरहमें मैं कामाग्निसे दग्ध हो रहा हूँ। हे सति! क्या तुम वस्तुतः क्रुद्ध हो? सुन्दरि! क्रोध मत करो। मैं तुम्हारे चरणोंमें अवनत होकर प्रणाम करता हूँ। तुम्हें मेरे साथ बात तो करनी ही चाहिये ॥ ३४-३७ ॥

श्रूयसे दृश्यसे नित्यं स्पृश्यसे वन्द्यसे प्रिये। आलिङ्ग्यसे च सततं किमर्थं नाभिभाषसे ॥ ३८ ॥
विलपन्तं जनं दृष्ट्वा कृपा कस्य न जायते। विशेषतः पतिं बाले ननु त्वमतिनिर्घृणा ॥ ३९ ॥
त्वयोक्तानि वचांस्येव पूर्वं मम कृशोदरि। विना त्वया न जीवेयं तदसत्यं त्वया कृतम् ॥ ४० ॥
एह्येहि कामसंतप्तं परिष्वज सुलोचने। नान्यथा नश्यते तापः सत्येनापि शपे प्रिये ॥ ४१ ॥

प्रिये! मैं सतत तुम्हारी ध्वनि सुनता हूँ, तुम्हें देखता हूँ, तुम्हारा स्पर्श करता हूँ, तुम्हारी वन्दना करता हूँ और तुम्हारा परिष्वङ्ग करता हूँ। तुम मुझसे बात क्यों नहीं कर रही हो? बाले! विलाप करनेवाले व्यक्तिको देखकर किसे दया नहीं उत्पन्न होती? विशेषतः अपने पतिको विलाप करता देखकर तो किसे दया नहीं आती? निश्चय ही तुम अति निर्दयी हो। सूक्ष्मकटिवाली! तुमने पहले मुझसे कहा था कि तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रहूँगी। उसे तुमने असत्य कर दिया। सुलोचने! आओ, आओ, कामसंतप्त मुझे आलिङ्गित करो। प्रिये! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि अन्य किसी प्रकार मेरा ताप नहीं शान्त होगा॥ ३८–४१॥

इत्थं विलप्य स्वप्नान्ते प्रतिबुद्धस्तु तत्क्षणात्। उत्कूजति तथारण्ये मुक्तकण्ठं पुनः पुनः॥ ४२॥

तं कूजमानं विलपन्तमारात् समीक्ष्य कामो वृषकेतनं हि।
विव्याध चापं तरसा विनाम्य संतापनाम्ना तु शरेण भूयः॥ ४३॥
संतापनास्त्रेण तदा स विद्धो भूयः स संतप्ततरो बभूव।
संतापयंश्चापि जगत्समग्रं फूत्कृत्य फूत्कृत्य विवासते स्म॥ ४४॥
तं चापि भूयो मदनो जघान विजृम्भणास्त्रेण ततो विजृम्भे।
ततो भृशं कामशरैर्वितुन्नो विजृम्भमाणः परितो भ्रमंश्च॥ ४५॥
ददर्श यक्षाधिपतेस्तनूजं पाञ्चालिकं नाम जगत्प्रधानम्।
दृष्ट्वा त्रिनेत्रो धनदस्य पुत्रं पार्श्वं समभ्येत्य वचो बभाषे॥
भ्रातृव्य वक्ष्यामि वचो यदद्य तत् त्वं कुरुष्वामितविक्रमोऽसि॥ ४६॥

इस प्रकार वे विलाप कर स्वप्नके अन्तमें उठकर वनमें बार-बार रोने लगे। इस प्रकार मुक्तकण्ठसे विलाप करते हुए भगवान् शंकरको दूरसे देखकर कामने अपना धनुष झुका (चढ़ा) कर पुनः तेजीसे उन्हें संतापक अस्त्रसे बेध डाला। अब वे इससे विद्ध होकर और भी अधिक संतप्त हो गये एवं मुखसे बारबार (निःश्वास) फूत्कार कर सम्पूर्ण विश्वको दुःखी करते हुए जैसे-तैसे समय बिताने लगे। फिर कामने उनपर विजृम्भण नामक अस्त्रसे प्रहार किया। इससे उन्हें जँभाई आने लगी। अब कामके बाणोंसे विशेष पीड़ित होकर जँभाई लेते हुए वे चारों ओर घूमने लगे। इसी समय उन्होंने कुबेरके पुत्र पाञ्चालिकको देखा और उसके पास जाकर त्रिनेत्र शंकरने यह बात कहा—भ्रातृव्य! तुम अमित विक्रमशाली हो। मैं जो बात कहता हूँ उसे करो॥ ४२–४६॥

पाञ्चालिक उवाच

यन्नाथ मां वक्ष्यसि तत्करिष्ये सुदुष्करं यद्यपि दयमचे।
आज्ञापयस्वातुलवीर्य शम्भो दासोऽस्मि ते भक्तियुतस्तथैव॥ ४७॥

पाञ्चालिकने कहा—स्वामिन्! आप जो कहेंगे, देवताओंद्वारा सुदुष्कर होनेपर भी उसे मैं करूँगा। हे अतुल बलशाली शिव! आप आज्ञा करें। ईश! मैं आपका भक्त एवं दास हूँ॥ ४७॥

ईश्वर उवाच

मां नाशयाद्य वरदाम्बिकायां कामाग्निना प्लुष्टतनुर्मृतोऽस्मि।
विजृम्भणोन्मादशरैर्विभिन्नो धृतिं न विन्दामि रतिं सुखं वा॥ ४८॥
विजृम्भणं पुत्र तथैव तापमुन्मादमुग्रं मदनप्रणुन्नम्।
नान्यः पुमान् धारयितुं हि शक्तो मुक्त्वा भवन्तं हि मम प्रतीक्ष्य॥ ४९॥

भगवान् शिव बोले—वरदायिनी अम्बिका-(सती)के नष्ट होनेसे मेरा सुन्दर शरीर कामाग्निसे अत्यन्त दग्ध हो रहा है । कामके विजृम्भण और उन्माद शरोंसे विद्ध होनेसे मुझे धैर्य, रति या सुख नहीं प्राप्त हो रहा है । पुत्र ! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष, कामदेवसे प्रेरित विजृम्भण, संतापन और उन्माद नामक उग्र अस्त्र सहन करनेमें समर्थ नहीं है । अतः तुम इन्हें ग्रहण कर लो ॥ ४८-४९ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्तो वृषभध्वजेन यक्षः प्रतीच्छत् स विजृम्भणादीन् ।
तोषं जगामाशु ततस्त्रिशूली तुष्टस्तदैवं वचनं बभाषे ॥ ५० ॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवान् शिवके ऐसा कहनेपर उस यक्ष-(कुबेर पुत्र पाञ्चालिक-) ने विजृम्भण आदि सभी अस्त्रोंको उनसे ले लिया । इससे त्रिशूलीको तत्काल संतोष प्राप्त हो गया और प्रसन्न होकर उन्होंने उससे ये वचन कहे—॥ ५० ॥

हर उवाच

यस्मात्त्वया पुत्र सुदुर्धराणि विजृम्भणादीनि प्रतीच्छितानि ।
तस्माद्वरं त्वां प्रतिपूजनाय दास्यामि लोकस्य च हास्यकारि ॥ ५१ ॥
यस्त्वां यदा पश्यति चैत्रमासे स्पृशेन्नरो वार्चयते च भक्त्या ।
वृद्धोऽथ बालोऽथ युवाथ योषित् सर्वे तदोन्मादधरा भवन्ति ॥ ५२ ॥
गायन्ति नृत्यन्ति रमन्ति यक्ष वाद्यानि यत्नादपि वादयन्ति ।
तवाग्रतो हास्यवचोऽभिरक्ता भवन्ति ते योगयुतास्तु ते स्युः ॥ ५३ ॥
ममैव नाम्ना भवितासि पूज्यः पाञ्चालिकेशः प्रथितः पृथिव्याम् ।
मम प्रसादाद् वरदो नराणां भविष्यसे पूज्यतमोऽभिगच्छ ॥ ५४ ॥

भगवान् महादेवजी बोले—पुत्र ! तुमने अति भयंकर विजृम्भण आदि अस्त्रोंको ग्रहण कर लिया, अतः प्रत्युपकारमें तुम्हें सब लोगोंके लिये आनन्ददायक वर दूँगा । चैत्रमासमें जो वृद्ध, बालक, युवा या स्त्री तुम्हारा स्पर्श करेंगे या भक्तिपूर्वक तुम्हारी पूजा करेंगे वे सभी उन्मत्त हो जायँगे । यक्ष ! फिर वे गायेंगे, नाचेंगे, आनन्दित होंगे और निपुणताके साथ बाजे बजायेंगे । किंतु तुम्हारे सम्मुख हँसीकी बात करते हुए भी वे योगयुक्त रहेंगे । मेरे ही नामसे तुम पूज्य होगे । विश्वमें तुम्हारा पाँचलिकेश नाम प्रसिद्ध होगा । मेरे आशीर्वादसे तुम लोगोंके वरदाता और पूज्यतम होगे, जाओ ॥ ५१-५४ ॥

इत्येवमुक्तो विभुना स यक्षो जगाम देशान् सहसैव सर्वान् ।
कालञ्जरस्योत्तरतः सुपुण्यो देशो हिमाद्रेरपि दक्षिणस्थः ॥ ५५ ॥
तस्मिन् सुपुण्ये विषये निविष्टो रुद्रप्रसादादभिपूज्यतेऽसौ ।
तस्मिन् प्रयाते भगवांस्त्रिनेत्रो देवोऽपि विन्ध्यं गिरिमभ्यगच्छत् ॥ ५६ ॥
तत्रापि मदनो गत्वा ददर्श वृषकेतनम् । दृष्ट्वा प्रहर्तुकामं च ततः प्राद्रवदीश्वरः ॥ ५७ ॥
ततो दारुवनं घोरं मदनाभिसृतो हरः । विवेश ऋषयो यत्र सपत्नीका व्यवस्थिताः ॥ ५८ ॥

भगवान् शिवके ऐसा कहनेपर वह यक्ष तुरंत सब देशोंमें घूमने लगा । फिर वह कालञ्जरके उत्तर और हिमालयके दक्षिण परम पवित्र स्थानमें स्थिर हो गया । वह शिवजीकी कृपासे पूजित हुआ । उसके चले भगवान् त्रिनेत्र भी विन्ध्यपर्वतपर आ गये । वहाँ भी कामने उन्हें लगा । उसे पुनः प्रहारकी -

शिवजी भागने लगे। उसके बाद कामदेवके द्वारा पीछा किये जानेपर महादेवजी घोर दारुवनमें चले गये, जहाँ ऋषिगण अपनी पत्नियोंके साथ निवास करते थे ॥ ५५–५८ ॥

ते चापि ऋषयः सर्वे दृष्ट्वा मूर्ध्ना नताभवन्। ततस्तान् प्राह भगवान् भिक्षा मे प्रतिदीयताम्॥ ५९ ॥
ततस्ते मौनिनस्तस्थुः सर्व एव महर्षयः। तदाश्रमाणि सर्वाणि परिचक्राम नारद॥ ६० ॥
तं प्रविष्टं तदा दृष्ट्वा भार्गवात्रेययोषितः। प्रक्षोभमगमन् सर्वा हीनसत्त्वाः समन्ततः॥ ६१ ॥
ऋते त्वरुन्धतीमेकामनसूयां च भामिनीम्। एताभ्यां भर्तृपूजासु तच्चिन्तासु स्थितं मनः॥ ६२ ॥

उन ऋषियोंने भी उन्हें देखकर सिर झुकाकर प्रणाम किया। फिर भगवान्‌ने उनसे कहा—आप लोग मुझे भिक्षा दीजिये। इसपर सभी महर्षि मौन रह गये। नारदजी! इसपर महादेवजी सभी आश्रमोंमें घूमने लगे। उस समय उन्हें आश्रममें आया हुआ देख पतिव्रता अरुन्धती और अनसूयाको छोड़कर ऋषियोंकी समस्त पत्नियाँ प्रक्षुब्ध एवं सत्त्वहीन हो गयीं। पर अरुन्धती और अनसूया पतिसेवामें ही लगी रहीं ॥ ५९–६२ ॥

ततः संक्षुभिताः सर्वा यत्र याति महेश्वरः। तत्र प्रयान्ति कामार्ता मदविह्वलितेन्द्रियाः॥ ६३ ॥
त्यक्त्वाश्रमाणि शून्यानि स्वानि ता मुनियोषितः। अनुजग्मुर्यथा मत्तं करिण्य इव कुञ्जरम्॥ ६४ ॥
ततस्तु ऋषयो दृष्ट्वा भार्गवाङ्गिरसो मुने। क्रोधान्विताब्रुवन् सर्वे लिङ्गोऽस्य पततां भुवि॥ ६५ ॥
ततः पपात देवस्य लिङ्गं पृथ्वीं विदारयन्। अन्तर्धानं जगामाथ त्रिशूली नीललोहितः॥ ६६ ॥

अब शिवजी जहाँ-जहाँ जाते थे, वहाँ-वहाँ संक्षुब्ध, कामार्त एवं मदसे विह्वल इन्द्रियोंवाली स्त्रियाँ भी जाने लगीं। मुनियोंकी वे स्त्रियाँ अपने आश्रमोंको सूना छोड़ उनका इस प्रकार अनुसरण करने लगीं, जैसे करेणु मतवाले गजका अनुसरण करे। मुने! यह देखकर ऋषिगण क्रुद्ध हो गये एवं कहा कि इनका लिङ्ग भूमिपर गिर जाय। फिर तो महादेवका लिङ्ग पृथ्वीको विदीर्ण करता हुआ गिर गया एवं सब नीललोहित त्रिशूली अन्तर्धान हो गये ॥ ६३–६६ ॥

ततः स पतितो लिङ्गो विभिद्य वसुधातलम्। रसातलं विवेशाशु ब्रह्माण्डं चोर्ध्वतोऽभिनत्॥ ६७ ॥
ततश्चचाल पृथिवी गिरयः सरितो नगाः। पातालभुवनाः सर्वे जङ्गमाजङ्गमैर्वृताः॥ ६८ ॥
संक्षुब्धान् भुवनान् दृष्ट्वा भूर्लोकादीन् पितामहः। जगाम माधवं द्रष्टुं क्षीरोदं नाम सागरम्॥ ६९ ॥
तत्र दृष्ट्वा हृषीकेशं प्रणिपत्य च भक्तितः। उवाच देव भुवनाः किमर्थं क्षुभिता विभो॥ ७० ॥

वह पृथ्वीपर गिरा लिङ्ग उसका भेदन कर तुरंत रसातलमें प्रविष्ट हो गया एवं ऊपरकी ओर भी उसने ब्रह्माण्डका भेदन कर दिया। इसके बाद पृथ्वी, पर्वत, नदियाँ, पादप तथा चराचरसे पूर्ण समस्त पातालोक काँप उठे। पितामह ब्रह्मा भूर्लोक आदि भुवनोंको संक्षुब्ध देखकर क्षीरसागरमें निवास करनेवाले माधवके पास पहुँचे। वहाँ उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम कर ब्रह्माने कहा—देव! समस्त भुवन विक्षुब्ध कैसे हो गये हैं? ॥ ६७–७० ॥

अथोवाच हरिर्ब्रह्मन् शार्वो लिङ्गो महर्षिभिः। पातितस्तस्य भारार्ता संचचाल वसुंधरा॥ ७१ ॥
ततस्तदद्भुततमं श्रुत्वा देवः पितामहः। तत्र गच्छाम देवेश एवमाह पुनः पुनः॥ ७२ ॥
ततः पितामहो देवः केशवश्च जगत्पतिः। आजग्मतुस्तमुद्देशं यत्र लिङ्गं भवस्य तत्॥ ७३ ॥
ततोऽनन्तं हरिर्लिङ्गं दृष्ट्वारुह्य खगेश्वरम्। पातालं प्रविवेशाथ विस्मयान्तरितो विभुः॥ ७४ ॥

इसपर श्रीहरिने कहा—ब्रह्मन्! महर्षियोंने शिवके लिङ्गको गिरा दिया है। उसके भारसे आर्त होकर पृथ्वी विचलित हो रही है। इसे बाद ब्रह्माजी उस अद्भुत कर्मको सुनकर बोले! हमलोग वहाँ चलें—

ऐसा बार-बार कहने लगे। फिर ब्रह्मा और जगत्पति विष्णु वहाँ पहुँचे, जहाँ शंकरका लिङ्ग गिरा था। वहाँ उस अनन्त लिङ्गको देखकर आश्चर्यचकित होकर हरि गरुड़पर सवार हो उसका पता लगानेके लिये पातालमें प्रविष्ट हुए ॥ ७१–७४ ॥

ब्रह्मा पद्मविमानेन ऊर्ध्वमाक्रम्य सर्वतः। नैवान्तमलभद् ब्रह्मन् विस्मितः पुनरागतः ॥ ७५ ॥
विष्णुर्गत्वाऽथ पातालान् सप्त लोकपरायणः। चक्रपाणिर्विनिष्क्रान्तो लेभेऽन्तं न महामुने ॥ ७६ ॥
विष्णुः पितामहश्चोभौ हरलिङ्गं समेत्य हि। कृताञ्जलिपुटौ भूत्वा स्तोतुं देवं प्रचक्रतुः ॥ ७७ ॥

नारदजी! ब्रह्माजी अपने पद्मयानके द्वारा सम्पूर्ण ऊर्ध्वाकाशको लाँघ गये, पर उस लिङ्गका अन्त नहीं पा सके और आश्चर्यचकित होकर वे लौट आये। मुने! इसी प्रकार जब चक्रपाणि भगवान् विष्णु भी सातों पातालोंमें प्रवेश कर उस लिङ्गका बिना अन्त पाये ही वहाँसे बाहर आये, तब ब्रह्मा, विष्णु दोनों शिवलिङ्गके पास जाकर हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे ॥ ७५–७७ ॥

हरिब्रह्माणावूचतुः

नमोऽस्तु ते शूलपाणे नमोऽस्तु वृषभध्वज। जीमूतवाहन कवे शर्व त्र्यम्बक शंकर ॥ ७८ ॥
महेश्वर महेशान सुवर्णाक्ष वृषाकपे। दक्षयज्ञक्षयकर कालरूप नमोऽस्तु ते ॥ ७९ ॥
त्वमादिरस्य जगतस्त्वं मध्यं परमेश्वर। भवानन्तश्च भगवान् सर्वगस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ८० ॥

ब्रह्मा-विष्णु बोले—शूलपाणिजी! आपको प्रणाम है। वृषभध्वज! जीमूतवाहन! कवि! शर्व! त्र्यम्बक! शंकर! आपको प्रणाम है। महेश्वर! महेशान! सुवर्णाक्ष! वृषाकपे! दक्ष-यज्ञ विध्वंसक! कालरूप शिव! आपको प्रणाम है। परमेश्वर! आप इस जगत्के आदि, मध्य एवं अन्त हैं। आप षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् सर्वत्रगामी या सर्वत्रव्याप्त हैं। आपको प्रणाम है ॥ ७८–८० ॥

पुलस्त्य उवाच

एवं संस्तूयमानस्तु तस्मिन् दारुवने हरः। स्वरूपी ताविदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ ८१ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उस दारुवनमें इस प्रकार स्तुति किये जानेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ हरने अपने स्वरूपमें प्रकट होकर (अर्थात् मूर्तिमान् होकर) उन दोनोंसे इस प्रकार कहा— ॥ ८१ ॥

हर उवाच

किमर्थं देवतानाथौ परिभूतक्रमं त्विह। मां स्तुवाते भृशास्वस्थं कामतापितविग्रहम् ॥ ८२ ॥

भगवान् शंकर बोले—आप दोनों सभी देवताओंके स्वामी हैं। आपलोग चलते-चलते थके हुए तथा कामाग्निसे दग्ध और मुझ सब प्रकारसे अस्वस्थ व्यक्तिकी क्यों स्तुति कर रहे हैं? ॥ ८२ ॥

देवावूचतुः

भवतः पातितं लिङ्गं यदेतद् भुवि शंकर। एतत् प्रगृह्यतां भूयः अतो देव स्तुवावहे ॥ ८३ ॥

इसपर ब्रह्मा विष्णु दोनों बोले—शिवजी! पृथ्वीपर आपका जो यह लिंग गिराया गया है, उसे पुनः आप ग्रहण करें। इसीलिये हम आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ ८३ ॥

हर उवाच

यद्यर्चयन्ति त्रिदशा मम लिङ्गं सुरोत्तमौ। तदेतत्प्रतिगृह्णीयां नान्यथेति कथंचन ॥ ८४ ॥
ततः प्रोवाच भगवानेवमस्त्विति केशवः। ब्रह्मा स्वयं च जग्राह लिङ्गं कनकपिङ्गलम्

तत्प्रकारं भगवताख्यातं तु वचने। शास्त्राणि चैषां मुख्यानि नानोक्तिविदितानि च ॥ ८६ ॥
आद्यं शैवं परिख्यातमन्यत्पाशुपतं मुने। तृतीयं कालवदनं चतुर्थं च कापालिकम् ॥ ८७ ॥

शिवजीने कहा—श्रेष्ठ देवो! यदि सभी देवता मेरे लिङ्गकी पूजा करना स्वीकार करें, तभी मैं इसे पुनः ग्रहण करूँगा, अन्यथा किसी प्रकार भी इसे नहीं धारण करूँगा।' तब भगवान् विष्णु बोले—ऐसा ही होगा। फिर ब्रह्माजीने स्वयं उस सुवर्णके सदृश पिङ्गल लिङ्गका ग्रहण किया। तब भगवान्‌ने चारों वर्णोंको हर-लिङ्गकी अर्चनाका अधिकारी बनाया। इनके मुख्य शास्त्र नाना प्रकारके वचनोंसे प्रख्यात हैं। मुने! उन शिवभक्तोंका प्रथम सम्प्रदाय शैव, द्वितीय पाशुपत, तृतीय कालमुख और चतुर्थ सम्प्रदाय कापालिक या भैरवनामसे विख्यात है[१] ॥ ८४–८७ ॥

शैवश्चासीत्स्वयं शक्तिर्वसिष्ठस्य प्रियः सुतः। तस्य शिष्यो बभूवाथ गोपायन इति श्रुतः ॥ ८८ ॥
महापाशुपतश्चासीद्भरद्वाजस्तपोधनः। तस्य शिष्योऽप्यभूद्राजा ऋषभः सोमकेश्वरः ॥ ८९ ॥
कालास्यो भगवानासीदापस्तम्बस्तपोधनः। तस्य शिष्योऽभवद्वैश्यो नाम्ना क्राथेश्वरो मुने ॥ ९० ॥
महाव्रती च धनदस्तस्य शिष्यश्च वीर्यवान्। कर्णोदर इति ख्यातो जात्या शूद्रो महातपाः ॥ ९१ ॥

महर्षि वसिष्ठके प्रियपुत्र शक्ति ऋषि स्वयं शैव थे। उनके एक शिष्य गोपायन नामसे प्रसिद्ध हुए। उन्होंने शैव सम्प्रदायको दूरतक फैलाया। तपोधन भरद्वाज महापाशुपत थे और सोमकेश्वर राजा ऋषभ उनके शिष्य हुए, जिनसे पाशुपत-सम्प्रदाय विशेषरूपसे परिवर्धित हुआ। मुने! ऐश्वर्य एवं तपस्याके धनी महर्षि आपस्तम्ब, कालमुख सम्प्रदायके आचार्य थे। क्राथेश्वर नामक उनके वैश्य शिष्यने इस सम्प्रदायका विशेष रूपसे प्रचार किया। महाव्रती साक्षात् कुबेर प्रथम कापालिक या भैरव-सम्प्रदायके आचार्य हुए थे। शूद्र जातिके महातपस्वी कर्णोदर नामक उनके एक प्रसिद्ध शिष्य हुए। इन्होंने इस मतका विशेष प्रचार किया[२] ॥ ८८–९१ ॥

एवं स भगवान्ब्रह्मा पूजनाय शिवस्य तु। कृत्वा तु चातुराश्रम्यं स्वमेव भवनं गतः ॥ ९२ ॥
गते ब्रह्मणि शर्वोऽपि उपसंहृत्य तं तदा। लिङ्गं चित्रवने सूक्ष्मं प्रतिष्ठाप्य चचार ह ॥ ९३ ॥
विचरन्तं तदा भूयो महेशं कुसुमायुधः। आरात्स्थित्वाऽग्रतो धन्वी सन्तापयितुमुद्यतः ॥ ९४ ॥
ततस्तमग्रतो दृष्ट्वा क्रोधाध्मातदृशा हरः। स्मरमालोकयामास शिखाग्राच्चरणान्तिकम् ॥ ९५ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजी शिवजीकी उपासनाके लिये चार सम्प्रदायोंका विधान कर ब्रह्मलोकको चले गये। ब्रह्माजीके जानेपर महादेवने उस लिङ्गको उपसंहृत कर स्थिर-सूक्ष्म लिङ्ग रूपमें चित्रवनमें सूक्ष्म लिङ्ग प्रतिष्ठापित कर विचरण करने लगे। वहाँ भी शिवजीको घूमते देख पुष्पधन्वा कामदेव पुनः उनके सामने सहसा धनुष लेकर आकर उन्हें सन्तापित करनेको उद्यत हुआ। तब उसे इस प्रकार सामने खड़ा देखकर शिवजीने उस कामदेवको शिखासे चरणतक क्रोधभरी दृष्टिसे देखा ॥ ९२–९५ ॥

आलोकितस्त्रिनेत्रेण मदनो द्युतिमानपि। आदहत तदा ब्रह्मन् पादादारभ्य कामुकम् ॥ ९६ ॥
प्रदह्यमानौ चरणौ दृष्ट्वाऽसौ कुसुमायुधः। उत्ससर्ज धनुः श्रेष्ठं तज्जगामाथ पञ्चधा ॥ ९७ ॥

१—[illegible] देखिये। २—शैवं पाशुपतं कालमुखं भैरवशासनम्। (शब्दकल्पद्रुम ११) ३—डॉ० भण्डारकर वैष्णविज्म शैविज्ममें विस्तृत विचार है।

यदासीन्मुष्टिबन्ध तु रुक्मपृष्ठ महाप्रभम्। स चम्पकतरुर्जात सुगन्धाढ्यो गुणाकृतिः ॥९८॥
नाहस्थान शुभाकार यदासीद्वज्रभूषितम्। तज्जात केसरारण्ये बकुल नामतो मुने ॥९९॥
या च कोटी शुभा ह्यासीदिन्द्रनीलविभूषिता। जाता सा पाटला रम्या भृङ्गराजिविभूषिता ॥१००॥

ब्रह्मन्! वह कामदेव अत्यन्त तेजस्वी था। फिर भी भगवान्-द्वारा इस प्रकार दृष्ट होनेपर वह पैरसे लेकर कटिपर्यन्त दग्ध हो गया। अपने चरणोंको जलते हुए देखकर पुष्पायुध कामने अपने श्रेष्ठ धनुषको दूर फेंक दिया। इससे उसके पाँच टुकड़े हो गये। उस धनुषका जो चमचमाता हुआ सुवर्णयुक्त मुठबंध था, वह सुगन्धपूर्ण सुन्दर चम्पक वृक्ष हो गया। मुने! उस धनुषका जो हीरा जड़ा हुआ सुंदर कृतिवाला नाहस्थान था, वह केसरवनमें बकुल (मौलसिरी) नामका वृक्ष बना। इन्द्रनीलसे सुशोभित उसकी सुंदर कोटि भृगोंसे विभूषित सुन्दर पाटला-(गुलाब) के रूपमें परिणत हो गया ॥ ९६–१०० ॥

नाहोपरि तथा मुष्टौ स्थान शशिमणिप्रभम्। पञ्चगुल्माऽभवज्जाती शशाङ्ककिरणोज्ज्वला ॥१०१॥
ऊर्ध्वं मुष्ट्या अध कोट्योः स्थान विद्रुमभूषितम्। तस्माद्बहुपुटा मल्ली सजाता विविधा मुने ॥१०२॥
पुष्पोत्तमानि रम्याणि सुरभीणि च नारद। जातियुक्तानि देवेन स्वयमाचरितानि च ॥१०३॥
मुमोच मार्गणान् भूम्यां शरीरे दह्यति स्मर। फलोपगानि वृक्षाणि सम्भूतानि सहस्रश ॥१०४॥
चूतादीनि सुगन्धीनि स्वादूनि विविधानि च। हरप्रसादाज्जातानि भोज्यान्यपि सुरोत्तमै ॥१०५॥
एव दग्ध्वा स्मर रुद्र सयम्य स्वतनु विभुः। पुण्यार्थी शिशिराद्रिं स जगाम तपसेऽव्यय ॥१०६॥
एव पुरा देववरेण शम्भुना कामस्तु दग्ध सशर सचाप।
ततस्त्वनङ्गेति महाधनुर्धरो देवैस्तु गीतः सुरपूर्वपूजितः ॥१०७॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे षष्ठोऽध्याय ॥ ६ ॥

धनुषनाहके ऊपर मुष्टिमें स्थित चन्द्रकान्तमणिकी प्रभासे युक्त स्थान चन्द्रकिरणके समान उज्ज्वल पाँच गुल्मवाली जाती (चमेली पुष्प) बन गया। मुने! मुष्टिके ऊपर और दोनों कोटियोंके नीचेवाले विद्रुममणि-विभूषित स्थानसे अनेक पुटोंवाली मल्लिका (मालती) हो गया। नारदजी! देवके द्वारा जातीके साथ अन्य सुंदर तथा सुगन्धित पुष्पोंकी सृष्टि हुई। ऊर्ध्व शरीरके दग्ध होनेके समय कामदेवने अपने बाणोंको भी पृथ्वीपर फेंका था, इससे हजारों प्रकारके फलयुक्त वृक्ष उत्पन्न हो गये। शिवजीकी कृपासे श्रेष्ठ देवताओंद्वारा भी अनेक प्रकारके सुगन्धित एव स्वादिष्ट आम्र आदि फल उत्पन्न हुए, जो खानेमें स्वादुयुक्त हैं। इस प्रकार कामदेवको भस्म कर एव अपने शरीरको सयतकर समर्थ, अविनाशी शिव पुण्यकी कामनासे हिमालयपर तपस्या करने चले गये। इस प्रकार प्राचीन समयमें देवश्रेष्ठ शिवजीद्वारा धनुषबाण-सहित काम दग्ध किया गया था। तबसे देवताओंमें प्रथम पूजित वह महाधनुर्धर देवोंद्वारा 'अनङ्ग' कहा गया ॥ १०१–१०७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

विष्णु भगवान्‌का स्मरण किया। कमलनयन भगवान् श्रीहरिको स्मरण करनेपर वह महान् सर्प [illegible] हो गया ॥ २५–२८ ॥

नीतस्तेनातिरौद्रेण पन्नगेन रसातलम्। निर्विषश्चापि तत्याज च्यवनं भुजगोत्तमः ॥२९॥
संत्यक्तमात्रो नागेन च्यवनो भार्गवोत्तमः। चचार नागकन्याभिः पूज्यमानः समन्ततः ॥३०॥
विचरन् प्रविवेशाथ दानवानां महत् पुरम्। संपूज्यमानो दैत्येन्द्रैः प्रह्लादोऽथ ददर्श तम् ॥३१॥
भृगुपुत्रे महातेजाः पूजां चक्रे यथार्हतः। संपूजितोपविष्टश्च पृष्टश्चागमनं प्रति ॥३२॥

फिर उस भयंकर विषरहित सर्पने च्यवन मुनिको रसातलमें ले जाकर छोड़ दिया। सर्पने भार्गवश्रेष्ठ च्यवनको मुक्त कर दिया। फिर वे नागकन्याओंसे पूजित होते हुए चारों ओर विचरण करने लगे। वहाँ घूमते हुए वे दानवोंके विशाल नगरमें प्रविष्ट हुए। इसके बाद श्रेष्ठ दैत्योंद्वारा पूजित प्रह्लादने उन्हें देखा। महातेजस्वी प्रह्लादने भृगु[illegible] यथायोग्य पूजा की। पूजाके बाद उनके बैठनेपर प्रह्लादने उनसे उनके आगमनका कारण पूछा ॥२९–३२॥

स चोवाच महाराज महातीर्थं महाफलम्। स्नातुमेवागतोऽस्म्यद्य द्रष्टुं चैवाकुलेश्वरम् ॥ ३३ ॥
नद्यामेवावतीर्णोऽस्मि गृहीतश्चाहिना बलात्। समानीतोऽस्मि पाताले दृष्टश्चात्र भवानपि ॥ ३४ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं च्यवनस्य दितीश्वरः। प्रोवाच धर्मसंयुक्तं स वाक्यं वाक्यकोविदः ॥ ३५ ॥

उन्होंने कहा—महाराज! आज मैं महाफलदायक महातीर्थमें स्नान एवं नकुलीश्वरका दर्शन करने आया था। वहाँ नदीमें उतरते ही एक नागने मुझे बलात् पकड़ लिया। वही मुझे पातालमें लाया और मैंने यहाँ आपको भी देखा। च्यवनकी इस बातको सुनकर सुन्दर वचन बोलनेवाले दैत्योंके ईश्वर (प्रह्लाद) ने धर्मसंयुक्त यह वाक्य कहा ॥ ३३–३५ ॥

प्रह्लाद उवाच

भगवन् कानि तीर्थानि पृथिव्यां कानि चाम्बरे। रसातले च कानि स्युरेतद् वक्तुं त्वमर्हसि ॥३६॥

प्रह्लादने पूछा—भगवन्! कृपा करके मुझे बतलाइये कि पृथ्वी, आकाश और पातालमें कौन-कौनसे (महान्) तीर्थ हैं? ॥ ३६ ॥

च्यवन उवाच

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम्। चक्रतीर्थं महाबाहो रसातलतले विदुः ॥३७॥

(प्रह्लादके वचनको सुनकर) च्यवनजीने कहा—महाबाहो! पृथ्वीमें नैमिषारण्यतीर्थ, अन्तरिक्षमें पुष्कर, और पातालमें चक्रतीर्थ प्रसिद्ध हैं ॥ ३७ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रुत्वा तद्भार्गववचो दैत्यराजो महामुने। नैमिषं गन्तुकामस्तु दानवानिदमब्रवीत् ॥३८॥

पुलस्त्यजीने कहा—महामुने! भार्गवकी इसी बातको सुनकर दैत्यराज प्रह्लादने नैमिषतीर्थमें जानेके लिये इच्छा प्रकट की और दानवोंसे यह बात कही ॥ ३८ ॥

प्रह्लाद उवाच

उत्तिष्ठध्वं गमिष्यामः स्नातुं तीर्थं हि नैमिषम्। द्रक्ष्यामः पुण्डरीकाक्षं पीतवाससमच्युतम् ॥३९॥

प्रह्लाद बोले—उठो, हम सभी नैमिषतीर्थमें स्नान करने जायँगे तथा वहाँ पीताम्बरधारी पद्मके समान नेत्रोंवाले भगवान् अच्युत (विष्णु)के दर्शन करेंगे ॥ ३९ ॥

✿

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्ता दानवेन्द्रेण सर्वे ते दैत्यदानवाः। चक्रुरुद्योगमतुलं निर्जग्मुश्च रसातलात् ॥४०॥
ते समभ्येत्य दैतेया दानवाश्च महाबलाः। नैमिषारण्यमागत्य स्नानं चक्रुर्मुदान्विताः ॥४१॥
ततो दितीश्वरः श्रीमान् मृगव्यां स चचार ह। चरन् सरस्वतीं पुण्यां ददर्श विमलोदकाम् ॥४२॥
तस्यादूरे महाशाखं शालवृक्षं शरैश्चितम्। ददर्श बाणानपरान् मुखे लग्नान् परस्परम् ॥४३॥

पुलस्त्यजीने कहा—दैत्यराज प्रह्लादके ऐसा कहनेपर वे सभी दैत्य और दानव रसातलसे बाहर निकले एवं अतुलनीय उद्योगमें लग गये। उन महाबलवान् दितिपुत्रों एवं दानवोंने नैमिषारण्यमें आकर आनन्दपूर्वक स्नान किया। इसके बाद श्रीमान् दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लाद मृगया (आखेट या शिकार) के लिये वनमें घूमने लगे। वहाँ घूमते हुए उन्होंने पवित्र एवं निर्मल जलवाली सरस्वती नदीको देखा। वहीं समीप ही बाणोंसे खचाखच बिंधे बड़ी-बड़ी शाखाओंवाले एक शाल वृक्षको देखा। वे सभी बाण एक-दूसरेके मुखसे लगे हुए थे ॥ ४०—४३ ॥

ततस्तानद्भुताकारान् बाणान् नागोपवीतकान्। दृष्ट्वाऽतुलं तदा चक्रे क्रोधं दैत्येश्वरः किल ॥४४॥
स ददर्श ततो दूरात् कृष्णाजिनधरौ मुनी। समुन्नतजटाभारौ तपस्यासक्तमानसौ ॥४५॥
तयोश्च पार्श्वयोर्दिव्ये धनुषी लक्षणान्विते। शार्ङ्गमाजगवं चैव अक्षय्यौ च महेषुधी ॥४६॥
तौ दृष्ट्वाऽमन्यत तदा दाम्भिकाविति दानवः। ततः प्रोवाच वचनं तावुभौ पुरुषोत्तमौ ॥४७॥

तब उन अद्भुत आकारवाले नागोपवीत (साँपोंसे लिपटे) बाणोंको देखकर दैत्येश्वरको बड़ा क्रोध हुआ। फिर उन्होंने दूरसे ही काले मृगचर्मको धारण किये हुए बड़ी-बड़ी जटाओंवाले तथा तपस्यामें लगे दो मुनियोंको देखा। उन दोनोंकी बगलमें सुलक्षण शार्ङ्ग और आजगव नामक दो दिव्य धनुष एवं दो अक्षय तथा बड़े-बड़े तरकस वर्तमान थे। उन दोनोंको इस प्रकार देखकर दानवराज प्रह्लादने उन्हें दम्भसे युक्त समझा। फिर उन्होंने उन दोनों श्रेष्ठ पुरुषोंसे कहा—॥ ४४—४७ ॥

किं भवद्भ्यां समारब्धं दम्भं धर्मविनाशनम्। क्व तपः क्व जटाभारः क्व चेमौ प्रवरायुधौ ॥४८॥
अथोवाच नरो दैत्य का ते चिन्ता दितीश्वर। सामर्थ्ये सति यः कुर्यात् तत्सम्पद्येत तस्य हि ॥४९॥
अथोवाच दितीशस्तौ का शक्तिर्युवयोरिह। मयि तिष्ठति दैत्येन्द्रे धर्मसेतुप्रवर्तके ॥५०॥
नरस्तं प्रत्युवाचाथ आवाभ्यां शक्तिरूर्जिता। न कश्चिच्छक्नुयाद् योद्धुं नरनारायणौ युधि ॥५१॥

आप दोनों यह धर्मविनाशक दम्भपूर्ण कार्य क्यों कर रहे हैं? कहाँ तो आपकी यह तपस्या और जटाभार, कहाँ ये दोनों श्रेष्ठ अस्त्र? इसपर नरने उनसे कहा—दैत्येश्वर! तुम उसकी चिन्ता क्यों कर रहे हो? सामर्थ्य रहनेपर कोई भी व्यक्ति जो कर्म करता है, उसे वही शोभा देता है। तब दितीश्वर प्रह्लादने उन दोनोंसे कहा—धर्मसेतुके स्थापित करनेवाले मुझ दैत्येन्द्रके रहते यहाँ आप लोग (सामर्थ्य-बलसे) क्या कर सकते हैं? इसपर नरने उन्हें उत्तर दिया—हमने पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर ली है। हम नर और नारायण—दोनोंसे कोई भी युद्ध नहीं कर सकता ॥ ४८—५१ ॥

दैत्येश्वरस्ततः क्रुद्धः प्रतिज्ञामारुरोह च। यथा कथंचिज्जेष्यामि नरनारायणौ रणे ॥५२॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा दितीश्वरः स्थाप्य बलं वनान्ते।
वितत्य चापं गुणमाविकृष्य तलध्वनिं घोरतरं चकार ॥५३॥
ततो नरस्त्वाजगवं हि चापमानम्य बाणान् सुबहूञ्छिताग्रान्।
मुमोच तानप्रतिमैः पृषत्कैश्चिच्छेद दैत्यस्तपनीयपुङ्खैः ॥५४॥

प्रह्लादजी बोले—हे नारायण ! मैं आपसे वर माँग रहा हूँ, आप उसे देनेकी कृपा करें । हे जगन्नाथ ! आपके तथा नरके साथ युद्ध करनेमें मेरे शरीर, मन और वाणीसे जो भी पाप (अपकर्म) हुआ हो वह सब नष्ट हो जाय । आप मुझे यही वर दें ॥ ५८-५९ ॥

नारायण उवाच

एवं भवतु दैत्येन्द्र पापं ते यातु संक्षयम् । द्वितीयं प्रार्थय वरं तं ददामि तवासुर ॥ ६० ॥

नारायणने कहा—दैत्येन्द्र ! ऐसा ही होगा । तुम्हारा पाप नष्ट हो जाय । अब प्रह्लाद ! तुम दूसरा एक वर और माँग लो, मैं उसे भी तुम्हें दूँगा ॥ ६० ॥

प्रह्लाद उवाच

या या जायेत मे बुद्धिः सा सा विष्णो त्वदाश्रिता । देवार्चने च निरता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा ॥ ६१ ॥

प्रह्लादजी बोले—हे भगवन् ! मेरी जो भी बुद्धि हो, वह आपसे ही सम्बद्ध हो, वह देवपूजामें लगी रहे । मेरी बुद्धि, आपका ही ध्यान करे और आपके चिन्तनमें लगी रहे ॥ ६१ ॥

नारायण उवाच

एवं भविष्यत्यसुर वरमन्यं यमिच्छसि । तं वृणीष्व महाबाहो प्रदास्याम्यविचारयन् ॥ ६२ ॥

नारायणने कहा—प्रह्लाद ! ऐसा ही होगा । पर हे महाबाहो ! तुम एक और अन्य वर भी, जो तुम चाहो, माँगो । मैं बिना विचारे ही—बिना देय-अदेयका विचार किये ही—वह भी तुम्हें दूँगा ॥ ६२ ॥

प्रह्लाद उवाच

सर्वमेव मया लब्धं त्वत्प्रसादादधोक्षज । त्वत्पादपङ्कजाभ्यां हि ख्यातिरस्तु सदा मम ॥ ६३ ॥

प्रह्लादने कहा—अधोक्षज ! आपके अनुग्रहसे मुझे सब कुछ प्राप्त हो गया । आपके चरणकमलोंसे मैं सदा लगा रहूँ और ऐसी ही मेरी प्रसिद्धि भी हो अर्थात् मैं आपके भक्तके रूपमें ही चर्चित होऊँ ॥ ६३ ॥

नारायण उवाच

एवमस्त्वपरं चास्तु नित्यमेवाक्षयोऽव्ययः । अजरश्चामरश्चापि मत्प्रसादाद् भविष्यसि ॥ ६४ ॥
गच्छस्व दैत्यशार्दूल स्वमावासं क्रियारतः । न कर्मबन्धो भवतो मच्चित्तस्य भविष्यति ॥ ६५ ॥
प्रशासयदमून् दैत्यान् राज्यं पालय शाश्वतम् । स्वजातिसदृशं दैत्य कुरु धर्ममनुत्तमम् ॥ ६६ ॥

नारायणने कहा—ऐसा ही होगा । इसके अतिरिक्त मेरे प्रसादसे तुम अक्षय, अविनाशी, अजर और अमर होगे । दैत्यश्रेष्ठ ! अब तुम अपने घर जाओ और सदा (धर्म) कार्यमें रत रहो । मुझमें मन लगाये रखनेसे तुम्हें कर्मबन्धन नहीं होगा । इन दैत्योंपर शासन करते हुए तुम शाश्वत (सदा बने रहनेवाले) राज्यका पालन करो । दैत्य ! अपनी जातिके अनुकूल श्रेष्ठ धर्मोंका अनुष्ठान करो ॥ ६४-६६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्तो लोकनाथेन प्रह्लादो देवमब्रवीत् । कथं राज्यं समादास्ये परित्यक्तं जगद्गुरो ॥ ६७ ॥
तमुवाच जगत्स्वामी गच्छ त्वं निजमाश्रयम् । हितोपदेष्टा दैत्यानां दानवानां तथा भव ॥ ६८ ॥
नारायणेनैवमुक्तः स तदा दैत्यनायकः । प्रणिपत्य विभुं तुष्टो जगाम नगरं निजम् ॥ ६९ ॥
दृष्टः सभाजितश्चापि दानवैरन्धकेन च । निमन्त्रितश्च राज्याय न प्रत्यैच्छत्स नारद ॥ ७० ॥

राज्यं परित्यज्य महासुरेन्द्रो नियोजयन् सत्पथि दानवेन्द्रान् ।
ध्यायन् स्मरन् केशवमप्रमेयं तस्थौ तदा योगविशुद्धदेहः ॥ ७१ ॥

एवं पुरा नारद दानवेन्द्रो नारायणेनोत्तमपूरुषेण ।
पराजितश्चापि विमुच्य राज्यं तस्थौ मनो धातरि संनिवेश्य ॥७२॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—लोकनायकके ऐसा कहनेपर प्रह्लादने भगवान्से कहा—जगद्गुरो ! अब मैं छोड़े हुए राज्यको कैसे ग्रहण करूँ ? इसपर भगवान्ने उनसे कहा—तुम अपने घर जाओ तथा दैत्यों एवं दानवोंको कल्याणकारी बातोंका उपदेश करो। नारायणके ऐसा कहनेपर वे दैत्यनायक (प्रह्लाद) परमेश्वरको प्रणाम कर प्रसन्नतापूर्वक अपने नगर निवास-स्थानको चले गये। नारदजी ! अन्धक तथा दानवोंने प्रह्लादको देखा एवं उनका सम्मान किया और उन्हें राज्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोधित किया, किंतु उन्होंने राज्य स्वीकार नहीं किया। दैत्येश्वर प्रह्लाद राज्यको छोड़ अपने उपदेशोंमें दानव-श्रेष्ठोंको शुभ मार्गमें नियोजित तथा भगवान् नारायणका ध्यान और स्मरण करते हुए योगके द्वारा शुद्ध शरीर होकर विराजित हुए। नारदजी ! इस प्रकार पहले पुरुषोत्तम नारायणद्वारा पराजित दानवेन्द्र प्रह्लाद राज्य छोड़कर भगवान् नारायणके ध्यानमें लीन होकर शान्त एवं सुस्थिर हुए थे ॥ ६७-७२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

[अथ नवमोऽध्यायः]

नारद उवाच

नेत्रहीनः कथं राज्ये प्रह्लादेनान्धको मुने। अभिषिक्तो जानताऽपि राजधर्मं सनातनम् ॥ १ ॥

नवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अन्धकासुरकी विजिगीषा, देवों और असुरोंके वाहनों एवं युद्धका वर्णन)

नारदजीने कहा—मुने ! प्रह्लादजी सनातन राजधर्मको भलीभाँति जानते थे। ऐसी दशामें उन्होंने नेत्रहीन अन्धकको राजगद्दीपर कैसे बैठाया ? ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

लब्धचक्षुरसौ भूयो हिरण्याक्षेऽपि जीवति। ततोऽभिषिक्तो दैत्येन प्रह्लादेन निजे पदे ॥ २ ॥

पुलस्त्यजी बोले—हिरण्याक्षके जीवनकालमें ही अन्धकको पुनः दृष्टि प्राप्त हो गयी थी, अतः दैत्यवर्य प्रह्लादने उसे अपने पदपर अभिषिक्त किया था ॥ २ ॥

नारद उवाच

राज्येऽन्धकोऽभिषिक्तस्तु किमाचरत सुव्रत। देवादिभिः सह कथं समास्ते तद् वदस्व मे ॥ ३ ॥

नारदजीने पूछा—सुव्रत ! मुझे यह बतलाइये कि अन्धकने राज्यपर अभिषिक्त होनेपर क्या-क्या किया तथा वह देवताओं आदिके साथ कैसा व्यवहार करता था ॥ ३ ॥

पुलस्त्य उवाच

राज्येऽभिषिक्तो दैत्येन्द्रो हिरण्याक्षसुतोऽन्धकः। तपसाराध्य देवेशं शूलपाणिं त्रिलोचनम् ॥
अजेयत्वमवध्यत्वं सुरसिद्धर्षिपन्नगैः। अदाह्यत्वं हुताशेन अक्लेद्यत्वं जलेन

एवं स वरलब्धस्तु दैत्यो राज्यमपालयत्। शुक्रं पुरोहितं कृत्वा समध्यास्ते ततोऽन्धकः ॥ ६ ॥
ततश्चक्रे समुद्योगं देवानामन्धकोऽसुरः। आक्रम्य वसुधां सर्वां मनुजेन्द्रान् पराजयत् ॥ ७ ॥

पुलस्त्यजी बोले—हिरण्याक्षके पुत्र दैत्यराज अन्धकने राज्य प्राप्त करके तपस्याद्वारा शूलपाणि भगवान् शङ्करकी आराधना की और उनसे देवता, सिद्ध, ऋषि एवं नागोंद्वारा नहीं जीते जाने और नहीं मारे जानेका वर प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार वह अग्निके द्वारा न जलने, जलसे न भीगने आदिका भी वरदान प्राप्त कर राज्यका सञ्चालन कर रहा था। उसने शुक्राचार्यको अपना पुरोहित बना लिया था। फिर अन्धकासुरने देवताओंके जीतनेका उपक्रम (आरम्भ) किया और उन्हें जीतकर सम्पूर्ण पृथ्वीको अपने वशमें कर लिया—सभी श्रेष्ठ राजाओंको पराजित कर दिया ॥ ६–७ ॥

पराजित्य महीपालान् सहायार्थे नियोज्य च। तैः समं मेरुशिखरं जगामाद्भुतदर्शनम् ॥ ८ ॥
शक्रोऽपि सुरसैन्यानि समुद्योज्य महागजम्। समारुह्यामरावत्यां गुप्तिं कृत्वा विनिर्ययौ ॥ ९ ॥
शक्रस्यानु तथैवान्ये लोकपाला महौजसः। आरुह्य वाहनं स्वं स्वं सायुधा निर्ययुर्बहिः ॥ १० ॥
देवसेनापि च समं शक्रेणाद्भुतकर्मणा। निजगामातिवेगेन गजवाजिरथादिभिः ॥ ११ ॥
अग्रतो द्वादशादित्याः पृष्ठतश्च त्रिलोचनाः।
मध्येऽष्टौ वसवो विश्वे साध्याश्विमरुतां गणाः। यक्षविद्याधराद्याश्च स्वं स्वं वाहनमास्थिताः ॥ १२ ॥

उसने सभी राजाओंको पराजित कर उन्हें (सामन्त बनाकर) अपनी सहायतामें नियुक्त कर लिया। फिर उनके साथ वह सुमेरुगिरि पर्वतको देखनेके लिये उसके अद्भुत शिखरपर गया। इधर इन्द्र भी देव-सेनाको तैयारकर और अमरावतीमें सुरक्षाकी व्यवस्था कर अपने ऐरावत हाथीपर सवार होकर युद्धके लिये बाहर निकले। इसी प्रकार दूसरे तेजस्वी लोकपालगण भी अपने-अपने वाहनोंपर सवार होकर तथा अपने अस्त्र लेकर इन्द्रके पीछे-पीछे चल पड़े। हाथी, घोड़े, रथ आदिसे युक्त देवसेना भी अद्भुत पराक्रमी इन्द्रके साथ तेजीसे निकल पड़ी। सेनाके आगे-आगे बारहों आदित्य और उनके पृष्ठभागमें ग्यारह रुद्रगण थे। उनके मध्यमें आठों वसु, तेरहों विश्वेदेव, साध्य, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, यक्ष, विद्याधर आदि अपने-अपने वाहनपर सवार होकर चल रहे थे ॥ ८–१२ ॥

नारद उवाच

रुद्रादीनां वदस्वाद्य वाहनानि च सर्वशः। एकैकस्यापि धर्मज्ञ परं कौतूहलं मम ॥ १३ ॥

नारदजीने पूछा—ब्रह्मन्! रुद्र आदिके वाहनोंका एक-एक कर पूरी तरह वर्णन कीजिये। इस विषयमें मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है ॥ १३ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कथयिष्यामि सर्वेषामपि नारद। वाहनानि समासेन एकैकस्यानुपूर्वशः ॥ १४ ॥
रुद्रहस्ततलोत्पन्नो महावीर्यो महाजवः। श्वेतवर्णो गजपतिर्देवराजस्य वाहनम् ॥ १५ ॥
रुद्रोरुसम्भवो भीमः कृष्णवर्णो मनोजवः। पौण्ड्रको नाम महिषो धर्मराजस्य नारद ॥ १६ ॥
रुद्रकर्णमलोद्भूतः श्यामो जलधिनायकः। शिशुमारो दिव्यगतिर्वाहनं वरुणस्य च ॥ १७ ॥
नैर्ऋतः शकटस्थाने शैलाकारो नराधमः। अम्बिकापादसम्भूतो वाहनं धनदस्य तु ॥ १८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी! सुनिये, मैं क्रमशः संक्षेपमें सभी देवताओंके वाहनोंका क्रमशः वर्णन करता हूँ। रुद्रके हस्ततलसे उत्पन्न अति बलवान्, अति तीव्रगतिवाला श्वेत वर्णका ऐरावत हाथी देवराज

(रुद्र) का वाहन है । हे नारद ! रुद्रके ऊरुसे उत्पन्न भयंकर कृष्णवर्णवाला एवं मनके सदृश गतिमान् पौण्ड्रक नामक महिष धर्मराजका वाहन है । रुद्रके कर्ण-मलसे उत्पन्न श्यामवर्णवाला दिव्यगतिशाली जलचर नागराज शिशुमार (सूँस) वरुणका वाहन है । अम्बिकाके चरणोंसे उत्पन्न गाड़ीके चक्केके समान भयंकर आँखवाला, पर्वताकार नरोत्तम कुबेरका वाहन है ॥ १४–१८ ॥

एकादशानां रुद्राणां वाहनानि महामुने ।
गन्धर्वाश्च महावीर्या भुजगेन्द्राश्च दारुणाः । श्वेतानि सौरभेयाणि वृषाण्युग्रजवानि च ॥ १९ ॥
रथं चन्द्रमसश्चार्द्धसहस्रं हंसवाहनम् । हरयो रथवाहाश्च आदित्या मुनिसत्तम ॥ २० ॥
कुञ्जरस्थाश्च वसवो यक्षाश्च नरवाहनाः । किन्नरा भुजगारूढा हयारूढौ तथाश्विनौ ॥ २१ ॥
सारङ्गाधिष्ठिता ब्रह्मन् मरुतो घोरदर्शनाः । शुकारूढाश्च कवयो गन्धर्वाश्च पदातिनः ॥ २२ ॥

हे महामुने ! एकादश रुद्रोंके वाहन महापराक्रमशाली गन्धर्वगण, भयंकर सर्पराजगण तथा सुरभिके अंशसे उत्पन्न तीव्रगतिवाले सफेद बैल हैं । मुनिश्रेष्ठ ! चन्द्रमाके रथको खींचनेवाले आधे हजार (पाँच सौ) हंस हैं । आदित्योंके रथके वाहन घोड़े हैं । वसुओंके वाहन हाथी, यक्षोंके वाहन नर, किन्नरोंके वाहन सर्प एवं अश्विनीकुमारोंके वाहन घोड़े हैं । ब्रह्मन् ! भयंकर दीखनेवाले मरुद्गणोंके वाहन हरिण हैं, भृगुओंके वाहन शुक हैं और गन्धर्वलोग पैदल ही चलते हैं ॥ १९–२२ ॥

आरुह्य वाहनान्येवं स्वानि स्वान्यमरोत्तमाः । सन्नह्य निर्ययुर्हृष्टा युद्धाय सुमहौजसः ॥ २३ ॥

इस प्रकार बड़े तेजस्वी श्रेष्ठ देवगण अपने-अपने वाहनोंपर आरूढ़ एवं सन्नद्ध (तैयार) होकर प्रसन्नतापूर्वक युद्धके लिये निकल पड़े ॥ २३ ॥

नारद उवाच

गदितानि सुरादीनां वाहनानि त्वया मुने । दैत्यानां वाहनान्येव यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

नारदने कहा— मुने ! आपने देवादिकोंके वाहनोंका वर्णन किया, इसी प्रकार अब असुरोंके वाहनोंका भी यथावत् वर्णन करें ॥ २४ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व दानवादीनां वाहनानि द्विजोत्तम । कथयिष्यामि तत्त्वेन यथावच्छ्रोतुमर्हसि ॥ २५ ॥
अन्धकस्य रथो दिव्यो युक्तः परमवाजिभिः । कृष्णवर्णैः सहस्रारस्त्रिनल्वपरिमाणवान् ॥ २६ ॥
प्रह्लादस्य रथो दिव्यश्चन्द्रवर्णैर्हयोत्तमैः । उह्यमानस्तथाऽष्टाभिः श्वेतरुक्ममयः शुभः ॥ २७ ॥
विरोचनस्य च गजः कुजम्भस्य तुरङ्गमः । जम्भस्य तु रथो दिव्यो हयैः काञ्चनसंनिभैः ॥ २८ ॥

पुलस्त्यजी बोले— द्विजोत्तम ! (अब) दानवोंके वाहनको सुनो । मैं तत्त्वतः उनका ठीक-ठीक वर्णन करता हूँ । अन्धकका अलौकिक रथ कृष्णवर्णके श्रेष्ठ अश्वोंसे परिचालित होता था । वह हजार अरों—पहियेकी नाभि और नेमिके बीचकी लकड़ियोंसे युक्त बारह सौ हाथोंके परिमाणवाला था । प्रह्लादका दिव्य रथ सुन्दर एवं सुवर्ण रजत-मण्डित था । उसमें चन्द्रवर्णवाले आठ उत्तम घोड़े जुते हुए थे । विरोचनका वाहन हाथी था एवं कुजम्भ घोड़ेपर सवार था । जम्भका दिव्य रथ स्वर्णवर्णके घोड़ोंसे युक्त था ॥ २५–२८ ॥

शङ्कुकर्णस्य तुरगो हयग्रीवस्य कुञ्जरः ।
रथो मयस्य विख्यातो दुन्दुभेश्च महोरगः । शम्बरस्य विमानोऽभूदयःशङ्कोर्मृगाधिपः ॥ २९ ॥
बलवृत्रौ च बलिनौ गदामुसलधारिणौ । पद्भ्यां दैवतसैन्यानि अभिद्रवितुमुद्यतौ ॥ ३

ततो रणोऽभूत् तुमुलः संकुलोऽतिभयंकरः । रजसा संवृतो लोको पिङ्गवर्णेन नारद ॥ ३१ ॥
नाज्ञासीच्च पिता पुत्रं न पुत्रः पितरं तथा । स्वानेवान्ये निजघ्नुर्वै परानन्ये च सुव्रत ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार शङ्कुकर्णका वाहन घोड़ा, हयग्रीवका हाथी और मय दानवका वाहन दिव्य रथ था। दुन्दुभिका वाहन विशाल नाग था। शम्बर विमानपर चढ़ा हुआ था तथा अय शङ्कु सिंहपर सवार था। गदा और मुसलधारी बलवान् बल और वृत्र पैदल थे, पर देवताओंकी सेनापर चढ़ाई करनेके लिये उद्यत थे। फिर अति भयङ्कर घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। नारदजी! समस्त लोक पीली धूलसे ढक गया, जिससे पिता पुत्रको और पुत्र पिताको भी परस्पर एक-दूसरेको पहचान नहीं पाते थे। सुव्रत! कुछ लोग अपने ही पक्षके लोगोंको तथा कुछ लोग विरोधी पक्षके लोगोंको मारने लगे ॥ २९—३२ ॥

अभिद्रुतो महावेगो रथोपरि रथस्तदा । गजो मत्तगजेन्द्रं च सादी सादिनमभ्यगात् ॥ ३३ ॥
पदातिरपि संक्रुद्धः पदातिनमथोल्बणम् । परस्परं तु प्रत्यघ्नन्नन्योन्यजयकाङ्क्षिणः ॥ ३४ ॥
ततस्तु संकुले तस्मिन् युद्धे दैवासुरे मुने । प्रावर्तत नदी घोरा शमयन्ती रणाद्रजः ॥ ३५ ॥
शोणितोदा रथावर्ता योधसंघट्टवाहिनी । गजकुम्भमहाकूर्मा शरमीना दुरत्यया ॥ ३६ ॥

उस युद्धमें रथके ऊपर रथ और हाथीके ऊपर हाथी टूट पड़े तथा घुड़सवार घुड़सवारोंकी ओर वेगसे आक्रमण करने लगे। इसी प्रकार पादचारी (पैदल) सैनिक क्रुद्ध होकर अन्य बलशाली पैदलोंपर चढ़ बैठे। इस प्रकार एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे सभी परस्पर प्रहार करने लगे। मुने! उसके बाद देवताओं और असुरोंके उस घोर संग्राममें युद्धसे उत्पन्न धूलिको शान्त करती हुई रक्तरूपी जलधारावाली एवं रथरूपी भँवरवाली और योद्धाओंके समूहको बहा ले जानेवाली एवं गजकुम्भरूपी महान् कूर्म तथा शररूपी मीनसे युक्त बड़ी भारी नदी बह चली ॥ ३३—३६ ॥

तीक्ष्णाग्रप्रासमकरा महासिग्राहवाहिनी । अन्त्रशैवालसंकीर्णा पताकाफेनमालिनी ॥ ३७ ॥
गृध्रकङ्कमहाहंसा श्येनचक्राह्वमण्डिता । वनवायसकादम्बा गोमायुश्वापदाकुला ॥ ३८ ॥
पिशाचमुनिसंकीर्णा दुस्तरा प्राकृतैर्जनैः । रथप्लवैः संतरन्तः शूरास्तां प्रजगाहिरे ॥ ३९ ॥
आगुल्फादवमज्जन्तः सूदयन्तः परस्परम् । समुत्तरन्ति वेगेन योधा जयधनेप्सवः ॥ ४० ॥

उस नदीमें तेज धारवाले प्रास (एक प्रकारका अस्त्र) ही मगर थे, बड़ी-बड़ी तलवारें ही ग्राह थीं, उसमें आँतें ही शैवाल, पताका ही फेन, गृध्र एवं कङ्क पक्षी महाहंस, बाज ही चक्रवाक और कौवे ही मानो कलहंस थे। यह नदी शृगालरूपी हिंस्र पशु तथा पिशाचरूपी मुनियोंसे संकीर्ण थी और साधारण मनुष्योंसे दुस्तर थी। जयरूप धनकी इच्छावाले शूर योद्धा लोग घुट्ठीतक डूबते और एक दूसरेको मारते हुए रथरूपी नौकाओंद्वारा उस नदीको वेगसे पार कर रहे थे ॥ ३७—४० ॥

ततस्तु रौद्रे सुरदैत्यसादने महाहवे भीरुभयंकरे च ।
रक्षांसि यक्षाश्च सुसंप्रहृष्टाः पिशाचयूथास्त्वभिरेमिरे च ॥ ४१ ॥
पिबन्त्यसृग्गाढतरं भटानामालिङ्ग्य मांसानि च भक्षयन्ति ।
वसां विलुम्पन्ति च विस्फुरन्ति गर्जन्त्यथान्योन्यमथो वयांसि ॥ ४२ ॥
मुञ्चन्ति फेत्कारवाञ्छिवाश्च क्रन्दन्ति योधा भुवि वेदनार्ताः ।
शस्त्रप्रतप्ता निपतन्ति चान्ये युद्धं श्मशानप्रतिमं बभूव ॥ ४३ ॥
तस्मिञ्छिवाघोररवे प्रवृत्ते सुरासुराणां सुभयंकरे ह ।
युद्धं बभौ प्राणपणोपविद्धं द्वन्द्वेऽतिशस्त्रास्त्रगतो दुरोदरः ॥ ४४ ॥

यह युद्ध डरपोकोंके लिये भयावना, देवों एवं दैत्योंका संहार करनेवाला तथा वस्तुतः अत्यन्त भयंकर था। उसमें यक्ष और राक्षस लोग अत्यन्त आनन्दित हो रहे थे। पिशाचोंका समूह भी प्रसन्न था। वे वीरोंके गाढ़े रुधिरका पान करते थे तथा (उनके शवोंका) आलिंगन कर मांसका भक्षण करते थे। पक्षी चर्बीको नोचते और उछलते थे एवं एक दूसरेके प्रति गर्जन करते थे। सियारिनें 'फेत्कार' शब्द कर रही थीं, भूमिपर पड़े हुए वेदनासे दुःखी योद्धा कराह रहे थे। कुछ लोग शस्त्रसे आहत होकर गिर रहे थे। युद्धभूमि मरघटके समान हो गयी थी। सियारिनोंके भयंकर शब्दसे युक्त देवासुर-संग्राम ऐसा लगता था, मानो युद्धमें निपुण योद्धालोग शस्त्ररूपी पाशा लेकर अपने प्राणोंकी बाजी लगाते हुए जुआ खेल रहे हैं ॥ ४१—४४ ॥

हिरण्यचक्षुस्तनयो रणेऽन्धको रथे स्थितो वाजिसहस्रयोजिते ।
मत्तेभपृष्ठस्थितमुग्रतेजसं समेयिवान् देवपतिं शतक्रतुम् ॥ ४५ ॥
समापतन्तं महिषाधिरूढं यमं प्रतीच्छद् बलवान् दितीशः ।
प्रह्लादनामा तुरगाष्टयुक्तं रथं समास्थाय समुद्यतास्त्रः ॥ ४६ ॥
विरोचनश्चापि जलेश्वरं त्वगाज्जम्भस्त्वथागाद् धनदं बलाढ्यम् ।
वायुं समभ्येत्य च शम्बरोऽथ मयो हुताशं युयुधे मुनीन्द्र ॥ ४७ ॥
अन्ये हयग्रीवमुखा महाबला दितेस्तनूजा दनुपुङ्गवाश्च ।
सुरान् हुताशार्कवसूरगेश्वरान् द्वन्द्वं समासाद्य महाबलान्विताः ॥ ४८ ॥

हिरण्याक्षका पुत्र अंधक हजारों घोड़ोंसे युक्त रथपर आरूढ़ होकर मतवाले हाथीकी पीठपर स्थित महातेजस्वी देवराज इन्द्रके साथ जा भिड़ा। इधर आठ घोड़ोंसे युक्त रथपर आरूढ़ अस्त्र उठाये बलवान् दैत्यराज प्रह्लादने महिषपर सवार यमराजका सामना किया। नारदजी! उधर विरोचन वरुणदेवसे युद्ध करनेके लिये आगे बढ़ा तथा जम्भ बलशाली कुबेरकी ओर चला। शम्बर वायुदेवताके सामने जा खड़ा हुआ एवं मय अग्निके साथ युद्ध करने लगा। हयग्रीव आदि अन्यान्य महाबलवान् दैत्य तथा दानव अग्नि, सूर्य, अष्ट वसुओं तथा शेषनाग आदि देवताओंके साथ द्वन्द्व युद्ध करने लगे ॥ ४५—४८ ॥

गर्जन्त्यथान्योन्यमुपेत्य युद्धे चापानि कर्षन्त्यतिवेगिताश्च ।
मुञ्चन्ति नाराचगणान् सहस्रश आगच्छ हे तिष्ठसि किं ब्रुवन्तः ॥ ४९ ॥
शरैस्तु तीक्ष्णैरतितापयन्तः शस्त्रैरमोघैरभिताडयन्तः ।
मन्दाकिनीवेगनिभां वहन्तीं प्रवर्तयन्तो भयदां नदीं च ॥ ५० ॥
त्रैलोक्यमाकाङ्क्षिभिरुग्रवेगैः सुरासुरैर्नारद संप्रयुद्धे ।
पिशाचरक्षोगणपुष्टिवर्धनीमुत्तर्तुमिच्छद्भिरसृग्नदी बभौ ॥ ५१ ॥
वाद्यन्ति तूर्याणि सुरासुराणां पश्यन्ति खस्था मुनिसिद्धसंघाः ।
नयन्ति तानप्सरसां गणाग्र्या हता रणे येऽभिमुखास्तु शूराः ॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

वे एक-दूसरेके साथ युद्ध करते हुए भीषण गर्जन कर रहे थे। वे वेगपूर्वक धनुष चढ़ा करके हजारों बाणोंकी झड़ी लगाकर कहने लगे—अरे! आओ, आओ, रुक क्यों गये? तेज बाणोंकी वर्षा करते हुए तथा अमोघ शस्त्रोंसे प्रहार करते हुए उन लोगोंने गङ्गाके समान तीव्र वेगसे प्रवाहित होनेवाली, (किंतु) भयंकर नदीको प्रवर्तित कर दिया। नारदजी! उस युद्धमें तीनों लोकोंको चाहनेवाले उग्रवेगवाले देवता

ततस्त गद्याभ्येत्य पातयित्वा धरानले । अभिद्रुत्य बबन्धाय पाशैमत्तगज बली ॥२७॥
तान् पाशानथा चमे वेगाच दनुजेश्वर । वरुण च समभ्येत्य मध्ये जग्राह नारद ॥२८॥

वरुणदेव सूँसपर स्थित थे । वे प्रबल असुरोंको अपने पाशोंसे बाँधकर गदाद्वारा विदीर्ण करने लगे। इसपर विरोचनने उनका सामना किया । उसने वज्रतुल्य तोमर, शक्ति, बाण, मुद्गर और कणपों-(भल्लों)से वरुणदेवपर प्रहार किया । इसपर वरुणने उसके निकट जाकर गदासे मारकर उन्हें पृथ्वीपर गिरा दिया । फि दौड़कर उन्होंने पाशोंसे उसके मतवाले हाथीको बाँध लिया । पर असुरने तुरन्त ही उन पाशोंके वेगसे टुकड़े कर दिये । नारदजी ! इतना ही नहीं, उसने वरुणके निकट जाकर उनकी कमर भी पकड़ ली ॥२५–२८॥

ततो दन्ती च शृङ्गाभ्यां प्रतिचिक्षेप मदाऽव्ययम् । ममर्द च तथा पद्भ्यां सवाहं सलिलेश्वरम् ॥२९॥
स मर्द्यमानं प्रसमीक्ष्य शशाङ्कः शिशिरांशुमान् । अभ्येत्य ताडयामास मार्गणैः कायदारणैः ॥३०॥

स ताड्यमानः शिशिरांशुबाणैस्ताप पीडां परमां गजेन्द्रः ।
कुम्भ वेगात् पयसामधीशं मुहुर्मुहुः पादतलैर्ममर्द ॥ ३१ ॥
स मृद्यमानो वरुणो गजेन्द्रं पद्भ्यां सुगाढं जगृहे महर्षे ।
पादेषु भूमिं करयोः स्पृशन् मूर्धानमुल्लाल्य बलान्महात्मा ॥ ३२ ॥
गृह्याङ्गुलीभिश्च गजस्य पुच्छं छित्वेद बन्ध भुजगेश्वरेण ।
उत्पाट्य चिक्षेप विरोचनं हि सकुञ्जरं खे सनियन्तृपादम् ॥ ३३ ॥

उस हाथीने भी अपने प्रबल दाँतोंसे वरुणको उठाकर फेंक दिया । साथ ही वह वाहनसहित वरुणको अपने पैरोंसे कुचलने लगा । यह देख शीतकिरण चन्द्रमाने हाथीके पास पहुँचकर अपने तेज नुकीले बाणोंसे उसके शरीरको विदीर्ण कर दिया । चन्द्रमाके बाणोंसे विद्ध होनेपर असुरके हाथीको अत्यधिक पीड़ा हुई । वह अपने पैरोंसे वरुणको तेजीसे बार-बार कुचलने लगा । नारदजी ! वरुणदेवने भी हाथीके दोनों पैरोंको [illegible] पकड़ लिया एवं अपने हाथों तथा पैरोंसे भूमिका स्पर्श करते हुए मस्तक उठाकर बलपूर्वक अङ्गुलियोंसे उस हाथीकी पूँछ पकड़ ली और सर्पराज वासुकिसे विरोचनको बाँधकर उसे हाथी और नियन्ताके सहित उठाकर आकाशमें फेंक दिया ॥ ३०–३३ ॥

क्षिप्तो जलेशेन विरोचनस्तु सकुञ्जरो भूमितले पपात ।
यथाऽद्रिशृङ्गं पवनेन भग्नं पुरं सुकेशेरिव भास्करेण ॥ ३४ ॥
ततो जलेशः सगदः सपाशः समभ्यधावद् दितिजं निहन्तुम् ।
ततः समास्थाय ... [illegible] दैत्यैर्जनगाधतुल्यम् ॥ ३ ॥
हा हा हतोऽस्मी [illegible] वीरो विरोचनो दानवसैन्यपालः ।
प्रह्लाद हे जम्भकुजम्भकाद्याः [illegible] ॥ ३६ ॥
महा महात्मा [illegible] जलेशः [illegible] दैत्यभटं सयानम् ।
पाशेन बद्ध्वा गदया निहन्ति यथा पशुं वाजिमखे महेन्द्रः ॥ ३७ ॥
श्रुत्वाथ शब्दं दितिजैः समीरितं जम्भप्रधाना दितिजेश्वरास्ततः ।
समभ्यधावंस्त्वरिता जलेश्वरं यथा पतङ्गा ज्वलितं हुताशनम् ॥ ३८ ॥

—[illegible] महाभारत तथा दशकुमारचरित [illegible] ।

७

वरुणद्वारा फेंका गया विरोचन आकाशसे हाथीसहित पृथ्वीपर इस प्रकार आ गिरा, जैसे सूर्यद्वारा पहले
केशी दैत्यका नगर अट्टालिकाओं, यन्त्रों, अर्गलाओं एवं महलोंके सहित पृथ्वीपर गिराया गया था। उसके बाद वरुण
दा और पाश लेकर दैत्यको मारनेके लिये दौड़े। अब दैत्यलोग मेघ-गर्जन-जैसे जोर-जोरसे रोने लगे—हाय!
हाय! राक्षस-सेनाके रक्षक वीर विरोचन वरुणद्वारा मारे जा रहे हैं। हे प्रह्लाद! हे जम्भ! हे कुजम्भ! तुम
सभी अन्धकके साथ आकर (उन्हें) बचाओ। हाय! बलवान् वरुण दैत्यवीर विरोचनको वाहनसहित चूर्ण करते
हुए उन्हें पाशमें बाँधकर गदासे इस प्रकार मार रहे हैं, जैसे अश्वमेध यज्ञमें इन्द्र पशुको मारते हैं। दैत्योंके
नको सुनकर जम्भ आदि प्रमुख दैत्यगण वरुणकी ओर शीघ्रतासे ऐसे दौड़े जैसे पतंग प्रज्वलित अग्निकी
ोर दौड़ते हैं॥ ३४—३८॥

तानागतान् वै प्रसमीक्ष्य देव प्राह्लादिमुत्सृज्य वितत्य पाशम्।
गदां समुद्भ्राम्य जलेश्वरस्तु दुद्राव ताञ्जम्भमुखानरातीन्॥ ३९॥
जम्भं च पाशेन तथा निहत्य तारं तलेनाशनिसंनिभेन।
पादेन वृत्रं तरसा कुजम्भं निपातयामास बलं च मुष्ट्या॥ ४०॥
तेनार्दिता देववरेण दैत्याः समाद्रवन् दिक्षु विमुक्तशस्त्राः।
ततोऽन्धकः स त्वरितोऽभ्युपेयाद् रणाय योद्धुं जलनायकेन॥ ४१॥
समापतन्तं गदया जघान पाशेन बद्ध्वा वरुणो सुरेशम्।
स पाशमाविध्य गदां प्रगृह्य चिक्षेप दैत्यः स जलेश्वराय॥ ४२॥

इन दैत्योंको आया देख वरुण प्रह्लाद-पुत्र-(विरोचन)को छोड़ करके पाश फैलाकर और गदा घुमाकर
न जम्भप्रभृति शत्रुओंकी ओर दौड़े। उन्होंने जम्भको पाशसे, तार-दैत्यको वज्र-तुल्य करतलके प्रहारसे, वृत्रा
सुरको पैरोंसे, कुजम्भको अपने वेगसे और बल नामक असुरको मुक्केसे मारकर गिरा दिया। देवप्रवर! वरुणद्वारा
मर्दित दैत्य अपने अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़कर दसों दिशाओंमें भागने लगे। उसके बाद अन्धक वरुणदेवके साथ युद्ध
करनेके लिये बड़ी तेजीसे उनके पास पहुँचा। अपनी ओर आते देख वरुणने उस दैत्यनायक अन्धकको अपने
पाशसे बाँधकर गदासे मारा, किंतु दैत्यने उस पाश और गदाको छीनकर वरुणपर ही फेंक दिया॥ ३९—४२॥

समापतन्तं प्रसमीक्ष्य पाशं गदां च दाक्षायणिनन्दनस्तु।
विवेश वेगात् पयसा निधानं ततोऽन्धको देवबलं ममर्द॥ ४३॥
ततो हुताशः पवनावधूतः रोषात् ददाह सुरशत्रुसैन्यम् महावाहुरुग्रवीर्यः॥ ४४॥
समभ्ययाद् दानवविश्वकर्मा मयो बली पवनेन सार्धम्।
समापतन्तं सह शम्बरेण समीक्ष्य वह्निर्जग्राह बलान्महर्षे॥ ४५॥
शक्त्या मयं शम्बरमेत्य कण्ठे सताड्य सभिन्नदेहो न्यपतत् पृथिव्याम्।
शक्त्या स कायावरणे विदारिते प्रदीप्ते॥ ४६॥
मयं प्रजज्वाल च शम्बरोऽपि कण्ठावलग्ने ज्वलने सुविस्वरं घोरतरं रुराव।
स दह्यमानो दितिजोऽग्निनाथ वेदनार्तः॥ ४७॥
सिंहाभिपन्नो विपिने यथैव मत्तो गजः क्रन्दति

उस पाश और गदाको अपनी ओर आते देखकर दाक्षायणीके पुत्र वरुण शीघ्रतासे समुद्रमें पैठ गये
तब अन्धक देवसेनाका मर्दन करने लगा। उसके बाद पवनद्वारा प्रज्वलित अग्निदेव क्रोधपूर्वक असुरोंकी सेना

तान्ति अग्निदेव भयभीत हो रणक्षेत्रसे भाग गये। उसके बाद पराक्रमी अन्धक वायु, चन्द्र, सूर्य, साध्य, रुद्र, अश्विनीकुमार, वसु और महानागोंमें जिन जिनको बाणसे स्पर्श करता था, वे सभी युद्धभूमिसे पराङ्मुख हो जाते थे। इस प्रकार इन्द्र, रुद्र यम, सोमसहित दैवताओंकी उग्र सेनाको जीतकर अन्धक श्रेष्ठ दानवोंद्वारा पूजित होकर पृथ्वीपर आ गया। वहाँ वह बुद्धिमान् दैत्य सभी राजाओंको अपना करद (सामन्त) बना करके तथा समस्त चराचर जगत्को वशमें कर पातालमें स्थित अपने अश्मक नामक उत्तम नगरमें चला गया। वहाँ उस महासुर अन्धककी सेवा करनेके लिये अप्सराओंके साथ सभी प्रमुख गन्धर्व, विद्याधर एवं सिद्धोंके समूह पातालमें आकर निवास करने लगे ॥ ५२–५७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

[अथैकादशोऽध्याय]

नारद उवाच

यदेतद् भवता प्रोक्तं सुकेशिनगरोऽम्बरात्। पातितो भुवि सूर्येण तत्कदा कुत्र कुत्र च ॥ १ ॥
सुकेशीति च कश्चासौ केन दत्तं पुरोऽस्य च। किमर्थं पातितो भूम्यामाकाशाद् भास्करेण हि ॥ २ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सुकेशिकी कथा, मगधारण्यमें ऋषियोंसे प्रश्न करना, ऋषियोंका धर्मोपदेश, देशादिक धर्म, भुवनकोश एवं इक्कीस नरकोंका वर्णन)

नारदजीने (पुलस्त्यजीसे) पूछा—आपने जो यह कहा है कि सूर्यने सुकेशीके नगरको आकाशसे पृथ्वीपर गिरा दिया था तो यह घटना कब और कहाँ हुई थी? सुकेशी नामका वह कौन व्यक्ति था? उसे वह नगर किसने दिया था और भगवान् सूर्यने उसे आकाशसे पृथ्वीपर क्यों गिरा दिया? ॥ १-२ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्वावहितो भूत्वा कथामेतां पुरातनीम्। यथोक्तवान् स्वयम्भूर्मां कथ्यमानां मयाऽनघ ॥ ३ ॥
आसीन्निशाचरपतिर्विद्युत्केशीति विश्रुतः। तस्य पुत्रो गुणज्येष्ठः सुकेशिरभवत्ततः ॥ ४ ॥
तस्य तुष्टस्तथेशानः पुरमाकाशचारिणम्। प्रादादजेयत्वमपि शत्रुभिश्चाप्यवध्यताम् ॥ ५ ॥
स चापि शंकरात् प्राप्य वरं गगनगं पुरम्। रेमे निशाचरैः सार्द्धं सदा धर्मपथि स्थितः ॥ ६ ॥
स कदाचिद् गतोऽरण्यं मागधं राक्षसेश्वरः। तत्राश्रमांस्तु ददृशे ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥ ७ ॥
महर्षीन् स तदा दृष्ट्वा प्रणिपत्याभिवाद्य च। प्रत्युवाच ऋषीन् सर्वान् कृतासनपरिग्रहः ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—निष्पाप नारदजी! यह कथा बहुत पुरानी है, आप इसे सावधानीसे सुनिये। ब्रह्माजीने जैसे यह कथा मुझे सुनायी थी, वैसे ही इसे मैं आपको सुना रहा हूँ। पहले विद्युत्केशी नामसे प्रसिद्ध राक्षसोंका एक राजा था। उसका पुत्र सुकेशी गुणोंमें उससे भी बढ़कर था। उसपर प्रसन्न होकर शिवजीने उसे एक आकाशचारी नगर और शत्रुओंसे अजेय एवं अवध्य होनेका वर भी दिया। वह शंकरसे आकाशचारी श्रेष्ठ नगर पाकर राक्षसोंके साथ सदा धर्मपथपर रहते हुए विचरने लगा। एक समय मगधारण्यमें जाकर उस राक्षसराजने वहाँ ध्यानपरायण ऋषियोंके आश्रमोंको देखा। उस समय ... देखकर अभिवादन और प्रणाम किया। फिर एक जगह बैठकर उसने समस्त ऋषियोंसे कहा—॥ ३–८ ॥

ब्रह्मचर्यं यताशित्वं जप्यं ज्ञानं च राक्षस। नियमाद्धर्मवेदित्वमार्षो धर्मः प्रचक्ष्यते ॥ २२ ॥
स्वाध्यायं ब्रह्मचर्यं च दानं यजनमेव च। अकार्पण्यमनायासं दया हिंसा क्षमा दमः ॥ २३ ॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च माङ्गल्यं भक्तिरच्युते। शङ्करे भास्करे देव्यां धर्मोऽयं मानवः स्मृतः ॥ २४ ॥

अद्भुत विद्याका धारण करना, विज्ञान, पुरुषार्थकी बुद्धि और भवानीके प्रति भक्ति—ये विद्याधरोंके धर्म हैं। गन्धर्वविद्याका ज्ञान, सूर्यके प्रति अटल भक्ति और सभी शिल्प-कलाओंमें कुशलता—ये किम्पुरुषोंके धर्म माने जाते हैं। ब्रह्मचर्य, अमानित्व (अभिमानसे बचना), योगाभ्यासमें दृढ़ प्रीति एवं सर्वत्र इच्छानुसार भ्रमण—ये पितरोंके धर्म कहलाते हैं। राक्षस! ब्रह्मचर्य, नियताहार, जप, आत्मज्ञान और नियमानुसार धर्मज्ञान—ये ऋषियोंके धर्म कहे जाते हैं। स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ, उदारता, विश्रान्ति, दया, अहिंसा, क्षमा, दम, जितेन्द्रियता, शौच, माङ्गल्य तथा विष्णु, शिव, सूर्य और दुर्गा देवोंमें भक्ति—ये मानवोंके (सामान्य) धर्म हैं ॥ १९—२४ ॥

धनाधिपत्यं भोगानि स्वाध्यायं शङ्करार्चनम्। अहङ्कारमशौण्डीर्यं धर्मोऽयं गुह्यकेष्विति ॥ २५ ॥
परदारावमर्शित्वं पारक्येऽर्थे च लोलुता। स्वाध्यायस्त्र्यम्बके भक्तिर्धर्मोऽयं राक्षसः स्मृतः ॥ २६ ॥
अविवेकमथाज्ञानं शौचहानिरसत्यता। पिशाचानामयं धर्मः सदा चामिषगृध्नुता ॥ २७ ॥
योनयो द्वादशैवैतास्तासु धर्माश्च राक्षस। ब्रह्मणा कथिताः पुण्या द्वादशैव गतिप्रदाः ॥ २८ ॥

धनका स्वामित्व, भोग, स्वाध्याय, शिवजीकी पूजा, अहङ्कार और सौम्यता—ये गुह्योंके धर्म हैं। परस्त्रीगमन, दूसरेके धनमें लोलुपता, वेदाध्ययन और शिवभक्ति—ये राक्षसोंके धर्म कहे गये हैं। अविवेक, अज्ञान, अपवित्रता, असत्यता एवं सदा मांस-भक्षणकी प्रवृत्ति—ये पिशाचोंके धर्म हैं। राक्षस! ये ही बारह योनियाँ हैं। पितामह ब्रह्माने उनके ये बारह गति देनेवाले धर्म कहे हैं ॥ २५–२८ ॥

सुकेशिरुवाच

भवद्भिरुक्ता ये धर्माः शाश्वता द्वादशाव्ययाः। तत्र ये मानवा धर्मास्तान् भूयो वक्तुमर्हथ ॥ २९ ॥

सुकेशिने कहा—आपलोगोंने जो शाश्वत एवं अव्यय बारह धर्म बताये हैं, उनमें मनुष्योंके धर्मोंको एक बार पुनः कहनेकी कृपा करें ॥ २९ ॥

ऋषय ऊचुः

शृणुष्व मनुजादीनां धर्मांस्तु क्षणदाचर। ये वसन्ति महापृथ्व्यां नरा द्वीपेषु सप्तसु ॥ ३० ॥
योजनानां प्रमाणेन पञ्चाशत्कोटिरायता। जलोपरि महीयं हि नौरिवास्ते सरिज्जले ॥ ३१ ॥
तस्योपरि च देवेशो ब्रह्मा शैलेन्द्रमुत्तमम्। कर्णिकाकारमत्युच्चं स्थापयामास सत्तम ॥ ३२ ॥
तस्येमां निर्ममे पुण्यां प्रजां देवश्चतुर्दिशम्। स्थानानि द्वीपसंज्ञानि कृतवांश्च प्रजापतिः ॥ ३३ ॥

ऋषियोंने कहा—निशाचर! पृथ्वीके सात द्वीपोंमें निवास करनेवाले मनुष्य आदिके धर्मोंको सुनो। यह पृथ्वी पचास करोड़ योजन विस्तारवाली है और यह नदीमें नावके समान जलपर स्थित है। सज्जनश्रेष्ठ! उसके ऊपर देवेश ब्रह्माने कर्णिकाके आकारवाले अत्यन्त ऊँचे सुमेरुगिरिको स्थापित किया है। फिर उसपर ब्रह्माने चारों दिशाओंमें पवित्र प्रजाकी निर्माण किया और द्वीप-नामवाले अनेक स्थानोंकी भी रचना की है ॥ ३०–३३ ॥

तत्र मध्ये च कृतवाञ्जम्बूद्वीपमिति श्रुतम्। तल्लक्षं योजनानां च प्रमाणेन निगद्यते ॥ ३४ ॥
ततो जलनिधी रौद्रो बाह्यतो द्विगुणः स्थितः। तस्यापि द्विगुणः प्लक्षो बाह्यतः सम्प्रतिष्ठितः ॥ ३५

ऋषय ऊचुः

तस्मिन् निशाचर द्वीपे नरकाः सन्ति दारुणाः । रौरवाद्यास्ततो रौद्रं पुष्करो घोरदर्शनः ॥४८॥

ऋषियोंने कहा—निशाचर ! उस द्वीपमें रौरव आदि भयानक नरक हैं । इसीसे पुष्करद्वीप देखनेमें बड़ा भयकर है ॥ ४८ ॥

सुकेशिरुवाच

कियन्त्येतानि रौद्राणि नरकाणि तपोधनाः । कियन्मात्राणि मार्गेण का च तेषु स्वरूपता ॥ ४९ ॥

सुकेशिने पूछा—तपस्विगण ! वे रौद्र नरक कितने हैं ? उनका माग कितना है ? उनका स्वरूप कैसा है ? ॥ ५० ॥

ऋषय ऊचुः

शृणुष्व राक्षसश्रेष्ठ प्रमाणं लक्षणं तथा । सर्वेषां रौरवादीनां संख्या या त्वेकविंशतिः ॥ ५० ॥
द्वे सहस्रे योजनानां ज्वलिताङ्गारविस्तृते । रौरवो नाम नरकः प्रथमः परिकीर्तितः ॥ ५१ ॥
तप्तताम्रमयी भूमिरधस्ताद्वह्नितापिता । द्वितीयो द्विगुणस्तस्मान्महारौरव उच्यते ॥ ५२ ॥
ततोऽपि द्विगुणश्चान्यस्तामिस्रो नरकः स्मृतः । अन्धतामिस्रको नाम चतुर्थो द्विगुणः परः ॥ ५३ ॥
ततस्तु कालचक्रेति पञ्चमः परिगीयते । अप्रतिष्ठं च नरकं घटीयन्त्रं च सप्तमम् ॥ ५४ ॥

ऋषियोंने कहा—राक्षसश्रेष्ठ ! उन समस्त रौरव आदि नरकोंका लक्षण और प्रमाण सुनो, जिन (मुख्य नरकों)की संख्या इक्कीस है । उनमें प्रथम रौरव नरक कहा जाता है । वह दो हजार योजन विस्तृत एवं प्रज्वलित अङ्गारमय है । उससे द्विगुणित महारौरव नामक द्वितीय नरक है । उसकी भूमि जलते हुए ताँबेसे बनी है, जो नीचेसे अग्निद्वारा तापित होती रहती है । उससे द्विगुणित विस्तृत तीसरा तामिस्र नामक नरक कहा जाता है । उससे द्विगुणित अन्धतामिस्र नामक चतुर्थ नरक है । उसके बाद पञ्चम नरकको कालचक्र कहते हैं । अप्रतिष्ठ नामक नरक षष्ठ और घटीयन्त्र सप्तम है ॥ ५०–५४ ॥

असिपत्रवनं चान्यत्सहस्राणि द्विसप्ततिः । योजनानां परिख्यातमष्टमं नरकोत्तमम् ॥ ५५ ॥
नवमं तप्तकुम्भं च दशमं कूटशाल्मलिः । करपत्रस्तथैवोक्तस्तथाऽन्यः श्वानभोजनः ॥ ५६ ॥
संदंशो लोहपिण्डश्च करम्भसिकता तथा ।
घोरा क्षारनदी चान्या तथान्यः कृमिभोजनः । तथाऽष्टादशमी प्रोक्ता घोरा वैतरणी नदी ॥ ५७ ॥
तथा परः शोणितपूयभोजनः क्षुराग्रधारो निशितश्च चक्रकः ।
संशोषणो नाम तथाप्यनन्तः प्रोक्तास्तवैते नरकाः सुकेशिन् ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

नरकोंमें श्रेष्ठ असिपत्रवन नामक आठवाँ नरक बहत्तर हजार योजन विस्तृत कहा जाता है । नवाँ तप्तकुम्भ, दसवाँ कूटशाल्मलि, ग्यारहवाँ करपत्र और बारहवाँ नरक श्वानभोजन है । उसके बाद क्रमशः संदंश, लोहपिण्ड, करम्भसिकता, भयंकर क्षार नदी, कृमिभोजन और अठारहवेंको घोर वैतरणी नदी कहा जाता है । इनके अतिरिक्त शोणित-पूयभोजन, क्षुराग्रधार, निशितचक्रक तथा संशोषण नामक अनन्त नरक हैं । सुकेशिन् ! हमलोगोंने तुमसे इन नरकोंका वर्णन कर दिया ॥ ५५–५८ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

दुग्धाद्यपूपनियास भुञ्जते स्वधमा इमे । सूचीमुखाश्च जायन्ते क्षुधार्त्ता गिरिविग्रहा ॥१३॥
एकपङ्क्त्युपविष्टाना विषम भोजयन्ति ये । विड्भोजन राक्षसेन्द्र नरक ते व्रजन्ति च ॥१४॥

जो उद्धत लड़के अपने माता पिता एव गुरुकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, वे पीव, विष्ठा एव मूत्रसे पूर्ण अप्रतिष्ठ नामक नरकमें नीचेकी ओर मुँह कर डुबाये जाते हैं। जो देवता, अतिथि, अन्य प्राणी, सेवक, बाहरसे आये व्यक्ति, बालक, पिता, अग्नि एव माताओंको बिना भोजन कराये पहले ही खा लेते हैं, वे अधम पुरुष पर्वततुल्य शरीर एव सूची-सदृश मुखवाले होकर भूखसे व्याकुल रहते हुए दूषित रक्त एव पीवका सार भक्षण करते हैं। हे राक्षसराज ! एक ही पङ्क्तिमें बैठे हुए लोगोंको जो समानरूपसे भोजन नहीं कराते, वे विड्भोजन नामक नरकमें जाते हैं ॥ ११-१४ ॥

एक सार्थप्रयात य पश्यन्तश्चार्थिन नरा । असविभज्य भुञ्जन्ति ते यान्ति श्लेष्मभोजनम्॥ १५ ॥
गोब्राह्मणाग्नय स्पृष्टा यैरुच्छिष्टै क्षपाचर । क्षिप्यन्ते हि करास्तेषा तप्तकुम्भे सुदारुणे ॥ १६ ॥
सूर्येन्दुतारका दृष्टा यैरुच्छिष्टैश्च कामत । तेषा नेत्रगतो वह्निर्धम्यते यमकिंकरै ॥ १७ ॥
मित्रजायाथ जननी ज्येष्ठो भ्राता पिता स्वसा । जामयो गुरवो वृद्धा यै सस्पृष्टा पदा नृभि ॥ १८ ॥
बद्धाङ्घ्रयस्ते निगडैर्लोहैर्वह्निप्रतापितै । क्षिप्यन्ते रौरवे घोरे ह्याजानुपरिदाहिन ॥ १९ ॥

जो लोग एक साथ चलनेवाले किसी बहुत तीव्र चाहवालेको देखते हुए भी उसे अन्न नहीं देते—अकेले भोजन करते हैं, वे श्लेष्मभोजन नामक नरकमें जाते हैं। हे राक्षस ! जो उच्छिष्टावस्थामें (जूठे रहते हुए) गाय, ब्राह्मण और अग्निको स्पर्श करते हैं, उनके हाथ भयकर तप्तकुम्भमें डाले जाते हैं। जो उच्छिष्टावस्थामें स्वेच्छासे सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रको देखते हैं, उनके नेत्रोंमें यमदूत अग्नि जलाते हैं। जो मित्रकी पत्नी, माता, जेठ भाई, पिता, बहन, पुत्री, गुरु और वृद्धोंको पैरसे छूते हैं, उन मनुष्योंके पैर खूब जलती हुई बेड़ीसे बाँधकर उन्हें रौरव-नरकमें डाला जाता है, जहाँ वे घुटनोंतक जलते रहते हैं ॥ १५-१९ ॥

पायस कृशर मास वृथा भुक्तानि यैर्नरै । तेषामयोगुडास्तप्ता क्षिप्यन्ते वदनेऽद्भुता ॥ २० ॥
गुरुदेवद्विजातीना वेदाना च नराधमै । निन्दा निशामिता यैस्तु पापानामिति कुर्वताम्॥ २१ ॥
तेषा लोहमया कीला वह्निवर्णा पुन पुन । श्रवणेषु निखन्यन्ते धर्मराजस्य किंकरै ॥ २२ ॥
प्रपादेवकुलारामान् विप्रवेश्मसभामठान् । कूपवापीतडागाश्च भङ्क्त्वा विध्वसयन्ति ये ॥ २३ ॥
तेषा विलपता चर्म देहत क्रियते पृथक् । कर्त्तिकाभि सुतीक्ष्णाभि सुरौद्रैर्यमकिंकरै ॥ २४ ॥

जो बिना विशेष प्रयोजनके—खीर, खिचड़ी एव मांसका भोजन करते हैं, उनके मुँहमें जलता हुआ लोहेका पिण्ड डाला जाता है। जो पापियोंद्वारा की गयी गुरु, देवता, ब्राह्मण और वेदोंकी निन्दाको सुनते हैं, उन नीच मनुष्योंके कानोंमें धर्मराजके किंकर अग्निवर्ण लोहेकी कीलें बार-बार ठोंकते रहते हैं। जो प्याऊ (पौसार), देवमन्दिर, बगीचा, ब्राह्मणगृह, सभा, मठ, कुआँ, बावली एव तडागको तोड़कर नष्ट करते हैं, उन मनुष्योंके विलाप करते रहनेपर भी भयकर यमकिंकर सुतीक्ष्ण छुरिकाओंद्वारा उनकी चमड़ी उधेड़ते हैं—उनकी देहसे चर्मको काटकर पृथक् करते रहते हैं ॥ २०-२४ ॥

गोब्राह्मणार्कमग्निं च ये वै मेहन्ति मानवा । तेषां गुदेन चान्त्राणि विनिष्कृन्तन्ति वायसा ॥ २५ ॥
स्वपोषणपरो यस्तु परित्यजति मानव । पुत्रभृत्यकलत्रादिबन्धुवर्गमकिंचनम् ।
दुर्भिक्षे सभ्रमे चापि स श्वभोज्ये निपात्यते ॥ २६ ॥

राक्षस ! जो पीठपीछे शिकायत करते हैं—चुगली करते एवं घूस लेते हैं, उन्हें वृकभक्ष नामक नरकमें डाला जाता है। इसी प्रकार सोना चुरानेवाले, ब्रह्मघ्यारे, मद्यपी, गुरुपत्नीगामी, गाय तथा भूमिकी चोरी करनेवाले एवं स्त्री तथा बालकको मारनेवाले मनुष्यों तथा गो, सोम एवं वेदका विक्रय करनेवाले, दम्भी, टेढ़ी मायामें झूठी गवाही देनेवाले तथा पवित्रताके आचरणको छोड़ देनेवाले और नित्य एवं नैमित्तिककर्मोंके नाश करनेवाले द्विजोंको महारौरव नामक नरकमें रहना पड़ता है ॥ ३७—४० ॥

दशवर्षसहस्राणि तावत् तामिस्रके स्थिताः। तावच्चैवान्धतामिस्रे असिपत्रवने ततः ॥ ४१ ॥
तावच्चैव घटीयन्त्रे तप्तकुम्भे ततः परम्। प्रपातो भवते तेषां यैरिदं दुष्कृतं कृतम् ॥ ४२ ॥
ये त्वेते नरका रौद्रा रौरवाद्यास्तवोदिताः। ते सर्वे क्रमशः प्रोक्ताः कृतघ्ने लोकनिन्दिते ॥ ४३ ॥

उपर्युक्त प्रकारके पापियोंको दस हजार वर्ष तामिस्र नरकमें तथा उतने ही वर्षतक अन्धतामिस्र और असिपत्रवन नामक नरकमें रहनेके बादमें भी उतने ही वर्षतक घटीयन्त्र और तप्तकुम्भमें रहना पड़ता है। जिन भयङ्कर रौरव आदि नरकोंका वर्णन हमने तुमसे किया है, वे सभी लोकनिन्दित कृतघ्नोंको बारी-बारीसे प्राप्त होते रहते हैं ॥ ४१—४३ ॥

यथा सुराणां प्रवरो जनार्दनो यथा गिरीणामपि शैशिराद्रिः।
यथा युधानां प्रवरं सुदर्शनं यथा खगानां विनतातनूजः ॥
महोरगाणां प्रवरोऽप्यनन्तो यथा च भूतेषु मही प्रधाना ॥ ४४ ॥
नदीषु गङ्गा जलजेषु पद्मं सुरारिमुख्येषु हराङ्घ्रिभक्तः।
क्षेत्रेषु यद्वत्कुरुजाङ्गलं वरं तीर्थेषु यद्वत् प्रवरं पृथूदकम् ॥ ४५ ॥
सरस्सु चैवोत्तरमानसं यथा वनेषु पुण्येषु हि नन्दनं यथा।
लोकेषु यद्वत्सदनं विरिञ्चेः सत्यं यथा धर्मविधिक्रियासु ॥ ४६ ॥
यथाश्वमेधः प्रवरः क्रतूनां पुत्रो यथा स्पर्शवतां वरिष्ठः।
तपोधनानामपि कुम्भयोनिः श्रुतिर्वरा यद्वदिहागमेषु ॥ ४७ ॥
मुख्यः पुराणेषु यथैव मात्स्यः स्वायम्भुवोक्तिस्त्वपि संहितासु।
मनुः स्मृतीनां प्रवरो यथैव तिथीषु दर्शो विषुवेषु दानम् ॥ ४८ ॥

जैसे देवताओंमें श्रीविष्णु, पर्वतोंमें हिमालय, अस्त्रोंमें सुदर्शन, पक्षियोंमें गरुड़, महान् सर्पोंमें अनन्तनाग तथा भूतोंमें पृथ्वी श्रेष्ठ हैं, नदियोंमें गङ्गा, जलमें उत्पन्न होनेवालोंमें कमल, देवशत्रु दैत्योंमें महादेवके चरणोंका भक्त और क्षेत्रोंमें जैसे कुरुजांगल और तीर्थोंमें पृथूदक हैं, जलाशयोंमें उत्तरमानस, पवित्र वनोंमें नन्दनवन, लोकोंमें ब्रह्मलोक, धर्मकार्योंमें सत्य प्रधान है तथा जैसे यज्ञोंमें अश्वमेध, छूनेयोग्य (स्पर्शसुख) पदार्थोंमें पुत्र सुखदायक है, तपस्वियोंमें अगस्त्य, आगम शास्त्रोंमें वेद श्रेष्ठ है, जैसे पुराणोंमें मत्स्यपुराण, संहिताओंमें स्वयम्भूसंहिता, स्मृतियोंमें मनुस्मृति, तिथियोंमें अमावस्या और विषुवों अर्थात् मेष और तुला राशिमें सूर्यके संक्रमण-सन्निधिके अवसरपर किया गया दान श्रेष्ठ होता है, ॥ ४४–४८ ॥

तेजस्विनां यद्वदिहार्क उक्तो ऋक्षेषु चन्द्रो जलधिर्ह्रदेषु।
भवान् यथा राक्षससत्तमेषु पाशेषु नागस्तिमितेषु बन्धः ॥ ४९ ॥

[अथ त्रयोदशोऽध्यायः]

सुकेशिरुवाच

भवद्भिरुदिता घोरा पुष्करद्वीपसंस्थितिः। जम्बूद्वीपस्य संस्थानं कथयन्तु महर्षयः ॥ १ ॥

तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सुकेशिके प्रश्नके उत्तरमें ऋषियोंका जम्बू द्वीपकी स्थिति और उसमें स्थित पर्वत तथा नदियोंका वर्णन)

सुकेशीने कहा—आदरणीय ऋषियो ! आपलोगोंने पुष्करद्वीपके भयंकर अवस्थानका वर्णन किया, अब आपलोग (कृपाकर) जम्बूद्वीपकी स्थितिका वर्णन करें ॥ १ ॥

ऋषय ऊचुः

जम्बूद्वीपस्य संस्थानं कथ्यमानं निशामय। नवभेदं सुविस्तीर्णं स्वर्गमोक्षफलप्रदम् ॥ २ ॥
मध्ये त्विलावृतो वर्षो भद्राश्वः पूर्वतोऽद्भुतः। पूर्वोत्तरतश्चापि हिरण्यो राक्षसेश्वर ॥ ३ ॥
पूर्वदक्षिणतश्चापि किंनरो वर्ष उच्यते। भारतो दक्षिणे प्रोक्तो हरिर्दक्षिणपश्चिमे ॥ ४ ॥
पश्चिमे केतुमालश्च रम्यकः पश्चिमोत्तरे। उत्तरे च कुरुवर्षः कल्पवृक्षसमावृतः ॥ ५ ॥

ऋषियोंने कहा—राक्षसेश्वर ! (अब) तुम हमलोगोंसे जम्बूद्वीपकी स्थितिका वर्णन सुनो। यह द्वीप अत्यन्त विशाल है और नव भागोंमें विभक्त है। यह स्वर्ग एवं मोक्ष-फलको देनेवाला है। जम्बूद्वीपके बीचमें इलावृत वर्ष, पूर्वमें अद्भुत भद्राश्ववर्ष तथा पूर्वोत्तरमें हिरण्यकवर्ष है। पूर्व-दक्षिणमें किंनरवर्ष, दक्षिणमें भारतवर्ष तथा दक्षिण-पश्चिममें हरिवर्ष बताया गया है। इसके पश्चिममें केतुमालवर्ष, पश्चिमोत्तरमें रम्यकवर्ष और उत्तरमें कल्पवृक्षसे समावृत कुरुवर्ष है ॥ २–५ ॥

पुण्या रम्या नवैवैते वर्षाः शाल्मलकण्टक। इलावृताद्या ये चाष्टौ वर्षमुक्त्वैव भारतम् ॥ ६ ॥
न तेष्वस्ति युगावस्था जरामृत्युभयं न च।
तेषां स्वाभाविकी सिद्धिः सुखप्राया ह्ययत्नतः। विपर्ययो न तेष्वस्ति नोत्तमाधममध्यमाः ॥ ७ ॥
यदेतद् भारतं वर्षं नवद्वीपं निशाचर। सागरान्तरिताः सर्वे अगम्याश्च परस्परम् ॥ ८ ॥
इन्द्रद्वीपः कसेरुमांस्ताम्रवर्णो गभस्तिमान्। नागद्वीपः कटाहश्च सिंहलो वारुणस्तथा ॥ ९ ॥
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः। कुमाराख्यः परिख्यातो द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः ॥ १० ॥

सुकेशि ! ये नव पवित्र और रमणीय वर्ष हैं। भारतवर्षके अतिरिक्त इलावृतादि आठ वर्षोंमें युगावस्था तथा जरामृत्युका भय नहीं होता। उन वर्षोंमें बिना प्रयत्नके स्वभावतः बड़ी बड़ी सिद्धियाँ मिलती हैं। उनमें उत्तम, मध्यम, अधम आदि किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है। निशाचर ! इस भारतवर्षके भी नव उपद्वीप हैं। ये सभी द्वीप समुद्रोंसे घिरे हैं और परस्पर अगम्य हैं। भारतवर्षके नव उपद्वीपोंके नाम इस प्रकार हैं—इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, कटाह, सिंहल और वारुण। नवाँ मुख्य यह कुमारद्वीप भारत सागरसे लगा हुआ दक्षिणसे उत्तरकी ओर फैला है। ॥ ६–१० ॥

पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्थिताः। आन्ध्रा दक्षिणतो वीर तुरुष्कास्त्वपि चोत्तरे ॥ ११ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्तरवासिनः। इज्यायुद्धवणिज्याद्यैः कर्मभिः कृतपावनाः ॥ १२ ॥
तेषां संव्यवहारश्च एभिः कर्मभिरिष्यते। स्वर्गापवर्गप्राप्तिश्च पुण्यं पापं तथैव च ॥ १३
महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः

गोदावरी भीमरथी कृष्णा वेणा सरस्वती। तुङ्गभद्रा सुप्रयोगा बाह्या कावेरिरेव च ॥ ३० ॥
दुग्धोदा नलिनी रेवा वारिसेना कलस्वना। एतास्त्वपि महानद्यः सह्यपादविनिर्गता ॥ ३१ ॥

शिवा, पयोष्णी (पैनगंगा), निर्विन्ध्या (काली सिंध), तापी, निषधावती, वेणा, वैतरणी, सिनीबाहु, कुमुद्वती, तोया, महागौरी, दुर्गन्धा तथा वाशिला—ये पवित्र जलवाली कल्याणकारिणी नदियाँ विन्ध्यपर्वतसे निकली हुई हैं। गोदावरी, भीमरथी, कृष्णा, वेणा, सरस्वती, तुङ्गभद्रा, सुप्रयोगा, बाह्या, कावेरी, दुग्धोदा, नलिनी, रेवा (नर्मदा), वारिसेना तथा कलस्वना—ये महानदियाँ सह्यपर्वतके पाद (नीचे)से निकलती हैं ॥ २८-३१ ॥

कृतमाला ताम्रपर्णी वञ्जुला चोत्पलावती। सिनी चैव सुदामा च शुक्तिमत्प्रभवास्त्विमाः ॥ ३२ ॥
सर्वाः पुण्याः सरस्वत्यः पापप्रशमनास्तथा। जगतो मातरः सर्वाः सर्वाः सागरयोषितः ॥ ३३ ॥
अन्या सहस्रशश्चात्र क्षुद्रनद्यो हि राक्षस। सदाकालवहाश्चान्याः प्रावृट्कालवहास्तथा।
उदङ्मध्योद्भवा देशाः पिबन्ति स्वेच्छया शुभाः ॥ ३४ ॥
मत्स्याः कुशाट्टाः कुणिकुण्डलाश्च। पाञ्चालकाश्याः सह कोसलाभिः ॥ ३५ ॥
वृकाः शबरकौवीराः सभूलिङ्गा जनास्त्विमे। शकाश्चैव समशका मध्यदेश्या जनास्त्विमे ॥ ३६ ॥

कृतमाला, ताम्रपर्णी, वञ्जुला, उत्पलावती, सिनी तथा सुदामा—ये नदियाँ शुक्तिमान् पर्वतसे निकली हुई हैं। ये सभी नदियाँ पवित्र, पापोंका प्रशमन करनेवाली, जगत्की माताएँ तथा सागरकी पत्नियाँ हैं। राक्षस[1] इनके अतिरिक्त भारतमें अन्य हजारों छोटी नदियाँ भी बहती हैं। इनमें कुछ तो सर्वदा प्रवाहित होनेवाली हैं। उत्तर एवं मध्यके देशोंके निवासी इन पवित्र नदियोंके जलको स्वेच्छया पान करते हैं। मत्स्य, कुशाट्ट, कुणि, कुण्डल, पाञ्चाल, काशी, कोसल, वृक, शबर, कौवीर, भूलिङ्ग, शक तथा मशक-जातियोंके मनुष्य मध्यदेशमें रहते हैं ॥ ३२-३६ ॥

बाह्लीका वाटधानाश्च आभीराः कालतोयकाः। अपरान्तास्तथा शूद्राः पह्लवाश्च सखेटकाः ॥ ३७ ॥
गान्धारा यवनाश्चैव सिन्धुसौवीरमद्रकाः। शातद्रवा ललित्थाश्च पारावतसमूषकाः ॥ ३८ ॥
माठरोदकधाराश्च कैकेया दशमास्तथा। क्षत्रियाः प्रातिवैश्याश्च वैश्यशूद्रकुलानि च ॥ ३९ ॥
काम्बोजा दरदाश्चैव बर्बरा ह्यङ्गलौकिकाः। चीनाश्चैव तुषाराश्च बहुधा बाह्यतोदराः ॥ ४० ॥
आत्रेयाः सभरद्वाजाः प्रस्थलाश्च दशेरकाः। लम्पकास्तावका रामाः शूलिकास्तङ्गणैः सह ॥ ४१ ॥
औरसाश्चालिमद्राश्च किरातानां च जातयः। तामसाः क्रममासाश्च सुपार्श्वाः पुण्ड्रकास्तथा ॥ ४२ ॥
कुलूताः कुहुका ऊर्णास्तूर्णपादाः सकुक्कुटाः। माण्डव्या मालवीयाश्च उत्तरापथवासिनः ॥ ४३ ॥

बाह्लीक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, अपरान्त, शूद्र, पह्लव, खेटक, गान्धार, यवन, सिन्धु, सौवीर, मद्रक, शातद्रव, ललित्थ, पारावत, मूषक, माठर, उदकधार, कैकेय, दशम, क्षत्रिय, प्रातिवैश्य तथा वैश्य एवं शूद्रोंके कुल, काम्बोज, दरद, बर्बर, अङ्गलौकिक, चीन, तुषार, बहुधा, बाह्यतोदर, आत्रेय, भरद्वाज, प्रस्थल, दशेरक, लम्पक, तावक, राम, शूलिक, तङ्गण, औरस, अलिभद्र, किरातोंकी जातियाँ, तामस, क्रममास, सुपार्श्व, पुण्ड्रक, कुलूत, कुहुक, ऊर्ण, तूर्णपाद, कुक्कुट, माण्डव्य एवं मालवीय—ये जातियाँ उत्तर भारतमें निवास करती हैं ॥ ३७-४३ ॥

१—मनुस्मृति (८ । ४१) में भी जाति जनपदादि धर्म मान्य है। इन्हें विद्वानोंने समझनेके लिये यदि देखना चाहिये।

[अथ चतुर्दशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

अहिंसा सत्यमस्तेयं दानं क्षान्तिर्दमः शमः । अकार्पण्यं च शौचं च तपश्च रजनीचर ॥ १ ॥
दशाङ्गो राक्षसश्रेष्ठ धर्मोऽसौ सार्ववर्णिकः । ब्राह्मणस्यापि विहिता चातुराश्रम्यकल्पना ॥ २ ॥

चौदहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(दशाङ्ग धर्म, आश्रम-धर्म और सदाचार-स्वरूपका वर्णन)

ऋषिगण बोले—राक्षसश्रेष्ठ ! अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), दान, क्षमा, दम (इन्द्रिय निग्रह), शम, अकार्पण्य, शौच एवं तप—धर्मके ये दसों अङ्ग सभी वर्णोंके लिये उपदिष्ट हैं । ब्राह्मणोंके लिये तो चार आश्रमोंका और भी विधान विहित किया गया है ॥ १-२ ॥

सुकेशिरुवाच

विप्राणां चातुराश्रम्यं विस्तरान्मे तपोधनाः । आचक्षध्वं न मे तृप्तिः शृण्वतः प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

सुकेशि बोला—तपोधनो ! ब्राह्मणोंके लिये विहित चारों आश्रमोंके नियम आदिको आपलोग विस्तारसे कहें । मुझे उसे सुनते हुए तृप्ति नहीं हो रही है—मैं और भी सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

कृतोपनयनः सम्यग् ब्रह्मचारी गुरौ वसेत् । तत्र धर्मोऽस्य यस्तं च कथ्यमानं निशामय ॥ ४ ॥
स्वाध्यायोऽथाग्निशुश्रूषा स्नानं भिक्षाटनं तथा । गुरोर्निवेद्य तच्चाद्यमनुज्ञातेन सर्वदा ॥ ५ ॥
गुरोः कर्माणि सोद्योगः सम्यक्प्रीत्युपपादनम् । तेनाहूतः पठेच्चैव तत्परो नान्यमानसः ॥ ६ ॥
एकं द्वौ सकलान् वापि वेदान् प्राप्य गुरोर्मुखात् । अनुज्ञातो वरं दत्त्वा गुरवे दक्षिणां ततः ॥ ७ ॥
गार्हस्थ्याश्रमकामस्तु गार्हस्थ्याश्रममावसेत् । वानप्रस्थाश्रमं वाऽपि चतुर्थं स्वेच्छयात्मनः ॥ ८ ॥

ऋषिगण बोले—सुकेशि ! ब्रह्मचारी ब्राह्मण भलीभाँति उपनयन-संस्कार कराकर गुरुके गृहपर निवास करे । वहाँके जो कर्तव्य हैं, उन्हें बतलाया जा रहा है, तुम उन्हें सुनो । उनके कर्तव्य हैं—स्वाध्याय, दैनिक हवन, स्नान, भिक्षा माँगना और उसे गुरुको निवेदित करके तथा उनसे आज्ञा प्राप्त कर भोजन करना, गुरुके कार्य-हेतु उद्यत रहना, सम्यक् रूपसे गुरुमें भक्ति रखना, उनके बुलानेपर तत्पर एवं एकाग्रचित्त होकर पढ़ना (—ये ब्राह्मण ब्रह्मचारीके धर्म हैं) । गुरुके मुखसे एक, दो या सभी वेदोंका अध्ययन कर गुरुको धन तथा दक्षिणा देकरके उनसे आज्ञा प्राप्त कर गृहस्थाश्रममें जानेका इच्छुक (शिष्य) गृहस्थ आश्रममें प्रवेश करे अथवा अपनी इच्छाके अनुसार वानप्रस्थ या संन्यासका अवलम्बन करे ॥ ४-८ ॥

तत्रैव वा गुरोर्गेहे द्विजो निष्ठामवाप्नुयात् । गुरोरभावे तत्पुत्रे तच्छिष्ये तत्सुतं विना ॥ ९ ॥
शुश्रूषन् निरभिमानो ब्रह्मचर्याश्रमं वसेत् । एवं जयति मृत्युं स द्विजः शालकटङ्कट ॥ १० ॥
उपावृत्तस्ततस्तस्माद् गृहस्थाश्रमकाम्यया । असमानर्षिकुलजां कन्यामुद्वहेद् निशाचर ॥ ११ ॥
स्वकर्मणा धनं लब्ध्वा पितृदेवातिथीनपि । सम्यक् संप्रीणयेद् भक्त्या सदाचाररतो द्विजः ॥ १२ ॥

अथवा ब्राह्मण ब्रह्मचारी वहीं गुरुके घरमें ब्रह्मचर्यकी निष्ठा प्राप्त करे अर्थात् जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहे । गुरुके अभावमें उनके पुत्र एवं पुत्र न हो तो उनके शिष्यके समीप निवास करे । राक्षस सुकेशि ! अभिमानरहित तथा

ऋषय ऊचुः

श्रूयतां राक्षसश्रेष्ठ सुप्रभातं हरोदितम्। श्रुत्वा स्मृत्वा पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २२ ॥

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः सह भानुजेन कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २३ ॥
भृगुर्वसिष्ठः क्रतुरङ्गिराश्च मनुः पुलस्त्यः पुलहः सगौतमः।
रैभ्यो मरीचिश्च्यवनो ऋभुश्च कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २४ ॥
सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च।
सप्त स्वराः सप्त रसातलाश्च कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २५ ॥

ऋषिगण बोले—राक्षसश्रेष्ठ! महादेवजीद्वारा वर्णित 'सुप्रभात'स्तोत्रको सुनो। इसको सुनने, स्मरण करने और पढ़नेसे मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। (स्तुति इस प्रकार है—) 'ब्रह्मा, विष्णु, शंकर ये देवता तथा सूर्य, चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनैश्चर ये ग्रह—सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें। भृगु, वसिष्ठ, क्रतु, अङ्गिरा, मनु, पुलस्त्य, पुलह, गौतम, रैभ्य, मरीचि, च्यवन तथा ऋभु—ये सभी (ऋषि) मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें। सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, पिङ्गल, सातों स्वर एवं सातों रसातल—ये सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें ॥ २२–२५ ॥

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः स्पर्शश्च वायुर्ज्वलनः सतेजाः।
नभः सशब्दं महता सहैव यच्छन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २६ ॥
सप्तार्णवाः सप्त कुलाचलाश्च सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त।
भूरादि कृत्वा भुवनानि सप्त ददन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २७ ॥
इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं पठेत् स्मरेद्वा शृणुयाच्च भक्त्या।
दुःस्वप्ननाशोऽनघ सुप्रभातं भवेच्च सत्यं भगवत्प्रसादात् ॥ २८ ॥
ततः समुत्थाय विचिन्तयेत धर्मं तथार्थं च विहाय शय्याम्।
उत्थाय पश्चाद्धरिरित्युदीर्य गच्छेत् तदोत्सर्गविधिं हि कर्तुम् ॥ २९ ॥

गन्धगुणवाली पृथ्वी, रसगुणवाला जल, स्पर्शगुणवाली वायु, तेजोगुणवाली अग्नि, शब्दगुणवाला आकाश एवं महत्तत्त्व—ये सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनावें। सातों समुद्र, सातों कुलपर्वत, सप्तर्षि, सातों श्रेष्ठ द्वीप और भू आदि सातों लोक—ये सभी प्रभातकालमें मुझे मङ्गल प्रदान करें।' इस प्रकार प्रातःकालमें परम पवित्र सुप्रभात-स्तोत्रको भक्तिपूर्वक पढ़े, स्मरण करे अथवा सुने। निष्पाप! ऐसा करनेसे भगवान्‌की कृपासे निश्चय ही उसके दुःस्वप्नका नाश होता है तथा सुन्दर प्रभात होता है। उसके बाद उठकर धर्म तथा अर्थके विषयमें चिन्तन करे और शय्या-त्याग करनेके बाद 'हरि'का नाम लेकर उत्सर्ग-विधि (शौच आदि) करनेके लिये जाय ॥ २६-२९ ॥

न देवगोब्राह्मणवह्निमार्गे न राजमार्गे न चतुष्पथे च।
कुर्यादथोत्सर्गमपीह गोष्ठे पूर्वापरां चैव समाश्रितो गाम् ॥ ३० ॥
ततस्तु शौचार्थमुपाहरेन्मृदं गुदे त्रयं पाणितले च सप्त।
तथोभयोः पञ्च चतुस्तथैकां लिङ्गे तथैकां मृदमाहरेत ॥ ३१ ॥
नान्तर्जलाद्राक्षस मूषिकस्थलात् शौचावशिष्टा शरणात् तथान्या।
वल्मीकमृच्चापि हि शौचनाय ग्राह्या सदाचारविदा नरेण ॥ ३२ ॥
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वापि विद्वान् प्रक्षाल्य पादौ भुवि संनिविष्टः।
समाचमेदद्भिरफेनिलाभिरादौ परिमृज्य मुखं द्विरद्भिः ॥ ३३ ॥

ऋषय ऊचुः

ऋषयो राक्षसश्रेष्ठ सुप्रभात हरोदितम्। श्रुत्वा स्मृत्वा पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २२ ॥

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः सह भानुजेन कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २३ ॥
भृगुर्वसिष्ठः क्रतुरङ्गिराश्च मनुः पुलस्त्यः पुलहः सगौतम।
रैभ्यो मरीचिश्च्यवनो ऋभुश्च कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २४ ॥
सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च।
सप्त स्वराः सप्त रसातलाश्च कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २५ ॥

ऋषिगण बोले—राक्षसश्रेष्ठ! महादेवजीद्वारा वर्णित 'सुप्रभात'स्तोत्रको सुनो। इसको सुनने, स्मरण करने और पढ़नेसे मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। (स्तुति इस प्रकार है—) 'ब्रह्मा, विष्णु, शंकर ये देवता तथा सूर्य, चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनैश्चर ये ग्रह—सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें। भृगु, वसिष्ठ, क्रतु, अङ्गिरा, मनु, पुलस्त्य, पुलह, गौतम, रैभ्य, मरीचि, च्यवन तथा ऋभु—ये सभी (ऋषि) मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें। सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, पिङ्गल, सातों स्वर एवं सातों रसातल—ये सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनायें ॥ २२—२५ ॥

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः स्पर्शश्च वायुर्ज्वलनः सतेजाः।
नभः सशब्दं महता सहैव यच्छन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २६ ॥
सप्तार्णवाः सप्त कुलाचलाश्च सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त।
भूरादि कृत्वा भुवनानि सप्त ददन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ २७ ॥
इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं पठेत् स्मरेद्वा शृणुयाच्च भक्त्या।
दुःस्वप्ननाशोऽनघ सुप्रभातं भवेच्च सत्यं भगवत्प्रसादात् ॥ २८ ॥
ततः समुत्थाय विचिन्तयेत धर्मं तथार्थं च विहाय शय्याम्।
उत्थाय पश्चाद्धरिरित्युदीर्य गच्छेत् तदोत्सर्गविधिं हि कर्तुम् ॥ २९ ॥

गन्धगुणवाली पृथ्वी, रसगुणवाला जल, स्पर्शगुणवाली वायु, तेजोगुणवाली अग्नि, शब्दगुणवाला आकाश एवं महत्तत्त्व—ये सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय बनावें। सातों समुद्र, सातों कुलपर्वत, सप्तर्षि, सातों श्रेष्ठ द्वीप और भू आदि सातों लोक—ये सभी प्रभातकालमें मुझे मङ्गल प्रदान करें।' इस प्रकार प्रातःकालमें परम पवित्र सुप्रभात-स्तोत्रको भक्तिपूर्वक पढ़े, स्मरण करे अथवा सुने। निष्पाप! ऐसा करनेसे भगवान्‌की कृपासे निश्चय ही उसके दुःस्वप्नका नाश होता है तथा सुन्दर प्रभात होता है। उसके बाद उठकर धर्म तथा अर्थके विषयमें चिन्तन करे और शय्या-त्याग करनेके बाद 'हरि'का नाम लेकर उत्सर्ग-विधि (शौच आदि) करनेके लिये जाय ॥ २६-२९ ॥

न देवगोब्राह्मणवह्निमार्गे न राजमार्गे न चतुष्पथे च।
कुर्यादथोत्सर्गमपीह गोष्ठे पूर्वापरां चैव समाश्रितो गाम् ॥ ३० ॥
ततस्तु शौचार्थमुपाहरेन्मृदं गुदे त्रयं पाणितले च सप्त।
तथोभयोः पञ्च चतुस्तथैकां लिङ्गे तथैकां मृदमाहरेत ॥ ३१ ॥
नान्तर्जलाद्राक्षस भूपिवस्थलात् शौचावशिष्टां शरणात् तथान्या।
वल्मीकमृच्चापि हि शौचनाय ग्राह्या सदाचारविदा नरेण ॥ ३२ ॥
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वापि विद्वान् प्रक्षाल्य पादौ भुवि संनिविष्टः।
समाचमेदद्भिरफेनिलाभिरादौ परिमृज्य मुखं द्विरद्भिः ॥ ३३ ॥

वृथाऽटनान्नित्यहानिर्वृथादानाद्धनक्षयः । वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति पातकं नरकप्रदम् ॥ ४२ ॥
सन्तत्या हानिरश्लाघ्या वर्णसङ्करतो भयम् । भेतव्यं च भवेल्लोके वृथादारपरिग्रहात् ॥ ४३ ॥
परस्वे परदारे च न कार्या बुद्धिरुत्तमैः । परस्वं नरकायैव परदाराश्च मृत्यवे ॥ ४४ ॥
नेक्षेत् परस्त्रियं नग्नां न सम्भाषेत तस्करान् । उदक्यादर्शनं स्पर्शं सम्भाषं च विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥

व्यर्थ घूमनेसे नित्यकर्मकी हानि होती है तथा वृथा दानसे धनकी हानि होती है और वृथा पशुवध करने वाला नरक प्राप्त कराने वाले पापको प्राप्त होता है । अवैध स्त्री-संग्रहसे सन्तानकी निन्दनीय हानि, वर्णसांकर्यका भय तथा लोकमें भी भय होता है । उत्तम व्यक्ति परधन तथा परस्त्रीमें बुद्धि न लगाये । परधन नरक देनेवाला और परस्त्री मृत्युका कारण होती है । परस्त्रीको नग्नावस्थामें न देखे, चोरोंसे बातचीत न करे एवं रजस्वला स्त्रीको न तो देखे, न उसका स्पर्श ही करे और न उससे बातचीत ही करे ॥ ४२—४५ ॥

नैकासने तथा स्थेयं सोदर्या परजायया । तथैव स्यान्न मातुश्च तथा स्वदुहितुस्त्वपि ॥ ४६ ॥
न च स्नायीत वै नग्नो न शयीत कदाचन । दिग्वाससोऽपि न तथा परिभ्रमणमिष्यते ॥
भिन्नासनभाजनादीन् दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ४७ ॥
नन्दासु नाभ्यङ्गमुपाचरेत क्षौरं च रिक्तासु जयासु मांसम् ।
पूर्णासु योषित्परिवर्जयेत भद्रासु सर्वाणि समाचरेत ॥ ४८ ॥
नाभ्यङ्गमर्के न च भूमिपुत्रे क्षौरं च शुक्रे रविजे च मांसम् ।
बुधेषु योषिन्न समाचरेत शेषेषु सर्वाणि सदैव कुर्यात् ॥ ४९ ॥

अपनी बहन तथा परस्त्रीके साथ एक आसनपर न बैठे । इसी प्रकार अपनी माता तथा कन्याके साथ भी एक आसनपर न बैठे । नग्न होकर स्नान और शयन न करे । वस्त्रहीन होकर इधर-उधर न घूमे, । टूटे आसन और बर्तन आदिको अलग रख दे । नन्दा (प्रतिपद्, षष्ठी और एकादशी) तिथियोंमें तेलसे मालिश न करे । रिक्ता (चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी) तिथियोंमें क्षौर कर्म न करे (न कराये) तथा जया (तृतीया, अष्टमी और त्रयोदशी) तिथियोंमें फलका गूदा नहीं खाना चाहिये । पूर्णा (पञ्चमी, दशमी और पूर्णिमा) तिथियोंमें स्त्रीका सम्पर्क न करे तथा भद्रा (द्वितीया, सप्तमी और द्वादशी) तिथियोंमें सभी कार्य करे । रविवार एवं मङ्गलवारको तेलकी मालिश, शुक्रवारको क्षौरकर्म, नहीं कराना चाहिये (न करना चाहिये) । शनिवारको फलका गूदा न खाये तथा बुधवारको स्त्री वर्ज्य है । शेष दिनोंमें सभी कार्य सदैव कर्तव्य हैं ॥ ४६—४९ ॥

चित्रासु हस्ते श्रवणे च तैलं क्षौरं विशाखास्वभिजित्सु वर्ज्यम् ।
मूले मृगे भाद्रपदासु मांसं योषिन्मघाकृत्तिकयोत्तरासु ॥ ५० ॥
सदैव वर्ज्यं शयनमुदक्शिरास्तथा प्रतीच्यां रजनीं चरेद्वा ।
भुञ्जीत नैवेह च दक्षिणामुखो न च प्रतीच्यामभिभोजनीयम् ॥ ५१ ॥
देवालयं चैत्यतरुं चतुष्पथं विद्याधिकं चापि गुरुं प्रदक्षिणम् ।
माल्यान्नपानं वसनानि यत्नतो नान्यैर्धृतांश्चापि हि धारयेद् बुधः ॥ ५२ ॥
स्नायाच्छिरःस्नानतया च नित्यं न कारणं चैव विना निशासु ।
ग्रहोपरागे स्वजनापयाते मुक्त्वा च जन्मर्क्षगते शशाङ्के ॥ ५३ ॥

चित्रा, हस्त और श्रवण नक्षत्रोंमें तेल तथा विशाखा और अभिजित् नक्षत्रोंमें क्षौर-कार्य नहीं करना-कराना चाहिये । मूल, मृगशिरा, पूर्वाभाद्रपद और उत्तराभाद्रपदमें गूदा-भक्षण तथा मघा, कृत्तिका और तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी,

(यहाँसे आगे अब द्रव्य शुद्धि बतलाते हैं।) सोना, चाँदी, प्रवाल (मूँगा), मोती, पत्थर और लकड़ीके बने बर्तन, तृण, मूल तथा ओषधियाँ, सूप (डाल), धान्य, मृगचर्म, सिले हुए वस्त्र एवं पूर्वोक्त सभी द्रव्योंकी शुद्धि जलसे होती है। तैल-घृत आदिसे मलिन वस्त्रोंकी शुद्धि उष्ण जल तथा तिल-कल्क (खली)से एवं कपासके वस्त्रोंकी शुद्धि भस्मसे (पत्थर कोयले आदिकी राखसे) होती है। हाथीके दाँत, हड्डी और सींगकी बनी चीजोंकी शुद्धि तरासनेसे (खरादनेसे) होती है। मिट्टीके बर्तन पुनः आगमें जलानेसे शुद्ध होते हैं। भिक्षान्न, कारीगरोंका हाथ, विक्रेय वस्तु, स्त्री-मुख, अज्ञात वस्तु, ग्रामके मध्य मार्ग या चौराहेसे लायी जानेवाली तथा नौकरोंद्वारा निर्मित वस्तुएँ पवित्र मानी गयी हैं। वचनद्वारा प्रशंसित, पुराना, अनेकानेक जनोंसे होती हुई लायी जानेवाली छोटी वस्तुएँ, बालकों और वृद्धोंद्वारा किया गया कर्म तथा शिशुका मुख शुद्ध होता है॥ ६१–६६॥

कर्मान्ताङ्गारशालासु स्तनन्धयसुताः स्त्रियः। वाग्विप्रुषो द्विजेन्द्राणां संतप्ताश्चाम्बुबिन्दवः॥ ६७॥
भूमिर्विशुध्यते खातदाहमार्जनगोक्रमैः। लेपादुल्लेखनात् सेकाद् वेश्मसम्मार्जनार्चनात्॥ ६८॥
केशकीटावपन्नेऽन्ने गोघ्राते मक्षिकान्विते। मृदम्बुभस्मक्षाराणि प्रक्षेप्तव्यानि शुद्धये॥ ६९॥
औदुम्बराणां चाम्लेन क्षारेण त्रपुसीसयोः। भस्माम्बुभिश्च कांस्यानां शुद्धिः प्लावो द्रवस्य च॥ ७०॥

कर्मशाला, अन्तर्गृह एवं अग्निशालामें दुधमुँहे बच्चोंको ली हुई स्त्रियाँ, सम्भाषण करते हुए विद्वान् ब्राह्मणोंके मुखके छींटे तथा उष्ण जलके बिन्दु पवित्र होते हैं। पृथ्वीकी शुद्धि खोदने, जलाने, झाड़ू देने, गौओंके चलने, लीपने, खरोंचने तथा सींचनसे होती है और गृहकी शुद्धि झाड़ू देने, जलके छिड़कने तथा पूजा आदिसे होती है। केश, कीट पड़े हुए और मक्खीके बैठ जानेपर तथा गायके द्वारा सूँघे जानेपर अन्नकी शुद्धिके लिये उसपर जल, भस्म, क्षार या मृत्तिका छिड़कनी चाहिये। ताम्रपात्रकी शुद्धि खटाईसे, जस्ते और शीशेकी क्षारके द्वारा, काँसेकी वस्तुएँ भस्म और जलके द्वारा तथा तरल पदार्थ कुछ अंशको बहा देनेसे शुद्ध हो जाते हैं॥ ६७-७०॥

अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैर्गन्धापहरणेन च। अन्येषामपि द्रव्याणां शुद्धिर्गन्धापहारतः॥ ७१॥
मातुः प्रस्रवणे वत्सः शकुनिः फलपातने। गर्दभो भारवाहित्वे श्वा मृगग्रहणे शुचिः॥ ७२॥
रथ्याकर्दमतोयानि नावः पथि तृणानि च। मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि च॥ ७३॥
स्नेह द्रोणादकस्यान्नममेध्याभिप्लुतं भवेत्। अग्रमुद्धृत्य संत्याज्य शेषस्य प्रोक्षणं स्मृतम्॥ ७४॥
उपवासस्त्रिरात्रं वा दूषितान्नस्य भोजने। अज्ञाते ज्ञातपूर्वे च नैव शुद्धिर्विधीयते॥ ७५॥

अपवित्र वस्तुसे मिले पदार्थ जल और मिट्टीसे धोने तथा दुर्गन्ध दूर करनेसे शुद्ध होते हैं। अन्य (गन्धवाले) पदार्थोंकी शुद्धि भी गन्ध दूर करनेसे होती है। माताके स्तनको प्रस्तुत कराने (पेन्हाने) में बछड़ा, वृक्षसे फल गिरानेमें पक्षी, बोझा ढोनेमें गधा और शिकार पकड़नेमें कुत्ता शुद्ध (माना गया) है। मार्गके कीचड़ और जल, नाव तथा रास्तेकी घास, तृण एवं पके हुए ईंटोंके समूह वायुके द्वारा ही शुद्ध हो जाते हैं। यदि एक द्रोण (चार सेरसे अधिक) पके अन्नके अपवित्र वस्तुसे सम्पर्क हो जाय तो उसके ऊपरका अंश निकालकर फेंक देना एवं शेषपर जल छिड़क देना चाहिये। इससे उसकी शुद्धि हो जाती है। अज्ञानरूपसे दूषित अन्न खा लेनेपर तीन रात्रितक उपवास करनेसे शुद्धि हो जानेका विधान है, किंतु जान-बूझकर दूषित अन्न खानेपर शुद्धि नहीं हो सकती॥ ७१–७५॥

१-द्रव्यशुद्धिका यह प्रकरण मनुस्मृति ५। ११०—१४६ तथा याज्ञवल्क्यस्मृति १। १८२ १९७ आदिमें भी प्रायः इसी भावका है।

उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा) में स्त्री-सहवास न करे। राक्षसराज ! उत्तर एवं पश्चिमकी ओर सिर करके शयन नहीं करना चाहिये। दक्षिण एवं पश्चिममुख भोजन नहीं करना चाहिये। देवमन्दिर, चैत्य-वृक्ष, देवताके समान पूज्य पीपल आदिके वृक्ष, चौराहे, अपनेसे अधिक विद्वान् तथा गुरुकी प्रदक्षिणा करे। बुद्धिमान् व्यक्ति यत्नपूर्वक दूसरेके द्वारा व्यवहृत माला, अन्न और वस्त्रका व्यवहार न करे। नित्य सिरके ऊपरसे स्नान करे। ग्रहोपराग (ग्रहणके समय) और स्वजनकी मृत्यु तथा जन्म-नक्षत्रमें चन्द्रमाके रहनेके अतिरिक्त समयमें रात्रिमें बिना विशेष कारण स्नान नहीं करना चाहिये ॥ ५०–५३ ॥

नाभ्यक्तित कायमुपस्पृशेच्च स्नातो न केशान् विधुनीत चापि।
गात्राणि चैवाम्बरपाणिना च स्नातो विमृज्याद् रजनीचरेश ॥ ५४ ॥
वसेच्च देशेषु सुराजकेषु सुसंहितेष्वेव जनेषु नित्यम्।
अक्रोधना न्यायपरा अमत्सराः कृषीवला ह्योषधयश्च यत्र ॥ ५५ ॥
न्यायस्तु वैद्यो धनिकश्च यत्र सच्छ्रोत्रियस्तत्र वसेत नित्यम् ॥ ५६ ॥
न तेषु देशेषु वसेत बुद्धिमान् सदा नृपो दण्डरुचिस्त्वशक्तः।
जनोऽपि नित्योत्सवबद्धवैरः सदा जिगीषुश्च निशाचरेन्द्र ॥ ५७ ॥

राक्षसेश्वर ! तेल-मालिश किये हुए किसीके शरीरका स्पर्श नहीं करना चाहिये। स्नानके बाद बालोंको उसी समय कंघीसे न झाड़े। मनुष्यको वहाँ रहना चाहिये जहाँका राजा धर्मात्मा हो एवं जनवर्गमें समता हो, लोग क्रोधी न हों, न्यायी हों, परस्परमें डाह न हो, खेती करनेवाले किसान और ओषधियाँ हों। जहाँ चतुर वैद्य, धनी-मानी दानी, श्रेष्ठ श्रोत्रिय विद्वान् हों वहाँ निवास करना चाहिये। जिस देशका राजा प्रजाको मात्र दण्ड ही देना चाहता हो तथा उत्सवोंमें जन-समाजमें नित्य किसी-न-किसी प्रकारका वैर-विद्वेष हो एवं लड़ाई झगड़ा करनेकी ही आकाङ्क्षा हो, विवेकी मनुष्यको ऐसे स्थानपर नहीं रहना चाहिये ॥ ५४–५७ ॥

ऋषय ऊचु

यच्च वर्ज्यं महाबाहो सदा धर्मस्थितैर्नरैः। यद् भोज्यं च समुद्दिष्टं कथयिष्यामहे वयम् ॥ ५८ ॥
भोज्यमन्नं पर्युषितं स्नेहाक्तं चिरसम्भृतम्। अस्नेहा व्रीहयः श्लक्ष्णा विकाराः पयसस्तथा ॥ ५९ ॥
तद्वद् द्विदलकादीनि भोज्यानि मनुरब्रवीत् ॥ ६० ॥

ऋषियोंने कहा—महाबाहो ! जो पदार्थ धर्मात्मा व्यक्तियोंके लिये सदैव त्याज्य हैं एवं जो भोज्य हैं, हम उनका वर्णन कर रहे हैं। तेल, घी आदि स्निग्ध पदार्थोंसे पकाया गया अन्न बासी एवं बहुत पहलेका बने रहनेपर भी भोज्य (खानेयोग्य) है तथा सूखे भूने हुए चावल एवं दूधके विकार—दही, घी आदि भी बासी एवं पुराने होनेपर भी भक्ष्य—खाने योग्य हैं। इसी प्रकार मनुने चने, अरहर, मसूर आदिके भून (तले) हुए दालको भी अधिक कालतक भोजनके योग्य बतलाये हैं ॥ ५८–६० ॥

मणिरत्नप्रवालानां तद्वन्मुक्ताफलस्य च। शैलदारुमयानां च तृणमूलौषधान्यपि ॥ ६१ ॥
शूर्पधान्याजिनानां च संहतानां च वाससाम्। वल्कलानामशेषाणामम्बुना शुद्धिरिष्यते ॥ ६२ ॥
सस्नेहानामथोष्णेन तिलकल्केन वारिणा। कार्पासिकानां वस्त्राणां शुद्धिः स्यात्सह भस्मना ॥ ६३ ॥
नागदन्तास्थिशृङ्गाणां तक्षणाच्छुद्धिरिष्यते। पुनः पाकेन भाण्डानां मृण्मयानां च मेध्यता ॥ ६४ ॥
शुचि भैक्षं कारुहस्तः पण्यं योषिन्मुखं तथा। रथ्यागतमविज्ञातं दासवर्गेण यत्कृतम् ॥ ६५ ॥
वाक्प्रशस्तं चिरातीतमनेकान्तरितं लघु। चेष्टितं बालवृद्धानां बालस्य च मुखं शुचि ॥ ६६ ॥

(यहाँसे आगे अब द्रव्य शुद्धि बतलाते हैं।) मणि, रत्न, प्रवाल (मूँगा), मोती, पत्थर और लकड़ीके बने बर्तन, तृण, मूल तथा ओषधियाँ, सूप (दाल), धान्य, मृगचर्म, सिले हुए वस्त्र एवं वृक्षोंके सभी अङ्गोंकी शुद्धि जलसे होती है। तैल-घृत आदिसे मलिन वस्त्रोंकी शुद्धि उष्ण जल तथा तिल-कल्क (खली)से एवं कपासके वस्त्रोंकी शुद्धि भस्मसे (पत्थर कोयले आदिकी राखसे) होती है। हाथीके दाँत, हड्डी और सींगकी बनी चीजोंकी शुद्धि तराशनेसे (खरादनेसे) होती है। मिट्टीके बर्तन पुनः आगमें जलानेसे शुद्ध होते हैं। भिक्षान्न, कारीगरोंका हाथ, विक्रेय वस्तु, स्त्री-मुख, अज्ञात वस्तु, ग्रामके मध्य मार्ग या चौराहेसे लायी जानेवाली तथा नौकरोंद्वारा निर्मित वस्तुएँ पवित्र मानी गयी हैं। वचनद्वारा प्रशंसित, पुराना, अनेकानेक जनोंसे होती हुई लायी जानेवाली छोटी वस्तुएँ, बालकों और वृद्धोंद्वारा किया गया कर्म तथा शिशुका मुख शुद्ध होता है॥ ६१–६६॥

कर्मान्ताङ्गारशालासु स्तनंधयसुताः स्त्रियः। वाग्विप्रुषो द्विजेन्द्राणां संतप्ताश्चाम्बुबिन्दवः॥ ६७॥
भूमिर्विशुध्यते खातदाहमार्जनगोक्रमैः। लेपादुल्लेखनात् सेकाद् वेश्मसंमार्जनार्चनात्॥ ६८॥
केशकीटावपन्नेऽन्ने गोघ्राते मक्षिकान्विते। मृदम्बुभस्मक्षाराणि प्रक्षेप्तव्यानि शुद्धये॥ ६९॥
औदुम्बराणां चाम्लेन क्षारेण त्रपुसीसयोः। भस्माम्बुभिश्च कांस्यानां शुद्धिः प्लावो द्रवस्य च॥ ७०॥

कर्मशाला, अन्तर्गृह एवं अग्निशालामें दुधमुँहे बच्चोंको ली हुई स्त्रियाँ, सम्भाषण करते हुए विद्वान् ब्राह्मणोंके मुखके छींटे तथा उष्ण जलके बिंदु पवित्र होते हैं। पृथ्वीकी शुद्धि खोदने, जलाने, झाड़ू देने, गौओंके चलने, लीपने, खरोंचने तथा सींचनेसे होती है और गृहकी शुद्धि झाड़ देने, जलके छिड़कने तथा पूजा आदिसे होती है। केश, कीट पड़े हुए और मक्खीके बैठ जानेपर तथा गायके द्वारा सूँघे जानेपर अन्नकी शुद्धिके लिये उसपर जल, भस्म, क्षार या मृत्तिका छिड़कना चाहिये। ताम्रपात्रकी शुद्धि खटाईसे, जस्ते और शीशेकी क्षारके द्वारा, काँसेकी वस्तुएँ भस्म और जलके द्वारा तथा तरल पदार्थ कुछ अंशको बहा देनेसे शुद्ध हो जाते हैं॥ ६७–७०॥

अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैर्गन्धापकर्षणेन च। अन्येषामपि द्रव्याणां शुद्धिर्गन्धापहारतः॥ ७१॥
मातुः प्रस्रवणे वत्सः शकुनिः फलपातने। गर्दभो भारवाहित्वे श्वा मृगग्रहणे शुचिः॥ ७२॥
रथ्याकर्दमतोयानि नावः पथि तृणानि च। मारुतेनैव शुध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि च॥ ७३॥
स्नेहद्रोणाढकस्यान्नममेध्याभिप्लुतं भवेत्। अग्रमुद्धृत्य संत्याज्यं शेषस्य प्रोक्षणं स्मृतम्॥ ७४॥
उपवासस्त्रिरात्रं वा दूषितान्नस्य भोजने। अज्ञाते ज्ञातपूर्वे च नैव शुद्धिर्विधीयते॥ ७५॥

अपवित्र वस्तुसे मिले पदार्थ जल और मिट्टीसे धोने तथा दुर्गन्ध दूर कर देनेसे शुद्ध होते हैं। अन्य (गन्धवाले) पदार्थोंकी शुद्धि भी गन्ध दूर करनेसे होती है। माताके स्तनको प्रस्तुत कराने (पेन्हाने) में बछड़ा, वृक्षसे फल गिरानेमें पक्षी, बोझा ढोनेमें गधा और शिकार पकड़नेमें कुत्ता शुद्ध (माना गया) है। मार्गके कीचड़ और जल, नाव तथा रास्तेकी घास, तृण एवं पके हुए ईंटोंके समूह वायुके द्वारा ही शुद्ध हो जाते हैं। यदि एक द्रोण (ढाई सेरसे अधिक) पके अन्नके अपवित्र वस्तुसे सम्पर्क हो जाय तो उसके ऊपरका अंश निकाल कर फेंक देना एवं शेषपर जल छिड़कना चाहिये। इससे उसकी शुद्धि हो जाती है। अज्ञानवश दूषित अन्न खा लेनेपर तीन रात्रितक उपवास करनेसे शुद्धि होनेका विधान है, किंतु जान-बूझकर दूषित अन्न खानेपर शुद्धि नहीं हो सकती॥ ७१–७५॥

*-द्रव्यशुद्धिका यह प्रकरण मनुस्मृति ५। ११०—१४६ तथा याज्ञवल्क्यस्मृति १। १८२ १९१ आदिमें भी प्राय [illegible]

स्वृक्श्याद्धाननग्नांश्च सूतिकान्त्यावसायिनः । स्पृष्ट्वा स्नायीत शौचार्थं तथैव मृतहारिणः ॥ ७६ ॥
सस्नेहमस्थि संस्पृश्य सवासा स्नानमाचरेत्। आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य च ॥ ७७ ॥
न लङ्घयेत्पुरीषासृक्ष्ठीवनोद्वर्त्तनानि च । गृहादुच्छिष्टविण्मूत्रे पादाम्भांसि क्षिपेद् बहिः ॥ ७८ ॥
पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिणि । स्नायीत देवखातेषु सरोह्रदसरित्सु च ॥ ७९ ॥

रजस्वला स्त्री, कुत्ता, नग्न (दिगम्बर साधु), प्रसूता स्त्री, चाण्डाल और शववाहकोंका स्पर्श हो जानेपर अपवित्र हुए व्यक्तिको पवित्र होनेके लिये स्नान करना चाहिये । मज्जायुक्त हड्डीके छू जानेपर वस्त्रसहित स्नान करना चाहिये, किंतु सूखी हड्डीका स्पर्श होनेपर आचमन करने, गो-स्पर्श तथा सूर्यदर्शन करनेमात्रसे ही शुद्धि हो जाती है । विष्ठा, रक्त, थूक एवं उबटनका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये । जूठे पदार्थ, विष्ठा, मूत्र एवं पैर धोनेके जलको घरसे बाहर फेंक देना चाहिये । दूसरेके द्वारा निर्मित बावली आदिमें मिट्टीके पाँच टुकड़ोंको निकाले बिना स्नान नहीं करना चाहिये । (मुख्यतः) देव निर्मित झीलों ताल-तलैयों और नदियोंमें स्नान करना चाहिये ॥ ७६–७९ ॥

नोद्यानादौ विकालेषु प्राज्ञस्तिष्ठेत् कदाचन । नालपेद् जनविद्विष्टं वीरहीनां तथा स्त्रियम् ॥ ८० ॥
देवतापितृसच्छास्त्रयज्ञवेदादिनिन्दकैः । कृत्वा तु स्पर्शमालापं शुद्ध्यतेऽर्कावलोकनात् ॥ ८१ ॥
अभोज्याः सूतिकाषण्ढमार्जाराखुश्वकुक्कुटाः । पतितापविद्धनग्नाश्चाण्डालाधमाश्च ये ॥ ८२ ॥

बुद्धिमान् पुरुष बाग-बगीचोंमें असमयमें कभी न ठहरे । लोगोंसे द्वेष रखनेवाले व्यक्ति तथा पति-पुत्रसे रहित स्त्रीसे वार्त्तालाप नहीं करना चाहिये । देवता, पितरों, भले शास्त्रों (पुराण, धर्मशास्त्र, रामायण आदि), यज्ञ एवं वेदादिके निन्दकोंका स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप करनेपर मनुष्य अपवित्र हो जाता है, वह सूर्यदर्शन करनेपर शुद्ध होता है उसकी शुद्धि भगवान् सूर्यके समक्ष उपस्थान करके अपने किये हुए स्पर्श और वार्तालाप कर्मका त्याग तथा पश्चात्ताप करनेसे होती है । सूतिक, नपुंसक बिलाव चूहा, कुत्ते, मुर्गे, पतित, नग्न (विधर्मी) (इनके लक्षण आगे बतलाये जायँगे) समाजसे बहिष्कृत, और जो चाण्डाल आदि अधम प्राणी हैं उनके यहाँ भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ८०–८२ ॥

सुकेशिरुवाच

भवद्भिः कीर्तिताऽभोज्या य एते सूतिकादयः । अमीषां श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतो लक्षणानि हि ॥ ८३ ॥

सुकेशि बोला—ऋषियो ! आपलोगोंने जिन सूतिक आदिका अन्न अभक्ष्य कहा है, मैं उनके लक्षण विस्तारसे सुनना चाहता हूँ ॥ ८३ ॥

ऋषय ऊचुः

ब्राह्मणी ब्राह्मणस्यैव याऽवरोधत्वमागता । तावुभौ सूतिकावुक्तौ तयोरन्नं विगर्हितम् ॥ ८४ ॥
न जुहोत्युचिते काले न स्नाति न ददाति च । पितृदेवार्चनाद्धीनः स षण्ढः परिगीयते ॥ ८५ ॥
दम्भार्थं जपते यश्च तप्यते यजते तथा । न परत्रार्थमुद्युक्तो स मार्जारः प्रकीर्तितः ॥ ८६ ॥
विभवे सति नैवाश्नाति न ददाति जुहोति च । तमाहुराखुं तस्यान्नं भुक्त्वा कृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥ ८७ ॥

ऋषियोंने कहा—सुकेशि ! अन्य ब्राह्मणके साथ ब्राह्मणीके व्यभिचरित होनेपर उन दोनोंको ही 'सूतिक'[1] कहा जाता है । उन दोनोंका अन्न निन्दित है । उचित समयपर हवन, स्नान और दान न करनेवाले तथा पितरों एवं देवताओंकी पूजासे रहित व्यक्तिको ही यहाँ 'षण्ढ' या नपुंसक कहा गया है । दम्भके लिये जप, तप और यज्ञ करनेवाले तथा परलोकके उद्योग न करनेवाले व्यक्तिको यहाँ 'मार्जार' या 'बिलाव' कहा गया है । वैभव रहने

[1] पद्मपुराण आदिमें अन्य धर्मविरुद्ध दम्पतीका लक्षण है ।

हुए भोग, दान एवं हवन न करनेवालेको 'आखु' (चूहा) कहते हैं। उसका अन्न खानेपर मनुष्य कृच्छ्रव्रत करनेसे शुद्ध होता है ॥ ८४–८७ ॥

य: परेषां हि मर्माणि निकृन्तन्निव भाषते। नित्यं परगुणद्वेषी स श्वान इति कथ्यते ॥ ८८ ॥
सभागतानां य: सभ्य: पक्षपातं समाश्रयेत्। तमाहु: कुक्कुटं देवास्तस्याप्यन्नं विगर्हितम् ॥ ८९ ॥
स्वधर्मं य: समुत्सृज्य परधर्मं समाश्रयेत्। अनापदि स विद्वद्भि: पतित: परिकीर्त्यते ॥ ९० ॥
देवत्यागी पितृत्यागी गुरुभक्त्यरतस्तथा। गोब्राह्मणस्त्रीवधकृदपविद्ध: स कीर्त्यते ॥ ९१ ॥

दूसरोंका मर्म भेदन करते हुए बातचीत करनेवाले तथा दूसरेके गुणोंसे द्वेष करनेवालेको 'श्वान' या 'कुत्ता' कहा गया है। सभामें आगत व्यक्तियोंमें जो सभ्य व्यक्ति पक्षपात करता है उसे देवताओंने 'कुक्कुट' (मुर्गा) कहा है, उसका भी अन्न निन्दित है। विपत्तिकालके अतिरिक्त अन्य समयमें अपना धर्म छोड़कर दूसरेका धर्म ग्रहण करनेवालेको विद्वानोंने 'पतित' कहा है। देवत्यागी, पितृत्यागी, गुरुभक्तिसे विमुख तथा गौ, ब्राह्मण एवं स्त्रीकी हत्या करनेवालेको 'अपविद्ध' कहा जाता है ॥ ८८–९१ ॥

येषां कुले न वेदोऽस्ति न शास्त्रं नैव च व्रतम्। ते नग्ना: कीर्तिता: सद्भिस्तेषामन्नं विगर्हितम् ॥ ९२ ॥
आशार्तानामदाता च दातुश्च प्रतिषेधक:। शरणागतं यस्त्यजति स चाण्डालोऽधमो नर: ॥ ९३ ॥
यो बान्धवै: परित्यक्त: साधुभिर्ब्राह्मणैरपि। कुण्डाशी यश्च तस्यान्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ ९४ ॥
यो नित्यकर्मणो हानिं कुर्यान्नैमित्तिकस्य च। भुक्त्वान्नं तस्य शुद्ध्येत त्रिरात्रोपोषितो नर: ॥ ९५ ॥

जिनके कुलमें वेद, शास्त्र एवं व्रत नहीं हैं, उन्हें सज्जन लोग 'नग्न' कहते हैं। उनका अन्न निन्दित है। आशा रखनेवालोंको न देनेवाला, दाताको मना करनेवाला तथा शरणागतका परित्याग करनेवाला अधम मनुष्य 'चाण्डाल' कहा जाता है। बान्धवों, साधुओं एवं ब्राह्मणोंसे त्यागा गया तथा कुण्ड (पतिके जीवित रहनेपर पर पुरुषसे उत्पन्न पुत्र)के यहाँ अन्न खानेवालेको चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। नित्य और नैमित्तिक कर्म न करनेवाले व्यक्तिका अन्न खानेपर मनुष्य तीन राततक उपवास करनेसे शुद्ध होता है ॥ ९२–९५ ॥

गणकस्य निषादस्य गणिकाभिषजोस्तथा। कदर्यस्यापि शुद्ध्येत त्रिरात्रोपोषितो नर: ॥ ९६ ॥
नित्यस्य कर्मणो हानिं केवलं मृतजन्मसु। न तु नैमित्तिकोच्छेद: कर्तव्यो हि कथञ्चन ॥ ९७ ॥
जाते पुत्रे पितु: स्नानं सचैलस्य विधीयते। मृते च सर्वबन्धूनामित्याह भगवान् भृगु: ॥ ९८ ॥
प्रेताय सलिलं देयं बहिर्दग्ध्वा तु गोत्रजै:। प्रथमेऽह्नि चतुर्थे वा सप्तमे वाऽस्थिसञ्चयम् ॥ ९९ ॥

गणक (ज्योतिषी), निषाद (मल्लाह), वेश्या, वैद्य तथा कृपणका अन्न खानेपर भी मनुष्य तीन दिन उपवास करनेपर शुद्ध होता है। घरमें जन्म या मृत्यु होनेपर नित्यकर्म रुक जाते हैं, किंतु नैमित्तिक कर्म कभी बंद नहीं करना चाहिये। भगवान् भृगुने कहा है कि पुत्र उत्पन्न होनेपर पिताके लिये एवं मरणमें सभी बन्धुओंके लिये वस्त्रके साथ स्नान करना चाहिये। मृतकका बाहर शवदाह करना चाहिये। शवदाह करनेके बाद सगोत्र लोग प्रेतके उद्देश्यसे जलदान (तिलाञ्जलि) करें तथा पहले दिन या चौथे या तीसरे दिन अस्थि-चयन करें ॥ ९६–९९ ॥

अस्थ्नां सञ्चयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शो विधीयते। सोदकैस्तु क्रिया कार्या संशुद्धैस्तु सपिण्डजैः ॥१००॥
विषोद्बन्धनशस्त्राम्बुवह्निपातमृतेषु च। बाले प्रव्राजि संन्यासे देशान्तरमृते तथा ॥१०१॥
सद्यः शौचं भवेद्वीर तच्चाप्युक्तं चतुर्विधम्। गर्भस्रावे तदेवोक्तं पूर्णकालेन चेतरे ॥१०२॥
ब्राह्मणानामहोरात्रं क्षत्रियाणां दिनत्रयम्। षडहं चैव वैश्यानां शूद्राणां द्वादशाह्निकम् ॥१०३॥

अस्थि-चयनके बाद अङ्ग-स्पर्शका विधान है। शुद्ध होकर सोदकों (चौदह पीढ़ीके अन्तर्गतके लोगों) एवं सपिण्डजों (सात पीढ़ीके अन्तर्गतके लोगों) को और्ध्वदैहिक क्रिया (मरनेके बाद की जानेवाली विहित क्रिया) करनी चाहिये। हे वीर! विष, बन्धन, शस्त्र, जल, अग्नि और गिरनेसे मृत्यु होनेपर तथा बालक, परिव्राजक, संन्यासीकी एवं किसी व्यक्तिकी दूर देशमें मृत्यु होनेपर तत्काल शुद्धि हो जाती है। यह शुद्धि भी चार प्रकारकी कही गयी है। गर्भस्रावमें भी शीघ्र ही शुद्धि होती है। अन्य अशौच पूरे समयपर ही दूर होते हैं। (यह सब शौच) ब्राह्मणोंका एक अहोरात्रका, क्षत्रियोंका तीन दिनोंका, वैश्योंका छः दिनोंका एवं शूद्रोंका बारह दिनोंका होता है ॥ १००—१०३ ॥

दशद्वादशमासार्धमाससंख्यैर्दिनैर्गते। स्वाः स्वाः कर्मक्रियाः कुर्युः सर्वे वर्णा यथाक्रमम् ॥१०४॥
प्रेतमुद्दिश्य कर्तव्यमेकोद्दिष्टं विधानतः। सपिण्डीकरणं कार्यं प्रेते आवत्सरान्तरे ॥१०५॥
ततः पितृत्वमापन्ने दर्शपूर्णादिभिः शुभैः। प्रीणनं तस्य कर्तव्यं यथा श्रुतिनिदर्शनात् ॥१०६॥
पितुरर्थं समुद्दिश्य भूमिदानादिकं स्वयम्। कुर्यात्तेनास्य सुप्रीताः पितरो यान्ति राक्षस ॥१०७॥

सभी वर्णोंके लोग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) क्रमशः दस, बारह, पंद्रह दिन एवं एक मासके अन्तपर अपनी-अपनी क्रियाएँ करें। प्रेतके उद्देश्यसे विधिके अनुसार एकोद्दिष्ट श्राद्ध करना चाहिये। मरनेके एक वर्ष बीत जानेपर मनुष्यको सपिण्डीकरण श्राद्ध करना चाहिये। उसके बाद प्रेतके पितर हो जानेपर अमावास्या और पूर्णिमा तिथिके दिन वेदविहित विधिसे उनका तर्पण करना चाहिये। राक्षस! पिताके उद्देश्यसे स्वयं भूमि दान आदि करे, जिससे पितृगण इसके ऊपर प्रसन्न हो जायँ ॥ १०४—१०७ ॥

यद् यदिष्टतमं किंचिद् यच्चास्य दयितं गृहे। तत्तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥१०८॥
अध्येतव्या त्रयी नित्यं भाव्यं च विदुषा सदा। धर्मतो धनमादार्यं यष्टव्यं चापि शक्तितः ॥१०९॥
यच्चापि कुर्वतो नात्मा जुगुप्सामेति राक्षस। तत् कर्तव्यमशङ्केन यन्न गोप्यं महाजने ॥११०॥
एवमाचरतो लोके पुरुषस्य गृहे सतः। धर्मार्थकामसम्प्राप्तिः परत्रेह च शोभनम् ॥१११॥

पितरकी जीवित-अवस्थामें घरमें जो-जो पदार्थ उसको अत्यन्त अभिलषित एवं प्रिय रहा हो, उसकी अक्षयताकी कामना करते हुए गुणवान् पात्रको दान देना चाहिये। सदा त्रयी अर्थात् ऋक्, यजु और सामवेदका अध्ययन करना चाहिये, विद्वान् बनना चाहिये, धर्मपूर्वक धनार्जन एवं यथाशक्ति यज्ञ करना चाहिये। राक्षस! मनुष्यको जिस कार्यके करनेमें अपनी आत्मा निन्दित न हो एवं जो कार्य बड़े लोगोंसे छिपाने योग्य न हो, ऐसा कार्य निःशङ्क (आशङ्कारहित) होकर करना चाहिये। इस प्रकारके आचरण करनेवाले पुरुषके गृहस्थ होनेपर भी उसे धर्म, अर्थ एवं कामकी प्राप्ति होती है तथा वह व्यक्ति इस लोक और परलोकमें कल्याणका भागी होता है ॥ १०८—१११ ॥

एष तूद्देशतः प्रोक्तो गृहस्थाश्रम उत्तमः। वानप्रस्थाश्रमं धर्मं प्रवक्ष्याम्यवधार्यताम् ॥११२॥
अपत्यसन्ततिं दृष्ट्वा प्राज्ञो देहस्य चानतिम्। वानप्रस्थाश्रमं गच्छेदात्मनः शुद्धिकारणम् ॥११३॥
तत्रारण्योपभोगैश्च तपोभिश्चात्मकर्षणम्। भूमौ शय्या ब्रह्मचर्यं पितृदेवातिथिक्रिया ॥११४॥
होमस्त्रिषवणं स्नानं जटावल्कलधारणम्। वन्यस्नेहनिषेवित्वं वानप्रस्थविधिस्त्वयम् ॥११५॥

ऋषियोंने सुकेशि से कहा—सुकेशि ! अबतक हमने तुमसे उत्तम गृहस्थाश्रमका वर्णन किया है । अब हम वानप्रस्थ आश्रमके धर्मका वर्णन करेंगे, उसे ध्यानपूर्वक सुनो । बुद्धिमान् व्यक्ति पुत्रकी संतान (पौत्र) और अपने शरीरकी गिरती अवस्था देखकर अपने आत्माकी शुद्धिके लिये वानप्रस्थ आश्रमको ग्रहण करे । वहाँ अरण्यमें उत्पन्न मूल-फल आदिसे अपना जीवन-यापन करते हुए तपद्वारा शरीर-शोषण करे । इस आश्रममें भूमिपर शयन, ब्रह्मचर्यका पालन एवं पितर, देवता तथा अतिथियोंकी पूजा करे । हवन, तीनों काल—प्रात, मध्याह्न, सन्ध्याकाल—स्नान, जटा और वल्कलका धारण तथा वन्य फलोंसे निकाले रसका सेवन करे । यही वानप्रस्थ आश्रमकी विधि है ॥ ११२–११५ ॥

सर्वसङ्गपरित्यागो ब्रह्मचर्यममानिता । जितेन्द्रियत्वमावासे नैकस्मिन् वसतिश्चिरम् ॥११६॥
अनारम्भस्तथाहारो भैक्षान्नं नातिकोपिता । आत्मज्ञानावबोधेच्छा तथा चात्मावबोधनम् ॥११७॥
चतुर्थे त्वाश्रमे धर्मा अस्माभिस्ते प्रकीर्तिताः । वर्णधर्माणि चान्यानि निशामय निशाचर ॥११८॥
गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यं च वानप्रस्थं त्रयाश्रमाः । क्षत्रियस्यापि कथिता ये चाचारा द्विजस्य हि ॥११९॥

(चतुर्थ आश्रम-(सन्यास-)के धर्म ये हैं—) सभी प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग, ब्रह्मचर्य, अहंकारका अभाव, जितेन्द्रियता, एक स्थानपर अधिक समयतक न रहना, उद्योगका अभाव, भिक्षान्न भोजन, क्रोधका त्याग, आत्मज्ञानकी इच्छा तथा आत्मज्ञान । निशाचर ! हमने तुमसे चतुर्थ आश्रम-(सन्यास)के इन धर्मोंका वर्णन किया । अब अन्य वर्णधर्मोंको सुनो । क्षत्रियोंके लिये भी गार्हस्थ्य, ब्रह्मचर्य एवं वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमों एवं ब्राह्मणोंके लिये विहित आचारोंका विधान है ॥ ११६–११९ ॥

वैखानस्यं गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विशः । गार्हस्थ्यमुत्तमं त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर ॥१२०॥
स्वानि वर्णाश्रमोक्तानि धर्माणीह न हापयेत् । यो हापयति तस्यासौ परिकुप्यति भास्कर ॥१२१॥
कुपितः कुलनाशाय ईश्वरो रोगवृद्धये । भानुर्वै यतते तस्य नरस्य क्षणदाचर ॥१२२॥
तस्मात् स्वधर्मं न हि सन्त्यजेत न हापयेच्चापि हि नात्मवंशम् ।
यः सन्त्यजेच्चापि निजं हि धर्मं तस्मै प्रकुप्येत दिवाकरस्तु ॥१२३॥

राक्षस ! वैश्यजातिके लिये गार्हस्थ्य एवं वानप्रस्थ—इन दो आश्रमोंका विधान है तथा शूद्रके लिये एकमात्र उत्तम गृहस्थ-आश्रमका ही नियम है । अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित धर्मोंका इस लोकमें त्याग नहीं करना चाहिये । जो इनका त्याग करता है, उसपर सूर्य भगवान् क्रुद्ध होते हैं । निशाचर ! भगवान् भास्कर क्रुद्ध होकर उस मनुष्यकी रोगवृद्धि एवं उसके कुलका नाश करनेके लिये प्रयत्न करते हैं । अतः मनुष्य स्वधर्मका न तो त्याग करे और न अपने वंशकी हानि होने दे । जो मनुष्य अपने धर्मका त्याग करता है उसपर भगवान् सूर्य क्रोध करते हैं ॥ १२०–१२३ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्तो मुनिभिः सुकेशी प्रणम्य तान् ब्रह्मनिधीन् महर्षीन् ।
जगाम चात्मपुरं स्वकीयं मुहुर्मुहुर्धर्ममवेक्षमाणः ॥१२४॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुनियोंके ऐसा कहनेके बाद सुकेशी उन ब्रह्मज्ञ महर्षियोंको बारम्बार प्रणामकर धर्मका चिन्तन करते हुए लौटकर अपने पुरको चला गया ॥१२४॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

[अथ पञ्चदशोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः सुकेशिर्देवर्षे गत्वा स्वपुरमुत्तमम् । समाहूयाब्रवीत् सर्वान् राक्षसान् धार्मिकं वचः ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियसंयमः । दानं दया च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यममानिता ॥ २ ॥
शुभा सत्या च मधुरा वाङ् नित्यं सत्क्रियारतिः । सदाचारनिषेवित्वं परलोकप्रदायकाः ॥ ३ ॥
इत्यूचुर्मुनयो मह्यं धर्ममाद्यं पुरातनम् । सोऽहमाज्ञापये सर्वान् क्रियतामविकल्पतः ॥ ४ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(दैत्योंका धर्म एवं सदाचारका पालन, सुकेशीके नगरका उत्थान-पतन, वरुणा-असीकी महिमा, लोलार्क-प्रसंग)

पुलस्त्यजी बोले—देवर्षे ! उसके बाद अपने उत्तम नगरमें जाकर सुकेशीने सभी राक्षसोंको बुलाकर उनसे धर्मकी बात बतलायी । (सुकेशिने कहा—) अहिंसा, सत्य, चोरीका सर्वथा त्याग, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, दान, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य, अहंकारका न करना, प्रिय, सत्य और मधुर वाणी बोलना, सदा सत्कार्यमें श्रद्धा रखना एवं सदाचारका पालन करना—ये सब धर्म परलोकमें सुख देनेवाले हैं । मुनियोंने इस प्रकारके आदिकालके पुरातन धर्मको मुझे बतलाया है । मैं तुमलोगोंको आज्ञा देता हूँ कि तुमलोग बिना किसी हिचकके इन धर्मोंका आचरण करो ॥ १–४ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततः सुकेशिवचनात् सर्व एव निशाचराः । त्रयोदशाङ्गं ते धर्मं चक्रुर्मुदितमानसाः ॥ ५ ॥
ततः प्रवृद्धिं सुतरामगच्छन्त निशाचराः । पुत्रपौत्रार्थसंयुक्ताः सदाचारसमन्विताः ॥ ६ ॥
तज्ज्योतिस्तेजसस्तेषां राक्षसानां महात्मनाम् । गन्तुं नाशक्नुवन् सूर्यो नक्षत्राणि न चन्द्रमाः ॥ ७ ॥
ततस्त्रिभुवने ब्रह्मन् निशाचरपुरोऽभवत् । दिवा चन्द्रस्य सदृशः क्षणदायां च सूर्यवत् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—उसके बाद सुकेशीके वचनसे सभी राक्षस प्रसन्न चित्त होकर (अहिंसा आदि) तेरह अङ्गवाले धर्मका आचरण करने लगे । इससे राक्षसोंकी सभी प्रकारकी अच्छी उन्नति हुई । वे पुत्र पौत्र तथा अर्थ, धर्म-सदाचार आदिसे सम्पन्न हो गये । उन महान् राक्षसोंके तेजके सामने सूर्य, नक्षत्र और चन्द्रमाकी गति एवं कान्ति धीमी-सी दीखने लगी । ब्रह्मन् ! उसके बाद निशाचरोंकी नगरी तीनों लोकोंमें दिनमें चन्द्रमाके समान और रातमें सूर्यके समान चमकने लगी ॥ ५–८ ॥

न ज्ञायते गतिर्व्योम्नि भास्करस्य ततोऽम्बरे । शशाङ्कमिति तेजस्त्वादमन्यन्त पुरोत्तमम् ॥ ९ ॥
स्वं विकासं विमुञ्चन्ति निशामिति व्यचिन्तयन् । कमलाकरेषु कमला मित्रमित्यवगम्य हि ।
रात्रौ विकसिता ब्रह्मन् विभूतिं दातुमीप्सवः ॥ १० ॥
कौशिका रात्रिसमयं बुद्ध्वा निरगमन् किल । तान् वायसास्तदा मत्वा दिवा निघ्नन्ति कौशिकान् ॥ ११ ॥
स्नातकास्त्वापगास्वेव स्नानजप्यपरायणाः । आकण्ठमग्नास्तिष्ठन्ति रात्रौ ज्ञात्वाऽथ वासरम् ॥ १२ ॥

(फलतः) अब आकाशमें सूर्यकी गतिका (चलनेका) पता नहीं लगता था । लोग उस श्रेष्ठ नगरको नगरके तेजके कारण आकाशमें चन्द्रमा समझने लग गये । ब्रह्मन् ! सरोवरके कमल दिनको रात्रि समझकर विकसित नहीं होते थे । पर वे रात्रिमें सुकेशीके पुरको सूर्य समझकर विभूति प्रदान करनेकी इच्छासे विकसित होने लगे । इसी प्रकार उल्लू भी दिनको रात समझकर बाहर निकल आये और कौए दिनमें आये जानकर उन उल्लुओंको मारने लगे ।

स्नान करनेवाले लोग भी रात्रिको दिन समझकर गलेतक जलमें घुसकर स्नान करने लगे एवं जप करते हुए जलमें खड़े रहे ॥ ७—१२ ॥

न व्ययुज्यन्त चक्राश्च तदा वै पुरदर्शने। मन्यमानास्तु दिवसमिदमुच्चैर्ब्रुवन्ति च ॥ १३ ॥
नूनं कान्ताविहीनेन केनचिच्चक्रपक्षिणा। उत्सृष्टं जीवितं शून्ये फूत्कृत्य सरितस्तटे ॥ १४ ॥
ततोऽनुकम्पयाविष्टो विवस्वांस्तीव्ररश्मिभिः। सतापयञ्जगत् सर्वं नास्तमेति कथंचन ॥ १५ ॥
अन्ये वदन्ति चक्राह्वो नूनं कश्चिन्मृतो भवेत्। तत्कान्तया तपस्तप्तं भर्तृशोकार्तया बत ॥ १६ ॥
आराधितस्तु भगवांस्तपसा वै दिवाकरः। तेनासौ शशिनिर्जेता नास्तमेति रविर्ध्रुवम् ॥ १७ ॥

उस समय सुकेशीके नगरके (सूर्यवत्) दर्शन होनेसे चकवा-चकई रात्रिको ही दिन मानकर परस्पर अलग नहीं होते थे। वे उच्चस्वरसे कहते—निश्चय ही किसी पत्नीसे विहीन चक्रवाक पक्षीने एकान्तमें नदीके तटपर फूत्कार करके जीवन त्याग दिया है। इसीसे दयार्द्र सूर्य अपनी तेज किरणोंसे जगत्को तपाते हुए किसी प्रकार अस्त नहीं हो रहे हैं। दूसरे कहते हैं—'निश्चय ही कोई चक्रवाक मर गया है और पतिके शोकमें उसकी दुखिनी कान्ताने भारी तप किया है। इसीलिये निश्चय ही उसकी तपस्यासे प्रसन्न हुए एवं चन्द्रमाको जीतनेवाले भगवान् सूर्य अस्त नहीं हो रहे हैं ॥ १३—१७ ॥

यज्विनो होमशालासु सह ऋत्विग्भिरध्वरे। प्रावर्तयन्त कर्माणि रात्रावपि महामुने ॥ १८ ॥
महाभागवताः पूजां विष्णोः कुर्वन्ति भक्तितः। रवौ शशिनि चैवान्ये ब्रह्मणोऽन्ये हरस्य च ॥ १९ ॥
कामिनश्चाप्यमन्यन्त साधु चन्द्रमसा कृतम्। यदियं रजनी रम्या कृता सततकौमुदी ॥ २० ॥

महामुने! उन दिनों यज्ञशालाओंमें ऋत्विजोंके साथ यजमान लोग रात्रिमें भी यज्ञकर्म करनेमें लगे रहते थे। विष्णुके भक्तलोग भक्तिपूर्वक सदा विष्णुकी पूजा करते रहते एवं दूसरे लोग सूर्य, चन्द्र, ब्रह्मा और शिवकी आराधनामें लगे रहते थे। कामी लोग यह मानने लगे कि चन्द्रमाने रात्रिको निरन्तरके लिये अपनी ज्योत्स्नामयी बना दिया, अच्छा हुआ ॥ १८—२० ॥

अन्ये ब्रुवँल्लोकगुरुरस्माभिश्चक्रभृद् वशी। निर्व्याजेन महाभागैरर्चितः कुसुमैः शुभैः ॥ २१ ॥
सह लक्ष्म्या महायोगी नभस्यादिचतुर्ष्वपि। अशून्यशयना नाम द्वितीया सर्वकामदा ॥ २२ ॥
तेनासौ भगवान् प्रीतः प्रादाच्छयनमुत्तमम्। अशून्यं च महाभोगैरनस्तमितशेखरम् ॥ २३ ॥
अन्येऽब्रुवन् ध्रुवं देव्या रोहिण्या शशिनः क्षयम्। दृष्ट्वा तप्तं तपो घोरं रुद्राराधनकाम्यया ॥ २४ ॥
पुण्यायामक्षयाष्टम्यां वेदोक्तविधिना स्वयम्। तुष्टेन शम्भुना दत्तं वरं चास्यै यदृच्छया ॥ २५ ॥

दूसरे लोग कहने लगे कि हमलोगोंने श्रावण आदि चार महीनोंमें शुद्धभावसे अति सुगन्धित पवित्र पुष्पोंद्वारा महालक्ष्मीके साथ सुदर्शनचक्रको धारण करनेवाले भगवान् विष्णुकी पूजा की है। इसी अवधिमें सर्वकामदा अशून्यशयना द्वितीया तिथि होती है। उसीसे प्रसन्न होकर भगवान्ने अशून्य तथा महाभोगोंसे परिपूर्ण उत्तम शयन प्रदान किया है। दूसरे कहते कि देवी रोहिणीने चन्द्रमाका क्षय देखकर निश्चय ही रुद्रकी आराधना करनेकी अभिलाषासे परम पवित्र अक्षय अष्टमी तिथिमें वेदोक्त विधिसे कठिन तपस्या की है, जिससे सन्तुष्ट होकर भगवान् शंकरने उसे अपनी इच्छासे वर दिया है ॥ २१—२५ ॥

अन्येऽब्रुवन् चन्द्रमसा ध्रुवमाराधितो हरिः। व्रतेनेदं त्वखण्डेन तेनाखण्डः शशी दिवि ॥ २६ ॥
अन्ये ब्रुवञ्छशाङ्केन ध्रुवं रक्षा कृतात्मनः। पदद्वयं समभ्यर्च्य विष्णोरमिततेजसः ॥ २७ ॥

'नमो भवाय शर्वाय' यह कहा। उसकी उस चीखको सुनकर गगनमें विचरण करनेवाले सभी चारण चिल्लाने लगे—हाय हाय! हाय हाय! यह शिव भक्त तो नीचे गिर रहा है॥ ३८-४१॥

तच्चारणवचः शर्वः श्रुतवान् सर्वगोऽव्ययः। श्रुत्वा सञ्चिन्तयामास केनासौ पात्यते भुवि॥ ४२॥
ज्ञातवान् देवपतिना सहस्रकिरणेन तत्। पातितं राक्षसपुरं ततः क्रुद्धस्त्रिलोचनः॥ ४३॥
क्रुद्धस्तु भगवन्तं तं भानुमन्तमपश्यत। दृष्टमात्रस्त्रिनेत्रेण निपपात ततोऽम्बरात्॥ ४४॥
गगनात् स परिभ्रष्टः पथि वायुनिषेविते। यदृच्छया निपतितो यन्त्रमुक्तो यथोपलः॥ ४५॥

सर्वत्र व्याप्त और अविनाशी नित्य शंकरने चारणोंके उस वचनको सुना और फिर सोचने लगे—यह नगर किसके द्वारा पृथ्वीपर गिराया जा रहा है। उन्होंने यह जान लिया कि देवोंके पति सहस्रकिरणमाली सूर्यद्वारा राक्षसोंका यह पुर गिराया गया है। इससे त्रिलोचन शंकर क्रुद्ध हो गये और उन्होंने भगवान् सूर्यको देखा। त्रिनेत्रधारी शंकरके देखते ही वे सूर्य आकाशसे नीचे आ गिरे। आकाशसे नीचे वायुमण्डलमार्गमें वे इस प्रकार गिरे जैसे यन्त्रके द्वारा कोई पत्थर फेंका गया हो॥ ४२-४५॥

ततो वायुपथा मुक्तः किंशुकोज्ज्वलविग्रहः। निपपातान्तरिक्षात् स वृतः किन्नरचारणैः॥ ४६॥
चारणैर्वेष्टितो भानुः प्रविभात्यम्बरात् पतन्। अर्धपक्वं यथा तालात् फलं कपिभिरावृतम्॥ ४७॥
ततस्तु ऋषयोऽभ्येत्य प्रत्यूचुर्भानुमालिनम्। निपतस्व हरिक्षेत्रे यदि श्रेयोऽभिवाञ्छसि॥ ४८॥
ततोऽब्रवीत् पतन्नेव विवस्वांस्तांस्तपोधनान्। किं तत् क्षेत्रं हरेः पुण्यं वदध्वं शीघ्रमेव मे॥ ४९॥

फिर पलाश-पुष्पके समान आभावाले सूर्य वायुमण्डलसे अलग होकर किन्नरों एवं चारणोंसे भरे अन्तरिक्षसे नीचे गिर गये। उस समय आकाशसे नीचे गिरते हुए सूर्य चारणोंसे घिरे हुए ऐसे लग रहे थे, जैसे तालवृक्षसे गिरनेवाला अधपका तालफल कपियोंसे घिरा हो। तब मुनियोंने किरणमाली भगवान् सूर्यदेवके समीप आकर उनसे कहा कि यदि तुम कल्याण चाहते हो तो विष्णुके क्षेत्रमें गिरो। गिरते हुए ही सूर्यने (ऐसा सुनकर) उन तपस्वियोंसे पूछा—विष्णुभगवान्का वह पवित्र क्षेत्र कौन-सा है? आपलोग उसे मुझे शीघ्र बतलायें॥ ४६-४९॥

तमूचुर्मुनयः सूर्यं शृणु क्षेत्रं महाफलम्। साम्प्रतं वासुदेवस्य भावि तच्छंकरस्य च॥ ५०॥
योगशायिनमारभ्य यावत् केशवदर्शनम्। एतत् क्षेत्रं हरेः पुण्यं नाम्ना वाराणसी पुरी॥ ५१॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् भानुर्भवनेत्राग्नितापितः। वरणायास्तथैवास्यास्त्वन्तरे निपपात ह॥ ५२॥
ततः प्रदह्यति तनौ निमज्ज्यास्यां लुलद् रविः। वरणायां समभ्येत्य न्यमज्जत यथेच्छया॥ ५३॥

इसपर मुनियोंने सूर्यसे बतलाया—सूर्यदेव! आप महाफल देनेवाले उस क्षेत्रका विवरण सुनिये। इस समय वह क्षेत्र वासुदेवका क्षेत्र है, किंतु भविष्यमें वह शंकरका क्षेत्र होगा। योगशायीसे प्रारम्भ कर केशवदर्शनतकका क्षेत्र हरिका पवित्र क्षेत्र है, इसका नाम वाराणसीपुरी है। उसे सुनकर शिवजीकी नेत्राग्निसे संतप्त होते हुए भगवान् सूर्य वरुणा और असी[1] इन दोनों नदियोंके बीचमें गिरे। उसके बाद शरीरके जलते रहनेसे व्याकुल हुए सूर्य असी नदीमें स्नान करनेके बाद वरुणा नदीमें इच्छानुकूल स्नान किये॥ ५०-५३॥

भूयोऽसिं वरुणां भूयो भूयोऽपि वरुणामसिम्। लुलंस्त्रिनेत्रवह्न्यार्तो भ्रमतेऽलातचक्रवत्॥ ५४॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन् ऋषयो यक्षराक्षसाः। नागा विद्याधराश्चापि पक्षिणोऽप्सरसस्तथा॥ ५५॥

१-आज भी वरुणा और असी नदियाँ वाराणसीको अपने अन्तरालमें लिये हुए हैं। असी बरसातमें जलभरित होती है, पर वरुणा सदा जलपूर्ण रहती है।

यावन्तो भास्कररथे भूतप्रेतादयः स्थिताः । तावन्तो ब्रह्मसदनं गता वेदयितुं मुने ॥ ५६ ॥
ततो ब्रह्मा सुरपतिः सुरैः सार्धं समभ्यगात् । रम्यं महेश्वरावासं मन्दरं रविकारणात् ॥ ५७ ॥
गत्वा दृष्ट्वा च देवेशं शंकरं शूलपाणिनम् । प्रसाद्य भास्करार्थाय वाराणस्यामुपानयत् ॥ ५८ ॥

इस प्रकार शंकरके तीसरे नेत्रकी अग्निसे दग्ध होकर वे बारंबार अग्नि और वरुणा नदियोंके बीच अलातचक्र (लुकारीके मण्डल)के समान चक्कर काटने लगे । मुने ! इस बीच ऋषि, यक्ष, राक्षस, नाग, विद्याधर, पक्षी, अप्सराएँ और भास्करके रथमें जितने भूत-प्रेत आदि थे, वे सभी इसे शान्त करनेके लिये ब्रह्मलोकमें गये । तब सुरपति इन्द्र, ब्रह्मा देवताओंके साथ सूर्यकी शान्तिके लिये महेश्वरके आवास-स्थान मन्दर पर्वतपर गये । वहाँ जाकर तथा देवेश शूलपाणि भगवान् शिवका दर्शन करनेके बाद भगवान् ब्रह्माजी भास्करके लिये उन्हें (शिवजीको) प्रसन्न कर उन्हें (सूर्यको) वाराणसीमें लाये ॥ ५४—५८ ॥

ततो दिवाकरं भूयः पाणिनादाय शंकरः । छाया नामास्य लोलेति रथमारोपयत् पुनः ॥ ५९ ॥
आरोपिते दिनकरे ब्रह्माऽभ्येत्य सुकेशिनम् । सबान्धवं सनगरं पुनरारोपयद् दिवि ॥ ६० ॥
समारोप्य सुकेशिं च परिष्वज्य च शंकरम् । प्रणम्य केशवं देवं वैराजं स्वगृहं गतः ॥ ६१ ॥

एवं पुरा नारद भास्करेण पुरं सुकेशेर्भुवि संनिपातितम् ।
दिवाकरो भूमितले भवेन क्षिप्तस्तु दृष्ट्वा न च संप्रदग्धः ॥ ६२ ॥
आरोपितो भूमितलाद् भवेन भूयोऽपि भानुः प्रतिभासनाय ।
स्वयंभुवा चापि निशाचरेन्द्रस्त्वारोपितः खे सपुरः सबन्धुः ॥ ६३ ॥
॥ इति श्रीवामनपुराणे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

फिर भगवान् शंकरने सूर्य भगवान्को हाथमें लेकर उनका नाम 'लोल' रख दिया और उन्हें पुनः उनके रथपर स्थापित कर दिया । दिनकरके अपने रथमें आरूढ़ हो जानेपर ब्रह्मा सुकेशीके पास गये एवं उसे भी पुनः बान्धवों और नगरसहित आकाशमें पूर्ववत् स्थापित कर दिया । सुकेशीको पुनः आकाशमें स्थापित करनेके बाद ब्रह्माजी शंकरका आलिङ्गन एवं केशवदेवको प्रणाम कर अपने वैराज नामक लोकमें चले गये । नारदजी ! प्राचीन समयमें इस प्रकार सूर्यने सुकेशीके नगरको पृथ्वीपर गिराया एवं महादेवने भगवान् सूर्यको अपने तृतीय नेत्रकी अग्निसे दग्ध न कर केवल भूमितलपर गिरा ही दिया था । फिर शंकरने सूर्यको प्रतिभासित होनेके लिए भूमितलसे आकाशमें स्थित किया और ब्रह्माने निशाचरराजको उसके पुर और बन्धुओंके साथ आकाशमें फिर संस्थापित कर दिया ॥ ५९—६३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

[अथ षोडशोऽध्यायः]

नारद उवाच

यानेतान् भगवान् प्राह कामिभिः शशिनं प्रति । आराधनाय देवाभ्यां हरीशाभ्यां वदस्व तान् ॥ १ ॥

सोलहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(देवाराधन शयन—तिथियों और उनके अशून्यशयन आदि व्रतों एवं शिव-पूजनका वर्णन)

नारदजीने कहा—पुलस्त्यजी ! आपने चन्द्रमाके प्रति कामियोंद्वारा वर्णित श्रीहरि और शंकरकी आराधनाके लिये जिन व्रतोंका उल्लेख किया है उनका वर्णन करें ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कामिभिः प्रोक्तान् व्रतान् पुण्यान् कलिप्रिय। आराधनाय शर्वस्य केशवस्य च धीमतः ॥ २ ॥
यदा त्वाषाढी संयाति व्रजते चोत्तरायणम्। तदा स्वपिति देवेशो भोगिभोगे श्रियः पतिः ॥ ३ ॥
प्रतिसुप्ते विभौ तस्मिन् देवगन्धर्वगुह्यकाः। देवानां मातरश्चापि प्रसुप्ताश्चाप्यनुक्रमात् ॥ ४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—लोक-कल्याणके लिये कलहको भी इष्ट माननेवाले कलि (कलह) प्रिय नारदजी ! आप महादेव और बुद्धिमान् श्रीहरिकी आराधनाके लिये कामियोंद्वारा कहे गये पवित्र व्रतोंका वर्णन सुनें। जब आषाढ़ी पूर्णिमा बीत जाती है एवं उत्तरायण चढ़ता रहता है, तब लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु भोगिभोग (शेषशय्या) पर सो जाते हैं। उन विष्णुके सो जानेपर देवता, गन्धर्व, गुह्यक एवं देवमाताएँ भी क्रमशः सो जाती हैं ॥ २–४ ॥

नारद उवाच

कथयस्व सुरादीनां शयने विधिमुत्तमम्। सर्वमनुक्रमेणैव पुरस्कृत्य जनार्दनम् ॥ ५ ॥

नारदने कहा—जनार्दनसे लेकर अनुक्रमसे देवता आदिके शयनकी सब उत्तम विधि मुझे बतलाइये ॥ ५ ॥

पुलस्त्य उवाच

मिथुनाभिगते सूर्ये शुक्लपक्षे तपोधन। एकादश्यां जगत्स्वामी शयनं परिकल्पयेत् ॥ ६ ॥
शेषाहिभोगपर्यङ्कं कृत्वा सम्पूज्य केशवम्। कृत्वोपवीतकं चैव सम्यक्सम्पूज्य वै द्विजान् ॥ ७ ॥
अनुज्ञां ब्राह्मणेभ्यश्च द्वादश्यां प्रयतः शुचिः। लब्ध्वा पीताम्बरधरः स्वस्तिनिद्रां समानयेत् ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—तपोधन नारदजी ! आषाढ़के शुक्लपक्षमें सूर्यके मिथुन राशिमें चले जानेपर एकादशी तिथिके दिन जगदीश्वर विष्णुकी शय्याकी परिकल्पना करनी चाहिये। उस शय्यापर शेषनागके शरीर और फणकी रचना कर यज्ञोपवीतयुक्त श्रीकेशव (की प्रतिमा) की पूजा कर ब्राह्मणोंकी आज्ञासे संयम एवं पवित्रतापूर्वक रहते हुए स्वयं भी पीताम्बर धारण कर द्वादशी तिथिमें सुखपूर्वक उन्हें सुलाना चाहिये ॥ ६–८ ॥

त्रयोदश्यां ततः कामः स्वपते शयने शुभे। कदम्बानां सुगन्धानां कुसुमैः परिकल्पिते ॥ ९ ॥
चतुर्दश्यां ततो यक्षाः स्वपन्ति सुखशीतले। सौवर्णपङ्कजकृते सुखास्तीर्णोपधानके ॥ १० ॥
पौर्णमास्यामुमानाथः स्वपते चर्मसंस्तरे। वैयाघ्रे च जटाभारं समुद्ग्रथ्यान्यचर्मणा ॥ ११ ॥
ततो दिवाकरो राशिं सम्प्रयाति च कर्कटम्। ततोऽमराणां रजनी भवति दक्षिणायनम् ॥ १२ ॥

इसके बाद त्रयोदशी तिथिमें सुगन्धित कदम्बके पुष्पोंसे बनी पवित्र शय्यापर कामदेव शयन करते हैं। फिर चतुर्दशीको सुशीतल स्वर्णपङ्कजसे निर्मित सुखदायकरूपमें बिछाये गये एवं तकियेवाली शय्यापर यक्षलोग शयन करते हैं। पूर्णमासी तिथिको चर्मवस्त्र धारणकर उमानाथ शंकर एक-दूसरे चर्मद्वारा जटाभार बाँधकर व्याघ्र चर्मकी शय्यापर सोते हैं। उसके बाद जब सूर्य कर्क राशिमें गमन करते हैं तब देवताओंके लिये रात्रिस्वरूप दक्षिणायनका आरम्भ हो जाता है ॥ ९–१२ ॥

ब्रह्मा प्रतिपदि तथा नीलोत्पलमयेऽनघ। तल्पे स्वपिति लोकानां दर्शयन् मार्गमुत्तमम् ॥ १३ ॥
विश्वकर्मा द्वितीयायां तृतीयायां गिरेः सुता। विनायकश्चतुर्थ्यां तु पञ्चम्यामपि धर्मराट् ॥ १४ ॥
षष्ठ्यां स्कन्दः प्रस्वपिति सप्तम्यां भगवान् रविः। कात्यायनी तथाष्टम्यां नवम्यां कमलालया ॥ १५ ॥
दशम्यां भुजगेन्द्राश्च स्वपन्ते वायुभोजनाः। एकादश्यां तु कृष्णायां साध्या ब्रह्मन् स्वपन्ति च ॥१६॥

यावन्तो भास्कररथे भूतप्रेतादयः स्थिताः। तावन्तो ब्रह्मसदनं गता वदयितुं मुने ॥ ५६॥
ततो ब्रह्मा सुरपतिः सुरैः सार्धं समभ्यगात्। रम्यं महेश्वरावासं मन्दरं रविकारणात् ॥ ५७॥
गत्वा दृष्ट्वा च देवेशं शंकरं शूलपाणिनम्। प्रसाद्य भास्करार्थाय वाराणस्यामुपानयत् ॥ ५८॥

इस प्रकार शंकरके तीसरे नेत्रकी अग्निसे दग्ध होकर वे बारबार असि और वरुणा नदियोंकी ओर अलातचक्र (लुकाठीके मण्डल)के समान चक्कर काटने लगे। मुने! इस बीच ऋषि, यक्ष, राक्षस, नाग, विद्याधर, पक्षी, अप्सराएँ और भास्करके रथमें जितने भूत-प्रेत आदि थे, वे सभी इसे ज्ञापित करनेके लिये ब्रह्मलोकमें गये। तब सुरपति इन्द्र, ब्रह्मा देवताओंके साथ सूर्यकी शान्तिके लिये महेश्वरके आवास-स्थान मन्दर पर्वतपर गये। वहाँ जाकर तथा देवेश शूलपाणि भगवान् शिवका दर्शन करनेके बाद भगवान् ब्रह्माजी भास्करके लिये उन्हें (शिवजीको) प्रसन्न कर उन्हें (सूर्यको) वाराणसीमें लाये ॥ ५४—५८ ॥

ततो दिवाकरं भूयः पाणिनादाय शंकरः। कृत्वा नामास्य लोलेति रथमारोपयत् पुनः ॥ ५९ ॥
आरोपिते दिनकरे ब्रह्माऽभ्येत्य सुकेशिनम्। सबान्धवं सनगरं पुनरारोपयद् दिवि ॥ ६० ॥
समारोप्य सुकेशिं च परिष्वज्य च शंकरम्। प्रणम्य केशवं देवं वैराजं स्वगृहं गतः ॥ ६१ ॥
एवं पुरा नारद भास्करेण पुरं सुकेशेर्भुवि सन्निपातितम्।
दिवाकरो भूमितले भवेन क्षिप्तस्तु दृष्ट्या न च सम्प्रदग्धः ॥ ६२ ॥
आरोपितो भूमितलाद् भवेन भूयोऽपि भानुः प्रतिभासनाय।
स्वयम्भुवा चापि निशाचरेन्द्रस्त्वारोपितः खे सपुरः सबन्धुः ॥ ६३ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

फिर भगवान् शंकरने सूर्य भगवान्‌को हाथमें लेकर उनका नाम 'लोल' रख दिया और उन्हें पुनः उनके रथपर स्थापित कर दिया। दिनकरके अपने रथमें आरूढ़ हो जानेपर ब्रह्मा सुकेशीके पास गये एवं उसे भी पुनः बान्धवों और नगरसहित आकाशमें पूर्ववत् स्थापित कर दिया। सुकेशीको पुनः आकाशमें स्थापित करनेके बाद ब्रह्माजी शंकरका आलिङ्गन एवं केशवदेवको प्रणाम कर अपने वैराज नामक लोकमें चले गये। नारदजी! प्राचीन समयमें इस प्रकार सूर्यने सुकेशीके नगरको पृथ्वीपर गिराया एवं महादेवने भगवान् सूर्यको अपने तृतीय नेत्रकी अग्निसे दग्ध न कर केवल भूमितलपर गिरा ही दिया था। फिर शंकरने सूर्यको प्रतिभासित होनेके लिये भूमितलसे आकाशमें स्थित किया और ब्रह्माने निशाचरराजको उसके पुर और बन्धुओंके साथ आकाशमें फिर संस्थापित कर दिया ॥ ५९—६३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

[अथ षोडशोऽध्यायः]

नारद उवाच

यानेतान् भगवान् प्राह कामिभिः शशिनं प्रति। आराधनाय देवाभ्यां हरीशाभ्यां वदस्व तान् ॥ १ ॥

सोलहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(देवताओंका शयन—तिथियों और उनके अशून्यशयन आदि व्रतों एवं शिव-पूजनका वर्णन)

नारदजीने कहा—पुलस्त्यजी! आपने चन्द्रमाके प्रति कामियोंद्वारा वर्णित श्रीहरि और शंकरकी आराधनाके लिये जिन व्रतोंका उल्लेख किया है उनका वर्णन करें ॥ १ ॥

*

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कामिभिः प्रोक्तान् व्रतान् पुण्यान् कलिप्रिय। आराधनाय शर्वस्य केशवस्य च धीमतः॥ २॥
यदा त्वाषाढी संयाति व्रजते चोत्तरायणम्। तदा स्वपिति देवेशो भोगिभोगे श्रियः पतिः॥ ३॥
प्रतिसुप्ते विभौ तस्मिन् देवगन्धर्वगुह्यकाः। देवानां मातरश्चापि प्रसुप्ताश्चाप्यनुक्रमात्॥ ४॥

पुलस्त्यजी बोले—लोक-कल्याणके लिये कलहको भी इष्ट माननेवाले कलि (कलह) प्रिय नारदजी! आप महादेव और बुद्धिमान् श्रीहरिकी आराधनाके लिये कामियोंद्वारा कहे गये पवित्र व्रतोंका वर्णन सुनें। जब आषाढ़ी पूर्णिमा बीत जाती है एवं उत्तरायण चलता रहता है, तब लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु भोगिभोग (शेषशय्या) पर सो जाते हैं। उन विष्णुके सो जानेपर देवता, गन्धर्व, गुह्यक एवं देवमाताएँ भी क्रमशः सो जाती हैं॥ २-४॥

नारद उवाच

कथयस्व सुरादीनां शयने विधिमुत्तमम्। सर्वमनुक्रमेणैव पुरस्कृत्य जनार्दनम्॥ ५॥

नारदने कहा—जनार्दनसे लेकर अनुक्रमसे देवता आदिके शयनकी सब उत्तम विधि मुझे बतलाइये॥ ५॥

पुलस्त्य उवाच

मिथुनाभिगते सूर्ये शुक्लपक्षे तपोधन। एकादश्यां जगत्स्वामी शयनं परिकल्पयेत्॥ ६॥
शेषाहिभोगपर्यङ्कं कृत्वा सम्पूज्य केशवम्। कृत्वोपवीतकं चैव सम्यक् सम्पूज्य वै द्विजान्॥ ७॥
अनुज्ञां ब्राह्मणेभ्यश्च द्वादश्यां प्रयतः शुचिः। लब्ध्वा पीताम्बरधरः स्वस्तिनिद्रां समानयेत्॥ ८॥

पुलस्त्यजी बोले—तपोधन नारदजी! आषाढ़के शुक्लपक्षमें सूर्यके मिथुन राशिमें चले जानेपर एकादशी तिथिके दिन जगदीश्वर विष्णुकी शय्याकी परिकल्पना करनी चाहिये। उस शय्यापर शेषनागके शरीर और फणकी रचना कर यज्ञोपवीतयुक्त श्रीकेशव (की प्रतिमा) की पूजा कर ब्राह्मणोंकी आज्ञासे संयम एवं पवित्रतापूर्वक रहते हुए स्वयं भी पीताम्बर धारण कर द्वादशी तिथिमें सुखपूर्वक उन्हें सुलाना चाहिये॥ ६-८॥

त्रयोदश्यां ततः कामः स्वपते शयने शुभे। कदम्बानां सुगन्धानां कुसुमैः परिकल्पिते॥ ९॥
चतुर्दश्यां ततो यक्षाः स्वपन्ति सुखशीतले। सौवर्णपङ्कजकृते सुखास्तीर्णोपधानके॥ १०॥
पौर्णमास्यामुमानाथः स्वपते चर्मसंस्तरे। वैयाघ्रे च जटाभारं समुद्ग्रथ्यान्यचर्मणा॥ ११॥
ततो दिवाकरो राशिं संप्रयाति च कर्कटम्। ततोऽमराणां रजनी भवते दक्षिणायनम्॥ १२॥

इसके बाद त्रयोदशी तिथिमें सुगन्धित कदम्बके पुष्पोंसे बनी पवित्र शय्यापर कामदेव शयन करते हैं। फिर चतुर्दशीको सुशीतल स्वर्णपङ्कजसे निर्मित सुखदायकरूपमें बिछाये गये एवं तकियेवाली शय्यापर यक्षलोग शयन करते हैं। पूर्णमासी तिथिको चर्मवस्त्र धारणकर उमानाथ शंकर एक-दूसरे चर्मद्वारा जटाभार बाँधकर व्याघ्र चर्मकी शय्यापर सोते हैं। उसके बाद जब सूर्य कर्क राशिमें गमन करते हैं तब देवताओंके लिये रात्रिस्वरूप दक्षिणायनका आरम्भ हो जाता है॥ ९-१२॥

ब्रह्मा प्रतिपदि तथा नीलोत्पलमयेऽनघ। तल्पे स्वपिति लोकानां दर्शयन् मार्गमुत्तमम्॥ १३॥
विश्वकर्मा द्वितीयायां तृतीयायां गिरेः सुता। विनायकश्चतुर्थ्यां तु पञ्चम्यामपि धर्मराट्॥ १४॥
षष्ठ्यां स्कन्दः प्रस्वपिति सप्तम्यां भगवान् रविः। कात्यायनी तथाष्टम्यां नवम्यां कमलालया॥ १५॥
दशम्यां भुजगेन्द्राश्च स्वपन्ते वायुभोजनाः। एकादश्यां तु कृष्णायां साध्या ब्रह्मन् स्वपन्ति च॥ १६॥

निष्पाप नारदजी ! लोगोंको उत्तम मार्ग दिखलाते हुए ब्रह्माजी (श्रावण कृष्ण) प्रतिपदाको नीले कमलकी शय्यापर सो जाते हैं । विश्वकर्मा द्वितीयाको, पार्वतीजी तृतीयाको, गणेशजी चतुर्थीको, धर्मराज पञ्चमीको, कार्तिकेयजी षष्ठीको, सूर्य भगवान् सप्तमीको, दुर्गादेवी अष्टमीको, लक्ष्मीजी नवमीको, वायु पीनेवाले श्रेष्ठ सर्प दशमीको और साध्यगण कृष्णपक्षकी एकादशीको सो जाते हैं ॥ १३–१६ ॥

एष क्रमस्ते गदितो नभादौ स्वपने मुने। स्वपत्सु तत्र देवेषु प्रावृट्काल समाययौ ॥ १७ ॥
कङ्काः सम बलाकाभिरारोहन्ति नभोत्समान्।
वायसाश्चापि कुर्वन्ति नीडानि ऋषिपुंगव। वायसाश्च स्वपन्त्येते ऋतौ गर्भभरालसाः ॥ १८ ॥
यस्यां तिथ्यां प्रस्वपिति विश्वकर्मा प्रजापतिः। द्वितीया सा शुभा पुण्या अशून्यशयनोदिता ॥ १९ ॥
तस्यां तिथावर्च्य हरिं श्रीवत्साङ्कं चतुर्भुजम्। पर्यङ्कस्थं सम लक्ष्म्या गन्धपुष्पादिभिर्मुने ॥ २० ॥
ततो देवाय शय्यायां फलानि प्रक्षिपेत् क्रमात्। सुरभीणि निवेद्येत्थं विज्ञाप्यो मधुसूदनः ॥ २१ ॥

मुने ! इस प्रकार हमने तुम्हें श्रावण आदिके महीनोंमें देवताओंके सोनेका क्रम बतलाया । देवोंके सो जानेपर वर्षाकालका आगमन हो जाता है । ऋषिश्रेष्ठ ! (तब) बलाकाओं (बगुलोंके झुंडों)के साथ कङ्क पक्षी ऊँचे पर्वतोंपर चढ़ जाते हैं तथा कौए घोंसले बनाने लगते हैं । इस ऋतुमें मादा कौएँ गर्भभारके कारण आलस्यसे सोती हैं । प्रजापति विश्वकर्मा जिस द्वितीया तिथिमें सोते हैं वह कल्याणकारिणी पवित्र तिथि अशून्यशयना द्वितीया तिथि कही जाती है । मुने ! उस तिथिमें लक्ष्मीके साथ पर्यङ्कस्थ श्रीवत्सनामक चिह्न धारण करनेवाले चतुर्भुज विष्णुभगवान्की गन्ध-पुष्पादिके द्वारा पूजाके हेतु शय्यापर क्रमशः फल तथा सुगन्ध-द्रव्य निवेदित कर उनसे इस प्रकार प्रार्थना करे कि—॥ १७–२१ ॥

यथा हि लक्ष्म्या न वियुज्यसे त्वं त्रिविक्रमानन्त जगन्निवास।
तथा त्वशून्यं शयनं सदैव अस्माकमेवेह तव प्रसादात् ॥ २२ ॥
यथा त्वशून्यं तव देव तल्पं समं हि लक्ष्म्या वरदाच्युतेश।
सत्येन तेनामितवीर्य विष्णो गार्हस्थ्यनाशो मम नास्तु देव ॥ २३ ॥

इत्युच्चार्य प्रणम्येशं प्रसाद्य च पुनः पुनः। नक्तं भुञ्जीत देवर्षे तैलक्षारविवर्जितम् ॥ २४ ॥
द्वितीयेऽह्नि द्विजाग्र्याय फलान् दद्याद् विचक्षणः। लक्ष्मीधरः प्रीयतां मे इत्युच्चार्य निवेदयेत् ॥ २५ ॥

हे त्रिविक्रम ! हे अनन्त !! हे जगन्निवास !!! जिस प्रकार आप लक्ष्मीसे कभी अलग नहीं होते, उसी प्रकार आपकी कृपासे हमारी शय्या भी कभी शून्य न हो । हे देव ! हे वरद ! हे अच्युत ! हे ईश ! हे अमितवीर्यशाली विष्णो ! आपकी शय्या लक्ष्मीसे शून्य नहीं होती, उसी सत्यके प्रभावसे हमारी भी गृहस्थीके नाशका अवसर न आवे—पत्नीका वियोग न हो । देवर्षे ! इस प्रकार स्तुति करनेके बाद भगवान् विष्णुको प्रणामद्वारा बार-बार प्रसन्नकर रात्रिमें तेल एवं नमकसे रहित भोजन करे । दूसरे दिन बुद्धिमान् व्यक्ति, भगवान् लक्ष्मीधर मेरे ऊपर प्रसन्न हों—यह वाक्य उच्चारण कर श्रेष्ठ ब्राह्मणको फलोंका दान दे ॥ २२–२५ ॥

अनेन तु विधानेन चातुर्मास्यव्रतं चरेत्। यावद् वृश्चिकराशिस्थः प्रतिभाति दिवाकरः ॥ २६ ॥
ततो विबुध्यन्ति सुराः क्रमशः क्रमशो मुने। तुलास्थेऽर्के हरिः कामः शिवः पश्चाद्विबुध्यते ॥ २७ ॥
तत्र दानं द्वितीयायां मूर्तिर्लक्ष्मीधरस्य तु। सशय्यास्तरणोपेता यथा विभवमात्मनः ॥ २८ ॥
एष व्रतस्तु प्रथमः प्रोक्तस्तव महामुने। यस्मिन्चीर्णे वियोगस्तु न भवेदिह कस्यचित् ॥ २९ ॥

जबतक सूर्य वृश्चिक राशिपर रहते हैं, तबतक इसी विधिसे चातुर्मास्य-व्रतका पालन किया जाना चाहिये। मुने! उसके बाद क्रमश देवता जागते हैं। सूर्यके तुलाराशिमें स्थित होनेपर विष्णु जाग जाते हैं। उसके बाद काम और शिव जागते हैं। उसके पश्चात द्वितीयाके दिन अपने विभवके अनुसार बिछौनेवाली शय्याके साथ लक्ष्मीधरकी मूर्तिका दान करे। महामुने! इस प्रकार मैंने आपको यह प्रथम व्रत बतलाया, जिसका आचरण करनेपर इस संसारमें किसीको वियोग नहीं होता। २६—२९॥

नभस्ये मासि च तथा या स्यात्कृष्णाष्टमी शुभा। युक्ता मृगशिरेणैव सा तु कालाष्टमी स्मृता॥ ३०॥
तस्यां सर्वेषु लिङ्गेषु तिथौ स्वपिति शंकरः। वसते संनिधाने तु तत्र पूजाऽक्षया स्मृता॥ ३१॥
तत्र स्नायीत वै विद्वान् गोमूत्रेण जलेन च। स्नातः संपूजयेत् पुष्पैर्धत्तूरस्य त्रिलोचनम्॥ ३२॥
धूपं केसरनिर्यासं नैवेद्यं मधुसर्पिषी।
प्रीयतां मे विरूपाक्षस्त्वित्युच्चार्य च दक्षिणाम्। विप्राय दद्यान्नैवेद्यं सहिरण्यं द्विजोत्तम॥ ३३॥

इसी प्रकार भाद्रपद मासमें मृगशिरा नक्षत्रसे युक्त जो पवित्र कृष्णाष्टमी होती है उसे कालाष्टमी माना गया है। उस तिथिमें भगवान् शंकर समस्त लिङ्गोंमें सोते एवं उनके संनिधानमें निवास करते हैं। इस अवसरपर की गयी शंकरजीकी पूजा अक्षय मानी गयी है। उस तिथिमें विद्वान् मनुष्यको चाहिये कि गोमूत्र और जलसे स्नान करे। स्नानके बाद धतूरके पुष्पोंसे शंकरकी पूजा करे। द्विजोत्तम! कसरके गोंदका धूप तथा मधु एवं घृतका नैवेद्य अर्पित करनेके बाद 'विरूपाक्ष (त्रिनेत्र) मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहकर ब्राह्मणको दक्षिणा तथा सुवर्णके साथ नैवेद्य प्रदान करे॥ ३०—३३॥

तद्वदाश्वयुजे मासि उपवासी जितेन्द्रियः।
नवम्यां गोमयस्नानं कुर्यात्पूजां तु पङ्कजैः। धूपयेत् सर्जनिर्यासं नैवेद्यं मधुमोदकैः॥ ३४॥
कृतोपवासस्त्वष्टम्यां नवम्यां स्नानमाचरेत्। प्रीयतां मे हिरण्याक्षो दक्षिणा सतिला स्मृता॥ ३५॥
कार्तिके पयसा स्नानं करवीरेण चार्चनम्। धूपं श्रीवासनिर्यासं नैवेद्यं मधुपायसम्॥ ३६॥
सनैवेद्यं च रजतं दातव्यं दानमग्रजे। प्रीयतां भगवान् स्थाणुरिति वाच्यमनिष्ठुरम्॥ ३७॥

इसी प्रकार आश्विन मासमें नवमी तिथिको इन्द्रियोंको वशमें करके उपवास रहकर गोबरसे स्नान करनेके पश्चात् कमलोंसे पूजन करे तथा सर्ज वृक्षके निर्यास (गोंद) का धूप एवं मधु और मोदकका नैवेद्य अर्पित करे। अष्टमीको उपवास करके नवमीको स्नान करनेके बाद 'हिरण्याक्ष मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहते हुए तिलके साथ दक्षिणा प्रदान करे। कार्तिकमें दुग्धस्नान तथा कनेरके पुष्पसे पूजा करे और सरल वृक्षकी गोंदका धूप तथा मधु एवं खीर नैवेद्य अर्पितकर विनयपूर्वक 'भगवान् शिव मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह उच्चारण करते हुए ब्राह्मणको नैवेद्यके साथ रजतका दान करे॥ ३४—३७॥

कृत्योपवासमष्टम्यां नवम्यां स्नानमाचरेत्। मासि मार्गशिरे स्नानं दध्नार्चा भद्रया स्मृता॥ ३८॥
धूपं श्रीवृक्षनिर्यासं नैवेद्यं मधुनोदनम्।
सनिवेद्या रक्तशालिर्दक्षिणा परिकीर्तिता। नमोऽस्तु प्रीयतां शर्वस्त्विति वाच्यं च पण्डितैः॥ ३९॥
पौषे स्नानं च हविषा पूजा स्यात्तगरैः शुभैः। धूपो मधुकनिर्यासो नैवेद्यं मधु शष्कुली॥ ४०॥
समुद्गा दक्षिणा प्रोक्ता प्रीणनाय जगद्गुरोः। वाच्यं नमस्ते देवेश त्र्यम्बकेति प्रकीर्तयेत्॥ ४१॥

मार्गशीर्ष (अगहन) मासमें अष्टमी तिथिको उपवास करके नवमी तिथिमें दहीसे स्नान करना चाहिये। इस समय भद्रा ओषधिके द्वारा पूजाका विधान है। पण्डित व्यक्ति श्रीवृक्षके गोंदका धूप एवं मधु

और ओदनका नैवेद्य देकर 'शर्व (शिवजी) को नमस्कार है, वे मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहते हुए रक्तशालि (लाल चावल) की दक्षिणा प्रदान करे—ऐसा कहा गया है। पौष मासमें घृतका स्नान तथा सुन्दर तगर-पुष्पोंद्वारा पूजा करनी चाहिये। फिर महुएके वृक्षकी गोंदका धूप देकर मधु एवं पूड़ीका नैवेद्य अर्पित करे और 'हे देवेश त्र्यम्बक! आपको नमस्कार है'—यह कहते हुए शंकरजीकी प्रसन्नताके लिये मूँगसहित दक्षिणा प्रदान करे ॥ ३८—४१ ॥

माघे कुशोदकस्नानं मृगमदेन चार्चनम्। धूपं कदम्बनिर्यासो नैवेद्यं सतिलौदनम् ॥ ४२ ॥
पयोभक्तं सनैवेद्यं सरुक्मं प्रतिपादयेत्। प्रीयतां मे महादेव उमापतिरितीरयेत् ॥ ४३ ॥
एवमेव समुद्दिष्टं षड्भिर्मासैस्तु पारणम्। पारणान्ते त्रिनेत्रस्य स्नपनं कारयेत्क्रमात् ॥ ४४ ॥
गोरोचनायाः सहिता गुडेन देवं समालभ्य च पूजयेत।
प्रीयस्व दीनोऽस्मि भवन्तमीश मच्छोकनाशं प्रकुरुष्व योग्यम् ॥ ४५ ॥

माघमासमें कुशके जलसे स्नान करे और मृगमद (कस्तूरीसे) अर्चन करे। उसके बाद कदम्ब वृक्षके गोंदका धूप देकर तिल एवं ओदन (भात) का नैवेद्य अर्पित करनेके पश्चात् 'महादेव उमापति मेरे ऊपर प्रसन्न हों'—यह कहते हुए सुवर्णके साथ दूध एवं भातकी दक्षिणा प्रदान करनी चाहिये। इस प्रकार छः मासके बाद (प्रथम) पारणकी विधि कही गयी है। पारणके अन्तमें त्रिनेत्रधारी महादेवका क्रमसे स्नान-कार्य सम्पन्न कराये। गोरोचनके सहित गुडद्वारा महादेवकी प्रतिमाका अनुलेपन कर उसकी पूजा करे तथा इस प्रकार प्रार्थना करे कि—'हे ईश! मैं दीन हूँ तथा आपकी शरणमें हूँ, आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों तथा मेरे दुःख-शोकका नाश करें' ॥ ४२—४५ ॥

ततस्तु फाल्गुने मासि कृष्णाष्टम्यां यतव्रत। उपवासं समुदितं कर्तव्यं द्विजसत्तम ॥ ४६ ॥
द्वितीयेऽह्नि ततः स्नानं पञ्चगव्येन कारयेत्। पूजयेत्कुन्दकुसुमैर्धूपयेच्चन्दनं त्वपि ॥ ४७ ॥
नैवेद्यं सघृतं दद्यात् ताम्रपात्रे गुडौदनम्।
दक्षिणां च द्विजातिभ्यो नैवेद्यसहितां मुने। वासोयुगं प्रीणयेच्च रुद्रमुच्चार्य नामतः ॥ ४८ ॥
चैत्रे चोदुम्बरफलैः स्नानं मन्दारकार्चनम्। गुग्गुलं महिषाख्यं च घृताक्तं धूपयेद् बुधः ॥ ४९ ॥
समोदकं तथा सर्पिः प्रीणनं विनिवेदयेत्। दक्षिणा च सनैवेद्यं मृगाजिनमुदाहृतम् ॥ ५० ॥
नाट्येश्वर नमस्तेऽस्तु इदमुच्चार्य नारद। प्रीणनं देवनाथाय कुर्याच्छ्रद्धासमन्वितः ॥ ५१ ॥

व्रतधारी द्विजश्रेष्ठ! इसके बाद फाल्गुन मासकी कृष्णाष्टमीको उपवास करना चाहिये। दूसरे दिन नवमीको पञ्चगव्यसे भगवान् शिवको स्नान कराये तथा कुन्दद्वारा अर्चनकर चन्दनका धूप और ताम्रपात्रमें घृतसहित गुड और ओदनका नैवेद्य प्रदान करे। उसके बाद 'रुद्र' शब्दका उच्चारण कर ब्राह्मणोंको नैवेद्यके साथ दक्षिणा तथा दो वस्त्र प्रदान कर महादेवको प्रसन्न करे। चैत्र मासमें गूलरके फलके जलसे स्नान कराये और मदारके फूलोंसे पूजा करे। उसके बाद बुद्धिमान् व्यक्ति घृतमिश्रित 'महिष' नामक गुग्गुलसे धूप देकर मोदकके साथ घृत उनकी प्रसन्नताके लिये अर्पित करे एवं 'नाट्येश्वर(भगवान्)को नमस्कार है'—यह कहते हुए नैवेद्यसहित दक्षिणारूपमें मृगचर्म प्रदान करे। इस प्रकार पूर्ण श्रद्धायुक्त होकर महादेवजीको प्रसन्न करे ॥ ४६—५१ ॥

वैशाखे स्नानमुदितं सुगन्धकुसुमाम्भसा। पूजनं शंकरस्योक्तं चूतमञ्जरिभिर्विभो ॥ ५२ ॥
धूपं सर्जाज्ययुक्तं च नैवेद्यं सफलं घृतम्। नामजप्यमथेशस्य कालघ्नेति विपश्चिता ॥ ५३ ॥

अल्पकुम्भान् सनैवेद्यान् ब्राह्मणाय निवेदयेत्। सोपवीतान् सदा नाथास्तच्चिचत्तस्तत्परायणे ॥ ५४ ॥
ज्येष्ठे स्नानं चामलकैः पूजार्ककुसुमैस्तथा। धूपयेत्तत्त्रिनेत्रं च आयत्या पुष्टिकारकम् ॥ ५५ ॥
सक्तूंश्च सघृतान् देवे दध्नाकान् विनिवेदयेत्। उपानद्युगलं छत्रं दानं दद्याच्च भक्तिमान् ॥ ५६ ॥
नमस्ते भगनेत्रघ्न पूष्णो दशननाशन। इदमुच्चारयेद्भक्त्या प्रीणनाय जगत्पते ॥ ५७ ॥

नारदजी! वैशाखमासमें सुगन्धित पुष्पोंके जलसे स्नान तथा आमकी मञ्जरियोंसे शङ्करके पूजनका विधान है। इस समय घी-मिले सर्ज वृक्षके गोंदका धूप तथा फलसहित घृतका नैवेद्य अर्पित करना चाहिये। बुद्धिमान् व्यक्तिको इस समय श्रीशिवके 'कालघ्न' नामका जप करना चाहिये और तल्लीनतापूर्वक ब्राह्मणको नैवेद्य, उपवीत (जनेऊ) एवं अन्न आदिके साथ पानीसे भरा घड़ा दक्षिणा देनी चाहिये। ज्येष्ठ मासमें आँवलेके जलसे स्नान कराये तथा मन्दारके पुष्पोंसे उनकी पूजा करे। उसके बाद त्रिनेत्रधारी पुष्टि-कर्ता श्रीशिवको धूपदानमें धूप दिखलाये। फिर घी तथा दही मिला सत्तूका नैवेद्य अर्पित करे। जगत्पतिके प्रीत्यर्थ 'हे पूषाके दाँत तोड़नेवाले भगनेत्रघ्न शिव! आपको नमस्कार है'—यह कहकर भक्तिपूर्वक छत्र एवं उपानद्युगल (एक जोड़ा जूता) दक्षिणामें प्रदान करना चाहिये ॥ ५२–५७ ॥

आषाढे स्नानमुदितं श्रीफलैरर्चनं तथा। धत्तूरकुसुमैः शुक्लैर्धूपयेत् सिल्हकं तथा ॥ ५८ ॥
नैवेद्या सघृता पूपा दक्षिणा सघृता यवाः। नमस्ते दक्षयज्ञघ्न इदमुच्चैरुदीरयेत् ॥ ५९ ॥
श्रावणे मृगभोज्येन स्नानं कृत्वाऽर्चयेद्धरम्। श्रीवृक्षपत्रैः सफलैर्धूपं दद्यात् तथागुरुम् ॥ ६० ॥
नैवेद्यं सघृतं दद्याद् दधि पूपान् समोदकान्। दध्योदनं सकृसरं माषधाना सशष्कुली ॥ ६१ ॥
दक्षिणां श्वेतवृषभं धेनुं च कपिलां शुभाम्।
कनकं रक्तवसनं प्रदद्याद् ब्राह्मणाय हि। गङ्गाधरेति जप्तव्यं नाम शम्भोश्च पण्डितैः ॥ ६२ ॥

आषाढमासमें बिल्वके जलसे भगवान् शिवको स्नान कराये तथा धतूरेके उजले पुष्पोंसे उनकी पूजा करे, सिल्हक (सिलारस वृक्षका गोंद)का धूप दे और घृतके सहित मालपूएका नैवेद्य अर्पित करे एवं—हे दक्षके यज्ञका विनाश करनेवाले शङ्कर! आपको नमस्कार है—यह ऊँचे स्वरसे उच्चारण करे। श्रावणमासमें मृगभोज्य (जटामासी)के जलसे स्नान कराकर फलयुक्त बिल्वपत्रोंसे महादेवकी पूजा करे तथा अगुरुका धूप दे। उसके बाद घृतयुक्त पूप, मोदक, दधि, दध्योदन, उड़दकी दाल, भुना हुआ जौ एवं कचौड़ीका नैवेद्य अर्पित करनेके बाद बुद्धिमान् व्यक्ति ब्राह्मणको श्वेत बैल, शुभा कपिला (काली) गौ, स्वर्ण एवं रक्तवस्त्रकी दक्षिणा दे। पण्डितोंको चाहिये कि शिवजीके 'गङ्गाधर' इस नामका जप करें ॥५८–६२॥

अमीभिः षड्भिरपरैर्मासैः पारणमुत्तमम्।
एवं संवत्सरं पूर्णं सम्पूज्य वृषभध्वजम्। अक्षयान् लभते कामान् महेश्वरवचो यथा ॥ ६३ ॥
इदमुक्तं व्रतं पुण्यं सर्वाक्षयकरं शुभम्। स्वयं रुद्रेण देवर्षे तत्तथा न तदन्यथा ॥ ६४ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इन दूसरे छः महीनोंके अनन्तर द्वितीय पारण होता है। इस प्रकार एक वर्षतक वृषभध्वज (शिवजी)का पूजन कर महेश्वरके वचनानुसार मनुष्य अक्षय कामनाओंको प्राप्त करता है। स्वयं भगवान् शङ्करने यह कल्याणकारी पवित्र एवं सभी पुण्योंको अक्षय करनेवाला व्रत बतलाया था। यह जैसा कहा गया है, वैसा ही है। यह कभी व्यर्थ नहीं जाता ॥ ६३-६४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

[अथ सप्तदशोऽध्याय.]

पुलस्त्य उवाच

मासि चाश्वयुजे ब्रह्मन् यदा पद्म जगत्पते । नाभ्या निर्याति हि तदा देवेष्वेतान्ययोऽभवन् ॥ १ ॥
कदर्पस्य कराग्रे तु कदम्बश्चारुदर्शन । तेन तस्य परा प्रीति कदम्बेन विवर्द्धते ॥ २ ॥
यक्षाणामधिपस्यापि मणिभद्रस्य नारद । वटवृक्ष समभवत् तस्मिंस्तस्य रतिः सदा ॥ ३ ॥
महेश्वरस्य हृदये धत्तूरविटपः शुभ । सजात स च शर्वस्य रतिकृत् तस्य नित्यश ॥ ४ ॥

सत्रहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(देवाङ्गोंसे तरुओंकी उत्पत्ति, अखण्डव्रत विधान, विष्णु पूजा, विष्णुपञ्जरस्तोत्र और महिषका प्रसङ्ग)

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! आश्विन मासमें जब जगत्पति (विष्णु)की नाभिसे कमल निकला, तब अन्य देवताओंसे भी ये वस्तुएँ उत्पन्न हुईं—कामदेवके करतलके अग्रभागमें सुदर कदम्ब वृक्ष उत्पन्न हुआ। इसीलिये कदम्बसे उसे बड़ी प्रीति रहती है । नारदजी ! यक्षोंके राजा मणिभद्रसे वटवृक्ष उत्पन्न हुआ, अत उन्हें उसके प्रति विशेष प्रेम ह । भगवान् शकरके हृदयपर सुन्दर धतूर-वृक्ष उत्पन्न हुआ, अत यह शिवजीको सदा प्यारा है ॥ १–४ ॥

ब्रह्मणो मध्यतो देहाज्जातो मरकतप्रभ । खदिरः कण्टकी श्रेयानभवद्विश्वकर्मण ॥ ५ ॥
गिरिजायाः करतले कुन्दगुल्मस्त्वजायत । गणाधिपस्य कुम्भस्थो राजते सिन्धुवारक ॥ ६ ॥
यमस्य दक्षिणे पार्श्वे पालाशो दक्षिणोत्तरे । कृष्णोदुम्बरको रुद्राज्जात क्षोभकरो वृष ॥ ७ ॥
स्कन्दस्य बन्धुजीवस्तु रवेरश्वत्थ एव च । कात्यायन्या शमी जाता बिल्वो लक्ष्म्या करेऽभवत् ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीके शरीरके बीचमें मरकतमणिके समान खैरवृक्षकी उत्पत्ति हुई और विश्वकर्माके शरीरसे सुन्दर कटैया उत्पन्न हुआ । गिरिनन्दिनी पार्वतीके करतलपर कुन्द लता उत्पन्न हुई और गणपतिके कुम्भ देशसे सेंदुवार वृक्ष उत्पन्न हुआ । यमराजकी दाहिनी बगलसे पलाश तथा बायीं बगलमें गूलरका वृक्ष उत्पन्न हुआ । रुद्रसे उद्विग्न करनेवाला वृष (ओषधि विशेष)की उत्पत्ति हुई । इसी प्रकार स्कन्दसे बन्धुजीव, सूर्यसे पीपल, कात्यायनी दुर्गासे शमी और लक्ष्मीजीके हाथसे बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ ॥ ५–८ ॥

नागाना पतये ब्रह्मञ्छरस्तम्बो व्यजायत । वासुकेर्विस्तृते पुच्छे पृष्ठे दूर्वा सितासिता ॥ ९ ॥
साध्याना हृदये जातो वृक्षो हरितचन्दन । एव जातेषु सर्वेषु तेन तत्र रतिर्भवेत् ॥ १० ॥
तत्र रम्ये शुभे काले या शुक्लैकादशी भवेत् । तस्यां सम्पूजयेद् विष्णु तेन खण्डोऽस्य पूर्यते ॥ ११ ॥
पुष्पै पत्रैः फलैर्वापि गन्धवर्णरसान्वितै । ओषधीभिश्च मुख्याभिर्यावत्स्याच्छरदागम ॥ १२ ॥

नारदजी ! इसी प्रकार शेषनागसे सरपत, वासुकिनागकी पूछ और पीठपर श्वेत एव कृष्ण दूर्वा उत्पन्न हुई । साध्योंके हृदयमें हरिचन्दनवृक्ष उत्पन्न हुआ । इस प्रकार उत्पन्न होनेसे उन सभी वृक्षोंमें उन-उन देवताओंका प्रेम होता है ।

उस रमणीय सुन्दर समयमें शुक्लपक्षकी जो एकादशी तिथि होती है उसमें भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिये । इससे पूजाकी न्यूनता दूर हो जाती है । शरत्कालकी उपस्थितितक गन्ध, वर्ण और रसयुक्त पत्र, पुष्प एव फलों तथा मुख्य ओषधियोंसे भगवान् विष्णुकी पूजा करनी चाहिये ॥ ९–१२ ॥

घृतं तिला व्रीहियवा हिरण्यकनकादि यत्। मणिमुक्ताप्रवालानि वस्त्राणि विविधानि च ॥ १३ ॥
रसानि स्वादुकट्वम्लकषायलवणानि च। तिक्तानि च निवेद्यानि तान्यखण्डानि यानि हि ॥ १४ ॥
तत्पूजार्थं प्रदातव्यं केशवाय महात्मने। यदा संवत्सरं पूर्णमखण्डं भवते गृहे ॥ १५ ॥
कृतोपवासो देवर्षे द्वितीयेऽहनि संयतः। स्नानेन तेन स्नायीत येनाखण्डं हि वत्सरम् ॥ १६ ॥

घी, तिल, चावल, जौ, चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता, मूँगा तथा नाना प्रकारके वस्त्र, स्वादु, कटु, अम्ल, कषाय, लवण और तिक्त रस आदि वस्तुओंको अखण्डितरूपसे महात्मा केशवकी पूजाके लिये अर्पित करना चाहिये। इस प्रकार पूजा करते हुए वर्षके बीतनेपर घरमें पूर्ण समृद्धि होती है। देवर्षे! जितेन्द्रिय होकर दूसरे दिन उपवास करके जिससे वर्ष अखण्डित रहे इसलिये इस प्रकार स्नान करे—॥ १३—१६ ॥

सिद्धार्थकैस्तिलैर्वापि तेनैवोद्वर्तनं स्मृतम्।
हविषा पद्मनाभस्य स्नानमेव समाचरेत्। होमे तदेव गदितं दाने शक्तिर्निजा द्विज ॥ १७ ॥
पूजयेताथ कुसुमैः पादादारभ्य केशवम्। धूपयेद् विविधं धूपं येन स्याद् वत्सरं परम् ॥ १८ ॥
हिरण्यरत्नवासोभिः पूजयेत जगद्गुरुम्। रागखाण्डवचोष्याणि हविष्याणि निवेदयेत् ॥ १९ ॥
ततः सम्पूज्य देवेशं पद्मनाभं जगद्गुरुम्। विज्ञापयेन्मुनिश्रेष्ठ मन्त्रेणानेन सुव्रत ॥ २० ॥

सफेद सरसों या तिलके द्वारा उबटन तैयार करना चाहिये ऐसा कहा गया है। उससे या घीसे भगवान् विष्णुको स्नान कराना चाहिये। नारदजी! होममें भी घीका ही विधान है और दानमें भी यथाशक्ति उसीकी विधि है। फिर पुष्पोंद्वारा चरणसे आरम्भकर (मस्तक) सभी अङ्गोंमें भगवान्‌की पूजा करे एवं नाना प्रकारके धूपोंसे उन्हें सुवासित करे, जिससे सम्वत्सर पूर्ण हो। सुवर्ण, रत्न और वस्त्रोंद्वारा (उन) जगद्गुरुका पूजन करे तथा राग-खाँड, चोष्य एवं हविष्योंका नैवेद्य अर्पित करे। सुव्रत नारदजी! देवेश जगद्गुरु विष्णुकी पूजा करनेके बाद इस मन्त्रसे प्रार्थना करे—॥ १७—२० ॥

नमोऽस्तु ते पद्मनाभ पद्माक्ष महाद्युते। धर्मार्थकाममोक्षाणि त्वखण्डानि भवन्तु मे ॥ २१ ॥
विकासिपद्मपत्राक्ष यथाऽखण्डोऽसि सर्वतः। तेन सत्येन धर्माद्या अखण्डाः सन्तु केशव ॥ २२ ॥
एवं संवत्सरं पूर्णं सोपवासो जितेन्द्रियः। अखण्डं पारयेद् ब्रह्मन् व्रतं वै सर्ववस्तुषु ॥ २३ ॥
अस्मिंश्चीर्णे व्रते व्यक्तं परितुष्यन्ति देवताः। धर्मार्थकाममोक्षास्त्वक्षयाः सम्भवन्ति हि ॥ २४ ॥

हे महाकान्तिमान् पद्मनाभ लक्ष्मीपते! आपको प्रणाम है। (आपकी कृपाके प्रभावसे) हमारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष अखण्ड हों। विकसित कमलपत्रके समान नेत्रवाले! आप जिस प्रकार चारों ओरसे अखण्ड हैं, उसी सत्यके प्रभावसे मेरे भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पुरुषार्थ) अखण्डित रहें। ब्रह्मन्! इस प्रकार वर्षभर उपवास और जितेन्द्रिय रहते हुए सभी वस्तुओंके द्वारा व्रतको अखण्डरूपसे पूर्ण करे। इस व्रतके करनेपर देवता निश्चितरूपसे प्रसन्न होते हैं एवं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष सभी पूर्ण होते हैं ॥ २१—२४ ॥

एतानि ते मयोक्तानि व्रतान्युक्तानि कामिभिः। प्रवक्ष्याम्यधुना ह्येतद्वैष्णवं पञ्जरं शुभम् ॥ २५ ॥
नमो नमस्ते गोविन्द चक्रं गृह्य सुदर्शनम्। प्राच्यां रक्षस्व मां विष्णो त्वामहं शरणं गतः ॥ २६ ॥
गदां कौमोदकीं गृह्य पद्मनाभामितद्युते। याम्यां रक्षस्व मां विष्णो त्वामहं शरणं गतः ॥ २७ ॥
हलमादाय सौनन्दं नमस्ते पुरुषोत्तम। प्रतीच्यां रक्ष मां विष्णो भवन्तं शरणं गतः ॥ २८ ॥

नारद ! यहाँतक मैंने तुमसे संग्राम भर्नोंका वर्णन किया है। अब मैं कल्याणकारी विष्णुपञ्जरस्तोत्र कहूँगा। (वह इस प्रकार है—) गोविन्द ! आपको नमस्कार है। आप सुदर्शनचक्र लेकर मेरी पूर्व दिशामें रक्षा करें। विष्णो ! मैं आपकी शरणमें हूँ। अमितद्युते पद्मनाभ ! आप कौमोदकी गदा धारणकर मेरी रक्षा करें। विष्णो ! मैं आपकी शरण हूँ। पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है। आप सौनन्द नामक हल लेकर मेरी पश्चिम दिशामें रक्षा करें। विष्णो ! मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ २५–२८ ॥

मुसलं शातनं गृह्य पुण्डरीकाक्ष रक्ष माम्। उत्तरस्यां जगन्नाथ भवन्तं शरणं गतः ॥ २९ ॥
शार्ङ्गमादाय च धनुरस्त्रं नारायणं हरे। नमस्ते रक्ष रक्षोघ्न ऐशान्यां शरणं गतः ॥ ३० ॥
पाञ्चजन्यं महाशङ्खमन्तर्बोध्यं च पङ्कजम्। प्रगृह्य रक्ष मां विष्णो आग्नेय्यां यज्ञसूकर ॥ ३१ ॥
चर्म सूर्यशतं गृह्य खड्गं चन्द्रमसं तथा। नैर्ऋत्यां मां च रक्षस्व दिव्यमूर्ते नृकेसरिन् ॥ ३२ ॥

पुण्डरीकाक्ष ! आप 'शातन'नामक विनाशकारी मुसलको लेकर मेरी उत्तर दिशामें रक्षा करें। जगन्नाथ ! मैं आपकी शरण हूँ। हरे ! शार्ङ्गधनुष एवं नारायणास्त्र लेकर मेरी ईशानकोणमें रक्षा करें। रक्षोघ्न ! आपको नमस्कार है, मैं आपकी शरण हूँ। यज्ञवाराह विष्णो ! आप पाञ्चजन्य नामक विशाल शङ्ख तथा अन्तर्बोध्य पङ्कजको लेकर मेरी अग्निकोणमें रक्षा करें। दिव्य नृसिंह ! सूर्यशत नामकी ढाल तथा चन्द्रहास नामकी तलवार लेकर मेरी नैर्ऋत्यकोणमें रक्षा करें ॥ २९–३२ ॥

वैजयन्तीं प्रगृह्य त्वं श्रीवत्सं कण्ठभूषणम्। वायव्यां रक्ष मां देव अश्वशीर्ष नमोऽस्तु ते ॥ ३३ ॥
वैनतेयं समारुह्य अन्तरिक्षे जनार्दन। मां त्वं रक्षाजित सदा नमस्ते त्वपराजित ॥ ३४ ॥
विशालाक्षं समारुह्य रक्ष मां त्वं रसातले। अकूपार नमस्तुभ्यं महामोह नमोऽस्तु ते ॥ ३५ ॥
करशीर्षाङ्घ्रिपर्वेषु तथाऽष्टबाहुपञ्जरम्। कृत्वा रक्षस्व मां देव नमस्ते पुरुषोत्तम ॥ ३६ ॥

आप वैजयन्ती नामकी माला तथा श्रीवत्स नामका कण्ठभूषण धारणकर मेरी वायव्यकोणमें रक्षा करें। हयग्रीव ! आपको नमस्कार है। जनार्दन ! वैनतेय (गरुड)पर आरूढ होकर आप मेरी अन्तरिक्षमें रक्षा करें। अजित ! अपराजित ! आपको सदा नमस्कार है। महाकच्छप ! आप विशालाक्षपर चढ़कर मेरी रसातलमें रक्षा करें। महामोह ! आपको नमस्कार है। पुरुषोत्तम ! आप आठ हाथोंसे पञ्जर बनाकर हाथ, शिर एवं सन्धिस्थलों (जोड़ों) आदिमें मेरी रक्षा करें। देव ! आपको नमस्कार है ॥ ३३–३६ ॥

एतदुक्तं भगवता वैष्णवं पञ्जरं महत्। पुरा रक्षार्थमीशेन कात्यायन्या द्विजोत्तम ॥ ३७ ॥
नाशयामास सा यत्र दानवं महिषासुरम्। नमरं रक्तबीजं च तथान्यान् सुरकण्टकान् ॥ ३८ ॥

द्विजोत्तम ! प्राचीन कालमें भगवान् शङ्करने कात्यायनी (दुर्गा)की रक्षाके लिये इस महान् विष्णुपञ्जर स्तोत्रको उस स्थानपर कहा था, जहाँ उन्होंने महिषासुर, नमर, रक्तबीज एवं अन्यान्य देव-शत्रुओंका नाश किया था ॥ ३७–३८ ॥

नारद उवाच

काऽसौ कात्यायनी नाम या जघ्ने महिषासुरम्। नमरं रक्तबीजं च तथाऽन्यान् सुरकण्टकान् ॥ ३९ ॥

१—यह विष्णुपञ्जरस्तोत्र बहुत प्रसिद्ध है तथा स्वल्पान्तरसे अग्निपुराण, अ० १३, ब्रह्मवैवर्त १। ३१, विष्णुधर्मोत्तर १। ११ आदिमें प्राप्त होता है। वामनपुराणमें तो यह दो बार आ गया है। एक यहाँ तथा आगे ७४ वें अध्यायमें।

कश्चासौ महिषो नाम कुले जातश्च कस्य स ।
...सौ रक्तबीजाख्यो नमर कस्य चात्मज । एतद्विस्तरतस्तात यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥

नारदजीने पूछा—आप ! महिषासुर, नमर, रक्तबीज तथा अन्यान्य सुर-कण्टकोंका वध करनेवाली ये ...ी कात्यायनी कौन हैं ? तात ! यह महिष कौन है ? तथा वह किसके कुलमें उत्पन्न हुआ था ? यह ...ीज कौन है ? तथा नमर किसका पुत्र है ? आप इसका यथार्थ रूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन करें ॥ ३९–४० ॥

पुलस्त्य उवाच

...ूयतां सम्प्रवक्ष्यामि कथां पापप्रणाशिनीम् । सर्वदा वरदा दुर्गा येयं कात्यायनी मुने ॥ ४१ ॥
...ुराऽसुरवरौ रौद्रौ जगत्क्षोभकरावुभौ । रम्भश्चैव करम्भश्च द्वावास्तां सुमहाबलौ ॥ ४२ ॥
...ावपुत्रौ च देवर्षे पुत्रार्थं तेपतुस्तपः । बहून् वर्षगणान् दैत्यौ स्थितौ पञ्चनदे जले ॥ ४३ ॥
तत्रैको जलमध्यस्थो द्वितीयोऽप्यग्निपञ्चमी । करम्भश्चैव रम्भश्च यक्षं मालवटं प्रति ॥ ४४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! सुनिये, मैं उस पापनाशक कथाको कहता हूँ । मुने ! सब कुछ देनेवाली वरदायिनी भगवती दुर्गा ही ये कात्यायनी हैं । प्राचीनकालमें संसारमें उथल-पुथल मचानेवाले रम्भ और करम्भ नामक दो भयंकर और महाबलवान् असुरश्रेष्ठ थे । देवर्षे ! वे दोनों पुत्रहीन थे । उन दोनों दैत्योंने पुत्रके लिये पञ्चनदके जलमें रहकर बहुत वर्षोंतक तप किया । मालवट यक्षके प्रति एकाग्र होकर करम्भ और रम्भ—इन दोनोंमेंसे एक जलमें स्थित होकर और दूसरा पञ्चाग्निके मध्य बैठकर तप कर रहा था ॥ ४१–४४ ॥

एकं निमग्नं सलिले ग्राहरूपेण वासवः । चरणाभ्यां समादाय निजघान यथेच्छया ॥ ४५ ॥
ततो भ्रातरि नष्टे च रम्भः कोपपरिप्लुतः । वह्नौ स्वशीर्षं संक्षिप्य होतुमैच्छन् महाबलः ॥ ४६ ॥
ततः प्रगृह्य केशेषु खड्गं च रविसप्रभम् । छेत्तुकामो निजं शीर्षं वह्निना प्रतिषेधितः ॥ ४७ ॥
उक्तश्च मा दैत्यवर नाशयात्मानमात्मना । दुस्तरा परवध्यापि स्ववध्याऽप्यतिदुस्तरा ॥ ४८ ॥

इन्द्रने ग्राहका रूप धारणकर इनमेंसे एकको जलमें निमग्न होनेपर पैर पकड़कर इच्छानुसार दूर ले जाकर मार डाला । उसके बाद भाईके नष्ट हो जानेपर क्रोधयुक्त महाबलशाली रम्भने अपने सिरको काटकर अग्निमें हवन करना चाहा । वह अपना केश पकड़कर हाथमें सूर्यके समान चमकनेवाली तलवार लेकर अपना सिर काटना ही चाहता था कि अग्निने उसे रोक दिया और कहा—दैत्यवर ! तुम स्वयं अपना नाश मत करो । दूसरेका वध तो पाप होता ही है, आत्महत्या भी भयानक पाप है ॥ ४५–४८ ॥

यच्च प्रार्थयसे वीर तद्ददामि यथेप्सितम् । मा म्रियस्व मृतस्येह नष्टा भवति वै कथा ॥ ४९ ॥
ततोऽब्रवीद् वचो रम्भो वरं चेन्मे ददासि हि । त्रैलोक्यविजयी पुत्रः स्यान्मे त्वत्तेजसाऽधिकः ॥ ५० ॥
अजेयो दैवतैः सर्वैः पुम्भिर्दैत्यैश्च पावक । महाबलो वायुरिव कामरूपी कृतास्त्रवित् ॥ ५१ ॥
तं प्रोवाच कविर्ब्रह्मन् बाढमेवं भविष्यति । यस्यां चित्तं समालम्बि करिष्यसि ततः सुतः ॥ ५२ ॥

वीर ! तुम जो माँगोगे, तुम्हारी इच्छाके अनुसार वह मैं तुम्हें दूँगा । तुम मरो मत । इस संसारमें मृत व्यक्तिकी कथा नष्ट हो जाती है । इसपर रम्भने कहा—यदि आप वर देते हैं तो यह वर दीजिये कि मुझे आपसे भी अधिक तेजस्वी त्रैलोक्यविजयी पुत्र उत्पन्न हो । अग्निदेव ! समस्त देवताओं तथा मानवों और दैत्योंसे भी वह अजेय हो । वह वायुके समान महाबलवान् तथा कामरूपी एवं सर्वास्त्रवेत्ता हो । नारदजी ! इसपर अग्निने उससे कहा—अच्छा, ऐसा ही होगा । जिस स्त्रीमें तुम्हारा चित्त लग जायगा उसीसे तुम पुत्र उत्पन्न करोगे ॥ ४९–५२ ॥

इत्येवमुक्तो देवेन वह्निना दानवो ययौ। द्रष्टुं मालवटं यक्षं यक्षैश्च परिवारितम्॥ ५३॥
तेषां पद्मनिधिस्तत्र वसते नान्यचेतनः। गजाश्च महिषाश्चाश्वा गावोऽजाविपरिप्लुताः॥ ५४॥
तान् दृष्ट्वैव तदा चक्रे भावं दानवपार्थिवः। महिष्यां रूपयुक्तायां त्रिहायण्यां तपोधन॥ ५५॥
सा समागाच्च दैत्येन्द्रं कामयन्ती तरस्विनी। स चापि गमनं चक्रे भवितव्यप्रचोदितः॥ ५६॥

अग्निदेवके ऐसा कहनेपर रम्भ यक्षोंसे घिरा हुआ मालवट यक्षका दर्शन करने गया। वहाँ उन यक्षोंकी एक पद्म नामकी निधि अनन्य चित्त होकर निवास करती थी। वहाँ बहुत-से बकरे, मेंढ़े, घोड़े, भैंसे तथा हाथी और गाय-बैल थे। तपोधन! दानवराजने उन्हें देखकर तीन वर्षोंवाली रूपवती एक महिषीमें मन प्रवृत्त किया (अर्थात् आसक्त हुआ)। कामपरायण होकर वह महिषी शीघ्र दैत्येन्द्रके समीप आ गयी। तब भवितव्यतासे प्रेरित उसने (रम्भने) भी उस महिषीके साथ सङ्गत हो गया॥ ५३—५६॥

तस्यां समभवद् गर्भस्तां प्रगृह्याथ दानवः। पातालं प्रविवेशाथ ततः स्वभवनं गतः॥ ५७॥
दृष्टश्च दानवैः सर्वैः परित्यक्तश्च बन्धुभिः। अकार्यकारकेत्येवं भूयो मालवटं गतः॥ ५८॥
साऽपि तेनैव पतिना महिषी चारुदर्शना। समं जगाम तत् पुण्यं यक्षमण्डलमुत्तमम्॥ ५९॥
ततस्तु वसतस्तस्य श्यामा सा सुषुवे मुने। अजीजनत् सुतं शुभ्रं महिषं कामरूपिणम्॥ ६०॥

उसे गर्भ रह गया। उसके बाद उस महिषीको लेकर दानव पातालमें प्रविष्ट हुआ और अपने घर चला गया। उसके दानव-बन्धुओंने उसे देखा एवं 'अकार्यकारक' जानकर उसका परित्याग कर दिया। फिर वह पुनः मालवटके निकट गया। वह सुन्दरी महिषी भी उसी पतिके साथ उस पवित्र और उत्तम यक्षमण्डलमें गयी। मुने! उसके वहीं निवास करते समय उस महिषीने सन्तान उत्पन्न की। उसने एक शुभ्र तथा इच्छाके अनुरूप रूप धारण करनेवाले महिष पुत्रको जन्म दिया॥ ५७—६०॥

एतामृतुमतीं जातां महिषोऽन्यो ददर्श ह। सा चाभ्यगाद् दितिवरं रक्षन्ती शीलमात्मनः॥ ६१॥
तमुन्नामितनासं च महिषं वीक्ष्य दानवः। खड्गं निष्कृष्य तरसा महिषं समुपाद्रवत्॥ ६२॥
तेनापि दैत्यस्तीक्ष्णाभ्यां शृङ्गाभ्यां हृदि ताडितः। निर्भिन्नहृदयो भूमौ निपपात ममार च॥ ६३॥
मृते भर्तरि सा श्यामा यक्षाणां शरणं गता। रक्षिता गुह्यकैः साध्वी निवार्य महिषं ततः॥ ६४॥

उसके पुनः ऋतुमती होनेपर एक दूसरे महिषने उसे देखा। वह अपने शीलकी रक्षा करती हुई दैत्यश्रेष्ठके निकट गयी। नाकको ऊपर उठाये उस महिषको देखकर दानवने खड्ग निकालकर महिषपर वेगसे आक्रमण किया। उस महिषने भी तीक्ष्ण शृङ्गोंसे दैत्यके हृदयमें प्रहार किया। वह दैत्य हृदय फट जानेसे भूमिपर गिर पड़ा और मर गया। पतिके मर जानेपर वह महिषी यक्षोंकी शरणमें गयी। उसके बाद गुह्यकोंने महिषको हटाकर साध्वी महिषीकी रक्षा की॥ ६१—६४॥

ततो निवारितो यक्षैर्हयारिर्मदनातुरः। निपपात सरो दिव्यं ततो दैत्योऽभवन्मृतः॥ ६५॥
नमरो नाम विख्यातो महाबलपराक्रमः। यक्षानाश्रित्य तस्थौ स कालयन् श्वापदान् मुने॥ ६६॥
स च दैत्येश्वरो यक्षैर्मालवटपुरस्सरैः। चितामारोपितः सा च श्यामा तं चारुहत् पतिम्॥ ६७॥
ततोऽग्निमध्यादुत्तस्थौ पुरुषो रौद्रदर्शनः। व्यद्रावयत् स तान् यक्षान् खड्गपाणिर्भयङ्करः॥ ६८॥

यक्षोंद्वारा हटाया गया कामातुर हयारि (महिष) एक दिव्य सरोवरमें गिर पड़ा। उसके बाद वह मरकर एक दैत्य हो गया। मुने! वन्य पशुओंको मारते हुए यक्षोंके आश्रयमें रहनेवाला महान् बली पराक्रमी तथा वह दैत्य

भगवती वरदा देवी

'नमर' नामसे विख्यात हुआ । फिर मालव आदि यक्षोंने उस हयारि दैत्येश्वरको चितापर रखा । वह श्यामा भी पतिके साथ चितापर चढ़ गयी । तब अग्निके मध्यसे हाथमें खड्ग लिये विकराल रूपवाला भयंकर पुरुष प्रकट हुआ । उसने सभी यक्षोंको भगा दिया ॥ ६५–६८ ॥

ततो हतास्तु महिषा सर्व एव महात्मना। ऋते नरस्थितार हि महिष रम्भनन्दन ॥ ६९ ॥
स नामत स्मृतो दैत्यो रक्तबीजो महामुने। योऽजयत् सर्वतो देवान् सेन्द्ररुद्रार्कमारुतान् ॥ ७० ॥
एव प्रभावा दनुपुङ्गवास्ते तेजोऽधिकस्तत्र बभौ हयारि ।
राज्येऽभिषिक्तश्च महाऽसुरेन्द्रैर्विनिर्जितै शम्बरतारकाद्यैः ॥ ७१ ॥
अशक्नुवद्भिः सहितैश्च देवै सलोकपालै सहुताशभास्करैः ।
स्थानानि त्यक्तानि शशीन्द्रभास्करैर्धर्मश्च दूरे प्रतियोजितश्च ॥ ७२ ॥
॥ इति श्रीवामनपुराणे सप्तदशोऽध्याय ॥ १७ ॥

और फिर उस बलवान् दैत्यने रम्भनन्दन महिषको छोड़कर सारे महिषोंको मार डाला । महामुने ! वह दैत्य रक्तबीज नामसे विख्यात हुआ । उसने इन्द्र, रुद्र, सूर्य एव मारुत आदिके साथ देवोंको जीत लिया । यद्यपि वे सभी दैत्य इस प्रकारके प्रभावसे युक्त थे, फिर भी उनमें महिष अधिक तेजस्वी था । उसके द्वारा विजित शम्बर, तारक आदि महान् असुरोंने उसका राज्याभिषेक किया । लोकपालोंके साथ अग्नि, सूर्य आदि देवोंके द्वारा एक साथ मिलकर जब वह जीता नहीं गया तब चन्द्र, इन्द्र एव सूर्यने अपना-अपना स्थान छोड़ दिया तथा धर्मको भी दूर हटा दिया गया ॥ ६९–७२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

[अथाष्टादशोऽध्याय]

पुलस्त्य उवाच

ततस्तु देवा महिषेण निर्जिता स्थानानि सत्यज्य सवाहनायुधा ।
जग्मु पुरस्कृत्य पितामह ते द्रष्टु तदा चक्रधर श्रिय पतिम् ॥ १ ॥
गत्वा त्वपश्यश्च मिथ सुरोत्तमौ स्थितौ खगेन्द्रासनशकरौ हि ।
दृष्ट्वा प्रणम्यैव च सिद्धिसाधकौ न्यवेदयस्ते महिषादिचेष्टितम् ॥ २ ॥
प्रभोऽश्विसूर्येन्द्वनिलाग्निवेधसा जलेशशक्रादिषु चाधिकारान् ।
आक्रम्य नाकात्तु निराकृता वय कृतावनिस्था महिषासुरेण ॥ ३ ॥
एतद् भवन्तौ शरणागताना श्रुत्वा वचो ब्रूत हित सुराणाम् ।
न चेद् व्रजामोऽद्य रसातल हि सकाल्यमाना युधि दानवेन ॥ ४ ॥

अठारहवाँ अध्याय प्रारम्भ

(महिषासुरका अतिचार, देवोंकी तेजोराशिसे भगवती कात्यायनीका प्रादुर्भाव, विन्ध्यप्रसंग, दुर्गाकी अवस्थिति)

पुलस्त्यजी बोले—नारद ! जब महिषद्वारा पराजित देवता अपने अपने स्थानको छोड़कर पितामहको आगे कर चक्रधारी लक्ष्मीपति विष्णुके दर्शनार्थ अपने वाहनों और आयुधोंको लेकर विष्णुलोक चले गये । वहाँ जाकर उन लोगोंने गरुडवाहन विष्णु एव शकर—इन दोनों देवश्रेष्ठोंको एक साथ बैठे देखा । उन दोनों सिद्धि देनेवालोंको देखकर बाद उन लोगोंने उन्हें प्रणामकर उनसे महिषासुरकी दुश्चेष्टा बतलायी । वे बोले—प्रभो !

महिषासुरने अश्विनीकुमार, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, यम, वरुण, इन्द्र आदि सभी देवताओंके अधिकारोंसे छीनकर सबसे निकाल दिया है और अब हमलोग भूलोकमें रहनेको विवश हो गये हैं। हम शरणमें आये देवताओंकी यह बात सुनकर आप दोनों हमारे हितकी बात बतलायें, अन्यथा दानवद्वारा युद्धमें मारे जा रहे हमलोग रसातलमें चले जायेंगे॥ १–४॥

इत्थं मुरारि सह शङ्करेण श्रुत्वा वचो विप्लुतचेतसस्तान्।
दृष्ट्वाऽथ चक्रे सहसैव कोपं कालाग्निकल्पो हरिरव्ययात्मा॥ ५॥
ततोऽनुकोपान्मधुसूदनस्य सशङ्करस्यापि पितामहस्य।
तथैव शक्रादिषु दैवतेषु महर्द्धि तेजो वदनाद् विनिःसृतम्॥ ६॥
तच्चैकतां पर्वतकूटसन्निभं जगाम तेजः प्रवराश्रमे मुने।
कात्यायनस्याप्रतिमस्य तेन महर्षिणा तेज उपाकृतं च॥ ७॥
तेनर्षिसृष्टेन च तेजसा वृतं ज्वलत्प्रकाशार्कसहस्रतुल्यम्।
तस्माच्च जाता तरलायताक्षी कात्यायनी योगविशुद्धदेहा॥ ८॥

शिवजीके साथ ही विष्णु भगवान्‌ने (भी) उनके इस प्रकारके वचनको सुना तथा दुःखसे व्याकुल चित्तवाले उन देवताओंको देखा तो उनका क्रोध कालाग्निके समान प्रज्वलित हो गया। उसके बाद मधुनामक राक्षसको मारनेवाले विष्णु, शङ्कर, पितामह (ब्रह्मा) तथा इन्द्र आदि देवताओंके क्रोध करनेपर उन सबके मुखसे महान् तेज प्रकट हुआ। मुने! फिर वह तेजोराशि कात्यायन ऋषिके अनुपम आश्रममें पर्वतशृङ्गके समान एक हो गयी। उन महर्षिने भी उस तेजकी और अभिवृद्धि की। उन महर्षिद्वारा उत्पन्न किये गये तेजसे आवृत वह तेज हजारों सूर्योंके समान प्रदीप्त हो गया। उससे योगसे विशुद्ध शरीरवाली एवं चञ्चल तथा विशाल नेत्रोंवाली कात्यायनी देवी प्रकट हो गयीं॥ ५–८॥

माहेश्वराद् वक्त्रमथो बभूव नेत्रत्रयं पावकतेजसा च।
याम्येन केशा हरितेजसा च भुजास्तथाष्टादश सम्प्रजज्ञिरे॥ ९॥
सौम्येन युग्मं स्तनयोः सुसंहतं मध्यं तथैन्द्रेण च तेजसाऽभवत्।
ऊरू च जङ्घे च नितम्बसंयुते जाते जलेशस्य तु तेजसा हि॥ १०॥
पादौ च लोकप्रपितामहस्य पद्माभिकोशप्रतिमौ बभूवतुः।
दिवाकराणामपि तेजसाऽङ्गुलीः कराङ्गुलीश्च वसुतेजसैव॥ ११॥
प्रजापतीनां दशनाश्च तेजसा याक्षेण नासा श्रवणौ च मारुतात्।
साध्येन च भ्रूयुगलं सुकान्तिमत् कन्दर्पबाणासनसन्निभं बभौ॥ १२॥

महादेवजीके तेजसे कात्यायनीका मुख बन गया और अग्निके तेजसे उनके तीन नेत्र प्रकट हो गये। इसी प्रकार यमके तेजसे केश तथा हरिके तेजसे उनकी अठारह भुजाएँ, चन्द्रमाके तेजसे उनके सटे हुए स्तनयुगल, इन्द्रके तेजसे मध्यभाग तथा वरुणके तेजसे ऊरु, जङ्घाएँ एवं नितम्बोंकी उत्पत्ति हुई। लोकपितामह ब्रह्माके तेजसे कमलकोशके समान उनके दोनों चरण, आदित्योंके तेजसे पैरोंकी अङ्गुलियाँ एवं वसुओंके तेजसे उनके हाथोंकी अङ्गुलियाँ उत्पन्न हुईं। प्रजापतियोंके तेजसे उनके दाँत, यक्षोंके तेजसे नाक, वायुके तेजसे दोनों कान, साध्यके तेजसे कामदेवके धनुषके समान उनकी दोनों भौंहें प्रकट हुईं—॥ ९–१२॥

तथर्षितेजोत्तममुत्तमं महन्नाम्ना पृथिव्यामभवत् प्रसिद्धम्।
कात्यायनीत्येव तदा बभौ सा नाम्ना च तेनैव जगत्प्रसिद्धा॥ १३॥

ददौ त्रिशूलं वरदस्त्रिशूली चक्रं मुरारिर्वरुणश्च शङ्खम्।
शक्तिं हुताशः श्वसनश्च चापं तूणौ तथाक्षय्यशरौ विवस्वान्॥ १४॥
वज्रं तथेन्द्रः सह घण्टया च यमोऽथ दण्डं धनदो गदां च।
ब्रह्माऽक्षमालां सकमण्डलुं च कालोऽसिमुग्रं सह चर्मणा च॥ १५॥
हारं च सोमः सह चामरेण मालां समुद्रो हिमवान् मृगेन्द्रम्।
चूडामणिं कुण्डलमर्धचन्द्रं प्रादात् कुठारं वसु शिल्पकर्ता॥ १६॥

इस प्रकार महर्षियोंका उत्तमोत्तम तथा महान् तेज पृथ्वीपर 'कात्यायनी' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ, तब वे उसी नामसे विश्वमें प्रसिद्ध हुईं। वरदानी शंकरजीने उन्हें त्रिशूल, मुरके मारनेवाले श्रीकृष्णने चक्र, वरुणने शङ्ख, अग्निने शक्ति, वायुने धनुष तथा सूर्यने अक्षय बाणोंवाले दो तूणीर (तरकस) प्रदान किये। इन्द्रने घण्टासहित वज्र, यमने दण्ड, कुबेरने गदा, ब्रह्माने कमण्डलुके साथ रुद्राक्षकी माला तथा कालने ढाल सहित प्रचण्ड खड्ग प्रदान किया। चन्द्रमाने चँवरके साथ हार, समुद्रने माला, हिमालयने सिंह, विश्वकर्माने चूडामणि, कुण्डल, अर्धचन्द्र, कुठार तथा पर्याप्त ऐश्वर्य प्रदान किया॥ १३—१६॥

गन्धर्वराजो रजतानुलिप्तं पानस्य पूर्णं सदृशं च भाजनम्।
भुजङ्गहारं भुजगेश्वरोऽपि अम्लानपुष्पामृतवः स्रजं च॥ १७॥
तदाऽतितुष्टा सुरसत्तमानां अट्टाट्टहासं मुमुचे त्रिनेत्रा।
तां तुष्टुवुर्देववराः महेन्द्राः सविष्णुरुद्रेन्द्वनिलाग्निभास्कराः॥ १८॥
नमोऽस्तु देव्यै सुरपूजितायै या संस्थिता योगविशुद्धदेहा।
निद्रास्वरूपेण महीं वितत्य तृष्णा त्रपा क्षुद् भयदाऽथ कान्तिः॥ १९॥
श्रद्धा स्मृतिः पुष्टिरथो क्षमा च छाया च शक्तिः कमलालया च।
वृत्तिर्दया भ्रान्तिरथेह माया नमोऽस्तु देव्यै भवरूपिकायै॥ २०॥

गन्धर्वराजने उनके अनुरूप रजतका पूर्ण पान-(मद्य)-पात्र, नागराजने भुजङ्गहार तथा ऋतुओंने कभी न कुम्हिलानेवाले पुष्पोंकी माला प्रदान की। उससे सभी श्रेष्ठ देवताओंके ऊपर अत्यन्त प्रसन्न होकर त्रिनेत्रा (कात्यायनी)ने उच्च अट्टहास किया। *इन्द्र, विष्णु, रुद्र, चन्द्रमा, वायु, अग्नि तथा सूर्य आदि श्रेष्ठ देव उनकी* स्तुति करने लगे—योगसे विशुद्ध देहवाली देवोंसे पूजित देवीको नमस्कार है। वे निद्रारूपसे पृथ्वीमें व्याप्त हैं, वे ही तृष्णा, त्रपा, क्षुधा, भयदा, कान्ति, श्रद्धा, स्मृति, पुष्टि, क्षमा, छाया, शक्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, दया, भ्रान्ति तथा माया हैं, ऐसी कल्याणमयी देवीको नमस्कार है॥ १७—२०॥

ततः स्तुता देववरैर्मृगेन्द्रमारुह्य देवी प्रगताऽवनीध्रम्।
विन्ध्यं महापर्वतमुच्चशृङ्गं चकार यं निम्नतरं त्वगस्त्यः॥ २१॥

फिर देवताओंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर वे देवी सिंहपर आरूढ़ होकर विन्ध्य नामक उस ऊँचे शृङ्गवाले महान् पर्वतपर गयीं, जिसे अगस्त्य मुनिने अति निम्न कर दिया था॥ २१॥

नारद उवाच

किमर्थमद्रिं भगवानगस्त्यस्तं निम्नशृङ्गं कृतवान् महर्षे।
कस्मै कृते केन च कारणेन एतद् वदस्वामलसत्त्ववृत्ते॥ २२॥

१—सभी पुराणों तथा सम्बन्धी व्याख्याओंमें विश्वकर्माद्वारा ही आभूषण बनाने—देनेकी चर्चा है। कुछ प्रतियोंमें अर्थमें समुद्रद्वारा देनेकी बात छप गयी है जो गलत है।

नारदजीने पूछा—ब्रह्मन् (पुलस्त्यजी) ! आप यह बतलायें कि भगवान् अगस्त्य महर्षिने उस पर्वतको विनम्र किये एवं किस कारणसे निम्न शृङ्गवाला कर दिया ? ॥ २२ ॥

पुलस्त्य उवाच

पुरा हि विन्ध्येन दिवाकरस्य गतिर्निरुद्धा गगनेचरस्य।
रविस्ततः कुम्भभवं समेत्य होमावसाने वचनं बभाषे ॥ २३ ॥
समागतोऽहं द्विज दूरतस्त्वां कुरुष्व मामुद्धरणं मुनीन्द्र।
ददस्व दानं मम यन्मनोषितं चरामि येन त्रिदिवेषु निर्वृतः ॥ २४ ॥
इत्थं दिवाकरवचो गुणसम्प्रयोगि श्रुत्वा तदा कलशजो वचनं बभाषे।
दानं ददामि तव यन्मनसस्त्वभीष्टं नार्थी प्रयाति विमुखो मम कश्चिदेव ॥ २५ ॥
श्रुत्वा वचोऽमृतमयं कलशोद्भवस्य प्राह प्रभुः करतले विनिधाय मूर्ध्नि।
एषोऽद्य मे गिरिवरः प्ररुणद्धि मार्गं विन्ध्यस्य निम्नकरणे भगवन् यतस्व ॥ २६ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—प्राचीनकालमें विन्ध्यपर्वतने (अपने ऊँचे शिखरोंसे) आकाशचारी सूर्यकी गतिको अवरुद्ध कर दिया था। तब सूर्यने महर्षि अगस्त्यके पास जाकर होमके अन्तमें यह वचन कहा—द्विज ! मैं बहुत दूरसे आपके पास आया हूँ। मुनिश्रेष्ठ ! आप मेरा उद्धार करें। मुझे अभीष्ट प्रदान करें, जिससे मैं निश्चिन्त होकर आकाशमें विचरण कर सकूँ। इस प्रकार सूर्यके नम्र वचनोंको सुनकर अगस्त्यजी बोले—मैं आपकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करूँगा। मेरे पाससे कोई भी याचक विमुख होकर नहीं जाता। अगस्त्यजीकी अमृतमयी वाणी सुन करके सिरपर दोनों हाथ जोड़कर सूर्यने कहा—भगवन् ! यह पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य आज मेरा मार्ग रोक रहा है, अतः आप इसे नीचा करनेका प्रयत्न करें ॥ २३—२६ ॥

इति रविवचनादथाह कुम्भजन्मा कृतमिति विद्धि मया हि नीचशृङ्गम्।
तव किरणजितो भविष्यते महीध्रो मम चरणसमाश्रितस्य का व्यथा ते ॥ २७ ॥
इत्येवमुक्त्वा कलशोद्भवस्तु सूर्यं हि संस्तूय विनम्य भक्त्या।
जगाम संत्यज्य हि दण्डकं हि विन्ध्याचलं वृद्धवपुर्महर्षिः ॥ २८ ॥
गत्वा वचः प्राह मुनिर्महीध्रं यास्ये महातीर्थवरं सुपुण्यम्।
वृद्धोऽस्म्यशक्तश्च तवाधिरोढुं तस्माद् भवान् नीचतरोऽस्तु सद्यः ॥ २९ ॥
इत्येवमुक्तो मुनिसत्तमेन स नीचशृङ्गस्त्वभवन्महीध्रः।
समाक्रमच्चापि महर्षिमुख्यः प्रोल्लङ्घ्य विन्ध्यं त्विदमाह शैलम् ॥ ३० ॥

सूर्यकी बात सुनकर अगस्त्यजीने कहा—सूर्यदेव ! विन्ध्यको आप मेरे द्वारा नीचा किया हुआ ही समझें। यह पर्वत आपकी किरणोंसे पराजित हो जायगा। मेरे चरणोंके आश्रय लेनेपर आपको अब क्या कष्ट होगा ? वृद्ध शरीरवाले महर्षि अगस्त्यजी ऐसा कहकर विनम्रतापूर्वक भक्तिसे सूर्यकी स्तुति करनेके बाद दण्डकको छोड़कर विन्ध्यपर्वतके निकट चले गये। वहाँ जाकर मुनिने पर्वतसे कहा—पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य ! मैं अत्यन्त पवित्र महातीर्थको जा रहा हूँ। मैं वृद्ध होनेसे तुम्हारे ऊपर चढ़नेमें असमर्थ हूँ, अतः तुम तत्काल नीचा हो जाओ। मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यके ऐसा कहनेपर विन्ध्य पर्वत निम्न शिखरवाला हो गया। तब महर्षिश्रेष्ठ (अगस्त्यजी) ने विन्ध्यपर्वतपर चढ़कर विन्ध्यको पार कर लिया और तब उससे यह कहा ॥ २७—३० ॥

यावन्न भूयो निजमाश्रमामि महाश्रम धौतवपु सुतीर्थात् ।
त्वया न तावत्त्विह वर्धितव्य नो चेद् विशप्स्येऽहमवज्ञया ते ॥ ३१ ॥
इत्येवमुक्त्वा भगवाञ्जगाम दिश स याम्या सहसान्तरिक्षम् ।
आक्रम्य तस्थौ स हि ता तदाशा काले व्रजाम्यत्र यदा मुनीन्द्र ॥ ३२ ॥
तत्राश्रम रम्यतर हि कृत्वा संशुद्धजाम्बूनदतोरणान्तम् ।
तत्राथ निक्षिप्य विदर्भपुत्रीं स्वमाश्रम सौम्यमुपाजगाम ॥ ३३ ॥
ऋतावृतौ पर्वकालेषु नित्य तमम्बरे ह्याश्रममावसत् स ।
शेष च काल स हि दण्डकस्थस्तपश्चचारामितकान्तिमान् मुनि ॥ ३४ ॥

मैं जबतक पवित्र तीर्थसे स्नान कर पुन अपने महान् आश्रमम न लौटूँ, तबतक तुम्हें नहीं बढ़ना चाहिये, अन्यथा अवज्ञा करनेके कारण मैं तुम्हें घोर शाप दे दूँगा । 'मैं उचित समयपर फिर आऊँगा'—ऐसा कहकर भगवान् अगस्त्य सहसा दक्षिण दिशाकी ओर चले गये तथा वहीं रह गये । मुनिने वहाँ विशुद्ध स्वर्णिम तोरणोंवाले अति रमणीय आश्रमकी रचना की एव उसमें विदर्भपुत्री लोपामुद्राको रखकर स्वय अपने आश्रमको चले गये । अत्यन्त प्रकाशमान मुनि (शरदसे नक्षत्रक) विभिन्न ऋतुओंमें पर्व (चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा तिथियों तथा रवि-सक्रान्ति, सूर्यग्रहण एव चन्द्रग्रहण) के समय नित्य आकाशमें और शेष समय दण्डकवनमें अपने आश्रममें निवासकर तप करने लगे ॥ ३१-३४ ॥

विन्ध्योऽपि दृष्ट्वा गगने महाश्रम वृद्धिं न यात्येव भयान्महर्षे ।
नासौ निवृत्तेति मतिं विधाय स सस्थितो नीचतराग्रशृङ्ग ॥ ३५ ॥
एव त्वगस्त्येन महाचलेन्द्र स नीचशृङ्गो हि कृतो महर्षे ।
तस्योर्ध्वशृङ्गे मुनिसस्तुता सा दुर्गा स्थिता दानवनाशनाय ॥ ३६ ॥
देवाश्च सिद्धाश्च महोरगाश्च विद्याधरा भूतगणाश्च सर्वे ।
सर्वाप्सरोभि प्रतिरामयन्त कात्यायनीं तस्थुरपेतशोका ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे अष्टादशोऽध्याय ॥ १८ ॥

विन्ध्यपर्वत भी आकाशमें महान् आश्रमको देखकर महर्षिके भयसे नहीं बढ़ा । वे नहीं लौटे हैं—ऐसा समझकर वह अपना शिखर नीचा किये हुए अब भी वैसे ही स्थित है । हे महर्षे ! इस प्रकार अगस्त्यने महान् पर्वतराज विन्ध्यको नीचा कर दिया । उसीके शिखरके ऊपर मुनियोंद्वारा सस्तुता दुर्गादेवी दानवोंके विनाशके लिये स्थित हुईं और देवता, सिद्ध, महानाग, अप्सराओंके सहित विद्याधर एव समस्त भूतगण इनके बदले कात्यायनीदेवीको प्रसन्न करते हुए नि शोक होकर उनके निकट रहने लगे ॥ ३५-३७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

[अथैकोनविंशोऽध्याय]

पुलस्त्य उवाच

ततस्तु ता तत्र तदा वसन्तीं कात्यायनीं शैलवरस्य शृङ्गे ।
अपश्यता दानवसत्तमौ द्वौ चण्डश्च मुण्डश्च तपस्विनीं ताम् ॥ १ ॥
दृष्ट्वैव शैलादवतीर्य शीघ्रमाजग्मतु स्वभवन सुरारी ।
दृष्ट्वोचतुस्तौ महिषासुरस्य दूताविद चण्डमुण्डौ दितीशम् ॥ २ ॥

स्वस्थो भवान् किं त्वसुरेन्द्र साम्प्रतमागच्छ पश्याम च तत्र विन्ध्यम्।
तत्रास्ति देवी सुमहानुभावा कन्या सुरूपा सुरसुन्दरीणाम् ॥ ३ ॥
जितास्तया तोयधराऽलकैर्हि जितः शशाङ्को वदनेन तन्व्या।
नेत्रैस्त्रिभिस्त्रीणि हुताशनानि जितानि कण्ठेन जितस्तु शङ्खः ॥ ४ ॥

उन्नीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चण्ड-मुण्डद्वारा महिषासुरसे भगवती कात्यायनीके सौन्दर्यका वर्णन, महिषासुरका संदेश और युद्धोपक्रम)

पुलस्त्यजीने कहा—उसके बाद उस श्रेष्ठ पर्वतशिखरपर निवास करनेवाली उन तपस्विनी भगवती (दुर्गा) को चण्ड और मुण्ड नामक दो श्रेष्ठ दानवोंने देखा और देखते ही पर्वतसे उतरकर वे दोनों शीघ्र अपने घर चले गये। फिर उन दोनों दूतोंने दैत्यराज महिषासुरके निकट जाकर कहा—'असुरेन्द्र ! आप इस समय स्वस्थ तो हैं। आइये, हमलोग विन्ध्यपर्वतपर चलकर देखें, वहाँ सुर-सुन्दरियोंमें अत्यन्त सुन्दर, श्रेष्ठ रूपगुणोंसे युक्त एक कन्या है। उस तन्वी (सूक्ष्मदेहवाली)ने केशपाशके द्वारा मेघोंको, मुखके द्वारा चन्द्रमाको, तीन नेत्रोंद्वारा तीनों (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय) अग्नियोंको और कण्ठके द्वारा शङ्खको जीत लिया है (उसकी शोभा और तेजसे ये फीके पड़ गये हैं) ॥ १–४ ॥

स्तनौ सुवृत्तावथ मग्नचूचुकौ स्थितौ विजित्येव गजस्य कुम्भौ।
त्वां सर्वजेतारमिति प्रतर्क्य कुचौ स्मरेणेव कृतौ सुदुर्गौ ॥ ५ ॥
पीनाः सशस्त्राः परिघोपमाश्च भुजास्तयाऽष्टादश भान्ति तस्याः।
पराक्रमं वै भवतो विदित्वा कामेन यन्त्रा इव ते कृतास्तु ॥ ६ ॥
मध्यं च तस्यास्त्रिवलीतरङ्गं विभाति दैत्येन्द्र सुरोमराजि।
भयातुरारोहणकातरस्य कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ ७ ॥
सा रोमराजी सुतरां हि तस्या विराजते पीनकुचावलग्ना।
आरोहणे त्वद्भयकातरस्य स्वेदप्रवाहोऽसुर मन्मथस्य ॥ ८ ॥

'उसके मग्न चूचुकवाले वृत्त-(सुडौल गोले) स्तन हाथीके गण्डस्थलोंको मात कर रहे हैं। मालूम होता है कि कामदेवने अपनेको सर्वविजयी समझकर आपको परास्त करनेके लिये उसके दो कुचरूपी दो दुर्गोंकी रचना की है। शस्त्रसहित उसकी मोटी परिघके समान अठारह भुजाएँ इस प्रकार सुशोभित हो रही हैं, मानो आपका पराक्रम जानकर कामदेवने यन्त्रके समान उनका निर्माण किया है। दैत्येन्द्र ! त्रिवलीसे तरङ्गायमान उसकी कमर इस प्रकार सुशोभित हो रही है, मानो वह भयार्त तथा अधीर कामदेवका आरोहण करनेके लिये सोपान हो। असुर ! उसके पीन कुचोंतककी वह रोमावलि इस प्रकार सुशोभित हो रही है, मानो आरोहण करनेमें आपके भयसे कातर कामदेवका स्वेद-प्रवाह हो ॥ ५–८ ॥

नाभिर्गभीरा सुतरां विभाति प्रदक्षिणाऽस्या परिवर्तमाना।
तस्यैव लावण्यगृहस्य मुद्रा कन्दर्पराज्ञा स्वयमेव दत्ता ॥ ९ ॥
विभाति रम्यं जघनं मृगाक्ष्याः समन्ततो मेखलयाऽवजुष्टम्।
मन्याम तं कामनराधिपस्य प्राकारगुप्तं नगरं सुदुर्गम् ॥ १० ॥
वृत्तावरोमौ च मृदू कुमार्याः शोभेत ऊरू समनुत्तमौ हि।
आवासनार्थं मकरध्वजेन जनस्य देशाविव सन्निविष्टौ ॥ ११ ॥

तज्जानुयुग्मं महिषासुरेन्द्र अर्द्धोन्नतं भाति तथैव तस्याः ।
सृष्ट्वा विधाता हि निरूपणाय श्रान्तस्तथा हस्ततले ददौ हि ॥ १२ ॥

'उसकी गम्भीर दक्षिणावर्त नाभि ऐसी लगती है, मानो कंदर्पने स्वयं ही उस सौन्दर्यगृहके ऊपर मुहर लगा दी है। मेखलासे चारों ओर आवेष्टित उस मृगनयनीका जघन बड़ा सुन्दर सुशोभित हो रहा है। उसे हम राजा कामका प्राकारसे (चहार दीवारियोंसे) गुप्त (सुरक्षित) दुर्गम नगर मानते हैं। उस कुमारीके वृत्ताकार रोमरहित, कोमल तथा उत्तम ऊरु इस प्रकार शोभित हो रहे हैं, मानो कामदेवने मनुष्योंके निवासके लिये दो देशोंका सन्निवेश किया है। महिषासुरेन्द्र! उसके अर्द्धोन्नत जानुयुगल इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, मानो उसकी रचना करनेके बाद थके विधाताने निरूपण करनेके लिये अपना करतल ही स्थापित कर दिया हो ॥ ९-१२ ॥

जङ्घे सुवृत्तेऽपि च रोमहीने शोभेत दैत्येश्वर ते तदीये ।
आक्रम्य लोकानिव निर्मिताया रूपार्जितस्यैव कृताधरे हि ॥ १३ ॥
पादौ च तस्याः कमलोदराभौ प्रयत्नतस्तौ हि कृतौ विधात्रा ।
आभाति ताभ्यां नखरत्नमाला नक्षत्रमाला गगने यथैव ॥ १४ ॥
एवंस्वरूपा दनुनाथ कन्या महोग्रशस्त्राणि च धारयन्ती ।
दृष्ट्वा यथेष्टं न च विद्म का सा सुताऽथवा कस्यचिदेव बाला ॥ १५ ॥
तद्भूतले रत्नमनुत्तमं स्थितं स्वर्गं परित्यज्य महाऽसुरेन्द्र ।
गत्वाथ विन्ध्यं स्वयमेव पश्य कुरुष्व यत् तेऽभिमतं क्षमं च ॥ १६ ॥

'दैत्येश्वर! उसकी सुवृत्त तथा रोमहीन दोनों जघाएँ इस प्रकार सुशोभित हो रही हैं, मानो (दिव्य) निर्मित की गयी नायिकाके रूपके द्वारा सभी लोग पराजित कर दिये गये हैं। विधाताने प्रयत्नपूर्वक उसके कमलोदरके समान कान्तिवाले दोनों पैरोंका निर्माण किया है। उन्होंने कात्यायनीके उन चरणोंके नखरूपी रत्नशृङ्खलाको इस प्रकार प्रकाशित किया है, मानो वह आकाशमें नक्षत्रोंकी माला हो। दैत्येश्वर! वह कन्या बड़े और भयानक शस्त्रोंको धारण किये हुए है। उसे भलीभाँति देखकर भी हम यह न जान सके कि वह कौन है तथा किसकी पुत्री या स्त्री है। महासुरेन्द्र! वह स्वर्गका परित्याग कर भूतलमें स्थित श्रेष्ठरत्न है। आप स्वयं विन्ध्यपर्वतपर जाकर उसे देखें और फिर जो आपकी इच्छा एवं सामर्थ्य हो वह करें' ॥ १३-१६ ॥

श्रुत्वैव ताभ्यां महिषासुरस्तु देव्याः प्रवृत्तिं कमनीयरूपाम् ।
चक्रे मतिं नात्र विचारमस्ति इत्येवमुक्त्वा महिषोऽपि नास्ति ॥ १७ ॥
प्रागेव पुंसस्तु शुभाशुभानि स्थाने विधात्रा प्रतिपादितानि ।
यस्मिन् यथा यानि यतोऽथ विप्र स नीयते वा व्रजति स्वयं वा ॥ १८ ॥
ततोऽनु मुण्डं नमरं सचण्डं बिडालनेत्रं सपिशङ्गबाष्कलम् ।
उग्रायुधं चिक्षुररक्तबीजौ समादिदेशाथ महासुरेन्द्रः ॥ १९ ॥
आहत्य भेरीं रणकर्कशास्ते स्वर्गं परित्यज्य महीधरं तु ।
आगम्य मूले शिबिरं निवेश्य तस्थुश्च सज्जा दनुनन्दनास्ते ॥ २० ॥

उन दोनों दूतोंसे कात्यायनीके आकारके सौन्दर्यकी बात सुनकर महिषने 'इस विषयमें कुछ भी विचारना नहीं है'—यह पक्का जानेका निश्चय किया। इस प्रकार मानो महिषका अन्त ही आ गया। मनुष्यके शुभाशुभको ब्रह्माने पहलेसे ही निर्धारित कर रखा है। जिस व्यक्तिको जहाँपर या जहाँसे जिस प्रकार जो कुछ भी शुभाशुभ

परिणाम होनेवाला होता है, वह वहाँ ले जाया जाता है या स्वयं चला जाता है। फिर महिषने मुण्ड, नम चण्ड, विडालनेत्र, पिशङ्गके साथ बाष्कल, उग्रायुध, चिक्षुर और रक्तबीजको आज्ञा दी। वे सभी दानव रणकर्कशा भेरि बजाकर स्वर्गको छोड़कर उस पर्वतके निकट आ गये और उसके मूलमें सेनाके दलोंका पड़ाव डालकर युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ १७–२० ॥

ततस्तु दैत्यो महिषासुरेण सम्प्रेषितो दानवयूथपालः।
मयस्य पुत्रो रिपुसैन्यमर्दी स दुन्दुभिर्दुन्दुभिनिःस्वनस्तु ॥ २१ ॥
अभ्येत्य देव्याँ गगनस्थितोऽपि स दुन्दुभिर्वाक्यमुवाच विप्र।
कुमारि दूतोऽस्मि महासुरस्य रम्भात्मजस्याप्रतिमस्य युद्धे ॥ २२ ॥
कात्यायनी दुन्दुभिमभ्युवाच एह्येहि दैत्येन्द्र भयं विमुच्य।
वाक्यं च यद्रम्भसुतो बभाषे वदस्व तत्सत्यमपेतमोहः ॥ २३ ॥
तथोक्तवाक्ये दितिजः शिवायास्त्यक्त्वाम्बरं भूमितले निषण्णः।
सुखोपविष्टः परमासने च रम्भात्मजेनोक्तमुवाच वाक्यम् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् महिषासुरने देवीके पास धौंसेकी ध्वनिकी भाँति उच्च और गम्भीर ध्वनिमें बोलनेवाले त शत्रुओंकी सेनाओंके समूहोंका मर्दन करनेवाले दानवोंके सेनापति मयपुत्र दुन्दुभिको भेजा। ब्राह्मणदेवता नारदजी दुन्दुभिने देवीके पास पहुँचकर आकाशमें स्थित होकर उनसे यह वाक्य कहा—हे कुमारि! मैं महान् अ रम्भके पुत्र महिषका दूत हूँ। वह युद्धमें अद्वितीय वीर है। इसपर कात्यायनीने दुन्दुभिसे कहा—दैत्येन्द्र तुम निडर होकर इधर आओ और रम्भपुत्रने जो वचन कहा है, उसे स्वस्थ होकर ठीक-ठीक कहो। दुर्गाके इ प्रकार कहनेपर वह दैत्य आकाशसे उतरकर पृथ्वीपर आया और सुन्दर आसनपर सुखपूर्वक बैठकर महिष वचनोंको इस प्रकार कहने लगा—॥ २१–२४ ॥

दुन्दुभिरुवाच

एवं समाज्ञापयते सुरारिस्त्वां देवि दैत्यो महिषासुरस्तु।
यथामरा हीनबलाः पृथिव्यां भ्रमन्ति युद्धे विजिता मया ते ॥ २५ ॥
स्वर्गं मही वायुपथाश्च वश्या पातालमन्ये च महेश्वराद्याः।
इन्द्रोऽस्मि रुद्रोऽस्मि दिवाकरोऽस्मि सर्वेषु लोकेष्वधिपोऽस्मि बाले ॥ २६ ॥
न सोऽस्ति नाके न महीतले वा रसातले देवभटोऽसुरो वा।
यो मां हि संग्राममुपेयिवांस्तु भूतो न यक्षो न जिजीविषुर्यः ॥ २७ ॥
यान्येव रत्नानि महीतले वा स्वर्गेऽपि पातालतलेऽथ मुग्धे।
सर्वाणि मामद्य समागतानि वीर्यार्जितानीह विशालनेत्रे ॥ २८ ॥
स्त्रीरत्नमग्र्यं भवती च कन्या प्राप्तोऽस्मि शैलं तव कारणेन।
तस्माद् भजस्वेह जगत्पतिं मां पतिस्तवार्होऽस्मि विभुः प्रभुश्च ॥ २९ ॥

दुन्दुभि बोला—देवि! असुर महिषने तुम्हें यह अवगत कराया है कि मेरे द्वारा युद्धमें पराजित हुए निर्बल देवतालोग पृथ्वीपर भ्रमण कर रहे हैं। हे बाले! स्वर्ग, पृथ्वी, वायुमार्ग, पाताल और शंकर आदि देवगण सभी मेरे वशमें हैं। मैं ही इन्द्र, रुद्र, एवं सूर्य हूँ तथा सभी लोकोंका स्वामी हूँ। स्वर्ग, पृथ्वी या रसातलमें जीवित रहनेकी इच्छावाला ऐसा कोई देव, असुर, भूत या यक्ष योद्धा नहीं हुआ, जो युद्धमें मेरे सामने आ सकता हो।

(और भी सुनो) पृथ्वी, स्वर्ग या पातालमें जितने भी रत्न हैं, उन सबको मैंने अपने पराक्रमसे जीत लिया है और अब वे मेरे पास आ गये हैं। अतः अबोध बालिके! तुम कन्या हो और स्त्रीरत्नोंमें श्रेष्ठ हो। मैं तुम्हारे लिये इस पर्वतपर आया हूँ। इसलिये मुझ जगत्पतिको तुम स्वीकार करो। मैं तुम्हारे योग्य सर्वथा समर्थ पति हूँ ॥२५–२९॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ता दितिजेन दुर्गा कात्यायनी प्राह मयस्य पुत्रम्।
सत्यं प्रभुर्दानवराट् पृथिव्यां सत्यं च युद्धे विजितामराश्च ॥ ३० ॥
किं त्वस्ति दैत्येश कुलेऽस्मदीये धर्मो हि शुल्काख्य इति प्रसिद्धः।
तं चेत् प्रदद्यान्महिषो ममाद्य भजामि सत्येन पतिं ह्यारिम् ॥ ३१ ॥
श्रुत्वाऽथ वाक्यं मयजोऽब्रवीच्च शुल्कं वदस्वाम्बुजपत्रनेत्रे।
दद्यात्स्वमूर्धानमपि त्वदर्थे किं नाम शुल्कं यदिहैव लभ्यम् ॥ ३२ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—उस दैत्यके ऐसा कहनेपर दुर्गाजीने दुन्दुभिसे कहा—(असुरदूत!) यह सत्य है कि दानवराट् महिष पृथ्वीमें समर्थ है एवं यह भी सत्य है कि उसने युद्धमें देवताओंको जीत लिया है, किंतु दैत्येश! हमारे कुलमें (विवाहके विषयमें) शुल्क नामकी एक प्रथा प्रचलित है। यदि महिष आज मुझे यह प्रदान करे तो सत्यरूपमें (सचमुच) मैं उस (महिष)को पतिरूपमें स्वीकार कर लूँगी। इस वाक्यको सुनकर दुन्दुभिने कहा—(अच्छा) कमलपत्राक्षि! तुम वह शुल्क बतलाओ। महिष तो तुम्हारे लिये अपना सिर भी प्रदान कर सकता है, शुल्ककी तो बात ही क्या, जो यहीं ही मिल सकता है ॥ ३०–३२ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ता दनुनायकेन कात्यायनी सस्वनमुन्नदित्वा।
विहस्य चैतद्वचनं बभाषे हिताय सर्वस्य चराचरस्य ॥ ३३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—दैत्यनायक दुन्दुभिके ऐसा कहनेपर दुर्गाजीने उच्च स्वरसे गर्जन कर और हँसकर समस्त चराचरके कल्याणार्थ यह वचन कहा—॥ ३३ ॥

श्रीदेव्युवाच

कुलेऽस्मदीये शृणु दैत्य शुल्कं कृतं हि यत्पूर्वतरैः प्रसह्य।
यो जेष्यतेऽस्मत्कुलजां रणाग्रे तस्याः स भर्ताऽपि भविष्यतीति ॥ ३४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—दैत्य! पूर्वजोंने हमारे कुलमें जो शुल्क निर्धारित किया है, उसे सुनो। (वह यह है कि) हमारे कुलमें उत्पन्न कन्याको जो बलसे युद्धमें जीतेगा, वही उसका पति होगा ॥ ३४ ॥

पुलस्त्य उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं देव्या दुन्दुभिर्दानवेश्वरः। गत्वा निवेदयामास महिषाय यथातथम् ॥ ३५ ॥
स चाभ्यगान्महातेजाः सर्वदैत्यपुरःसरः। आगत्य विन्ध्यशिखरं योद्धुकामः सरस्वतीम् ॥ ३६ ॥
ततः सेनापतिर्दैत्यश्चिक्षुरो नाम नारद। सेनाग्रगामिनं चक्रे नमरं नाम दानवम् ॥ ३७ ॥
स चापि सेनाधिपतिश्चतुरङ्गं समूर्जितम्। बलैकदेशमादाय दुर्गां दुद्राव वेगितः ॥ ३८ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—देवीकी यह बात सुनकर दुन्दुभिने जाकर महिषासुरसे इस बातको ज्यों-का-त्यों निवेदित कर दिया। उस महातेजस्वी दैत्यने सभी दैत्योंके साथ (युद्धमें देवीको पराजितकर उसका पति बननेके लिये) प्रयाण किया एवं सरस्वती(देवी)से युद्ध करनेकी इच्छासे विन्ध्याचल पर्वतपर पहुँच गया। नारदजी!

उसके पश्चात् सेनापति चिक्षुर नामक दैत्यने नमर नामके दैत्यको सेनाके आगे चलनेका निर्देश दिया। और वह भी महान् बली असुर उससे निर्देश पाकर बलशाली चतुरंगिणी सेनाकी एक लड़ाकू टुकड़ीको लेकर वेगसे दुर्गाजीपर धावा बोल दिया ॥ ३५—३८ ॥

तमापतन्तं वीक्ष्याथ देवा ब्रह्मपुरोगमाः। ऊचुर्वाक्यं महादेवीं वर्म ह्याबन्ध चाम्बिके ॥ ३९ ॥
अथोवाच सुरान् दुर्गा नाहं बध्नामि देवताः। कवचं कोऽत्र संतिष्ठेत् ममाग्रे दानवाधमः ॥ ४० ॥
यदा न देव्या कवचं कृतं शस्त्रनिबर्हणम्। तदा रक्षार्थमस्यास्तु विष्णुपञ्जरमुक्तवान् ॥ ४१ ॥
सा तेन रक्षिता ब्रह्मन् दुर्गा दानवसत्तमम्। अवध्यं दैवतैः सर्वैर्महिषं प्रत्यपीडयत् ॥ ४२ ॥

एवं पुरा देववरेण शम्भुना तद्वैष्णवं पञ्जरमायताक्ष्याः।
प्रोक्तं तया चापि हि पादघातैर्निषूदितोऽसौ महिषासुरेन्द्रः ॥ ४३ ॥
एवंप्रभावो द्विज विष्णुपञ्जरः सर्वासु रक्षास्वधिको हि गीतः।
कस्तस्य कुर्याद् युधि दर्पहानिं यस्य स्थितश्चेतसि चक्रपाणिः ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इसे आते देखकर ब्रह्मा आदि देवताओंने महादेवीसे कहा—अम्बिके! आप कवच बाँध लें। उसके बाद देवीने देवताओंसे कहा—देवगण! मैं कवच नहीं बाँधूँगी। मेरे सामने ऐसा कौन अधम दानव है जो यहाँ युद्धमें ठहर सके। जब देवीने शस्त्र-निवारक कवच न पहना तो उनकी रक्षाके लिये देवताओंने (पूर्वोक्त) विष्णुपञ्जरस्तोत्र पढ़ा। ब्रह्मन्! उससे रक्षित होकर दुर्गाने समस्त देवताओंके द्वारा अवध्य दानव-श्रेष्ठ महिषासुरको खूब पीडित किया। इस प्रकार पहले देवश्रेष्ठ शम्भुने बड़े नेत्रोंवाली-(कात्यायनी) से उस वैष्णवपञ्जरको कहा था, उसीके प्रभावसे उन्होंने (देवीने) भी पैरोंसे मारकर उस महिषासुरका कचूमर निकाल दिया। द्विज! इस प्रकारके प्रभावसे युक्त विष्णुपञ्जर समस्त रक्षाकारी-(स्तोत्रों) में श्रेष्ठ कहा गया है। वस्तुतः जिसके चित्तमें चक्रपाणि स्थित हों, युद्धमें उसके अभिमानको कौन नष्ट कर सकता है ॥ ३९—४४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

[अथ विंशोऽध्यायः]

नारद उवाच

कथं कात्यायनी देवी सानुगं महिषासुरम्। सवाहनं हतवती तथा विस्तरतो वद ॥ १ ॥
एतच्च संशयं ब्रह्मन् हृदि मे परिवर्तते। विद्यमानेषु शस्त्रेषु यत्पद्भ्यां तममर्दयत् ॥ २ ॥

बीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(भगवती कात्यायनीका दैत्योंके साथ युद्ध; महिषासुर-वध एवं दुर्गाका शिवजीके पादमूलमें लीन हो जाना)

नारदजीने पूछा—(पुलस्त्यजी!) दुर्गादेवीने सेना एवं वाहनोंके सहित महिषासुरको किस प्रकार मार डाला, इसे आप विस्तारसे कहें। मेरे मनमें यह शङ्का घर कर गयी है कि शस्त्रोंके विद्यमान होते हुए भी देवीने पैरोंसे ही उसे क्यों मारा? ॥ १-२ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्वावहितो भूत्वा कथामेतां पुरातनीम्। वृत्तां देवयुगस्यादौ पुण्यां पापभयापहाम् ॥ ३ ॥
एवं स नमरः क्रुद्धः समापतत वेगवान्। सगजाश्वरथो ब्रह्मन् दृष्टो देव्या यथेच्छया ॥ ४ ॥
ततो बाणगणैर्दैत्यः समानम्याथ कार्मुकम्। ववर्ष शैलं धारौघैरिवाम्बुदवृष्टिभिः ॥ ५ ॥
शरवर्षेण तेनाथ विलोक्याद्रिं समावृतम्। क्रुद्धा भगवती वेगादाचकर्ष धनुर्वरम् ॥ ६ ॥

[फिर नारदजीके प्रश्नको सुनकर] पुलस्त्यजीने कहा—नारदजी ! देवयुगके आदिमें घटित तथा पाप एवं भयको दूर करनेवाली इस प्राचीन एवं पवित्र कथाको आप सावधान होकर सुनिये। एक बार इसी प्रकार (अर्थात्) पूर्ववर्णित रीतिसे क्रुद्ध होकर चमरने भी हाथी, घोड़े और रथोंके साथ वेगपूर्वक देवीके ऊपर आक्रमण कर दिया था। फिर देवीने भी उसे भलीभाँति देखा। इसके बाद दैत्यने अपने धनुषको झुकाकर (चढ़ाकर) विन्ध्य पर्वतके ऊपर इस प्रकारसे बाण-वर्षा की जैसे आकाशसे बादल (उसपर) धारा-प्रवाह (मूसलाधार) जलवृष्टि करता हो। उसके बाद उस दैत्यकी बाण-वर्षासे पर्वतको सर्वथा ढका देखकर देवीको बड़ा क्रोध हुआ और तब उन्होंने वेगपूर्वक बड़े विशाल धनुषको चढ़ा लिया ॥ ३–६ ॥

तज्जुष्टं दानवे सैन्ये दुर्गया नामितं बलात्। सुवर्णपृष्ठं विबभौ विद्युदम्बुधरेष्विव ॥ ७ ॥
बाणैः सुररिपूनन्यान् खड्गेनान्यान् शुभव्रत। गदया मुसलेनान्यांश्चर्मणाऽन्यानपातयत् ॥ ८ ॥
एकोऽप्यसौ बहून् देव्याः केसरी कालसंनिभः। विधुन्वन् केसरसटां निषूदयति दानवान् ॥ ९ ॥
कुलिशाभिहता दैत्याः शक्त्या निर्भिन्नवक्षसः। लाङ्गलैर्दारितग्रीवा विनिकृत्ताः परश्वधैः ॥ १० ॥
दण्डनिर्भिन्नशिरसश्चक्रविच्छिन्नबन्धनाः। चेलुः पेतुश्च मम्लुश्च तत्यजुश्चापरे रणम् ॥ ११ ॥

श्रीदुर्गाजीद्वारा चढ़ाया गया सोनेकी पीठवाला वह धनुष दानवी-सेनामें इस प्रकार चमक उठा, जैसे बादलोंमें बिजली चमकती है। शुभ व्रतवाले श्रीनारदजी ! श्रीदुर्गाजीने कुछ दैत्योंको बाणोंसे, कुछको तलवारसे, कुछको गदासे, कुछको मुसलसे और कुछ दैत्योंको ढाल चलाकर ही मार डाला। कालके समान देवीके सिंहने (भी) अपनी गर्दनके बालोंको झाड़ते हुए अकेले ही अनेकों दैत्योंका संहार कर डाला। देवीने कुछ दैत्योंको वज्रसे आहत कर दिया, कुछ दैत्योंके वक्षःस्थलको शक्तिसे फाड़ डाला, कुछके गर्दनको हलसे विदीर्ण कर कुछको फरसेसे काट डाला, कुछके सिरको दण्डसे फोड़ दिया तथा कुछ दैत्योंके शरीरके संधि-स्थानोंको चक्रसे छिन्न-भिन्न कर दिया। कुछ पहले ही चले गये, कुछ गिर गये, कुछ मूर्छित हो गये और कुछ युद्धभूमि छोड़कर भाग गये ॥ ७–११ ॥

ते वध्यमाना रौद्रया दुर्गया दैत्यदानवाः। कालरात्रिं मन्यमाना दुद्रुवुर्भयपीडिताः ॥ १२ ॥
सैन्याग्रं भग्नमालोक्य दुर्गामग्रे तथा स्थिताम्। दृष्ट्वा जगाम चमरो मत्तकुञ्जरसंस्थितः ॥ १३ ॥
समागम्य च वेगेन देव्याः शक्तिं मुमोच ह। त्रिशूलमपि सिंहाय प्राहिणोद् दानवो रणे ॥ १४ ॥
तावापतन्तौ देव्या तु हुंकारेणाथ भस्मसात्। कृतावथ गजेन्द्रेण गृहीतो मध्यतो हरिः ॥ १५ ॥

भयंकर रूपवाली दुर्गाद्वारा मारे जा रहे दैत्य एवं दानव भयसे व्याकुल हो गये तथा वे उन्हें कालरात्रिके समान मानते हुए डरसे भाग चले। सेनाके अग्र (प्रधान) भागको नष्ट तथा अपने सम्मुख दुर्गाको स्थित देखकर चमर मतवाले हाथीपर चढ़कर आगे आया। उस दानवने युद्धमें देवीके ऊपर शक्तिसे वेगपूर्वक प्रहार किया एवं सिंहके ऊपर त्रिशूल चलाया। (किंतु) देवीने उन दोनों अस्त्रोंको आते देख हुंकारसे ही उन्हें भस्म कर डाला। इधर चमरके हाथीने (सूँड़से) सिंहकी कमर पकड़ ली ॥ १२–१५ ॥

अथोत्पत्य च वेगेन तलेनाहत्य दानवम्। गतासुं कुञ्जरस्कन्धात् क्षिप्य क्ष्वेडं निवेदितः ॥ १६ ॥
गृहीत्वा दानवं मध्ये ब्रह्मन् कात्यायनी तदा। सव्येन पाणिना भ्राम्य वादयत् पटहं यथा ॥ १७ ॥
ततोऽट्टहासं मुमुचे तादृशे वाद्यतां गते। हास्यात् समुद्भवंस्तस्या भूता नानाविधाऽद्भुताः ॥ १८ ॥
केचिद् व्याघ्रमुखा रौद्रा वृकाकारास्तथा परे। हयास्या महिषास्याश्च वराहवदनाः परे ॥ १९ ॥

इसपर सिंहने तेजीसे उछलकर चमर दानवको पंजेसे मारकर उसके प्राण ले लिये और हाथीके कंधेसे उसे नीचे गिराकर देवीके आगे रख दिया। नारदजी ! देवी कात्यायनी क्रोधसे उस दैत्यको मध्यमें पकड़कर तथा बायें हाथसे घुमाकर ढोलके समान बजाने लगीं और उसे अपना बाजा बनाकर उन्होंने जोरसे अट्टहास किया। उनके हँसनेसे अनेक प्रकारके अद्भुत भूत उत्पन्न हो गये ! कोई-कोई (भूत) व्याघ्रके समान भयंकर मुखवाले थे, किसीकी आकृति भेड़ियेके समान थी, किसीका मुख घोड़ेके तुल्य और किसीका मुख भैंसे-जैसा था, किसीका सूकरके समान मुँह था ॥ १६-१९ ॥

आखुकुक्कुटवक्त्राश्च गोऽजाविकमुखास्तथा। नानावक्त्राक्षिचरणा नानायुधधरास्तथा ॥ २० ॥
गायन्त्यन्ये हसन्त्यन्ये रमन्त्यन्ये तु सङ्घशः। वादयन्त्यपरे तत्र स्तुवन्त्यन्ये तथाम्बिकाम् ॥ २१ ॥
सा तैर्भूतगणैर्देवी सार्द्धं तद्दानवं बलम्। शातयामास चाक्रम्य यथा सस्यं महाशनिः ॥ २२ ॥
सेनाग्रे निहते तस्मिन् तथा सेनाग्रगामिनि। चिक्षुरः सैन्यपालस्तु योधयामास देवताः ॥ २३ ॥

उनके मुँह चूहे, मुर्गे (कुक्कुट), गाय, बकरा और भेड़के मुखोंके समान थे। कई नाना प्रकारके मुख, आँख एवं चरणोंवाले थे तथा वे नाना प्रकारके आयुध धारण किये हुए थे। उनमें कुछ तो समूह बनाकर गाने लगे, कुछ हँसने लगे और कुछ रमण करने लगे तथा कुछ बाजा बजाने लगे एवं कुछ देवीकी स्तुति करने लगे। देवीने उन भूतगणोंके साथ उस दानव-सेनापर आक्रमण कर उसे इस प्रकार तहस-नहस कर दिया, जैसे भारी वज्रके समान ओलोंके गिरनेसे खेतीका संहार हो जाता है। इस प्रकार सेनाके अग्रभाग तथा सेनापतिके मारे जानेपर अब सेनापति चिक्षुर देवताओंसे भिड़ गया—युद्ध करने लगा ॥ २०-२३ ॥

कार्मुकं दृढमाकर्णमाकृष्य रथिनां वरः। ववर्ष शरजालानि यथा मेघो वसुंधराम् ॥ २४ ॥
तान् दुर्गा स्वशरैश्छित्त्वा शरसंघान् सुपर्वभिः। सौवर्णपुङ्खानपरान् शराञ्जग्राह षोडश ॥ २५ ॥
ततश्चतुर्भिश्चतुरस्तुरङ्गानपि भामिनी। हत्वा सारथिमेकेन ध्वजमेकेन चिच्छिदे ॥ २६ ॥
ततस्तु सशरं चापं चिच्छेदैकेषुणाऽम्बिका। छिन्ने धनुषि खड्गं च चर्म चादत्तवान् बली ॥ २७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ उस दैत्यने अपने मजबूत धनुषको अपने कानोंतक चढ़ाकर उससे बाणोंकी इस प्रकार वर्षा की जैसे मेघ पृथ्वीपर (घनघोर) जल बरसाते हैं। परंतु दुर्गाने भी सुन्दर पर्वों (गाँठों)वाले अपने बाणोंसे उन बाणोंको काट डाला और फिर सुवर्णसे निर्मित पंखवाले सोलह बाणोंको अपने हाथोंमें ले लिया। उन्होंने क्रुद्ध होकर चार बाणोंसे उसके चार घोड़ोंको और एकसे सारथीको मारकर एक बाणसे उसकी ध्वजाके दो टुकड़े कर दिये। फिर अम्बिकाने एक बाणसे उसके बाणसहित धनुषको काट डाला। धनुष कट जानेपर बलवान् चिक्षुरने ढाल और तलवार उठा ली ॥ २४-२७ ॥

स खड्गं चर्मणा सार्धं दैत्यस्याधुन्वतो बलात्। शरैश्चतुर्भिश्चिच्छेद ततः शूलं समाददे ॥ २८ ॥
समुद्भ्राम्य महच्छूलं संप्राद्रवदथाम्बिकाम्। क्रोष्टुको मुदितोऽरण्ये मृगराजवधूं यथा ॥ २९ ॥
तस्याभिपततः पादौ करौ शीर्षं च पञ्चभिः। शरैश्चिच्छेद संक्रुद्धा न्यपतन्निहतोऽसुरः ॥ ३० ॥
तस्मिन् सेनापतौ क्षुण्णे तदोग्रास्यो महासुरः। समाद्रवत वेगेन करालास्यश्च दानवः ॥ ३१ ॥

वह ढाल और तलवारको जोर लगाकर घुमा ही रहा था कि देवीने चार बाणोंसे उन्हें काट डाला। इसपर उस दैत्यने शूल ले लिया। महान् शूलको घुमाकर वह अम्बिकाकी ओर इस प्रकार दौड़ा, जैसे वनमें सियार आनन्दमग्न होकर सिंहिनीकी ओर दौड़े। पर देवीने अत्यन्त क्रुद्ध होकर पाँच बाणोंसे उस असुरके दोनों हाथों, दोनों पैरों

एवं मस्तकको काट डाला, जिससे वह असुर मरकर गिर पड़ा। उस सेनापतिके मरनेपर उग्रास्य नामका महान् असुर तथा करालास्य नामका दानव—ये दोनों तेजीसे उनकी ओर दौड़े ॥ २८–३१ ॥

बाष्कलश्चोद्धतश्चैव उदग्राख्योग्रकार्मुकः। दुर्धरो दुर्मुखश्चैव बिडालनयनोऽपरः ॥ ३२ ॥
एतेऽन्ये च महामात्रा दानवा बलिनो वराः। कात्यायनीमाद्रवन्त नानाशस्त्रास्त्रपाणयः ॥ ३३ ॥
तान् दृष्ट्वा लीलया दुर्गा वीणां जग्राह पाणिना। वादयामास हसती तथा डमरुकं वरम् ॥ ३४ ॥
यथा यथा वादयते देवी वाद्यानि तानि तु। तथा तथा भूतगणा नृत्यन्ति च हसन्ति च ॥ ३५ ॥

बाष्कल, उद्धत, उदग्र, उग्रकार्मुक, दुर्धर, दुर्मुख तथा बिडालाक्ष—ये तथा अन्य अनेक अत्यन्त बली एवं श्रेष्ठ दैत्य शस्त्र और अस्त्र लेकर दुर्गाकी ओर दौड़ पड़े। देवी दुर्गाने उन्हें देखा और वे लीलापूर्वक हाथोंमें वीणा एवं श्रेष्ठ डमरू लेकर हँसती हुई उन्हें बजाने लगीं। देवी उन बाजोंको ज्यों-ज्यों बजाती जाती थीं, त्यों-त्यों सभी भूत भी नाचते और हँसते थे ॥ ३२–३५ ॥

ततोऽसुराः शस्त्रधराः समभ्येत्य सरस्वतीम्। अभ्यघ्नंस्तांश्च जग्राह केशेषु परमेश्वरी ॥ ३६ ॥
प्रगृह्य केशेषु महासुरांस्तान् उत्पत्य सिंहात्तु नगस्य सानुम्।
ननर्त वीणां परिवादयन्ती पपौ च पानं जगतो जनित्री ॥ ३७ ॥
ततस्तु देव्या बलिनो महासुरा दोर्दण्डनिर्धूतविशीर्णदर्पाः।
विस्रस्तवस्त्रा व्यसवश्च जाताः ततस्तु तान् वीक्ष्य महासुरेन्द्रान् ॥ ३८ ॥
देव्या महौजा महिषासुरस्तु व्यद्रावयद् भूतगणान् खुराग्रैः।
तुण्डेन पुच्छेन तथोरसाऽन्यान् निःश्वासवातेन च भूतसङ्घान् ॥ ३९ ॥

अब असुर शस्त्र लेकर महासरस्वतीरूपा दुर्गाके पास जाकर उनपर प्रहार करने लगे। पर परमेश्वरीने (तुरत) उनके बालोंको जोरके साथ पकड़ लिया। उन महासुरोंका केश पकड़कर और फिर सिंहसे उछलकर पर्वत-शृङ्गपर जाकर जगज्जननी दुर्गा वीणा-वादन करती हुई मधुपान करने लगीं। तभी देवीने अपने बाहुदण्डोंसे सभी असुरोंको मारकर उनके घमण्डको चूर कर दिया। उनके वस्त्र शरीरसे खिसक पड़े और वे प्राणरहित हो गये। यह देखकर महाबली महिषासुर अपने खुरके अग्रभागसे, तुण्डसे, पूँछसे, वक्षःस्थलसे तथा निःश्वास-वायुसे देवीके भूतगणोंको भगाने लगा ॥ ३६–३९ ॥

नादेन चैवाशनिसंनिभेन विषाणकोट्या त्वपरान् प्रमथ्य।
दुद्राव सिंहं युधि हन्तुकामस् ततोऽम्बिका क्रोधवशं जगाम ॥ ४० ॥
ततः स कोपादथ तीक्ष्णशृङ्गः क्षिप्रं गिरीन् भूमिमशीर्णयच्च।
संक्षोभयंस्तोयनिधीन् घनांश्च विध्वंसयन् प्राद्रवताथ दुर्गाम् ॥ ४१ ॥
सा चाथ पाशेन बबन्ध दुष्टं स चाप्यभूत् क्लिन्नकटः करीन्द्रः।
करं प्रचिच्छेद च हस्तिनोऽग्रं स चापि भूयो महिषोऽभिजातः ॥ ४२ ॥
ततोऽस्य शूलं व्यसृजन्मृडानी स शीर्णमूलो न्यपतत् पृथिव्याम्।
शक्तिं प्रचिक्षेप हुताशदत्तां सा कुण्ठिताग्रा न्यपतन्महर्षे ॥ ४३ ॥

और अपने बिजलीकी कड़कके समान नाद एवं सींगोंकी नोकसे शेष भूतोंको व्याकुल कर रणक्षेत्रमें सिंहको मारने दौड़ा। इससे अम्बिकाको बड़ा क्रोध हुआ। फिर वह क्रुद्ध महिष अपने नुकीले सींगोंसे जल्दी जल्दी पर्वतों एवं पृथ्वीको विदीर्ण करने लगा। वह समुद्रको क्षुब्ध करते तथा मेघोंको छिन्न भिन्न करते हुए दुर्गाकी ओर दौड़ा। इसपर उन देवीने उस दुष्टको पाशसे बाँध दिया, पर वह अपने गण्डसे भींगे कपोलोंवाला

गजराज बन गया । (तब) देवीने उस गजके शुण्डका अग्र भाग काट डाला । तब उसने पुनः भैंसेका रूप धारण कर लिया । महर्षि नारदजी ! उसके बाद देवीने उसके ऊपर शूल फेंका जो टूटकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । तत्पश्चात् उन्होंने अग्निसे प्राप्त हुई शक्ति फेंकी, किंतु वह भी टूटकर गिर पड़ी ॥ ४०-४३ ॥

चक्रं हरेर्दानवचक्रहन्तुः क्षिप्तं त्वसत्त्वमुपागतं हि ।
गदां समाविध्य धनेश्वरस्य क्षिप्ता तु भग्ना न्यपतत् पृथिव्याम् ॥ ४४ ॥
जलेशपाशोऽपि महासुरेण विषाणतुण्डाग्रखुरप्रणुन्नः ।
निरस्य तत्कोपितया च मुक्तो दण्डस्तु याम्यो बहुखण्डतां गतः ॥ ४५ ॥
वज्रं सुरेन्द्रस्य च विग्रहेऽस्य मुक्तं सुसूक्ष्मत्वमुपाजगाम ।
संत्यज्य सिंहं महिषासुरस्य दुर्गाऽधिरूढा सहसैव पृष्ठम् ॥ ४६ ॥
पृष्ठस्थितायां महिषासुरोऽपि पोप्लूयते वीर्यमदान्मृडान्याम् ।
सा चापि पद्भ्यां मृदुकोमलाभ्यां ममर्द तं क्लिन्नमिवाजिनं हि ॥ ४७ ॥

दानवसमूहको मारनेवाला विष्णुप्रदत्त चक्र भी फेंके जानेपर व्यर्थ हो गया । देवीने कुबेरद्वारा दी गयी गदा भी घुमाकर फेंकी, पर वह भी भग्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी । महिषने वरुणके पाशको भी अपने सींग, थूथना एवं खुरके प्रहारसे विफल कर दिया । फिर कुपित होकर देवीने यमदण्डको छोड़ा, पर उसे भी उसने तोड़कर कई खण्ड-खण्ड कर डाला । उसके शरीरपर देवीद्वारा छोड़ा गया इन्द्रका वज्र भी छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बिखर गया । अब दुर्गाजी सिंहको छोड़कर सहसा महिषासुरकी पीठपर ही चढ़ गयीं । देवीके पीठपर चढ़ जानेपर भी महिषासुर अपने बलके मदसे उछलता रहा । देवी भी अपने मृदुल तथा कोमल चरणोंसे भीगे मृगचर्मके समान उसकी पीठको मर्दन करती गयीं ॥ ४४-४७ ॥

स मृद्यमानो धरणीधराभो देव्या बली हीनबलो बभूव ।
ततोऽस्य शूलेन बिभेद कण्ठं तस्मात् पुमान् खड्गधरो विनिर्गतः ॥ ४८ ॥
निष्क्रान्तमात्रं हृदये पदा तं आहत्य संगृह्य कचेषु कोपात् ।
शिरः प्रचिच्छेद वरासिनाऽस्य हाहाकृतं दैत्यबलं तदाऽभूत् ॥ ४९ ॥
सचण्डमुण्डाः समयाः सताराः सहासिलोम्ना भयकातराक्षाः ।
संताड्यमानाः प्रमथैर्भवान्याः पातालमेवाविविशुर्भयार्ताः ॥ ५० ॥
देव्या जयं देवगणा विलोक्य स्तुवन्ति देवीं स्तुतिभिर्महर्षे ।
नारायणीं सर्वजगत्प्रतिष्ठां कात्यायनीं घोरमुखीं सुरूपाम् ॥ ५१ ॥
संस्तूयमाना सुरसिद्धसंघैर्निषण्णभूता हरपादमूले ।
भूयो भविष्याम्यमरार्थमेवमुक्त्वा सुरांस्तान् प्रविवेश दुर्गा ॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इससे देवीद्वारा कुचला जाता हुआ पर्वताकार बलवान् महिष बलशून्य हो गया । तब देवीने अपने शूलसे उसकी गर्दन काट दी । उसके कटे कण्ठसे तुरत तलवार लिये एक पुरुष निकल पड़ा । उसके निकलते ही देवीने उसके हृदयमें चरणसे आघात किया और क्रोधसे उसके बालोंको समेटकर पकड़ लिया तथा अपनी श्रेष्ठ तलवारसे उसका भी सिर काट डाला । उस समय दैत्योंकी सेनामें हाहाकार मच गया । चण्ड, मुण्ड, मय, तार और असिलोमा आदि दैत्य भवानीके प्रमथगणोंद्वारा प्रताडित एवं भयसे उद्विग्न होकर पातालमें प्रविष्ट हो गये ।

महर्षि नारदजी ! इधर देवीकी विजयको देखकर देवगण स्तुतियोंके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌की आधारभूता, कोधमुखी, सुरूपा, नारायणी, कात्यायनी देवीकी स्तुति करने लगे। देवताओं और सिद्धोंद्वारा स्तुति की जाती हुई दुर्गाने 'मैं आप देवताओंके श्रेयके लिये पुनः आविर्भूत होऊँगी'—ऐसा कहकर शिवजीके पादमूलमें लीन हो गयीं ॥ ४८–५२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥

[अथैकविंशोऽध्यायः]

नारद उवाच

पुलस्त्य कथ्यतां तावद् देव्या भूयः समुद्भवम् । महत्कौतूहलं मेऽद्य विस्तराद् ब्रह्मवित्तम ॥ १ ॥

इक्कीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(देवीके पुनराविर्भाव सम्बन्धी प्रश्नोत्तर, कुरुक्षेत्रस्थ पृथूदकतीर्थका प्रसङ्ग, संवरण-तपतीका विवाह)

नारदजीने कहा—ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ पुलस्त्यजी ! अब आप देवीकी उत्पत्तिके विषयमें मुझसे पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये। उसे सुननेकी मेरी बड़ी अभिलाषा है ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि भूयोऽस्याः सम्भवं मुने । शुम्भासुरवधार्थाय लोकानां हितकाम्यया ॥ २ ॥
या सा हिमवतः पुत्री भवेनोढा तपोधना । उमा नाम्ना च तस्याः सा कोशाज्जाता तु कौशिकी ॥ ३ ॥
सम्भूय विन्ध्यं गत्वा च भूयो भूतगणैर्वृता । शुम्भं चैव निशुम्भं च वधिष्यति वरायुधैः ॥ ४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मुनिजी ! सुनिये, मैं पुनः लोककल्याणकी इच्छासे शुम्भ नामक असुरके वधके लिये देवीकी जो पुनः उत्पत्ति हुई, उसका मैं वर्णन करता हूँ। भगवान् शंकरने हिमवान्‌की जिस तपस्विनी कन्या उमासे विवाह किया था, उन्हींके शरीर-कोश (गर्भ-)से उत्पन्न होनेके कारण वे देवी कौशिकी कहलायीं। उत्पन्न होनेपर भूतगणोंसे आवृत हो वे विन्ध्यपर्वतपर गयीं और उन्होंने (अपने) श्रेष्ठ आयुधोंसे शुम्भ तथा निशुम्भ नामके दानवोंका वध किया ॥ २–४ ॥

नारद उवाच

ब्रह्मंस्त्वया समाख्याता मृता दक्षात्मजा सती । सा जाता हिमवत्पुत्रीत्येवं मे वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥
यथा च पार्वतीकोशात् समुद्भूता हि कौशिकी । यथा हतवती शुम्भं निशुम्भं च महासुरम् ॥ ६ ॥
कस्य चेमौ सुतौ वीरौ ख्यातौ शुम्भनिशुम्भकौ । एतद् विस्तरतः सर्वं यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

नारदजीने कहा—ब्रह्मन् ! आपने पहले यह बात कही थी कि दक्षकी पुत्री सती ही मरकर फिर हिमवान्‌की पुत्री हुई थीं। (अब) इसे आप विस्तारसे सुनाइये। पार्वतीके शरीर-कोशसे जिस प्रकार वे कौशिकी प्रकट हुईं और फिर उन्होंने शुम्भ तथा निशुम्भ नामके बड़े असुरोंका जैसे वध किया था—इन सभी बातोंको विस्तारसे कहिये। ये शुम्भ और निशुम्भ नामसे विख्यात वीर किसके पुत्र थे, इसका ठीक-ठीक विस्तारसे वर्णन कीजिये ॥ ५–७ ॥

पुलस्त्य उवाच

एतत्ते कथयिष्यामि पार्वत्याः सम्भवं मुने । शृणुष्वावहितो भूत्वा स्कन्दोत्पत्तिं च शाश्वतीम् ॥ ८ ॥
रुद्रः सत्यां प्रणष्टायां ब्रह्मचारिव्रते स्थितः । निराश्रयत्वमापन्नस्तपस्तप्तुं व्यवस्थितः ॥ ९ ॥

स आसीद् देवसेनानीर्दैत्यदर्पविनाशनः । शिवरूपत्वमास्थाय सैनापत्यं समुत्सृजत् ॥ १०
ततो निराकृता देवाः सेनानाथेन शम्भुना । दानवेन्द्रेण विक्रम्य महिषेण पराजिताः ॥ ११

पुलस्त्यजी बोले—मुने ! (अच्छा,) अब मैं फिर आपसे पार्वतीकी उत्पत्तिके विषयमें, वर्णन कर हूँ, आप ध्यान देकर (सम्बद्ध) स्कन्दके जन्मकी शाश्वत (नित्य, सदा विराजनेवाली) कथा सुनें। सतीके देह-त्याग देनेपर रुद्र भगवान् निराश्रय विधुर हो गये एवं ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए तपस्या करने लगे। वे शम्भु (पहले) दैत्योंके दर्पको चूर्ण करनेवाले देवताओंके सेनानी थे। परंतु अब उन्होंने (रुद्र-रूपका त्याग । शिव-स्वरूप धारण कर लिया तथा तपमें लगकर सेनापति-(स्थायी) पदका भी परित्याग कर दि फिर तो देवताओंके ऊपर उनके सेनापति शिवसे विरहित हो जानेके कारण दानवश्रेष्ठ महिषने बलपूर्वक आक्रम उन्हें परास्त कर दिया ॥ ८–११ ॥

ततो जग्मुः सुरेशानं द्रष्टुं चक्रगदाधरम् । श्वेतद्वीपे महाहंसं प्रपन्नाः शरणं हरिम् ॥ १२
तानागतान् सुरान् दृष्ट्वा ततः शक्रपुरोगमान् । विहस्य मेघगम्भीरं प्रोवाच पुरुषोत्तमः ॥ १३
किं जितास्त्वसुरेन्द्रेण महिषेण दुरात्मना । येन सर्वे समेत्यैव मम पार्श्वमुपागताः ॥ १४
तद् युष्माकं हितार्थाय यद् वदामि सुरोत्तमाः । तत्कुरुध्वं जयो येन समाश्रित्य भवेद्धि वः ॥ १५

(जब देवसमुदाय पराजित हो गया) तब पराजित हुए देवतालोग शरण-प्राप्तिकी खोजमें देवेश्वर भग श्रीविष्णुके दर्शनार्थ श्वेतद्वीप गये। उस समय भगवान् विष्णु इन्द्र आदि देवताओंको आये हुए देखकर हँसे मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोले—मालूम होता है कि आपलोग असुरोंके स्वामी दुरात्मा महिषसे हार गये जिसके कारण इस प्रकार एक साथ मिलकर मेरे पास आये हैं। श्रेष्ठ देवताओ ! अब आपलोगोंकी भल लिये मैं जो बात कहता हूँ, उसे आप सब सुनिये और उसे (यथावत्) आचरण कीजिये। उसके सहारे अ निश्चय विजय होगी ॥ १२–१५ ॥

य एते पितरो दिव्यास्त्वग्निष्वात्तेति विश्रुताः । अमीषां मानसी कन्या मेना नाम्नाऽस्ति देवता ॥ १६
तामाराध्य महातिथ्यां श्रद्धया परयाऽमराः । प्रार्थयध्वं सतीं मेनां प्रालेयाद्रेरिहार्थिनः ॥ १७ ॥
तस्यां सा रूपसंयुक्ता भविष्यति तपस्विनी । दक्षकोपाद् यया मुक्तं मल्वज्जीवितं प्रियम् ॥ १८ ॥
सा शंकरात् स्वतेजोऽंशं जनयिष्यति यं सुतम् । स हनिष्यति दैत्येन्द्रं महिषं सपदानुगम् ॥ १९ ॥

देवगण ! जो ये 'अग्निष्वात्त' नामसे प्रसिद्ध दिव्य पितर हैं, उनकी मेना नामकी एक मानसी कन्या है। देववृन्द ! आपलोग अत्यन्त श्रद्धासे अमावास्याको सती मेनाकी (यथाविधि) आराधना करें तथा उनसे हिमालयकी पत्नी बननेके लिये प्रार्थना करें। उन्हीं मेनासे (एक) तपस्विनी रूपवती कन्या उत्पन्न होगी, जिसने दक्षके ऊपर कोपकर अपने प्रिय जीवनका मलके समान परित्याग कर दिया था। वे शिवजीके तेजके अंशरूप जिस पुत्रको उत्पन्न करेंगी वह दैत्योंमें श्रेष्ठ महिषको उसकी सेनासहित मार डालेगा ॥ १६–१९ ॥

तस्माद् गच्छत पुण्यं तत् कुरुक्षेत्रं महाफलम् । तत्र पृथूदके तीर्थे पूज्यन्तां पितरोऽव्ययाः ॥ २० ॥
महातिथ्यां महापुण्ये यदि शत्रुपराभवम् । जिहासतात्मनः सर्वे इत्थं वै क्रियतामिति ॥ २१ ॥

अतः आपलोग महान् फल देनेवाले, पवित्र कुरुक्षेत्रमें जायँ एवं वहाँ 'पृथूदक' नामके तीर्थमें नित्य ही अग्निष्वात्त नामके पितरोंकी पूजा करें। यदि आपलोग अपने शत्रुकी पराजय चाहते हैं तो सब कुछ छोड़कर अमावास्याको उस परम पवित्र तीर्थमें इसी (निर्दिष्ट) कार्यको सम्पन्न करें ॥ २०-२१ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्त्वा वासुदेवेन देवा शक्रपुरोगमाः। कृताञ्जलिपुटा भूत्वा पप्रच्छुः परमेश्वरम् ॥ २२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि देवताओंने हाथ जोड़कर उन परमात्मासे पूछा—॥ २२ ॥

देवा ऊचुः

कोऽयं कुरुक्षेत्र इति यत्र पुण्यं पृथूदकम्। उद्भवं तस्य तीर्थस्य भगवान् प्रब्रवीतु नः ॥ २३ ॥
केयं प्रोक्ता महापुण्या तिथीनामुत्तमा तिथिः। यस्यां हि पितरो दिव्याः पूज्याऽस्माभिः प्रयत्नतः ॥ २४ ॥
ततः सुराणां वचनान्मुरारिः कैटभार्दनः। कुरुक्षेत्रोद्भवं पुण्यं प्रोक्तवांस्तां तिथीमपि ॥ २५ ॥

देवताओंने पूछा—भगवन्! यह कुरुक्षेत्र तीर्थ कौन है, जहाँ पृथूदक तीर्थ है? आप हमलोगोंको उस तीर्थकी उत्पत्तिके विषयमें बतायें। और, वह पवित्र उत्तम तिथि कौन-सी है जिसमें हम सब दिव्य पितरोंकी पूजा प्रयत्नपूर्वक कर सकें। तब भगवान् विष्णुने देवताओंकी प्रार्थना सुनकर उनसे कुरुक्षेत्रकी पवित्र उत्पत्ति तथा उस उत्तम तिथिका भी वर्णन किया (जिसमें पूजा करनेकी बात कही थी) ॥ २३–२५ ॥

श्रीभगवानुवाच

सोमवंशोद्भवो राजा ऋक्षो नाम महाबलः। कृतस्यादौ समभवदृक्षात् संवरणोऽभवत् ॥ २६ ॥
स च पित्रा निजे राज्ये बाल एवाभिषेचितः। बाल्येऽपि धर्मनिरतो मद्भक्तश्च सदाऽभवत् ॥ २७ ॥
पुरोहितस्तु तस्यासीद् वसिष्ठो वरुणात्मजः। स चास्याध्यापयामास साङ्गान् वेदानुदारधीः ॥ २८ ॥
ततो जगाम चारण्यं त्वनध्याये नृपात्मजः। सर्वकर्मसु निक्षिप्य वसिष्ठं तपसां निधिम् ॥ २९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—सत्ययुगके प्रारम्भमें सोमवंशमें ऋक्षनामक एक महाबलवान् राजा उत्पन्न हुए। उन ऋक्षसे संवरणकी उत्पत्ति हुई। पिताने उसे बचपनमें ही राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। वह बाल्यकालमें भी सदा धर्मनिष्ठ एवं मेरा भक्त था। वरुणके पुत्र वसिष्ठ उसके पुरोहित थे। उन्होंने उसे अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंको पढ़ाया। एक दिनकी बात है कि अनध्याय (छुट्टी) रहनेपर वह राजपुत्र (संवरण) तपोनिधि वसिष्ठको सभी कार्य सौंपकर वनमें चला गया ॥ २६–२९ ॥

ततो मृगयाव्याक्षेपाद् एकाकी विजनं वनम्। वैभ्राजं स जगामाथ अथोन्मादनमभ्ययात् ॥ ३० ॥
ततस्तु कौतुकाविष्टः सर्वर्तुकुसुमे वने। अवितृप्तः सुगन्धस्य समन्ताद् व्यचरद् वनम् ॥ ३१ ॥
स वनान्तं च ददृशे फुल्लकोकनदावृतम्। कह्लारपद्मकुमुदैः कमलेन्दीवरैरपि ॥ ३२ ॥
तत्र क्रीडन्ति सततमप्सरोऽमरकन्यकाः। तासां मध्ये ददर्शाथ कन्यां संवरणोऽधिकाम् ॥ ३३ ॥

फिर शिकारके लिये व्याक्षिप्त (व्यग्र) वह अकेला ही वैभ्राजक नामक निर्जन वनमें पहुँचा। उसके बाद वह उन्मादसे ग्रस्त हो गया। उस वनमें सभी ऋतुओंमें फूल फूलते रहते थे, सुगन्धि भी रहती थी, फिर भी उसमें संतृप्त न होनेके कारण वह कुतूहलवश वनमें चारों ओर विचरण करने लगा। वहाँ उसने फूले हुए श्वेत, लाल, पीले कमल, कुमुद एवं नीले कमलोंसे भरे उस वनको देखा। अप्सराएँ एवं देवकन्याएँ वहाँ सदा मनोरञ्जन (मनबहलाव) किया करती थीं। संवरणने उनके बीच एक अत्यन्त सुन्दरी कन्याको देखा ॥ ३०–३३ ॥

दर्शनादेव स नृपः काममार्गणपीडितः। जाता सा च तमीक्ष्यैव कामबाणातुराऽभवत् ॥ ३४ ॥
उभौ तौ पीडितौ मोहं जग्मतुः काममार्गणैः। राजा चलासनो भूम्यां निपपात तुरङ्गमात् ॥ ३५ ॥

तमभ्येत्य महात्मानो गन्धर्वाः कामरूपिणः । सिषिचुर्वारिणाऽभ्येत्य लब्धसंज्ञोऽभवत् क्षणात् ॥३६॥
सा चाप्सरोभिरुत्पात्य नीता पितृकुलं निजम् । ताभिराश्वासिता चापि मधुरैर्वचनाम्बुभिः ॥३७॥

उसे देखते ही वह राजा कामदेवके बाणसे पीड़ित (कामसे आहत) हो गया और इसी प्रकार वह कन्या भी उसे देखकर कामबाणसे अधीर (मोहित) हो गयी। कामके बाणोंसे विवश होकर वे दोनों बेहोश-से हो गये। राजा घोड़की पीठपर रखे हुए आसनसे खिसककर पृथ्वीपर गिर पड़ा और इच्छाके अनुसार रूप बना लेनेवाले महात्मा गन्धर्वलोग उसके पास जाकर उसे जलसे सींचने लगे। (फिर) वह दूसरे ही क्षण चेतनामें आ गया। तब अप्सराओंने उसे मधुर वचनरूपी जलसे भी आश्वस्त किया और उसे उठाकर उसके पिताके घर ले गयीं ॥ ३४–३७ ॥

स चाप्यारुह्य तुरगं प्रतिष्ठानं पुरोत्तमम् । गतस्तु मेरुशिखरं कामचारी यथाऽमरः ॥३८॥
यदाप्रभृति सा दृष्टा आर्क्षिणा तपती गिरौ । तदाप्रभृति नाश्नाति दिवा स्वपिति नो निशि ॥३९॥
ततः सर्वविदव्यग्रो विदित्वा वरुणात्मजः । तपतीतापितं वीरं पार्थिवं तपसां निधिः ॥४०॥
समुत्पत्य महायोगी गगनं रविमण्डलम् । विवेश ददृशे देवं तिग्मांशुं स्यन्दने स्थितम् ॥४१॥

फिर वह राजा (अपने) घोड़ेपर चढ़कर (अपने) श्रेष्ठ पैठण नगर इस प्रकार चला गया, जैसे कोई इच्छाके अनुसार चलनेवाला देवता (सरलतासे) मेरुशिखरपर चला जाय। ऋक्षके पुत्र संवरणने पर्वतपर देवकन्या तपतीको जबसे अपनी आँखोंसे देखा था, तबसे वह दिनमें न तो भोजन करता था और न रात्रिमें सोता ही था। फिर सब कुछ जाननेवाले एवं शान्त तथा तपस्याके निधिस्वरूप वरुणके पुत्र महायोगी वसिष्ठ उस वीर राजपुत्रको तपतीके कारण संतापमें पड़े देखकर आकाशमें ऊपर जाकर (मध्य आकाशमें स्थित) सूर्यमण्डलमें प्रवेश किया तथा वहाँ रथपर बैठे हुए तेज किरणवाले सूर्यदेवका उसने दर्शन किया ॥ ३८–४१ ॥

स दृष्ट्वा भास्करं देवं प्रणमद् द्विजसत्तमः । प्रतिप्रणमितश्चासौ भास्करेणाविशद् रथम् ॥४२॥
ज्वलज्जटाकलापोऽसौ दिवाकरसमीपगः । शोभते वारुणिः श्रीमान् द्वितीय इव भास्करः ॥४३॥
ततः सम्पूजितोऽर्घाद्यैर्भास्करेण तपोधनः । पृष्टश्चागमने हेतुं प्रत्युवाच दिवाकरम् ॥४४॥
समायातोऽस्मि देवेश याचितुं त्वां महाद्युते । सुतां संवरणस्यार्थे तस्य त्वं दातुमर्हसि ॥४५॥

द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठने सूर्यदेवको देखकर प्रणाम किया। फिर वे सूर्यके द्वारा प्रत्यभिवादन (प्रणामके बदले प्रणाम) किये जानेपर उनके समीप जाकर रथमें बैठ गये। सूर्यदेवके पास रथपर बैठे हुए अग्नि-शिखाके समान चमचमाती जटावाले वरुणके पुत्र वसिष्ठ दूसरे सूर्यके समान सुशोभित होने लगे। फिर भगवान् सूर्यने उन तपस्वी-(अतिथि)का अर्घ्य आदिसे (सत्कार) किया; उसके बाद उनसे उनके आनेका कारण पूछा। तब तपोधन वसिष्ठजीने सूर्यसे कहा—अति तेजस्वी देवेश! मैं राजपुत्र संवरणके लिये आपकी कन्याकी याचना करने आया हूँ। उसे आप (कृपया) प्रदान करें ॥ ४२–४५ ॥

ततो वसिष्ठाय दिवाकरेण निवेदिता सा तपती तनूजा ।
गृहागताय द्विजपुंगवाय राज्ञोऽर्थतः संवरणस्य देव ॥४६॥
सावित्रिमादाय ततो वसिष्ठः स्वमाश्रमं पुण्यमुपाजगाम ।
सा चापि संस्मृत्य नृपात्मजं तं कृताञ्जलिर्वाक्यमिदं बभाषे ॥४७॥

(भगवान् विष्णु कहते हैं—) दक्ष ! उसके बाद सूर्यदेव घरपर आये और आदरपूर्वक वसिष्ठको राजा संवरणके लिये (अपनी) तपती नामकी उस कन्याको समर्पित कर दिया । फिर सूर्यपुत्रीको साथ लेकर वसिष्ठ अपने पवित्र आश्रममें आ गये । वह कन्या उस राजपुत्रका स्मरण कर और हाथ जोड़कर ऋषि वसिष्ठसे बोली—॥ ४६-४७ ॥

तपत्युवाच

ब्रह्मन् मया खेदमुपेत्य यो हि सहाप्सरोभिः परिचारिकाभिः ।
दृष्टो ह्यरण्येऽमरगर्भतुल्यो नृपात्मजो लक्षणतोऽभिजाने ॥ ४८ ॥
पादौ शुभौ चक्रगदासिचिह्नौ जङ्घे तथोरू करिहस्ततुल्यौ ।
कटिस्तथा सिंहकटिर्यथैव क्षामं च मध्यं त्रिवलीनिबद्धम् ॥ ४९ ॥
ग्रीवाऽस्य शङ्खाकृतिमादधाति भुजौ च पीनौ कठिनौ सुदीर्घौ ।
हस्तौ तथा पद्मदलोङ्कनाङ्कौ छत्राकृतिस्तस्य शिरो विभाति ॥ ५० ॥
नीलाश्च केशाः कुटिलाश्च तस्य कर्णौ समांसौ सुसमा च नासा ।
दीर्घाश्च तस्याङ्गुलयः सुपर्वाः पद्भ्यां कराभ्यां दशनाश्च शुभ्राः ॥ ५१ ॥

तपतीने कहा—वसिष्ठजी ! मैंने वनमें चिन्तामें विभोर होकर अपनी सेविकाओं तथा अप्सराओंके साथ देवपुत्रके समान (सौम्य सुन्दर) जिस व्यक्तिको देखा था, उसे मैं लक्षणोंसे राजकुमार समझ रही हूँ, क्योंकि उसके दोनों शुभ चरणोंमें चक्र, गदा और खड्गके चिह्न हैं । उसकी जाँघें तथा ऊरु दोनों हाथीकी सूँड़के समान हैं । उसकी कटि सिंहकी कटिके समान है तथा त्रिवलीयुक्त—तीन बलोंवाला उसका उदरभाग बहुत पतला है । उसकी गर्दन शङ्खके समान है, दोनों भुजाएँ मोटी, कठोर और लम्बी हैं, दोनों करतल कमल-चिह्नसे अङ्कित हैं तथा उसका मस्तक छत्रके समान सुशोभित है । उसके बाल काले तथा घुँघराले हैं, दोनों कर्ण मांसल हैं, नासिका सुडौल है, उसके हाथों एवं पैरोंकी अंगुलियाँ सुन्दर पर्वयुक्त (पोरवाली) और लम्बी हैं और उसके दाँत श्वेत हैं ॥ ४८-५१ ॥

समुन्नतः षड्भिरुदारवीर्यैस्त्रिभिर्गभीरस्त्रिषु च प्रलम्बः ।
रक्तस्तथा पञ्चसु राजपुत्रः कृष्णश्चतुर्भिस्त्रिभिरानतोऽपि ॥ ५२ ॥
द्वाभ्यां च शुक्लः सुरभिश्चतुर्भिर्दृश्यन्ति पद्मानि दशैव चास्य ।
वृतः स भर्ता भगवान् हि पूर्वं तं राजपुत्रं मुनि संविचिन्त्य ॥ ५३ ॥
प्रदत्स्व मां नाथ तपस्विनेऽस्मै गुणोपपन्नाय समर्हिताय ।
नेहान्यकामां प्रवदन्ति सन्तो दातुं तथान्यस्य विभो समक्ष ॥ ५४ ॥

[तपतीने आगे कहा—] उस महापराक्रमी राजपुत्रके ललाट, कंधे, कपोल(गाल), ग्रीवा, कमर तथा जाँघें—ये छः अंग ऊँचे (सुडौल) हैं, नाभि, मध्य तथा ठुड्डी—ये तीन अङ्ग गम्भीर हैं और उसकी दोनों भुजाएँ तथा अण्डकोश—ये तीन अङ्ग लम्बे हैं । दोनों नेत्र, अधर, दोनों हाथ, दोनों पैर तथा नख—ये पाँचों रक्त वर्णवाले हैं, केश, पक्ष्म (बरौनी) और कनीनिका (आँखकी पुतली)—ये चार अङ्ग कृष्ण हैं, दोनों भौंहें, आँखके दोनों कोर तथा दोनों कान झुके हुए हैं, दाँत तथा नेत्र दो अङ्ग श्वेत वर्णके हैं, केश, मुख तथा दोनों कपोल—ये चार अङ्ग सुगन्धवाले हैं । उनके नेत्र, मुख शिर, मुखमण्डल, जिह्वा, ओठ, तालु, स्तन, नख, हाथ और पैर—ये दस अङ्ग कमलके समान हैं । भगवन् ! मैंने बहुत सोच-विचारकर पृथ्वीपर उस राजपुत्रको पहले ही पतिरूपमें वरण

कर लिया है । प्रभो ! मुझे क्षमा करें । आप गुणोंसे युक्त (मेरी) इच्छाके अनुकूल तथा वाञ्छित इस सत्पुरुषको मुझे दे दें, क्योंकि सन्तोंका यह कहना है कि अपनी कामना करनेवाली कन्याको किसी औरको नहीं देना चाहिये ॥ ५२–५४ ॥

देवदेव उवाच

इत्येवमुक्तः सवितुश्च पुत्र्या ऋषिस्तदा ध्यानपरो बभूव ।
ज्ञात्वा च तत्रार्कसुता सकामा मुदा पुनो वाक्यमिदं जगाद ॥ ५५ ॥
स एव पुत्रि नृपतेस्तनूजो दृष्टः पुरा कामयसे यमद्य ।
स एव चायाति ममाश्रमं वै ऋक्षात्मजः संवरणो हि नाम्ना ॥ ५६ ॥
अथाजगाम स नृपस्य पुत्रस्तमाश्रमं ब्राह्मणपुंगवस्य ।
दृष्ट्वा वसिष्ठं प्रणिपत्य मूर्ध्ना स्थितस्त्वपश्यत् तपतीं नरेन्द्रः ॥ ५७ ॥
दृष्ट्वा च तां पद्मविशालनेत्रां तां पूर्वदृष्टामिति चिन्तयित्वा ।
पप्रच्छ केयं ललना द्विजेन्द्र स वारुणिः प्राह नराधिपेन्द्रम् ॥ ५८ ॥

भगवान् विष्णु बोले—फिर सूर्यपुत्री तपतीके ऐसा कहनेपर वसिष्ठजी ध्यानमें मग्न हो गये और तपतीको उस कुमारमें आसक्त समझकर प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने यह बात कही—पुत्रि ! जिस राजपुत्रका तुमने पहले दर्शन किया था और जिसकी कामना तुम आज कर रही हो, वह ऋक्षका पुत्र (राजा) संवरण ही है । वह आज मेरे आश्रममें आ रहा है । उसके पश्चात् वह राजकुमार भी ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजीके आश्रममें आया । उस राजाने वसिष्ठको देखकर सिर झुकाकर प्रणाम किया, फिर तपतीको भी देखा । फिर कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली उस तपतीको देखकर उसने सोचा कि इसे मैंने पहले भी देखा है । (तब) उसने पूछा—ब्राह्मणश्रेष्ठ ! यह सुन्दर स्त्री कौन है ? इसपर वसिष्ठजीने राजश्रेष्ठ संवरणसे कहा—॥ ५५–५८ ॥

इयं विवस्वद्दुहिता नरेन्द्र नाम्ना प्रसिद्धा तपती पृथिव्याम् ।
मया तवार्थाय दिवाकरोऽर्थितः प्रादान्मया त्वाश्रममानिनिन्ये ॥ ५९ ॥
तस्मात् समुत्तिष्ठ नरेन्द्र देव्याः पाणिं तपस्या विधिवद् गृहाण ।
इत्येवमुक्तो नृपतिः प्रहृष्टो जग्राह पाणिं विधिवत् तपत्याः ॥ ६० ॥
सा तं पतिं प्राप्य मनोऽभिरामं सूर्यात्मजा शक्रसमप्रभावम् ।
रराम तन्वी भवनोत्तमेषु यथा महेन्द्रं दिवि दैत्यकन्या ॥ ६१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

नरेन्द्र ! पृथ्वीमें तपती नामसे प्रसिद्ध यह सूर्यकी पुत्री है । मैंने तुम्हारे हितके लिये सूर्यसे इसकी याचना की थी और उन्होंने तुम्हारे लिये इसे मुझे सौंपा था । मैं तुम्हारे लिये ही इसे आश्रममें लाया हूँ, अतः नरेन्द्र ! उठो एवं विधिवत् इस सूर्यपुत्री तपतीका पाणिग्रहण करो । (वसिष्ठजीके)ऐसा कहनेपर राजा बहुत प्रसन्न हुआ । उसने तपतीका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया । सूर्यकी तनया तपती भी इन्द्रके तुल्य प्रभावशाली उस सुन्दर पतिको पाकर (अत्यन्त) प्रसन्न हुई । वह उत्तम महलोंमें उसके साथ इस प्रकार विहार करने लगी, जैसे इन्द्रके साथ स्वर्गमें शची विहार करती है ॥ ५९–६१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

[अथ द्वाविंशोऽध्यायः]

देवदेव उवाच

तस्यां तपत्यां नरसत्तमेन जातः सुतः पार्थिवलक्षणस्तु।
स जातकर्मादिभिरेव संस्कृतो विवर्धताज्येन हुतो यथाऽग्निः ॥ १ ॥
कृतोऽस्य चूडाकरणश्च देवा विप्रेण मित्रावरुणात्मजेन।
नवाब्दिकस्य व्रतबन्धनं च वेदे च शास्त्रे विधिपारगोऽभूत् ॥ २ ॥
ततश्चतुर्षड्भिरपीह वर्षैः सर्वज्ञतामभ्यगमत् ततोऽसौ।
ख्यातः पृथिव्यां पुरुषोत्तमोऽसौ नाम्ना कुरुः संवरणस्य पुत्रः ॥ ३ ॥
ततो नरपतिर्दृष्ट्वा धार्मिकं तनयं शुभम्। दारक्रियार्थमकरोद् यत्नं शुभकुले ततः ॥ ४ ॥

बाईसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुकी कथा, कुरुक्षेत्रका निर्माण प्रसङ्ग और पृथूदक तीर्थका माहात्म्य)

देवोंके भी देव भगवान् विष्णुने कहा—उस तपतीके गर्भसे मनुष्योंमें श्रेष्ठ संवरणके द्वारा राजलक्षणों वाला एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह जातकर्म आदि संस्कारोंसे संस्कृत होकर इस प्रकार बढ़ने लगा जैसे घीकी आहुति डालनेसे अग्नि बढ़ती है। देवगण! मित्रावरुणके पुत्र वसिष्ठजीने उसका (यथा समय) चौल-संस्कार कराया। नवें वर्षमें उसका उपनयन संस्कार हुआ। फिर वह (क्रम-क्रमसे अध्ययन कर) वेद तथा शास्त्रोंका पारगामी विद्वान् हो गया एवं चौबीस वर्षोंमें तो फिर वह सर्वज्ञ-सा हो गया। पुरुषश्रेष्ठ संवरणका वह पुत्र इस भूभागपर 'कुरु' नामसे प्रसिद्ध हुआ। तब राजा (उस) कल्याणकारी अपने धार्मिक पुत्रको (उपयुक्त अवस्थामें आये हुए) देखकर किसी उत्तम कुलमें उसके विवाहका यत्न करने लगे ॥ १–४ ॥

सौदामिनीं सुदाम्नस्तु सुतां रूपाधिकां नृपः। कुरोरर्थाय वृतवान् स प्रादात् कुरवेऽपि ताम् ॥ ५ ॥
स तां नृपसुतां लब्ध्वा धर्मार्थावविरोधयन्। रेमे तन्व्या सह तया पौलोम्या मघवानिव ॥ ६ ॥
ततो नरपतिः पुत्रं राज्यभारक्षमं बली। विदित्वा यौवराज्याय विधानेनाभ्यषेचयत् ॥ ७ ॥
ततो राज्येऽभिषिक्तस्तु कुरुः पित्रा निजे पदे। पालयामास स महीं पुत्रवच्च स्वयं प्रजाः ॥ ८ ॥

राजाने कुरुके लिये सुन्दर स्वरूपवाली सुदामाकी पुत्री सौदामिनीको चुना और सुदामा राजाने भी उसे कुरुको विधिवत् प्रदान कर दिया। उस राजकुमारीको पाकर वह (कुरु) धर्म और अर्थका (यथावत्) पालन करते हुए उस तन्वङ्गी अर्थात् कृशाङ्गीके साथ गार्हस्थ्य धर्ममें वैसे ही रहने लगा, जैसे पौलोमी (शची)के साथ इन्द्र दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते (हुए रहते) हैं। उसके बाद बलवान् राजाने राज्य-भारके वहन करनेमें—राज्य कार्य सञ्चालनमें—उसे समर्थ जानकर विधिपूर्वक युवराज पदपर अभिषिक्त कर दिया। तब पिताके द्वारा अपने राज्यपदपर अभिषिक्त होकर कुरु औरस पुत्रकी भाँति अपनी प्रजाका और पृथ्वीका पालन करने लगे ॥ ५–८ ॥

स एव क्षेत्रपालोऽभूत् पशुपालः स एव हि। स सर्वपालकश्चासीत् प्रजापालो महाबलः ॥ ९ ॥
ततोऽस्य बुद्धिरुत्पन्ना कीर्तिर्लोके गरीयसी। यावत्कीर्तिः सुसंस्था हि तावद्वासः सुरैः सह ॥ १० ॥
स एष नृपतिश्रेष्ठो याथातथ्यमवेक्ष्य च। विचचार महीं सर्वां कीर्त्यर्थं तु नराधिपः ॥ ११ ॥
ततो द्वैतवनं नाम पुण्यं लोकेश्वरो बली। तदाक्रम्य सुसंतुष्टो विवेशाभ्यन्तरं ततः ॥ १२

अपने मनमें इस प्रकार विचार कर वे राजाओंमें शिरोमणि कुरु रथसे उतर पड़े एवं उन्होंने अपनी कीर्तिके लिये अनुपम स्थानका निर्माण किया। उन राजाने सुवर्णमय हल बनवाकर उसमें शंकरके बैल एवं यमराजके पौण्ड्रक नामक भैंसेको नाँधकर स्वयं जोतनेके लिये तैयार हुए। इसपर इन्द्रने उनके पास जाकर कहा— राजन्! आप यहाँ यह क्या करनेके लिये उद्यत हुए हैं? राजा बोले—मैं यहाँ तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग और ब्रह्मचर्य—इन अष्टाङ्गोंकी खेती कर रहा हूँ॥ २२–२५॥

तस्योवाच हरिर्भूय कस्माद्बीजं नरेश्वर। लब्धोऽष्टाङ्गेति सहसा अवहस्य गतस्ततः॥ २६॥
गतेऽपि तस्मिन् राजर्षिरप्यहन्यहनि सीरधृक्। कृषतेऽन्यान् समन्ताच्च सप्तक्रोशान् महीपतिः॥ २७॥
ततोऽहमब्रुवं गत्वा कुरो किमिदमित्यथ। तदाऽष्टाङ्गं महाधर्मं समाख्यातं नृपेण हि॥ २८॥
ततो मयाऽस्य गदितं नृप बीजं क्व तिष्ठति।
स चाह मम देहस्थं बीजं तमहमब्रुवम्। देह्यहं वापयिष्यामि सीरं कृषतु वै भवान्॥ २९॥
ततः नृपतिना बाहुर्दक्षिणः प्रसृतः कृतः। प्रसृतं तं भुजं दृष्ट्वा मया चक्रेण वेगतः॥ ३०॥
सहस्रधा ततश्छिद्य दत्तः युष्माकमेव हि। ततः सव्यो भुजो राज्ञा दत्तश्छिन्नोऽप्यसौ मया॥ ३१॥
तथैवोरुयुगं प्रादान्मया छिन्नौ च तावुभौ।
ततः स मे शिरः प्रादात् तेन प्रीतोऽस्मि तस्य च। वरदोऽस्मीत्यथेत्युक्ते कुरुर्वरमयाचत॥ ३२॥

इसपर इन्द्र बोले—नरेश्वर! आपने (कृषिके लिये साधनभूत) हल और बीज कहाँसे प्राप्त किये हैं? यह कहते हुए उपहास कर इन्द्र वहाँसे शीघ्र ही चले गये। इन्द्रके चले जानेपर भी राजा प्रतिदिन हल लेकर चारों ओर सात कोसोंतक पृथ्वी जोतते रहे। तब मैंने (विष्णुने) उनसे जाकर कहा—कुरु! तुम यह क्या कर रहे हो? (इसपर) राजाने कहा—मैं (पूर्वोक्त) अष्टाङ्ग महाधर्मकी खेती कर रहा हूँ। फिर मैंने उनसे पूछा—राजन्! बीज कहाँ है? राजाने कहा—बीज मेरे शरीरमें है। मैंने उनसे कहा—उसे मुझे दो। मैं (उसे) बोऊँगा, तुम हल चलाओ। तब राजाने अपना दाहिना हाथ फैला दिया। फैलाये हुए हाथको देखकर मैंने चक्रसे शीघ्र ही उसके हजारों टुकड़े कर डाले और उन टुकड़ोंको तुम देवताओंको दे दिया। उसके बाद राजाने बायाँ बाहु दिया और उसे भी मैंने काट दिया। इसी प्रकार उसने दोनों उरुओंको दिया। उन दोनोंको भी मैंने काट दिया। तब उसने अपना मस्तक दिया, जिससे मैं उसके ऊपर प्रसन्न हो गया और कहा—तुम्हें मैं वर दूँगा। मेरे ऐसा कहनेपर कुरुने (मुझसे) वर माँगा—॥ २६—३२॥

कुरुरुवाच

यावदेतन्मया कृष्टं धर्मक्षेत्रं तदस्तु च। स्नातानां च मृतानां च महापुण्यफलं त्विह॥ ३३॥
उपवासं च दानं च स्नानं जप्यं च माधव। होमयज्ञादिकं चान्यच्छुभं वाप्यशुभं विभो॥ ३४॥
त्वत्प्रसादाद्धृषीकेश शङ्खचक्रगदाधर। अक्षयं प्रवरे क्षेत्रे भवत्वत्र महाफलम्॥ ३५॥
तथा भवान् सुरैः सार्धं समं देवेन शूलिना।
वस त्वं पुण्डरीकाक्ष मन्नामव्यञ्जकेऽच्युत। इत्येवमुक्तस्तेनाहं राज्ञा बाढमुवाच तम्॥ ३६॥
तथा च त्वं दिव्यवपुर्भव भूयो महीपते। तथाऽन्तकाले मामेव लयमेष्यसि सुव्रत॥ ३७॥

कुरुने कहा—जितने स्थानको मैंने जोता है वह धर्मक्षेत्र हो जाय और यहाँ स्नान करनेवालों एवं मरनेवालोंको महापुण्यकी प्राप्ति हो। माधव! विभो! शङ्खचक्रगदाधारी हृषीकेश! यहाँ किये गये उपवास, स्नान, दान, जप, हवन, यज्ञ आदि तथा अन्य शुभ या अशुभ कर्म भी इस श्रेष्ठ क्षेत्रमें आपकी कृपासे अक्षय ॰

फल देनेवाले हों तथा हे पुण्डरीकाक्ष ! हे अच्युत ! मेरे नामके व्यञ्जक (प्रकाशक) इस कुरुक्षेत्रमें आप
देवताओं एवं शिवजीके साथ निवास करें। राजाके ऐसा कहनेपर मैंने कहा—बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा
राजन् ! तुम पुनः दिव्य शरीरवाले हो जाओ तथा हे सुव्रत ! (दृढ़तासे व्रतका सुन्दर पालन करनेवाले) अन्तमें
तुम मुझमें ही लीन हो जाओगे ॥ ३३–३७ ॥

कीर्तिश्च शाश्वती तुभ्यं भविष्यति न संशयः । तत्रैव याजका यज्ञान् यजिष्यन्ति सदानघ ॥ ३८ ॥
तस्य क्षेत्रस्य रक्षार्थं ददौ स पुरुषोत्तमः । यक्षं च चन्द्रनामानं वासुकिं चापि पन्नगम् ॥ ३९ ॥
विद्याधरं शङ्कुकर्णं सुकेशिं राक्षसेश्वरम् । अजावनं च नृपतिं महादेवं च पावकम् ॥ ४० ॥
एतानि सर्वतोऽभ्येत्य रक्षन्ति कुरुजाङ्गलम् । अमीषां बलिनोऽन्ये च भृत्याश्चैवानुयायिनः ॥ ४१ ॥

(भगवान् विष्णुने आगे कहा—) निःसंदेह तुम्हारी कीर्ति सदा रहनेवाली होगी । यहींपर यज्ञ करनेवाले
व्यक्ति (यजमान) यज्ञ करेंगे । फिर, उस क्षेत्रकी रक्षा करनेके लिये उन पुरुषोत्तम भगवान्ने राजाको चन्द्रनामक य
वासुकि नामक सर्प, शङ्कुकर्ण नामक विद्याधर, सुकेशी नामक राक्षसेश्वर, अजावन नामक राजा और महा
नामक अग्निको दे दिया । ये सभी तथा इनके अन्य बली भृत्य एवं अनुयायी यहाँ आकर कुरुजाङ्गलकी
ओरसे रक्षा करते हैं ॥ ३८–४१ ॥

अष्टौ सहस्राणि धनुर्धराणां ये वारयन्तीह सुदुष्कृतान् वै ।
स्नातुं न यच्छन्ति महोग्ररूपास्त्वन्यस्य भूताः सचराचराणाम् ॥ ४२ ॥
तस्यैव मध्ये बहुपुण्य उक्तः पृथूदकः पापहरः शिवश्च ।
पुण्या नदी प्राङ्मुखतां प्रयाता यत्रौघयुक्तस्य शुभा जलाढ्या ॥ ४३ ॥
पूर्वं प्रजेयं प्रपितामहेन सृष्टा समं भूतगणैः समस्तैः ।
मही जलं वह्निसमीरमेव खं त्वेवमादौ विबभौ पृथूदकः ॥ ४४ ॥
तथा च सर्वाणि महार्णवानि तीर्थानि नद्यः स्रवणाः सरांसि ।
संनिर्मितानीह महाभुजेन तच्चैक्यमागात् सलिलं महीषु ॥ ४५ ॥

आठ हजार धनुर्धारी, जो पापियोंको यहाँसे हटाते रहते हैं वे, उग्र रूप धारणकर चराचरके दूसरे भूतों
(पापियों)को स्नान नहीं करने देते । उसी (कुरुजाङ्गल)के मध्य पाप दूर करनेवाला एवं अति पवि
कल्याणकारी पृथूदक (पेहवा) नामक तीर्थ है, जहाँ शुभ जलसे पूर्ण एक पवित्र नदी पूर्वकी ओर बहती
है । इसे प्रपितामह ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और आकाशादि समस्त भूतोंके साथ
रचा था, महाबाहु ब्रह्माने पृथ्वीपर जिन महासमुद्रों, तीर्थों, नदियों, स्रोतों एवं सरोवरोंकी रचना की उन सबोंके
जल उसमें एकत्र प्राप्त हैं ॥ ४२–४५ ॥

देवदेव उवाच

सरस्वतीदृषद्वत्योरन्तरे कुरुजाङ्गले ।
मुनिप्रवरमासीनं पुराणं लोमहर्षणम् । अपृच्छन्त द्विजवराः प्रभावं सरसस्तदा ॥ ४६ ॥
प्रमाणं सरसो ब्रूहि तीर्थानां च विशेषतः । देवतानां च माहात्म्यमुत्पत्तिं वामनस्य च ॥ ४७ ॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तेषां रोमहर्षसमन्वितः । प्रणिपत्य पुराणर्षिरिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४८ ॥

[यहाँसे कुरुक्षेत्र और उसके सरोवरका माहात्म्य कहते हैं—]

भगवान् विष्णु बोले— [illegible] सरस्वती और दृषद्वती (नदियों)के बीचमें स्थित कुरुजाङ्गलमें
आसीन मुनिश्रेष्ठ पुराण लोमहर्षणसे वहाँ स्थित सरोवरकी महिमा पूछी और इस सरोवरके विस्तार, विशिष्ट तीर्थों
और देवताओंके माहात्म्य एवं वामनके प्रादुर्भावकी कथा कहनेकी प्रार्थना की ।

उनके इस वचनको सुनकर रोमाञ्चित होते हुए पौराणिक ऋषि लोमहर्षण उन्हें प्रणाम कर (फिर) इस प्रकार बोले—॥ ४६–४८ ॥

लोमहर्षण उवाच

प्रणम्य कमलासनस्थं विष्णुं तथा लक्ष्मिसमन्वितं च ।
रुद्रं च देवं प्रणिपत्य मूर्ध्ना तीर्थं महद् ब्रह्मसरः प्रवक्ष्ये ॥ ४९ ॥

रन्तुकादोजसं यावत् पावनाच्च चतुर्मुखम् । सरः संनिहितं प्रोक्तं ब्रह्मणा पूर्वमेव तु ॥ ५० ॥
कलिद्वापरयोर्मध्ये व्यासेन च महात्मना । सरः प्रमाणं यत्प्रोक्तं तच्छृणुध्वं द्विजोत्तमाः ॥ ५१ ॥
विश्वेश्वरादस्थिपुरं तथा कन्या जरद्गवी । यावदोघवती प्रोक्ता तावत्संनिहितं सरः ॥ ५२ ॥

लोमहर्षणजी बोले—सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले कमलासन ब्रह्मा, लक्ष्मीके सहित विष्णु और महादेव रुद्रको सिर झुकाकर प्रणाम करके मैं महान् ब्रह्मसर तीर्थका वर्णन करता हूँ । ब्रह्माने पहले कहा था कि यह 'संनिहित' सरोवर 'रन्तुक' नामक स्थानसे लेकर 'ओजस' नामक स्थानतक तथा 'पावन'से 'चतुर्मुख' तक फैला हुआ है । ब्राह्मणश्रेष्ठो ! किंतु अब कलि और द्वापरके मध्यमें महात्मा व्यासने सरोवरका जो (वर्तमान) प्रमाण बतलाया है उसे आपलोग सुनें । 'विश्वेश्वर' स्थानसे 'अस्थिपुरतक' और 'वृद्धा कन्या'से लेकर 'ओघवती' नदीतक यह सरोवर स्थित है ॥ ४९–५२ ॥

मया श्रुतं प्रमाणं यत् पठ्यमानं तु वामने । तच्छृणुध्वं द्विजश्रेष्ठाः पुण्यं वृद्धिकरं महत् ॥ ५३ ॥
विश्वेश्वराद् देववरा नृपावनात् सरस्वती । सरः संनिहितं ज्ञेयं समन्तादर्धयोजनम् ॥ ५४ ॥
एतदाश्रित्य देवाश्च ऋषयश्च समागताः । सेवन्ते मुक्तिकामार्थं स्वर्गार्थं चापरे स्थिताः ॥ ५५ ॥
ब्रह्मणा सेवितमिदं सृष्टिकामेन योगिना । विष्णुना स्थितिकामेन हरिरूपेण सेवितम् ॥ ५६ ॥

ब्राह्मणश्रेष्ठो ! मैंने वामनपुराणमें वर्णित जो प्रमाण सुना है, आप उस पवित्र एवं कल्याणकारी प्रमाणको सुनें । विश्वेश्वर स्थानसे देववरातक एवं नृपावनसे सरस्वतीतक चतुर्दिक् आधे योजन-(दो कोसों)में फैले इस संनिहित सरको समझना चाहिये । मोक्षकी इच्छासे आये हुए देवता एवं ऋषिगण इसका आश्रय लेकर सदा इसका सेवन करते हैं तथा अन्य लोग स्वर्गके निमित्त यहाँ रहते हैं । योगीश्वर ब्रह्माने सृष्टिकी इच्छासे एवं भगवान् श्रीविष्णुने जगत्के पालनकी कामनासे इसका आश्रय लिया था ॥ ५३–५६ ॥

रुद्रेण च सरोमध्यं प्रविष्टेन महात्मना । सेव्य तीर्थं महातेजाः स्थाणुत्वं प्राप्तवान् हरः ॥ ५७ ॥
आद्यैषा ब्रह्मणो वेदिस्ततो रामह्रदः स्मृतः । कुरुणा च यतः कृष्टं कुरुक्षेत्रं ततः स्मृतम् ॥ ५८ ॥

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं यदन्तरं रामह्रदाच्चतुर्मुखम् ।
एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ॥ ५९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

(इसी प्रकार) सरोवरके मध्यमें पैठकर महात्मा रुद्रने भी इस तीर्थका सेवन किया, जिससे महातेजस्वी (उन) हरको स्थाणुत्व (स्थिरत्व) प्राप्त हुआ । आदिमें यह 'ब्रह्मवेदी' कहा गया था, फिर आगे चलकर इसका नाम 'रामह्रद' हुआ । उसके बाद राजर्षि कुरुद्वारा जोते जानेसे इसका नाम 'कुरुक्षेत्र' पड़ा । तरन्तुक एवं अरन्तुक नामके स्थानोंका मध्य तथा रामह्रद एवं चतुर्मुखका मध्यभाग समन्तपञ्चक है, जो कुरुक्षेत्र कहा जाता है । इसे पितामहकी उत्तरवेदी भी कहते हैं ॥ ५७–५९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

फिर तो धर्म चारों चरणोंसे प्रतिष्ठित हो गया और अधर्म एक ही चरणपर स्थित रह गया। सभी राजा (भलीभाँति) प्रजापालन करते हुए सुशोभित होने लगे और सभी आश्रमोंके लोग अपने-अपने धर्मका पालन करने लगे। ऐसे समयमें असुरोंने बलिको दैत्यराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया। असुरोंका समुदाय हर्षित होकर निनाद (जय-जयकार) करने लगा। इसके बाद कमलके भीतरी गोभाके समान कान्तिशाली वरदायिनी और सुन्दर सुकेशवाली श्रीलक्ष्मीदेवी हाथमें कमल लिये हुए बलिके समीप आयीं॥ ११–१३॥

श्रीरुवाच

बल बलवतां श्रेष्ठ दैत्यराज महाद्युते। प्रीतास्मि तव भद्रं ते देवराजपराजये॥ १४॥
यत्त्वया युधि विक्रम्य देवराज्यं पराजितम्। दृष्ट्वा ते परमं सत्त्वं ततोऽहं स्वयमागता॥ १५॥
नाश्चर्यं दानवव्याघ्र हिरण्यकशिपोः कुले। प्रसूतस्यासुरेन्द्रस्य तव कर्मेदमीदृशम्॥ १६॥
विशेषितस्त्वया राजन् दैत्येन्द्र प्रपितामहः। येन भुक्तं हि निखिलं त्रैलोक्यमिदमव्ययम्॥ १७॥

लक्ष्मीने कहा—बलवानोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी दैत्यराज बलि! देवराजके पराजय हो जानेपर मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारा मङ्गल हो, क्योंकि तुमने संग्राममें पराक्रम दिखाकर देवोंके राज्यको जीत लिया है। इसलिये तुम्हारे श्रेष्ठ बलको देखकर मैं स्वयं आयी हूँ। दानव! असुरोंके स्वामी! हिरण्यकशिपुके कुलमें उत्पन्न हुए तुम्हारा यह कर्म ऐसा है—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। राजन्! आप दैत्यश्रेष्ठ अपने प्रपितामह हिरण्यकशिपुसे भी विशिष्ट (प्रभावशाली) हैं, क्योंकि आप पूरे तीनों लोकोंमें समृद्ध इस राज्यका भोग कर रहे हैं॥ १४–१७॥

एवमुक्त्वा तु सा देवी लक्ष्मीर्दैत्यनृपं बलिम्। प्रविष्टा वरदा सेव्या सर्वदेवमनोरमा॥ १८॥
तुष्टाश्च देव्यः प्रवरा ह्रीः कीर्तिर्द्युतिरेव च। प्रभा धृतिः क्षमा भूतिर्ऋद्धिर्दिव्या महामतिः॥ १९॥
श्रुतिः स्मृतिरिडा कीर्तिः शान्तिः पुष्टिस्तथा क्रिया। सर्वाश्चाप्सरसो दिव्या नृत्तगीतविशारदाः॥ २०॥
प्रपद्यन्ते स्म दैत्येन्द्रं त्रैलोक्यं सचराचरम्। प्राप्तमैश्वर्यमतुलं बलिना ब्रह्मवादिना॥ २१॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

दैत्यराज बलिसे ऐसा कहनेके बाद सर्वजनाकर्षिणी एवं मनोहर रूपवाली वरदायी सेव्य एवं (सबसे) श्रेष्ठ तेजवाली श्रीलक्ष्मी देवी राजा बलिमें प्रविष्ट हो गयीं। तब सभी श्रेष्ठ देवियाँ—ह्री, कान्ति, द्युति, प्रभा, धृति, क्षमा, भूति, ऋद्धि, दिव्या, महामति, श्रुति, स्मृति, इडा, कीर्ति, शान्ति, पुष्टि, क्रिया और नृत्त-गीतमें निपुण दिव्य अप्सराएँ भी प्रसन्न होकर दैत्येन्द्र (बलि) का सेवन करने लगीं। इस प्रकार ब्रह्मवादी बलिने चर-अचरवाले त्रिलोकीका अतुल ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया॥ १८–२१॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३॥

[अथ चतुर्विंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

देवानां भूमि न कर्म यद्भुक्तास्ते पराजिताः। कथं देवाधिदेवोऽसौ विष्णुर्वामनतां गतः॥ १॥

चौबीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामन-चरितके उपक्रममें देवताओंका कश्यपजीके साथ ब्रह्मलोकमें जाना)

ऋषियोंने कहा—आप हमें यह बतलायें कि देवताओंने कौन-सा कर्म किया, जिससे प्रभावित होकर वे (दैत्य) पराजित हुए तथा देवाधिदेव ...

दैत्यराज बलि युद्धमें इन्द्रसे अपराजेय हो गया है। अतः हम देवोंके सामर्थ्य एवं पुष्टि-वृद्धिके लिये आप कल्याणकारी उपाय करें। उन पुत्रोंकी बातें सुनकर लोकोंको रचनेवाले सामर्थ्यशाली कश्यपने ब्रह्मलोकमें जानेका विचार किया ॥ १२-१५ ॥

कश्यप उवाच

शक्र गच्छाम सदनं ब्रह्मणः परमाद्भुतम्। तथा पराजयं सर्वे ब्रह्मणः ख्यातुमुद्यताः ॥ १६ ॥
सहादित्या ततो देवा याताः काश्यपमाश्रमम्। प्रस्थिता ब्रह्मसदनं महर्षिगणसेवितम् ॥ १७ ॥
ते मुहूर्तेन सम्प्राप्ता ब्रह्मलोकं सुवर्चसः। दिव्यैः कामगमैर्यानैर्यथार्हैस्ते महाबलाः ॥ १८ ॥
ब्रह्माणं द्रष्टुमिच्छन्तस्तपोराशिमनव्ययम्। अध्यगच्छन्त विस्तीर्णां ब्रह्मणः परमां सभाम् ॥ १९ ॥

(फिर) कश्यपने कहा—इन्द्र! हम सभी अपनी पराजयकी बात ब्रह्माजीसे कहनेके लिये तैयार होकर उनके परम अद्भुत लोकको चलें। कश्यपके इस प्रकार कहनेपर अदितिके साथ कश्यपके आश्रममें आये हुए सभी देवताओंने महर्षिगणोंसे सेवित ब्रह्मसदनकी ओर प्रस्थान किया। यथायोग्य इच्छाके अनुसार चलनेवाले दिव्य यानोंसे महाबली एवं तेजस्वी वे सभी देवता क्षणमात्रमें ही ब्रह्मलोकमें पहुँच गये और तब वे लोग तपोराशि अव्यय ब्रह्माको देखनेकी इच्छा करते हुए ब्रह्माकी विशाल परम श्रेष्ठ सभामें पहुँचे ॥ १६-१९ ॥

षट्पदोद्गीतमधुरां सामगैः समुदीरिताम्। श्रेयस्करीममित्रघ्नां दृष्ट्वा संजहृषुस्तदा ॥ २० ॥
ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रोक्ताः क्रमपदाक्षराः। शुश्रुवुर्विबुधव्याघ्रा विततेषु च कर्मसु ॥ २१ ॥
यज्ञविद्यावेदविदः पदक्रमविदस्तथा। स्वरेण परमर्षीणां सा बभूव प्रणादिता ॥ २२ ॥
यज्ञसंस्तवविद्भिश्च शिक्षाविद्भिस्तथा द्विजैः। छन्दसां चैव चार्थज्ञैः सर्वविद्याविशारदैः ॥ २३ ॥
लोकायतिकमुख्यैश्च शुश्रुवुः स्वरमीरितम्। तत्र तत्र च विप्रेन्द्रा नियताः शंसितव्रताः ॥ २४ ॥
जपहोमपरा मुख्या ददृशुः कश्यपात्मजाः। तस्यां सभायामास्ते स ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २५ ॥

वे (देवतालोग) भ्रमरोंकी गुञ्जारसे गुञ्जित, सामगानसे मुखरित, कल्याणकी विधायिका और शत्रुओंका विनाश करनेवाली उस सभाको देखकर प्रसन्न हो गये। (उस स्थानपर) उन श्रेष्ठ देवगणोंने विस्तृत (विशाल) अनेक कर्मानुष्ठानोंके समय श्रेष्ठ ऋग्वेदियोंके द्वारा 'क्रमपदाक्षर' (वेद पढ़नेकी विशिष्ट शैलियोंसे) उच्चरित ऋचाओं (वेदमन्त्रों) को सुना। वह सभा यज्ञविद्याके ज्ञाता एवं 'पदक्रम' प्रभृति वेदपाठक ज्ञानवाले परमर्षियोंके उच्चारणकी ध्वनिसे प्रतिध्वनित हो रही थी। देवोंने वहाँ यज्ञके संस्तवोंके ज्ञाताओं, शिक्षाविदों और वेदमन्त्रोंके अर्थ जाननेवालों, समस्त विद्याओंमें पारङ्गत द्विजों एवं श्रेष्ठ लोकायतिकों (चार्वाकके मतानुयायियों) द्वारा उच्चरित स्वरको भी सुना। कश्यपके पुत्रोंने वहाँ सर्वत्र नियमपूर्वक तीव्र-व्रतको धारण करनेवाले जप-होम करनेमें लगे हुए श्रेष्ठ विप्रोंको देखा। उसी सभामें लोक-पितामह ब्रह्मा विराजमान थे ॥ २०-२५ ॥

सुरासुरगुरुः श्रीमान् विद्यया वेदमायया। उपासन्त च तत्रैव प्रजानां पतयः प्रभुम् ॥ २६ ॥
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिश्च द्विजोत्तमाः। भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमो नारदस्तथा ॥ २७ ॥
विद्यास्तथान्तरिक्षं च वायुस्तेजो जलं मही। शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥ २८ ॥
प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चान्यत् कारणं महत्। साङ्गोपाङ्गाश्च चत्वारो वेदा लोकपतिस्तथा ॥ २९ ॥
नयाश्च क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च। एते चान्ये च बहवः स्वयम्भुवमुपासते ॥ ३० ॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च क्रोधो दर्पश्च नित्यशः। शुक्रो बृहस्पतिश्चैव संवर्तोऽथ बुधस्तथा ॥ ३१ ॥
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः। मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्च द्विजोत्तमाः ॥ ३२ ॥
दिवाकरश्च सोमश्च दिवा रात्रिस्तथैव च। अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च संस्थिताः ॥

येक्रम प्रभाकर शम्भो स्वयम्भो भूतादिः महाभूतोऽसि विश्वभूत विश्व त्वमेव विश्वगोप्ताऽसि पवित्रमसि विश्वभव ऊर्ध्वकर्म अमृत दिवस्पते वाचस्पते घृतार्चे अनन्तकर्म वंश प्राग्वंश विश्वपास्त्वमेव।
वरार्थिनां वरदोऽसि त्वम्।
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च। हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तुभ्यं होत्रात्मने नमः॥ १॥
इति श्रीवामनपुराणे षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

छब्बीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कश्यप द्वारा भगवान् वामनकी स्तुति)

कश्यपने कहा—हे देवदेव, एकशृङ्ग, वृषार्चि, सिन्धुवृष, वृषाकपि, सुरवृष, अनादिसम्भव रुद्र, कपिल विष्वक्सेन, सर्वभूतपति (सम्पूर्ण प्राणियोंके स्वामी), ध्रुव, धर्माधर्म, वैकुण्ठ, वृषावर्त्त, अनादिमध्यनिधन धनञ्जय, शुचिश्रव, पृश्नितेज, निजजय, अमृतेशय, सनातन, त्रिधाम, तुषित, महातत्त्व, लोकनाथ, पद्मनाभ, विरिञ्चि, बहुरूप, अक्षय, अक्षर, हव्यभुज, खण्डपरशु, शक्र, मुञ्जकेश, हंस, महादक्षिण, हृषीकेश, सूक्ष्म, महानियमधर, विरज, लोकप्रतिष्ठ, अरूप, अग्रज, धर्मज, धर्मनाभ, गभस्तिनाभ, शतक्रतुनाभ, चन्द्ररथ, सूर्यतेज, समुद्रवास, अज, सहस्रशिर, सहस्रपाद, अधोमुख, महापुरुष, पुरुषोत्तम, सहस्रबाहु, सहस्रमूर्ति, सहस्रास्य, सहस्रसंभव! मेरा आपके चरणोंमें नमस्कार है। (आपके भक्तजन) आपको सहस्रसत्त्व कहते हैं। (खिले हुए पुष्पके समान मधुर मुसकानवाले) पुष्पहास, चरम (सर्वोत्तम)! लोग आपको ही वौषट् एवं वषट्कार कहते हैं। आप ही श्रेष्ठ, (सर्वश्रेष्ठ) यज्ञोंमें प्राशिता (भोक्ता) हैं, सहस्रधार, भूः, भुवः एवं स्वः हैं। आप ही वेदवेद्य (वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य), ब्रह्मशय, ब्राह्मणप्रिय (अग्निके प्रेमी), द्यौ (आकाशके समान सर्वव्यापी), मातरिश्वा (वायुके समान गतिमान्), धर्म, होता, पोता (विष्णु), मन्ता, नेता एवं होमके हेतु हैं। आप ही विश्वतेजके द्वारा अग्र्य (सर्वश्रेष्ठ) हैं और दिशाओंके द्वारा सुभाण्ड (विस्तृत पात्ररूप) हैं अर्थात् दिशाएँ आपमें समाहित हैं। आप (यजन करने योग्य) इज्य, सुमेध, समिधा, मति, गति एवं दाता हैं। आप ही मोक्ष, योग (सृष्टि करनेवाले), धाता (धारण और पोषण करनेवाले), परमयज्ञ, सोम, दीक्षित, दक्षिणा एवं विश्व हैं। आप ही स्थविर, हिरण्यनाभ, नारायण, त्रिनयन, आदित्यवर्ण, आदित्यतेज, महापुरुष, पुरुषोत्तम, आदिदेव, सुविक्रम, प्रभाकर, शम्भु, स्वयम्भू, भूतादि, महाभूत, विश्वभूत एवं विश्व हैं। आप ही संसारकी रक्षा करनेवाले, पवित्र, विश्वभव, विश्वकी सृष्टि करनेवाले, ऊर्ध्वकर्म (उत्तमकर्मा), अमृत (कभी भी मृत्युको न प्राप्त होनेवाले), दिवस्पति, वाचस्पति, घृतार्चि, अनन्तकर्म, वंश, प्राग्वंश, विश्वपा (विश्वका पालन करनेवाले) तथा वरदाता चाहनेवालोंके लिये वरदानी हैं।

चार (आश्रावय), चार (अस्तु श्रौषट्), दो (यज) तथा पाँच (ये यजामहे) और पुनः दो (वषट्) अक्षरों—इस प्रकार ४+४+२+५+२=१७ अक्षरोंसे—जिसके लिये अग्नि हवन किया जाता है उन आप होत्रात्माको नमस्कार है॥ १॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २६॥

लोमहर्षणने कहा—प्रभावशाली भगवान् विष्णुने जब ऐसा कहा तब महात्मा देवगण, कश्यप एवं अदितिने प्रसन्न चित्तसे उन प्रभुका पूजन किया एवं देवेश्वरको नमस्कार करनेके बाद पूर्व दिशामें स्थित कश्यपके विस्तृत आश्रमकी ओर शीघ्रतासे चल पड़े। जब देवगण कुरुक्षेत्र-वनमें स्थित महान् आश्रममें पहुँचे तब लोगोंने अदितिको प्रसन्नकर उसे तपस्या करनेके लिये प्रेरित किया। (फिर) उसने दस हजार वर्षोंतक वहाँ कठिन तपस्या की ॥ १०–१३ ॥

तस्या नाम्ना वनं दिव्यं सर्वकामप्रदं शुभम्। आराधनाय कृष्णस्य वाग्जिता वायुभोजना ॥ १४ ॥
दैत्यैर्निराकृतान् दृष्ट्वा तनयानृषिसत्तमाः ।
वृथापुत्राऽहमिति सा निर्वेदात् प्रणयादरिम्। तुष्टाव वाग्भिरग्र्याभिः परमार्थावबोधिना ॥ १५ ॥
शरण्यं शरणं विष्णुं प्रणता भक्तवत्सलम्। देवदैत्यमयं चादिमध्यमान्तस्वरूपिणम् ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ ऋषियो! (जिस वनमें अदितिने तप किया) उस दिव्य वनका नाम उसके नामपर अदितिवन पड़ा। वह समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला एवं मङ्गलकारी है। ऋषिश्रेष्ठो! परम अर्थको जाननेवाली (तत्त्वज्ञा) अदितिने अपने पुत्रोंको दैत्योंके द्वारा अपमानित देखा, उसने सोचा कि तब मेरा पुत्रका जनना ही व्यर्थ है, इसलिये अपनी वाणीको संयतकर, हवा पीकर नम्रतापूर्वक शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले, भक्तजनप्रिय, देवताओं और दैत्योंकी मूर्तिस्वरूप, आदि-मध्य और अन्तके रूपमें रहनेवाले भगवान् श्रीविष्णुकी प्रसन्नताके लिये उनकी सत्य एवं मधुर वाणियोंसे उत्तम स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया ॥ १४–१६ ॥

अदितिरुवाच

नमः कृत्यार्तिनाशाय नमः पुष्करमालिने। नमः परमकल्याण कल्याणायादिवेधसे ॥ १७ ॥
नमः पङ्कजनेत्राय नमः पङ्कजनाभये। नमः पङ्कजसम्भूतिसम्भवायात्मयोनये ॥ १८ ॥
श्रियः कान्ताय दान्ताय दान्तदृश्याय चक्रिणे। नमः पद्मासिहस्ताय नमः कनकरेतसे ॥ १९ ॥
तथात्मज्ञानयज्ञाय योगिचिन्त्याय योगिने। निर्गुणाय विशेषाय हरये ब्रह्मरूपिणे ॥ २० ॥

अदितिने इस प्रकार स्तुति करना आरम्भ किया—कृत्यासे उत्पन्न दुःखका नाश करनेवाले प्रभुको नमस्कार है। कमलकी मालाको धारण करनेवाले पुष्करमाली भगवान्‌को नमस्कार है। परम मङ्गलकारी, कल्याणस्वरूपी आदिविधाता प्रभो! आपको नमस्कार है। कमलनयन! आपको नमस्कार है। पद्मनाभ! आपको नमस्कार है। ब्रह्माकी उत्पत्तिके स्थान, आत्मजन्मा! आपको नमस्कार है। प्रभो! आप लक्ष्मीपति, इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, संयमियोंके द्वारा दर्शन पानेयोग्य, हाथमें सुदर्शन चक्र धारण करनेवाले एवं खड्ग (तलवार) धारण करते हैं, आपको नमस्कार है। स्वामिन्! आत्मज्ञानके द्वारा यज्ञ करनेवाले, योगियोंके द्वारा ध्यान करने योग्य, योगकी साधना करनेवाले योगी, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणसे रहित किंतु (दयादि) विशिष्ट गुणोंसे युक्त ब्रह्मरूपी श्रीहरि भगवान्‌को नमस्कार है ॥ १७–२० ॥

जगच्च तिष्ठते यत्र जगतो यो न दृश्यते। नमः स्थूलातिसूक्ष्माय तस्मै देवाय शार्ङ्गिणे ॥ २१ ॥
यं न पश्यन्ति पश्यन्तो जगदप्यखिलं नराः। अपश्यद्भिर्जगद्यश्च दृश्यते हृदि संस्थितः ॥ २२ ॥
बहिर्ज्योतिरलक्ष्यो यो लक्ष्यते ज्योतिषः परः। यस्मिन्नेव यतश्चैव यस्यैतदखिलं जगत् ॥ २३ ॥
तस्मै समस्तजगतामभराय नमो नमः ।
आद्यः प्रजापतिः सोऽपि पितॄणां परमः पतिः। पतिः सुराणां यस्तस्मै नमः कृष्णाय वेधसे ॥ २४ ॥

जिन आपके भीतर यह सारा संसार स्थित है, किंतु जो संसारसे दृश्य नहीं हैं, उन स्थूल तथा अतिसूक्ष्म आप शार्ङ्गधारी देवको नमस्कार है। सम्पूर्ण जगत्‌को देखनेवाले प्राणी जिन अन्तर देशमें स्थित रहते हैं आपका दर्शन नहीं कर पाते परंतु जिन्होंने जगत्‌को अपना नहीं माना, उन्हें आप उनके

[अथाष्टाविंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

एवं स्तुतोऽथ भगवान् वासुदेव उवाच ताम्। अदृश्यः सर्वभूतानां तस्याः संदर्शने स्थितः ॥ १ ॥

अट्ठाईसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अदितिकी प्रार्थनापर भगवान्का प्रकट होना तथा भगवान्का अदितिको वर देना)

लोमहर्षणने कहा—इस प्रकार स्तुति करनेके बाद समस्त प्राणियोंके दृष्टिपथमें न आनेवाले भगवान् वासुदेव उसके सामने प्रकट हुए और बोले—॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मनोरथांस्त्वमदिते यानिच्छस्यभिवाञ्छितान्। तांस्त्वं प्राप्स्यसि धर्मज्ञे मत्प्रसादान्न संशयः ॥ २ ॥
शृणु त्वं च महाभागे वरो यस्ते हृदि स्थितः। मद्दर्शनं हि विफलं न कदाचिद् भविष्यति ॥ ३ ॥
यश्चेह त्वद्वने स्थित्वा त्रिरात्रं वै करिष्यति। सर्वे कामाः समृध्यन्ते मनसा यानिहेच्छति ॥ ४ ॥
दूरस्थोऽपि वनं यस्तु अदित्याः स्मरते नरः। सोऽपि याति परं स्थानं किं पुनर्निवसन् नरः ॥ ५ ॥
यश्चेह ब्राह्मणान् पञ्च त्रीन् वा द्वावेकमेव वा। भोजयेच्छ्रद्धया युक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—धर्मज्ञे (धर्मके मर्मको जाननेवाली) अदिति! तुम मुझसे जिन मनचाही कामनाओंकी पूर्ति चाहती हो उन्हें तुम मेरी कृपासे प्राप्त करोगी, इसमें कोई संदेह नहीं। महाभागे! सुनो, तुम्हारे मनमें जिन वरोंकी इच्छा है उन्हें तुम मुझसे माँगो, क्योंकि मेरे दर्शन करनेका फल कभी व्यर्थ नहीं होता। तुम्हारे इस (अदिति) वनमें रहकर जो तीन रातोंतक निवास करेगा, उसकी सभी मनचाही कामनाएँ पूरी होंगी। जो मनुष्य दूर देशमें स्थित रहकर भी तुम्हारे इस वनका स्मरण करेगा, वह परम धामको प्राप्त कर लेगा। फिर यहाँ रहनेवाले मनुष्योंको परम धामकी प्राप्ति हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य! जो मानव इस स्थानपर पाँच, तीन अथवा दो या एक ही ब्राह्मणको श्रद्धापूर्वक भोजन करायेगा, वह उत्तम गति-(मोक्ष) को प्राप्त करेगा ॥ २–६ ॥

अदितिरुवाच

यदि देव प्रसन्नस्त्वं भक्त्या मे भक्तवत्सल। त्रैलोक्याधिपतिः पुत्रस्तदस्तु मम वासवः ॥ ७ ॥
हृतं राज्यं हृतश्चास्य यज्ञभागो महासुरैः। त्वयि प्रसन्ने वरद तत् प्राप्नोतु सुतो मम ॥ ८ ॥
हृतं राज्यं न दुःखाय मम पुत्रस्य केशव। शरणप्रदायविभ्रंशो बाधां मे कुरुते हृदि ॥ ९ ॥

अदितिने कहा—भक्तवत्सल देव! यदि आप मेरी भक्तिसे मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मेरा पुत्र इन्द्र तीनों लोकोंका स्वामी हो जाय। असुरोंने उसके राज्यको तथा यज्ञमें मिलनेवाले भागको छीन लिया है। अतः वरदानी प्रभो! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो मेरा पुत्र उसे (राज्यको) प्राप्त कर ले। केशव! मेरे पुत्रके राज्यके असुरोंद्वारा छीन जानेका मुझे दुःख नहीं है, किंतु शरणागतको मिलनेवाले हिस्सेका छिन जाना मेरे हृदयको कुरेद रहा है ॥ ७–९ ॥

श्रीभगवानुवाच

कृतः प्रसादो हि मया तव देवि यथेप्सितम्। स्वांशेन चैव ते गर्भे सम्भविष्यामि कश्यपात् ॥ १० ॥
तव गर्भे समुद्भूतस्ततस्ते ये त्वरातयः। तानहं च हनिष्यामि निर्वृता भव नन्दिनि ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—देवि! तुम्हारी इच्छाके अनुसार मैंने तुम्हारे ऊपर पूर्ण प्रसाद प्रकट किया है। (सुनो,) कश्यपसे तुम्हारे गर्भमें मैं अपने अंशसे जन्म लूँगा। तुम्हारी कोखसे जन्म लेकर मैं तुम्हारे सभी शत्रुओंका वध करूँगा। नन्दिनि! तुम सुखी हो जाओ ॥ १०–११ ॥

पीड़ित हो गये हैं। क्या त्रैलोक्यका कोई अशुभ होनेवाला है? अथवा इनके नाशके लिये ब्राह्मणने कृत्या (पुरश्चरणसे उत्पन्न की गयी मारिकाशक्ति)को उत्पन्न कर दिया है, जिससे ये असुरलोग इस प्रकार तेजसे रहित हो गये हैं ॥ २ ३ ॥

लोमहर्षण उवाच

इत्यसुरवरस्तेन पृष्टः पौत्रेण ब्राह्मणाः। चिरं ध्यात्वा जगादेदमसुरं तदा बलिम् ॥ ४ ॥

लोमहर्षण बोले—ब्राह्मणो! अपने पौत्र (पुत्रके पुत्र) राजा बलिके इस प्रकार पूछनेपर दैत्योंमें प्रधान प्रह्लादने देरतक ध्यान करके तब असुर बलिसे कहा—॥ ४ ॥

प्रह्लाद उवाच

चलन्ति गिरयो भूमिर्जहाति सहसा धृतिम्। सद्यः समुद्राः क्षुभिता दैत्या निस्तेजसः कृताः ॥ ५ ॥
सूर्योदये यथा पूर्वं तथा गच्छन्ति न ग्रहाः। देवानां च परा लक्ष्मीः कारणेनानुमीयते ॥ ६ ॥
महदेतन्महाबाहो कारणं दानवेश्वर। न ह्यल्पमिति मन्तव्यं त्वया कार्यं कथंचन ॥ ७ ॥

प्रह्लादने कहा—दानवाधिप! इस समय पहाड़ डगमगा रहे हैं, पृथ्वी एकाएक अपनी (स्वाभाविक) धीरता छोड़ रही है, समुद्रमें जोरोंकी लहरें उठ रही हैं और दैत्य तेजसे रहित हो गये हैं। सूर्योदय होनेपर अब पहलेके समान ग्रहोंकी चाल नहीं दीखती है। इन कारणों-(लक्षणों)से अनुमान होता है कि देवताओंका अभ्युदय होनेवाला है। महाबाहु! दानवेश्वर! यह कोई विशेष कारण अवश्य है। इस कारणको छोटा नहीं मानना चाहिये और आपको इसका कोई प्रतियत्न (उपाय) करना चाहिये ॥ ५-७ ॥

लोमहर्षण उवाच

इत्युक्त्वा दानवपतिं प्रह्लादः सोऽसुरोत्तमः। अत्यर्थभक्तो देवेशं जगाम मनसा हरिम् ॥ ८ ॥
स ध्यानपथगं कृत्वा प्रह्लादश्च मनोऽसुरः। विचारयामास ततो यथा देवो जनार्दनः ॥ ९ ॥
स ददर्शोदरेऽदित्याः प्रह्लादो वामनाकृतिम्। तदन्तश्च वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ॥ १० ॥
साध्यान् विश्वे तथादित्यान् गन्धर्वोरगराक्षसान्। विरोचनं च तनयं बलिं चासुरनायकम् ॥ ११ ॥
जम्भं कुजम्भं नरकं बाणमन्यांस्तथासुरान्। आत्मानमुर्वीं गगनं वायुं वारि हुताशनम् ॥ १२ ॥
समुद्राद्रिसरिद्द्वीपान् सरांसि च पशून् महीम्। वयोमनुष्यानखिलांस्तथैव च सरीसृपान् ॥ १३ ॥
समस्तलोकस्रष्टारं ब्रह्माणं भवमेव च। ग्रहनक्षत्रताराश्च दक्षाद्यांश्च प्रजापतीन् ॥ १४ ॥
सम्पश्यन् विस्मयाविष्टः प्रकृतिस्थः क्षणात् पुनः। प्रह्लादः प्राह दैत्येन्द्रं बलिं वैरोचनिं ततः ॥ १५ ॥

लोमहर्षणने कहा—असुरोंमें श्रेष्ठ महान् भक्त प्रह्लादने दैत्यराज बलिसे इस प्रकार कहकर मनसे श्रीहरिका ध्यान किया। असुर प्रह्लादने अपने मनको भगवान्‌के ध्यान-पथमें लगाकर चिन्तन किया—जैसा कि भगवान्‌का स्वरूप है। उन्होंने उस समय (चिन्तन करते समय) अदितिकी कोखमें वामनके रूपमें भगवान्‌को देखा। उनके भीतर वसुओं, रुद्रों, दोनों अश्विनीकुमारों, मरुतों, साध्यों, विश्वेदेवों, आदित्यों, गन्धर्वों, नागों, राक्षसों तथा अपने पुत्र विरोचन एवं असुरनायक बलि, जम्भ, कुजम्भ, नरक, बाण तथा इसी प्रकारके दूसरे बहुत-से असुरों एवं अपनेको और पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि, समुद्रों, पर्वतों, नदियों, द्वीपों, सरों, पशुओं, भूमण्डियों, पक्षियों, सम्पूर्ण मनुष्यों, रेंगनेवाले जीवों, समस्त लोकोंके स्रष्टा ब्रह्मा, शिव, ग्रहों, नक्षत्रों, ताराओं तथा दक्ष आदि प्रजापतियोंको भी देखा। प्रह्लाद इन्हें देखकर आश्चर्यमें पड़ गये, किंतु क्षणभरमें ही पुनः पूर्ववत् प्रकृतिस्थ हो गये और विरोचन-पुत्र दैत्योंके राजा बलिसे बोले—॥ ८-१५ ॥

अंशावतीर्णेन च येन गर्भे हृतानि तेजांसि महासुराणाम्।
नमामि तं देवमनन्तमीशमशेषसंसारतरोः कुठारम्॥२७॥
देवो जगद्योनिरयं महात्मा स षोडशांशेन महासुरेन्द्राः।
सुरेन्द्रमातुर्जठरं प्रविष्टो हृतानि वस्तेन बलं वपूंषि॥२८॥

जिन परमेश्वरने रूप देखनेके लिये आँखोंको, स्पर्शज्ञानके लिये त्वचाको, खट्टे-मीठे स्वाद लेनेके लिये जीभको और सुगन्ध-दुर्गन्ध सूँघनेके लिये नाकको नियत किया है, पर स्वयं उनके नाक, आँख और कान आदि नहीं हैं। जो वस्तुतः स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं, वे सर्वथा युक्तिके द्वारा (कुछ-कुछ) जाने जा सकते हैं, उन सर्वसमर्थ, स्तुतिके योग्य, किसी भी प्रकारके मलसे रहित, (भक्तिसे) प्राप्य, ईश-हरिदेवको मैं प्रणाम करता हूँ। जिनके द्वारा एक मोटे तथा बड़े दाँतसे निकाली गयी चिरस्थायिनी पृथ्वी सभी कुछ धारण करनेमें समर्थ है तथा जो समस्त संसारको अपनेमें स्थान देकर सोनेका स्वाँग धारण करते हैं, उन स्तुत्य ईश विष्णुको मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने अपने अंशसे अदितिके गर्भमें आकर महासुरोंके तेजका अपहरण कर लिया, उन समस्त संसाररूपी वृक्षके लिये कुठाररूप धारण करनेवाले अनन्त देवाधीश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ। हे महासुरो! जगत्‌की उत्पत्तिके स्थान वे ही महात्मा देव अपने सोलहवें अंशकी कलासे इन्द्रकी माताके गर्भमें प्रविष्ट हुए हैं और उन्होंने ही तुम लोगोंके शारीरिक बलको अपहृत कर लिया है॥२४-२८॥

बलिरुवाच

तात कोऽयं हरिर्नाम यतो नो भयमागतम्। सन्ति मे शतशो दैत्या वासुदेवबलाधिकाः॥२९॥
विप्रचित्तिः शिबिः शङ्कुरयःशङ्कुस्तथैव च। हयशिरा अश्वशिरा भङ्गकारो महाहनुः॥३०॥
प्रतापी प्रघसः शम्भुः कुक्कुराक्षश्च दुर्जयः। एते चान्ये च मे सन्ति दैतेया दानवास्तथा॥३१॥
महाबला महावीर्या भूभारधरणक्षमाः। एषामेकैकशः कृष्णो न वीर्यार्धेन सम्मितः॥३२॥

बलिने कहा—तात! जिनसे हम सबको डर है वे हरि कौन हैं? हमारे पास वासुदेवसे अधिक शक्तिशाली सैकड़ों दैत्य हैं, जैसे—विप्रचित्ति, शिबि, शङ्कु, अयःशङ्कु, हयशिरा, अश्वशिरा, (विध्वंस करनेवाला) भङ्गकार, महाहनु, प्रतापी, प्रघस, शम्भु, दुर्जय एवं कुक्कुराक्ष। ये तथा अन्य भी ऐसे अनेक दैत्य एवं दानव हैं। ये सभी महाबलवान् तथा महापराक्रमी एवं पृथ्वीके भारको धारण करनेमें समर्थ हैं। कृष्ण तो हमारे इन बलवान् दैत्योंमेंसे पृथक्-पृथक् एक-एकके आधे बलके समान भी नहीं हैं॥२९-३२॥

लोमहर्षण उवाच

पौत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा प्रह्लादो दैत्यसत्तमः। सक्रोधश्च बलिं प्राह वैकुण्ठाक्षेपवादिनम्॥३३॥
विनाशमुपयास्यन्ति दैत्या ये चापि दानवाः। येषां त्वमीदृशो राजा दुर्बुद्धिरविवेकवान्॥३४॥
देवदेवं महाभागं वासुदेवमजं विभुम्। त्वामृते पापसंकल्प कोऽन्य एवं वदिष्यति॥३५॥

लोमहर्षणने कहा—अपने पौत्रकी इस उक्तिको सुनकर दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लाद क्रुद्ध हो गये और भगवान्‌की निन्दा करनेवाले बलिसे बोले—बलि! तेरे-जैसे विवेकहीन एवं दुर्बुद्धि राजाके साथ ये सारे दैत्य एवं दानव मारे जायँगे। हे पापको ही सोचनेवाले पापबुद्धि! तुम्हारे सिवा ऐसा कौन है, जो देवाधिदेव महाभाग अज एवं सर्वव्यापी वासुदेवको इस तरह कहेगा॥३३-३५॥

य एते भवता प्रोक्ताः समस्ता दैत्यदानवाः। सब्रह्मकास्तथा देवाः स्थावरान्ता विभूतयः॥३६॥
त्वं चाहं च जगच्चेदं साद्रिद्रुमनदीवनम्। ससमुद्रद्वीपलोकोऽयं यश्चेदं सचराचरम्॥३७॥

तत्सद्भात मया सर्वं यदर्थं भवतामियम्। तेजसो हानिरुत्पन्ना शृण्वन्तु तदशेषत ॥१६॥
देवदेवो जगद्योनिरयोनिर्जगदादिज । अनादिरादिर्विश्वस्य वरेण्यो वरदो हरिः ॥१७॥
परावराणा परम परापरसना गति ।
प्रभु प्रमाण मानाना सप्तलोकगुरोर्गुरु । स्थिति कर्तुं जगन्नाथ सोऽचिन्त्यो गर्भता गत ॥१८॥
प्रभु प्रभूणा परम पराणामनादिमध्यो भगवाननन्त ।
त्रैलोक्यमशेन सनाथमेक कर्तुं महात्माऽदितिजोऽवतीर्ण ॥१९॥

(दैत्यो !) मैंने तुम लोगोंकी कान्तिहीनताके (वास्तविक) सब कारणोंको—अच्छी समझ लिया है। (अब) उसे तुम लोग भलीभाँति सुनो। देवोंके देव, जगद्योनि, (विश्वको उत्पन्न करनेवाले) किंतु अयोनि, विश्वके प्रारम्भमें विद्यमान पर स्वय अनादि, फिर भी विश्वके आदि, वर देनेवाले वरणीय हरि, सर्वश्रेष्ठ भी परम (श्रेष्ठ), बडे-छोटे सज्जनोंकी गति, मानोंके भी प्रमाणभूत प्रभु, सातों लोकोंके गुरुओंके भी गुरु एव चिन्तनमें न आनेयोग्य विश्वके स्वामी मर्यादा-(धर्मसेतु) की स्थापना करनेके लिये (अदितिके) गर्भमें आ गये हैं। प्रभुओंके प्रभु, श्रेष्ठोंमें श्रेष्ठ, आदि-मध्यसे रहित, अनन्त भगवान् तीनों लोकोंको सनाथ करनेके लिये अदितिके पुत्ररूपमें अशावतारस्वरूपसे अवतीर्ण हुए हैं ॥ १६–१९ ॥

न यस्य रुद्रो न च पद्मयोनिर्नेन्द्रो न सूर्येन्दुमरीचिमिश्रा ।
जानन्ति दैत्याधिप यत्स्वरूप स वासुदेव कलयावतीर्ण ॥२०॥
यमक्षर वेदविदो वदन्ति विशन्ति य ज्ञानविधूतपापा ।
यस्मिन् प्रविष्टा न पुनर्भवन्ति त वासुदेव प्रणमामि देवम् ॥२१॥
भूतान्यशेषाणि यतो भवन्ति यथोर्मयस्तोयनिधेरजस्रम् ।
लय च यस्मिन् प्रलये प्रयान्ति त वासुदेव प्रणतोऽस्म्यचिन्त्यम् ॥२२॥
न यस्य रूप न बल प्रभावो न च प्रताप परमस्य पुस ।
विज्ञायते सर्वपितामहाद्यैस्त वासुदेव प्रणमामि नित्यम् ॥२३॥

दैत्यपते ! जिन वासुदेव भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको रुद्र, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र एव मरीचि आदि श्रेष्ठ पुरुष नहीं जानते, वे ही वासुदेव भगवान् अपनी एक कलासे अवतीर्ण हुए हैं। वेदके जाननेवाले जिन्हें अक्षर कहते हैं तथा ब्रह्मज्ञानके होनेसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे निष्पाप शुद्ध प्राणी जिनमें प्रवेश पाते हैं और जिनके भीतर प्रविष्ट हुए लोग पुन जन्म नहीं लेते—ऐसे उन वासुदेव भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ। समुद्रकी लहरोंके समान जिनसे समस्त जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं तथा प्रलयकालमें जिनके भीतर विलीन हो जाते हैं, उन अचिन्त्य वासुदेवको मैं प्रणाम करता हूँ। ब्रह्मा आदि जिन परम पुरुषके रूप, बल, प्रभाव और प्रतापको नहीं जान पाते उन वासुदेवको मैं नित्य प्रणाम करता हूँ ॥ २०–२३ ॥

रूपस्य चक्षुर्ग्रहणे त्वगेषा स्पर्शग्रहित्री रसना रसस्य ।
घ्राण च गन्धग्रहणे नियुक्त न घ्राणचक्षुः श्रवणादि तस्य ॥२४॥
स्वयप्रकाश परमार्थतो य सर्वेश्वरो वेदितव्य स युक्त्या ।
शक्य नमाद्यमनघ च देव ग्राह्य नतोऽह हरिमीशितारम् ॥२५॥
येनैकदंष्ट्रेण समुद्धृतेय धरा चला धारयतीह सर्वम् ।
शेते ग्रसित्वा सकल जगद् यस्तमीड्यमीश प्रणतोऽस्मि विष्णुम् ॥२६॥

यस्याभिधायधन्यस्य व्यापिनः परमात्मनः। एकांशांशकलाजन्म कस्तमेवं प्रवक्ष्यति ॥ ३८ ॥
ऋते विनाशाभिमुखं त्वामेकमविवेकिनम्। दुर्बुद्धिमजितात्मानं वृद्धानां शासनातिगम् ॥ ३९ ॥

तुमने जिन जिनका नाम लिया है, वे सभी दैत्य एवं दानव तथा ब्रह्माके साथ सभी देवता एवं चराचर की समस्त विभूतियाँ, तुम और मैं, पर्वत तथा वृक्ष, नदी और वनसे युक्त सारा जगत् तथा समुद्र एवं द्वीपोंसे युक्त सम्पूर्ण लोक तथा चर और अचर जिन सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापी परमात्माके एक अंशकी अंशकलासे उत्पन्न हुए हैं, उनके विषयमें विनाशकी ओर चलनेवाले विवेकहीन, मूर्ख, इन्द्रियोंके गुलाम, वृद्धोंके आदेशोंका उल्लङ्घन करने वाले तुम्हारी अपेक्षा कौन ऐसा (कृत्या नामसे) कह सकेगा ? ॥ ३६–३९ ॥

शोच्योऽहं यस्य मे गेहे जातस्तव पिताऽधमः। यस्य त्वमीदृशः पुत्रो देवदेवावमानकः ॥ ४० ॥
तिष्ठत्वनेकसंसारसंघातौघविनाशिनि। कृष्णे भक्तिरहं तावदवेक्ष्यो भवता न किम् ॥ ४१ ॥
न मे प्रियतरः कृष्णादपि देहोऽयमात्मनः। इति जानात्ययं लोको भवांश्च दितिनन्दन ॥ ४२ ॥
जानन्नपि प्रियतरं प्राणेभ्योऽपि हरिं मम। निन्दां करोषि तस्य त्वमकुर्वन् गौरवं मम ॥ ४३ ॥
विरोचनस्तव गुरुर्गुरुस्तस्याप्यहं बले। ममापि सर्वजगतां गुरुर्नारायणो हरिः ॥ ४४ ॥

मैं (ही सचमुच) शोचनीय हूँ, जिसके घरमें तुम्हारा अधम पिता उत्पन्न हुआ, जिसका तुम्हारे-जैसा देवदेव- (विष्णु)का तिरस्कार करनेवाला पुत्र है। जो अनेक संसारके समूहोंके प्रवाहका विनाश करनेवाले हैं, ऐसे कृष्णमें भक्तिके लिये तुम्हें क्या मेरा भी ध्यान नहीं रहा। दितिनन्दन! मेरे विषयमें समस्त संसार एवं तुम भी यह जानते हो कि मुझे यह मेरी देह भी कृष्णसे अधिक प्रिय नहीं है। फिर यह समझते हुए भी कि भगवान् कृष्ण मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, फिर भी तुम मेरी मर्यादापर ध्यान न देकर ठेस पहुँचाते हुए उनकी निन्दा कर रहे हो। बलि! तुम्हारा गुरु (पिता) विरोचन है, उसका गुरु (पिता) मैं हूँ तथा मेरे भी गुरु सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् नारायण श्रीहरि हैं ॥ ४०–४४ ॥

निन्दां करोषि तस्मिंस्त्वं कृष्णे गुरुगुरोर्गुरौ। यस्मात् तस्मादिहैव त्वमैश्वर्याद् भ्रंशमेष्यसि ॥ ४५ ॥
स देवो जगतां नाथो बले प्रभुर्जनार्दनः। नन्वहं प्रत्यवेक्ष्यस्ते भक्तिमानत्र मे गुरुः ॥ ४६ ॥
एतावन्मात्रमप्यत्र निन्दता जगतो गुरुम्। नापेक्षितस्त्वया यस्मात् तस्माच्छापं ददामि ते ॥ ४७ ॥
यथा मे शिरसश्छेदादिदं गुरुतरं बले। त्वयोक्तमच्युताक्षेपं राज्यभ्रष्टस्तथा पत ॥ ४८ ॥
यथा न कृष्णादपरः परित्राणं भवार्णवे। तथाऽचिरेण पश्येयं भवन्तं राज्यविच्युतम् ॥ ४९ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

जिस कारण तुम अपने गुरु-(पिता विरोचन)के गुरु (पिता मैं प्रह्लाद)के भी गुरु विष्णुकी निंदा कर रहे हो, इस कारण तुम यहीं ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाओगे। बलि! वे प्रभु जनार्दनदेव जगत्के स्वामी हैं। इस विषयमें मेरा गुरु (अर्थात् मैं) भक्तिमान् हूँ, यह विचारकर तुझे मेरी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। जिस कारणसे जगद्गुरुकी निंदा करनेवाले तुमने मेरी इतनी भी अपेक्षा नहीं की, इस कारण मैं तुम्हें शाप देता हूँ, क्योंकि बलि! तुम्हारे द्वारा अच्युतके प्रति अपमानजनित ये वचन मेरे लिये सिर कट जानेसे भी अधिक कष्टदायी हैं, अतः तुम राज्यसे भ्रष्ट होकर गिर जाओ। भवसागरमें भगवान्को विष्णु छोड़कर दूसरा कोई रक्षक नहीं है, अतः शीघ्र ही मैं तुम्हें राज्यसे भ्रष्ट हुआ देखूँगा ॥ ४५–४९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उनतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

लोमहर्षण उवाच

अदितिर्वरमासाद्य सर्वकामसमृद्धिदम् । क्रमेण ह्युदरे देवो वृद्धिं प्राप्तो महायशाः ॥ १२ ॥
ततो मासेऽथ दशमे काले प्रसव आगते । अजायत स गोविन्दो भगवान् वामनाकृतिः ॥ १३ ॥
अवतीर्णे जगन्नाथे तस्मिन् सर्वामरेश्वरे । देवाश्च मुमुचुर्दुःखं देवमाताऽदितिस्तथा ॥ १४ ॥
ववुर्वाताः सुखस्पर्शा नीरजस्कमभून्नभः । धर्मे च सर्वभूतानां तदा मतिरजायत ॥ १५ ॥
नोद्वेगश्चाप्यभूद् देहे मनुजानां द्विजोत्तमाः । तदा हि सर्वभूतानां धर्मे मतिरजायत ॥ १६ ॥
तं जातमात्रं भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः । जातकर्मादिकाः कृत्वा क्रियाः तुष्टाव च प्रभुम् ॥ १७ ॥

लोमहर्षणने कहा—(उधर) अदितिने सभी कामनाओंकी समृद्धि करनेवाले वरको प्राप्त कर लिया था। उसके उदरमें महायशाली देव (भगवान्) धीरे-धीरे बढ़ने लगे। इसके बाद दसवें महीनेमें जब प्रसवका समय आया तब भगवान् गोविन्द वामनाकारमें उत्पन्न हो गये। संसारके स्वामी उन अखिलेश्वरके अवतार लेनेपर देवता और देवमाता अदिति दुःखसे मुक्त हो गये। फिर तो (संसारमें) आनन्ददायी वायु बहने लगी, गगनमण्डल बिना धूलिका (स्वच्छ) हो गया एवं सभी जीवोंकी बुद्धि धर्म करनेमें लग गयी। द्विजोत्तमो! उस समय मनुष्योंकी देहमें कोई घबड़ाहट नहीं थी और तब समस्त प्राणियोंकी बुद्धि धर्ममें लग गयी। उनके उत्पन्न होते ही लोकपितामह ब्रह्माने उनकी तत्काल जातकर्म आदि क्रिया (संस्कार) सम्पन्न करके उन प्रभुकी स्तुति की ॥ १२–१७ ॥

ब्रह्मोवाच

जयाधीश जयाजेय जय विश्वगुरो हरे । जन्ममृत्युजरातीत जयानन्त जयाच्युत ॥ १८ ॥
जयाजित जयाशेष जयाव्यक्तस्थिते जय । परमार्थार्थ सर्वज्ञ ज्ञानज्ञेयार्थनिःसृत ॥ १९ ॥
जयाशेष जगत्साक्षिञ्जगत्कर्तर्जगद्गुरो । जगतोऽजगदन्तेश स्थितौ पालयते जय ॥ २० ॥
जयाखिल जयाशेष जय सर्वहृदिस्थित । जयादिमध्यान्तमय सर्वज्ञानमयोत्तम ॥ २१ ॥
मुमुक्षुभिरनिर्देश्य नित्यहृष्ट जयेश्वर । योगिभिर्मुक्तिकामैस्तु दमादिगुणभूषण ॥ २२ ॥

ब्रह्मा बोले—अधीश! आपकी जय हो। अजेय! आपकी जय हो। विश्वके गुरु हरि! आपकी जय हो। जन्म-मृत्यु तथा जरासे अतीत अनन्त! आपकी जय हो। अच्युत! आपकी जय हो। अजित! आपकी जय हो। अशेष! आपकी जय हो। अव्यक्त स्थितिवाले भगवन्! आपकी जय हो। परमार्थकी (उत्तम अभिप्रायकी) पूर्तिमें निमित्त! ज्ञान और ज्ञेयके अर्थके उत्पादक सर्वज्ञ! आपकी जय हो। अशेष जगत्के साक्षी, जगत्के कर्ता! जगद्गुरु! आपकी जय हो। जगत् (चर) एवं अजगत् (अचर) के स्थिति, पालन एवं प्रलयके स्वामी! आपकी जय हो। अखिल! आपकी जय हो। अशेष! आपकी जय हो। सभीके हृदयमें रहनेवाले प्रभो! आपकी जय हो। आदि, मध्य और अन्तस्वरूप! समस्त ज्ञानकी मूर्ति, उत्तम! आपकी जय हो। हे मुमुक्षुओंके द्वारा अनिर्देश्य, नित्य प्रसन्न ईश्वर! आपकी जय हो। हे मुक्तिकी कामना करनेवाले योगियोंसे सेवित, दम आदि गुणोंसे विभूषित परमेश्वर! आपकी जय हो ॥ १८–२२ ॥

जयातिसूक्ष्म दुर्ज्ञेय जय स्थूल जगन्मय । जय सूक्ष्मातिसूक्ष्म त्वं जयानिन्द्रिय सेन्द्रिय ॥ २३ ॥
जय स्वमाययोगस्थ शेषभोग जयाक्षर । जयैकदंष्ट्रप्रान्तेन समुद्धृतवसुंधर ॥ २४ ॥
नृकेसरिन् सुरारातिवक्षःस्थलविदारण । साम्प्रतं जय विश्वात्मन् मायावामन केशव ॥ २५ ॥
निजमायापरिच्छिन्न जगद्धातर्जनार्दन । जयाचिन्त्य जयानेकस्वरूपैकविध प्रभो ॥ २६ ॥
वर्द्धस्व वर्धितानेकविकारप्रकृते हरे । त्वय्येषा जगतामीशे संस्थिता धर्मपद्धतिः ॥ २७ ॥

हे अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपवाले ! हे दुर्ज्ञेय (कठिनतासे समझमें आनेवाले) ! आपकी जय हो । हे स्थूल और जगत्-मूर्ति ! आपकी जय हो । हे सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रभो ! आपकी जय हो । हे इन्द्रियोंसे रहित तथा इन्द्रियोंसे युक्त (नाथ) ! आपकी जय हो । हे अपनी मायासे योगमें स्थित रहनेवाले (स्वामी) ! आपकी जय हो । हे शेषकी शय्यापर सोनेवाले अविनाशी शेषशायी प्रभो ! आपकी जय हो । हे एक दाँतके कोनेपर पृथ्वीको उठानेवाले वराहरूपधारी भगवन् ! आपकी जय हो । हे देवताओंके शत्रु (हिरण्यकशिपु)के वक्षःस्थलको विदीर्ण करनेवाले नृसिंह भगवान् तथा विश्वकी आत्मा एवं अपनी मायासे वामनका रूप धारण करनेवाले केशव ! आपकी जय हो । हे अपनी मायासे आवृत तथा संसारको धारण करनेवाले परमेश्वर ! आपकी जय हो । हे चिन्तन करनेसे परे अनेक स्वरूप धारण करनेवाले तथा एकविध प्रभो ! आपकी जय हो । हरे ! आपने प्रकृतिके भाँति-भाँतिके विकार बढ़ाये हैं । आपकी वृद्धि हो । जगत्की यह धर्मप्रणाली आप प्रभुमें स्थित है ॥ २३–२७ ॥

न त्वामहं न चेशानो नेन्द्राद्यास्त्रिदशा हरे । ज्ञातुमीशा न मुनयः सनकाद्या न योगिनः ॥ २८ ॥
त्वं मायापटसंवीतो जगत्यत्र जगत्पते । कस्त्वां वेत्स्यति सर्वेश त्वत्प्रसादं विना नरः ॥ २९ ॥
त्वमेवाराधितो यस्य प्रसादसुमुखः प्रभो । स एव केवलं देव वेत्ति त्वां नेतरो जनः ॥ ३० ॥
तदीश्वरेश्वरेशान विभो वर्द्धस्व भावन । प्रभवायास्य विश्वस्य विश्वात्मन् पृथुलोचन ॥ ३१ ॥

हे हरे ! मैं, शंकर, इन्द्र आदि देव, सनकादि मुनि तथा योगिगण आपको जाननेमें असमर्थ हैं । हे जगत्पते ! आप इस संसारमें मायारूपी वस्त्रसे ढके हैं । हे सर्वेश ! आपकी प्रसन्नताके बिना कौन ऐसा मनुष्य है जो आपको जान सके । प्रभो ! जो मनुष्य आपकी आराधना करता है और आप उसपर प्रसन्न होते हैं, वही आपको जानता है, अन्य नहीं । हे ईश्वरोंके भी ईश्वर ! हे ईशान ! हे विभो ! हे भावन ! हे विश्वात्मन् ! हे पृथुलोचन ! इस विश्वके प्रभव (उत्पत्ति—सृष्टिके कारण) विष्णु ! आपकी वृद्धि हो—जय हो ॥ २८–३१ ॥

लोमहर्षण उवाच

एवं स्तुतो हृषीकेशः स तदा वामनाकृतिः । प्रहस्य भावगम्भीरमुवाचारूढसम्पदम् ॥ ३२ ॥
स्तुतोऽहं भवता पूर्वमिन्द्राद्यैः कश्यपेन च । मया च वः प्रतिज्ञातमिन्द्रस्य भुवनत्रयम् ॥ ३३ ॥
भूयश्चाहं स्तुतोऽदित्या तस्याश्चापि मया श्रुतम् । यथा शक्राय दास्यामि त्रैलोक्यं हतकण्टकम् ॥ ३४ ॥
सोऽहं तथा करिष्यामि यथेन्द्रो जगतः पतिः । भविष्यति सहस्राक्षः सत्यमेतद् ब्रवीमि वः ॥ ३५ ॥

लोमहर्षणने कहा—इस प्रकार जब वामनरूपमें अवतीर्ण भगवान्‌की स्तुति सम्पन्न हुई, तब हृषीकेश भगवान् हँसकर अभिप्रायपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त वाणीमें बोले—पूर्वकालमें आपने, इन्द्र आदि देवों तथा कश्यपने मेरी स्तुति की थी । मैंने भी आप लोगोंसे इन्द्रके लिये त्रिभुवनको देनेकी प्रतिज्ञा की थी । इसके बाद अदितिने मेरी स्तुति की तो उससे भी मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं बाधाओंसे रहित तीनों लोकोंको इन्द्रको दूँगा । अतः मैं ऐसा करूँगा कि जिससे हजारों नेत्रोंवाले (इन्द्र) संसारके स्वामी होंगे । मेरा यह कथन सत्य है ॥ ३२–३५ ॥

ततः कृष्णाजिनं ब्रह्मा हृषीकेशाय दत्तवान् । यज्ञोपवीतं भगवान् ददौ तस्य बृहस्पतिः ॥ ३६ ॥
आषाढमददाद् दण्डं मरीचिर्ब्रह्मणः सुतः ।
कमण्डलुं वसिष्ठश्च कौशं चीरमथाङ्गिराः । आसनं चैव पुलहः पुलस्त्यः पीतवाससी ॥ ३७ ॥
उपतस्थुश्च तं वेदाः प्रणवस्वरभूषणाः । शास्त्राण्यशेषाणि तथा सांख्ययोगोक्तयश्च याः ॥ ३८ ॥
स वामनो जटी दण्डी छत्री धृतकमण्डलुः । सर्वदेवमयो देवो बलेरध्वरमभ्यगात् ॥ ३९ ॥

लोमहर्षण उवाच

अदितिर्वरमासाद्य सर्वकामसमृद्धिदम् । क्रमेण ह्युदरे देवो वृद्धिं प्राप्तो महायशाः ॥ १२ ॥
ततो मासेऽथ दशमे काले प्रसव आगते । अजायत स गोविन्दो भगवान् वामनाकृतिः ॥ १३ ॥
अवतीर्णे जगन्नाथे तस्मिन् सर्वामरेश्वरे । देवाश्च मुमुचुर्दुःखं देवमाताऽदितिस्तथा ॥ १४ ॥
ववुर्वाता सुखस्पर्शा नीरजस्कमभून्नभः । धर्मे च सर्वभूतानां तदा मतिरजायत ॥ १५ ॥
नोद्वेगश्चाप्यभूद् देहे मनुजानां द्विजोत्तमाः । तदा हि सर्वभूतानां धर्मे मतिरजायत ॥ १६ ॥
तं जातमात्रं भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः । जातकर्मादिकाः कृत्वा क्रियाः तुष्टाव च प्रभुम् ॥ १७ ॥

लोमहर्षणने कहा—(उपर) अदितिने सभी कामनाओंकी समृद्धि करनेवाले वरको प्राप्त कर लिया। उसके उदरमें महायशस्वी देव (भगवान्) धीरे-धीरे बढ़ने लगे। इसके बाद दसवें महीनेमें जब प्रसवका समय आया तब भगवान् गोविन्द वामनाकारमें उत्पन्न हो गये। संसारके स्वामी उन अखिलेश्वरके अवतार लेनेपर देवता और देवमाता अदिति दुःखसे मुक्त हो गये। फिर तो (संसारमें) आनन्ददायी वायु बहने लगी, गगनमण्डल बिना धूलिका (स्वच्छ) हो गया एवं सभी जीवोंकी बुद्धि धर्म करनेमें लग गयी। द्विजोत्तमो! उस समय मनुष्योंकी देहमें कोई घबड़ाहट नहीं थी और तब समस्त प्राणियोंकी बुद्धि धर्ममें लग गयी। उनके उत्पन्न होते ही लोकपितामह ब्रह्माने उनकी तत्काल जातकर्म आदि क्रिया (संस्कार) सम्पन्न करके उन प्रभुकी स्तुति की ॥ १२–१७ ॥

ब्रह्मोवाच

जयाधीश जयाजेय जय विश्वगुरो हरे । जन्ममृत्युजरातीत जयानन्त जयाच्युत ॥ १८ ॥
जयाजित जयाशेष जयाव्यक्तस्थिते जय । परमार्थार्थ सर्वज्ञ ज्ञानज्ञेयार्थनिःसृत ॥ १९ ॥
जयाशेष जगत्साक्षिञ्जगत्कर्तर्जगद्गुरो । जगतोऽजगदन्तेश स्थितौ पालयते जय ॥ २० ॥
जयाखिल जयाशेष जय सर्वहृदिस्थित । जयादिमध्यान्तमय सर्वज्ञानमयोत्तम ॥ २१ ॥
मुमुक्षुभिरनिर्देश्य नित्यहृष्ट जयेश्वर । योगिभिर्मुक्तिकामैस्तु दमादिगुणभूषण ॥ २२ ॥

ब्रह्मा बोले—अधीश! आपकी जय हो। अजेय! आपकी जय हो। विश्वके गुरु हरि! आपकी जय हो। जन्म-मृत्यु तथा जरासे अतीत अनन्त! आपकी जय हो। अच्युत! आपकी जय हो। अजित! आपकी जय हो। अशेष! आपकी जय हो। अव्यक्त स्थितिवाले भगवन्! आपकी जय हो। परमार्थकी (उत्तम अभिप्रायकी) पूर्तिमें निमित्त! ज्ञान और ज्ञेयके अर्थके उत्पादक सर्वज्ञ! आपकी जय हो। अशेष जगत्‌के साक्षी! जगत्‌के कर्ता! जगद्गुरु! आपकी जय हो। जगत् (चर) एवं अजगत् (अचर) की स्थिति, पालन एवं प्रलयके स्वामी! आपकी जय हो। अखिल! आपकी जय हो। अशेष! आपकी जय हो। सबीके हृदयमें रहनेवाले प्रभो! आपकी जय हो। आदि, मध्य और अन्तस्वरूप! समस्त ज्ञानकी मूर्ति, उत्तम! आपकी जय हो। हे मुमुक्षुओंके द्वारा अनिर्देश्य, नित्य प्रसन्न ईश्वर! आपकी जय हो। हे मुक्तिकी कामना करनेवाले योगियोंसे सेवित, दम आदि गुणोंसे विभूषित परमेश्वर! आपकी जय हो ॥ १८–२२ ॥

जयातिसूक्ष्म दुर्ज्ञेय जय स्थूल जगन्मय । जय सूक्ष्मातिसूक्ष्म त्वं जयानिन्द्रिय सेन्द्रिय ॥ २३ ॥
जय स्वमायायोगस्थ शेषभोग जयाक्षर । जयैकदंष्ट्रप्रान्तेन समुद्धृतवसुंधर ॥ २४ ॥
नृकेसरिन् सुरारातिवक्षःस्थलविदारण । साम्प्रतं जय विश्वात्मन् मायावामन केशव ॥ २५ ॥
निजमायापरिच्छिन्न जगद्धातर्जनार्दन । जयाचिन्त्य जयानेकस्वरूपैकविध प्रभो ॥ २६ ॥
वर्द्धस्व वर्धितानेकविकारप्रकृते हरे । त्वय्येषा जगतामीशे संस्थिता धर्मपद्धतिः ॥ २७ ॥

हे अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपवाले ! हे दुर्ज्ञेय (कठिनतासे समझमें आनेवाले) ! आपकी जय हो । हे स्थूल और जगन्‌-मूर्ति ! आपकी जय हो । हे सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रभो ! आपकी जय हो । हे इन्द्रियोंसे रहित तथा इन्द्रियोंसे युक्त (नाथ) ! आपकी जय हो । हे अपनी मायासे योगमें स्थित रहनेवाले (स्वामी) ! आपकी जय हो । हे शेषकी शय्यापर सोनेवाले अविनाशी शेषशायी प्रभो ! आपकी जय हो । हे एक दाँतके कोनेपर पृथ्वीको उठानेवाले वराहरूपधारी भगवन् ! आपकी जय हो । हे देवताओंके शत्रु (हिरण्यकशिपु)के वक्षःस्थलको विदीर्ण करनेवाले नृसिंह भगवान् तथा विश्वकी आत्मा एवं अपनी मायासे वामनका रूप धारण करनेवाले केशव ! आपकी जय हो । हे अपनी मायासे आवृत तथा संसारको धारण करनेवाले परमेश्वर ! आपकी जय हो । हे चिन्तन करनेसे परे अनेक स्वरूप धारण करनेवाले तथा एकविध प्रभो ! आपकी जय हो । हरे ! आपने प्रकृतिके भाँति-भाँतिके विकार बढ़ाये हैं । आपकी वृद्धि हो । जगत्‌की यह धर्मप्रणाली आप प्रभुमें स्थित है ॥ २३–२७ ॥

न त्वामहं न चेशानो नेन्द्राद्यास्त्रिदशा हरे । ज्ञातुमीशा न मुनयः सनकाद्या न योगिनः ॥ २८ ॥
त्वं मायापटसंवीतो जगत्यत्र जगत्पते । कस्त्वां वेत्स्यति सर्वेश त्वत्प्रसादं विना नरः ॥ २९ ॥
त्वमेवाराधितो यस्य प्रसादसुमुखः प्रभो । स एव केवलं देव वेत्ति त्वां नेतरो जनः ॥ ३० ॥
तदीश्वरेश्वरेशान विभो वर्द्धस्व भावन । प्रभवायास्य विश्वस्य विश्वात्मन् पृथुलोचन ॥ ३१ ॥

हे हरे ! मैं, शंकर, इन्द्र आदि देव, सनकादि मुनि तथा योगिगण आपको जाननेमें असमर्थ हैं । हे जगत्पते ! आप इस संसारमें मायारूपी वस्त्रसे ढके हैं । हे सर्वेश ! आपकी प्रसन्नताके बिना कौन ऐसा मनुष्य है जो आपको जान सके । प्रभो ! जो मनुष्य आपकी आराधना करता है और आप उसपर प्रसन्न होते हैं, वही आपको जानता है, अन्य नहीं । हे ईश्वरोंके भी ईश्वर ! हे ईशान ! हे विभो ! हे भावन ! हे विश्वात्मन् ! हे पृथुलोचन ! इस विश्वके प्रभव (उत्पत्ति—सृष्टिके कारण) विष्णु ! आपकी वृद्धि हो—जय हो ॥ २८–३१ ॥

लोमहर्षण उवाच

एवं स्तुतो हृषीकेशः स तदा वामनाकृतिः । प्रहस्य भावगम्भीरमुवाचारूढसम्पदम् ॥ ३२ ॥
स्तुतोऽहं भवता पूर्वमिन्द्राद्यैः कश्यपेन च । मया च वः प्रतिज्ञातमिन्द्रस्य भुवनत्रयम् ॥ ३३ ॥
भूयश्चाहं स्तुतोऽदित्या तस्याश्चापि मया श्रुतम् । यथा शक्राय दास्यामि त्रैलोक्यं हतकण्टकम् ॥ ३४ ॥
सोऽहं तथा करिष्यामि यथेन्द्रो जगतः पतिः । भविष्यति सहस्राक्षः सत्यमेतद् ब्रवीमि वः ॥ ३५ ॥

लोमहर्षणने कहा—इस प्रकार जब वामनरूपमें अवतीर्ण भगवान्‌की स्तुति सम्पन्न हुई, तब हृषीकेश भगवान् हँसकर अभिप्रायपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त वाणीमें बोले—पूर्वकालमें आपने, इन्द्र आदि देवों तथा कश्यपने मेरी स्तुति की थी । मैंने भी आप लोगोंसे इन्द्रके लिये त्रिभुवनको देनेकी प्रतिज्ञा की थी । इसके बाद अदितिने मेरी स्तुति की तो उससे भी मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं बाधाओंसे रहित तीनों लोकोंको इन्द्रको दूँगा । अतः मैं ऐसा करूँगा कि जिससे हजारों नेत्रोंवाले (इन्द्र) संसारके स्वामी होंगे । मेरा यह कथन सत्य है ॥ ३२–३५ ॥

ततः कृष्णाजिनं ब्रह्मा हृषीकेशाय दत्तवान् । यज्ञोपवीतं भगवान् ददौ तस्य बृहस्पतिः ॥ ३६ ॥
आषाढमददाद् दण्डं मरीचिर्ब्रह्मणः सुतः ।
कमण्डलुं वसिष्ठश्च कौशं चीरमथाङ्गिराः । आसनं चैव पुलहः पुलस्त्यः पीतवाससी ॥ ३७ ॥
उपतस्थुश्च तं वेदाः प्रणवस्वरभूषणाः । शास्त्राण्यशेषाणि तथा सांख्ययोगोक्तयश्च याः ॥ ३८ ॥
स वामनो जटी दण्डी छत्री धृतकमण्डलुः । सर्वदेवमयो देवो बलेरध्वरमभ्यगात् ॥ ३९ ॥

(हृषीकेश भगवान्‌के इस प्रकार अपने वचनकी सत्यता घोषित करनेके बाद) ब्रह्माने हृषीकेशको एक मृगचर्म समर्पित किया एवं भगवान् बृहस्पतिने उन्हें यज्ञोपवीत दिया। ब्रह्मपुत्र मरीचिने उन्हें पलाशदण्ड, वसिष्ठने कमण्डलु और अङ्गिराने रेशमी वस्त्र दिया। पुलहने आसन तथा पुलस्त्यने दो पीले वस्त्र दिये। ओंकारके स्वरसे अलङ्कृत वेद, सभी शास्त्र तथा सांख्ययोग आदि दर्शनोंकी उक्तियाँ उनका उपस्थान करने लगीं। सभी देवताओंके मूर्तिरूप वामनभगवान् जटा, दण्ड, छत्र एवं कमण्डलु धारण करके बलिकी यज्ञभूमिमें पधारे॥३६-३९॥

यत्र यत्र पदं विप्रा भूभागे वामनो ददौ। ददाति भूमिर्विवरं तत्र तत्राभिपीडिता ॥ ४० ॥
स वामनो जडगतिर्मृदु गच्छन् सपर्वताम्। साब्धिद्वीपवतीं सर्वां चालयामास मेदिनीम् ॥ ४१ ॥
बृहस्पतिस्तु शनकैर्मार्गं दर्शयते शुभम्। तथा क्रीडाविनोदार्थमतिजाड्यगतोऽभवत् ॥ ४२ ॥
ततः शेषो महानागो निःसृत्यासौ रसातलात्। साहाय्यं कल्पयामास देवदेवस्य चक्रिणः ॥ ४३ ॥
तदद्यापि च विख्यातमहेर्बिलमनुत्तमम्। तस्य सन्दर्शनादेव नागेभ्यो न भयं भवेत् ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

ब्राह्मणो! पृथ्वीपर वामन भगवान् जिस जिस स्थानपर डग रखते थे, वहाँकी दबी हुई भूमिमें दरार पड़ जाता या गड्ढा हो जाता था। मधुरभावसे धीरे धीरे चलते हुए वामनभगवान्‌ने समुद्रों, द्वीपों तथा पर्वतोंसे युक्त सारी पृथ्वीको कँपा दिया। बृहस्पति भी शनैः-शनैः उन्हें सारे कल्याणकारी मार्गोंको दिखाने लगे एवं स्वयं भी क्रीडापूर्ण मनोरञ्जनके लिये अत्यन्त धीरे-धीरे चलने लगे। उसके बाद महानाग शेष रसातलसे ऊपर आकर देवदेव चक्रधारी भगवान्‌की सहायता करने लगे। आज भी यह श्रेष्ठ सर्पोंका बिल विख्यात है और उसके दर्शनमात्रसे नागोंसे भय नहीं होता ॥ ४०-४४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

[अथैकत्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

सपर्वतवनामुर्वीं दृष्ट्वा संक्षुभितां बलिः। पप्रच्छोशनसं शुक्रं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १ ॥
आचार्य क्षोभमायाति साब्धिभूमिधरा मही। कस्मान्नासुरान् भागान् प्रतिगृह्णन्ति वह्नयः ॥ २ ॥
इति पृष्टोऽथ बलिना काव्यो वेदविदां वरः। उवाच दैत्याधिपतिं चिरं ध्यात्वा महामतिः ॥ ३ ॥
अवतीर्णो जगद्योनिः कश्यपस्य गृहे हरिः। वामनेनेह रूपेण परमात्मा सनातनः ॥ ४ ॥

इकतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामनद्वारा तीन पग भूमिकी याचना तथा विराट्‌रूपसे तीनों लोकोंको तीन पगमें नाप लेना और बलिका पातालमें जाना)

लोमहर्षण बोले—बलिने वनों और पर्वतोंके साथ सम्पूर्ण पृथ्वीको क्षोभसे भरी देखकर हाथ जोड़ करके शुक्राचार्यको प्रणाम कर पूछा—आचार्यदेव! समुद्र तथा पर्वतोंके साथ पृथ्वीके क्षुब्ध होनेका क्या कारण है और अग्निदेव असुरोंके भागोंको क्यों नहीं ग्रहण कर रहे हैं? बलिके इस प्रकार प्रश्न करनेपर वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् शुक्राचार्यने चिरकालतक ध्यान लगाकर (और तथ्य समझकर) दैत्येन्द्रसे कहा—कश्यपके घरमें जगद्योनि—संसारको उत्पन्न करनेवाले सनातन परमात्मा वामनके रूपमें अवतीर्ण हो गये हैं ॥ १-४ ॥

स नूनं यज्ञमायाति तव दानवपुंगव । तत्पादन्यासविक्षोभादियं प्रचलिता मही ॥ ५ ॥
कम्पन्ते गिरयश्चेमे क्षुभिता मकरालयाः । नेयं भूतपतिं भूमिः समर्था वोढुमीश्वरम् ॥ ६ ॥
सदेवासुरगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
अनेनैव धृता भूमिरापोऽग्निः पवनो नभः । धारयत्यखिलान् देवान् मनुष्यांश्च महासुरान् ॥ ७ ॥
इयमस्य जगद्धातुर्माया कृष्णस्य गह्वरी । धार्यधारकभावेन यया संपीडितं जगत् ॥ ८ ॥

दानवश्रेष्ठ ! वे ही प्रभु तुम्हारे यज्ञमें आ रहे हैं । उन्हींके पैर रखनेसे पृथ्वीमें विक्षोभ हो रहा है जिससे यह पृथ्वी काँप रही है, ये पर्वत भी काँप रहे हैं और सिन्धुमें जोरोंकी लहरें उठ रही हैं । इस भूमिमें उन भूतपति भगवान्को वहन करनेकी शक्ति नहीं है । ये ही (परमात्मा) देव, असुर, गन्धर्व, देवों, मनुष्यों एवं महासुरोंको धारण करते हैं । जगत्को धारण करनेवाले भगवान् कृष्णकी ही यह गम्भीर (अचिन्त्य) माया है, जिस मायाके द्वारा यह संसार धार्यधारकभावसे क्षुब्ध हो रहा है ॥ ५–८ ॥

तत्संनिधानादसुरा न भागार्हाः सुरद्विषः । भुञ्जते नासुरान् भागानपि तेन त्रयोऽग्नयः ॥ ९ ॥
शुक्रस्य वचनं श्रुत्वा हृष्टरोमाऽब्रवीद् बलिः ।
धन्योऽहं कृतपुण्यश्च यन्मे यज्ञपतिः स्वयम् । यज्ञमभ्यागतो ब्रह्मन् मत्तः कोऽन्योऽधिकः पुमान् ॥ १० ॥
यं योगिनः सदोद्युक्ताः परमात्मानमव्ययम् ।
द्रष्टुमिच्छन्ति देवोऽसौ ममाध्वरमुपेष्यति । यन्मयाचार्य कर्तव्यं तन्ममादेष्टुमर्हसि ॥ ११ ॥

उनके संनिधान होनेके कारण देवताओंके शत्रु दैत्यलोग यज्ञ-भाग पानेके योग्य नहीं रह गये हैं, अतएव तीनों अग्निदेव भी असुरोंके भागको नहीं ले रहे हैं । शुक्राचार्यकी बात सुननेके बाद बलिके रोंगटे खड़े हो गये । उसके बाद बलिने (शुक्राचार्यसे) कहा—ब्रह्मन् ! मैं धन्य एवं कृतकृत्य हो गया, जो स्वयं यज्ञके अधिपति भगवान् लगातार मेरे यज्ञमें पधार रहे हैं । कौन दूसरा पुरुष मुझसे श्रेष्ठ है ? सदैव सावधान रहनेवाले योगीलोग जिन नित्य परमात्माको देखना चाहते हैं, वे ही देव मेरे यज्ञमें (कृपाकर) पधार रहे हैं । आचार्य ! मुझे जो करना चाहिये, उसे आप आदिष्ट कीजिये ॥ ९–११ ॥

शुक्र उवाच

यज्ञभागभुजो देवा वेदप्रामाण्यतोऽसुर । त्वया तु दानवा दैत्य यज्ञभागभुजः कृताः ॥ १२ ॥
अयं च देवः सत्त्वस्थः करोति स्थितिपालनम् । विसृष्टं च तथाऽयं च स्वयमत्ति प्रजाः प्रभुः ॥ १३ ॥
भवांस्तु बन्दी भविता नूनं विष्णुः स्थितौ स्थितः । विदित्वैवं महाभाग कुरु यत् ते मनोगतम् ॥ १४ ॥
त्वयाऽस्य दैत्याधिपते स्वल्पकेऽपि हि वस्तुनि । प्रतिज्ञा नैव वोढव्या वाच्यं साम तथाऽफलम् ॥ १५ ॥
कृतकृत्यस्य देवस्य देवार्थं चैव कुर्वतः ।
अलं दद्या धनं देवे त्वेतद्वाच्यं तु याचतः । कृष्णस्य देवभूत्यर्थं प्रवृत्तस्य महासुर ॥ १६ ॥

शुक्राचार्य बोले—असुर ! वेदोंका विधान है कि यज्ञभागके भोक्ता देवता हैं ; परंतु दैत्य ! तुमने यज्ञभागका भोक्ता दानवोंको बना दिया है । (यह वेद विधानके विपरीत किया है—विधानका उल्लङ्घन किया है ।) ये ही देव सत्त्वगुणका आश्रय लेकर विश्वकी स्थिति और पालन करते हैं और ये ही सृष्टि भी करते हैं फिर ये ही प्रभु स्वयं प्रजाका (जीवोंका) अन्त भी करते हैं । विष्णु स्थितिके कार्यमें (कल्याणमय मर्यादाके स्थापनमें) तत्पर हो गये हैं । अतः आपको निश्चय ही बन्दी होना है । महाभाग ! इसपर विचारकर तुम्हारे मनमें जैसी इच्छा हो वैसा करो । दैत्यपते ! (देवता) तुम थोड़ी-सी भी वस्तु देनेके लिये उनसे प्रतिज्ञा मत करना ।

-यर्यकी कोमल और मधुर बातें करना। महासुर! कृतकृत्य, एव देवताओंका कार्य पूरा करनेवाले तथा देवताओंके एकके लिये प्रयत्नशील भगवान् श्रीकृष्णके याचना करनेपर 'मैं देवताओंके हेतु पर्याप्त धन दूँगा' ऐसा कहना ॥१२-१६॥

बलिरुवाच

ब्रह्मन् कथमहं ब्रूयामन्येनापि हि याचितः। नास्तीति किमु देवस्य संसारस्याघहारिणः ॥१७॥
व्रतोपवासैर्विविधैर्यः प्रभुर्गृह्यते हरिः। स मे वक्ष्यति देहीति गोविन्दः किमतोऽधिकम् ॥१८॥
यदर्थं सुमहारम्भा दमशौचगुणान्वितैः। यज्ञाः क्रियन्ते यज्ञेशः स मे देहीति वक्ष्यति ॥१९॥
तत्साधु सुकृतं कर्म तपः सुचरितं च नः। यन्मां देहीति विश्वेशः स्वयमेव वदिष्यति ॥२०॥

बलि बोले—ब्रह्मन्! मैं दूसरोंके याचना करनेपर भी 'नहीं है'—ऐसा कैसे कह सकता हूँ? फिर संसारके पापोंको दूर करनेवाले (उन) देवसे कहनेकी तो बात ही क्या है? विविध प्रकारके व्रतों एवं उपवासोंसे जो परमेश्वर ग्रहण किये जाने योग्य हैं, वे ही गोविन्द मुझसे 'दो' इस प्रकार कहेंगे तो इससे बढ़कर (मेरे लिये) और (भाग्य) क्या हो सकता है? जिनके लिये दम-शमादि शौच—भीतरी-बाहरी पवित्रता आदि गुणोंसे युक्त लोग यज्ञीय उपकरणों एवं सम्पत्तियोंको लगाकर यज्ञ करते हैं, वे ही यज्ञेश (यज्ञके स्वामी) यदि मुझसे 'दो' इस प्रकार कहेंगे तो मेरे किये हुए सभी कर्म सफल हो गये और हमारा तपश्चरण भी सफल हो गया, क्योंकि विश्वके स्वामी स्वयं मुझसे 'दो'—इस तरह कहेंगे ॥ १७–२० ॥

नास्तीत्यहं गुरो वक्ष्ये तमभ्यागतमीश्वरम्। प्राणत्यागं करिष्येऽहं न तु नास्ति जने क्वचित् ॥२१॥
नास्तीति यन्मया नोक्तमन्येषामपि याचताम्। वक्ष्यामि कथमायाते तदद्य चामरेऽच्युते ॥२२॥
श्लाघ्य एव हि वीराणां दानाच्चापत्समागमः। न बाधाकारि यद्दानं तदङ्ग बलवत् स्मृतम् ॥२३॥
मद्राज्ये नासुखी कश्चिन्न दरिद्रो न चातुरः। न दुःखितो न चोद्विग्नो न शमादिविवर्जितः ॥२४॥
हृष्टस्तुष्टः सुगन्धी च तृप्तः सर्वसुखान्वितः। जनः सर्वो महाभाग किमुताहं सदा सुखी ॥२५॥

गुरुदेव! क्या अपने यहाँ (याचकरूपमें) आये उन परमेश्वरसे 'नहीं है'—मैं ऐसा कहूँ? (यह तो उचित नहीं जँचता है) भले ही प्राणोंका त्याग कर दूँगा, किंतु अन्य भी याचक मनुष्यसे 'नहीं है'—यह नहीं कह सकता। दूसरोंके भी याचना करनेपर जब मैंने 'नहीं है'—ऐसा नहीं कहा तो आज अपने यहाँ स्वयं पूर्ण परमेश्वरके आ जानेपर मैं यह कैसे कहूँगा कि 'नहीं है'? दानके कारण यदि कठिनाई आती है तो उसे वीर पुरुष प्रशंसनीय ही मानते हैं। क्योंकि दानका महत्त्व उससे और बढ़ जाता है। गुरो! (हाँ, साधारणतया यह समझा जाता है कि—) जो दान बाधा डालनेवाला नहीं होता, वह निःसन्देह बलवान् कहा गया है। (पर ऐसा प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि) मेरे राज्यमें ऐसा कोई भी नहीं है जो सुखी न हो और न कोई रोगी या दुःखी ही है, न कोई किसीके द्वारा उद्विग्न किया गया है और न कोई शम आदि गुणोंसे रहित है। महाभाग! सभी लोग हृष्ट, तुष्ट, पुण्यात्मा सर्वप्रकारसे तृप्त एवं सुखी हैं। अधिक क्या है? मैं तो सदा सुखी हूँ ॥ २१–२५ ॥

एतद्विशिष्टमत्राहं दानबीजफलं लभे। विदितं मुनिशार्दूल मयैतत् त्वन्मुखाच्छ्रुतम् ॥२६॥
मत्प्रसादपरो नूनं यज्ञेनाराधितो हरिः। मम दानमवाप्यासौ पुष्णाति यदि देवताः ॥२७॥
एतद्दानवरे दानबीजं पतति चेद् गुरो। जनार्दने महापात्रे किं न प्राप्तं ततो मया ॥२८॥
विशिष्टं मम तद्दानं परितुष्टाश्च देवताः। उपभोगाच्छतगुणं दानं सुखकरं स्मृतम् ॥२९॥

भगवान् मायावामनका यज्ञवाटमें पूजन

मुनिशार्दूल ! आपके मुखसे सुनकर मुझे यह मालूम हो गया कि मैं यहाँपर विशिष्ट दानरूपी बीजका शुभ फल प्राप्त कर रहा हूँ। वे हरि यदि मुझसे दान लेकर देवताओंकी पुष्टि करते हैं तो यज्ञसे आराधित वे (हरि) मुझपर निश्चय ही प्रसन्न हैं। यदि श्रेष्ठ बीज (एवं दान) महान् (योग्य) पात्र, पूज्य जनार्दनको मिल गया तो फिर मुझे क्या नहीं मिला ? निश्चय ही मेरा यह दान विशिष्ट गुणोंवाला है और देवता मेरे ऊपर प्रसन्न हैं। दानके उपभोगकी अपेक्षा दान देना सौ-गुना सुख देनेवाला माना गया है ॥ २६–२९ ॥

मत्प्रसादपरो नूनं यज्ञेनाराधितो हरिः । तेनाभ्येति न संदेहो दर्शनादुपकारकृत् ॥ ३० ॥
अथ कोपेन चाभ्येति देवभागोपरोधतः । मां निहन्तुं ततो हि स्याद् वधः श्लाघ्यतरोऽच्युतात् ॥ ३१ ॥
एतज्ज्ञात्वा मुनिश्रेष्ठ दानविघ्नकरेण मे । नैव भाव्यं जगन्नाथे गोविन्दे समुपस्थिते ॥ ३२ ॥

यज्ञसे पूजे गये श्रीहरि निश्चय ही मेरे ऊपर प्रसन्न हैं। तभी तो निस्संदेह मुझे दर्शन देकर मेरा कल्याण करनेवाले वे प्रभु आ रहे हैं, निश्चय ही यही बात है। देवताओंके देवभागकी प्राप्तिमें रुकावट होनेके कारण यदि वे क्रोधवश मेरा वध करने भी आ रहे हों तो भी उन अच्युतसे होनेवाला मेरा वध भी प्रशंसनीय ही होगा। मुनिश्रेष्ठ ! यह समझकर गोविन्दके यहाँ समुपस्थित होनेपर आप मेरे दानमें विघ्न न डालें ॥ ३०–३२ ॥

लोमहर्षण उवाच

इत्येवं वदतस्तस्य प्राप्तस्तत्र जनार्दनः । सर्वदेवमयोऽचिन्त्यो मायावामनरूपधृक् ॥ ३३ ॥
तं दृष्ट्वा यज्ञवाटं तु प्रविष्टमसुराः प्रभुम् । जग्मुः प्रभावतः क्षोभं तेजसा तस्य निष्प्रभाः ॥ ३४ ॥
जेपुश्च मुनयस्तत्र ये समेता महाध्वरे । वसिष्ठो गाधिजो गर्गो अन्ये च मुनिसत्तमाः ॥ ३[५] ॥
बलिश्चैवाखिलं जन्म मेने सफलमात्मनः । ततः संक्षोभमापन्नो न कश्चित् किंचिदुक्तवान् ॥ ३६ ॥

लोमहर्षण बोले—जिस समय शुक्राचार्य और बलिमें इस प्रकार बात हो रही थी उसी समय सर्वदेवमय, अचिन्त्य भगवान् अपनी मायासे अपना वामनरूप धारण करके वहाँ पहुँच गये। उन प्रभुको यज्ञस्थानमें उपस्थित देखकर दैत्यलोग उनके प्रभावसे अशान्त और तीव्र तेजसे रहित हो गये। उस महायज्ञमें एकत्र (उपस्थित) वसिष्ठ, विश्वामित्र, गर्ग एवं अन्य श्रेष्ठ मुनिजन अपना-अपना जप करने लगे। बलिने भी अपने सम्पूर्ण जन्मको सफल माना, किंतु उसके बाद (इधर) खलबली मच गयी और संक्षुब्ध होनेके कारण किसीने कुछ भी नहीं कहा ॥ ३३–३६ ॥

प्रत्येकं देवदेवेशं पूजयामास तेजसा । अथासुरपतिं प्रह्वं दृष्ट्वा मुनिवरांश्च तान् ॥ ३७ ॥
देवदेवपतिः साक्षाद् विष्णुर्वामनरूपधृक् ।
तुष्टाव यज्ञं वह्निं च यजमानमथार्चितः । यज्ञकर्माधिकारस्थान् सदस्यान् द्रव्यसम्पदम् ॥ ३८ ॥
सदस्याः पात्रमखिलं वामनं प्रति तत्क्षणात् । यज्ञवाटस्थितं विप्राः साधु साध्वित्युदीरयन् ॥ ३९ ॥
स चार्घमादाय बलिः प्रोद्भूतपुलकस्तदा । पूजयामास गोविन्दं प्राह चेदं महासुरः ॥ ४० ॥

उनके देदीप्यमान तेजके कारण प्रत्येकने देवाधिदेवकी पूजा की। उसके बाद वामनरूपमें प्रत्यक्ष प्रकट हुए विष्णु भगवान्ने लोगोंसे पूजित होनेके बाद एक दृष्टिसे (चारों ओर देखकर) उन विनम्र दैत्यपति एवं मुनिवरोंको देखा तथा यज्ञ, अग्नि, यजमान, यज्ञकर्ममें अधिकृत सदस्यों एवं द्रव्यकी सामग्रियोंकी प्रशंसा की। हे विप्रो ! तत्काल ही सभी सदस्यगण यज्ञमण्डपमें उपस्थित पात्रस्वरूप वामनके प्रति 'साधु-साधु' कहने लगे। उस समय हर्षसे विह्वल होकर महासुर बलिने अर्घ लिया और गोविन्दकी पूजा की तथा उनसे यह कहा ॥ ३७–४० ॥

बलिरुवाच

सुवर्णरत्नसंघातो गजाश्वसमितिस्तथा। स्त्रियो वस्त्राण्यलंकारान् गावो ग्रामाश्च पुष्कलाः ॥ ४१ ॥
सर्वे च सकला पृथ्वी भवतो वा यदीप्सितम्। तद् ददामि वृणुष्वेष्टं ममार्थाः सन्ति ते प्रियाः ॥ ४२ ॥

बलिने कहा—(वामनदेव !) अनन्त सुवर्ण और रत्नोंके ढेर तथा हाथी, घोड़े, स्त्रियाँ, वस्त्र, आभूषण, और ग्रामसमूह—ये सभी वस्तुएँ, समस्त पृथ्वी अथवा आपकी जो अभिलाषा हो वह मैं देता हूँ। आप अपनी इच्छा बतलायें। मेरे प्रिय लगनेवाले समस्त अर्थ आपके लिये हैं ॥ ४१-४२ ॥

इत्युक्तो दैत्यपतिना प्रीतिगर्भान्वितं वचः। प्राह सस्मितगम्भीरं भगवान् वामनाकृतिः ॥ ४३ ॥
ममाग्निशरणार्थाय देहि राजन् पदत्रयम्। सुवर्णग्रामरत्नादि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥

दैत्यपति बलिके इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक उदार वचन कहनेपर वामनका आकार धारण करनेवाले भगवान् हँसते हुए दुर्बोध वाणीमें कहा—राजन् ! मुझे अग्निशालाके लिये तीन पग (भूमि) दें। सुवर्ण, ग्राम एवं रत्न आदि उनकी इच्छा रखनेवाले याचकोंको प्रदान करें ॥ ४३-४४ ॥

बलिरुवाच

त्रिभिः प्रयोजनं किं ते पदैः पदवतां वर। शतं शतसहस्रं वा पदानां मार्गतां भवान् ॥ ४५ ॥

बलिने कहा—हे पदधारियोंमें श्रेष्ठ ! तीन पग भूमिसे आपका कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होगा। सौ या सौ हजार पग भूमि आप माँगिये ॥ ४५ ॥

श्रीवामन उवाच

एतावता दैत्यपते कृतकृत्योऽस्मि मार्गणे। अन्येषामर्थिनां वित्तमिच्छया दास्यते भवान् ॥ ४६ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु गदितं वामनस्य महात्मनः। वाचयामास वै तस्मै वामनाय महात्मने ॥ ४७ ॥
पाणौ तु पतिते तोये वामनोऽभूदवामनः। सर्वदेवमयं रूपं दर्शयामास तत्क्षणात् ॥ ४८ ॥
चन्द्रसूर्यौ तु नयने द्यौः शिरश्चरणौ क्षितिः। पादाङ्गुल्यः पिशाचास्तु हस्ताङ्गुल्यश्च गुह्यकाः ॥ ४९ ॥

श्रीवामनने कहा—हे दैत्यपते ! मैं इतना पानेसे ही कृतकृत्य हूँ। (मेरा स्वार्थ इतनेसे ही सिद्ध हो जायगा) आप दूसरे याचना करनेवाले याचकोंको उनके इच्छानुकूल दान दीजियेगा। महात्मा वामनकी वाणी सुनकर (बलिने) उन महात्मा वामनको तीन पग भूमि देनेके लिये वचन दे दिया। दान देनेके लिये हाथपर जल गिरते ही वामन अवामन (विराट्) बन गये। तत्क्षण उन्होंने उन्हें अपना सर्वदेवमय रूप दिखाया। चन्द्र और सूर्य उनके दोनों नेत्र, आकाश सिर, पृथ्वी दोनों चरण, पिशाच पैरकी अँगुलियाँ एवं गुह्यक हाथोंकी अँगुलियाँ थे ॥ ४६-४९ ॥

विश्वेदेवाश्च जानुस्था जङ्घे साध्याः सुरोत्तमाः। यक्षा नखेषु सम्भूता रेखास्वप्सरसस्तथा ॥ ५० ॥
दृष्टिर्ऋक्षाण्यशेषाणि केशाः सूर्यांशवः प्रभो। तारका रोमकूपाणि रोमेषु च महर्षयः ॥ ५१ ॥
बाहवो विदिशस्तस्य दिशः श्रोत्रे महात्मनः। अश्विनौ श्रवणे तस्य नासा वायुर्महात्मनः ॥ ५२ ॥
प्रसादे चन्द्रमा देवो मनो धर्मः समाश्रितः। सत्यमस्याभवद् वाणी जिह्वा देवी सरस्वती ॥ ५३ ॥

जानुओंमें विश्वेदेवगण, दोनों जङ्घाओंमें सुरश्रेष्ठ साध्यगण, नखोंमें यक्ष एवं रेखाओंमें अप्सराएँ थीं। समस्त नक्षत्र उनकी दृष्टियाँ, सूर्यकिरणें प्रभुके केश, तारकाएँ उनके रोमकूप एवं महर्षिगण रोमोंमें स्थित थे। विदिशाएँ उनकी बाहें, दिशाएँ उन महात्माके कर्ण, दोनों अश्विनीकुमार, श्रवण एवं वायु उन महात्माके नासिका-स्थानपर थे। उनके प्रसादमें (मधुर हास्यछटामें) चन्द्रदेव तथा मनमें धर्म आश्रित थे। सत्य उनकी वाणी तथा जिह्वा सरस्वती देवी थीं ॥ ५०-५३ ॥

ग्रीवाऽदितिर्देवमाता विद्यास्तद्वलयस्तथा । स्वर्गद्वारमभून्मैत्रं त्वष्टा पूषा च वै भ्रुवौ ॥ ५४ ॥
मुखे वैश्वानरश्चास्य वृषणौ तु प्रजापतिः । हृदयं च परं ब्रह्म पुंस्त्वं वै कश्यपो मुनिः ॥ ५५ ॥
पृष्ठेऽस्य वसवो देवा मरुतः सर्वसन्धिषु । वक्षःस्थले तथा रुद्रो धैर्ये चास्य महार्णवः ॥ ५६ ॥
उदरे चास्य गन्धर्वा मरुतश्च महाबलाः । लक्ष्मीर्मेधा धृतिः कान्तिः सर्वविद्याश्च वै कटिः ॥ ५७ ॥

देवमाता अदिति उनकी ग्रीवा, विद्या उनकी वलियाँ, स्वर्गद्वार उनकी गुदा तथा त्वष्टा एवं पूषा उनकी भौंहें थे । वैश्वानर उनके मुख तथा प्रजापति वृषण थे । परब्रह्म उनके हृदय तथा कश्यप मुनि उनके पुंस्त्व थे । उनकी पीठमें वसु देवता, सभी सन्धियोंमें मरुद्गण, वक्षःस्थलमें रुद्र तथा उनके धैर्यमें महार्णव आश्रित थे । उनके उदरमें गन्धर्व एवं महाबली मरुद्गण स्थित थे । लक्ष्मी, मेधा, धृति, कान्ति एवं सभी विद्याएँ उनकी कटिमें स्थित थीं ॥ ५४–५७ ॥

सर्वज्योतींषि यानीह तपश्च परमं महत् । तस्य देवाधिदेवस्य तेजः प्रोद्भूतमुत्तमम् ॥ ५८ ॥
तनौ कुक्षिषु वेदाश्च जानुनी च महामखाः । इष्टयः पशवश्चास्य द्विजानां चेष्टितानि च ॥ ५९ ॥
तस्य देवमयं रूपं दृष्ट्वा विष्णोर्महात्मनः । उपसर्पन्ति ते दैत्याः पतङ्गा इव पावकम् ॥ ६० ॥
चिक्षुरस्तु महादैत्यः पादाङ्गुष्ठं गृहीतवान् । दन्ताभ्यां तस्य वै ग्रीवामङ्गुष्ठेनाहनद्धरिः ॥ ६१ ॥

समस्त ज्योतियाँ एवं परम महत् तप उन देवाधिदेवके उत्तम तेज थे । उनके शरीर एवं कुक्षियोंमें वेद थे तथा बड़े-बड़े यज्ञ जानुएँ थीं, पशु एवं इष्टियाँ थीं, पशु एवं ब्राह्मणोंकी चेष्टाएँ उनकी दोनों जानुएँ थीं । उन महात्मा विष्णुके सर्वदेवमय रूपको देखकर वे दैत्य उनके निकट उसी प्रकार जाते थे, जिस प्रकार अग्निके निकट पतिंगे जाते हैं । महादैत्य चिक्षुरने दाँतोंसे उनके पैरके अँगूठेको खींच लिया । फिर भगवान्‌ने अँगूठेसे उसकी ग्रीवापर प्रहार किया और—॥ ५८–६१ ॥

प्रमथ्य सर्वानसुरान् पादहस्ततलैर्विभुः । कृत्वा रूपं महाकायं संजहाराशु मेदिनीम् ॥ ६२ ॥
तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे । नभो विक्रममाणस्य सक्थिदेशे स्थिताबुभौ ॥ ६३ ॥
परं विक्रममाणस्य जानुमूले प्रभाकरौ । विष्णोरास्तां स्थितस्यैतौ देवपालनकर्मणि ॥ ६४ ॥
जित्वा लोकत्रयं तांश्च हत्वा चासुरपुङ्गवान् । पुरंदराय त्रैलोक्यं ददौ विष्णुरुरुक्रमः ॥ ६५ ॥

अपने पैरों एवं हाथोंके तलवोंसे समस्त असुरोंको रगड़ डाला तथा विराट् शरीर धारण करके शीघ्र ही उन्होंने पृथ्वीको उनसे छीन लिया । भूमिको नापते समय चन्द्र और सूर्य उनके स्तनोंके मध्य स्थित थे तथा आकाशको नापते समय उनकी सक्थिप्रदेश (जाँघ) में स्थित हो गये एवं परम (ऊर्ध्व) लोकका अतिक्रमण करते समय देवताओंकी रक्षा करनेमें स्थित श्रीविष्णुके जानुमूल-(घुटनेके स्थान)में चन्द्र एवं सूर्य स्थित हो गये । उरुक्रम (लंबी डगोंवाले) विष्णुने तीनों लोकोंको जीतकर एवं उन बड़े-बड़े असुरोंका वध कर तीनों लोक इन्द्रको दे दिये ॥ ६२–६५ ॥

सुतलं नाम पातालमधस्ताद् वसुधातलात् । बलेर्दत्तं भगवता विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ६६ ॥
अथ दैत्येश्वरं प्राह विष्णुः सर्वेश्वरेश्वरः । तत् त्वया सलिलं दत्तं गृहीतं पाणिना मया ॥ ६७ ॥
[illegible]प्रमाणं तस्मात् ते भविष्यत्यायुरुत्तमम् । वैवस्वते तथाऽतीते काले मन्वन्तरे तथा ॥ ६८ ॥
सावर्णिके तु सम्प्राप्ते भवानिन्द्रो भविष्यति । इदानीं भुवनं सर्वं दत्तं शक्राय वै पुरा ॥ ६९ ॥
चतुर्युगव्यवस्था च साधिका ह्येकसप्ततिः । नियन्तव्या मया सर्वे ये तस्य परिपन्थिनः ॥ ७० ॥

तदनन्तर भगवान् विष्णुने पृथ्वीतलके नीचे स्थित सुतलनामक पातालको बलिके लिये दे दिया। तत्पश्चात् सर्वेश्वर विष्णुने दैत्येश्वरसे कहा—मैंने तुम्हारे द्वारा दानके लिये दिये हुए जलको अपने हाथमें ग्रहण किया है, अतः तुम्हारी उत्तम आयु कल्पप्रमाणकी होगी तथा वैवस्वत मन्वन्तरका काल व्यतीत होनेपर एवं सावर्णि मन्वन्तरके आनेपर तुम इन्द्रपद प्राप्त करोगे—इन्द्र बनोगे। इस समयके लिये मैंने समस्त भुवनको पहले ही इन्द्रको दे रक्खा है। इकहत्तर चतुर्युगीके कालसे कुछ अधिक कालतक जो समयकी व्यवस्था है अर्थात् एक मन्वन्तरकालतक मैं उसके (इन्द्रके) विरोधियोंको अनुशासित करूँगा ॥ ६६—७० ॥

तेनाहं परया भक्त्या पूर्वमाराधितो बले। सुतलं नाम पातालं समासाद्य वचो मम ॥ ७१ ॥
वसासुर ममादेशं यथावत्परिपालयन्। तत्र देवसुखोपेते प्रासादशतसंकुले ॥ ७२ ॥
प्रोत्फुल्लपद्मसरसि ह्रदशुद्धसरिद्वरे। सुगन्धी रूपसम्पन्नो वराभरणभूषितः ॥ ७३ ॥
स्रक्चन्दनादिदिग्धाङ्गो नृत्यगीतमनोहरान्। उपभुञ्जन् महाभोगान् विविधान् दानवेश्वर ॥ ७४ ॥
ममाज्ञया कालमिमं तिष्ठ स्त्रीशतसंवृतः। यावत्सुरैश्च विप्रैश्च न विरोधं गमिष्यसि ॥ ७५ ॥
तावत् त्वं भुङ्क्ष्व संभोगान् सर्वकामसमन्वितान्।
यदा सुरैश्च विप्रैश्च विरोधं त्वं करिष्यसि। बन्धिष्यन्ति तदा पाशा वारुणा घोरदर्शनाः ॥ ७६ ॥

हे बलि! पूर्वकालमें उसने बड़ी श्रद्धासे मेरी आराधना की थी, अतः तुम मेरे कहनेसे सुतल नामक पातालमें जाकर मेरे आदेशका भलीभाँति पालन करो तथा देवताओंके सुखसे भरे-पूरे सैकड़ों प्रासादोंसे पूर्ण विकसित कमलोंवाले सरोवरों, ह्रदों एवं शुद्ध श्रेष्ठ सरिताओंवाले उस स्थानपर निवास करो। हे दानवेश्वर! सुगन्धिसे अनुलिप्त होकर श्रेष्ठ आभरणोंसे भूषित एवं माला और चन्दन आदिसे अलङ्कृत सुंदर स्वरूपवाले तुम नृत्य और गीतसे युक्त विविध भाँतिके महान् भोगोंका उपभोग करते हुए सैकड़ों स्त्रियोंसे आवृत होकर इतने कालतक मेरी आज्ञासे वहाँ निवास करो। जबतक तुम देवताओं एवं ब्राह्मणोंसे विरोध न करोगे तबतक सम्पन्न कामनाओंसे युक्त भोगोंको भोगोगे। किंतु जब तुम देवों एवं ब्राह्मणोंके साथ विरोध करोगे तो देखनेमें भयंकर वरुणके पाश तुम्हें बाँध लेंगे ॥ ७१—७६ ॥

बलिरुवाच

तत्रासतो मे पाताले भगवन् भवदाज्ञया।
किं भविष्यत्युपादानमुपभोगोपपादकम्। आप्यायितो येन देव स्मरेयं त्वामहं सदा ॥ ७७ ॥

बलिने पूछा—हे भगवन्! हे देव! आपकी आज्ञासे वहाँ पातालमें निवास करनेवाले मेरे भोगोंका साधन क्या होगा? जिससे तृप्त होकर मैं सदा आपका स्मरण करूँगा ॥ ७७ ॥

श्रीभगवानुवाच

दानान्यविधिदत्तानि श्राद्धान्यश्रोत्रियाणि च। हुतान्यश्रद्धया यानि तानि दास्यन्ति ते फलम् ॥ ७८ ॥
अदक्षिणास्तथा यज्ञाः क्रियाश्चाविधिना कृताः। फलानि तव दास्यन्ति अधीतान्यव्रतानि च ॥ ७९ ॥
उदकेन विना पूजा विना दर्भेण या क्रिया। आज्येन च विना होमं फलं दास्यन्ति ते बले ॥ ८० ॥
यश्चेदं स्थानमाश्रित्य क्रियाः काश्चित्करिष्यति। न तत्र चासुरो भागो भविष्यति कदाचन ॥ ८१ ॥
ज्येष्ठाश्रमे महापुण्ये तथा विष्णुपदे ह्रदे। ये च श्राद्धानि दास्यन्ति व्रतं नियममेव च ॥ ८२ ॥

क्रिया कृता च या काचिद् विधिनाऽविधिनापि वा । सर्वं तदक्षयं तस्य भविष्यति न संशयः ॥ ८३ ॥
ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे एकादश्यामुपोषितः ।
द्वादश्यां वामनं दृष्ट्वा स्नात्वा विष्णुपदे ह्रदे । दानं दत्त्वा यथाशक्त्या प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ८४ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—अविधिपूर्वक किये गये दान, श्रोत्रिय ब्राह्मणसे रहित श्राद्ध तथा बिना श्रद्धाके किये गये जो हवन हैं, वे तुम्हारे भाग होंगे। दक्षिणारहित यज्ञ, अविधि पूर्वक किये गये कर्म और व्रतसे रहित अध्ययन तुम्हें फल प्रदान करेंगे। हे बलि ! जलके बिना की गयी पूजा, बिना कुशकी की गयी क्रिया और बिना घीके किये गये हवन तुमको फल देंगे। इस स्थानका आश्रय कर जो मनुष्य किन्हीं भी क्रियाओंको करेगा, उसमें कभी भी असुरोंका अधिकार न होगा। अत्यन्त पवित्र ज्येष्ठाश्रम तथा विष्णुपद सरोवरमें जो श्राद्ध, दान, व्रत या नियम-पालन करेगा तथा विधि या अविधिपूर्वक जो कोई क्रिया यहाँ की जायगी, उसके लिये वे सभी निःसंदेह अक्षय-फलदायी होंगे। जो मनुष्य ज्येष्ठमासके शुक्ल पक्षमें एकादशीके दिन उपवास कर द्वादशीके दिन विष्णु नामके सरोवरमें स्नान कर वामनका दर्शन करनेके बाद यथाशक्ति दान देगा, वह परम पदको प्राप्त करेगा ॥ ७८–८४ ॥

लोमहर्षण उवाच

बलेर्वरमिमं दत्त्वा शक्राय च त्रिविष्टपम् । व्यापिना तेन रूपेण जगामादर्शनं हरिः ॥ ८५ ॥
शशास च यथापूर्वमिन्द्रस्त्रैलोक्यमूर्जितः । निःशेषं च तदा कालं बलिः पातालमास्थितः ॥ ८६ ॥
इत्येतत् कथितं तस्य विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् । शृणुयाद्यो वामनस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८७ ॥
बलिप्रह्लादसंवादं मन्त्रितं बलिशुक्रयोः । बलेर्विष्णोश्च चरितं ये स्मरिष्यन्ति मानवाः ॥ ८८ ॥
नाधयो व्याधयस्तेषां न च मोहाकुलं मनः । भविष्यति द्विजश्रेष्ठा पुंसस्तस्य कदाचन ॥ ८९ ॥
च्युतराज्यो निजं राज्यमिष्टप्राप्तिं वियोगवान् । समाप्नोति महाभागा नरः श्रुत्वा कथामिमाम् ॥ ९० ॥
ब्राह्मणो वेदमाप्नोति क्षत्रियो जयते महीम् ।
वैश्यो धनसमृद्धिं च शूद्रः सुखमवाप्नुयात् । वामनस्य च माहात्म्यं शृण्वन् पापैः प्रमुच्यते ॥ ९१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

लोमहर्षणजी बोले—भगवान् उस सर्वव्यापी रूपसे बलिको यह वरदान तथा इन्द्रको स्वर्ग प्रदानकर अंतर्हित हो गये। तबसे बलशाली इन्द्र पहलेकी भाँति तीनों लोकोंका शासन करने लगे। और बलि सर्वदा पातालमें निवास करने लगे। इस प्रकार उन भगवान् (वामन) विष्णुका उत्तम माहात्म्य कहा गया, जो इसे (वामनमाहात्म्यको) सुनता है, वह सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। द्विजश्रेष्ठो ! बलि एवं प्रह्लादके संवाद, बलि एवं शुक्रकी मन्त्रणा तथा बलि एवं विष्णुके चरितका जो मनुष्य स्मरण करेंगे, उन्हें कभी कोई आधि एवं व्याधि न होगी तथा उनका मन भी मोहसे आकुल नहीं होगा। हे महाभागो ! इस कथाको सुनकर राज्यच्युत व्यक्ति अपने राज्यको एवं वियोगी मनुष्य अपने प्रियको प्राप्त करता है। (इसको सुननेसे) ब्राह्मणको वेदकी प्राप्ति होती है, क्षत्रिय पृथ्वीकी जय प्राप्त करता है तथा वैश्यको धन समृद्धि एवं शूद्रको सुखकी प्राप्ति होती है। वामनका माहात्म्य सुननेसे पापोंसे मुक्ति होती है ॥ ८५–९१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें एकतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

[अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचु

कथमेषा समुत्पन्ना नदीनामुत्तमा नदी। सरस्वती महाभागा कुरुक्षेत्रप्रवाहिनी ॥ १ ॥
कथ सरः समासाद्य कृत्वा तीर्थानि पार्श्वतः।
प्रयाता पश्चिमामाशा दृश्यादृश्यगति शुभा। एतद् विस्तरतो ब्रूहि तीर्थवंश सनातनम् ॥ २ ॥

बत्तीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सरस्वती नदीका वर्णन—उसका कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित होना)

ऋषियोंने पूछा—(लोमहर्षणजी !) कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित होनेवाली नदियोंमें श्रेष्ठ भाग्यशालिनी यह सरस्वती नदी कैसे उत्पन्न हुई ? सरोवरमें जाकर अगल-बगलमें (अपने दोनों तटोंपर) तीर्थोंकी स्थापना करती हुई दृश्य और अदृश्यरूपसे यह शुभ नदी किस प्रकार पश्चिम दिशाको गयी ? इस सनातन तीर्थ-वंशका विस्तारपूर्वक वर्णन करें ॥ १-२ ॥

लोमहर्षण उवाच

प्लक्षवृक्षात् समुद्भूता सरिच्छ्रेष्ठा सनातनी। सर्वपापक्षयकरा स्मरणादेव नित्यशः ॥ ३ ॥
सैषा शैलसहस्राणि विदार्य च महानदी। प्रविष्टा पुण्यतोयौघा वन द्वैतमिति स्मृतम् ॥ ४ ॥
तस्मिन् प्लक्षे स्थितां दृष्ट्वा मार्कण्डेयो महामुनिः। प्रणिपत्य तदा मूर्ध्ना तुष्टावाथ सरस्वतीम् ॥ ५ ॥
त्व देवि सर्वलोकाना माता देवारणिः शुभा। सदसद् देवि यत्किचिन्मोक्षदाय्यर्थवत् पदम् ॥ ६ ॥
तत् सर्वं त्वयि सयोगि योगिवद् देवि सस्थितम्।
अक्षर परम देवि, यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्। अक्षर परम ब्रह्म विश्व चैतत् क्षरात्मकम् ॥ ७ ॥

लोमहर्षणने कहा—(ऋषियो !) स्मरण करनेमात्रसे ही नित्य सभी पापोंको नष्ट करनेवाली यह सनातनी श्रेष्ठ (सरस्वती) नदी पाँकड़-वृक्षसे उत्पन्न हुई है। यह पवित्र जलधारामयी महानदी हजारों पर्वतोंको तोड़ती-फोड़ती हुई प्रसिद्ध द्वैत वनमें प्रविष्ट हुई, ऐसी प्रसिद्धि है। महामुनि मार्कण्डेयने उस प्लक्षवृक्षमें स्थित सरस्वती नदीको देखकर सिरसे (सिर झुकाकर नम्रतापूर्वक) प्रणाम करनेके बाद उसकी स्तुति की—देवि ! आप सभी लोकोंकी माता एव देवोंकी शुभ अरणि हैं। देवि ! समस्त सद्, असद्, मोक्ष देनेवाले एव अर्थवान् पद, यौगिक क्रियासे युक्त पदार्थकी भाँति आपमें मिलकर स्थित हैं। देवि ! अक्षर परमब्रह्म तथा यह विनाशशील समस्त ससार आपमें प्रतिष्ठित है ॥ ३—७ ॥

दारुण्यवस्थितो वह्निर्भूमौ गन्धो यथा ध्रुवम्। तथा त्वयि स्थित ब्रह्म जगच्चेदमशेषतः ॥ ८ ॥
ॐकाराक्षरसस्थान यत् तद् देवि स्थिरास्थिरम्। तत्र मात्रात्रय सर्वमस्ति यद् देवि नास्ति च ॥ ९ ॥
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्त्रैविद्य पावकत्रयम्। त्रीणि ज्योतींषि वर्गाश्च त्रयो धर्मादयस्तथा ॥ १० ॥
त्रयो गुणास्त्रयो वर्णास्त्रयो देवास्तथा क्रमात्। त्रैधातवस्तथावस्थाः पितरश्चैवमादयः ॥ ११ ॥
एतन्मात्रात्रय देवि तव रूप सरस्वति। विभिन्नदर्शनामाद्या ब्रह्मणो हि सनातनीम् ॥ १२ ॥

जिस प्रकार काठमें आग एव पृथिवीमें गन्धकी निश्चित स्थिति होती है, उसी प्रकार तुम्हारे भीतर ब्रह्म और यह सम्पूर्ण जगत् नित्य (सदा) स्थित है। देवि ! जो कुछ भी स्थिर (अचर) तथा अस्थिर (चर) है, वह सब ओंकार अक्षरमें अवस्थित है। जो कुछ भी अस्तित्वयुक्त है या अस्तित्वविहीन, उन सबमें ओंकारकी तीन मात्राएँ

(अनुस्यूत) हैं। हे सरस्वति ! भू, भुव, स्व—ये तीनों लोक, ऋक्, यजु, साम—ये तीनों वेद, आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता—ये तीनों विद्याएँ, गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि—ये तीनों अग्नियाँ, सूर्य, चन्द्र, अग्नि—ये तीनों ज्योतियाँ, धर्म, अर्थ, काम—ये तीनों वर्ग, सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—ये तीनों वर्ण, तीनों देव, वात, पित्त, कफ—ये तीनों धातुएँ तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ एवं पिता, पितामह, प्रपितामह—ये तीनों पितर इत्यादि—ये सभी ओंकारके मात्रात्रयस्वरूप आपके रूप हैं। आपको ब्रह्मकी विभिन्न रूपोंवाली आद्या एवं सनातनी मूर्ति कहा जाता है ॥ ८–१२ ॥

सोमसंस्था हविःसंस्था पाकसंस्था सनातनी। तास्त्वदुच्चारणाद् देवि क्रियन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥ १३ ॥
अनिर्देश्यपदं त्वेतदर्धमात्राश्रितं परम्। अविकार्यक्षयं दिव्यं परिणामविवर्जितम् ॥ १४ ॥
तवैतत् परमं रूपं यन्न शक्यं मयोदितुम्। न चास्येन न वा जिह्वाताल्वोष्ठादिभिरुच्यते ॥ १५ ॥
स विष्णुः स वृषो ब्रह्मा चन्द्रार्कज्योतिरेव च। विश्वावासं विश्वरूपं विश्वात्मानमनीश्वरम् ॥ १६ ॥

देवि ! ब्रह्मवादी लोग आपकी शक्तिसे ही उच्चारण करके सोम-संस्था, हवि-संस्था एवं सनातनी पाकसंस्थाको सम्पन्न करते हैं। अर्धमात्रामें आश्रित आपका यह अनिर्देश्य पद अविकारी, अक्षय, दिव्य तथा अपरिणामी है। यह आपका अनिर्देश्य पद परम रूप है, जिसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। न तो मुखसे ही इसका वर्णन हो सकता है और न जिह्वा, तालु, ओष्ठ आदिसे ही। तुम्हारा यह रूप ही विष्णु, वृष (धर्म), ब्रह्मा, चन्द्रमा, सूर्य एवं ज्योति है। उसीको विश्वावास, विश्वरूप, विश्वात्मा एवं अनीश्वर (स्वतन्त्र) कहते हैं ॥ १३–१६ ॥

सांख्यसिद्धान्तवेदोक्तं बहुशाखास्थिरीकृतम्। अनादिमध्यनिधनं सदसच्च सदेव तु ॥ १७ ॥
एकं त्वनेकधाप्येकभाववेदसमाश्रितम्। अनाख्यं षड्गुणाख्यं च बह्वाख्यं त्रिगुणाश्रयम् ॥ १८ ॥
नानाशक्तिविभावज्ञं नानाशक्तिविभावकम्। सुखात् सुखं महत्सौख्यं रूपं तत्त्वगुणात्मकम् ॥ १९ ॥
एवं देवि त्वया व्याप्तं सकलं निष्कलं च यत्। अद्वैतावस्थितं ब्रह्म यच्च द्वैते व्यवस्थितम् ॥ २० ॥

आपका यह रूप सांख्य-सिद्धान्त तथा वेदद्वारा वर्णित, (वेदोंकी) बहुत-सी शाखाओंद्वारा स्थिर किया हुआ, आदि-मध्य-अन्तसे रहित, सत्-असत् अथवा एकमात्र सत् (ही) है। यह एक तथा अनेक प्रकारका, वेदोंद्वारा एकाग्र भक्तिसे अवलम्बित, आख्या-(नाम) विहीन, ऐश्वर्य आदि षड्गुणोंसे युक्त, बहुत नामोंवाला तथा त्रिगुणाश्रय है। आपका यह तत्त्वगुणात्मक रूप सुखसे भी परम सुख, महान् सुखरूप, नाना शक्तियोंके विभावको जानने वाला है। देवि ! यह अद्वैत तथा द्वैतमें आश्रित 'निष्कल' तथा 'सकल ब्रह्म' आपके द्वारा व्याप्त है ॥ १७–२० ॥

येऽर्था नित्या ये विनश्यन्ति चान्ये येऽर्थाः स्थूला ये तथा सन्ति सूक्ष्माः।
ये वा भूमौ येऽन्तरिक्षेऽन्यतो वा तेषां देवि त्वत्त एवोपलब्धिः ॥ २१ ॥
यद्वा मूर्तं यदमूर्तं समस्तं यद्वा भूतेष्वेकमेकं च किंचित्।
यच्च द्वैते व्यस्तभूतं च लक्ष्यं तत्सम्बद्धं त्वत्स्वरैर्व्यञ्जनैश्च ॥ २२ ॥
एवं स्तुता तदा देवी विष्णुजिह्वा सरस्वती।
प्रत्युवाच महात्मानं मार्कण्डेयं महामुनिम्। यत्र त्वं नेष्यसे विप्र तत्र यास्याम्यतन्द्रिता ॥ २३ ॥

(सरस्वती) देवि ! जो पदार्थ नित्य हैं तथा जो विनष्ट हो जानेवाले हैं, जो पदार्थ स्थूल हैं तथा जो सूक्ष्म हैं, जो भूमिपर हैं तथा जो अन्तरिक्षमें हैं या जो इससे भिन्न स्थानोंमें हैं, उन समस्त पदार्थोंकी प्राप्ति आपसे ही होती है। जो मूर्त या अमूर्त है, यह सब कुछ और जो सब भूतोंमें एक रूपसे स्थित है एवं केवल एक-

मात्र है और जो द्वैतमें अलग-अलग रूपसे दिखलायी पड़ता है, वह सब कुछ आपका स्वर-व्यञ्जनात्मक रूप है।
इस प्रकार स्तुति किये जानेपर विष्णुकी जीभरूपिणी सरस्वतीने महामुनि महात्मा मार्कण्डेयसे कहा—हे विप्र! तुम मुझे जहाँ ले जाओगे, मैं वहीं आलस्य छोड़कर चली जाऊँगी ॥ २१-२३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

आद्यं ब्रह्मसरः पुण्यं ततो रामह्रदः स्मृतः ।
कुरुणा ऋषिणा कृष्टं कुरुक्षेत्रं ततः स्मृतम् । तस्य मध्येन वै गाढं पुण्या पुण्यजलावहा ॥ २४ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेयने कहा—आरम्भमें (इसका) पवित्र नाम ब्रह्मसर था, फिर रामह्रद प्रसिद्ध हुआ एवं उसके बाद कुरु ऋषिद्वारा कृष्ट होनेसे कुरुक्षेत्र कहा जाने लगा। (अब) उसके मध्यमें अत्यन्त पवित्र जलवाली गहरी सरस्वती प्रवाहित हों ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

[अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

इत्यृषेर्वचनं श्रुत्वा मार्कण्डेयस्य धीमतः । नदी प्रवाहसंयुक्ता कुरुक्षेत्रं विवेश ह ॥ १ ॥
तत्र सा रन्तुकं प्राप्य पुण्यतोया सरस्वती । कुरुक्षेत्रं समाप्लाव्य प्रयाता पश्चिमां दिशम् ॥ २ ॥
तत्र तीर्थसहस्राणि ऋषिभिः सेवितानि च । तान्यहं कीर्तयिष्यामि प्रसादात् परमेष्ठिनः ॥ ३ ॥
तीर्थानां स्मरणं पुण्यं दर्शनं पापनाशनम् । स्नानं मुक्तिकरं प्रोक्तमपि दुष्कृतकर्मणः ॥ ४ ॥

तैंतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सरस्वती नदीका कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित होना और कुरुक्षेत्रमें निवास करने तथा तीर्थमें स्नान करनेका महत्त्व)

लोमहर्षणने कहा—बुद्धिमान् मार्कण्डेय ऋषिके इस उपर्युक्त वचनको सुनकर प्रवाहसे भरी हुई सरस्वती नदी कुरुक्षेत्रमें प्रविष्ट हुई। वह पवित्रसलिला सरस्वती नदी वहाँ रन्तुकमें जाकर कुरुक्षेत्रको जलसे प्लावित करती हुई जो पश्चिम दिशाकी ओर चली गयी। वहाँ (कुरुक्षेत्रमें) हजारों तीर्थ ऋषियोंसे सेवित हैं। परमेष्ठी (ब्रह्मा)के प्रसादसे मैं उनका वर्णन करूँगा। पापियोंके लिये भी तीर्थोंका स्मरण पुण्यदायक, उनका दर्शन पापनाशक और स्नान मुक्तिदायक कहा गया है (पुण्यशालियोंके लिये तो कहना ही क्या है) ॥ १-४ ॥

ये स्मरन्ति च तीर्थानि देवताः प्रीणयन्ति च । स्नान्ति च श्रद्दधानाश्च ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ५ ॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा । यः स्मरेत् कुरुक्षेत्रं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ ६ ॥
कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् । इत्येवं वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥
ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोग्रहे मरणं तथा । वासः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरुक्ता चतुर्विधा ॥ ८ ॥

जो श्रद्धापूर्वक तीर्थोंका स्मरण करते हैं और उनमें स्नान करते हैं तथा देवताओंको प्रसन्न करते हैं, वे परम गति (मोक्ष)को प्राप्त करते हैं। (मनुष्य) अपवित्र हो या पवित्र अथवा किसी भी अवस्थामें पड़ा हुआ हो, यदि कुरुक्षेत्रका स्मरण करे तो वह बाहर तथा भीतरसे (हर प्रकारसे) पवित्र हो जाता है। मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा और मैं कुरुक्षेत्रमें निवास करूँगा—इस प्रकारका वचन कहनेसे (भी) मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। मनुष्योंके लिये ब्रह्मज्ञान, गयामें श्राद्ध, गौओंकी रक्षामें मृत्यु और कुरुक्षेत्रमें निवास—यह चार प्रकारकी मुक्ति कही गयी है ॥ ५-८ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ ९ ॥
दूरस्थोऽपि कुरुक्षेत्रे गच्छामि च वसाम्यहम् । एवं यः सततं ब्रूयात् सोऽपि पापैः प्रमुच्यते ॥ १० ॥
तत्र चैव सरःस्नायी सरस्वत्यास्तटे स्थितः । तस्य ज्ञानं ब्रह्ममयमुत्पत्स्यति न संशयः ॥ ११ ॥
देवता ऋषयः सिद्धाः सेवन्ते कुरुजाङ्गलम् । तस्य संसेवनान्नित्यं ब्रह्म चात्मनि पश्यति ॥ १२ ॥

सरस्वती और दृषद्वती—इन दो देव-नदियोंके बीच देव-निर्मित देशको ब्रह्मावर्त कहते हैं। दूर देशमें स्थित रहकर भी जो मनुष्य 'मैं कुरुक्षेत्र जाऊँगा, वहाँ निवास करूँगा'—इस प्रकार निरन्तर (मनमें सङ्कल्प करता या) कहता है, वह भी सभी पापोंसे छूट जाता है। वहाँ सरस्वतीके तटपर रहते हुए सरोवरमें स्नान करनेवाले मनुष्यको निश्चित ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो जाता है। देवता, ऋषि और सिद्ध लोग सदा कुरुजाङ्गल-(तीर्थ)का सेवन करते हैं। उस तीर्थका नित्य सेवन करनेसे, (वहाँ नित्य निवास करनेसे,) मनुष्य अपने मानस में ब्रह्मका दर्शन करता है॥ ९-१२ ॥

चञ्चलं हि मनुष्यत्वं प्राप्य ये मोक्षकाङ्क्षिणः । सेवन्ति नियतात्मानो अपि दुष्कृतकारिणः ॥ १३ ॥
ते विमुक्ताश्च कलुषैरनेकजन्मसम्भवैः । पश्यन्ति निर्मलं देवं हृदयस्थं सनातनम् ॥ १४ ॥
ब्रह्मवेदिं कुरुक्षेत्रं पुण्यं संनिहितं सरः । सेवमाना नरा नित्यं प्राप्नुवन्ति परं पदम् ॥ १५ ॥
ग्रहनक्षत्रताराणां कालेन पतनाद् भयम् । कुरुक्षेत्रे मृतानां च पतनं नैव विद्यते ॥ १६ ॥

जो भी पापी चञ्चल मानव जीवन पाकर जितेन्द्रिय होकर मोक्ष प्राप्त करनेकी कामनासे वहाँ निवास करते हैं, वे अनेक जन्मोंके पापोंसे छूट जाते हैं तथा अपने हृदयमें रहनेवाले निर्मल देव-सनातन (ब्रह्म)का दर्शन करते हैं। जो मनुष्य ब्रह्मवेदी, कुरुक्षेत्र एवं पवित्र 'संनिहित सरोवर'का सदा सेवन करते हैं, वे परम पदको प्राप्त करते हैं। समयपर ग्रह, नक्षत्र एवं ताराओंके भी पतनका भय होता है, किंतु कुरुक्षेत्रमें मरनेवालोंका कभी पतन नहीं होता॥ १३-१६ ॥

यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः । गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः सेवन्ति स्थानकाङ्क्षिणः ॥ १७ ॥
गत्वा तु श्रद्धया युक्तः स्नात्वा स्थाणुमहाह्रदे । मनसा चिन्तितं कामं लभते नात्र संशयः ॥ १८ ॥
नियमं च ततः कृत्वा गत्वा सरः प्रदक्षिणम् । रन्तुकं च समासाद्य क्षामयित्वा पुनः पुनः ॥ १९ ॥
सरस्वत्यां नरः स्नात्वा यक्षं दृष्ट्वा प्रणम्य च । पुष्पं धूपं च नैवेद्यं दत्त्वा वाचमुदीरयेत् ॥ २० ॥
तव प्रसादाद् यक्षेन्द्र वनानि सरितश्च याः । भ्रमिष्यामि च तीर्थानि अविघ्नं कुरु मे सदा ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सराएँ और यक्ष उत्तम स्थानकी प्राप्तिके लिये वहाँ (कुरुक्षेत्रमें) निवास करते हैं। वहाँ जाकर स्थाणु नामक महासरोवरमें श्रद्धापूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य निःसंदेह मनोवाञ्छित फल प्राप्त करता है। नियम-परायण होनेके पश्चात् सरोवरकी प्रदक्षिणा करके रन्तुकमें जाकर बार-बार क्षमा-प्रार्थना करनेके बाद सरस्वती नदीमें स्नान कर यक्षका दर्शन करे और उन्हें प्रणाम करे तथा पुष्प, धूप एवं नैवेद्य देकर इस प्रकार वचन कहे—हे यक्षेन्द्र! आपकी कृपासे मैं वनों, नदियों और तीर्थोंमें भ्रमण करूँगा, उसे आप सदा विघ्न-रहित करें (मेरी यात्रामें किसी प्रकारका विघ्न न हो)॥ १७-२१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

[अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

वनानि सप्त नो ब्रूहि नव नद्यश्च याः स्मृताः । तीर्थानि च समग्राणि तीर्थस्नानफलं तथा ॥ १ ॥
येन येन विधानेन यस्य तीर्थस्य यत् फलम् । तत् सर्वं विस्तरेणेह ब्रूहि पौराणिकोत्तम ॥ २ ॥

चौंतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके सात प्रसिद्ध वनों, नौ नदियों एवं सम्पूर्ण तीर्थोंका माहात्म्य)

ऋषियोंने (लोमहर्षणजीसे) कहा—पुराणवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ (मुने ! आप) हमसे उन सात वनों, नौ नदियों, समग्र तीर्थों एवं तीर्थ-स्नानके फलका वर्णन करें । जिस जिस विधानसे जिस तीर्थका जो फल होता है, उन सबको आप विस्तारपूर्वक बतलायें ॥ १-२ ॥

लोमहर्षण उवाच

शृणु सप्त वनानीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः । येषां नामानि पुण्यानि सर्वपापहराणि च ॥ ३ ॥
काम्यकं च वनं पुण्यं तथादितिवनं महत् । व्यासस्य च वनं पुण्यं फलकीवनमेव च ॥ ४ ॥
तत्र सूर्यवनस्थानं तथा मधुवनं महत् । पुण्यं शीतवनं नाम सर्वकल्मषनाशनम् ॥ ५ ॥
वनान्येतानि वै सप्त नदीः शृणुत मे द्विजाः । सरस्वती नदी पुण्या तथा वैतरणी नदी ॥ ६ ॥
आपगा च महापुण्या गङ्गा मन्दाकिनी नदी । मधुस्रवा वासुनदी कौशिकी पापनाशिनी ॥ ७ ॥
दृषद्वती महापुण्या तथा हिरण्वती नदी । वर्षाकालवहाः सर्वा वर्जयित्वा सरस्वतीम् ॥ ८ ॥

लोमहर्षणने कहा—(ऋषियो !) कुरुक्षेत्रके मध्यमें जो सात वन हैं, उनका मैं वर्णन करता हूँ, आपलोग उसे सुनें । उन वनोंके नाम सभी पापोंको नष्ट करनेवाले तथा पवित्र हैं । (उन वनोंके नाम हैं—) पवित्र काम्यक-वन, महान् अदिति-वन, पुण्यप्रद व्यास-वन, फलकीवन, सूर्यवन, महान् मधुवन तथा सर्वकल्मष-नाशक पवित्र शीतवन—ये ही सात वन हैं । हे द्विजो ! (अब) नदियों-(के नाम-) को मुझसे सुनो । (उनके नाम हैं) पवित्र सरस्वती नदी, वैतरणी नदी, महापवित्र आपगा, मन्दाकिनी गङ्गा, मधुस्रवा, वासुनदी, पापनाशिनी कौशिकी, महा पवित्र दृषद्वती (घग्घर) तथा हिरण्वती नदी । इनमें सरस्वतीके अतिरिक्त सभी नदियाँ वर्षाकालमें (ही) बहनेवाली हैं ॥ ३-८ ॥

एतासामुदकं पुण्यं प्रावृट्काले प्रकीर्तितम् ।
रजस्वलत्वमेतासां विद्यते न कदाचन । तीर्थस्य च प्रभावेण पुण्या ह्येताः सरिद्वराः ॥ ९ ॥
शृण्वन्तु मुनयः प्रीतास्तीर्थस्नानफलं महत् । गमनं स्मरणं चैव सर्वकल्मषनाशनम् ॥ १० ॥
रन्तुकं च नरो दृष्ट्वा द्वारपालं महाबलम् । यक्षं समभिवाद्यैव तीर्थयात्रां समाचरेत् ॥ ११ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा नाम्नादितिवनं महत् । अदित्या यत्र पुत्रार्थं कृतं घोरं महत्तपः ॥ १२ ॥

वर्षाकालमें इनका जल पवित्र माना जाता है । इनमें कभी भी रजस्वला दोष नहीं होता । तीर्थके प्रभावसे ये सभी श्रेष्ठ नदियाँ पवित्र हैं । मुनियो ! आपलोग (अब) प्रसन्न होकर तीर्थस्नानका महान् फल सुनें । वहाँ जाना एवं उनका स्मरण करना समस्त पापोंका नाश करनेवाला होता है । महाबलवान् रन्तुक नामक द्वारपालका दर्शन करनेके बाद यक्षको प्रणाम कर तीर्थयात्रा प्रारम्भ करनी चाहिये । विप्रन्द्रो ! उसके बाद महान् अदिति-वनमें जाना चाहिये, जहाँ अदितिने पुत्रके लिये अत्यन्त कठोर तप किया था ॥ १०-१२ ॥

तत्र स्नात्वा च दृष्ट्वा च अदितिं देवमातरम् ।
पुत्रं जनयते शूरं सर्वदोषविवर्जितम् । आदित्यशतसंकाशं विमानं चाधिरोहति ॥ १३ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा विष्णोः स्थानमनुत्तमम् । सवनं नाम विख्यातं यत्र संनिहितो हरिः ॥ १४ ॥
विमले च नरः स्नात्वा दृष्ट्वा च विमलेश्वरम् । निर्मलं स्वर्गमायाति रुद्रलोकं च गच्छति ॥ १५ ॥
हरिं च बलदेवं च एकत्रासनसमन्वितौ । दृष्ट्वा मोक्षमवाप्नोति कलिकल्मषसम्भवैः ॥ १६ ॥

वहाँ स्नानकर तथा देवमाता अदितिका दर्शनकर मनुष्य समस्त दोषोंसे रहित (निर्मल) वीर पुत्र उत्पन्न करता है और सैकड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान विमानपर आरूढ़ होता है। विप्रेन्द्रो ! इसके बाद 'सवन' नामसे विख्यात सर्वोत्तम विष्णु-स्थानको जाना चाहिये, जहाँ भगवान् हरि सदा संनिहित रहते हैं। विमल तीर्थमें स्नानकर विमलेश्वरका दर्शन करनेसे मनुष्य निर्मल हो जाता है तथा रुद्रलोकमें जाता है। एक आसनपर स्थित कृष्ण और बलदेवका दर्शन करनेसे मनुष्य कलिके दुष्कर्मोंसे उत्पन्न पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३-१६ ॥

ततः पारिप्लवं गच्छेत् तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । तत्र स्नात्वा च दृष्ट्वा च ब्रह्माणं वेदसंयुतम् ॥ १७ ॥
ब्रह्मवेदफलं प्राप्य निर्मलं स्वर्गमाप्नुयात् ।
तत्रापि संगमं प्राप्य कौशिक्या तीर्थसम्भवम् । संगमे च नरः स्नात्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १८ ॥
धरण्यास्तीर्थमासाद्य सर्वपापविमोचनम् । क्षान्तियुक्तो नरः स्नात्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १९ ॥
धरण्यामपराधानि कृतानि पुरुषेण वै । सर्वाणि क्षमते तस्य स्नानमात्रस्य देहिनः ॥ २० ॥

उसके पश्चात् तीनों लोकोंमें विख्यात पारिप्लव नामक तीर्थमें जाय। वहाँ स्नान करनेके पश्चात् वेदोंसहित ब्रह्माका दर्शन करनेसे अथर्ववेदका ज्ञान प्राप्तकर निर्मल स्वर्गको प्राप्त करता है। कौशिकी-संगम तीर्थमें जाकर स्नान कर मनुष्य परमपदको प्राप्त करता है। समस्त पापोंसे मुक्त करनेवाले धरणीके तीर्थमें जाकर स्नान करनेसे क्षमाशील मनुष्य परमपदकी प्राप्ति करता है। वहाँ स्नान करनेमात्रसे पृथ्वीपर मनुष्यद्वारा किये गये समस्त अपराध क्षमा कर दिये जाते हैं ॥ १७-२० ॥

ततो दक्षाश्रमं गत्वा दृष्ट्वा दक्षेश्वरं शिवम् । अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ २१ ॥
ततः शालूकिनीं गत्वा स्नात्वा तीर्थे द्विजोत्तमाः ।
हरिं हरेण संयुक्तं पूज्य भक्तिसमन्वितः । प्राप्नोत्यभिमतॉंल्लोकान् सर्वपापविवर्जितान् ॥ २२ ॥
सर्पिर्दधि समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् । तत्र स्नानं नरः कृत्वा मुक्तो नागभयाद् भवेत् ॥ २३ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा द्वारपालं तु रन्तुकम् । तत्रोष्य रजनीमेकां स्नात्वा तीर्थवरे शुभे ॥ २४ ॥
द्वितीयं पूजयेद् यत्र द्वारपालं प्रयत्नतः । ब्राह्मणान् भोजयित्वा च प्रणिपत्य क्षमापयेत् ॥ २५ ॥
तव प्रसादाद् यक्षेन्द्र मुक्तो भवति किल्बिषैः ।
सिद्धिर्मयाभिलषिता तया सार्द्धं भवाम्यहम् । एवं प्रसाद्य यक्षेन्द्रं ततः पञ्चनदं व्रजेत् ॥ २६ ॥
पञ्चनदाश्च रुद्रेण कृता दानवभीषणाः । तत्र सर्वेषु लोकेषु तीर्थं पञ्चनदं स्मृतम् ॥ २७ ॥

उसके बाद दक्षाश्रममें जाकर दक्षेश्वर शिवका दर्शन करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त करता है। द्विजोत्तमो ! तदनन्तर शालूकिनी तीर्थमें जाकर स्नान करनेके उपरान्त भक्तिपूर्वक हरसे संयुक्त हरिका पूजन कर मनुष्य समस्त पापोंसे रहित इच्छाके अनुकूल लोकोंको प्राप्त करता है। सर्पिर्दधि नामवाले नागोंके उत्तम तीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य नाग-भयसे मुक्त हो जाता है। विप्रश्रेष्ठो ! तदनन्तर रन्तुक नामक द्वारपालके पास जाय। वहाँ

एक रात्रि निवास करे तथा कल्याणकारी (उस) श्रेष्ठतीर्थमें स्नान करनेके बाद दूसरे दिन प्रयत्नपूर्वक (नियत एवं मन लगाकर) द्वारपालका पूजन करे एवं ब्राह्मणोंको भोजन कराये । फिर उन्हें प्रणाम कर इस प्रकार क्षमा-प्रार्थना करे—'हे यक्षेन्द्र ! तुम्हारी कृपासे मनुष्य पापोंसे मुक्त हो जाता है । मैं अपनी अभीष्ट सिद्धिको प्राप्त करूँ (मेरी मन कामना पूर्ण हो) ।' इस प्रकार यक्षेन्द्रको प्रसन्न करनेके पश्चात् पञ्चनद तीर्थमें जाना चाहिये । जहाँ भगवान् रुद्रने दानवोंके लिये भयंकर पाँच नदोंका निर्माण किया है उस स्थानपर समस्त संसारमें प्रसिद्ध पञ्चनद तीर्थ है ॥ २१–२७ ॥

कोटितीर्थानि रुद्रेण समाहृत्य यतः स्थितम् । तेन त्रैलोक्यविख्यातं कोटितीर्थं प्रचक्षते ॥ २८ ॥
तस्मिन् तीर्थे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा कोटीश्वरं हरम् । पञ्चयज्ञानवाप्नोति नित्यं श्रद्धासमन्वितः ॥ २९ ॥
तत्रैव वामनो देवः सर्वदेवैः प्रतिष्ठितः । तत्रापि च नरः स्नात्वा ह्यग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ३० ॥
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य श्रद्धावान् यो जितेन्द्रियः । रूपस्य भागी भवति यशस्वी च भवेन्नरः ॥ ३१ ॥

क्योंकि करोड़ों तीर्थोंको एकत्र (स्थापित) कर भगवान् वहाँ स्थित हैं, अतः उसे त्रैलोक्यप्रसिद्ध कोटितीर्थ कहा जाता है । मनुष्य श्रद्धापूर्वक उस तीर्थमें स्नान कर तथा कोटीश्वर हरका दर्शन कर पाँच प्रकारके (महा) यज्ञोंके अनुष्ठानका फल प्राप्त करता है । उसी स्थानपर सब देवताओंने भगवान् वामनदेवकी स्थापना की है। वहाँ भी स्नान करनेसे मनुष्यको अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है । श्रद्धावान् जितेन्द्रिय मनुष्य अश्विनीकुमारोंके तीर्थमें जाकर रूपवान् और यशस्वी होता है ॥ २८–३१ ॥

वाराहं तीर्थमाख्यातं विष्णुना परिकीर्तितम् । तस्मिन् स्नात्वा श्रद्दधानः प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ३२ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा सोमतीर्थमनुत्तमम् । यत्र सोमस्तपस्तप्त्वा व्याधिमुक्तोऽभवत् पुरा ॥ ३३ ॥
तत्र सोमेश्वरं दृष्ट्वा स्नात्वा तीर्थवरे शुभे । राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ३४ ॥
व्याधिभिश्च विनिर्मुक्तः सर्वदोषविवर्जितः । सोमलोकमवाप्नोति तत्रैव रमते चिरम् ॥ ३५ ॥

विष्णुद्वारा वर्णित वाराह नामक विख्यात तीर्थ है । श्रद्धालु पुरुष उसमें स्नानकर परमपदको प्राप्त करता है । विप्रेन्द्रो ! उसके बाद श्रेष्ठ सोमतीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ चन्द्रमा पूर्वकालमें तपस्या कर व्याधिसे मुक्त हुए थे । उस शुभ तीर्थमें स्नानकर सोमेश्वर भगवान्‌का दर्शन करनेसे मनुष्य राजसूय-यज्ञका फल प्राप्त करता है तथा व्याधियों और सभी दोषोंसे मुक्त होकर सोमलोकमें जाता एवं चिरकालतक वहाँ आनन्द विहार करता है ॥ ३२–३५ ॥

भूतेश्वरं च तत्रैव ज्वालामालेश्वरं तथा । तावुभौ लिङ्गावभ्यर्च्य न भूयो जन्म चाप्नुयात् ॥ ३६ ॥
एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् । कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी द्विजोत्तम ॥ ३७ ॥
पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेन्नरः । ततो मुञ्जवटं नाम महादेवस्य धीमतः ॥ ३८ ॥
उपोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात् । तत्रैव च महाग्राही यक्षिणी लोकविश्रुता ॥ ३९ ॥
स्नात्वाऽभिगत्वा तत्रैव प्रसाद्य यक्षिणीं ततः । उपवासं च तत्रैव महापातकनाशनम् ॥ ४० ॥

वहीं भूतेश्वर एवं ज्वालामालेश्वर नामक लिङ्ग हैं । उन दोनों लिङ्गोंकी पूजा करनेसे (मनुष्य) पुनर्जन्म नहीं पाता । एकहंस (सरोवर)में स्नानकर मनुष्य हजारों गौओंके दानका फल प्राप्त करता है । 'कृतशौच' नामक तीर्थमें जाकर मनोयोगपूर्वक तीर्थकी सेवा करनेवाला द्विजोत्तम पुण्डरीकयज्ञके फलको प्राप्त करता है तथा

उसकी शुद्धि हो जाती है (—वह पवित्र हो जाता है)। उसके बाद बुद्धिमान् महादेवके मुञ्जवट नामक तीर्थमें एक रात्रि निवास करके मनुष्य गाणपत्य (गणनायकके पदको) प्राप्त करता है। वहीं विश्व प्रसिद्ध महाग्राही यक्षिणी है। वहाँ जाकर स्नान करनेके बाद यक्षिणीको प्रसन्न कर उपवास करनेसे महान् पातकोंका नाश होता है॥ ३६–४०॥

कुरुक्षेत्रस्य तद् द्वारं विश्रुतं पुण्यवर्धनम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य ब्राह्मणान् भोजयेत् ततः। पुष्करं च ततो गत्वा अभ्यर्च्य पितृदेवता॥ ४१॥
जामदग्न्येन रामेण आहृतं तन्महात्मना। कृतकृत्यो भवेद् राजा अश्वमेधं च विन्दति॥ ४२॥
कन्यादानं च यस्तत्र कार्तिक्यां वै करिष्यति। प्रसन्ना देवतास्तस्य दास्यन्त्यभिमतं फलम्॥ ४३॥
कपिलश्च महायक्षो द्वारपालः स्वयं स्थितः। विघ्नं करोति पापानां दुर्गतिं च प्रयच्छति॥ ४४॥
पत्नी तस्य महायक्षी नाम्नोदूखलमेखला। आहत्य दुन्दुभिं तत्र भ्रमते नित्यमेव हि॥ ४५॥

पुण्यकी वृद्धि करनेवाले कुरुक्षेत्रके उस विख्यात द्वारकी प्रदक्षिणा कर ब्राह्मणोंको भोजन कराये। फिर पुष्करमें जाकर पितृदेवोंकी अर्चना करे। उस तीर्थका महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामजीने—निर्माण किया था। वहाँ (जाकर) मनुष्य सफल-मनोरथ हो जाता है और राजाको अश्वमेधयज्ञके फलकी प्राप्ति होती है। कार्तिकी पूर्णिमाको जो मनुष्य वहाँ कन्यादान करेगा, उसके ऊपर देवता प्रसन्न होकर उसे मनोवाञ्छित फल देंगे। वहाँ कपिल नामक महायक्ष स्वयं द्वारपालके रूपमें स्थित हैं, जो पापियोंके मार्गमें विघ्न उपस्थित कर उनकी दुर्गति करते हैं (जिससे वे पापाचरण न करें तथा धर्मकी मर्यादा स्थिर रहे)। उदूखलमेखलानामक उनकी महायक्षी पत्नी दुन्दुभि बजाकर वहाँ नित्य भ्रमण करती रहती है॥ ४१–४५॥

सा ददर्श स्त्रियं चैकां सपुत्रां पापदेशजाम्। तामुवाच तदा यक्षी आहत्य निशि दुन्दुभिम्॥ ४६॥
युगन्धरे दधि प्राश्य उषित्वा चाच्युतस्थले। तद्वद् भूतालये स्नात्वा सपुत्रा वस्तुमिच्छसि॥ ४७॥
दिवा मया ते कथितं रात्रौ भक्ष्यामि निश्चितम्। एतच्छ्रुत्वा तु वचनं प्रणिपत्य च यक्षिणीम्॥ ४८॥
उवाच दीनया वाचा प्रसादं कुरु भामिनि। ततः सा यक्षिणी तां तु प्रोवाच कृपयान्विता॥ ४९॥
यदा सूर्यस्य ग्रहणं कालेन भविता क्वचित्। सान्निहत्यां तदा स्नात्वा पूता स्वर्गं गमिष्यसि॥ ५०॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४॥

उस यक्षीने पापभरे देशमें उत्पन्न पुत्रके साथ एक स्त्रीको देखनेके बाद दुन्दुभि बजाकर उससे कहा—युगंधरमें दही खाकर तथा अच्युतस्थलमें निवास करनेके बाद भूतालयमें स्नान कर तुम पुत्रके साथ निवास करना चाहती हो। मैंने दिनमें यह बात तुमसे कही है। रात्रिमें मैं अवश्य तुमको खा जाऊँगी।* उसकी यह बात सुननेके बाद यक्षिणीको प्रणाम कर उसने दीन वाणीमें उससे कहा—'हे भामिनी! मेरे ऊपर दया करो।' फिर उस यक्षिणीने उससे कृपापूर्वक कहा—जब किसी समय सूर्य-ग्रहण होगा, उस समय सान्निहत्य (सरोवर)में स्नान करके पवित्र होकर तुम स्वर्ग चली जाओगी॥ ४६–५०॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३४॥

* इन सबका सविस्तर विस्तृत व्याख्या गीताप्रेसके महाभारत वनपर्व १२९। ९–१०में द्रष्टव्य है।

[अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

ततो रामह्रदं गच्छेत् तीर्थसेवी द्विजोत्तमः । यत्र रामेण विप्रेण तरसा दीप्ततेजसा ॥ १ ॥
क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः । पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति नः श्रुतम् ॥ २ ॥
पितरस्तर्पितास्तेन तथैव प्रपितामहाः । ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्द्विजोत्तमाः ॥ ३ ॥
राम राम महाबाहो प्रीताः स्मस्तव भार्गव । अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो ॥ ४ ॥

पैंतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थोंके माहात्म्य एवं क्रमका वर्णन)

लोमहर्षणने कहा—इसके बाद तीर्थका सेवन करनेवाले उत्तम द्विजको रामकुण्ड नामक स्थानमें जाना चाहिये, जहाँ उद्दीप्त तेजस्वी विप्र-वीर परशुरामजीने बलपूर्वक क्षत्रियोंका संहारकर पाँच कुण्डोंको स्थापित किया था। पुरुषसिंह! हमलोगोंने ऐसा सुना है कि परशुरामने उन (कुण्डों)को रक्तसे भरकर उनसे अपने पितरों एवं प्रपितामहोंका तर्पण किया था। द्विजोत्तमो! उसके बाद उन प्रसन्न पितरोंने परशुरामसे कहा था कि महाबाहु भार्गव राम! परशुराम! विभो! तुम्हारी इस पितृभक्ति और पराक्रमसे हम सब तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं ॥ १–४ ॥

वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महायशः । एवमुक्तस्तु पितृभी रामः प्रभवतां वरः ॥ ५ ॥
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं स पितॄन् गगने स्थितान् । भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ॥ ६ ॥
पितृप्रसादादिच्छेय तपसाप्यायनं पुनः । यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ॥ ७ ॥
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसा ह्यहम् । ह्रदाश्चैते तीर्थभूता भवेयुर्भुवि विश्रुताः ॥ ८ ॥

महायशस्विन्! तुम्हारा कल्याण हो। तुम वर माँगो। क्या चाहते हो? पितरोंके इस प्रकार कहनेपर प्रभावशालियोंमें श्रेष्ठ रामने आकाशमें स्थित पितरोंसे हाथ जोड़कर कहा—यदि आपलोग मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तथा मुझपर आप सबकी दया है तो आप पितरोंके प्रसादसे मैं पुनः तपसे पूर्ण हो जाऊँ। रोषसे अभिभूत होकर मैंने जो क्षत्रियोंका विनाश किया है, आपके तेजद्वारा मैं उस पापसे मुक्त हो जाऊँ एवं ये कुण्ड संसारमें विख्यात तीर्थस्वरूप हो जायँ ॥ ५–८ ॥

एवमुक्ताः शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा । प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षपुरस्कृताः ॥ ९ ॥
तपस्ते वर्धतां पुत्र पितृभक्त्या विशेषतः । यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया ॥ १० ॥
ततश्च पापान्मुक्तस्त्वं पातितास्ते स्वकर्मभिः । ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः ॥ ११ ॥
ह्रदेष्वेतेषु ये स्नात्वा स्वान् पितॄंस्तर्पयन्ति च । तेभ्यो दास्यन्ति पितरो यथाभिलषितं वरम् ॥ १२ ॥
ईप्सितान् मानसान् कामान् स्वर्गवासं च शाश्वतम् । एवं दत्त्वा वरान् विप्रा रामस्य पितरस्तदा ॥ १३ ॥
आमन्त्र्य भार्गवं प्रीतास्तत्रैवान्तर्हितास्तदा । एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

परशुरामके इस प्रकारके मङ्गलमय वचन कहनेपर उनके परम प्रसन्न पितरोंने हर्षपूर्वक उनसे कहा—पुत्र! पितृभक्तिसे तुम्हारा तप विशेषरूपसे बढ़े। क्रोधसे अभिभूत होनेके कारण तुमने क्षत्रियोंका जो विनाश किया है, उस पापसे तुम मुक्त हो, क्योंकि ये क्षत्रिय अपने कर्मसे ही मारे गये हैं। तुम्हारे ये कुण्ड निःसंदेह तीर्थके गुणोंको प्राप्त करेंगे। जो इन कुण्डोंमें स्नानकर अपने पितरोंका तर्पण करेंगे, उन्हें (उनके) पितृगण मनकी इच्छाके अनुसार वर देंगे, उनकी मनोऽभिलषित कामनाएँ पूर्ण करेंगे एवं उन्हें स्वर्गमें शाश्वत निवास

प्रदान करेंगे । विप्रो! इस प्रकार वर देकर परशुरामके पितर उनसे अनुमति लेकर प्रसन्नतापूर्वक वहीं अन्तर्हित हो गये। इस प्रकार महात्मा परशुरामके ये रामह्रद परम पवित्र हैं ॥ ९-१४ ॥

स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुचिव्रतः। राममभ्यर्च्य श्रद्धावान् विन्देद् बहु सुवर्णकम् ॥ १५ ॥
वंशमूलं समासाद्य तीर्थसेवी सुसंयतः। स्ववंशसिद्धये विप्राः स्नात्वा वै वंशमूलके ॥ १६ ॥
कायशोधनमासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। शरीरशुद्धिमाप्नोति स्नातस्तस्मिन् न संशयः ॥ १७ ॥
शुद्धदेहश्च तं याति यस्मान्नावर्तते पुनः।
तावद् भ्रमन्ति तीर्थेषु सिद्धास्तीर्थपरायणाः। यावन्न प्राप्नुवन्तीह तीर्थं तत्कायशोधनम् ॥ १८ ॥

श्रद्धालु पवित्रकर्मा व्यक्ति ब्रह्मचर्यपूर्वक परशुरामजीके ह्रदोंमें स्नान करनेके बाद परशुरामका अर्चन कर प्रचुर सुवर्ण प्राप्त करता है। ब्राह्मणो! तीर्थसेवी जितेन्द्रिय मनुष्य वंशमूलक नामक तीर्थमें जाकर प्रचुर उसमें स्नान करनेसे अपने वंशकी सिद्धि प्राप्त करता है। तीनों लोकोंमें विख्यात कायशोधन नामक तीर्थमें जाकर उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको निस्संदेह शरीरकी शुद्धि प्राप्त होती है और वह शुद्धदेही मनुष्य उस स्थानको जाता है, जहाँसे वह पुनः नहीं लौटता (जन्म-मरणके चक्करमें नहीं पड़ता)। तीर्थपरायण सिद्ध पुरुष तीर्थोंमें तबतक भ्रमण करते रहते हैं, जबतक वे उस कायशोधन नामक तीर्थमें नहीं पहुँचते ॥ १५-१८ ॥

तस्मिंस्तीर्थे च संप्लाव्य कायं संयतमानसः। परं पदमवाप्नोति यस्मान्नावर्तते पुनः ॥ १९ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रास्तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। लोका यत्रोद्धृताः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ २० ॥
लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थस्मरणतत्परः। स्नात्वा तीर्थवरे तस्मिन् लोकान् पश्यति शाश्वतान् ॥ २१ ॥
यत्र विष्णुः स्थितो नित्यं शिवो देवः सनातनः। तौ देवौ प्रणिपातेन प्रसाद्य मुक्तिमाप्नुयात् ॥ २२ ॥
श्रीतीर्थं तु ततो गच्छेत शालग्राममनुत्तमम्। तत्र स्नातस्य सांनिध्यं सदा देवी प्रयच्छति ॥ २३ ॥

मनको नियन्त्रित करनेवाला मनुष्य उस तीर्थमें शरीरको धोकर (प्रक्षालित कर) उस परम पदको प्राप्त करता है, जहाँसे उसे पुनः परावर्तित नहीं होना पड़ता। विप्रवरो! उसके बाद तीनों लोकोंमें विख्यात लोकोद्धार नामके तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ सर्वसमर्थ विष्णुने समस्त लोकोंका उद्धार किया था। तीर्थका स्मरण करनेमें तत्पर मनुष्य लोकोद्धार नामके तीर्थमें जाकर उसमें स्नान करनेसे शाश्वत लोकोंका दर्शन प्राप्त करता है। वहाँ विष्णु एवं सनातनदेव शिव—ये दोनों ही स्थित हैं। उन दोनों देवोंको साष्टाङ्ग प्रणामद्वारा प्रसन्न कर फिर मुक्तिका फल प्राप्त करता है। तदनन्तर अनुत्तम शालग्राम एवं श्रीतीर्थमें जाना चाहिये। वहाँ स्नान करनेवालोंको भगवती (लक्ष्मी) अपने निकट निवास प्रदान करती हैं ॥ १९-२३ ॥

कपिलाह्रदमासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च दैवतानि पितॄंस्तथा ॥ २४ ॥
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः। तत्र स्थितं महादेवं कापिलं वपुरास्थितम् ॥ २५ ॥
दृष्ट्वा मुक्तिमवाप्नोति ऋषिभिः पूजितं शिवम्। सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ॥ २६ ॥
अर्चयित्वा पितॄन् देवानुपवासपरायणः। अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥ २७ ॥

फिर त्रैलोक्यप्रसिद्ध कपिलाह्रद नामक तीर्थमें जाकर उसमें स्नान करनेके पश्चात् देवता तथा पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको सहस्र कपिला गायोंके दानका फल प्राप्त होता है। वहाँपर स्थित ऋषियोंसे पूजित कापिल शरीरधारी महादेव शिवका दर्शन करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। स्थिर अन्तःकरणवाला एवं उपवास-परायण व्यक्ति सूर्यतीर्थमें जाकर स्नान करनेके बाद पितरोंका अर्चन करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त करता है एवं सूर्यलोकको जाता है ॥ २४-२७ ॥

सहस्रकिरणं देवं भानुं त्रैलोक्यविश्रुतम्। दृष्ट्वा मुक्तिमवाप्नोति नरो ज्ञानसमन्वितः ॥ २८ ॥
भवानीवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम्। तत्राभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २९ ॥
पितामहस्य पिबतो ह्यमृतं पूर्वमेव हि। उद्गारात् सुरभिर्जाता सा च पातालमाश्रिता ॥ ३० ॥
तस्याः सुरभयो जाताः तनया लोकमातरः। ताभिस्तत्सकलं व्याप्तं पातालं सुनिरन्तरम् ॥ ३१ ॥

तीनों लोकोंमें विख्यात हजारों किरणोंवाले सूर्यदेव भगवान्‌का दर्शन करनेसे मनुष्य ज्ञानसे युक्त होकर मुक्तिको प्राप्त करता है। तीर्थसेवन करनेवाला मनुष्य क्रमानुसार भवानीवनमें जाकर वहाँ (भवानीका) अभिषेक करनेसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त करता है। प्राचीन कालमें अमृत-पान करते हुए ब्रह्माके उद्गार (डकार) से सुरभिकी उत्पत्ति हुई और वह पाताल लोकमें चली गयी। उस सुरभिसे लोकमाताएँ (सुरभिकी पुत्रियाँ) (गायें) उत्पन्न हुईं। उनसे समस्त पाताल लोक व्याप्त हो गया ॥ २८—३१ ॥

पितामहस्य यजतो दक्षिणार्थमुपाहृताः। आहूता ब्रह्मणा ताश्च विभ्रान्ता विवरेण हि ॥ ३२ ॥
तस्मिन् विवरद्वारे तु स्थितो गणपतिः स्वयम्। यं दृष्ट्वा सकलान् कामान् प्राप्नोति संयतेन्द्रियः ॥ ३३ ॥
संगिनीं तु समासाद्य तीर्थं मुक्तिसमाश्रयम्। देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ॥ ३४ ॥
अनन्तां श्रियमाप्नोति पुत्रपौत्रसमन्वितः। भोगांश्च विपुलान् भुक्त्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ३५ ॥

पितामहके यज्ञ करते समय दक्षिणाके लिये लायी गयीं एवं ब्रह्माके द्वारा बुलायी गयी वे गायें विवरके कारण भटकने लगीं। उस विवरके द्वारपर स्वयं गणपति भगवान् स्थित हैं। जितेन्द्रिय मनुष्य उनका दर्शन करके समस्त कामनाओंको प्राप्त करता है। मुक्तिके आश्रयस्वरूप देवीके संगिनीतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्यको सुंदर रूपकी प्राप्ति होती है तथा वह स्नानकर्ता पुरुष पुत्र-पौत्रसमन्वित होकर अनन्त ऐश्वर्यको प्राप्त करता है और विपुल भोगोंका उपभोग कर परम पदको प्राप्त करता है ॥ ३२—३५ ॥

ब्रह्मावर्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मज्ञानसमन्वितः। भवते नात्र संदेहः प्राणान् मुञ्चति स्वेच्छया ॥ ३६ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा द्वारपालं तु रन्तुकम्। तस्य तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ३७ ॥
तत्र स्नात्वा महाप्राज्ञ उपवासपरायणः। यक्षस्य च प्रसादेन लभते कामिकं फलम् ॥ ३८ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा ब्रह्मावर्तं मुनिस्तुतम्। ब्रह्मावर्ते नरः स्नात्वा ब्रह्म चाप्नोति निश्चितम् ॥ ३९ ॥

ब्रह्मावर्त नामक तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य निःसन्देह ब्रह्मज्ञानी हो जाता है एवं वह निज इच्छाके अनुसार अपने प्राणोंका परित्याग करता है। हे विप्रश्रेष्ठो! तदनन्तर द्वारपाल रन्तुकके तीर्थमें जाय। उन महात्मा यक्षेन्द्रका तीर्थ सरस्वती नदीमें है। वहाँ स्नान करके उपवास-व्रतमें निरत परमज्ञानी व्यक्ति यक्षके प्रसादसे इच्छित फल प्राप्त करता है। हे विप्रवरो! फिर मुनियोंद्वारा प्रशंसा प्राप्त ब्रह्मावर्त तीर्थमें जाना चाहिये। ब्रह्मावर्तमें स्नान करनेसे मनुष्य निश्चय ही ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥ ३६—३९ ॥

ततो गच्छेत विप्रेन्द्राः सुतीर्थकमनुत्तमम्। तत्र संनिहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह ॥ ४० ॥
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः। अश्वमेधमवाप्नोति पितॄन् प्रीणाति शाश्वतान् ॥ ४१ ॥
ततोऽम्बुवनं धर्मज्ञ समासाद्य यथाक्रमम्। कामेश्वरस्य तीर्थे तु स्नात्वा श्रद्धासमन्वितः ॥ ४२ ॥
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मावाप्तिर्भवेद् ध्रुवम्। मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भक्तितः ॥ ४३ ॥
प्रजा विवर्धते नित्यमनन्तां चाप्नुयाच्छ्रियम्। ततः शीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ॥ ४४ ॥
तीर्थं तत्र महाविप्रा महदन्यत्र दुर्लभम्। पुनाति दर्शनादेव दण्डकं च द्विजोत्तमाः ॥ ४५ ॥

हे विप्रश्रेष्ठो ! उसके बाद श्रेष्ठ सुतीर्थक नामक स्थानपर जाना चाहिये। उस स्थानमें देवताओंके साथ पितृगण नित्य स्थित रहते हैं। पितरों एवं देवोंकी अर्चनामें लगा रहनेवाला व्यक्ति वहाँ स्नानकर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त करता है तथा शाश्वत पितरोंको प्रसन्न करता है। धर्मज्ञ ! उसके बाद क्रमानुसार कामेश्वर तीर्थके अम्बुवनमें जाकर श्रद्धापूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य सभी व्याधियोंसे छूटकर निश्चय ही ब्रह्मकी प्राप्ति करता है। उसी स्थानमें स्थित मातृतीर्थमें भक्तिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्यकी प्रजा (संतति)की नित्य वृद्धि होती है तथा उसे अनन्त लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। उसके बाद नियत आहार करनेवाला एवं जितेन्द्रिय व्यक्ति शीतवन नामक तीर्थमें जाय। हे महाविप्रो ! वहाँ दण्डक नामक एक महान् तीर्थ है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। द्विजोत्तमो ! वह दण्डक नामका महान् तीर्थ दर्शनमात्रसे मनुष्यको पवित्र कर देता है ॥ ४०-४५ ॥

केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन् पूतो भवति पापतः। तत्र तीर्थवरं चान्यत् स्वानुलोमायनं महत् ॥ ४६ ॥
तत्र विप्रा महाप्राज्ञा विद्वांसस्तीर्थतत्पराः। स्वानुलोमायने तीर्थे विप्रास्त्रैलोक्यविश्रुते ॥ ४७ ॥
प्राणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः। पूतात्मानश्च ते विप्राः प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ४८ ॥
दशाश्वमेधिकं चैव तत्र तीर्थं सुविश्रुतम्। तत्र स्नात्वा भक्तियुक्तस्तदेव लभते फलम् ॥ ४९ ॥
ततो गच्छेत श्रद्धावान् मानुषं लोकविश्रुतम्। दर्शनात् तस्य तीर्थस्य मुक्तो भवति किल्बिषैः ॥ ५० ॥

उस तीर्थमें केशोंका मुण्डन करानेसे मनुष्य अपने पापोंसे मुक्त हो जाता है। वहाँ स्वानुलोमायन नामका एक दूसरा महान् तीर्थ है। हे द्विजोत्तमो ! वहाँ तीर्थ-सेवन करनेमें तत्पर परमज्ञानी विद्वान् लोग रहते हैं। त्रिलोक-विख्यात उस तीर्थमें वे प्राणायामोंके द्वारा अपने लोमोंका परित्याग करते हैं और वे पवित्रात्मा विप्रगण परम गतिको प्राप्त करते हैं। वहींपर परमप्रसिद्ध दशाश्वमेधिक तीर्थ है। भक्तिपूर्वक उसमें स्नान करनेसे पूर्वोक्त फलकी ही प्राप्ति होती है। फिर श्रद्धालु मनुष्यको लोक-प्रसिद्ध मानुषतीर्थमें जाना चाहिये। उस तीर्थका दर्शन करनेसे ही पापोंसे मुक्ति हो जाती है ॥ ४६-५० ॥

पुरा कृष्णमृगास्तत्र व्याधेन शरपीडिताः। विगाह्य तस्मिन् सरसि मानुषत्वमुपागताः ॥ ५१ ॥
ततो व्याधाश्च ते सर्वे तानपृच्छन् द्विजोत्तमान्। मृगा अनेन वै याता अस्माभिः शरपीडिताः ॥ ५२ ॥
निमग्नास्ते सरः प्राप्य क्व ते याता द्विजोत्तमाः। तेऽब्रुवंस्तत्र वै पृष्टा वयं ते च द्विजोत्तमाः ॥ ५३ ॥
अस्य तीर्थस्य माहात्म्यान्मानुषत्वमुपागताः। तस्माद् यूयं श्रद्दधाना स्नात्वा तीर्थे विमत्सराः ॥ ५४ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्ता भविष्यथ न संशयः। ततः स्नाताश्च ते सर्वे शुद्धदेहा दिवं गताः ॥ ५५ ॥
एतत् तीर्थस्य माहात्म्यं मानुषस्य द्विजोत्तमाः। ये शृण्वन्ति श्रद्दधानास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ५६ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

पूर्वकालमें व्याधद्वारा बाणसे विद्ध कृष्णमृग (काला हरिण) उस सरोवरमें स्नानकर मनुष्यत्वको प्राप्त हुए थे। उसके बाद उन सभी व्याधोंने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे पूछा—द्विजोत्तमो ! हम लोगोंद्वारा बाणसे पीड़ित मृग इस मार्गसे जाते हुए सरोवरमें निमग्न होकर कहाँ चले गये ? उनके पूछनेपर उन्होंने उत्तर दिया—हम द्विजोत्तम वे (कृष्ण) मृग ही थे। इस तीर्थके माहात्म्यसे हम सब मनुष्य बन गये हैं। अतएव मत्सरसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक इस तीर्थमें स्नान करनेसे तुम लोग निःसन्देह समस्त पापोंसे विनिर्मुक्त हो जाओगे। फिर स्नान करनेसे शुद्ध देह होकर वे सभी (व्याध) स्वर्ग चले गये। द्विजोत्तमो ! जो श्रद्धापूर्वक मानुषतीर्थके इस माहात्म्यको सुनते हैं, वे भी परम गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ५१-५६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

लोमहर्षण उवाच

मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे द्विजोत्तमाः। आपगा नाम विख्याता नदी द्विजनिषेविता ॥ १ ॥
श्यामाकं पयसा सिद्धमाज्येन च परिप्लुतम्। ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्तेषां पापं न विद्यते ॥ २ ॥
ये तु श्राद्धं करिष्यन्ति प्राप्य तामापगां नदीम्। ते सर्वकामसंयुक्ता भविष्यन्ति न संशयः ॥ ३ ॥
शंसन्ति सर्वे पितरः स्मरन्ति च पितामहाः। अस्माकं च कुले पुत्रः पौत्रो वापि भविष्यति ॥ ४ ॥
य आपगां नदीं गत्वा तिलैः संतर्पयिष्यति। तेन तृप्ता भविष्यामो यावत्कल्पशतं गतम् ॥ ५ ॥

छत्तीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थोंके माहात्म्य एवं क्रमका अनुक्रान्त वर्णन)

लोमहर्षण बोले—द्विजोत्तमो ! मानुषतीर्थकी पूर्व दिशामें एक कोसपर द्विजोंसे पूजित 'आपगा' नामकी एक विख्यात नदी है। वहाँ साँवाके चावलको दूधमें सिद्धकर और उसमें घी मिलाकर जो ब्राह्मणोंको देते हैं, उनके पाप नहीं रह जाते। जो व्यक्ति उस आपगा नदीके तटपर जाकर श्राद्ध करेंगे, वे निःसंदेह समस्त (शुभ) कामनाओंसे पूर्ण होंगे। सभी पितर कहते हैं तथा पितामह लोग स्मरण करते हैं कि हमारे कुलमें कोई ऐसा पुत्र या पौत्र उत्पन्न होगा, जो आपगा नदीके तटपर जाकर तिलसे तर्पण करेगा, जिससे हम सभी सैकड़ों कल्पतक (अनन्त कालतक) तृप्त रहेंगे ॥ १–५ ॥

नभस्ये मासि सम्प्राप्ते कृष्णपक्षे विशेषतः। चतुर्दश्यां तु मध्याह्ने पिण्डदो मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ६ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम्। ब्रह्मोदुम्बरमित्येवं सर्वलोकेषु विश्रुतम् ॥ ७ ॥
तत्र ब्रह्मर्षिकुण्डेषु स्नातस्य द्विजसत्तमाः। सप्तर्षीणां प्रसादेन सप्तसोमफलं भवेत् ॥ ८ ॥
भरद्वाजो गौतमश्च जमदग्निश्च कश्यपः। विश्वामित्रो वसिष्ठश्च अत्रिश्च भगवानृषिः ॥ ९ ॥
एतैः समेत्य तत्कुण्डं कल्पितं भुवि दुर्लभम्। ब्रह्मणा सेवितं यस्माद् ब्रह्मोदुम्बरमुच्यते ॥ १० ॥

भाद्रपद महीनेमें, विशेषकर कृष्णपक्षमें, चतुर्दशी तिथिको मध्याह्न कालमें पिण्डदान करनेवाला मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है। विप्रवरो ! उसके बाद समस्त लोकोंमें 'ब्रह्मोदुम्बर' नामसे प्रसिद्ध ब्रह्माके श्रेष्ठ स्थानमें जाना चाहिये। द्विजवरो ! वहाँ ब्रह्मर्षिकुण्डमें स्नान करनेवाले व्यक्तिको सप्तर्षियोंकी कृपासे सात सोमयज्ञोंका फल प्राप्त होता है। भरद्वाज, गौतम, जमदग्नि, कश्यप, विश्वामित्र, वसिष्ठ एवं भगवान् अत्रि (इन सात) ऋषियोंने मिलकर पृथ्वीमें दुर्लभ इस कुण्डको बनाया था। ब्रह्माद्वारा सेवित होनेके कारण यह स्थान 'ब्रह्मोदुम्बर' कहलाता है ॥ ६–१० ॥

तस्मिंस्तीर्थवरे स्नातो ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः। ब्रह्मलोकमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ ११ ॥
देवान् पितॄन् समुद्दिश्य यो विप्रं भोजयिष्यति। पितरस्तस्य सुखिता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ॥ १२ ॥
सप्तर्षींश्च समुद्दिश्य पृथक् स्नानं समाचरेत्। ऋषीणां च प्रसादेन सप्तलोकाधिपो भवेत् ॥ १३ ॥
कपिस्थलेति विख्यातं सर्वपातकनाशनम्। यस्मिन् स्थितः स्वयं देवो वृद्धकेदारसंज्ञितः ॥ १४ ॥
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च रुद्रं दिण्डिसमन्वितम्। अन्तर्धानमवाप्नोति शिवलोके स मोदते ॥ १५ ॥

अव्यक्त जन्मवाले ब्रह्माके उस श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करके मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है—इसमें कोई संदेहकी बात नहीं है। जो मनुष्य वहाँ देवताओं और पितरोंके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको भोजन करायेगा, उसके पितर सुखी होकर उसे संसारमें दुर्लभ वस्तु प्रदान करेंगे। सात ऋषियोंके उद्देश्यसे जो (व्यक्ति)

जलमें स्नान करेगा, वह ऋषियोंके अनुग्रहसे सात लोकोंका स्वामी होगा। वहाँ सभी पापोंका विनाश करनेवाला विख्यात कपिस्थल नामक तीर्थ है, जहाँ वृद्धकेदार नामके देव स्वयं विद्यमान हैं। वहाँ स्नान करनेके बाद दिण्डिके साथ रुद्रदेवका अर्चन करनेसे मनुष्यको अन्तर्धानकी शक्ति प्राप्त होती है और वह शिवलोकमें आनन्द प्राप्त करता है ॥ ११–१५ ॥

यस्तत्र तर्पणं कृत्वा पिबते चुलकत्रयम्। दिण्डिदेवं नमस्कृत्य केदारस्य फलं लभेत् ॥ १६ ॥
यस्तत्र कुरुते श्राद्धं शिवमुद्दिश्य मानवः। चैत्रशुक्लचतुर्दश्यां प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १७ ॥
कलस्यां तु ततो गच्छेद् यत्र देवी स्वयं स्थिता। दुर्गा कात्यायनी भद्रा निद्रा माया सनातनी ॥ १८ ॥
कलस्यां च नरः स्नात्वा दृष्ट्वा दुर्गां तटे स्थिताम्। संसारगहनं दुर्गं निस्तरेन्नात्र संशयः ॥ १९ ॥

जो व्यक्ति उस स्थानपर तर्पण करके दिण्डि भगवान्‌को प्रणाम कर तीन चुल्लू जल पीता है, वह केदारतीर्थमें जानेका फल प्राप्त करता है। जो व्यक्ति वहाँ शिवजीके उद्देश्यसे चैत्र शुक्ल चतुर्दशी तिथिमें श्राद्ध करता है, वह परमपद (मोक्ष)को प्राप्त कर लेता है। उसके बाद कलसी नामक तीर्थमें जाना चाहिये जहाँ भद्रा, निद्रा, माया, सनातनी, कात्यायनीरूपा दुर्गादेवी स्वयं अवस्थित हैं। कलसी तीर्थमें स्नानकर उसके तीरपर स्थित दुर्गादेवीका दर्शन करनेवाला मनुष्य दुस्तर संसार-दुर्ग (सांसारिक भवबन्धन)को पार कर जाता है। इसमें (तनिक भी) संदेह नहीं करना चाहिये ॥ १६–१९ ॥

ततो गच्छेत सरकं त्रैलोक्यस्यापि दुर्लभम्। कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां दृष्ट्वा देवं महेश्वरम् ॥ २० ॥
लभते सर्वकामांश्च शिवलोकं स गच्छति। तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां सरके द्विजसत्तमाः ॥ २१ ॥
रुद्रकोटिस्तथा कूपे सरोमध्ये व्यवस्थिता। तस्मिन् सरे च यः स्नात्वा रुद्रकोटिं स्मरेन्नरः ॥ २२ ॥
पूजिता रुद्रकोटिश्च भविष्यति न संशयः। रुद्राणां च प्रसादेन सर्वदोषविवर्जितः ॥ २३ ॥
ऐन्द्रज्ञानेन संयुक्तः परं पदमवाप्नुयात्। इडास्पदं च तत्रैव तीर्थं पापभयापहम् ॥ २४ ॥

दुर्गादेवीके दर्शनके बाद तीनों लोकोंमें दुर्लभ सरकतीर्थमें जाना चाहिये। वहाँ कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिको महेश्वरदेवका दर्शन करके मनुष्य (अपने) सभी मनोरथोंको प्राप्त करता और (अन्तमें) शिवलोकमें चला जाता है। द्विजश्रेष्ठो! सरकतीर्थमें तीन करोड़ तीर्थ विद्यमान हैं। सरके बीच कूपमें रुद्रकोटि स्थित है। उस सरमें यदि व्यक्ति स्नान कर रुद्रकोटिका स्मरण करता है तो निःसंदेह (उसके द्वारा) रुद्रकोटि पूजित हो जाता है और रुद्रोंके प्रसादसे वह व्यक्ति समस्त दोषोंसे छूट जाता है। वह इन्द्रसम्बन्धी ज्ञानसे पूरित होकर परम पदको प्राप्त कर लेता है। वहीं पापों और भयोंको दूर करनेवाला इडास्पद नामका तीर्थ वर्तमान है ॥ २०–२४ ॥

यस्मिन् मुक्तिमवाप्नोति दर्शनादेव मानवः। तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च पितृदेवगणानपि ॥ २५ ॥
न दुर्गतिमवाप्नोति मनसा चिन्तितं लभेत्। केदारं च महातीर्थं सर्वकल्मषनाशनम् ॥ २६ ॥
तत्र स्नात्वा तु पुरुषः सर्वदानफलं लभेत्।
किंरूपं च महातीर्थं तत्रैव भुवि दुर्लभम्। तस्मिन् स्नातस्तु पुरुषः सर्वयज्ञफलं लभेत् ॥ २७ ॥
सरकस्य तु पूर्वेण तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। अन्यजन्म सुविख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २८ ॥

इस इडास्पद नामके तीर्थके दर्शनसे ही मनुष्य मुक्तिको प्राप्त कर लेता है। वहाँ स्नान करके पितरों एवं देवोंका पूजन करनेसे मनुष्यकी दुर्गति नहीं होती और उसे मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त होती है। सभी पापोंका

विनाश करनेवाला [illegible] नामक महातीर्थ है। वहाँ जाकर स्नान करनेसे मनुष्यको सभी प्रकारके [illegible] फल प्राप्त होता है। यहींपर पृथ्वीमें दुर्लभ विरूप नामका (भी) तीर्थ है। उसमें स्नान करनेवाले मनुष्यको सभी प्रकारके यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। सरकके पूर्वमें तीनों लोकोंमें सुप्रसिद्ध सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाला अन्यजन्म नामका तीर्थ है ॥ २५–२८ ॥

नारसिंहं वपुः कृत्वा हत्वा दानवमूर्जितम्। तिर्यग्योनौ स्थितो विष्णुः सिंहेषु रतिमाप्नुवन् ॥ २९ ॥
ततो देवाः सगन्धर्वा आराध्य वरदं शिवम्। ऊचुः प्रणतसर्वाङ्गा विष्णुदेहस्य लम्भने ॥ ३० ॥
ततो देवो महात्माऽसौ शारभं रूपमास्थितः।
युद्धं च कारयामास दिव्यं वर्षसहस्रकम्। युध्यमानौ तु तौ देवौ पतितौ सरमध्यतः ॥ ३१ ॥
तस्मिन् सरस्तटे विप्रो देवर्षिर्नारदः स्थितः। अश्वत्थवृक्षमाश्रित्य ध्यानस्थस्तौ ददर्श ह ॥ ३२ ॥
विष्णुश्चतुर्भुजो जज्ञे लिङ्गाकारः शिवः स्थितः। तौ दृष्ट्वा तत्र पुरुषौ तुष्टाव भक्तिभावितः ॥ ३३ ॥

नरसिंहका शरीर धारण कर शक्तिशाली दानव (हिरण्याक्ष)का वध करनेके बाद विष्णु पशुयोनिमें स्थित सिंहोंमें प्रेम करने लगे। उसके बाद गन्धर्वोंके साथ सभी देवताओंने वरदाता शिवकी आराधना कर उन्हें प्रणाम करते हुए विष्णुसे पुनः स्वदेह (स्वरूप) धारण करनेकी प्रार्थना की। उसके बाद (फिर) महात्मा शिवने शरभ (सिंहसे भी बलवान् पशु-विशेष)का रूप धारण करके (नरसिंहसे) हजारों दिव्य वर्षोंतक युद्ध किया कराया। दोनों देवता (आपसमें) युद्ध करते हुए सरोवरमें गिर पड़े। उस सरोवरके तीरपर (स्थित) अश्वत्थ (पीपल) वृक्षके नीचे देवर्षि नारद ध्यान लगाये बैठे थे। उन्होंने उन दोनोंको देखा। (फिर तो) विष्णु चतुर्भुज रूपमें और शिव लिङ्गरूपमें (परिवर्तित) हो गये। उन दोनों पुरुषों (देवों)को देखकर उन्होंने भक्तिभावसे उनकी स्तुति की ॥ २९–३३ ॥

नमः शिवाय देवाय विष्णवे प्रभविष्णवे। हरये च उमाभर्त्रे स्थितिकालभृते नमः ॥ ३४ ॥
हराय बहुरूपाय विश्वरूपाय विष्णवे। त्र्यम्बकाय सुसिद्धाय कृष्णाय ज्ञानहेतवे ॥ ३५ ॥
धन्योऽहं सुकृती नित्यं यद् दृष्टौ पुरुषोत्तमौ।
ममाश्रममिदं पुण्यं युवाभ्यां विमलीकृतम्। अद्यप्रभृति त्रैलोक्ये अन्यजन्मेति विश्रुतम् ॥ ३६ ॥
य इहागत्य स्नात्वा च पितॄन् संतर्पयिष्यति। तस्य श्रद्धान्वितस्येह ज्ञानमैन्द्रं भविष्यति ॥ ३७ ॥

[नारदजीने स्तुति की]—देवाधिदेव शिवको नमस्कार है। प्रभावशाली विष्णुको नमस्कार है। स्थिति (प्रजापालन) करनेवाले श्रीहरिको नमस्कार है। संहारक आधारभूत उमापति भगवान् शिवको नमस्कार है। बहुरूपधारी शङ्करजी एवं विश्वरूपधारी (विश्वात्मा) विष्णुको नमस्कार है। परमसिद्ध (योगीश्वर) शङ्कर एवं ज्ञानके मूल कारण भगवान् कृष्णको नमस्कार है। मैं धन्य तथा सदा पुण्यवान् हूँ; क्योंकि मुझे (आज) आप दोनों (श्रेष्ठ) पुरुषों (देवों)का दर्शन प्राप्त हुआ। आप दोनों पुरुषोंद्वारा पवित्र किया गया मेरा यह आश्रम पुण्यमय हो गया। आजसे तीनों लोकोंमें यह 'अन्यजन्म' नामसे प्रसिद्ध हो जायगा। जो व्यक्ति यहाँ आकर इस तीर्थमें स्नान कर अपने पितरोंका तर्पण करेगा, श्रद्धासे सम्पन्न उस पुरुषको इन्द्र-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हो जायगा ॥ ३४–३७ ॥

अश्वत्थस्य तु यन्मूलं सदा तत्र वसाम्यहम्। अश्वत्थवन्दनं कृत्वा यमं रौद्रं न पश्यति ॥ ३८ ॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा नागस्य ह्रदमुत्तमम्। पौण्डरीकं नरः स्नात्वा पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ३९ ॥
दशम्यां शुक्लपक्षस्य चैत्रस्य तु विशेषतः। स्नानं जपं तथा श्राद्धं मुक्तिमार्गप्रदायकम् ॥ ४० ॥
ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत् तीर्थं देवनिषेवितम्। तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रमोचनी ॥ ४१ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम्। सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छत्येव परां गतिम् ॥ ४२ ॥

मैं पीपल वृक्षके मूलमें सदा निवास करूँगा। उस अश्वत्थ-(पीपल वृक्ष)को प्रणाम करनेवाला व्यक्ति भयंकर यमराजको नहीं देखेगा। श्रेष्ठ ब्राह्मणो! उसके बाद (उस तीर्थसेवीको) उत्तम नागह्रदमें जाना चाहिये। पौण्डरीकमें स्नान करके मनुष्य पुण्डरीक (एक प्रकारके यज्ञ-)का फल प्राप्त करता है। शुक्लपक्षकी दशमी, विशेषकर चैत्र मासकी (शुक्ला) दशमी तिथिमें वहाँ किया गया स्नान, जप और श्राद्ध मोक्षपदकी प्राप्ति करानेवाला होता है। पुण्डरीकमें स्नान करनेके बाद देवताओंद्वारा पूजित 'त्रिविष्टप' नामक तीर्थमें जाना चाहिये। वहाँ पापोंसे विमुक्त करनेवाली पवित्र वैतरणी नदी है। वहाँ स्नानकर शूलपाणि वृषध्वज-(शिव)की पूजा कर मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है तथा विशुद्ध होकर निश्चय ही परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ३८—४२ ॥

ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा रसावर्त्तमनुत्तमम्। तत्र स्नात्वा भक्तियुक्तः सिद्धिमाप्नोत्यनुत्तमाम्॥ ४३॥
चैत्रशुक्लचतुर्दश्यां तीर्थे स्नात्वा ह्यलेपके। पूजयित्वा शिवं तत्र पापलेपो न विद्यते॥ ४४॥
ततो गच्छेत विप्रेन्द्रा फलकीवनमुत्तमम्।
यत्र देवाः सगन्धर्वाः साध्याश्च ऋषयः स्थिताः। तपश्चरन्ति विपुलं दिव्यं वर्षसहस्रकम्॥ ४५॥
दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः। अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः॥ ४६॥

विप्रश्रेष्ठो! तत्पश्चात् सर्वश्रेष्ठ रसावर्त (तीर्थ)में जाना चाहिये। वहाँ भक्तिसहित स्नान करनेवाला सर्वश्रेष्ठ सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करता है। चैत्रमासके शुक्लपक्षकी चतुर्दशी (चौदस) तिथिको 'अलेपक' नामक तीर्थमें स्नान कर वहाँ शिवकी पूजा करनेसे पापसे लिप्त नहीं होता—पाप दूर भाग जाता है। विप्रवरो! वहाँसे उत्तम फलकीवनमें जाना चाहिये। वहाँ देवता, गन्धर्व, साध्य और ऋषि लोग रहते हैं एवं दिव्य सहस्र वर्षोंतक बहुत तप करते हैं। दृषद्वती (कग्गर) नदीमें स्नानकर देवताओंका तर्पण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र नामक यज्ञोंसे मिलनेवाले फलको प्राप्त करता है॥ ४३—४६॥

सोमक्षये च सम्प्राप्ते सोमस्य च दिने तथा। यः श्राद्धं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु॥ ४७॥
गयायां च यथा श्राद्धं पितॄन् प्रीणाति नित्यशः। तथा श्राद्धं च कर्तव्यं फलकीवनमाश्रितैः॥ ४८॥
मनसा स्मरते यस्तु फलकीवनमुत्तमम्। तस्यापि पितरस्तृप्तिं प्रयास्यन्ति न संशयः॥ ४९॥
तत्रापि तीर्थं सुमहत् सर्वदेवैरलङ्कृतम्। तस्मिन् स्नातस्तु पुरुषो गोसहस्रफलं लभेत्॥ ५०॥
पाणिखाते नरः स्नात्वा पितॄन् संतर्प्य मानवः। अवाप्नुयाद् राजसूयं सांख्यं योगं च विन्दति॥ ५१॥

सोमवारके दिन चन्द्रमाके क्षीण हो जानेपर अर्थात् सोमवती अमावस्याको जो मनुष्य श्राद्ध करता है, उसका पुण्यफल सुनो। जैसे गया-क्षेत्रमें किया गया श्राद्ध पितरोंको नित्य तृप्त करता है, वैसे ही फलकीवनमें रहनेवालोंको श्राद्ध करनेसे पितरोंको तृप्ति होती है। जो मनुष्य मनसे फलकीवनका स्मरण करता है, उसके भी पितर निःसंदेह तृप्ति प्राप्त करते हैं। वहीं सभी देवोंसे सुशोभित एक 'सुमहत्'तीर्थ है, उसमें स्नान करनेवाला पुरुष हजारों गौओंके दानका फल प्राप्त करता है। मानव पाणिखात तीर्थमें स्नान करके एवं पितरोंका तर्पण कर राजसूय-यज्ञ तथा सांख्य (ज्ञान) और योग-(कर्म)के अनुष्ठान करनेसे होनेवाले फलको प्राप्त करता है॥ ४७—५१॥

ततो गच्छेत सुमहत्तीर्थं मिश्रकमुत्तमम्। तत्र तीर्थानि मुनिना मिश्रितानि महात्मना॥ ५२॥
व्यासेन मुनिशार्दूला दधीच्यर्थं महात्मना। सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः॥ ५३॥
ततो व्यासवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः। मनोजवे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा देवमणिं

मनसा चिन्तितं सर्वं सिध्यते नात्र संशयः । गत्वा मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थं नरः शुचिः ॥ ५५ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयेद् देवान् पितॄंश्च प्रयतो नरः । स देव्या समनुज्ञातो यथा सिद्धिं लभेन्नरः ॥ ५६ ॥

पाणिखातके बाद 'मिश्रक' नामक महान् एवं श्रेष्ठ तीर्थमें जाना चाहिये । मुनिश्रेष्ठो ! वहाँ महात्मा व्यासदेवने दधीचिऋषिके हेतु तीर्थोंको एकमें मिश्रित किया था । इस मिश्रक तीर्थमें स्नान कर लेनेवाला मनुष्य (मानो) सभी तीर्थोंमें स्नान कर लेता है । फिर संयमशील तथा नियमित आहार करनेवाला होकर व्यासवनमें जाना चाहिये । 'मनोजव' तीर्थमें स्नानकर 'देवमणि' शंकरका दर्शन करनेसे मनुष्यको अभीष्ट सिद्धिकी प्राप्ति होती है—इसमें सन्देह नहीं । मनुष्यको देवीके मधुवटी नामक तीर्थमें जाकर स्नान करके संयत होकर देवों एवं पितरोंकी पूजा करनी चाहिये । ऐसा करनेवाला व्यक्ति देवीकी आज्ञासे (जैसी चाहता है, वैसी) सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ५२–५६ ॥

कौशिक्याः सङ्गमे यस्तु दृषद्वत्या नरोत्तमः । स्नायीत नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५७ ॥
ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता । पुत्रशोकाभिभूतेन देहत्यागाय निश्चयः ॥ ५८ ॥
कृतो देवैश्च विप्रेन्द्राः पुनरुत्थापितस्तदा । अभिगम्य स्थलीं तस्य पुत्रशोकं न विन्दति ॥ ५९ ॥
किंदत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च । गच्छेत परमां सिद्धिं ऋणैर्मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ ६० ॥
अहं च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे भुवि दुर्लभे । तयोः स्नात्वा विशुद्धात्मा सूर्यलोकमवाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य 'कौशिकी' और 'दृषद्वती' (घग्घर) नदियोंके सङ्गममें स्नान करता और नियत भोजन करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! 'व्यासस्थली' नामका एक स्थान है, जहाँ पुत्रशोकसे दुःखी होकर वेदव्यासने अपने शरीरत्यागका निश्चय कर लिया था, पर देवोंने उन्हें पुनः सँभाल लिया । उसके बाद उस भूमिमें जानेवाले मनुष्यको पुत्रशोक नहीं होता । 'किंदत्तकूप'में जाकर एक प्रस्थ (सेरभर एक परिमाण) तिल दान करनेसे मनुष्य परमसिद्धि और ऋणसे मुक्ति प्राप्त करता है । 'अह' एवं 'सुदिन' नामक ये दो तीर्थ पृथ्वीमें दुर्लभ हैं । इन दोनोंमें स्नान करनेसे मनुष्य विशुद्धात्मा होकर सूर्यलोकको प्राप्त करता है ॥ ५७–६१ ॥

कृतजप्यं ततो गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् । तत्राभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां प्रयतः स्थितः ॥ ६२ ॥
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् । कोटितीर्थं च तत्रैव दृष्ट्वा कोटीश्वरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥
तत्र स्नात्वा श्रद्दधानः कोटियज्ञफलं लभेत् । ततो वामनकं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ६४ ॥
यत्र वामनरूपेण विष्णुना प्रभविष्णुना । बलेरपहृतं राज्यमिन्द्राय प्रतिपादितम् ॥ ६५ ॥

उसके बाद तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध 'कृतजप्य' नामके तीर्थमें जाना चाहिये । वहाँ नियमपूर्वक संयत रहते हुए गङ्गामें स्नान करना चाहिये । वहाँपर महादेवका पूजन करनेसे अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है । वहींपर कोटितीर्थ स्थित है । वहाँ श्रद्धापूर्वक स्नानकर 'कोटीश्वर' नामका दर्शन करके मनुष्य कोटि यज्ञोंका फल प्राप्त कर लेता है । उसके बाद तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध 'वामनक' तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ प्रभावशाली विष्णुने वामनरूप धारणकर बलिका राज्य छीन कर इन्द्रको दे दिया था ॥ ६२–६५ ॥

तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् । सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ ६६ ॥
ज्येष्ठाश्रमं च तत्रैव सर्वपापप्रणाशनम् । तं तु दृष्ट्वा नरो मुक्तिं संप्रयाति न संशयः ॥ ६७ ॥
ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे एकादश्यामुपोषितः । द्वादश्यां च नरः स्नात्वा ज्यैष्ठ्यं लभते नृषु ॥ ६८ ॥
तत्र प्रतिष्ठिता विप्रा विष्णुना प्रभविष्णुना । यौगाद्यद्विजमुख्या विष्णुध्यानपरायणाः ॥ ६९ ॥

वहाँ 'विष्णुपद' तीर्थमें स्नान कर वामनदेवकी पूजा कर समस्त पापोंसे शुद्ध होकर (छूटकर) मनुष्य विष्णुके लोकको प्राप्त कर लेता है। वहींपर सभी पापोंको नष्ट करनेवाला ज्येष्ठाश्रम नामका तीर्थ है, उसका दर्शन कर मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है—इसमें संदेह नहीं। ज्येष्ठ महीनेके शुक्लपक्षकी एकादशी तिथिको उपवास कर द्वादशी तिथिके दिन स्नानकर मानव मनुष्योंमें श्रेष्ठता (बड़प्पन) प्राप्त करता है। वहाँ (सर्वाधिक) प्रभावशाली विष्णु भगवान्‌ने यज्ञादिमें दीक्षित (लगे हुए), प्रतिष्ठित एवं सम्मान्य तथा विष्णु भगवान्‌की आराधनामें परायण ब्राह्मणोंको सम्मानित किया था ॥ ६६-६९ ॥

तेभ्यो दत्तानि श्राद्धानि दानानि विविधानि च। अक्षयाणि भविष्यन्ति यावन्मन्वन्तरस्थितिः ॥ ७० ॥
तत्रैव कोटितीर्थं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा कोटियज्ञफलं लभेत् ॥ ७१ ॥
कोटीश्वरं नरो दृष्ट्वा तस्मिंस्तीर्थे महेश्वरम्। महादेवप्रसादेन गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ ७२ ॥
तत्रैव सुमहत् तीर्थं सूर्यस्य च महात्मनः। तस्मिन् स्नात्वा भक्तियुक्तः सूर्यलोके महीयते ॥ ७३ ॥

उन्हें दिये गये (पात्रक) श्राद्ध और अनेक प्रकारके दान अक्षय एवं मन्वन्तरतक स्थिर रहते हैं। वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात 'कोटि-तीर्थ' है। उस तीर्थमें स्नानकर मनुष्य करोड़ों यज्ञोंके फल प्राप्त करता है। उस तीर्थमें 'कोटीश्वर' महादेवका दर्शन कर मनुष्य उन महादेवकी कृपासे गाणपत्य पद (गणनायकत्वकी उपाधि) प्राप्त करता है। और, वहीं महात्मा सूर्यदेवका महान् तीर्थ है। उसमें भक्तिपूर्वक स्नानकर मनुष्य सूर्यलोकमें महान् माना जाता है ॥ ७०-७३ ॥

ततो गच्छेत विप्रेन्द्रास्तीर्थं कल्मषनाशनम्। कुलोत्तारणनामानं विष्णुना कल्पितं पुरा ॥ ७४ ॥
वर्णानामाश्रमाणां च तारणाय सुनिर्मलम्।
ब्रह्मचर्यात्परं मोक्षं य इच्छन्ति सुनिर्मलम्। तेऽपि तत्तीर्थमासाद्य पश्यन्ति परमं पदम् ॥ ७५ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। कुलानि तारयेत् स्नातः सप्त सप्त च सप्त च ॥ ७६ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये तत्परायणाः। स्नाता भक्तियुताः सर्वे पश्यन्ति परमं पदम् ॥ ७७ ॥
दूरस्थोऽपि स्मरेद् यस्तु कुरुक्षेत्रं सवामनम्। सोऽपि मुक्तिमवाप्नोति किं पुनर्निवसन्नरः ॥ ७८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! कोटितीर्थके बाद पापका नाश करनेवाले 'कुलोत्तारणतीर्थ'में जाना चाहिये, जिसे प्राचीनकालमें विष्णुने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाले मनुष्योंको तारनेके लिये बनाया था। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यव्रतसे विशुद्ध मुक्तिकी इच्छा करते हैं ऐसे लोग भी उस तीर्थमें जाकर परमपदका दर्शन कर लेते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी वहाँ स्नानकर अपने कुलके (७ + ७ + ७=२१) इक्कीस पूर्व पुरुषोंका उद्धार कर देते हैं। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र उस तीर्थमें तीर्थपरायण होकर एवं भक्तिसे स्नान करते हैं, वे सभी परमपदका दर्शन करते हैं। और, जो दूर रहता हुआ भी वामनसहित कुरुक्षेत्रका स्मरण करता है, वह भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है, फिर वहाँ निवास करनेवालेका तो कहना ही क्या ? ॥ ७४-७८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

मनसा चिन्तितं सर्वं सिध्यते नात्र संशयः । गत्वा मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थं नरः शुचिः ॥ ५५ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयेद् देवान् पितृंश्च प्रयतो नरः । स देव्या समनुज्ञातो यथा सिद्धिं लभेन्नर ॥ ५६ ॥

पाणिखातके बाद 'मिश्रक' नामक महान् एवं श्रेष्ठ तीर्थमें जाना चाहिये । मुनिश्रेष्ठो ! यहाँ महात्मा व्यासदेवने दधीचिऋषिके हेतु तीर्थोंको एकमें मिश्रित किया था। इस मिश्रक तीर्थमें स्नान कर लेनेवाला मनुष्य (मानो) सभी तीर्थोंमें स्नान कर लेता है । फिर संयमशील तथा नियमित आहार करनेवाला होकर व्यासवनमें जाना चाहिये । 'मनोजव' तीर्थमें स्नानकर 'देवमणि' शंकरका दर्शन करनेसे मनुष्यको अभीष्ट सिद्धिकी प्राप्ति होती है—इसमें सन्देह नहीं । मनुष्यको देवीके मधुवटी नामक तीर्थमें जाकर स्नान करके संयत होकर देवों एवं पितरोंकी पूजा करनी चाहिये । ऐसा करनेवाला व्यक्ति देवीकी आज्ञासे (जैसी चाहता है, वैसी) सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ५२–५६ ॥

कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्या नरोत्तमः । स्नायीत नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५७ ॥
ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता । पुत्रशोकाभिभूतेन देहत्यागाय निश्चयः ॥ ५८ ॥
कृतो देवैश्च विप्रेन्द्राः पुनरुत्थापितस्तदा । अभिगम्य स्थलीं तस्य पुत्रशोकं न विन्दति ॥ ५९ ॥
किंदत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च । गच्छेत परमां सिद्धिं ऋणैर्मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ ६० ॥
अह्नं च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे भुवि दुर्लभे । तयोः स्नात्वा विशुद्धात्मा सूर्यलोकमवाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य 'कौशिकी' और 'दृषद्वती' (कगार) नदियोंके संगममें स्नान करता और नियत भोजन करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! 'व्यासस्थली' नामका एक स्थान है, जहाँ पुत्रशोकसे दुःखी होकर वेदव्यासने अपने शरीरत्यागका निश्चय कर लिया था, पर देवोंने उन्हें पुनः सँभाल लिया । उसके बाद उस भूमिमें जानेवाले मनुष्यको पुत्रशोक नहीं होता। 'किंदत्तकूप'में जाकर एक पसर (तौलका एक परिमाण) तिलका दान करनेसे मनुष्य परमसिद्धि और ऋणसे मुक्ति प्राप्त करता है । 'अह्न' एवं 'सुदिन' नामक ये दो तीर्थ पृथ्वीमें दुर्लभ हैं । इन दोनोंमें स्नान करनेसे मनुष्य विशुद्धात्मा होकर सूर्यलोकको प्राप्त करता है ॥ ५७–६१ ॥

कृतजप्यं ततो गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् । तत्राभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां प्रयतः स्थितः ॥ ६२ ॥
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् । कोटितीर्थं च तत्रैव दृष्ट्वा कोटीश्वरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥
तत्र स्नात्वा श्रद्दधानः कोटियज्ञफलं लभेत् । ततो वामनकं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ६४ ॥
यत्र वामनरूपेण विष्णुना प्रभविष्णुना । बलेरपहृतं राज्यमिन्द्राय प्रतिपादितम् ॥ ६५ ॥

उसके बाद तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध 'कृतजप्य' नामके तीर्थमें जाना चाहिये । वहाँ नियमपूर्वक संयत रहते हुए गङ्गामें स्नान करना चाहिये । वहाँपर महादेवका पूजन करनेसे अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है । वहींपर कोटितीर्थ स्थित है । वहाँ श्रद्धापूर्वक स्नानकर 'कोटीश्वर' नामका दर्शन करनेसे मनुष्य कोटि यज्ञोंका फल प्राप्त कर लेता है । उसके बाद तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध 'वामनक' तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ प्रभावशाली विष्णुने वामनरूप धारणकर बलिका राज्य छीन कर इन्द्रको दे दिया था ॥ ६२–६५ ॥

तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् । सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ ६६ ॥
ज्येष्ठाश्रमं च तत्रैव सर्वपातकनाशनम् । तं तु दृष्ट्वा नरो मुक्तिं संप्रयाति न संशयः ॥ ६७ ॥
ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे एकादश्यामुपोषितः । द्वादश्यां च नरः स्नात्वा ज्येष्ठत्वं लभते नृषु ॥ ६८ ॥
तत्र प्रतिष्ठिता विप्रा विष्णुना प्रभविष्णुना । दीक्षाप्रतिष्ठासंयुक्ता विष्णुप्रीणनतत्पराः ॥ ६९ ॥

वहाँ 'विष्णुपद' तीर्थमें स्नान कर वामनदेवकी पूजा कर समस्त पापोंसे शुद्ध होकर (छूटकर) मनुष्य विष्णुके लोकको प्राप्त कर लेता है। वहींपर सभी पापोंको नष्ट करनेवाला ज्येष्ठाश्रम नामका तीर्थ है, उसका दर्शन कर मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है—इसमें संदेह नहीं। ज्येष्ठ महीनेके शुक्लपक्षकी एकादशी तिथिको उपवास कर द्वादशी तिथिके दिन स्नानकर मानव मनुष्योंमें श्रेष्ठता (बड़प्पन) प्राप्त करता है। यहाँ (सर्वाधिक) प्रभावशाली विष्णु भगवान्‌ने यज्ञादिमें दीक्षित (लगे हुए), प्रतिष्ठित एवं सम्मान्य तथा विष्णु भगवान्‌की आराधनामें परायण ब्राह्मणोंको सम्मानित किया था ॥ ६६–६९ ॥

तेभ्यो दत्तानि श्राद्धानि दानानि विविधानि च। अक्षयाणि भविष्यन्ति यावन्मन्वन्तरस्थिति ॥ ७० ॥
तत्रैव कोटितीर्थं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा कोटियज्ञफलं लभेत् ॥ ७१ ॥
कोटीश्वरं नरो दृष्ट्वा तस्मिंस्तीर्थे महेश्वरम्। महादेवप्रसादेन गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ ७२ ॥
तत्रैव सुमहत् तीर्थं सूर्यस्य च महात्मनः। तस्मिन् स्नात्वा भक्तियुक्तः सूर्यलोके महीयते ॥ ७३ ॥

उन्हें दिये गये (पात्रक) श्राद्ध और अनेक प्रकारके दान अक्षय एवं मन्वन्तरतक स्थिर रहते हैं। वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात 'कोटि-तीर्थ' है। उस तीर्थमें स्नानकर मनुष्य करोड़ों यज्ञोंके फल प्राप्त करता है। उस तीर्थमें 'कोटीश्वर' महादेवका दर्शन कर मनुष्य उन महादेवकी कृपासे गाणपत्य पद (गणनायकत्वकी उपाधि) प्राप्त करता है। और, वहीं महात्मा सूर्यदेवका महान् तीर्थ है। उसमें भक्तिपूर्वक स्नानकर मनुष्य सूर्यलोकमें महान् माना जाता है ॥ ७०–७३ ॥

ततो गच्छेत विप्रेन्द्रास्तीर्थं कल्मषनाशनम्। कुलोत्तारणनामानं विष्णुना कल्पितं पुरा ॥ ७४ ॥
वर्णानामाश्रमाणां च तारणाय सुनिर्मलम्।
ब्रह्मचर्यात्परं मोक्षं य इच्छन्ति सुनिर्मलम्। तेऽपि तत्तीर्थमासाद्य पश्यन्ति परमं पदम् ॥ ७५ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। कुलानि तारयेत् स्नातः सप्त सप्त च सप्त च ॥ ७६ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये तत्परायणाः। स्नाता भक्तियुताः सर्वे पश्यन्ति परमं पदम् ॥ ७७ ॥
दूरस्थोऽपि स्मरेद् यस्तु कुरुक्षेत्रं सवामनम्। सोऽपि मुक्तिमवाप्नोति किं पुनर्नियसन्नरः ॥ ७८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! कोटितीर्थके बाद पापका नाश करनेवाले 'कुलोत्तारणतीर्थ'में जाना चाहिये, जिसे प्राचीनकालमें विष्णुने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाले मनुष्योंको तारनेके लिये बनाया था। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यव्रतसे विशुद्ध मुक्तिकी इच्छा करते हैं ऐसे लोग भी उस तीर्थमें जाकर परमपदका दर्शन कर लेते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी यहाँ स्नानकर अपने कुलके (७ + ७ + ७=२१) इक्कीस पूर्व पुरुषोंका उद्धार कर देते हैं। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र उस तीर्थमें तीर्थपरायण होकर एवं भक्तिसे स्नान करते हैं, वे सभी परमपदका दर्शन करते हैं। और, जो दूर रहता हुआ भी वामनसहित कुरुक्षेत्रका स्मरण करता है, वह भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है, फिर यहाँ निवास करनेवालेका तो कहना ही क्या ! ॥ ७४–७८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

[अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

पवनस्य ह्रदे स्नात्वा दृष्ट्वा देवं महेश्वरम् । विमुक्तः कलुषैः सर्वैः शैवं पदमवाप्नुयात् ॥ १ ॥
पुत्रशोकेन पवनो यस्मिँल्लीनो बभूव ह । ततः सब्रह्मकैर्देवैः प्रसाद्य प्रकटीकृतः ॥ २ ॥
अतो गच्छेत अमृतं स्थानं तच्छूलपाणिनः । यत्र देवैः सगन्धर्वैः हनुमान् प्रकटीकृतः ॥ ३ ॥
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा अमृतत्वमवाप्नुयात् । कुलोत्तारणमासाद्य तीर्थसेवी द्विजोत्तम ॥ ४ ॥
कुलानि तारयेत् सर्वान् मातामहपितामहान् । शालिहोत्रस्य राजर्षेस्तीर्थे त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ ५ ॥
तत्र स्नात्वा विमुक्तस्तु कलुषैर्देहसम्भवैः । श्रीकुञ्जं तु सरस्वत्यां तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ ६ ॥
तत्र स्नात्वा नरो भक्त्या अग्निष्टोमफलं लभेत् । ततो नैमिषकुञ्जं तु समासाद्य नरः शुचिः ॥ ७ ॥
नैमिषस्य च स्नानेन यत् पुण्यं तत् समाप्नुयात् । तत्र तीर्थं महाख्यातं वेदवत्या निषेवितम् ॥ ८ ॥

सैंतीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थोंके माहात्म्य और क्रमका पूर्वानुक्रान्त वर्णन)

लोमहर्षण बोले—पवनके ह्रदमें, पुत्र (हनुमान्‌जी)के शोकके कारण जिस सरोवरमें पवन लीन हो गये थे, उसमें स्नान करके महेश्वरदेवका दर्शन कर मनुष्य समस्त पापोंसे विमुक्त हो शिवपदको प्राप्त करता है। उसके बाद ब्रह्माके साथ सभी देवोंने मिलकर उन्हें प्रसन्न एवं प्रत्यक्ष प्रकट किया। वहाँसे शूलपाणि (भगवान् शङ्कर)के अमृतनामक स्थानमें जाना चाहिये, जहाँ गन्धर्वोंके साथ देवताओंने हनुमान्‌जीको प्रकट किया था। उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य अमृतपदको पा लेता है। नियमानुसार तीर्थका सेवन करनेवाला श्रेष्ठ ब्राह्मण 'कुलोत्तारण' तीर्थमें जाकर अपने मातामह और पितामहके समस्त वंशोंका उद्धार कर देता है। तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध राजर्षि शालिहोत्रके तीर्थमें स्नान कर मुक्त हो मनुष्य शारीरिक पापोंसे सर्वथा छूट जाता है। सरस्वती-क्षेत्रमें तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध श्रीकुञ्जनामक तीर्थ है। उसमें भक्तिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त कर लेता है। मनुष्य वहाँसे नैमिषकुञ्जतीर्थमें जाकर पवित्र हो जाता है और नैमिषारण्यतीर्थमें स्नान करनेसे जो पुण्य होता है, उसे प्राप्त कर लेता है। वहाँपर 'वेदवती'से निषेवित बहुत प्रसिद्ध तीर्थ है ॥ १—८ ॥

रावणेन गृहीतायाः केशेषु द्विजसत्तमाः । तद्वधाय च सा प्राणान् मुमुचे शोककर्शिता ॥ ९ ॥
ततो जाता गृहे राज्ञो जनकस्य महात्मनः । सीता नामेति विख्याता रामपत्नी पतिव्रता ॥ १० ॥
सा हृता रावणेनेह विनाशायात्मनः स्वयम् । रामेण रावणं हत्वा अभिषिच्य विभीषणम् ॥ ११ ॥
समानीता गृहं सीता कीर्तिरात्मवता यथा । तस्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा कन्यायज्ञफलं लभेत् ॥ १२ ॥
विमुक्तः कलुषैः सर्वैः प्राप्नोति परमं पदम् । ततो गच्छेत सुमहद् ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ॥ १३ ॥
यत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः । ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा परं पदमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

द्विजश्रेष्ठो ! रावणके द्वारा अपने केशोंके पकड़े जानेपर शोकसे संतप्त होकर (वेदवतीने) उसके (रावणके) वधके लिये अपने प्राणोंको छोड़ दिया था और उसके बाद महात्मा राजा जनकके घरमें वे उत्पन्न हुईं और उनका नाम 'सीता' विख्यात हुआ तथा वे रामकी पतिव्रता पत्नी हुईं। उस सीताको रावणने स्वयं अपने विनाशके लिये अपहृत कर लिया। सीताके अपहरण हो जानेपर राम-रावण-युद्ध हुआ, जिसमें रावणको

मारनेके बाद विभीषणको (लङ्काके राज्यपर) अभिषिक्त कर राम सीताको वैसे ही घर लौटा लाये, जैसे आत्मवान् (जितेन्द्रिय) पुरुष कीर्तिको प्राप्त करता है। उनके तीर्थमें स्नान कर मनुष्य कन्यायज्ञ (कन्यादान)का फल एवं समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त करता है। उस वेदवतीतीर्थके बाद ब्रह्माके उत्तम और महान् स्थानमें जाना चाहिये, जहाँ स्नान करनेसे अवर-वर्णका व्यक्ति (जन्मान्तरमें) ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेता है और ब्राह्मण विशुद्ध अन्तःकरणवाला होकर परमपदकी प्राप्ति करता है ॥ ९-१४ ॥

ततो गच्छेत सोमस्य तीर्थं त्रैलोक्यदुर्लभम्। यत्र सोमस्तपस्तप्त्वा द्विजराज्यमवाप्नुयात् ॥ १५ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च स्वपितॄन् दैवतानि च। निर्मलः स्वर्गमायाति कार्तिक्यां चन्द्रमा यथा ॥ १६ ॥
सप्तसारस्वतं तीर्थं त्रैलोक्यस्यापि दुर्लभम्। यत्र सप्त सरस्वत्य एकीभूता वहन्ति च ॥ १७ ॥
सुप्रभा काञ्चनाक्षी च विशाला मानसह्रदा। सरस्वत्योघनामा च सुरेणुर्विमलोदका ॥ १८ ॥

उस ब्रह्माके तीर्थ स्थलपर जानेके बाद तीनों लोकोंमें दुर्लभ 'सोमतीर्थ'में जाना चाहिये, जहाँ चन्द्रमाने तपस्या करके द्विजराजत्व-पदको प्राप्त किया था। वहाँ स्नानकर अपने पितरों और देवताओंकी पूजा करनेसे मनुष्य कार्तिककी पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान निर्मल होकर स्वर्गको प्राप्त कर लेता है। तीनों लोकोंमें दुर्लभ 'सप्तसारस्वतनामक' एक तीर्थ है, जहाँ सुप्रभा, काञ्चनाक्षी, विशाला, मानसह्रदा, सरस्वती, ओघवती, विमलोदका एवं सुरेणु नामकी सातों सरस्वतियाँ (नदियाँ) एकत्र मिलकर प्रवाहित होती हैं ॥ १५-१८ ॥

पितामहस्य यजतः पुष्करेषु स्थितस्य ह। अब्रुवन् ऋषयः सर्वे नाऽयं यज्ञो महाफलः ॥ १९ ॥
न दृश्यते सरिच्छ्रेष्ठा यस्मादिह सरस्वती। तच्छ्रुत्वा भगवान् प्रीतः सस्माराथ सरस्वतीम् ॥ २० ॥
पितामहेन यजता आहूता पुष्करेषु वै। सुप्रभा नाम सा देवी तत्र ख्याता सरस्वती ॥ २१ ॥
तां दृष्ट्वा मुनयः प्रीता वेगयुक्तां सरस्वतीम्। पितामहं मानयन्तीं ते तु तां बहु मेनिरे ॥ २२ ॥

पुष्करतीर्थमें स्थित ब्रह्माजीके यज्ञके अनुष्ठानमें लग जानेपर सभी ऋषियोंने उनसे कहा—आपका यह यज्ञ महाफलजनक नहीं होगा, क्योंकि यहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती (नदी) नहीं दिखलायी पड़ रही है। उसे सुनकर भगवान्‌ने प्रसन्नतापूर्वक सरस्वतीका स्मरण किया। पुष्करमें यज्ञ कर रहे ब्रह्माजीद्वारा आहूत की गयी 'सुप्रभा' नामकी देवी वहाँ सरस्वती नामसे प्रसिद्ध हुई। ब्रह्माजीका मान करनेवाली उस वेगवती सरस्वतीको देखकर मुनिजन प्रसन्न हो गये और उन सबोंने उनका अत्यधिक सम्मान किया ॥ १९-२२ ॥

एवमेषा सरिच्छ्रेष्ठा पुष्करस्था सरस्वती। समानीता कुरुक्षेत्रे मङ्कणेन महात्मना ॥ २३ ॥
नैमिषे मुनयः स्थित्वा शौनकाद्यास्तपोधनाः। ते पृच्छन्ति महात्मानं पौराणं लोमहर्षणम् ॥ २४ ॥
कथं यज्ञफलोऽस्माकं वर्त्ततां सत्पथे भवेत्। ततोऽब्रवीन्महाभागः प्रणम्य शिरसा ऋषीन् ॥ २५ ॥
सरस्वती स्थिता यत्र तत्र यज्ञफलं महत्। एतच्छ्रुत्वा तु मुनयो नानास्वाध्यायवेदिनः ॥ २६ ॥
समागम्य ततः सर्वे सस्मरुस्ते सरस्वतीम्। सा तु ध्याता ततस्तत्र ऋषिभिः सत्रयाजिभिः ॥ २७ ॥
समागता प्लावनार्थं यज्ञे तेषां महात्मनाम्। नैमिषे काञ्चनाक्षी तु स्मृता मङ्कणकेन सा ॥ २८ ॥
समागता कुरुक्षेत्रं पुण्यतोया सरस्वती। गयस्य यजमानस्य गयेष्वेव महाक्रतुम् ॥ २९ ॥
आहूता च सरिच्छ्रेष्ठा गययज्ञे सरस्वती। विशाला नाम तां प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः ॥ ३० ॥

इस प्रकार पुष्करतीर्थमें स्थित एवं नदियोंमें श्रेष्ठ इस सरस्वतीको महात्मा मङ्कण कुरुक्षेत्रमें लाये।

एक समय नैमिषारण्यमें रहनेवाले तपस्याके धनी शौनक आदि मुनियोंने पुराणोंके ज्ञाता महात्मा लोमहर्षणसे पूछा—सत्पथगामी हम लोगोंको यज्ञका फल कैसे प्राप्त होगा ? (—इसे कृपाकर समझाइये।) उसके बाद महानुभाव लोमहर्षणजीने ऋषियोंको सिरसे प्रणाम कर कहा कि ऋषियो! जहाँ सरस्वती नदी अवस्थित है, वहाँ (रहनेसे) यज्ञका महान् फल प्राप्त होता है। इसको सुनकर विविध वेदोंका स्वाध्याय करनेवाले मुनियोंने एकत्र होकर सरस्वतीका स्मरण किया। दीर्घकालिक यज्ञ करनेवाले उन ऋषियोंके ध्यान (स्मरण) करनेपर वे (सरस्वती) यहाँ नैमिषक्षेत्रमें उन महात्माओंके यज्ञमें प्लावन करनेके लिये काञ्चनाक्षी नामसे उपस्थित हो गयीं। वे ही प्रसिद्ध नदी मङ्कणके द्वारा स्मृत होनेपर पवित्र-सलिला सरस्वतीके रूपमें कुरुक्षेत्रमें (भी) आयीं और महान् व्रती ऋषियोंने गया-क्षेत्रमें महायज्ञका अनुष्ठान करनेवाले गयके यज्ञमें आहूत की गयी उन श्रेष्ठ सरस्वती नदीको 'विशाला'के नामसे स्मरण किया ॥ २३-३० ॥

सरित् सा हि समाहूता मङ्कणेन महात्मना। कुरुक्षेत्रं समायाता प्रविष्टा च महानदी ॥ ३१ ॥
उत्तरे कोशलाभागे पुण्ये देवर्षिसेविते। उद्दालकेन मुनिना तत्र ध्याता सरस्वती ॥ ३२ ॥
आजगाम सरिच्छ्रेष्ठा तं देशं मुनिकारणात्। पूज्यमाना मुनिगणैर्वल्कलाजिनसंवृतैः ॥ ३३ ॥
मनोहरेति विख्याता सर्वपापक्षयावहा।
आहूता सा कुरुक्षेत्रे मङ्कणेन महात्मना। ऋषेः सम्माननार्थाय प्रविष्टा तीर्थमुत्तमम् ॥ ३४ ॥
सुवेणुरिति विख्याता केदारे या सरस्वती। सर्वपापक्षया ज्ञेया ऋषिसिद्धनिषेविता ॥ ३५ ॥

महात्मा मङ्कण ऋषिद्वारा समाहूत की गयी वही नदी कुरुक्षेत्रमें आकर प्रवेश कर गयी। (फिर) उद्दालक मुनिने देवर्षियोंके द्वारा सेवित परम पवित्र उत्तरकोसल प्रदेशमें सरस्वतीका ध्यान किया। उन मुनिके कारण नदियोंमें श्रेष्ठ वह सरस्वती नदी उस देशमें आ गयी एवं वह वल्कल तथा मृगचर्मको धारण करनेवाले मुनियोंद्वारा पूजित हुई। तब सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाली वह 'मनोहरा' नामसे विख्यात हुई। फिर वह महात्मा मङ्कण-द्वारा आहूत होकर ऋषिको सम्मानित करनेके लिये कुरुक्षेत्रके उत्तम तीर्थमें प्रविष्ट हुई। केदारतीर्थमें जो सरस्वती 'सुवेणु' नामसे प्रसिद्ध है, वह ऋषियों और सिद्धोंके द्वारा सेवित तथा सर्वपापनाशक रूपसे जानी जाती है ॥ ३१-३५ ॥

सापि तेनेह मुनिना आराध्य परमेश्वरम्। ऋषीणामुपकारार्थं कुरुक्षेत्रं प्रवेशिता ॥ ३६ ॥
दक्षेण यजता सापि गङ्गाद्वारे सरस्वती। विमलोदा भगवती दक्षेण प्रकटीकृता ॥ ३७ ॥
समाहूता ययौ तत्र मङ्कणेन महात्मना। कुरुक्षेत्रे तु कुरुणा यजिता च सरस्वती ॥ ३८ ॥
सरोमध्ये समानीता मार्कण्डेयेन धीमता। अभिष्टूय महाभागां पुण्यतोयां सरस्वतीम् ॥ ३९ ॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धः सप्तसारस्वते स्थितः। नृत्यमानश्च देवेन शंकरेण निवारितः ॥ ४० ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

परमेश्वरकी आराधना कर उन मुनिने उसे (सुवेणुको) भी ऋषियोंका उपकार करनेके लिये इस कुरुक्षेत्रमें प्रवाहित कराया। गङ्गाद्वारमें यज्ञ कर रहे दक्षने 'विमलोदा' नामसे भगवती सरस्वतीको प्रकट किया। कुरुक्षेत्रमें कुरुद्वारा पूजित सरस्वती मङ्कणद्वारा बुलायी जानेपर वहाँ गयी। फिर बुद्धिमान् मार्कण्डेयजी उस, पवित्र जलवाली महाभागा सरस्वतीकी स्तुति कर उसे सरोवरके मध्यमें ले गये। वहीं सप्तसारस्वत तीर्थमें उपस्थित एवं नृत्य करते हुए सिद्ध मङ्कणकको नृत्य करनेसे शंकरजीने रोका था ॥ ३६-४० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

[अथ अष्टात्रिंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

कथं मङ्कणकः सिद्धः कस्माज्जातो महानृषिः । नृत्यमानस्तु देवेन किमर्थं स निवारितः ॥ १ ॥

अड़तीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(मङ्कणक-प्रसङ्ग, मङ्कणकका शिवस्तवन और उनकी अनुकूलता प्राप्ति)

ऋषियोंने कहा—(प्रभो !) मङ्कणक किस प्रकार सिद्ध हुए ? वे महान् ऋषि किससे उत्पन्न हुए थे ? नृत्य करते हुए उन मङ्कणकको महादेवने क्यों रोका ? ॥ १ ॥

लोमहर्षण उवाच

कश्यपस्य सुतो जज्ञे मानसो मङ्कणो मुनिः । स्नानं कर्तुं व्यवसितो गृहीत्वा वल्कलं द्विजः ॥ २ ॥
तत्र गता ह्यप्सरसो रम्भाद्याः प्रियदर्शनाः । स्नायन्ति रुचिराः स्निग्धास्तेन सार्धमनिन्दिताः ॥ ३ ॥
ततो मुनेस्तदा क्षोभाद्रेतः स्कन्नं यदम्भसि । तद्रेतः स तु जग्राह कलशे वै महातपाः ॥ ४ ॥
सप्तधा प्रविभागं तु कलशस्थं जगाम ह । तत्रर्षयः सप्त जाता विदुर्यान् मरुतां गणान् ॥ ५ ॥
वायुवेगो वायुबलो वायुहा वायुमण्डलः । वायुज्वालो वायुरेता वायुचक्रश्च वीर्यवान् ॥ ६ ॥
एते ह्यपत्यास्तस्यर्षेर्धारयन्ति चराचरम् । पुरा मङ्कणकः सिद्धः कुशाग्रेणेति मे श्रुतम् ॥ ७ ॥
क्षतः किल करे विप्रास्तस्य शाकरसोऽस्रवत् । स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्तवान् ॥ ८ ॥

लोमहर्षणने कहा—(ऋषियो !) मङ्कणकमुनि महर्षि कश्यपके मानसपुत्र थे । (एक समय) वे ब्राह्मण देवता वल्कल-वस्त्र लेकर स्नान करने गये । वहाँ रम्भा आदि सुन्दरी अप्सराएँ भी गयी थीं । अनिन्द्य, कोमल एवं मनोहर (रूपवाली वे सभी) अप्सराएँ उनके साथ (ही) स्नान करने लगीं । उसके बाद मुनिके मनमें विकृति हो गयी, फलतः उनका शुक्र जलमें स्खलित हो गया । उस रेतको उन महातपस्वीने उठाकर घड़ेमें रख लिया । वह कलशस्थ (रेत) सात भागोंमें विभक्त हो गया । उससे सात ऋषि उत्पन्न हुए, जिन्हें मरुद्गण कहा जाता है । (उनके नाम हैं—) वायुवेग, वायुबल, वायुहा, वायुमण्डल, वायुज्वाल, वायुरेता एवं वीर्यवान् वायुचक्र । उन (मङ्कणक) ऋषिके ये सात पुत्र चराचरको धारण करते हैं । ब्राह्मणो ! मैंने यह सुना है कि प्राचीन कालमें सिद्ध मङ्कणकके हाथमें कुशके अग्रभागसे छिद जानेके कारण घाव हो गया था, उससे शाकरस निकलने लगा । वे (अपने हाथसे निकलते हुए उस) शाकरसको देखकर प्रसन्न हो गये और नाचने लगे ॥ २–८ ॥

ततः सर्वं प्रनृत्तं च स्थावरं जङ्गमं च यत् । प्रनृत्तं च जगद् दृष्ट्वा तेजसा तस्य मोहितम् ॥ ९ ॥
ब्रह्मादिभिः सुरैस्तत्र ऋषिभिश्च तपोधनैः । विज्ञप्तो वै महादेवो मुनेरर्थे द्विजोत्तमाः ॥ १० ॥
नायं नृत्येद् यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि । ततो देवो मुनिं दृष्ट्वा हर्षाविष्टमतीव हि ॥ ११ ॥
सुराणां हितकामार्थं महादेवोऽभ्यभाषत ।
हर्षस्थानं किमर्थं च तवेदं मुनिसत्तम । तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम ॥ १२ ॥

इससे (उनके नृत्य करनेसे उनके साथ) सम्पूर्ण अचर चर जगत् भी नाचने लगा । उनके तेजसे मोहित जगत्को नाचते देखकर ब्रह्मा आदि देव एवं तपस्वी ऋषियोंने मुनिके (हितके) लिये महादेवसे कहा—देव ! आप ऐसा (कार्य) करें, जिससे ये नृत्य न करें (इन्हें नृत्यसे विरत करनेका उपाय करें)। उसके बाद हर्षसे अधिक मग्न उन मुनिको देखकर एवं देवोंके हितकी इच्छासे महादेवने कहा—मुनिसत्तम ! ब्राह्मणश्रेष्ठ ! आप तो तपस्वी एवं धर्मपथमें स्थित रहनेवाले हैं । फिर आपके इस हर्षका कारण क्या है ? ॥ ९–१२ ॥

ऋषिरुवाच

किं न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं स्रुतम्। यं दृष्ट्वाऽहं प्रनृत्तो वै हर्षेण महताऽन्वितः ॥ १३ ॥
तं प्रहस्याब्रवीद् देवो मुनिं रागेण मोहितम्। अहं न विस्मयं विप्र गच्छामीह प्रपश्यताम् ॥ १४ ॥
एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं देवदेवो महाद्युतिः। अङ्गुल्यग्रेण विप्रेन्द्राः स्वाङ्गुष्ठं ताडयद् भव ॥ १५ ॥
ततो भस्म क्षतात् तस्मान्निर्गतं हिमसन्निभम्। तद् दृष्ट्वा व्रीडितो विप्रः पादयोः पतितोऽब्रवीत् ॥ १६ ॥

ऋषिने कहा—ब्रह्मन्! क्या आप नहीं देखते कि मेरे हाथसे शाकका रस चू रहा है, जिसे देखकर मैं अत्यन्त आनन्दमग्न होकर नृत्य कर रहा हूँ। महादेवजीने हँसकर आसक्तिसे मोहित हुए उन मुनिसे कहा—विप्रवर! मुझे आश्चर्य नहीं हो रहा है। (किंतु) आप इधर देखें। विप्रेन्द्रो! श्रेष्ठ मुनिसे ऐसा कहकर देदीप्यमान भगवान् देवाधिदेव महादेवने अपनी अंगुलिके अग्रभागसे अपने अगूठेको ठोंक दिया। उसके बाद उस चोटसे हिमतुल्य (स्वच्छ) भस्म निकलने लगा। उसे देखनेके बाद ब्राह्मण लज्जित होकर (महादेवके) चरणोंमें गिर पड़े और बोले—॥ १३-१६ ॥

नान्यं देवादहं मन्ये शूलपाणेर्महात्मनः। चराचरस्य जगतो वरस्त्वमसि शूलधृक् ॥ १७ ॥
त्वदाश्रयाश्च दृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ। पूर्वस्त्वमसि देवानां कर्ता कारयिता महत् ॥ १८ ॥
त्वत्प्रसादात् सुराः सर्वे मोदन्ते ह्यकुतोभयाः। एवं स्तुत्वा महादेवमृषिः स प्रणतोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥
भगवंस्त्वत्प्रसादाद्धि तपो मे न क्षयं व्रजेत्। ततो देवः प्रसन्नात्मा तमृषिं वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

मैं महात्मा शूलपाणि महादेवके अतिरिक्त किसीको नहीं मानता। शूलपाणे! मेरी दृष्टिमें आप ही चराचर समस्त संसारमें सर्वश्रेष्ठ हैं। अनघ! ब्रह्मा आदि देवता आपके ही आश्रित देखे जाते हैं। आप ही देवताओंमें प्रथम हैं और आप (सब कुछ) करने एवं करानेवाले तथा महत्स्वरूप हैं। आपकी कृपासे सभी देवगण निर्भय होकर मोदमग्न होते रहते हैं। ऋषिने इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करनेके बाद उन्हें प्रणामकर कहा—भगवन्! आपकी कृपासे मेरे तपका क्षय न हो। तब महादेवजीने प्रसन्न होकर उन ऋषिसे यह वचन कहा—॥ १७-२० ॥

ईश्वर उवाच

तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात् सहस्रधा। आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सार्द्धमहं सदा ॥ २१ ॥
सप्तसारस्वते स्नात्वा यो मामर्चिष्यते नरः। न तस्य दुर्लभं किंचिदिह लोके परत्र च ॥ २२ ॥
सारस्वतं च तं लोकं गमिष्यति न संशयः। शिवस्य च प्रसादेन प्राप्नोति परमं पदम् ॥ २३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

(सदाशिव) ईश्वरने कहा—विप्र! मेरी कृपासे तुम्हारी तपस्या सहस्रों प्रकारसे बढ़े। मैं तुम्हारे साथ इस आश्रममें सदा निवास करूँगा। जो मनुष्य इस सप्तसारस्वततीर्थमें स्नान करके मेरी पूजा करेगा, उसे इस लोक और परलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा। वह निःसंदेह उस सारस्वतलोकको जायगा एवं (पुनः) शिवके अनुग्रहसे परमपदको प्राप्त करेगा ॥ २१-२३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥
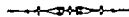
[अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

ततस्त्वौशनसं तीर्थं गच्छेत्तु श्रद्धयान्वितः । उशना यत्र संसिद्धो ग्रहत्वं च समाप्तवान् ॥ १ ॥
तस्मिन् स्नात्वा विमुक्तस्तु पातकैर्जन्मसम्भवैः । ततो याति परं ब्रह्म यस्मान्नावर्तते पुनः ॥ २ ॥
रहोदरो नाम मुनिर्यत्र मुक्तो बभूव ह । महता शिरसा ग्रस्तस्तीर्थमाहात्म्यदर्शनात् ॥ ३ ॥

उन्तालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थोंका अनुक्रान्त वर्णन)

लोमहर्षणने कहा—(ऋषियो !) ससारस्वतके बाद श्रद्धासे युक्त होकर 'औशनस' तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ शुक्र सिद्धि प्राप्तकर ग्रहत्वको प्राप्त हो गये । उस तीर्थमें स्नानकर मनुष्य अनेक जन्मोंमें किये हुए पातकोंसे छूटकर परब्रह्मको प्राप्त करता है, जहाँसे पुनः (जन्म-मरणके चक्रमें) लौटना नहीं पड़ता । (वह तीर्थ ऐसा है) जहाँ तीर्थ-दर्शनकी महिमासे भारी सिरसे जकड़े हुए रहोदर नामके एक मुनि उससे मुक्त हो गये थे ॥ १–३ ॥

ऋषय ऊचुः

कथं रहोदरो ग्रस्तः कथं मोक्षमवाप्तवान् । तीर्थस्य तस्य माहात्म्यमिच्छामः श्रोतुमादरात् ॥ ४ ॥

ऋषियोंने कहा (पूछा)—रहोदर मुनि सिरसे ग्रस्त कैसे हो गये थे ? और, वे उससे मुक्त कैसे हुए ? हम लोग उस तीर्थके माहात्म्यको आदरके साथ सुनना चाहते हैं (जिसकी महिमासे ऐसा हुआ ।) ॥ ४ ॥

लोमहर्षण उवाच

पुरा वै दण्डकारण्ये राघवेण महात्मना । वसता द्विजशार्दूला राक्षसास्तत्र हिंसिताः ॥ ५ ॥
तत्रैकस्य शिरश्छिन्नं राक्षसस्य दुरात्मनः । क्षुरेण शितधारेण तत् पपात महावने ॥ ६ ॥
रहोदरस्य तल्लग्नं जङ्घायां वै यदृच्छया । वने विचरतस्तत्र अस्थि भित्त्वा विवेश ह ॥ ७ ॥
स तेन लग्नेन तदा द्विजातिर्न शशाक ह । अभिगन्तुं महाप्राज्ञस्तीर्थान्यायतनानि च ॥ ८ ॥

लोमहर्षणजी बोले—द्विजश्रेष्ठो ! प्राचीन कालमें दण्डकारण्यमें रहते हुए रघुवंशी महात्मा रामचन्द्रने बहुत-से राक्षसोंको मारा था । वहाँ एक दुष्टात्मा राक्षसका सिर तीक्ष्णधारवाले क्षुर नामक बाणसे कटकर उस महावनमें गिरा । (फिर वह) संयोगवश वनमें विचरण करते हुए रहोदर मुनिकी जघामें उनकी हड्डीको तोड़कर उससे चिपट गया । महाप्राज्ञ वे ब्राह्मणदेव (जघेकी टूटी हड्डीमें) उस मस्तकके लग जानेके कारण तीर्थों और देवालयोंमें नहीं जा पाते थे ॥ ५–८ ॥

स पूतिना विस्रवता वेदनार्तो महामुनिः । जगाम सर्वतीर्थानि पृथिव्यां यानि कानि च ॥ ९ ॥
ततः स कथयामास ऋषीणां भावितात्मनाम् । तेऽब्रुवन् ऋषयो विप्रं प्रयाह्यौशनसं प्रति ॥ १० ॥
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा जगाम स रहोदरः । ततस्त्वौशनसे तीर्थे तस्योपस्पृशतस्तदा ॥ ११ ॥
तच्छिरश्चरणं मुक्त्वा पपातान्तर्जले द्विजाः । ततः स विरजो भूत्वा पूतात्मा वीतकल्मषः ॥ १२ ॥
आजगामाश्रमं प्रीतः कथयामास चाखिलम् ।
ते श्रुत्वा ऋषयः सर्वे तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम् । कपालमोचनमिति नाम चक्रुः समागताः ॥ १३ ॥

वे महामुनि दुर्गन्धपूर्ण पीब आदि बहनेके कारण तथा वेदनासे अत्यन्त दुःखी रहते थे । पृथ्वीके जिन जिन्हीं तीर्थोंमें वे गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने पवित्रात्मा ऋषियोंसे (अपना दुःख) कहा । ऋषियोंने उन विप्रसे कहा—ब्राह्मणदेव ! आप औशनस-(तीर्थ)में जाइये । (लोमहर्षणने कहा—) द्विजो ! उनका यह वचन सुनकर

महोदर मुनि वहाँसे औशनसतीर्थमें गये । वहाँ उन्होंने तीर्थ-जलका स्पर्श किया। उनके द्वारा (जलका) स्पर्श होते ही वह मस्तक उनसे (जाँघ) को छोड़कर जलमें गिर गया । उसके बाद वे मुनि पापसे रहित निर्मल रजोगुणसे रहित अतएव पवित्रात्मा होकर प्रसन्नतापूर्वक (अपने) आश्रममें गये और उन्होंने (ऋषियोंसे) सारी आपबीती कह सुनायी। फिर तो उन आये हुए सभी ऋषियोंने औशनसतीर्थके इस उत्तम माहात्म्यको सुनकर उसका नाम 'कपालमोचन' रख दिया ॥ ९–१३ ॥

तत्रापि सुमहत्तीर्थं विश्वामित्रस्य विश्रुतम् । ब्राह्मण्यं लब्धवान् यत्र विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १४ ॥
तस्मिंस्तीर्थवरे स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते ध्रुवम् । ब्राह्मणस्तु विशुद्धात्मा परं पदमवाप्नुयात् ॥ १५ ॥
ततः पृथूदकं गच्छेन्नियतो नियताशनः । तत्र सिद्धस्तु ब्रह्मर्षी रुषङ्गुर्नाम नामतः ॥ १६ ॥
जातिस्मरो रुषङ्गुस्तु गङ्गाद्वारे सदा स्थितः ।
अन्तकालं ततो दृष्ट्वा पुत्रान् वचनमब्रवीत् । इह श्रेयो न पश्यामि नयध्वं मां पृथूदकम् ॥ १७ ॥
विज्ञाय तस्य तद्भावं रुषङ्गोस्ते तपोधनाः । तं वै तीर्थं उपानिन्युः सरस्वत्यास्तपोधनम् ॥ १८ ॥

वहीं (कपालमोचन तीर्थमें ही) महामुनि विश्वामित्रका बहुत बड़ा तीर्थ है, जहाँ विश्वामित्रने ब्राह्मणत्वको प्राप्त किया था । उस श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको निश्चय रूपसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है और वह ब्राह्मण विशुद्धात्मा होकर ब्रह्मके परम पदको प्राप्त करता है। कपालमोचनके बाद पृथूदक नामके तीर्थमें जाय और नियमपूर्वक नियत मात्रामें आहार करे । वहाँ रुषङ्गुनामके ब्रह्मर्षिने सिद्धि पायी थी । सदा गङ्गाद्वारमें स्थित रहते हुए पूर्वजन्मके वृत्तान्तको स्मरण रखनेवाले रुषङ्गुने (अपना) अन्तकाल आया देखकर (अपने) पुत्रोंसे कहा कि यहाँ (मैं) अपना कल्याण नहीं देख रहा हूँ । मुझे पृथूदक (तीर्थ) में ले चलो। रुषङ्गुके उस भावको जानकर वे तपोधन (पुत्र) उन तपके धनीको सरस्वतीके तीर्थमें ले गये ॥ १४–१८ ॥

स तैः पुत्रैः समानीतः सरस्वत्यां समाप्लुतः । स्मृत्वा तीर्थगुणान् सर्वान् प्राहेदमृषिसत्तमः ॥ १९ ॥
सरस्वत्युत्तरे तीर्थे यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् । पृथूदके जप्यपरो नूनं चामरतां व्रजेत् ॥ २० ॥
तत्रैव ब्रह्मयोन्यस्ति ब्रह्मणा यत्र निर्मिता । पृथूदकं समाश्रित्य सरस्वत्यास्तटे स्थितः ॥ २१ ॥
चातुर्वर्ण्यस्य सृष्ट्यर्थमात्मज्ञानपरोऽभवत् । तस्याभिध्यायतः सृष्टिं ब्रह्मणो व्यक्तजन्मनः ॥ २२ ॥
मुखतो ब्राह्मणा जाता बाहुभ्यां क्षत्रियास्तथा । ऊरुभ्यां वैश्यजातीयाः पद्भ्यां शूद्रास्ततोऽभवन् ॥ २३ ॥

उन पुत्रोंद्वारा लाये गये उन ऋषिश्रेष्ठने सरस्वतीमें स्नान करनेके पश्चात् उस तीर्थके सब गुणोंका स्मरण कर यह कहा था—'सरस्वतीके उत्तरकी ओर स्थित पृथूदक नामके तीर्थमें अपने शरीरका त्याग करनेवाला जपपरायण मनुष्य निश्चय ही देवत्वको प्राप्त होता है।' वहीं ब्रह्माद्वारा 'निर्मितब्रह्मयोनि तीर्थ' है, जहाँ सरस्वतीके किनारे अवस्थित पृथूदकमें स्थित होकर ब्रह्मा चारों वर्णोंकी सृष्टिके लिये आत्मज्ञानमें लीन हुए थे। सृष्टिके विषयमें अव्यक्तजन्मा ब्रह्माके चिन्तन करनेपर उनके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, दोनों ऊरुओंसे वैश्य और दोनों पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए ॥ १९–२३ ॥

चातुर्वर्ण्यं ततो दृष्ट्वा आश्रमस्थं ततस्ततः । एवं प्रतिष्ठितं तीर्थं ब्रह्मयोनीति संज्ञितम् ॥ २४ ॥
तत्र स्नात्वा मुक्तिकामः पुनर्योनिं न पश्यति । तत्रैव तीर्थं विख्यातमवकीर्णेति नामतः ॥ २५ ॥
यस्मिंस्तीर्थे बको दाल्भ्यो धृतराष्ट्रममर्षणम् । जुहाव वाहनैः सार्धं तत्राबुध्यत् ततो नृप ॥ २६ ॥

उसके बाद उन्होंने चारों वर्णोंको विभिन्न आश्रमोंमें स्थित हुआ देखा । इस प्रकार ब्रह्मयोनिनामक तीर्थकी प्रतिष्ठा हुई थी । मुक्तिकी कामना करनेवाला व्यक्ति वहाँ स्नान करनेसे पुनर्जन्म नहीं देखता । वहीं अवकीर्णनामक एक विख्यात तीर्थ भी है, जहाँपर दाल्भ्य (दल्भ या दल्भि गोत्रमें उत्पन्न) बकनामक ऋषिने क्रोधी धृतराष्ट्रके उसके वाहनोंके साथ हवन कर दिया था, तब कहीं राजाको (अपने किये कर्मका) ज्ञान हुआ था ॥ २४–२६ ॥

ऋषय ऊचुः

कथं प्रतिष्ठितं तीर्थमवकीर्णेति नामतः । धृतराष्ट्रेण राज्ञा च स किमर्थं प्रसादितः ॥ २७ ॥

ऋषियोंने पूछा—अवकीर्णनामक तीर्थ कैसे प्रतिष्ठित हुआ एवं राजा धृतराष्ट्रने उन (बक दाल्भ्य मुनि) को क्यों प्रसन्न किया था ? ॥ २७ ॥

लोमहर्षण उवाच

ऋषयो नैमिषेया ये दक्षिणार्थं ययुः पुरा । तत्रैव च बको दाल्भ्यो धृतराष्ट्रमयाचत ॥ २८ ॥
तेनापि तत्र निन्दार्थमुक्तं यदनृतं तु यत् । ततः क्रोधेन महता मांसमुत्कृत्य तत्र ह ॥ २९ ॥
पृथूदके महातीर्थे अवकीर्णेति नामतः । जुहाव धृतराष्ट्रस्य राष्ट्रं नरपतेस्ततः ॥ ३० ॥
हूयमाने तदा राष्ट्रे प्रवृत्ते यज्ञकर्मणि । अक्षीयत ततो राष्ट्रं नृपतेर्दुष्कृतेन वै ॥ ३१ ॥

लोमहर्षणने कहा—प्राचीन कालमें नैमिषारण्यनिवासी जो ऋषि दक्षिणा पानेके लिये (राजा धृतराष्ट्रके यहाँ) गये थे, उनमेंसे दल्भिवंशीय बक ऋषिने धृतराष्ट्रसे (धनकी) याचना की। उन्होंने (धृतराष्ट्रने) भी निन्दापूर्ण भाष्य और असत्य बात कही। उसके बाद वे (बकदाल्भ्य) अत्यन्त क्रुद्ध होकर पृथूदकमें स्थित अवकीर्णनामक तीर्थमें जा करके मांस काट-काटकर धृतराष्ट्रके राष्ट्रके नाम हवन करने लगे। तब यज्ञमें राष्ट्रका हवन प्रारम्भ होनेपर राजाके दुष्कर्मके कारण राष्ट्रका क्षय होने लगा ॥ २८–३१ ॥

ततः स चिन्तयामास ब्राह्मणस्य विचेष्टितम् । पुरोहितेन संयुक्तो रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ३२ ॥
प्रसादनार्थं विप्रस्य ह्यवकीर्णं ययौ तदा । प्रसादितः स राज्ञा च तुष्टः प्रोवाच तं नृपम् ॥ ३३ ॥
ब्राह्मणा नावमन्तव्याः पुरुषेण विजानता । अवज्ञातो ब्राह्मणस्तु हन्यात् त्रिपुरुषं कुलम् ॥ ३४ ॥
एवमुक्त्वा स नृपतिं राज्येन यशसा पुनः । उत्थापयामास ततस्तस्य राज्ञो हिते स्थितः ॥ ३५ ॥

(राष्ट्रको क्षीण होते देख) उसने विचार किया और वह इसे ब्राह्मणका विकर्म जानकर (उस ब्राह्मणको) प्रसन्न करनेके लिये समस्त रत्नोंको लेकर पुरोहितके साथ अवकीर्ण तीर्थमें गया (और उस) राजाने उन्हें प्रसन्न कर लिया। प्रसन्न होकर उन्होंने राजासे कहा—(राजन् !) विद्वान् मनुष्यको ब्राह्मणका अपमान नहीं करना चाहिये। अपमानित हुआ ब्राह्मण मनुष्यके कुलके तीन पुरुषों (पीढ़ियों) का विनाश कर देता है। ऐसा कहकर उन्होंने पुनः राजाको राज्य एवं यशके साथ सम्पन्न कर दिया और वे उस राजाके हितकारी हो गये ॥ ३२–३५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे तु यः स्नाति श्रद्दधानो जितेन्द्रियः । स प्राप्नोति नरो नित्यं मनसा चिन्तितं फलम् ॥ ३६ ॥
तत्र तीर्थं सुविख्यातं यायातं नाम नामतः । यस्येह यजमानस्य मधु सुस्राव वै नदी ॥ ३७ ॥
तस्मिन् स्नातो नरो भक्त्या मुच्यते सर्वकिल्बिषैः । फलं प्राप्नोति यज्ञस्य अश्वमेधस्य मानवः ॥ ३८ ॥
मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थं पुण्यतमं द्विजाः । तस्मिन् स्नात्वा नरो भक्त्या मधुना तर्पयेत् पितॄन् ॥ ३९ ॥
तत्रापि सुमहत्तीर्थं वसिष्ठोद्वाहसंज्ञितम् । तत्र स्नातो भक्तियुक्तो वासिष्ठं लोकमाप्नुयात् ॥ ४० ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

उस (अवकीर्ण) तीर्थमें जो जितेन्द्रिय मनुष्य श्रद्धापूर्वक स्नान करता है, वह नित्य मनोऽभिलषित फल प्राप्त करता है। वहाँ 'यायात' (ययातिका तीर्थ) नामसे सुविख्यात तीर्थ है, जहाँ यज्ञ करनेवालेके लिये नदीने मधु बहाया था। उसमें भक्तिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है एवं उसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है। द्विजो ! वहीं 'मधुस्रव' नामक पवित्र तीर्थ है। उसमें मनुष्यको भक्तिपूर्वक स्नान कर मधुसे पितरोंका तर्पण करना चाहिये। वहींपर 'वसिष्ठोद्वाह' नामक सुन्दर महान् तीर्थ है, वहाँ भक्तिपूर्वक स्नान करने व्यक्ति महर्षि वसिष्ठके लोकको प्राप्त करता है ॥ ३६–४० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उन्तालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

[अथ चत्वारिंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

वसिष्ठस्यापवाहोऽसौ कथं वै सम्बभूव ह। किमर्थं सा सरिच्छ्रेष्ठा तमृषिं प्रत्यवाहयत्॥ १॥

चालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वसिष्ठापवाह नामक तीर्थकी उत्पत्ति प्रसङ्ग)

ऋषियोंने कहा (पूछा)—महाराज! यह वसिष्ठापवाह कैसे उत्पन्न हुआ? उस श्रेष्ठ सरिताने उन ऋषिको अपने प्रवाहमें क्यों बहा दिया था? ॥ १ ॥

लोमहर्षण उवाच

विश्वामित्रस्य राजर्षेर्वसिष्ठस्य महात्मनः। भृशं वैरं बभूवेह तपःस्पर्द्धाकृते महत्॥ २॥
आश्रमो वै वसिष्ठस्य स्थाणुतीर्थे बभूव ह। तस्य पश्चिमदिग्भागे विश्वामित्रस्य धीमतः॥ ३॥
यत्रेष्ट्वा भगवान् स्थाणुः पूजयित्वा सरस्वतीम्। स्थापयामास देवेशो लिङ्गाकारां सरस्वतीम्॥ ४॥
वसिष्ठस्तत्र तपसा घोररूपेण संस्थितः। तस्येह तपसा हीनो विश्वामित्रो बभूव ह॥ ५॥

लोमहर्षण बोले—(ऋषियो!) राजर्षि विश्वामित्र एवं महात्मा वसिष्ठमें तपस्याके विषयमें परस्पर चुनौती होनेके कारण बड़ी भारी शत्रुता हो गयी। वसिष्ठका आश्रम स्थाणुतीर्थमें था और उसकी पश्चिम दिशामें बुद्धिमान् विश्वामित्र महर्षिका आश्रम था, जहाँ देवाधिदेव भगवान् शिवने यज्ञ करनेके बाद सरस्वतीकी पूजा कर मूर्तिके रूपमें सरस्वतीकी स्थापना की थी। वसिष्ठजी वहाँ घोर तपस्यामें संलग्न थे। उनकी तपस्यासे विश्वामित्र (प्रभावतः) हीन-से होने लगे॥ २—५॥

सरस्वतीं समाहूय इदं वचनमब्रवीत्। वसिष्ठं मुनिशार्दूलं स्वेन वेगेन आनय॥ ६॥
इहाहं तं द्विजश्रेष्ठं हनिष्यामि न संशयः। एतच्छ्रुत्वा तु वचनं व्यथिता सा महानदी॥ ७॥
तथा तां व्यथितां दृष्ट्वा वेपमानां महानदीम्। विश्वामित्रोऽब्रवीत् क्रुद्धो वसिष्ठं शीघ्रमानय॥ ८॥
ततो गत्वा सरिच्छ्रेष्ठा वसिष्ठं मुनिसत्तमम्। कथयामास रुदती विश्वामित्रस्य तद् वचः॥ ९॥

(एक बार) विश्वामित्रने सरस्वतीको बुलाकर यह वचन कहा—सरस्वति! तुम मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको अपने वेगसे बहा लाओ। मैं उन द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठको यहाँ मारूँगा—इसमें संदेहकी बात नहीं है। इस- (अवाञ्छनीय बात)को सुनकर वह महानदी दुःखित हो गयी। (पर) विश्वामित्रने उस प्रकार दुःखित एवं काँपती हुई उस महानदीको देखकर क्रोधमें भरकर कहा कि वसिष्ठको शीघ्र लाओ। उसके बाद उस श्रेष्ठ नदीने मुनिश्रेष्ठके पास जाकर उनसे रोते हुए विश्वामित्रकी उस बातको कहा॥ ६—९॥

तपःक्रियाविशीर्णां च भृशं शोकसमन्विताम्। उवाच स सरिच्छ्रेष्ठां विश्वामित्राय मां वह॥ १०॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृपाशीलस्य सा सरित्। चालयामास तं स्थानात् प्रवाहेणाम्भसस्तदा॥ ११॥
स च कूलापहारेण मित्रावरुणयोः सुतः। उह्यमानश्च तुष्टाव तदा देवीं सरस्वतीम्॥ १२॥
पितामहस्य सरसः प्रवृत्तासि सरस्वति। व्याप्तं त्वया जगत् सर्वं तवैवाम्भोभिरुत्तमैः॥ १३॥

उन वसिष्ठजीने तपश्चर्यासे दुर्बल एवं अतिशय शोक-समन्वित उस श्रेष्ठ सरिता-(सरस्वती)से कहा— (तुम) विश्वामित्रके पास मुझे बहा ले चलो। उन दयालुके उस वचनको सुनकर उस सरस्वती सरिताने जलके(तेज) प्रवाहद्वारा उन्हें उस स्थानसे बहाना प्रारम्भ किया। किनारेसे ले जाये जानेके कारण बहते हुए मित्रावरुणके पुत्र

वसिष्ठऋषि प्रसन्न होकर देवी सरस्वतीकी स्तुति करने लगे—सरस्वति ! आप ब्रह्माके सरोवरसे निकली हैं। आपने अपने उत्तम जलसे समस्त जगत्‌को व्याप्त कर दिया है ॥ १०–१३ ॥

त्वमेवाकाशगा देवी मेघेषु सृजसे पयः। सर्वास्त्वापस्त्वमेवेति त्वत्तो वयमधीमहे ॥ १४ ॥
पुष्टिर्धृतिस्तथा कीर्तिः सिद्धिः कान्तिः क्षमा तथा। स्वधा स्वाहा तथा वाणी तवायत्तमिदं जगत् ॥ १५ ॥
त्वमेव सर्वभूतेषु वाणीरूपेण संस्थिता। एवं सरस्वती तेन स्तुता भगवती सदा ॥ १६ ॥
सुखेनोवाह तं विप्रं विश्वामित्राश्रमं प्रति। न्यवेदयत्तदा खिन्ना विश्वामित्राय तं मुनिम् ॥ १७ ॥

'आप ही आकाशगामिनी देवी हैं और मेघोंमें जलको उत्पन्न करती हैं। आप ही सभी जलोंके रूपमें वर्तमान हैं। आपकी ही शक्तिसे हम लोग अध्ययन करते हैं। आप ही पुष्टि, धृति, कीर्ति, सिद्धि, कान्ति, क्षमा, स्वधा, स्वाहा तथा सरस्वती हैं। यह पूरा विश्व आपके ही अधीन है। आप ही समस्त प्राणियोंमें वाणीरूपसे स्थित हैं।' वसिष्ठजीने भगवती सरस्वतीकी इस प्रकार स्तुति की और सरस्वती नदीने उन विप्रदेवको विश्वामित्रके आश्रममें सुखपूर्वक पहुँचा दिया और खिन्न होकर उन मुनिको विश्वामित्रके लिये निवेदित कर दिया ॥ १४–१७ ॥

तमानीतं सरस्वत्या दृष्ट्वा कोपसमन्वितः। अथान्विष्यत् प्रहरणं वसिष्ठान्तकरं तदा ॥ १८ ॥
तं तु क्रुद्धमभिप्रेक्ष्य ब्रह्महत्याभयान्नदी।
अपोवाह वसिष्ठं तं मध्ये चैवाम्भसस्तदा। उभयोः कुर्वती वाक्यं वञ्चयित्वा च गाधिजम् ॥ १९ ॥
ततोऽपवाहितं दृष्ट्वा वसिष्ठमृषिसत्तमम्। अब्रवीत् क्रोधरक्ताक्षो विश्वामित्रो महातपाः ॥ २० ॥
यस्मान्मा सरितां श्रेष्ठे वञ्चयित्वा विनिर्गता। शोणितं वह कल्याणि रक्षोग्रामणिसंयुता ॥ २१ ॥

उसके बाद सरस्वतीद्वारा बहाकर लाये गये वसिष्ठको देखकर विश्वामित्र क्रोधसे भर गये और वसिष्ठका अन्त करनेवाला शस्त्र ढूँढ़ने लगे। उन्हें क्रोधसे भरा हुआ देखकर ब्रह्महत्याके भयसे डरती हुई यह सरस्वती नदी गाधिपुत्र विश्वामित्रको वञ्चित कर दोनोंकी बातोंका पालन करती हुई उन वसिष्ठको जलमें (पुनः) बहा ले गयी। उसके बाद ऋषिप्रवर वसिष्ठको (अपवाहित होते) देखकर महातपस्वी विश्वामित्रके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। फिर विश्वामित्रने कहा—ओ श्रेष्ठ नदी! यतः तुम मुझे वञ्चितकर चली गयी हो, कल्याणि! अतः श्रेष्ठ राक्षसोंसे संयुक्त होकर तुम शोणितका वहन करो—तुम्हारा जल रक्तसे युक्त हो जाय ॥ १८–२१ ॥

ततः सरस्वती शप्ता विश्वामित्रेण धीमता। अवहच्छोणितोन्मिश्रं तोयं संवत्सरं तदा ॥ २२ ॥
अथर्षयश्च देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तदा। सरस्वतीं तदा दृष्ट्वा बभूवुर्भृशदुःखिताः ॥ २३ ॥
तस्मिंस्तीर्थवरे पुण्ये शोणितं समुपावहत्। ततो भूतपिशाचाश्च राक्षसाश्च समागताः ॥ २४ ॥
ततस्ते शोणितं सर्वे पिबन्तः सुखमासते।
तृप्ताश्च सुभृशं तेन सुखिता विगतज्वराः। नृत्यन्तश्च हसन्तश्च यथा स्वर्गजितस्तथा ॥ २५ ॥

उसके बाद बुद्धिमान् विश्वामित्रसे इस प्रकार शाप प्राप्तकर सरस्वतीने एक वर्षतक रक्तसे मिले हुए जलको बहाया। उसके पश्चात् सरस्वती नदीको रक्तसे मिश्रित जलवाली देखकर ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सराएँ अत्यन्त दुःखित हो गयीं। (यतः) उस पवित्र श्रेष्ठ तीर्थमें रुधिर ही बहने लगा। अतः वहाँ भूत, पिशाच, राक्षस एकत्र होने लगे। वे सभी रक्तका पान करते हुए वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे। वे उससे अत्यन्त तृप्त, सुखी एवं निश्चिन्त होकर इस प्रकार नाचने एवं हँसने लगे, मानो उन्होंने स्वर्गको जीत लिया हो ॥ २२–२५ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य ऋषयः सतपोधनाः। तीर्थयात्रां समाजग्मुः सरस्वत्यां तपोधनाः ॥ २६ ॥
तां दृष्ट्वा राक्षसैर्घोरैः पीयमानां महानदीम्। परित्राणे सरस्वत्याः परं यत्नं प्रचक्रिरे ॥ २७ ॥
ते तु सर्वे महाभागाः समागम्य महाव्रताः। आहूय सरितां श्रेष्ठामिदं वचनमब्रुवन् ॥ २८ ॥
किं कारणं सरिच्छ्रेष्ठे शोणितेन ह्रदो ह्ययम्। एवमाकुलतां यातः श्रुत्वा वेत्स्यामहे वयम् ॥ २९ ॥

कुछ समय बीतनेपर तपस्याके धनी ऋषिलोग तीर्थयात्रा करते-करते सरस्वतीके तटपर पहुँचे। (वहाँ) भयानक राक्षसोंके द्वारा पीती जाती हुई महानदी सरस्वतीको देखकर वे उसकी रक्षाके लिये महान् प्रयत्न करने लगे। और महान् व्रतोंका अनुष्ठान करनेवाले उन महाभागोंने श्रेष्ठ नदीको (पास) बुलाकर उससे यह वचन फिर कहा—श्रेष्ठ सरिते! हम सब आपसे यह जानना चाहते हैं कि यह जलाशय रक्तसे भरकर ऐसा क्षुब्ध कैसे हुआ है?॥ २६–२९ ॥

ततः सा सर्वमाचष्ट विश्वामित्रविचेष्टितम्।
ततस्ते मुनयः प्रीताः सरस्वत्यां समानयन्। अरुणां पुण्यतोयौघां सर्वदुष्कृतनाशनीम् ॥ ३० ॥
दृष्ट्वा तोयं सरस्वत्या राक्षसा दुःखिता भृशम्। ऊचुस्तान् वै मुनीन् सर्वान् दैन्ययुक्ताः पुनः पुनः ॥ ३१ ॥
वयं हि क्षुधिताः सर्वे धर्महीनाश्च शाश्वताः। न च नः कामकारोऽयं यद् वयं पापकारिणः ॥ ३२ ॥
युष्माकं चाप्रसादेन दुष्कृतेन च कर्मणा। पक्षोऽयं वर्धतेऽस्माकं यतः स्मो ब्रह्मराक्षसाः ॥ ३३ ॥

तब उसने विश्वामित्रके समस्त विकर्मोंका (उनके सामने ही) वर्णन किया। उसके पश्चात् प्रसन्न हुए मुनिगण सरस्वती तथा समस्त पापोंका विनाश करनेवाली अरुणा नदीको ले आये (जिससे सरस्वती-ह्रदका शोणित पवित्र जल हो गया) (पर) सरस्वतीके जलको (इस प्रकार शुद्ध हुआ) देखकर राक्षस बहुत दुःखित हो गये। वे दीनतापूर्वक उन सभी मुनियोंसे बार-बार कहने लगे कि हम सभी सदा भूखे एवं धर्मसे रहित रहते हैं। हम अपनी इच्छासे पापकर्म करनेवाले पापी नहीं बने हुए हैं, अपितु आप लोगोंकी अकृपा एवं अशोभन कर्मोंसे ही हमारा पक्ष बढ़ता रहता है, क्योंकि हम सभी ब्रह्मराक्षस हैं ॥ ३०–३३ ॥

एवं वैश्याश्च शूद्राश्च क्षत्रियाश्च विकर्मभिः। ये ब्राह्मणान् प्रद्विषन्ति ते भवन्तीह राक्षसाः ॥ ३४ ॥
योषितां चैव पापानां योनिदोषेण वर्द्धते। इयं संततिरस्माकं गतिरेषा सनातनी ॥ ३५ ॥
शक्ता भवन्तः सर्वेषां लोकानामपि तारणे। तेषां ते मुनयः श्रुत्वा कृपाशीलाः पुनश्च ते ॥ ३६ ॥
ऊचुः परस्परं सर्वे तप्यमानाश्च ते द्विजाः। क्षुतकीटावपन्नं च यच्चोच्छिष्टाशितं भवेत् ॥ ३७ ॥
केशावपन्नमाधूतं मारुतश्वासदूषितम्। एभिः संसृष्टमन्नं च भागं वै रक्षसां भवेत् ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार जो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मणोंसे द्वेष करते हैं वे (ऐसे ही) विकर्म करनेके कारण राक्षस हो जाते हैं। पापिनी स्त्रियोंके योनिदोषसे हमारी यह संतति बढ़ती रहती है। यह हमारी प्राचीन गति है। आप लोग सभी लोकोंका उद्धार करनेमें समर्थ हैं। (लोमहर्षणजी कहते हैं—) द्विजो! वे कृपालु मुनि उन सदाकी रीति ब्रह्मराक्षसोंके इन वचनोंको सुनकर बहुत दुःखी हुए और परस्पर परामर्शकर उनसे बोले—(ब्रह्मराक्षसो!) छींक तथा कीटके संसर्गसे दूषित, उच्छिष्ट भोजन, केशयुक्त, निरस्कृत एवं श्वासवायुसे दूषित अन्न तुम राक्षसोंका भाग होगा ॥ ३४–३८ ॥

तस्माज्ज्ञात्वा सदा विद्वान् अन्नान्येतानि वर्जयेत्। राक्षसानामसौ भुङ्क्ते यो भुङ्क्तेऽन्नमीदृशम् ॥ ३९ ॥
शोधयित्वा तु तत्तीर्थमृषयस्ते तपोधनाः। मोक्षार्थं रक्षसां तेषां संगमं तत्र कल्पयन् ॥ ४० ॥
अरुणायाः सरस्वत्याः संगमे लोकविश्रुते। त्रिरात्रोपोषितः स्नातो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ ४१ ॥

प्राप्ते कलियुगे घोरे अधर्मे प्रत्युपस्थिते। अरुणासंगमे स्नात्वा मुक्तिमाप्नोति मानवः ॥ ४२ ॥
ततस्ते राक्षसाः सर्वे स्नाताः पापविवर्जिताः दिव्यमाल्याम्बरधराः स्वर्गस्थितिसमन्विताः ॥ ४३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

(पुनः लोमहर्षणजी बोले—) ऋषियो! इसको जानकर विद्वान् पुरुषको चाहिये कि इस प्रकारके अन्नोंको त्याग दे। इस प्रकारका अन्न खानेवाला व्यक्ति राक्षसोंका भाग खाता है। उन तपोधन ऋषियोंने उस तीर्थको ढूँढ़कर उन राक्षसोंकी मुक्तिके लिये वहाँ एक सङ्गमकी रचना की। [उसका फल इस प्रकार है—] लोक-प्रसिद्ध अरुणा और सरस्वतीके सङ्गममें तीन दिनोंतक व्रतपूर्वक स्नान करनेवाला (व्यक्ति) सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। (आगे भी) घोर कलियुग आनेपर तथा अधर्मका अधिक प्रसार हो जानेपर मनुष्य अरुणाके सङ्गममें स्नान करके मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। इसको सुननेके बाद उन सभी राक्षसोंने उसमें स्नान किया और वे निष्पाप हो गये तथा दिव्य माला और वस्त्र धारणकर स्वर्गमें विराजने लगे ॥ ३९–४३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

[अथैकचत्वारिंशोऽध्यायः]

लोमहर्षण उवाच

समुद्रास्तत्र चत्वारो दर्विणा आहृताः पुरा। प्रत्येकं तु नरः स्नातो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १ ॥
यत्किंचित् क्रियते तस्मिंस्तपस्तीर्थे द्विजोत्तमाः। परिपूर्णं हि तत्सर्वमपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २ ॥
शतसाहस्रिकं तीर्थं तथैव शतिकं द्विजाः। उभयोर्हि नरः स्नातो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३ ॥
सोमतीर्थं च तत्रापि सरस्वत्यास्तटे स्थितम्। यस्मिन् स्नातस्तु पुरुषो राजसूयफलं लभेत् ॥ ४ ॥

एकतालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके तीर्थों–शतसाहस्रिक, शतिक, रेणुका, ऋणमोचन, ओजस, संनिहति, प्राची सरस्वती, पञ्चवट, कुरुतीर्थ, अनरकतीर्थ, काम्यकवन आदिका वर्णन)

लोमहर्षणने कहा—प्राचीन कालकी बात है महर्षि दर्वि वहाँ चार समुद्रोंको ले आये थे। उनमेंसे प्रत्येक समुद्रमें स्नान करनेसे मनुष्योंको हजार गोदान करनेका फल प्राप्त होता है। द्विजोत्तमो! उस तीर्थमें जो तपस्या की जाती है, वह पापीद्वारा की गयी होनेपर भी सिद्ध हो जाती है। द्विजो! वहाँ शतसाहस्रिक एवं शतिक नामक दो तीर्थ हैं। उन दोनों ही तीर्थोंमें स्नान करनेवाला मनुष्य हजार गौ-दान करनेका फल प्राप्त करता है। वहीं सरस्वतीके तटपर सोम तीर्थ भी स्थित है, जिसमें स्नान करनेसे पुरुष राजसूययज्ञका फल प्राप्त करता है ॥ १–४ ॥

रेणुकाश्रममासाद्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः। मातृभक्त्या च यत्पुण्यं तत्फलं प्राप्नुयान्नरः ॥ ५ ॥
ऋणमोचनमासाद्य तीर्थं ब्रह्मनिषेवितम्।
ऋणैर्मुक्तो भवेन्नित्यं देवर्षिपितृसम्भवैः। कुमारस्याभिषेकं च ओजसं नाम विश्रुतम् ॥ ६ ॥
तस्मिन् स्नातस्तु पुरुषो यशसा च समन्वितः। कुमारपुरमाप्नोति कृत्वा श्राद्धं तु मानवः ॥ ७ ॥
चैत्रषष्ठ्यां सिते पक्षे यस्तु श्राद्धं करिष्यति। गयाश्राद्धे च यत्पुण्यं तत्पुण्यं प्राप्नुयान्नरः ॥ ८ ॥

माताकी सेवा करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है, उस पुण्य-फलको इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला श्रद्धालु मनुष्य रेणुकातीर्थमें जाकर प्राप्त कर लेता है और ब्रह्माद्वारा सेवित ऋणमोचननामके तीर्थमें जाकर देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋणसे छूट जाता है। कुमार (कार्तिकेय)का अभिषेकस्थल ओजसनामसे विख्यात है, उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है और वहाँ श्राद्ध करनेसे उसे कार्तिकेयके लोककी प्राप्ति होती है। चैत्रमासकी शुक्ला षष्ठी तिथिमें जो मनुष्य यहाँ श्राद्ध करेगा, वह गयामें श्राद्ध करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है, उस पुण्यको प्राप्त करता है ॥ ५-८ ॥

सन्निहत्यां यथा श्राद्धं राहुग्रस्ते दिवाकरे। तथा श्राद्धं तत्र कृतं नात्र कार्या विचारणा ॥ ९ ॥
ओजसे ह्यक्षयं श्राद्धं वायुना कथितं पुरा। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं तत्र समाचरेत् ॥ १० ॥
यस्तु स्नानं श्रद्दधानश्चैत्रषष्ठ्यां करिष्यति। अक्षय्यमुदकं तस्य पितॄणामुपजायते ॥ ११ ॥
तत्र पञ्चवटं नाम तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। महादेवः स्थितो यत्र योगमूर्तिधरः स्वयम् ॥ १२ ॥

राहुद्वारा सूर्यके ग्रस्त हो जानेपर (सूर्यग्रहण लगनेपर) सन्निहति तीर्थमें किये गये श्राद्धके समान वहाँका श्राद्ध पुण्यप्रद होता है, इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। पूर्वसमयमें वायुने कहा था कि ओजसतीर्थमें किये गये श्राद्धका क्षय नहीं होता है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक यहाँ श्राद्ध करना चाहिये। चैत्र मासके शुक्लपक्षकी षष्ठी तिथिके दिन जो उसमें श्रद्धापूर्वक स्नान करेगा, उसके पितरोंको अक्षय (कभी भी क्षय न होनेवाले) जलकी प्राप्ति होगी। तीनों लोकोंमें विख्यात एक 'पञ्चवट' नामका तीर्थ है, जहाँ स्वयं भगवान् महादेव योगसाधना करनेकी मुद्रामें विराजमान हैं ॥ ९-१२ ॥

तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वा च देवदेवं महेश्वरम्। गाणपत्यमवाप्नोति दैवतैः सह मोदते ॥ १३ ॥
कुरुतीर्थं च विख्यातं कुरुणा यत्र वै तपः। तप्तं सुघोरं क्षेत्रस्य कर्षणार्थं द्विजोत्तमाः ॥ १४ ॥
तस्य घोरेण तपसा तुष्ट इन्द्रोऽब्रवीद् वचः। राजर्षे परितुष्टोऽस्मि तपसाऽनेन सुव्रत ॥ १५ ॥
यज्ञं ये च कुरुक्षेत्रे करिष्यन्ति शतक्रतोः। ते गमिष्यन्ति सुकृताँल्लोकान् पापविवर्जितान् ॥ १६ ॥
अवहस्य ततः शक्रो जगाम त्रिदिवं प्रभुः। आगम्यागम्य चैवैनं भूयो भूयो ह्यहस्य च ॥ १७ ॥
शतक्रतुरनिर्विण्णः पृष्ट्वा पृष्ट्वा जगाम ह।
यदा तु तपसोग्रेण चकर्ष देहमात्मनः। ततः शक्रोऽब्रवीत् प्रीत्या ब्रूहि यत्ते चिकीर्षितम् ॥ १८ ॥

उस (पञ्चवट) स्थानपर स्नान करके देवाधिदेव महादेवकी पूजा करनेवाला मनुष्य गणपतिका पद और देवताओंके साथ आनन्द प्राप्त करता हुआ प्रसन्न रहता है। श्रेष्ठ द्विजो! 'कुरुतीर्थ' विख्यात तीर्थ है, जिसमें कुरुने कीर्तिकी प्राप्तिके लिये धर्मकी खेती करनेके लिये तपस्या की थी। उनकी घोर तपस्यासे प्रसन्न होकर इन्द्रने कहा—सुन्दर व्रतोंके करनेवाले राजर्षि! तुम्हारी इस तपस्यासे मैं सन्तुष्ट हूँ। (सुनो) इस कुरुक्षेत्रमें जो लोग इन्द्रका यज्ञ करेंगे, वे लोग पापरहित हो जायँगे, और पवित्र लोकोंको प्राप्त होंगे। इतना कहकर इन्द्रदेव मुस्कराकर स्वर्ग चले गये। बिना खिन्न हुए इन्द्र बारबार आये और उपहासपूर्वक उनसे (उनकी योजनाके सम्बन्धमें कुछ) पूछ-पूछकर चले गये। कुरुने जब उग्र तपस्याद्वारा अपनी देहका कर्षण किया तो इन्द्रने प्रेमपूर्वक उनसे कहा—'कुरु! तुम्हें जो कुछ करनेकी इच्छा हो उसे कहो' ॥ १३-१८ ॥

कुरुरुवाच

ये श्रद्दधानास्तीर्थेऽस्मिन् मानवा निवसन्ति ह। ते प्राप्नुवन्तु सदनं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ १९ ॥
अन्यत्र कृतपापा ये पञ्चपातकदूषिताः। अस्मिंस्तीर्थे नराः स्नात्वा मुक्ता यान्तु परां गतिम् ॥ २० ॥

कुरुक्षेत्रे पुण्यतमं कुरुतीर्थं द्विजोत्तमाः। तं दृष्ट्वा पापमुक्तस्तु परं पदमवाप्नुयात्॥ २१॥
कुरुतीर्थे नरः स्नातो मुक्तो भवति किल्बिषैः। कुरुणा समनुज्ञातः प्राप्नोति परमं पदम्॥ २२॥

कुरुने कहा—रुद्रदेव! जो श्रद्धालु मानव इस तीर्थमें निवास करते हैं, वे परमात्मस्वरूप परब्रह्मके लोकको प्राप्त करते हैं। इस स्थानसे अन्यत्र पाप करनेवालों एवं पञ्चपातकोंसे दूषित मनुष्य भी इस तीर्थमें स्नान करनेसे मुक्त होकर परमगतिको प्राप्त करता है। (लोमहर्षणने कहा—) श्रेष्ठ ब्राह्मणो! कुरुक्षेत्रमें कुरुतीर्थ सर्वाधिक पवित्र है। उसका दर्शन कर पापात्मा मनुष्य (भी) मोक्ष प्राप्त कर लेता है तथा कुरुतीर्थमें स्नानकर पापोंसे छूट जाता है एवं कुरुकी आज्ञासे परमपद (मोक्ष)को प्राप्त करता है॥ १९-२२॥

स्वर्गद्वारं ततो गच्छेच्छिवद्वारे व्यवस्थितम्। तत्र स्नात्वा शिवद्वारे प्राप्नोति परमं पदम्॥ २३॥
ततो गच्छेदनरकं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। यत्र पूर्वे स्थितो ब्रह्मा दक्षिणे तु महेश्वरः॥ २४॥
रुद्रपत्नी पश्चिमतः पद्मनाभोत्तरे स्थितः। मध्ये अनरकं तीर्थं त्रैलोक्यस्यापि दुर्लभम्॥ २५॥

फिर (कुरुतीर्थमें स्नान करनेके बाद) शिवद्वारमें स्थित स्वर्गद्वारको जाय (और स्नान करे), क्योंकि वहाँ (शिवद्वारमें) स्नान करनेसे मनुष्य परमपदको प्राप्त करता है। शिवद्वार जानेके पश्चात् तीनों लोकोंमें विख्यात अनरक नामके तीर्थमें जाय। उस अनरकके पूर्वमें ब्रह्मा, दक्षिणमें महेश्वर, पश्चिममें रुद्रपत्नी एवं उत्तरमें पद्मनाभ और इन सबके मध्यमें अनरक नामका तीर्थ स्थित है, वह तीनों लोकोंके लिये भी दुर्लभ है—॥ २३-२५॥

यस्मिन् स्नातस्तु मुच्येत पातकैरुपपातकैः। वैशाखे च यदा षष्ठी मङ्गलस्य दिनं भवेत्॥ २६॥
तदा स्नानं तत्र कृत्वा मुक्तो भवति पातकैः। यः प्रयच्छेत करकांश्चतुरो भक्ष्यसंयुतान्॥ २७॥
कलशं च तथा दद्यादपूपैः परिशोभितम्। देवता प्रीणयेत् पूर्वं करकैरन्नसंयुतैः॥ २८॥
ततस्तु कलशं दद्यात् सर्वपातकनाशनम्। अनेनैव विधानेन यस्तु स्नानं समाचरेत्॥ २९॥
स मुक्तः कलुषैः सर्वैः प्रयाति परमं पदम्। अन्यत्रापि यदा षष्ठी मङ्गलेन भविष्यति॥ ३०॥

जिस-(अनरकतीर्थ)में स्नान करनेवाला मनुष्य छोटे-बड़े सभी पापोंसे छूट जाता है। जब वैशाखमासकी षष्ठी तिथिको मङ्गल दिन हो तब वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य पापोंसे छूट जाता है। (उस दिन) खाद्य पदार्थसे संयुक्त चार करक (करवे या कमण्डलु) एवं मालपुओं आदिसे सुशोभित कलशका दान करे। पहले अन्नसे युक्त करवोंसे देवताकी पूजा करे, फिर सम्पूर्ण पापोंके नाश करनेवाले कलशका दान करे। जो मानव इस विधानसे स्नान करता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे छूट जायगा और परमपदको प्राप्त करेगा। इसके अतिरिक्त (वैशाखके सिवा) अन्य समयमें भी मङ्गलके दिन षष्ठी तिथि होनेपर उस तीर्थमें की हुई पूर्वोक्त क्रिया मुक्ति देनेवाली होगी॥ २६-३०॥

तत्रापि मुक्तिफलदा क्रिया तस्मिन् भविष्यति। तीर्थं च सर्वतीर्थानां यस्मिन् स्नातो द्विजोत्तमाः॥ ३१॥
सर्वदेवैरनुज्ञातः परं पदमवाप्नुयात्। काम्यकं च वनं पुण्यं सर्वपातकनाशनम्॥ ३२॥
यस्मिन् प्रविष्टमात्रस्तु मुक्तो भवति किल्बिषैः। यमाश्रित्य वनं पुण्यं सविता प्रकटः स्थितः॥ ३३॥
पूषा नाम द्विजश्रेष्ठा दर्शनान्मुक्तिमाप्नुयात्।
आदित्यस्य दिने प्राप्ते तस्मिन् स्नातस्तु मानवः। विशुद्धदेहो भवति मनसा चिन्तितं लभेत्॥ ३४॥

इति श्रीवामनपुराणे एकचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४१॥

श्रेष्ठ द्विजो ! वहीं समस्त पापोंका विनाश करनेवाला तीर्थ शिरोमणि काम्यकवन नामका एक तीर्थ है। जो मनुष्य उसमें स्नान करता है, वह सभी देवोंकी अनुमतिसे परमपदको प्राप्त करता है। इस वनमें प्रवेश करनेसे ही मनुष्य अपने समस्त पापोंसे छूट जाता है। इस पवित्र वनमें पूषा नामके सूर्यभगवान् प्रत्यक्ष रूपसे स्थित हैं। द्विजश्रेष्ठो! उन सूर्यभगवान्के दर्शनसे मुक्ति प्राप्त होती है। रविवारके दिन उस तीर्थमें स्नान करनेवाला मनुष्य विशुद्ध हो जाता है और अपने मनोरथको प्राप्त करता है ॥ ३१–३४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इकतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

[अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः]

ऋषय ऊचुः

काम्यकस्य तु पूर्वेण कुञ्जं देवैर्निषेवितम्। तस्य तीर्थस्य सम्भूतिं विस्तरेण ब्रवीहि नः ॥ १ ॥

बयालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(काम्यकवन तीर्थका प्रसङ्ग, सरस्वती नदीकी महिमा और तत्सम्बद्ध तीर्थोंका वर्णन)

ऋषियोंने पूछा—(लोमहर्षणजी !) काम्यकवनके पूर्वमें स्थित कुञ्जका आश्रयण देवताओंने किया था, पर उस काम्यकवन तीर्थकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसे आप हमें विस्तारसे बतलाइये ॥ १ ॥

लोमहर्षण उवाच

शृण्वन्तु मुनयः सर्वे तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम्। ऋषीणां चरितं श्रुत्वा मुक्तो भवति किल्बिषैः ॥ २ ॥
नैमिषेयाश्च ऋषयः कुरुक्षेत्रे समागताः। सरस्वत्यास्तु स्नानार्थं प्रवेशं ते न लेभिरे ॥ ३ ॥
ततस्ते कल्पयामासुस्तीर्थं यज्ञोपवीतिकम्। शेषास्तु मुनयस्तत्र न प्रवेशं हि लेभिरे ॥ ४ ॥
रन्तुकस्याश्रमात्तावद् यावत्तीर्थं सचक्रकम्। ब्राह्मणैः परिपूर्णं तु दृष्ट्वा देवी सरस्वती ॥ ५ ॥
हितार्थं सर्वविप्राणां कृत्वा कुञ्जानि सा नदी। प्रयाता पश्चिमं मार्गं सर्वभूतहिते स्थिता ॥ ६ ॥

लोमहर्षणजी बोले—(उत्तर दिया)—मुनियो ! आप सभी लोग इस तीर्थके श्रेष्ठ माहात्म्यको सुनें। ऋषियोंके चरित्रको सुननेसे मनुष्य पापोंसे मुक्त हो जाता है। (एक बारकी बात है) नैमिषारण्यके निवासी ऋषि सरस्वती नदीमें स्नान करनेके लिये कुरुक्षेत्र आये। परंतु वे सरस्वतीमें स्नान करनेके लिये प्रवेश न पा सके। तब उन्होंने यज्ञोपवीतिक नामक एक तीर्थकी कल्पना कर ली। (पर फिर भी) शेष मुनिलोग उसमें भी प्रवेश न पा सके। सरस्वतीने देखा कि रन्तुक आश्रमसे सचक्रकतक जितने भी तीर्थस्थल हैं, वे सब-के-सब ब्राह्मणोंसे भर गये हैं। इसलिये सभी ब्राह्मणोंके कल्याणके लिये उस सरस्वती नदीने कुञ्ज बना दिया और सभी प्राणियोंकी भलाईमें तत्पर होकर वह पश्चिम मार्गको (पश्चिमवाहिनी बनकर) चल पड़ी ॥ २–६ ॥

पूर्वप्रवाहे यः स्नाति गङ्गास्नानफलं लभेत्। प्रवाहे दक्षिणे तस्या नर्मदा सरितां वरा ॥ ७ ॥
पश्चिमे तु दिशाभागे यमुना संश्रिता नदी। यदा उत्तरतो याति सिन्धुर्भवति सा नदी ॥ ८ ॥
एवं दिशाप्रवाहेण याति पुण्या सरस्वती। तस्यां स्नातः सर्वतीर्थे स्नातो भवति मानवः ॥ ९ ॥
ततो गच्छेद् द्विजश्रेष्ठा मदनस्य महात्मनः। तीर्थं त्रैलोक्यविख्यातं विहारं नाम नामतः ॥ १० ॥

जो मनुष्य सरस्वतीके पूर्वी प्रवाहमें स्नान करता है, उसे गङ्गामें स्नान करनेका फल प्राप्त होता है। उसके दक्षिणी प्रवाहमें सरिताओंमें श्रेष्ठ नर्मदा एवं पश्चिम दिशाकी ओर यमुना नदी संश्रित है। किंतु जब वह

उत्तर दिशाकी ओर बहने लगती है तो वह सिन्धु हो जाती है। इस प्रकार विभिन्न दिशाओंमें यह पवित्र सरस्वती नदी (भिन्न भिन्न रूपोंमें) प्रवाहित होती है। उस सरस्वती नदीमें स्नान करनेवाला मनुष्य मानो सभी तीर्थोंमें स्नान कर लेता है। द्विजश्रेष्ठो ! सरस्वती नदीमें स्नान करनेके बाद तीर्थसेवीको तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध महात्मा मदनके 'विहार' नामक तीर्थमें जाना चाहिये ॥ ७-१० ॥

यत्र देवाः समागम्य शिवदर्शनकाङ्क्षिणः। समागता न चापश्यन् देवं देव्या समन्वितम् ॥ ११ ॥
ते स्तुवन्तो महादेवं नन्दिनं गणनायकम्। ततः प्रसन्नो नन्दीशः कथयामास चेष्टितम् ॥ १२ ॥
भवस्य उमया सार्धं विहारे क्रीडितं महत्। तच्छ्रुत्वा देवतास्तत्र पत्नीराहूय क्रीडिताः ॥ १३ ॥
तेषां क्रीडाविनोदेन तुष्टः प्रोवाच शंकरः। योऽस्मिंस्तीर्थे नरः स्नाति विहारे श्रद्धयान्वितः ॥ १४ ॥
धनधान्यप्रियैर्युक्तो भवते नात्र संशयः। दुर्गातीर्थं ततो गच्छेद् दुर्गया सेवितं महत् ॥ १५ ॥

जहाँपर भगवान् शिवके दर्शनाभिलाषी देवता आये, पर वे उमासहित शिवका दर्शन न कर पाये। वे लोग गणनायक महादेव नन्दीकी स्तुति करने लगे। इससे नन्दीश्वर प्रसन्न हो गये और (उन्होंने) उमाके साथ की जा रही शिवकी महती विहार-क्रीडाका वर्णन किया। यह सुनकर देवताओंने भी अपनी पत्नियोंको बुलाया और उनके साथ (उन लोगोंने भी) क्रीडा की। उनके क्रीडा-विनोदसे शंकर प्रसन्न हो गये और बोले—इस विहार-तीर्थमें जो श्रद्धाके साथ स्नान करेगा, वह निःसंदेह धन-धान्य एवं प्रिय सम्बन्धियोंसे सम्पन्न होगा। उमा शिवके विहार स्थलकी यात्राके बाद दुर्गासे प्रतिष्ठित उस महान् दुर्गातीर्थमें जाना चाहिये—॥ ११-१५ ॥

यत्र स्नात्वा पितॄन् पूज्य न दुर्गतिमवाप्नुयात्। तत्रापि च सरस्वत्याः कूपं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १६ ॥
दर्शनान्मुक्तिमाप्नोति सर्वपातकवर्जितः। यस्तत्र तर्पयेद् देवान् पितॄंश्च श्रद्धयान्वितः ॥ १७ ॥
अक्षय्यं लभते सर्वं पितृतीर्थं विशिष्यते। मातृहा पितृहा यश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ॥ १८ ॥
स्नात्वा शुद्धिमवाप्नोति यत्र प्राची सरस्वती। देवमार्गप्रविष्टा च देवमार्गेण निःसृता ॥ १९ ॥

जहाँ स्नानकर पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको दुर्गतिकी प्राप्ति नहीं होती। उसी स्थानपर तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध सरस्वतीका एक कूप है। उसका दर्शन करनेमात्रसे ही मनुष्य सभी पापोंसे रहित हो जाता है और मुक्ति प्राप्त करता है। जो वहाँ श्रद्धापूर्वक देवता और पितरोंका तर्पण करता है, वह व्यक्ति समस्त अक्षय्य (कभी भी नष्ट न होनेवाले) पदार्थोंको प्राप्त करता है। पितृतीर्थकी विशेष महत्ता है। उस तीर्थमें माता, पिता और ब्राह्मणका घातक तथा गुरुपत्नीगामी भी स्नान करनेसे (ही) शुद्ध हो जाता है। वहाँ पूर्व दिशाकी ओर बहनेवाली सरस्वती देव-मार्गमें प्रविष्ट होकर देवमार्गसे ही निकली हुई है ॥ १६-१९ ॥

प्राची सरस्वती पुण्या अपि दुष्कृतकर्मणाम्। त्रिरात्रं ये करिष्यन्ति प्राचीं प्राप्य सरस्वतीम् ॥ २० ॥
न तेषां दुष्कृतं किंचिद् देहमाश्रित्य तिष्ठति। नरनारायणौ देवौ ब्रह्मा स्थाणुस्तथा रविः ॥ २१ ॥
प्राचीं दिशं निषेवन्ते सदा देवाः सवासवाः। ये तु श्राद्धं करिष्यन्ति प्राचीमाश्रित्य मानवाः ॥ २२ ॥
तेषां न दुर्लभं किंचिदिह लोके परत्र च। तस्मात् प्राची सदा सेव्या पञ्चम्यां च विशेषतः ॥ २३ ॥
पञ्चम्यां सेवमानस्तु लक्ष्मीवाञ्जायते नरः। तत्र तीर्थमौशनसं त्रैलोक्यस्यापि दुर्लभम् ॥ २४ ॥
उशना यत्र संसिद्ध आराध्य परमेश्वरम्। ग्रहमध्येषु पूज्यते तस्य तीर्थस्य सेवनात् ॥ २५ ॥

पूर्ववाहिनी सरस्वती दुष्कर्मियोंके लिये भी पुण्य देनेवाली है। जो प्राची सरस्वतीके निकट जाकर त्रिरात्रव्रत करता है, उसके शरीरमें कोई पाप नहीं रह जाता। नर और नारायण—ये दोनों देव, ब्रह्मा, स्थाणु तथा सूर्य

एव इन्द्रसहित सभी देवता प्राची दिशाका सेवन करते हैं । जो मानव प्राची सरस्वतीमें श्राद्ध करेंगे, उन्हें इस लोक तथा परलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा । अत प्राची सरस्वतीका सर्वदा सेवन करना चाहिये—विशेषत पञ्चमीके दिन । पञ्चमी तिथिको प्राची सरस्वतीका सेवन करनेवाला मनुष्य लक्ष्मीवान् होता है । वहीं तीनों लोकोंमें दुर्लभ औशनस नामका तीर्थ है, जहाँ परमेश्वरकी आराधना कर शुक्राचार्य सिद्ध हो गये थे । उस तीर्थका स्नान करनेसे ग्रहोंके मध्य उनकी पूजा होती है ॥ २०–२५ ॥

एव शुक्रेण मुनिना सेवित तीर्थमुत्तमम् । ये सेवन्ते श्रद्दधानास्ते यान्ति परमा गतिम् ॥ २६ ॥
यस्तु श्राद्ध नरो भक्त्या तस्मिंस्तीर्थे करिष्यति । पितरस्तारितास्तेन भविष्यन्ति न सशयः ॥ २७ ॥
चतुर्मुख ब्रह्मतीर्थं सरो मर्यादया स्थितम् । ये सेवन्ते चतुर्दश्या सोपवासा वसन्ति च ॥ २८ ॥
अष्टम्या कृष्णपक्षस्य चैत्रे मासि द्विजोत्तमा । ते पश्यन्ति पर सूक्ष्म यस्मान्नावर्तते पुन ॥ २९ ॥
स्थाणुतीर्थं ततो गच्छेत् सहस्रलिङ्गशोभितम् । तत्र स्थाणुवट दृष्ट्वा मुक्तो भवति किल्बिषैः ॥ ३० ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्विचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४२ ॥

इस प्रकार शुक्रमुनिके द्वारा सेवित उत्तम तीर्थका जो श्रद्धापूर्वक (स्वय) सेवन करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं । उस तीर्थमें भक्तिपूर्वक जो व्यक्ति श्राद्ध करेगा, उसके द्वारा उसके पितर नि सन्देह तर जायगे । द्विजोत्तमो ! जो सरोवरकी मर्यादासे स्थित चतुर्मुख ब्रह्मतीर्थमें चतुर्दशीके दिन उपवास-व्रत करते हैं तथा चैत्रमासके कृष्णपक्षकी अष्टमीतक निवास करके तीर्थका सेवन करते हैं, उन्हें परम सूक्ष्म-(तत्त्व) का दर्शन प्राप्त होता है, जिससे वे पुन ससारमें नहीं आते । ब्रह्मतीर्थके नियम पालन करनेके बाद सहस्रलिङ्गसे शोभित स्थाणुतीर्थमें जाय । वहाँ स्थाणुवटका दर्शन प्राप्त कर मनुष्य पापोंसे विमुक्त हो जाता है ॥ २६–३० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बयालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

[अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्याय]

ऋषय ऊचु

स्थाणुतीर्थस्य माहात्म्य वटस्य च महामुने । सांनिहत्यसरोत्पत्तिं पूरण पांशुना ततः ॥ १ ॥
लिङ्गानां दर्शनात् पुण्य स्पर्शनेन च किं फलम् । तथैव सरमाहात्म्य ब्रूहि सर्वमशेषत ॥ २ ॥

तैंतालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्थाणुतीर्थ, स्थाणुवट और सांनिहत्य सरोवरके सम्बन्धमें प्रश्न और उसके हवालेसे लोमहर्षणका उत्तर)

(स्थाणुतीर्थमें जाने तथा स्थाणुवटके दर्शनसे मुक्ति प्राप्ति होनेकी बात सुननेके बाद) ऋषियोंने पूछा—महामुने ! आप स्थाणुतीर्थ एव स्थाणुवटके माहात्म्य तथा सांनिहत्य सरोवरकी उत्पत्ति और इन्द्रद्वारा उसके धूलसे भरे जानेके कारणका वर्णन करें । (इसी प्रकार) लिङ्गोंके दर्शनसे होनेवाले पुण्य तथा स्पर्शसे होनेवाले फल और सरोवरके माहात्म्यका भी पूर्णत वर्णन करें ॥ १–२ ॥

लोमहर्षण उवाच

शृण्वन्तु मुनयः सर्वे पुराण वामन महत् । यच्छ्रुत्वा मुक्तिमाप्नोति प्रसादाद् वामनस्य तु ॥ ३ ॥
सनत्कुमारमासीन स्थाणोर्वटसमीपतः । ऋषिभिर्वालखिल्याद्यैर्ब्रह्मपुत्रैर्महात्मभि ॥ ४ ॥
मार्कण्डेयो मुनिस्तत्र विनयेनाभिगम्य च । पप्रच्छ सरमाहात्म्य प्रमाण च स्थितिं तथा ॥ ५ ॥

लोमहर्षणजी बोले—मुनियो! आपलोग महान् वामनपुराणको श्रवण करें, जिसका श्रवण कर मनुष्य वामनभगवान्‌की कृपासे मुक्ति पा लेता है। (एक समय) ब्रह्माके पुत्र सनत्कुमार महात्मा वालखिल्य आदि ऋषियोंके साथ स्थाणुवटके पास बैठे हुए थे। महर्षि मार्कण्डेयने उनके निकट जाकर नम्रतापूर्वक सरोवरके माहात्म्य, उसके विस्तार और स्थितिके विषयमें पूछा—॥ ३-५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ब्रह्मपुत्र महाभाग सर्वशास्त्रविशारद। ब्रूहि मे सरमाहात्म्यं सर्वपापक्षयावहम्॥ ६ ॥
कानि तीर्थानि दृश्यानि गुह्यानि द्विजसत्तम। लिङ्गानि ह्यतिपुण्यानि स्थाणोर्यानि समीपतः॥ ७ ॥
येषां दर्शनमात्रेण मुक्तिं प्राप्नोति मानवः। वटस्य दर्शनं पुण्यमुत्पत्तिं कथयस्व मे॥ ८ ॥
प्रदक्षिणाया यत्पुण्यं तीर्थस्नानेन यत्फलम्। गुह्येषु चैव दृष्टेषु यत्पुण्यमभिजायते॥ ९ ॥
देवदेवो यथा स्थाणुः सरोमध्ये व्यवस्थितः। किमर्थं पांशुना शक्रस्तीर्थं पूरितवान् पुनः॥ १० ॥
स्थाणुतीर्थस्य माहात्म्यं चक्रतीर्थस्य यत्फलम्। सूर्यतीर्थस्य माहात्म्यं सोमतीर्थस्य ब्रूहि मे॥ ११ ॥
शंकरस्य च गुह्यानि विष्णोः स्थानानि यानि च। कथयस्व महाभाग सरस्वत्याः सविस्तरम्॥ १२ ॥
ब्रूहि देवाधिदेवस्य माहात्म्यं देव तत्त्वतः। विरिञ्चस्य प्रसादेन विदितं सर्वमेव च॥ १३ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा (पूछा)—सर्वशास्त्रविशारद महाभाग ब्रह्मपुत्र (सनत्कुमार)! आप मुझसे सभी पापोंके नष्ट करनेवाले सरोवरके माहात्म्यको कहिये। द्विजश्रेष्ठ! स्थाणुतीर्थके पास कौन-कौन-से तीर्थ दृश्य हैं और कौन-कौन-से अदृश्य और कौन-से लिङ्ग अत्यन्त पवित्र हैं, जिनका दर्शन कर मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है। मुने! आप स्थाणुवटके दर्शनसे होनेवाले पुण्य तथा उसकी उत्पत्तिके विषयमें भी कहिये—बताइये। इनकी प्रदक्षिणा करनेसे होनेवाले पुण्य, तीर्थमें स्नान करनेसे मिलनेवाले फल एवं गुप्त तीर्थों तथा प्रकट तीर्थोंके दर्शनसे मिलनेवाले पुण्यका भी वर्णन करें। प्रभो! सरोवरके मध्यमें देवाधिदेव स्थाणु (शिव) किस प्रकार स्थित हुए और किस कारणसे इन्द्रने इस तीर्थको पुनः धूलिसे भर दिया? आप स्थाणुतीर्थका माहात्म्य, चक्रतीर्थका फल एवं सूर्यतीर्थ तथा सोमतीर्थका माहात्म्य—इन सबको मुझसे कहिये। महाभाग! सरस्वतीके निकट शंकर तथा विष्णुके जो-जो गुप्त स्थान हैं उनका भी आप विस्तारपूर्वक वर्णन करें। देव! देवाधिदेवके माहात्म्यको आप भलीभाँति बतावें, क्योंकि ब्रह्माकी कृपासे आपको सब कुछ विदित है॥ ६-१३॥

लोमहर्षण उवाच

मार्कण्डेयवचः श्रुत्वा ब्रह्मात्मा स महामुनिः। अतिभक्त्या तु तीर्थस्य प्रवणीकृतमानसः॥ १४ ॥
पर्यङ्कं शिथिलीकृत्वा नमस्कृत्वा महेश्वरम्। कथयामास तत्सर्वं यच्छ्रुतं ब्रह्मणः पुरा॥ १५ ॥

लोमहर्षणने कहा (उत्तर दिया)—मार्कण्डेयके वचनको सुनकर ब्रह्मस्वरूप महामुनिका मन उस तीर्थके प्रति अत्यन्त भक्ति-प्रवण होनेसे गद्‌गद हो गया। उन्होंने आसनसे उठकर भगवान् शंकरको प्रणाम किया तथा प्राचीनकालमें ब्रह्मासे इसके विषयमें जो कुछ सुना था उन सबका वर्णन किया॥ १४-१५॥

सनत्कुमार उवाच

नमस्कृत्य महादेवमीशानं वरदं शिवम्। उत्पत्तिं च प्रवक्ष्यामि तीर्थानां ब्रह्मभाषिताम्॥ १६ ॥
पूर्वमेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे। बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजसम्भवम्॥ १७ ॥
तस्मिन्नण्डे स्थितो ब्रह्मा शयनायोपचक्रमे। सहस्रयुगपर्यन्तं सुप्त्वा स प्रत्यबुध्यत॥ १८ ॥
सुप्तोत्थितस्तदा ब्रह्मा शून्यं लोकमपश्यत। सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य रजसा मोहितस्य च॥ १९ ॥

सनत्कुमारने कहा—मैं कल्याणकर्ता, वरदानी महादेव ईशानको नमस्कार कर ब्रह्मासे कहे हुए तीर्थ उत्पत्तिके विषयमें वर्णन करूँगा। प्राचीन कालमें जब महाप्रलय हो गया और सर्वत्र केवल जल-ही-जल हो गया एवं उसमें समस्त चर-अचर जगत् नष्ट हो गया, तब प्रजाओंके बीजस्वरूप एक 'अण्ड' उत्पन्न हुआ। उस अण्डमें स्थित थे। उन्होंने उसमें अपने सोनेका उपक्रम किया। फिर तो वे हजारों युगोंतक सोते रहे उसके बाद जगे। ब्रह्मा जब सोकर उठे, तब उन्होंने संसारको शून्य देखा। (जब उन्होंने संसारमें कुछ भी नहीं देखा) तब रजोगुणसे आविष्ट हो गये और सृष्टिके विषयमें विचार करने लगे ॥ १६–१९ ॥

रजः सृष्टिगुणं प्रोक्तं सत्त्वं स्थितिगुणं विदुः। उपसंहारकाले च तमोगुणः प्रवर्तते ॥ २० ॥
गुणातीतः स भगवान् व्यापकः पुरुषः स्मृतः। तेनेदं सकलं व्याप्तं यत्किंचिज्जीवसंज्ञितम् ॥ २१ ॥
स ब्रह्मा स च गोविन्द ईश्वरः स सनातनः। यस्तं वेद महात्मानं स सर्वं वेद मोक्षवित् ॥ २२ ॥
किं तेषां सकलैस्तीर्थैराश्रमैर्वा प्रयोजनम्। येषामनन्तकं चित्तमात्मन्येव व्यवस्थितम् ॥ २३ ॥

रजोगुणको सृष्टिकारक तथा सत्त्वगुणको स्थितिकारक माना गया है। उपसंहार करनेके समयमें तमोगुण प्रवृत्ति होती है। परंतु भगवान् वास्तवमें व्यापक एवं गुणातीत हैं। वे पुरुष नामसे कहे जाते हैं। जीव नामसे निर्दिष्ट सारे पदार्थ उन्हींसे ओतप्रोत हैं। वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही विष्णु हैं और वे ही सनातन महेश्वर हैं मोक्षके ज्ञानी जिस प्राणीने उन महान् आत्माको समझ लिया, उसने सब कुछ जान लिया। जिस मनुष्य अनन्त (बहुमुखी) चित्त उन परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित है, उनके लिये सारे तीर्थ आश्रमोंसे क्या प्रयोजन ? ॥ २०–२३ ॥

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलसमाधियुक्ता।
तस्यां स्नातः पुण्यकर्मा पुनाति न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥ २४ ॥
एतत्प्रधानं पुरुषस्य कर्म यदात्मसम्बोधसुखे प्रविष्टम्।
ज्ञेयं तदेव प्रवदन्ति सन्तस्तत्प्राप्य देही विजहाति कामान् ॥ २५ ॥
नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीले स्थितिर्दण्डविधानवर्जनमक्रोधनश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ २६ ॥
एतद् ब्रह्म समासेन मयोक्तं ते द्विजोत्तम। यज्ज्ञात्वा ब्रह्म परमं प्राप्स्यसि त्वं न संशयः ॥ २७ ॥
इदानीं शृणु चोत्पत्तिं ब्रह्मणः परमात्मनः। इमं चोदाहरन्त्येव श्लोकं नारायणं प्रति ॥ २८ ॥

यह आत्मारूपी नदी शील और समाधिसे युक्त है। इसमें संयमरूपी पवित्र तीर्थ है, जो सत्यरूपी जलसे परिपूर्ण है। जो पुण्यात्मा इस (नदी)में स्नान करता है, वह पवित्र हो जाता है, (पिये जानेवाले सामान्य) जलसे अन्तरात्माकी शुद्धि नहीं होती। इसलिये पुरुषका मुख्य कर्तव्य है कि वह आत्मज्ञानरूपी सुखमें प्रविष्ट रहे। महात्मा लोग उसीको 'ज्ञेय' कहते हैं। शरीर धारण करनेवाला देही जब उसे पा लेता है, तब सभी इच्छाओंको छोड़ देता है। ब्राह्मणके लिये एकता, समता, सत्यता, मर्यादामें स्थिति, दण्ड-विधानका त्याग, क्रोध न करना एवं (सांसारिक) क्रियाओंसे विराग ही धन है, इनके समान उनके लिये कोई अन्य धन नहीं है। द्विजोत्तम! मैंने थोड़ी मात्रामें तुम्हें यह जो ब्रह्मके विषयमें कहा है, इसे जानकर तुम निःसंदेह परम ब्रह्मको प्राप्त करोगे। अब तुम परमात्मा ब्रह्माकी उत्पत्तिके विषयमें सुनो। उस नारायणके विषयमें लोग इस श्लोकका उदाहरण दिया करते हैं—॥ २४–२८ ॥

आपो नारा वै तनव इत्येव नाम शुश्रुम । तासु शेते स यस्माच्च तेन नारायणः स्मृतः ॥ २९ ॥
विबुद्धः सलिले तस्मिन् विज्ञायान्तर्गतं जगत् । अण्डं बिभेद भगवांस्तस्मादोमित्यजायत ॥ ३० ॥
ततो भूरभवत् तस्माद् भुव इत्यपरं स्मृतः । स्वःशब्दश्च तृतीयोऽभूद् भूर्भुवः स्वेति संज्ञितः ॥ ३१ ॥
तस्मात्तेजः समभवत् तत्सवितुर्वरेण्यं यत् । उदकं शोषयामास यत्तेजोऽण्डविनिःसृतम् ॥ ३२ ॥

'आप्' (जल) ही को 'नार', (एवं परमात्मा) को 'तनु'—ऐसा हमने सुन रखा है । वे (परमात्मा) उसमें शयन करते हैं, जिससे वे (शब्दव्युत्पत्तिमें) 'नारायण' शब्दसे स्मरण किये गये हैं । जलमें सोनेके बाद जाग जानेपर उन्होंने जगत्को अपनेमें प्रविष्ट जानकर अण्डको तोड़ दिया, उससे 'ॐ' शब्दकी उत्पत्ति हुई । इसके बाद उससे (पहली बार) भूः, दूसरी बार भुवः एवं तीसरी बार स्वःकी उत्पत्ति (ध्वनि) हुई । इन तीनोंका नाम क्रमशः मिलकर 'भूर्भुवः स्वः' हुआ । उस सविता देवताका जो वरेण्य तेज है, वह उसीसे उत्पन्न हुआ । अण्डसे जो तेज निकला, उसने जलको सुखा दिया ॥ २९–३२ ॥

तेजसा शोषितं शेषं कललत्वमुपागतम् । कललाद् बुद्बुदं ज्ञेयं ततः काठिन्यतां गतम् ॥ ३३ ॥
काठिन्याद् धरणी ज्ञेया भूतानां धारिणी हि सा । यस्मिन् स्थाने स्थितं ह्यण्डं तस्मिन् संनिहितं सरः ॥ ३४ ॥
यस्माच्च निःसृतं तेजस्तस्मादादित्य उच्यते । अण्डमध्ये समुत्पन्नो ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ३५ ॥
उल्वं तस्याभवन्मेरुर्जरायुः पर्वताः स्मृताः । गर्भोदकं समुद्राश्च तथा नद्यः सहस्रशः ॥ ३६ ॥
नाभिस्थाने यदुदकं ब्रह्मणो निर्मलं महत् । महत्सरस्तेन पूर्णं विमलेन वराम्भसा ॥ ३७ ॥

तेजसे जलके सोखे जानेपर शेष जल कललकी आकृतिमें बदल गया । कललसे बुद्बुद हुआ और उसके बाद वह कठोर हो गया । कठोर हो जानेके कारण वह बुद्बुद भूतोंको धारण करनेवाली धरणी बन गया । जिस स्थानपर अण्ड स्थित था, वहीं संनिहित नामका सरोवर है । तेजके आदिमें उत्पन्न होनेके कारण उसे 'आदित्य' नामसे कहा जाता है । फिर सारे संसारके पितामह ब्रह्मा अण्डके मध्यमें उत्पन्न हुए । उस अण्डका उल्व (गर्भका आवरण) मेरु पर्वत है एवं अन्य पर्वत उसके जरायु (झिल्ली) माने जाते हैं । समुद्र एवं सहस्रों नदियाँ गर्भके जल हैं । ब्रह्माके नाभि-स्थानमें जो विशाल निर्मल जल राशि है, उस स्वच्छ श्रेष्ठ जलसे महान् सरोवर भरा-पूरा है ॥ ३३–३७ ॥

तस्मिन् मध्ये स्थाणुरूपी वटवृक्षो महामनाः । तस्माद् विनिर्गता वर्णा ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ ३८ ॥
शूद्राश्च तस्मादुत्पन्नाः शुश्रूषार्थं द्विजन्मनाम् ।
ततश्चिन्तयतः सृष्टिं ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः । मनसा मानसा जाताः सनकाद्या महर्षयः ॥ ३९ ॥
पुनश्चिन्तयतस्तस्य प्रजाकामस्य धीमतः । उत्पन्ना ऋषयः सप्त ते प्रजापतयोऽभवन् ॥ ४० ॥
पुनश्चिन्तयतस्तस्य रजसा मोहितस्य च । वालखिल्याः समुत्पन्नास्तपःस्वाध्यायतत्पराः ॥ ४१ ॥

उस सरोवरके मध्यमें स्थाणुके आकारका महान् विशाल एक वटवृक्ष है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों वर्ण उससे निकले और द्विजोंकी शुश्रूषा करनेके लिये उसीसे शूद्रोंकी भी उत्पत्ति हुई । (इस प्रकार चारों वर्णोंकी सृष्टि सरोवरके मध्यमें स्थाणुरूपसे स्थित वटवृक्षसे हुई) । उसके बाद सृष्टिकी चिन्ता करते हुए अव्यक्तजन्मा ब्रह्माके मनसे सनकादि महर्षियोंकी उत्पत्ति हुई । फिर प्रजाकी इच्छासे चिन्तन कर रहे मतिमान् ब्रह्मासे सात ऋषि उत्पन्न हुए । वे प्रजापति हुए । रजोगुणसे मोहित होकर ब्रह्माने जब पुनः चिन्तन किया, तब तप एवं स्वाध्यायमें परायण वालखिल्य ऋषियोंकी उत्पत्ति हुई ॥ ३८–४१ ॥

ते सदा स्नाननिरता देवार्चनपरायणाः । उपवासैर्व्रतैस्तीव्रैः शोषयन्ति कलेवरम् ॥ ४२ ॥
वानप्रस्थेन विधिना अग्निहोत्रसमन्विताः । तपसा परमेणेह शोषयन्ति कलेवरम् ॥ ४३ ॥
दिव्यं वर्षसहस्रं ते कृशा धमनिसंतताः । आराधयन्ति देवेशं न च तुष्यति शंकरः ॥ ४४ ॥
ततः कालेन महता उमया सह शंकरः । आकाशमार्गेण तदा दृष्ट्वा देवी सुदुःखिता ॥ ४५ ॥
प्रसाद्य देवदेवेशं शंकरं प्राह सुव्रता । क्लिश्यन्ते ते मुनिगणा देवदारुवनाश्रयाः ॥ ४६ ॥
तेषां क्लेशक्षयं देव विधेहि कुरु मे दयाम् । किं वेदधर्मनिष्ठानामनन्तं देव दुष्कृतम् ॥ ४७ ॥
नाद्यापि येन शुद्ध्यन्ति शुष्कस्नाय्वस्थिशोषिताः ।
तच्छ्रुत्वा वचनं देव्याः पिनाकी पातितान्धकः । प्रोवाच प्रहसन् मूर्ध्नि चारुचन्द्रांशुशोभितः ॥ ४८ ॥

वे सर्वदा स्नान (शुद्धि) करनेमें निरत तथा देवताओंकी पूजा करनेमें विशेषरूपसे लगे रहते तथा उपवासों एवं तीव्र व्रतोंसे अपने शरीरको सुखाये जा रहे थे । अग्निहोत्रसे युक्त होकर वानप्रस्थकी विधिसे वे उत्कृष्ट तपस्या करते और अपने शरीर सुखाते जाते थे । वे लोग अत्यन्त दुर्बल एवं कङ्काल-काय होकर सहस्र दिव्य वर्षोंतक देवेशकी उपासना करते रहे, परंतु भगवान् शंकर प्रसन्न न हुए । उसके बहुत दिनोंके बाद उमाके साथ भगवान् शंकर आकाश-मार्गसे भ्रमण कर रहे थे । धार्मिक कार्योंको करनेवाली उमा (बालखिल्योंकी) इस प्रकारकी दशा (कङ्कालमात्र) देखकर दुःखी हो गयीं और दुःखी होकर देवदेवेश शंकरको प्रसन्नकर कहने लगीं—देव ! देवदारु वनमें रहनेवाले वे मुनिगण क्लेश उठा रहे हैं । देव ! मेरे ऊपर दया करें । आप उनके क्लेशका विनाश करें । देव ! वैदिक धर्ममें निष्ठा रखनेवाले इन (तपस्वियों) का कौन ऐसा अनन्त दुष्कृत है, जिससे ये कङ्कालमात्र होनेपर भी अबतक शुद्ध नहीं हुए ? अन्धकको मार गिरानेवाले, चन्द्रमाकी मनोहर किरणोंसे सुशोभित सिरवाले पिनाकधारी शंकरजी उमाकी बातको सुनकर हँसते हुए बोले— ॥ ४२–४८ ॥

श्रीमहादेव उवाच

न वेत्सि देवि तत्त्वेन धर्मस्य गहना गतिः । नैते धर्मं विजानन्ति न च कामविवर्जिताः ॥ ४९ ॥
न च क्रोधेन निर्मुक्ताः केवलं मूढबुद्धयः । एतच्छ्रुत्वाऽब्रवीद् देवी मा मैवं शंसितव्रतान् ॥ ५० ॥
देव प्रदर्शयात्मानं परं कौतूहलं हि मे । स इत्युक्त उवाचेदं देवीं देवः स्मिताननः ॥ ५१ ॥
तिष्ठ त्वमत्र यास्यामि यत्रैते मुनिपुंगवाः । साधयन्ति तपो घोरं दर्शयिष्यामि चेष्टितम् ॥ ५२ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—देवि ! धर्मकी गति गहन होती है । तुम उसे तत्त्वतः नहीं जानती । ये लोग न तो धर्मज्ञ हैं और न कामशून्य । ये क्रोधसे मुक्त भी नहीं हैं और विचार-रहित हैं । यह सुनकर उमादेवीने कहा—नहीं, व्रत धारण करनेवाले इन लोगोंको ऐसा मत कहिये, (प्रत्युत) देव ! आप अपनेको प्रकट करें । निश्चय ही मुझे बड़ा कौतूहल है । उमाके ऐसा कहनेपर शंकरने मुसकराकर देवीसे इस प्रकार कहा—अच्छा, तुम यहाँ रुको । ये मुनिश्रेष्ठ जहाँ घोर तपस्याकी साधना कर रहे हैं, वहाँ जाकर मैं इनकी चेष्टा कैसी है, उसे दिखलाता हूँ ॥ ४९–५२ ॥

इत्युक्ता तु ततो देवी शंकरेण महात्मना । गच्छस्वेत्याह मुदिता भर्तारं भुवनेश्वरम् ॥ ५३ ॥
यत्र ते मुनयः सर्वे काष्ठलोष्टसमाः स्थिताः । अधीयाना महाभागाः कृताग्निसदनक्रियाः ॥ ५४ ॥
तान् विलोक्य ततो देवो नग्नः सर्वाङ्गसुन्दरः । वनमालाकृतापीडो युवा भिक्षाकपालभृत् ॥ ५५ ॥
आश्रमे पर्यटन् भिक्षां मुनीनां दर्शनं प्रति । देहि भिक्षां ततश्चोक्त्वा ह्याश्रमादाश्रमं ययौ ॥ ५६ ॥

जब महात्मा शंकरने देवी उमासे इस प्रकार कहा तब उमादेवी प्रसन्न हो गयीं और भुवनोंके पालन करनेवाले भुवनेश्वर शिवसे बोलीं—अच्छा, जिस स्थानपर लकड़ी और मिट्टीके ढेलेके समान निश्चेष्ट, अग्निहोत्री एवं अध्ययनमें लगे हुए मुनिगण रहते हैं, उस स्थानपर आप जायँ। (फिर उमाद्वारा इस प्रकार प्रेरित किये जानेपर शंकरजी मुनिमण्डलीकी ओर जानेके लिये प्रस्तुत हो गये) फिर शंकरने उस मुनिमण्डलीको देखकर वनमाला धारण कर लिया। तब वे सर्वाङ्गसुन्दर(पर) नग्न-सुडौल देह धारण कर युवाके रूपमें हो गये और भिक्षा-पात्र हाथमें लेकर मुनियोंके सामने भिक्षाके लिये भ्रमण करते हुए 'भिक्षा दो' यह कहते हुए एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें जाने लगे ॥ ५३–५६ ॥

स विलोक्याश्रमगतं योषितो ब्रह्मवादिनाम्। सकौतुकस्वभावेन तस्य रूपेण मोहिताः ॥ ५७ ॥
प्रोचुः परस्परं नार्य एहि पश्याम भिक्षुकम्। परस्परमिति चोक्त्वा गृह्य मूलफलं बहु ॥ ५८ ॥
गृहाण भिक्षामूचुस्तास्तं देवं मुनियोषितः। स तु भिक्षाकपालं तं प्रसार्य बहु सादरम् ॥ ५९ ॥
देहि देहि शिवं वोऽस्तु भवतीभ्यस्तपोधने।
हसमानस्तु देवेशस्तत्र देव्या निरीक्षितः। तस्मै दत्त्वैव ता भिक्षां पप्रच्छुस्तं स्मरातुराः ॥ ६० ॥

एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें घूम रहे उन नग्न युवाको देखकर ब्रह्मवादियोंकी स्त्रियाँ उत्सुकताके साथ स्वभाववश उनके रूपसे मोहित हो गयीं और परस्परमें कहने लगीं—आओ, भिक्षुकको देखा जाय। आपसमें इस प्रकार कहकर बहुत-सा मूल-फल लेकर मुनि-पत्नियोंने उन देवसे कहा—आप भिक्षा ग्रहण करें। उन्होंने भी अत्यन्त आदरसे उस भिक्षापात्रको फैलाकर (सामने दिखाकर) कहा—तपोवनवासिनियो! (भिक्षा) दो, दो! आप सबका कल्याण हो। पार्वतीजी वहाँ हँसते हुए शंकरको देख रही थीं। कामातुर मुनिपत्नियोंने उस नग्न युवाको भिक्षा देकर उनसे पूछा—॥ ५७–६० ॥

नार्य ऊचुः

कोऽसौ नाम व्रतविधिस्त्वया तापस सेव्यते।
यत्र नग्नेन लिङ्गेन वनमालाविभूषितः। भवान् वै तापसो हृद्यो हृद्याः स्मो यदि मन्यसे ॥ ६१ ॥
इत्युक्तस्तापसीभिस्तु प्रोवाच हसिताननः। इदमीदृग् व्रतं किंचिन्न रहस्यं प्रकाश्यते ॥ ६२ ॥
शृण्वन्ति बहवो यत्र तत्र व्याख्या न विद्यते। अस्य व्रतस्य सुभगा इति मत्वा गमिष्यथ ॥ ६३ ॥
एवमुक्तास्तदा तेन ता प्रत्यूचुस्तदा मुनिम्। रहस्ये हि गमिष्यामो मुने नः कौतुकं महत् ॥ ६४ ॥

मुनिपत्नियोंने पूछा—तापस! आप किस व्रतके विधानका पालन कर रहे हैं, जिसमें वनमालासे विभूषित हृदयहारी तपस्वीका सुन्दर स्वरूप धारण कर नग्न-मूर्ति बनना पड़ा है? आप हमारे हृदयके आनन्दप्रद तापस हैं, यदि आप मानें तो हम भी आपकी मनोऽनुकूल प्रिया हो सकती हैं। उन्होंने तपस्विनियोंके इस प्रकार कहनेपर हँसते हुए कहा—यह व्रत ऐसा है कि इसका कुछ भी रहस्य प्रकट नहीं किया जा सकता। सौभाग्यशालिनियो! जहाँ बहुत-से सुननेवाले हों वहाँ इस व्रतकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इसलिये यह जानकर आप सभी चली जायँ। उनके ऐसा कहनेपर उन्होंने मुनिसे कहा—मुने! हम सब (यह जाननेके लिये) एकान्तमें चलेंगी, (क्योंकि) हमें महान् कौतूहल हो रहा है ॥ ६१–६४ ॥

इत्युक्त्वा तास्तदा तं वै जगृहुः पाणिपल्लवैः। काचित् कण्ठे सकन्दर्पा बाहुभ्यामपरास्तथा ॥ ६[illegible] ॥
जानुभ्यामपरा नार्यः केशेषु ललितापरा। अपरास्तु कटीरन्ध्रे अपरा पादयोरपि ॥ ६६ ॥
क्षोभं विलोक्य मुनय आश्रमेषु स्वयोषिताम्। हन्यतामिति संभाष्य काष्ठपाषाणपाणयः ॥ ६७ ॥
पातयन्ति स्म देवस्य लिङ्गमुद्धृत्य भीषणम्। पातिते तु ततो लिङ्गे गतोऽन्तर्धानमीश्वरः ॥ ६८ ॥

यह कहकर उन सभीने उनको अपने कोमल हाथोंसे पकड़ लिया। कुछ कामसे आतुर होकर कण्ठसे लिपट गयीं और कुछने उन्हें भुजाओंमें बाँध लिया, कुछ स्त्रियोंने उन्हें घुटनोंमें पकड़ लिया, कुछ सुन्दरी स्त्रियाँ उनके केश छूने लगीं, और कुछ उनकी कमरसे लिपट गयीं एवं कुछने उनके पैरोंको पकड़ लिया। मुनियोंने अपने अपनी स्त्रियोंकी अधीरता देख 'मारो-मारो'—इस प्रकार कहते हुए हाथोंमें डंडा और पत्थर लेकर शिवके लिङ्गको उखाड़कर फेंक दिया। लिङ्गके गिरा दिये जानेपर भगवान् शंकर अन्तर्हित हो गये ॥ ६५–६८ ॥

देव्या स भगवान् रुद्रः कैलासं नगमाश्रितः। पतिते देवदेवस्य लिङ्गे नष्टे चराचरे ॥ ६९ ॥
क्षोभो बभूव सुमहानृषीणां भावितात्मनाम्। एवं देवे तदा तत्र वर्तति व्याकुलीकृते ॥ ७० ॥
उवाचैको मुनिवरस्तत्र बुद्धिमतां वरः। न वयं विद्म सद्भावं तापसस्य महात्मनः ॥ ७१ ॥
विरिञ्चिं शरणं याम स हि ज्ञास्यति चेष्टितम्। एवमुक्ताः सर्व एव ऋषयो लज्जिता भृशम् ॥ ७२ ॥

वे भगवान् रुद्र उमादेवीके साथ कैलास पर्वतपर चले गये। देवदेव शंकरके लिङ्गके गिरनेपर प्रायः समस्त चर-अचर जगत् नष्ट हो गया। इससे आत्मनिष्ठ महर्षियोंको व्याकुलता हुई। इसी प्रकार देवके (भी) व्याकुल हो जानेपर एक अत्यन्त बुद्धिमान् श्रेष्ठ मुनिने कहा—हम उन महात्मा तापसके सद्भाव (सदाशय)को नहीं जानते। हम ब्रह्माकी शरणमें चलें। वे ही उनकी चेष्टा (रहस्य) समझ सकेंगे। ऐसा कहनेपर सभी ऋषि अत्यन्त लज्जित हो गये ॥ ६९–७२ ॥

ब्रह्मणः सदनं जग्मुर्देवैः सह निषेवितम्। प्रणिपत्याथ देवेशं लज्जयाऽधोमुखाः स्थिताः ॥ ७३ ॥
अथ तान् दुःखितान् दृष्ट्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत्। अहो मुग्धा यदा यूयं क्रोधेन कलुषीकृताः ॥ ७४ ॥
न धर्मस्य क्रिया काचिज्ज्ञायते मूढबुद्धयः। श्रूयतां धर्मसर्वस्वं तापसाः क्रूरचेष्टिताः ॥ ७५ ॥
विदित्वा यद् बुधः क्षिप्रं धर्मस्य फलमाप्नुयात्। योऽसावात्मनि देहेऽस्मिन् विभुर्नित्यो व्यवस्थितः ॥ ७६ ॥
सोऽनादिः स महास्थाणुः पृथक्त्वे परिसूचितः। मणिर्यथोपधानेन धत्ते वर्णोज्ज्वलोऽपि वै ॥ ७७ ॥
तन्मयो भवते तद्वदात्माऽपि मनसा कृतः। मनसो भेदमाश्रित्य कर्मभिश्चोपचीयते ॥ ७८ ॥
ततः कर्मवशाद् भुङ्क्ते संभोगान् स्वर्गनारकान्। तन्मनः शोधयेद् धीमाञ्ज्ञानयोगाद्युपक्रमैः ॥ ७९ ॥

फिर, वे लोग देवताओंसे उपासित ब्रह्माके लोकमें गये। वहाँ देवेश (ब्रह्मा)को प्रणाम कर लज्जासे मुख नीचा कर खड़े हो गये। उसके बाद ब्रह्माने उन्हें दुःखी देखकर यह वचन कहा—अहो, क्रोध करनेसे तुम सबका मन कलुषित हो गया है, इसलिये मूढ़ हो गये हो। मूढ़ बुद्धिवालो! तुम सब धर्मकी कोई वास्तविक क्रिया नहीं जानते। अप्रिय कर्म करनेवाले तापसो! धर्मके सारभूत रहस्यको सुनो, जिसे जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शीघ्र ही धर्मका फल प्राप्त करता है। हम सबके इस शरीरमें रहनेवाला जो नित्य विभु (परमेश्वर) है, वह आदि अन्तरहित एवं महास्थाणु है। (विचार करनेपर) वह (देही) इस शरीरसे अलग प्रतीत होता है। जिस प्रकार उज्ज्वल वर्णकी मणि भी आश्रयके प्रभावसे उसी रंगकी भासती है, उसी प्रकार आत्मा भी मनसे संयुक्त होकर मनके भेदका आश्रय कर कर्मोंसे बँध जाता है। उसके बाद कर्मवश वह स्वर्गीय तथा नारकीय भोगोंको भोगता रहता है। बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिये कि ज्ञान तथा योग आदि उपायोंद्वारा मनका शोधन करे ॥ ७३–७९ ॥

तस्मिन् शुद्धे ह्यन्तरात्मा स्वयमेव निराकुलः। न शरीरस्य संक्लेशैरपि निर्दहनात्मकैः ॥ ८० ॥
शुद्धिमाप्नोति पुरुषः संशुद्धं यस्य नो मनः। क्रिया हि नियमार्थाय पातकेभ्यः प्रकीर्तिताः ॥ ८१ ॥
यस्मादत्यर्चितं देवं न शीघ्रं बुध्यते किल। तेन लोकेषु मार्गोऽयं सत्पथस्य प्रवर्तितः ॥ ८२ ॥
वर्णाश्रमविभागोऽयं लोकाध्यक्षेण केनचित्। निर्मितो मोक्षमार्गाय हितः सत्तमभागिनाम् ॥ ८३ ॥

मनके शुद्ध होनेपर अन्तरात्मा अपने आप निर्मल हो जाता है। जिसका मन शुद्ध नहीं है, ऐसा पुरुष शरीरको सुखानेवाले क्लेशोंके द्वारा शुद्ध नहीं होता। पापोंसे बचनेके लिये ही (धर्म्य) क्रियाओंका विधान हुआ है, अतः अत्यन्त पापपूर्ण शरीर (स्नान) शीघ्र शुद्ध नहीं होता। इसीलिये लोकमें सत्य—शास्त्रविहित क्रियाओंका यह मार्ग प्रवर्तित हुआ है। किसी दिव्यदृष्टा लोकस्वामीने उत्तम भाग्यवालोंके निमित्त मोह-माहात्म्यके प्रतीकस्वरूप इस वर्णाश्रम विभागका निर्माण किया है ॥ ८०–८३ ॥

भवन्त क्रोधकामाभ्यामभिभूताश्रमे स्थिता । ज्ञानिनामाश्रमो वेश्म अनाश्रममयोगिनाम् ॥ ८४ ॥
क्व च न्यस्तसमस्तेच्छा क्व च नारीमयो भ्रम । क्व क्रोधमीदृश घोर येनात्मान न जानथ ॥ ८५ ॥
यत्क्रोधनो यजति यच्च ददाति नित्य यद् वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य।
प्राप्नोति नैव किमपीह फल हि लोके मोघ फल भवति तस्य हि क्रोधनस्य ॥ ८६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे त्रिचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४३ ॥

आप लोग आश्रममें रहते हुए भी क्रोध तथा कामके वशीभूत हैं। ज्ञानियोंके लिये घर ही आश्रम है और अयोगियों (अज्ञानियों) के लिये आश्रम भी अनाश्रम है। कहाँ समस्त कामनाओंका त्याग और कहाँ नारीमय यह भ्रम-जाल। (कहाँ तप और) कहाँ तो इस प्रकारका क्रोध, जिससे तुम लोग अपने आत्मा (शिव) को नहीं पहचान पाते। क्रोधी पुरुष लोकमें जो सदा यज्ञ करता है, जो दान देता है अथवा जो तप या हवन करता है, उसका कोई फल उसे नहीं मिलता। उस क्रोधीके सभी फल व्यर्थ होते हैं ॥ ८४–८६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

[अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्याय]

सनत्कुमार उवाच

ब्रह्मणो वचन श्रुत्वा ऋषय सर्व एव ते । पुनरेव च पप्रच्छुर्जगत श्रेयकारणम् ॥ १ ॥

चौवालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(ऋषियोंसहित ब्रह्माजीका शंकरजीकी शरणमें जाना और स्तवन, स्थाण्वीश्वरप्रसङ्ग और हस्तिरूप शंकरकी स्तुति एव लिङ्गमें संनिधान)

सनत्कुमारने कहा—उन सभी ऋषियोंने ब्रह्माकी इस वाणीको सुनकर संसारके कल्याणार्थ पुन उपाय पूछा ॥ १ ॥

ब्रह्मोवाच

गच्छामः शरण देव शूलपाणि त्रिलोचनम् । प्रसादाद् देवदेवस्य भविष्यथ यथा पुरा ॥ २ ॥
इत्युक्ता ब्रह्मणा सार्धं कैलास गिरिमुत्तमम् । ददृशुस्ते समासीनमुमया सहित हरम् ॥ ३ ॥
तत स्तोतु समारब्धो ब्रह्मा लोकपितामह । देवाधिदेव वरद त्रैलोक्यस्य प्रभु शिवम् ॥ ४ ॥

ब्रह्माने कहा—(उत्तर दिया) (आओ,) हम सभी लोग हाथमें शूल धारण करनेवाले, त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकरकी शरणमें चलें। तुम सब लोग उन्हीं देवदेवके प्रसादसे पहले-जैसे हो जाओगे। ब्रह्माके ऐसा कहनेपर वे लोग उनके साथ श्रेष्ठ पर्वत कैलासपर चले गये और वहाँ उन लोगोंने उमा-(पार्वती) के साथ बैठे हुए शंकरका दर्शन किया। उसके बाद संसारके पितामह ब्रह्माने देवोंके देव, तीनों लोकोंके स्वामी वरदानी भगवान् शंकरकी स्तुति करनी आरम्भ की—॥ २–४ ॥

ब्रह्मोवाच

अनन्ताय नमस्तुभ्यं वरदाय पिनाकिने । महादेवाय देवाय स्थाणवे परमात्मने ॥ ५ ॥
नमोऽस्तु भुवनेशाय तुभ्यं तारक सर्वदा । ज्ञानानां दायको देवस्त्वमेकः पुरुषोत्तमः ॥ ६ ॥
नमस्ते पद्मगर्भाय पद्मेशाय नमो नमः । घोरशान्तिस्वरूपाय चण्डक्रोध नमोऽस्तु ते ॥ ७ ॥
नमस्ते देव विश्वेश नमस्ते सुरनायक । शूलपाणे नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वभावन ॥ ८ ॥

पिनाक धारण करनेवाले वरदानी अनन्त महादेव ! स्थाणुस्वरूप परमात्मदेव ! आपको मेरा नमस्कार है । भुवनोंके स्वामी भुवनेश्वर तारक भगवान् ! आपको सदा नमस्कार है । पुरुषोत्तम ! आप ज्ञान देनेवाले अद्वितीय देव हैं । आप कमलगर्भ एवं पद्मेश हैं । आपको बारम्बार नमस्कार है । (प्रचण्ड) घोर-स्वरूप एवं शान्तिमूर्ति ! आपको नमस्कार है । विश्वके शासकदेव ! आपको नमस्कार है । सुरनायक ! आपको नमस्कार है । शूलपाणि शंकर ! आपको नमस्कार है । (संसारके रचनेवाले) विश्वभावन ! आपको मेरा नमस्कार है ॥ ५-८ ॥

एवं स्तुतो महादेवो ब्रह्मणा ऋषिभिस्तदा । उवाच मा भैर्व्रजत लिङ्गं वो भविता पुनः ॥ ९ ॥
क्रियतां मद्वचः शीघ्रं येन मे प्रीतिरुत्तमा । भविष्यति प्रतिष्ठाया लिङ्गस्यात्र न संशयः ॥ १० ॥
ये लिङ्गं पूजयिष्यन्ति मामकं भक्तिमाश्रिताः । न तेषां दुर्लभं किंचिद् भविष्यति कदाचन ॥ ११ ॥
सर्वेषामेव पापानां कृतानामपि जानता । शुद्ध्यते लिङ्गपूजाया नात्र कार्या विचारणा ॥ १२ ॥

ऋषियों और ब्रह्माने जब इस प्रकार शंकरकी स्तुति की तब महादेव शङ्करने कहा—भय मत करो, जाओ (तुम लोगोंके कल्याणार्थ) लिङ्ग फिर भी (उत्पन्न) हो जायगा । मेरे वचनका शीघ्र पालन करो । लिङ्गकी प्रतिष्ठा कर देनेपर निस्संदेह मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी । जो व्यक्ति भक्तिके साथ मेरे लिङ्गकी पूजा करेंगे उनके लिये कोई भी पदार्थ कभी दुर्लभ न होगा । जानकर किये गये समस्त पापोंकी भी शुद्धि लिङ्गकी पूजा करनेसे हो जाती है, इसमें किसी प्रकारका अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ९-१२ ॥

युष्माभिः पातितं लिङ्गं रक्षयित्वा महत्सरः । सांनिहत्ये तु विख्यातं तस्मिञ्शीघ्रं प्रतिष्ठितम् ॥ १३ ॥
यथाभिलषितं कामं ततः प्राप्स्यथ ब्राह्मणाः । स्थाणुर्नाम्ना हि लोकेषु पूजनीयो दिवौकसाम् ॥ १४ ॥
स्थाण्वीश्वरे स्थितो यस्मात्स्थाण्वीश्वरस्ततः स्मृतः । ये स्मरन्ति सदा स्थाणुं ते मुक्ताः सर्वकिल्बिषैः ॥ १५ ॥
भविष्यन्ति शुद्धदेहा दर्शनान्मोक्षगामिनः । इत्येवमुक्ता देवेन ऋषयो ब्रह्मणा सह ॥ १६ ॥
तस्माद् दारुवनाल्लिङ्गं नेतुं समुपचक्रमुः । न तं चालयितुं शक्तास्ते देवा ऋषिभिः सह ॥ १७ ॥

तुम लोगोंने लिङ्गको गिरा दिया है, इसलिये शीघ्र ही उसे उठाकर प्रसिद्ध महान् सांनिहत्य-सरोवरमें स्थापित करो । ब्राह्मणो ! ऐसा करनेसे तुमलोग अपने इच्छानुकूल मनोरथोंको प्राप्त करोगे । सारे संसारमें उस लिङ्गकी प्रसिद्धि स्थाणु नामसे होगी । देवताओंद्वारा (भी) वह पूज्य होगा । यह लिङ्ग स्थाण्वीश्वरमें स्थित रहनेके कारण स्थाण्वीश्वर नामसे स्मरण किया जायगा । जो स्थाण्वीश्वरको सदा स्मरण करेंगे उनके सारे पाप कट जायँगे और वे पवित्र-देह होकर मोक्षकी प्राप्ति करेंगे । जब शंकरने ऐसा कहा तब ब्रह्माके सहित ऋषिलोग लिङ्गको उस दारुवनसे ले जानेका उद्योग करने लगे । किंतु ऋषियोंसहित वे सभी देवगण उसे हिलाने-डुलानेमें समर्थ न हो सके ॥ १३-१७ ॥

श्रमेण महता युक्ता ब्रह्माणं शरणं ययुः । तेषां श्रमाभितप्तानामिदं ब्रह्माऽब्रवीद् वचः ॥ १८ ॥
किं वा श्रमेण महता न यूयं वहनक्षमाः । स्वेच्छया पातितं लिङ्गं देवदेवेन शूलिना ॥ १९ ॥
तस्मात् तमेव शरणं यास्यामः सहिताः सुराः । प्रसन्नश्च महादेवः स्वयमेव नयिष्यति ॥ २० ॥
ऋषयो देवाश्च ब्रह्मणा सह । कैलासं गिरिमासेदू रुद्रदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २१ ॥

(फिर) वे बहुत परिश्रम करके ब्रह्माकी शरणमें गये । ब्रह्माने परिश्रमसे श्रान्त-क्लान्त (संतप्त) हुए उन लोगोंसे यह वचन कहा—देवताओ ! अत्यन्त कठोर परिश्रम करनेसे क्या लाभ ! तुमलोग इसे उठानेमें समर्थ नहीं हो । देवाधिदेव भगवान् शंकरने अपनी इच्छासे इस लिङ्गको गिराया है । अतः हे देवो ! हम सभी एक साथ उन्हीं भगवान् शङ्करकी शरणमें चलें । महादेव संतुष्ट होकर अपने आप ही (लिङ्गको) ले जायँगे । इस प्रकार ब्रह्माके कहनेपर सभी ऋषि और देवता ब्रह्माके साथ शंकरजीके दर्शनकी अभिलाषासे कैलासपर्वत पर पहुँचे ॥ १८–२१ ॥

न च पश्यन्ति तं देवं ततश्चिन्तासमन्विताः । ब्रह्माणमूचुर्मुनयः क्व स देवो महेश्वरः ॥ २२ ॥
ततो ब्रह्मा चिरं ध्यात्वा ज्ञात्वा देवं महेश्वरम् । हस्तिरूपेण तिष्ठन्तं मुनिभिर्मानसैः स्तुतम् ॥ २३ ॥
अथ ते ऋषयः सर्वे देवाश्च ब्रह्मणा सह । गता महत्सरः पुण्यं यत्र देवः स्वयं स्थितः ॥ २४ ॥
न च पश्यन्ति तं देवमन्विष्यन्तस्ततस्ततः । ततश्चिन्तान्विता देवा ब्रह्मणा सहिताः स्थिताः ॥ २५ ॥
पश्यन्ति देवीं सुप्रीतां कमण्डलुविभूषिताम् । प्रीयमाणा तदा देवी इदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

वहाँ उन लोगोंने शंकरजीको नहीं देखा । तब वे चिन्तित हो गये । फिर उन्होंने ब्रह्माजीसे पूछा (कि ब्रह्मन्) वे महेश्वरदेव कहाँ हैं ? उसके बाद ब्रह्माने चिरकालतक ध्यान लगाया और देखा कि मुनियोंके अन्तःकरणसे स्तुत महेश्वर देव हाथीके आकारमें स्थित हैं । उसके पश्चात् वे ऋषि और ब्रह्माके सहित सभी देवता उस पावन महान् सरोवरपर गये जहाँ भगवान् शंकर स्वयं उपस्थित थे । वे लोग वहाँ इधर-उधर चारों ओर उन्हें ढूँढ़ने लगे, फिर भी शङ्करजीका दर्शन न पा सके । ब्रह्माके साथ दर्शन न पानेके कारण सभी देवता चिन्तित हो गये । उसके बाद उन्होंने कमण्डलुसे सुशोभित देवीको अत्यन्त प्रसन्न देखा । उस समय प्रसन्न होती हुई देवी उनसे यह वचन बोलीं—॥ २२–२६ ॥

श्रमेण महता युक्ता अन्विष्यन्तो महेश्वरम् ।
पायतामृतं देवास्ततो ज्ञास्यथ शङ्करम् । एतच्छ्रुत्वा तु वचनं भवान्या समुदाहृतम् ॥ २७ ॥
सुखोपविष्टास्ते देवाः पपुस्तदमृतं शुचि । अनन्तरं सुखासीनाः पप्रच्छुः परमेश्वरीम् ॥ २८ ॥
क्व स देव इहायातो हस्तिरूपधरः स्थितः । दर्शितश्च तदा देव्या सरोमध्ये व्यवस्थितः ॥ २९ ॥
दृष्ट्वा देवं हर्षयुक्ताः सर्वे देवाः सहर्षिभिः । ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा इदं वचनमब्रुवन् ॥ ३० ॥

महेश्वरको ढूँढ़ते हुए तुमलोग अत्यन्त थक गये हो । देवो ! तुम सब अमृतका पान करो । तब तुम सब शङ्करको जान सकोगे । भवानीद्वारा कही हुई इस वाणीको सुनकर वे देवता सुखपूर्वक बैठ गये और उन्होंने उस पवित्र अमृतको पी लिया । उसके बाद सुखपूर्वक बैठे हुए उन देवताओंने परमेश्वरीसे पूछा देवि ! हाथीके रूपको धारण किये हुए भगवान् शङ्कर देव यहाँ किस स्थानपर आये हुए हैं ? देवताओंके इस प्रकार पूछनेपर देवीने सरोवरके बीचमें स्थित शंकरको उन्हें दिखला दिया । ऋषियोंके साथ सभी देवता उनका दर्शन पाकर हर्षित हो गये और ब्रह्माको आगे कर शंकरजीसे ये वचन बोले—॥ २७–३० ॥

त्वया त्यक्तं महादेव लिङ्गं त्रैलोक्यवन्दितम् । तस्य चानयने नान्यः समर्थः स्यान्महेश्वर ॥ ३१ ॥
इत्येवमुक्तो भगवान् देवो ब्रह्मादिभिर्हरः । जगाम ऋषिभिः सार्धं देवदारुवनाश्रमम् ॥ ३२ ॥
तत्र गत्वा महादेवो हस्तिरूपधरो हरः । करेण जग्राह ततो लीलया परमेश्वरः ॥ ३३ ॥
तमादाय महादेवः स्तूयमानो महर्षिभिः । निवेदयामास तदा सरःपार्श्वे तु पश्चिमे ॥ ३४ ॥
ततो देवाः सर्व एव ऋषयश्च तपोधनाः । आत्मानं सफलं दृष्ट्वा स्तवं चक्रुर्महेश्वरे ॥ ३५ ॥

महेश्वर ! आपने तीनों लोकोंमें वन्दित जिस लिङ्गको छोड़ दिया है, उसे ले आनेमें दूसरे किसीकी शक्ति नहीं है, उसे कोई दूसरा उठा नहीं सकता। इस प्रकार ब्रह्मा आदि देवताओंने जब भगवान् शंकरसे कहा, तब देवदेव शिवजी ऋषियोंके साथ देवदारुवनके आश्रममें चले गये। वहाँ जाकर हाथीका रूप धारण करनेवाले महादेव शिवने खेल-खेलमें (लिङ्गको) अपने सूँड़में पकड़कर उठा लिया। शङ्करजी महर्षियोंके द्वारा स्तुति किये जाते हुए उस लिङ्गको लाकर सरोवरके पास पश्चिम दिशामें स्थापित कर दिया। उसके बाद सभी देवता एवं तपस्वी ऋषियोंने अपनेको सफल समझा और वे भगवान् शंकरकी स्तुति करने लगे ॥ ३१–३५ ॥

नमस्ते परमात्मन् अनन्तयोने लोकसाक्षिन् परमेष्ठिन् भगवन् सर्वज्ञ क्षेत्रज्ञ परावरज्ञ ज्ञानज्ञेय सर्वेश्वर महाविरिञ्च महाविभूते महाक्षेत्रज्ञ महापुरुष सर्वभूतावास मनोनिवास आदिदेव महादेव सदाशिव ईशान दुर्विज्ञेय दुराराध्य महाभूतेश्वर परमेश्वर महायोगेश्वर त्र्यम्बक महायोगिन् परब्रह्मन् परमज्योतिः ब्रह्मविदुत्तम ॐकार वषट्कार स्वाहाकार स्वधाकार परमकारण सर्वगत सर्वदर्शिन् सर्वशक्ते सर्वदेव अज सहस्रार्चिः पृषार्चिः सुधामन् हरधाम अनन्तधाम संवर्त संकर्षण वडवानल अग्नीषोमात्मक पवित्र महापवित्र महामेघ महामायाधर महाकाम कामहन् हंस परमहंस महाराजिक महेश्वर महाकामुक महाहंस भवक्षयकर सुरसिद्धार्चित हिरण्यवाह हिरण्यरेता हिरण्यनाभ हिरण्याग्रकेश मुञ्जकेशिन् सर्वलोकवरप्रद सर्वानुग्रहकर कमलेशय कुशेशय हृदयेशय ज्ञानोदधे शम्भो विभो महायज्ञ महायाज्ञिक सर्वयज्ञमय सर्वयज्ञहृदय सर्वयज्ञसंस्तुत निराश्रय समुद्रेशय अत्रिसम्भव भक्तानुकम्पिन् अभग्नयोग योगधर वासुकि महामणि विद्योतितविग्रह हरितनयन त्रिलोचन जटाधर नीलकण्ठ चन्द्रार्धधर उमाशरीरार्धहर गजचर्मधर दुस्तरसंसारमहासंहारकर प्रसीद भक्तजनवत्सल।

एवं स्तुतो देवगणैः सुभक्त्या सब्रह्ममुख्यैश्च पितामहेन।
त्यक्त्वा तदा हस्तिरूपं महात्मा लिङ्गे तदा संनिधानं चकार ॥ ३६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

परमात्मन् ! अनन्तयोने ! लोकसाक्षिन् ! परमेष्ठिन् ! भगवन् ! सर्वज्ञ ! क्षेत्रज्ञ ! हे पर और अवरके ज्ञाता ! ज्ञानज्ञेय ! सर्वेश्वर ! महाविरिञ्च ! महाविभूते ! महाक्षेत्रज्ञ ! महापुरुष ! हे सब भूतोंके निवास ! मनोनिवास ! आदिदेव ! महादेव ! सदाशिव ! ईशान ! दुर्विज्ञेय ! दुराराध्य ! महाभूतेश्वर ! परमेश्वर ! महायोगेश्वर ! त्र्यम्बक ! महायोगिन् ! परमब्रह्मन् ! परमज्योति ! ब्रह्मविद् ! उत्तम ! ओंकार ! वषट्कार ! स्वाहाकार ! स्वधाकार ! परमकारण ! सर्वगत ! सर्वदर्शिन् ! सर्वशक्ति ! सर्वदेव ! अज ! सहस्रार्चि ! पृषार्चि ! सुधामन् ! हरधाम ! अनन्तधाम ! संवर्त ! संकर्षण ! वडवानल, अग्नि और सोमस्वरूप ! पवित्र ! महापवित्र ! महामेघ ! महामायाधर ! महाकाम ! कामहन् ! हंस ! परमहंस ! महाराजिक ! महेश्वर ! महाकामुक ! महाहंस ! भवक्षयकर ! हे देवों और सिद्धोंसे पूजित ! हिरण्यवाह ! हिरण्यरेत ! हिरण्यनाभ ! हिरण्याग्रकेश ! मुञ्जकेशिन् ! सर्वलोकवरप्रद ! सर्वानुग्रहकर ! कमलेशय ! कुशेशय ! हृदयेशय ! ज्ञानोदधे ! शम्भो ! विभो ! महायज्ञ ! महायाज्ञिक ! सर्वयज्ञमय ! सर्वयज्ञहृदय सर्वयज्ञसंस्तुत ! निराश्रय ! समुद्रेशय ! अत्रिसंभव ! भक्तानुकम्पिन् ! अभग्नयोग योगधर ! हे वासुकि और महामणिसे द्युतिमान् शिव ! हरितनयन ! त्रिलोचन ! जटाधर ! नीलकण्ठ ! चन्द्रार्धधर ! उमाशरीरार्धहर ! गजचर्मधर ! दुस्तरसंसारका महासंहार करनेवाले महाप्रलयकर शिव ! हमारा आपको नमस्कार है। भक्तजनवत्सल शङ्कर ! आप हम सबपर प्रसन्न हों।

इस प्रकार पितामह ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवगणोंके साथ भक्तिपूर्वक स्तुति करनेपर उन महात्माने हस्तिरूपका त्यागकर लिङ्गमें सन्निधान (निवास) कर लिया ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौवालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

सनत्कुमार उवाच

अथोवाच महादेवो देवान् ब्रह्मपुरोगमान्। ऋषीणां चैव प्रत्यक्षं तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम् ॥ १ ॥
एतत् सान्निहितं प्रोक्तं सरः पुण्यतमं महत्। मयोपसेवितं यस्मात् तस्मान्मुक्तिप्रदायकम् ॥ २ ॥
इह ये पुरुषाः केचिद् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः। लिङ्गस्य दर्शनादेव पश्यन्ति परमं पदम् ॥ ३ ॥
अहन्यहनि तीर्थानि आसमुद्रसरांसि च। स्थाणुतीर्थं समेष्यन्ति मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥ ४ ॥

पैंतालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सान्निहितसर—स्थाणुतीर्थ, स्थाणुवट और स्थाणुलिङ्गका माहात्म्य वर्णन)

सनत्कुमारने कहा—इसके बाद महादेवने ऋषियोंके सामने (ही) ब्रह्मा आदि देवोंसे परमश्रेष्ठ तीर्थके माहात्म्यको कहा। ऋषियो! यह सान्निहित नामक सरोवर अत्यन्त पवित्र एवं महान् कहा गया है। यतः मेरे द्वारा यह सेवित किया गया है, अतः यह मुक्ति प्रदान करनेवाला है। यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य सभी वर्णोंके पुरुष लिङ्गका दर्शन कर ही परम पदका दर्शन करते हैं। समुद्रसे लेकर सरोवर तकके तीर्थ प्रतिदिन भगवान् सूर्यके आकाशके मध्यमें आ जानेपर (दोपहरमें) स्थाणु तीर्थमें आ जाते हैं ॥ १–४ ॥

स्तोत्रेणानेन च नरो यो मां स्तोष्यति भक्तितः। तस्याहं सुलभो नित्यं भविष्यामि न संशयः ॥ ५ ॥
इत्युक्त्वा भगवान् रुद्रो ह्यन्तर्धानं गतः प्रभुः। देवाश्च ऋषयः सर्वे स्वानि स्थानानि भेजिरे ॥ ६ ॥
ततो निरन्तरं स्वर्गं मानुषैर्मिश्रितं कृतम्। स्थाणुलिङ्गस्य माहात्म्यं दर्शनात् स्वर्गमाप्नुयात् ॥ ७ ॥
ततो देवाः सर्व एव ब्रह्माणं शरणं ययुः। तानुवाच तदा ब्रह्मा किमर्थमिह चागताः ॥ ८ ॥

जो मनुष्य इस स्तोत्रसे भक्तिपूर्वक मेरा स्तवन करेगा, उसके लिये मैं सदा सुलभ होऊँगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। यह कहकर भगवान् शंकर अदृश्य हो गये। सभी देवता तथा ऋषिगण अपने-अपने स्थानको चले गये। उसके बाद पूरा—सारा-का-सारा स्वर्ग मनुष्योंसे भर गया, क्योंकि स्थाणुलिङ्गका यह माहात्म्य है कि उसका दर्शन करनेसे ही स्वर्ग प्राप्त हो जाता है। फिर सभी देवता ब्रह्माकी शरणमें गये। तब ब्रह्माने उनसे पूछा—देवताओ! आप लोग यहाँ किस कार्यसे आये हैं? ॥ ५–८ ॥

ततो देवाः सर्व एव वचनमब्रुवन्। मानुषेभ्यो भयं तीव्रं रक्षास्माकं पितामह ॥ ९ ॥
तानुवाच तदा ब्रह्मा सुरांस्त्रिदशनायकः। पांशुना पूर्यतां शीघ्रं सरः शक्रे हितं कुरु ॥ १० ॥
ततो ववर्ष भगवान् पांशुना पाकशासनः। सप्ताहं पूरयामास सरो देवैस्तदा वृतः ॥ ११ ॥
तं दृष्ट्वा पांशुवर्षं च देवदेवो महेश्वरः। करेण धारयामास लिङ्गं तीर्थवटं तदा ॥ १२ ॥

तब सभी देवताओंने यह वचन कहा—पितामह! हम लोगोंको मनुष्योंसे बहुत भारी भय हो रहा है। आप हम सबकी रक्षा करें। उसके बाद देवताओंके नेता ब्रह्माने उन देवोंसे कहा—इन्द्र! सरोवरको शीघ्र

धूलिसे पाट दो और इस प्रकार इन्द्रका कल्याण करो। ब्रह्माके इस प्रकार समझानेपर पाक नामक राक्षसको मारनेवाले (पाकशासन) भगवान् इन्द्रने देवताओंके साथ सात दिनतक धूलिकी वर्षा की और सरोवरको धूलिसे पाट दिया। देवदेव महेश्वरने देवताओंद्वारा बरसायी गयी इस धूलिकी वर्षाको देखकर लिङ्ग और तीर्थवटको अपने हाथमें ले लिया ॥ ९–१२ ॥

तस्मात् पुण्यतमं तीर्थमाद्यं यत्रोदकं स्थितम्। तस्मिन् स्नातः सर्वतीर्थैः स्नातो भवति मानवः ॥ १३ ॥
यस्तत्र कुरुते श्राद्धं वटलिङ्गस्य चान्तरे। तस्य प्रीताश्च पितरो दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ॥ १४ ॥
पूरितं च ततो दृष्ट्वा ऋषयः सर्व एव ते। पांसुना स्वगात्राणि स्पृशन्ति श्रद्धया युताः ॥ १५ ॥
तेऽपि निर्धूतपापास्ते पांसुना मुनयो गताः। पूज्यमाना सुरगणैः प्रयाता ब्रह्मणः पदम् ॥ १६ ॥

इसलिये पहले जिस स्थानपर जल था, वह तीर्थ अत्यन्त पवित्र है। उसमें स्नान करनेवाला मनुष्य सभी तीर्थोंमें स्नान करनेका फल प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य वट और लिङ्गके बीचमें श्राद्ध करता है उसके पितर उसपर संतुष्ट होकर उसे पृथ्वी-(भूमि)में दुर्लभ वस्तु सुलभ कर देते हैं—ऐसा सुनकर वे सभी ऋषि धूलिसे भरे हुए सरोवरको देखकर श्रद्धासे अपने सभी अङ्गोंमें धूलि मलने लगे। वे मुनि भी धूलि मलनेके कारण निष्पाप हो गये और देवताओंसे पूजित होकर ब्रह्मलोक चले गये ॥ १३–१६ ॥

ये तु सिद्धा महात्मानस्ते लिङ्गं पूजयन्ति च। व्रजन्ति परमां सिद्धिं पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ॥ १७ ॥
एवं ज्ञात्वा तदा ब्रह्मा लिङ्गं शैलमयं तदा। आद्यलिङ्गं तदा स्थाप्य तस्योपरि दधार तत् ॥ १८ ॥
ततः कालेन महता तेजसा तस्य रञ्जितम्। तस्यापि स्पर्शनात् सिद्धं परं पदमवाप्नुयात् ॥ १९ ॥
ततो देवैः पुनर्ब्रह्मा विज्ञप्तो द्विजसत्तम। एते यान्ति परां सिद्धिं लिङ्गस्य दर्शनात्प्रभो ॥ २० ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् ब्रह्मा देवानां हितकाम्यया। उपर्युपरि लिङ्गानि सप्त तत्र चकार ह ॥ २१ ॥

जो सिद्ध महात्मा पुरुष लिङ्गकी पूजा करते वे आवागमनसे रहित होकर परमसिद्धिको प्राप्त करने लगे। ऐसा जानकर तब ब्रह्माने उस आदिलिङ्गको नीचे रख उसके ऊपर पाषाणमय लिङ्गको स्थापित कर दिया। कुछ समय बीत जानेपर उसके (आद्य लिङ्गके) तेजसे (वह पाषाण-मूर्ति लिङ्ग भी) रञ्जित हो गया। सिद्ध समुदाय उसका भी स्पर्श करनेसे परमपदको प्राप्त करने लगा। द्विजश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् देवताओंने पुनः ब्रह्मासे बतलाया ब्रह्मन् ! ये मनुष्य लिङ्गका दर्शन करके परम सिद्धिको प्राप्त करनेका लाभ उठा रहे हैं। देवताओंसे यह सुनकर भगवान् ब्रह्माने देवताओंके मङ्गलकी इच्छासे एकके ऊपर एक, इस प्रकार सात लिङ्गोंको स्थापित कर दिया ॥ १७–२१ ॥

ततो ये मुक्तिकामाश्च सिद्धाः शमपरायणाः। सेव्य पांसुं प्रयत्नेन प्रयाताः परमं पदम् ॥ २२ ॥
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः। महादुष्कृतकर्माणं प्रयान्ति परमं पदम् ॥ २३ ॥
अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रियो वा पुरुषस्य वा। नश्यते दुष्कृतं सर्वं स्थाणुतीर्थप्रभावतः ॥ २४ ॥
लिङ्गस्य दर्शनान्मुक्तिः स्पर्शनाच्च वटस्य च। तत्संनिधौ जले स्नात्वा प्राप्नोत्यभिमतं फलम् ॥ २५ ॥
पितॄणां तर्पणं यस्तु जले तस्मिन् करिष्यति। बिन्दौ बिन्दौ तु तोयस्य अनन्तफलभाग्भवेत् ॥ २६ ॥

उसके बाद मुक्तिके अभिलाषी शम-(समाधि)में लगे रहनेवाले सिद्धगण यत्नपूर्वक धूलिका सेवनकर परमपदको प्राप्त करने लगे। (समन्त) कुरुक्षेत्रमें वायुके बहनेसे उड़ी हुई धूलि भी बड़े-बड़े पापियोंको मुक्ति दे देती है। किसी स्त्री या पुरुषने चाहे जानमें या अनजानमें पाप किया हो तो उसके सारे पाप स्थाणुतीर्थके प्रभावसे

नष्ट हो जाते हैं। लिङ्गका दर्शन करनेसे और उसका स्पर्श करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है और उसके निकट जलमें स्नान करनेसे मनुष्य मनचाहे फलको प्राप्त करता है। उस जलमें पितरोंका तर्पण करनेवाला व्यक्ति जलके प्रत्येक बिन्दुमें अनन्त फलको प्राप्त करता है ॥ २२–२६ ॥

यस्तु कृष्णतिलैः सार्द्धं लिङ्गस्य पश्चिमे स्थितः। तर्पयेच्छ्रद्धया युक्तः स प्रीणाति युगत्रयम् ॥ २७ ॥
यावन्मन्वन्तरं प्रोक्तं यावल्लिङ्गस्य संस्थितिः। तावत्प्रीताश्च पितरः पिबन्ति जलमुत्तमम् ॥ २८ ॥
कृते युगे सान्निहत्यं त्रेतायां वायुसञ्ज्ञितम्। कलिद्वापरयोर्मध्ये कूपं रुद्रह्रदं स्मृतम् ॥ २९ ॥
चैत्रस्य कृष्णपक्षे च चतुर्दश्यां नरोत्तमः। स्नात्वा रुद्रह्रदे तीर्थे परं पदमवाप्नुयात् ॥ ३० ॥
यस्तु वटे स्थितो रात्रिं ध्यायते परमेश्वरम्। स्थाणोर्वटप्रसादेन मनसा चिन्तितं फलम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

लिङ्गसे पश्चिम दिशामें काले तिलोंसे श्रद्धापूर्वक तर्पण करनेवाला व्यक्ति तीन युगोंतक (पितरोंको) तृप्त करता है। जबतक मन्वन्तर है और जबतक लिङ्गकी संस्थिति है, तबतक पितृगण संतुष्ट होकर उत्तम जलका पान करते हैं। सत्ययुगमें 'सान्निहत्य' सर, त्रेतामें 'वायु' नामका ह्रद, कलि एवं द्वापरमें 'रुद्रह्रद' नामक कूप सेवनीय माने गये हैं। चैत्रके कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके दिन 'रुद्रह्रद' नामक तीर्थमें स्नान करनेवाला उत्तम पुरुष परमपद— मुक्तिको प्राप्त करता है। रात्रिके समय वटके नीचे रहकर परमेश्वरका ध्यान करनेवालेको स्थाणुवटके अनुग्रह (दया)से मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है ॥ २७–३१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

[अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः]

सनत्कुमार उवाच

स्थाणोर्वटस्योत्तरतः शुक्रतीर्थं प्रकीर्तितम्। स्थाणोर्वटस्य पूर्वेण सोमतीर्थं द्विजोत्तम ॥ १ ॥
स्थाणोर्वटं दक्षिणतो दक्षतीर्थमुदाहृतम्। स्थाणोर्वटात् पश्चिमतः स्कन्दतीर्थं प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
एतानि पुण्यतीर्थानि मध्ये स्थाणुरिति स्मृतः। तस्य दर्शनमात्रेण प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ३ ॥
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यस्त्वेतानि परिक्रमेत्। पदे पदे यज्ञफलं स प्राप्नोति न संशयः ॥ ४ ॥

छियालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्थाणु-लिङ्गके समीप असंख्य लिङ्गोंकी स्थापना और उनके दर्शन-अर्चनका माहात्म्य)

सनत्कुमारने कहा—द्विजोत्तम! स्थाणुवटकी उत्तर दिशामें 'शुक्रतीर्थ' और स्थाणुवटकी पूर्व दिशामें 'सोमतीर्थ' कहा गया है। स्थाणुवटके दक्षिण 'दक्षतीर्थ' एवं स्थाणुवटके पश्चिममें 'स्कन्दतीर्थ' स्थित है। इन परम पावन तीर्थोंके बीचमें 'स्थाणु' नामका तीर्थ है। उसका दर्शन करनेमात्रसे परमपद-(मोक्ष)की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य अष्टमी और चतुर्दशीको इनकी प्रदक्षिणा करता है, वह एक-एक पगपर यज्ञ करनेका फल प्राप्त करता है—इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ १–४ ॥

एतानि मुनिभिः साध्यैरादित्यैर्वसुभिस्तथा। मरुद्भिर्वह्निभिश्चैव सेवितानि प्रयत्नतः ॥ ५ ॥
अन्ये ये प्राणिनः केचित् प्रविष्टाः स्थाणुमुत्तमम्। सर्वपापविनिर्मुक्ताः प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ६ ॥
अस्ति तत्संनिधौ लिङ्गं देवदेवस्य शूलिनः। उमा च लिङ्गरूपेण हरपार्श्वं न मुञ्चति ॥ ७ ॥

तस्य दर्शनमात्रेण सिद्धिं प्राप्नोति मानवः । वटस्य उत्तरे पार्श्वे तक्षकेण महात्मना ॥ ८ ॥
प्रतिष्ठितं महालिङ्गं सर्वकामप्रदायकम् । वटस्य पूर्वदिग्भागे विश्वकर्मकृतं महत् ॥ ९ ॥
लिङ्गं प्रत्यङ्मुखं दृष्ट्वा सिद्धिमाप्नोति मानवः । तत्रैव लिङ्गरूपेण स्थिता देवी सरस्वती ॥ १० ॥

मुनियों, साध्यों, आदित्यों, वसुओं, मरुतों एवं अग्नियोंने इन तीर्थोंका यत्नपूर्वक सेवन किया है। जो भी अन्य कोई प्राणी उस उत्तम स्थाणुतीर्थमें प्रवेश करते हैं वे भी सभी पापोंसे मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त करते हैं। उसीके निकट त्रिशूल धारण करनेवाले देवदेव भगवान् शङ्करका लिङ्ग है। उमादेवी वहाँपर स्थिररूपसे रहनेवाले शङ्करजीके पासमें ही रहती हैं, वे उनकी बगलसे अलग नहीं होतीं। उस लिङ्गके दर्शन करनेमात्रसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है। वटके उत्तरी भागमें महात्मा तक्षकने सभी कामनाओंको सिद्ध करनेवाले महालिङ्गको प्रतिष्ठित किया है। वटके पूर्वमें विश्वकर्माके द्वारा निर्मित किया गया महान् लिङ्ग है। पश्चिमकी ओर रहनेवाले लिङ्गका दर्शन कर मानवको सिद्धि प्राप्ति होती है। यहींपर देवी सरस्वती लिङ्गरूपसे स्थित हैं ॥ ५-१० ॥

प्रणम्य तां प्रयत्नेन बुद्धिं मेधां च विन्दति । वटपार्श्वे स्थितं लिङ्गं ब्रह्मणा तत् प्रतिष्ठितम् ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा वटेश्वरं देवं प्रयाति परमं पदम् । ततः स्थाणुवटं दृष्ट्वा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ॥ १२ ॥
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा । स्थाणोः पश्चिमदिग्भागे नकुलीशो गणः स्मृतः ॥ १३ ॥
तमभ्यर्च्य प्रयत्नेन सर्वपापैः प्रमुच्यते । तस्य दक्षिणदिग्भागे तीर्थं रुद्रकरं स्मृतम् ॥ १४ ॥

मनुष्य उन्हें प्रयत्न-(श्रद्धा विधि) पूर्वक प्रणाम कर बुद्धि एवं तीव्र मेधा प्राप्त करता है। वटकी बगलमें ब्रह्माके द्वारा प्रतिष्ठापित वटेश्वर लिङ्गका दर्शन करके मनुष्य परम पदको प्राप्त करता है। तत्पश्चात् जिसने स्थाणुवटका दर्शन और प्रदक्षिणा कर ली उसकी वह मानो सातों द्वीपवाली पृथिवीकी की हुई प्रदक्षिणा हो जाती है। स्थाणुके पश्चिम दिशाकी ओर 'नकुलीश' नामके गण स्थित हैं। विधिपूर्वक उनकी पूजा करनेवाला मनुष्य सभी प्रकारके पापोंसे छूट जाता है। उनकी दक्षिण दिशामें 'रुद्रकरतीर्थ' है ॥ ११-१४ ॥

तस्मिन् स्नातः सर्वतीर्थे स्नातो भवति मानवः । तस्य चोत्तरदिग्भागे रावणेन महात्मना ॥ १५ ॥
प्रतिष्ठितं महालिङ्गं गोकर्णं नाम नामतः ।
आषाढमासे या कृष्णा भविष्यति चतुर्दशी । तस्यां योऽर्चति गोकर्णं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ १६ ॥
कामतोऽकामतो वापि यत् पापं तेन सञ्चितम् । तस्माद् विमुच्यते पापात् पूजयित्वा हरं शुचिः ॥ १७ ॥
कौमारब्रह्मचर्येण यत्पुण्यं प्राप्यते नरैः । तत्पुण्यं सकलं तस्य अष्टम्यां योऽर्चयच्छिवम् ॥ १८ ॥

जिसने उस(रुद्रकरतीर्थ)में स्नान कर लिया मानो उसने सभी तीर्थोंमें स्नान कर लिया। उसकी उत्तर दिशाकी ओर महात्मा रावणने गोकर्ण नामका प्रसिद्ध महालिङ्ग स्थापित किया है। आषाढमासके कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिमें जो गोकर्णकी अर्चना करता है उसके पुण्यफलको सुनो। यदि किसीने अपनी इच्छा या अनिच्छासे भी पापसंचय कर लिया है तो वह भगवान् शङ्करकी पूजा करके पवित्र हो जाता है और वह संचित पापसे छूट जाता है। जो अष्टमी तिथिमें शिवका पूजन करता है उसे कौमार-अवस्था-(जन्मसे १६ वर्षकी अवस्था-)में ब्रह्मचर्य पालनसे जो फल प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण पुण्य-फल उसे प्राप्त होता है ॥ १५-१८ ॥

यदीच्छेत् परमं रूपं सौभाग्यं धनसम्पदः । कुमारेश्वरमाहात्म्यात् सिद्ध्यते नात्र संशयः ॥ १९ ॥
तस्य चोत्तरदिग्भागे लिङ्गं पूज्यं विभीषणः । अजरश्चामरश्चैव कल्पयित्वा बभूव ह ॥ २० ॥
आषाढस्य तु मासस्य शुक्ला या चाष्टमी भवेत् । तस्यां पूज्य सोपवासो ह्यमृतत्वमवाप्नुयात् ॥ २१ ॥
खरेण पूजितं लिङ्गं तस्मिन् स्थाने द्विजोत्तम । तं पूजयित्वा यत्नेन सर्वकामानवाप्नुयात् ॥ २२ ॥

यदि मनुष्य उत्तम सौन्दर्य, सौभाग्य या धन-सम्पत्ति चाहता है तो (उसे कुमारेश्वरकी आराधना करनी चाहिये, क्योंकि) कुमारेश्वरके माहात्म्यसे उसे निस्संदेह उन सबकी सिद्धि प्राप्त होती है। उन (कुमारेश्वर)के उत्तर भागमें विभीषणने शिव लिङ्गको स्थापित कर उसकी पूजा की, जिससे वे अजर और अमर हो गये। आषाढ महीनेके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथिको उपवास रहकर उसकी पूजा करनेवाला मनुष्य देवत्व प्राप्त कर लेता है। द्विजोत्तम! खरने यहाँपर लिङ्गकी पूजा की थी। उस लिङ्गकी विधिपूर्वक पूजा करनेवालेकी सभी कामनाएँ सिद्ध हो जाती हैं ॥ १९-२२ ॥

दूषणस्त्रिशिराश्चैव तत्र पूज्य महेश्वरम्। यथाभिलषितान् कामानापतुस्तौ मुदान्वितौ ॥ २३ ॥
चैत्रमासे सिते पक्षे यो नरस्तत्र पूजयेत्। तस्य तौ वरदौ देवौ प्रयच्छेतेऽभिवाञ्छितम् ॥ २४ ॥
स्थाणोर्वटस्य पूर्वेण हस्तिपादेश्वरः शिवः। तं दृष्ट्वा मुच्यते पापैरन्यजन्मनि सम्भवैः ॥ २५ ॥
तस्य दक्षिणतो लिङ्गं हारीतस्य ऋषेः स्थितम्। यत् प्रणम्य प्रयत्नेन सिद्धिं प्राप्नोति मानवः ॥ २६ ॥

दूषण एवं त्रिशिराने भी यहाँ महेश्वरकी पूजा की और वे प्रसन्न हो गये। उन दोनोंने अभिवाञ्छित मनोरथ प्राप्त कर लिये। चैत्र महीनेके शुक्लपक्षमें जो मनुष्य यहाँ पूजन करता है, उसकी समस्त इच्छाएँ वे दोनों देव पूरी कर देते हैं। 'हस्तिपादेश्वर' शिव स्थाणुवटकी पूर्व दिशामें हैं। उनका दर्शन करके मनुष्य अन्य जन्मोंमें बने पापोंसे छूट जाता है। उसके दक्षिणमें हारीत नामके ऋषिद्वारा स्थापित किया हुआ लिङ्ग है जिसको विधिपूर्वक प्रणाम करनेसे (ही) मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ २३-२६ ॥

तस्य दक्षिणपार्श्वे तु वापीतस्य महात्मनः। लिङ्गं त्रैलोक्यविख्यातं सर्वपापहरं शिवम् ॥ २७ ॥
कङ्कालरूपिणा चापि रुद्रेण सुमहात्मना। प्रतिष्ठितं महालिङ्गं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २८ ॥
भुक्तिदं मुक्तिदं प्रोक्तं सर्वकिल्बिषनाशनम्। लिङ्गस्य दर्शनाच्चैव अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ २९ ॥
तस्य पश्चिमदिग्भागे लिङ्गं सिद्धप्रतिष्ठितम्। सिद्धेश्वरं तु विख्यातं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥ ३० ॥

उसके निकट दक्षिण भागमें महात्मा वापीतके द्वारा संस्थापित सभी पापोंका हरण करनेवाला कल्याणकर्ता लिङ्ग है जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। कंकालके रूपमें रहनेवाले महात्मा भगवान् रुद्रने भी समस्त पापोंका नाश करनेवाला महालिङ्ग प्रतिष्ठित किया है। महात्मा रुद्रद्वारा प्रतिष्ठापित यह लिङ्ग भुक्ति एवं मुक्तिका देनेवाला तथा सभी पापोंको नष्ट करनेवाला है। उस लिङ्गका दर्शन करनेसे ही अग्निष्टोम यज्ञके फलकी प्राप्ति हो जाती है। उसकी पश्चिम दिशामें सिद्धोंद्वारा प्रतिष्ठित सिद्धेश्वर नामसे विख्यात लिङ्ग है। वह सर्वसिद्धिप्रदाता है ॥ २७-३० ॥

तस्य दक्षिणदिग्भागे मृकण्डेन महात्मना। तत्र प्रतिष्ठितं लिङ्गं दर्शनात् सिद्धिदायकम् ॥ ३१ ॥
तस्य पूर्वे च दिग्भागे आदित्येन महात्मना। प्रतिष्ठितं लिङ्गवरं सर्वकिल्बिषनाशनम् ॥ ३२ ॥
चित्राङ्गदस्तु गन्धर्वो रम्भा चाप्सरसां वरा। परस्परं सानुरागौ स्थाणुदर्शनकाङ्क्षिणौ ॥ ३३ ॥
दृष्ट्वा स्थाणुं पूजयित्वा सानुरागौ परस्परम्। आराध्य वरदं देवं प्रतिष्ठाप्य महेश्वरम् ॥ ३४ ॥

उसकी दक्षिण दिशामें महात्मा मृकण्डने (शिव) लिङ्गकी स्थापना की है। उस लिङ्गके दर्शन करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। उसके पूर्व भागमें महात्मा आदित्यने सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाले श्रेष्ठ लिङ्गको प्रतिष्ठापित किया है। अप्सराओंमें श्रेष्ठ रम्भा और चित्राङ्गद नामके गन्धर्व—इन दोनोंने परस्परमें प्रेमपूर्वक स्थाणु भगवान्के दर्शन किये, फिर उनका पूजन किया और तब वरदानी देवकी स्थापनाकर आराधना की। (उनसे स्थापित लिङ्गोंका नाम हुआ चित्राङ्गद और रम्भेश्वर) ॥ ३१-३४ ॥

चित्राङ्गदेश्वरं दृष्ट्वा तथा रम्भेश्वरं द्विज। सुभगो दर्शनीयश्च कुले जन्म समाप्नुयात् ॥ ३५ ॥
तस्य दक्षिणतो लिङ्गं वज्रिणा स्थापितं पुरा। तस्य प्रसादात् प्राप्नोति मनसा चिन्तितं फलम् ॥ ३६ ॥
पराशरेण मुनिना तथैवाराध्य शंकरम्। प्राप्तं कवित्वं परमं दर्शनाच्छंकरस्य च ॥ ३७ ॥
वेदव्यासेन मुनिना आराध्य परमेश्वरम्। सर्वज्ञत्वं महाज्ञानं प्राप्तं देवप्रसादतः ॥ ३८ ॥

द्विज ! चित्राङ्गदेश्वर एवं रम्भेश्वरका दर्शन करके मनुष्य सुन्दर और दर्शनीय (रूपवाला) हो जाता है तथा सत्कुलमें जन्म ग्रहण करता है। उसके दक्षिण भागमें इन्द्रने प्राचीन कालमें लिङ्गकी स्थापना की थी। इन्द्रके प्रतिष्ठापित लिङ्गके प्रसादसे मनुष्य मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार पराशर मुनिने शंकरकी आराधना की और भगवान् शंकरके दर्शनसे उत्कृष्ट कवित्वको प्राप्त किया। वेदव्यास मुनिने परमेश्वर (शंकर) की आराधना की और उनकी कृपासे सर्वज्ञता तथा महाज्ञान प्राप्त किया ॥ ३५–३८ ॥

स्थाणोः पश्चिमदिग्भागे वायुना जगदायुना। प्रतिष्ठितं महालिङ्गं दर्शनात् पापनाशनम् ॥ ३९ ॥
तस्यापि दक्षिणे भागे लिङ्गं हिमवतेश्वरम्। प्रतिष्ठितं पुण्यकृता दर्शनात् सिद्धिदायकम् ॥ ४० ॥
तस्यापि पश्चिमे भागे कार्तवीर्येण स्थापितम्। लिङ्गं पापहरं सद्यो दर्शनात् पुण्यमाप्नुयात् ॥ ४१ ॥
तस्याप्युत्तरदिग्भागे सुपार्श्वे स्थापितं पुनः। आराध्य हनुमांश्चाप सिद्धिं देवप्रसादतः ॥ ४२ ॥

स्थाणुके पश्चिम भागमें जगत्के प्राण-स्वरूप (जगत्प्राण) वायुने महालिङ्गको प्रतिष्ठित किया है, जो दर्शनमात्रसे ही पापका विनाश कर देता है। उसके भी दक्षिण भागमें हिमवतेश्वर लिङ्ग प्रतिष्ठित है। पुण्यात्माने उसे प्रतिष्ठित किया है। उसका दर्शन सिद्धि देनेवाला है। उसके पश्चिम भागमें कार्तवीर्यने (एक) लिङ्गकी स्थापना की है। (यह लिङ्ग) पापका तत्काल हरण करनेवाला है। (इसके) दर्शन करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है। उसके भी उत्तरकी ओर बिल्कुल निकट स्थानमें (एक) लिङ्गकी स्थापना हुई है, हनुमान्ने उस लिङ्गकी आराधना कर शंकरकी कृपासे सिद्धि प्राप्त की ॥ ३९–४२ ॥

तस्यैव पूर्वदिग्भागे विष्णुना प्रभविष्णुना। आराध्य वरदं देवं चक्रं लब्धं सुदर्शनम् ॥ ४३ ॥
तस्यापि पूर्वदिग्भागे मित्रेण वरुणेन च। प्रतिष्ठितौ लिङ्गवरौ सर्वकामप्रदायकौ ॥ ४४ ॥
एतानि मुनिभिः साध्यैरादित्यैर्वसुभिस्तथा। सेवितानि प्रयत्नेन सर्वपापहराणि वै ॥ ४५ ॥
स्वर्णलिङ्गस्य पश्चात्तु ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि येषां संख्या न विद्यते ॥ ४६ ॥
तथा ह्युत्तरतस्तस्य यावदोघवती नदी। सहस्रमेकं लिङ्गानां देवपश्चिमतः स्थितम् ॥ ४७ ॥

उनके भी पूर्व भागमें प्रभावशाली विष्णुने वरदाता महादेवकी आराधना कर सुदर्शन चक्र प्राप्त किया था। उसके भी पूर्व भागमें मित्र एवं वरुणने सभी अभिलाषाओंकी पूर्ति करनेवाले दो लिङ्गोंकी स्थापना की है। ये दोनों लिङ्ग सभी प्रकारके पापोंका विनाश करनेवाले हैं। मुनियों, साध्यों, आदित्यों एवं वसुओंद्वारा इन लिङ्गोंकी उत्साहपूर्वक सेवा की गयी है। तत्त्वदर्शी ऋषियोंने स्वर्णलिङ्गके पीछेकी ओर जिन लिङ्गोंको प्रतिष्ठित किया है, उनकी संख्या नहीं गिनी जा सकती। उसी प्रकार स्वर्णलिङ्गके उत्तर ओघवती नदीतक पश्चिमकी ओर महादेवके एक हजार लिङ्ग स्थित हैं ॥ ४३–४७ ॥

तस्यापि पूर्वदिग्भागे वालखिल्यैर्महात्मभिः। प्रतिष्ठिता रुद्रकोटिर्यावत्संनिहितं सरः ॥ ४८ ॥
दक्षिणेन तु देवस्य गन्धर्वैर्यक्षकिंनरैः। प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि येषां संख्या न विद्यते ॥ ४९ ॥
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च लिङ्गानां वायुरब्रवीत्। असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राः स्थाणुमाश्रिताः ॥ ५० ॥
एतज्ज्ञात्वा श्रद्दधानः स्थाणुलिङ्गं समाश्रयेत्। यस्य प्रसादात् प्राप्नोति मनसा चिन्तितं फलम् ॥ ५१ ॥

उस-(नदी)के पूर्वी भागमें महात्मा वालखिल्योंने सन्निहित सरोवरतक करोड़ों रुद्रोंकी स्थापना की है। गन्धर्वों, यक्षों एवं किन्नरोंने दक्षिण दिशाकी ओर भगवान् शंकरके असंख्य लिङ्गोंकी स्थापना की है। वायुका कहना है कि साढ़े तीन करोड़ लिङ्गोंकी स्थापना हुई है। स्थाणुतीर्थमें अनन्त सहस्र रुद्र लिङ्ग विद्यमान हैं। मनुष्यको चाहिये कि श्रद्धाके साथ स्थाणु लिङ्गका आश्रय ले। इससे स्थाणु लिङ्गकी दयासे मनोवाञ्छित फल मिलता है ॥ ४८–५१ ॥

अकामो वा सकामो वा प्रविष्टः स्थाणुमन्दिरम्। विमुक्तः पातकैर्घोरैः प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ५२ ॥
चैत्रमासे त्रयोदश्यां दिव्यनक्षत्रयोगतः। शुक्रार्कचन्द्रसंयोगे दिने पुण्यतमे शुभे ॥ ५३ ॥
प्रतिष्ठितं स्थाणुलिङ्गं ब्रह्मणा लोकधारिणा। ऋषिभिर्देवसंघैश्च पूजितं शाश्वतीः समाः ॥ ५४ ॥
तस्मिन् काले निराहारा मानवाः श्रद्धयान्विताः। पूजयन्ति शिवं ये वै ते यान्ति परमं पदम् ॥ ५५ ॥
तदारूढमिदं ज्ञात्वा ये कुर्वन्ति प्रदक्षिणम्। प्रदक्षिणीकृता तैस्तु सप्तद्वीपा वसुंधरा ॥ ५६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

जो मनुष्य निष्काम या सकामभावसे स्थाणु-मन्दिरमें प्रवेश करता है, वह घोर पापोंसे छुटकारा पाकर परम पदको प्राप्त करता है। जब चैत महीनेकी त्रयोदशी तिथिमें दिव्य नक्षत्रोंका योग हुआ और उसमें शुक्र, सूर्य, चन्द्रका (शुभ) संयोग हुआ तब अतीव पवित्र शुभ दिनमें जगत्का धारण और पोषण करनेवाले ब्रह्माने स्थाणु लिङ्गको प्रतिष्ठापित किया। ऋषियों एवं देवताओंके द्वारा अनन्त वर्षोंतक अर्थात् सदैव इसकी अर्चना होती रहेगी। जो मनुष्य उस समय निराहार रहते हुए व्रत करके श्रद्धासे शिवकी पूजा करता है, वह परम पदको प्राप्त करता है। जिन मनुष्योंने स्थाणु लिङ्गको शिवसे आरूढ (निविष्ट) मानकर उसकी प्रदक्षिणा की, उन्होंने मानो सात द्वीपवाली पृथिवीकी प्रदक्षिणा कर ली ॥ ५२–५६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छियालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

[अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः]

मार्कण्डेय उवाच

स्थाणुतीर्थप्रभावं तु श्रोतुमिच्छाम्यहं मुने। केन सिद्धिरियं प्राप्ता सर्वपापभयापहा ॥ १ ॥

सैंतालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्थाणुतीर्थके सन्दर्भमें राजा वेनका चरित्र, पृथु-जन्म और उनका अभिषेक, वेनके उद्धारके लिये पृथुका प्रयत्न और वेनकी शिव स्तुति)

मार्कण्डेयजीने कहा—मुने! अब मैं आपसे स्थाणुतीर्थके प्रभावको सुनना चाहता हूँ। इस तीर्थमें किसने सभी प्रकारके पापों एवं भयोंको दूर करनेवाली सिद्धि प्राप्त की? ॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच

शृणु सर्वमशेषेण स्थाणुमाहात्म्यमुत्तमम्। यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति मानवः ॥ २ ॥
एकार्णवे जगत्यस्मिन् नष्टे स्थावरजङ्गमे।
विष्णोर्नाभिसमुद्भूतं पद्ममव्यक्तजन्मनः। तस्मिन् ब्रह्मा [illegible] ॥ ३ ॥

तस्मान्मरीचिरभवन्मरीचेः कश्यपः सुतः। कश्यपादभवद् भास्वांस्तस्मान्मनुरजायत॥ ४॥
मनोस्तु क्षुवतः पुत्र उत्पन्नो मुखसम्भवः। पृथिव्यां चतुरन्तायां राजासीद् धर्मरक्षिता॥ ५॥
तस्य पत्नी बभूवाथ भया नाम भयावहा। मृत्योः सकाशादुत्पन्ना कालस्य दुहिता तदा॥ ६॥

सनत्कुमारने कहा (उत्तर दिया)—मार्कण्डेय! तुम स्थाणुके उत्तम माहात्म्यको पूर्णतया सुनो, जिसको सुनकर मनुष्य सभी पापोंसे बिल्कुल छूट जाता है। इस अचर-सचर संसारके प्रलयकालीन समुद्रमें लीन हो जानेपर अव्यक्तजन्मवाले विष्णुकी नाभिसे एक कमल उत्पन्न हुआ। उससे समस्त लोकोंके पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उनसे मरीचि हुए और मरीचिके पुत्र हुए कश्यप। कश्यपसे सूर्य उत्पन्न हुए एवं उनसे उत्पन्न हुए मनु। मनुके छींकनेपर उनके मुँहसे एक पुत्रकी उत्पत्ति हुई। वह सारी पृथ्वीके धर्मकी रक्षा करनेवाला राजा हुआ। उस राजाकी भया नामकी पत्नी हुई, जो (सचमुच) भय उत्पन्न करनेवाली थी। वह कालकी कन्या थी और मृत्युके गर्भसे उत्पन्न हुई थी॥ २—६॥

तस्यां समभवद् वेनो दुरात्मा वेदनिन्दकः। स दृष्ट्वा पुत्रवदनं क्रुद्धो राजा वनं ययौ॥ ७॥
तत्र कृत्वा तपो घोरं धर्मेणावृत्य रोदसी। प्राप्तवान् ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम्॥ ८॥
वेनो राजा समभवत् समस्ते क्षितिमण्डले। स मातामहदोषेण तेन कालात्मजात्मजः॥ ९॥
घोषयामास नगरे दुरात्मा वेदनिन्दकः। न दातव्यं न यष्टव्यं न होतव्यं कदाचन॥ १०॥

(फिर तो) उससे वेनने जन्म लिया जो दुरात्मा था तथा वेदोंकी निन्दा करनेवाला था। उस पुत्रके मुखको देखकर राजा क्रुद्ध हो गया और वनमें चला गया। उसने वहाँ घोर तपस्या की तथा पृथ्वी एवं आकाशके बीचके स्थानको धर्मसे व्याप्तकर नहीं लौटनेवाले स्थान उस ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लिया। (और इधर) वेन सम्पूर्ण भूमण्डलका राजा हो गया। अपने नानाके उस दोषके कारण कालकन्या भयाके उस दुरात्मा वेद-निन्दक पुत्रने नगरमें यह घोषणा करा दी कि कभी भी (कोई) दान न दे, यज्ञ न करे एवं हवन न करे—(दान, यज्ञ, हवन करना अपराध माना जायेगा)॥ ७—१०॥

अहमेकोऽत्र वै वन्द्यः पूज्योऽहं भवतां सदा। मया हि पालिता यूयं निवसध्वं यथासुखम्॥ ११॥
तन्मत्तोऽन्यो न देवोऽस्ति युष्माकं यः परायणम्। एतच्छ्रुत्वा तु वचनमृषयः सर्व एव ते॥ १२॥
परस्परं समागम्य राजानं वाक्यमब्रुवन्। श्रुतिः प्रमाणं धर्मस्य ततो यज्ञः प्रतिष्ठितः॥ १३॥
यज्ञैर्विना नो प्रीयन्ते देवाः स्वर्गनिवासिनः। अप्रीता न प्रयच्छन्ति वृष्टिं सस्यस्य वृद्धये॥ १४॥
तस्माद् यज्ञैश्च देवैश्च धार्यते सचराचरम्। एतच्छ्रुत्वा क्रोधदृष्टिर्वेनः प्राह पुनः पुनः॥ १५॥

इस संसारमें एकमात्र मैं ही आप लोगोंका वन्दनीय और पूजनीय हूँ। आप लोग मुझसे रक्षित रहकर आनन्दपूर्वक निवास करें। मुझसे भिन्न कोई दूसरा देवता नहीं है, जो आप लोगोंका उत्तम आश्रय हो सके। वेनके इस वचनको सुननेके पश्चात् सभी ऋषियोंने आपसमें मिलकर (निश्चय किया और) राजासे यह वचन कहा—राजन्! धर्मके विषयमें वेद (-शास्त्र) ही प्रमाण हैं। उन्हींसे यज्ञ विहित हैं, प्रतिष्ठित हैं—लोकमें मान्य हैं। (तथा) यज्ञोंके किये बिना स्वर्गमें रहनेवाले देवता सन्तुष्ट नहीं होते और बिना सन्तुष्ट हुए वे अन्नकी वृद्धिके लिये जलकी वृष्टि नहीं करते। अतः निश्चय यज्ञों और देवताओंसे ही चर-अचर समस्त संसारका धारण और पोषण होता है। यह सुनकर वेन क्रोधसे आँखें लालकर बार-बार कहने लगा—॥ ११—१५॥

न यष्टव्यं न दातव्यमित्याह क्रोधमूर्च्छितः। ततः क्रोधसमाविष्टा ऋषयः सर्व एव ते ॥ १६ ॥
निजघ्नुर्मन्त्रपूतैस्ते कुशैर्वज्रसमन्वितैः। ततस्त्वराजके लोके तमसा संवृते तदा ॥ १७ ॥
दस्युभिः पीड्यमानास्तान् ऋषींस्ते शरणं ययुः। ततस्ते ऋषयः सर्वे ममन्थुस्तस्य वै करम् ॥ १८ ॥
सव्यं तस्मात् समुत्तस्थौ पुरुषो ह्रस्वदर्शनः। तमूचुर्ऋषयः सर्वे निषीदतु भवानिति ॥ १९ ॥

क्रोधसे झल्लाकर (तिलमिलाकर) उसने 'न यज्ञ करना होगा और न दान देना होगा'—ऐसा कहा। उसके बाद ऋषियोंने भी क्रुद्ध होकर मन्त्रद्वारा वज्रमय कुशोंसे उसे मार डाला। उसके (मर जानेके) बाद (राजासे रहित) संसारमें अराजकता छा गयी, जिससे सर्वत्र अशान्ति फैल गयी। चोरों-डाकुओंने लोकजनोंको पीडित कर डाला। दस्युदलोंसे त्रस्त जनवर्ग उन ऋषियोंकी शरणमें गया, जिस ऋषिवर्गने उस वेनको मार डाला था। उसके बाद उन सभी ऋषियोंने उसके बायें हाथको मथित किया। उससे एक पुरुष निकला जो छोटा बौना दीख रहा था। सभी ऋषियोंने उससे कहा—'निषीदतु भवान्' अर्थात् आप बैठें ॥ १६–१९ ॥

तस्मान्निषादा उत्पन्ना वेनकल्मषसम्भवाः। ततस्ते ऋषयः सर्वे ममन्थुर्दक्षिणं करम् ॥ २० ॥
मथ्यमाने करे तस्मिन् उत्पन्नः पुरुषोऽपरः। बृहत्सालप्रतीकाशो दिव्यलक्षणलक्षितः ॥ २१ ॥
धनुर्बाणाङ्कितकरश्चक्रध्वजसमन्वितः। तमुत्पन्नं तदा दृष्ट्वा सर्वे देवाः सवासवाः ॥ २२ ॥
अभ्यषिञ्चन् पृथिव्यां तं राजानं भूमिपालकम्। ततः स रञ्जयामास धर्मेण पृथिवीं तदा ॥ २३ ॥

उस बायें हाथके मथनेसे निकले हुए बौने पुरुषसे ऋषियोंद्वारा 'निषीदतु भवान्' कहनेके कारण 'निषीदतु' के आधारपर निषादोंकी उत्पत्ति हुई जो वेनकी पापमूर्ति थे। इसके बाद उस बौने पुरुषको राज्यकार्य-संचालनमें अनुपयुक्त समझकर उन सभी ऋषियोंने (पुनः मरे हुए) वेनके दायें हाथको मथा। उस हाथके मथे जानेपर बड़े शालवृक्षकी भाँति और दिव्य लक्षणोंसे युक्त एक दूसरा पुरुष निकला। उसके हाथमें धनुष, बाण, चक्र और ध्वजाकी रेखाएँ थीं। उस समय उसे उत्पन्न हुआ देखकर इन्द्रके सहित सभी देवताओंने उसको पृथ्वीमें भूलोकका पालन करनेवाले राजाके रूपमें (राजपदपर) अभिषिक्त कर दिया। उसके बाद उसने पृथिवीका धर्मपूर्वक रञ्जन किया—प्रजाको प्रसन्न रखा ॥ २०–२३ ॥

पित्राऽपरञ्जिता तस्य तेन सा परिपालिता। तत्र राजेतिशब्दोऽस्य पृथिव्या रञ्जनादभूत् ॥ २४ ॥
स राज्यं प्राप्य तेभ्यस्तु चिन्तयामास पार्थिवः। पिता मम अधर्मिष्ठो यज्ञव्युच्छित्तिकारकः ॥ २५ ॥
कथं तस्य क्रिया कार्या परलोकसुखावहा। इत्येवं चिन्तयानस्य नारदोऽभ्याजगाम ह ॥ २६ ॥
तस्मै स चासनं दत्त्वा प्रणिपत्य च पृष्टवान्। भगवन् सर्वलोकस्य जानासि त्वं शुभाशुभम् ॥ २७ ॥
पिता मम दुराचारो देवब्राह्मणनिन्दकः। स्वकर्मरहितो विप्र परलोकमवाप्तवान् ॥ २८ ॥

उसके पिताने जिस जनताको अपने कुकृत्योंसे अपरागवाली बना दिया था उसी जनताको उसने भलीभाँति पालित किया। सारी पृथ्वीका रञ्जन करनेके कारण ही उसे यथार्थरूपमें 'राजा' शब्दसे सम्बोधित किया जाने लगा। वह पृथ्वीपति राजा उनसे राज्य प्राप्त कर चिन्तन करने लगा कि मेरे पिता अधर्मी, पाप-मति और यज्ञका विशेषतया उच्छेद करनेवाले थे। इसलिये कौन-सी क्रिया की जाय जो उन्हें परलोकमें सुख देनेवाली हो। (उसी समय) इस प्रकार चिन्तन करते हुए उसके पास नारदजी आ गये। उसने उन नारदजीको बैठनेके लिये आसन दिया और साष्टाङ्ग प्रणाम कर पूछा—भगवन्! आप सारे संसारके प्राणियोंके शुभ और अशुभको जानते हैं, (देखें,) मेरे पिता देवताओं और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाले दुराचारी थे। विप्रदेव! वे अपने कर्तव्य कर्मसे रहित थे और अब वे परलोक चले गये हैं (उनकी गतिके लिये मुझे कौन-सी क्रिया करनी चाहिये?) ॥ २४–२८ ॥

स्थाणु तीर्थमें पहुँचनेपर जब वह राजा म्लेच्छोंके बीच उत्पन्न हुआ एवं क्षय और कुष्ठरोगसे आक्रान्त अपने पिताकी देहको मध्याह्न कालमें स्नान कराने लगा तो अन्तरिक्षमें वायुरूपसे देवताओंने यह वचन कहा कि तात ! इस प्रकारका साहस मत करो । तीर्थकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो । यह अत्यन्त घोर पाप कर चुका है, (इसका) रोम रोम पापसे भरा है, विरा है । वेदकी निन्दा करना महान् पाप है, जिसका अन्त नहीं होता । अतएव यह स्नान करके इस महान् तीर्थको तत्काल नष्ट कर देगा । वायुरूपी देवताओंके इस वचनको सुनकर दुखी एवं शोकसे सन्तप्त हुए राजाने कहा—देवताओ ! यह घोर पापसे अत्यन्त परिव्याप्त है ॥ ४१—४४ ॥

प्रायश्चित्तं करिष्येऽहं यद्वदिष्यन्ति देवताः । ततस्ता देवताः सर्वा इदं वचनमब्रुवन् ॥ ४५ ॥
स्नात्वा स्नात्वा च तीर्थेषु अभिषिञ्चस्व वारिणा । ओजसात् चुलुकं यावत् प्रतिकूले सरस्वतीम् ॥ ४६ ॥
स्नात्वा मुक्तिमवाप्नोति पुरुषः श्रद्धयान्वितः । एष स्वपोषणपरो देवदूषणतत्परः ॥ ४७ ॥
ब्राह्मणैश्च परित्यक्तो नैव शुद्ध्यति कर्हिचित् । तस्मादेनं समुद्दिश्य स्नात्वा तीर्थेषु भक्तितः ॥ ४८ ॥
अभिषिञ्चस्व तोयेन ततः पूतो भविष्यति । इत्येतद्वचनं श्रुत्वा कृत्वा तस्याश्रमं ततः ॥ ४९ ॥
तीर्थयात्रां ययौ राजा उद्दिश्य जनकं स्वकम् । स तेषु प्लावनं कुर्वंस्तीर्थेषु च दिने दिने ॥ ५० ॥
अभ्यषिञ्चत् स्वपितरं तीर्थतोयेन नित्यशः । एतस्मिन्नेव काले तु सारमेयो जगाम ह ॥ ५१ ॥
स्थाणोर्मठे कौल्पतिर्देवद्रव्यस्य रक्षिता । परिग्रहस्य द्रव्यस्य परिपालयिता सदा ॥ ५२ ॥
प्रियश्च सर्वलोकेषु देवकार्यपरायणः । तस्यैव वर्तमानस्य धर्ममार्गे स्थितस्य च ॥ ५३ ॥
कालेन चलिता बुद्धिर्देवद्रव्यस्य नाशने । तेनाधर्मेण युक्तस्य परलोकगतस्य च ॥ ५४ ॥
दृष्ट्वा यमोऽब्रवीद् वाक्यं श्वयोनिं व्रज मा चिरम् । तद्वाक्यानन्तरं जातः श्वा वै सौगन्धिके वने ॥ ५५ ॥

(परन्तु) देवगण ! आप लोग इसके लिये जो प्रायश्चित्त कहेंगे, उसे मैं करूँगा । उनके ऐसा कहनेपर उन सभी देवताओंने यह बात कही—तीर्थमें बार-बार स्नान करके तीर्थ-जलद्वारा इसे बार-बार सींचो । सरस्वतीके तटपर 'ओजसतीर्थ'से 'चुलुक'पर्यन्त हर-एक तीर्थमें स्नान करनेवाला श्रद्धालु पुरुष मुक्तिको प्राप्त करता है । यह अपना ही पालन-पोषण करनेमें लगा रहता था एवं देवताओंकी निन्दा करनेमें तत्पर रहता था । ब्राह्मणोंने इसको पाप करनेके कारण त्याग दिया था । यह कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता । इसलिये (इसकी यदि शुद्धि चाहते हो तो) इसके उद्देश्यसे तीर्थोंमें जाकर भक्तिपूर्वक स्नान करके तीर्थ जलसे इसे अभिषिक्त करो । इससे यह पवित्र हो जायगा । उसके बाद राजा देवताओंके इन वचनोंको सुननेके बाद वहाँ अपने पिताके लिये एक आश्रमका निर्माण कराकर उसके उद्देश्यसे तीर्थयात्रा करने चला गया । वह प्रतिदिन उन तीर्थोंमें स्नान करते हुए तीर्थजलसे अपने पिताको अभिषिक्त करने लगा । इसी समय वहाँ एक कुत्ता आ गया । (कुत्तेका इतिहास इस प्रकार है—) पूर्व-कालमें वह कुत्ता स्थाणुतीर्थमें स्थित मठमें देव-द्रव्योंकी रक्षा करनेवाला—दानमें प्राप्त द्रव्यका सदा पालन करनेवाला—सर्वजनप्रिय एवं देवकार्यमें रत कौल्पति नामका महन्त था । इस प्रकार वह अपना जीवनयापन कर रहा था । एक बार धर्म-मार्गमें स्थित रहते हुए भी उस कौल्पतिकी बुद्धि कुछ समयके बाद धर्ममार्गसे हट गयी । वह देवद्रव्यका नाश (दुरुपयोग) करने लगा । वह अधर्मी (बना) कौल्पति जब मरकर परलोकमें गया, तब यमराजने उसे (उसके कर्मविपाकको) देखकर कहा—तुम कुत्तेकी योनिमें जाओ ... कहनेके पश्चात् वह महन्त सौगन्धिक वनमें कुत्तेकी योनिमें उत्पन्न हुआ ॥ ४५—५५ ॥

हे गजेन्द्रकर्ण! हे गोकर्ण! हे पाणिकर्ण! हे शतजिह्व! हे शतावर्त! हे शतोदर! हे शतानन! आपको नमस्कार है। गायत्रीका जप करनेवाले विद्वान् आपकी ही महिमा गाते हैं। सूर्यकी पूजा करनेवाले सूर्यरूपसे आपकी ही पूजा करते हैं। आपको ही सभी लोग इन्द्रसे श्रेष्ठ यशस्वी ब्रह्मा मानते हैं। महामूर्ते! आपकी मूर्तिमें समुद्र, मेघ और समस्त देवता ऐसे स्थित हैं जैसे गोशालामें गौएँ रहती हैं। मैं आपके शरीरमें सोम, अग्नि, वरुण, नारायण, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको देख रहा हूँ ॥ ६७--७० ॥

भगवान् कारणं कार्यं क्रियाकरणमेव तत्। प्रभवः प्रलयश्चैव सदसच्चापि दैवतम् ॥ ७१ ॥
नमो भवाय शर्वाय वरदायोग्ररूपिणे। अन्धकासुरहन्त्रे च पशूनां पतये नमः ॥ ७२ ॥
त्रिजटाय त्रिशीर्षाय त्रिशूलासक्तपाणये। त्र्यम्बकाय त्रिनेत्राय त्रिपुरघ्न नमोऽस्तु ते ॥ ७३ ॥
नमो मुण्डाय चण्डाय अण्डायोत्पत्तिहेतवे। डिण्डिमासक्तहस्ताय डिण्डिमुण्डाय ते नमः ॥ ७४ ॥

आप भगवान्, कारण, कार्य, क्रियाके करण, प्रभव, प्रलय, सत्, असत् एवं दैवत हैं। भव, शर्व, वरद, उग्र-रूप धारण करनेवाले, अन्धकासुरको मारनेवाले और पशुओंके पति पशुपतिको नमस्कार है। हे त्रिपुरनाशक! तीन जटावाले, तीन सिरवाले, हाथमें त्रिशूल लिये रहनेवाले एवं त्रिनेत्र (कहलानेवाले) आपको नमस्कार है। हे मुण्ड, चण्ड और अण्डकी उत्पत्तिके हेतु, डिण्डिमपाणि एवं डिण्डिमुण्ड! आपको नमस्कार है ॥ ७१--७४ ॥

नमोर्ध्वकेशोर्ध्वदंष्ट्राय शुष्काय विकृताय च। धूम्रलोहितकृष्णाय नीलग्रीवाय ते नमः ॥ ७५ ॥
नमोऽस्त्वप्रतिरूपाय विरूपाय शिवाय च। सूर्यमालाय सूर्याय स्वरूपध्वजमालिने ॥ ७६ ॥
नमो मानातिमानाय नमः पटुतराय ते। नमो गणेन्द्रनाथाय वृषस्कन्धाय धन्विने ॥ ७७ ॥
सक्रन्दनाय चण्डाय पर्णधारपुटाय च। नमो हिरण्यवर्णाय नमः कनकवर्चसे ॥ ७८ ॥

हे ऊर्ध्वकेश, ऊर्ध्वदंष्ट्र, शुष्क, विकृत, धूम्र, लोहित, कृष्ण एवं नीलग्रीव! आपको नमस्कार है। अप्रतिरूप, विरूप, शिव, सूर्यमाल, सूर्य एवं स्वरूपध्वजमालीको नमस्कार है। मानातिमानको नमस्कार है। आप पटुतरको नमस्कार है। गणेन्द्रनाथ, वृषस्कन्ध एवं धन्वीको नमस्कार है। सक्रन्दन, चण्ड, पर्णधारपुट एवं हिरण्यवर्णको नमस्कार है। कनकवर्चसको नमस्कार है ॥ ७५--७८ ॥

नमः स्तुताय स्तुत्याय स्तुतिस्थाय नमोऽस्तु ते। सर्वाय सर्वभक्षाय सर्वभूतशरीरिणे ॥ ७९ ॥
नमो होत्रे च हन्त्रे च सितोदग्रपताकिने। नमो नम्याय नम्राय नमः कटकटाय च ॥ ८० ॥
नमोऽस्तु कृशनाशाय शयितायोत्थिताय च। स्थिताय धावमानाय मुण्डाय कुटिलाय च ॥ ८१ ॥
नमो नर्तनशीलाय लयवादित्रशालिने। नाट्योपहारलुब्धाय मुखवादित्रशालिने ॥ ८२ ॥

स्तुत किये गये तथा स्तुतिके योग्य (आप) को नमस्कार है। स्तुतिमें स्थित, सर्व, सर्वभक्ष एवं सर्वभूतशरीरी आपको नमस्कार है। होता, हन्ता तथा सफेद और ऊँची पताकावालेको नमस्कार है। नमन करनेयोग्य एवं नम्रको नमस्कार है। आप कटकटको नमस्कार है। कृशनाश, शयित, उत्थित, स्थित, धावमान, मुण्ड एवं कुटिलको नमस्कार है। नर्तनशील, लय वाद्यशाली, नाट्यके उपहारके लोभी एवं मुखोंसे बम-बम जैसे मुँहसे बोले जानेवाले वाद्य-प्रेमीको नमस्कार है ॥ ७९--८२ ॥

नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय बलातिबलघातिने। कालनाशाय कालाय संसारक्षयरूपिणे ॥ ८३ ॥
हिमवद्दुहितुः कान्त भैरवाय नमोऽस्तु ते। उग्राय च नमो नित्यं नमोऽस्तु दशबाहवे ॥ ८४ ॥
चितिभस्मप्रियायैव कपालासक्तपाणये। विभीषणाय भीष्माय भीमव्रतधराय च ॥ ८५ ॥
नमो विकृतवक्त्राय नमः पूतोग्रदृष्टये। पक्वाममांसलुब्धाय तुम्बिवीणाप्रियाय च ॥ ८६ ॥

गण्डालुञ्छितकेश और मुञ्जकेशको नमस्कार है। छः कर्मोंसे संतुष्ट तथा तीन कर्मोंमें लगे रहनेवाले-(आप) को नमस्कार है। नग्नप्राण, चण्ड, कृश, स्फोटन तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके कथ्य और कथनको नमस्कार है। सांख्य, सांख्यमुख्य, सांख्य-योगमुख, विरथस्थ तथा चतुष्पथरथको नमस्कार है। काले मृगचर्मके उत्तरीयवाले, साँपके जनेऊवाले, वक्त्रसंधानकेश, त्र्यम्बिकाम्बिकनाथ, दृश्य एवं अदृश्य और वेशास्वरूप हे हरिकेश! आपको नमस्कार है ॥ ९९–१०२ ॥

कामकामदकामघ्न तृप्तातृप्तविचारिणे। नमः सर्वद पापघ्न कल्पसंख्याविचारिणे ॥१०३॥
महासत्त्व महाबाहो महाबल नमोऽस्तु ते। महामेघ महाप्रख्य महाकाल महाद्युते ॥१०४॥
मेघावर्त्त युगावर्त्त चन्द्रार्कपतये नमः। त्वमन्नमन्नभोक्ता च पक्वभुक् पावनोत्तम ॥१०५॥
जरायुजाण्डजाश्चैव स्वेदजोद्भिदजाश्च ये। त्वमेव देवदेवेश भूतग्रामश्चतुर्विधः ॥१०६॥

हे काम! हे कामद! हे कामको नष्ट करनेवाले! आप तृप्त और अतृप्तविचारीको नमस्कार है। हे सर्वद! हे पाप दूर करनेवाले! आप कल्पसंख्याविचारीको नमस्कार है। हे महासत्त्व! हे महाबाहु! हे महाबल! हे महामेघ! हे महाप्रख्य! हे महाकाल एवं हे महाद्युति! आपको नमस्कार है। हे मेघावर्त्त! हे युगावर्त्त! आप चन्द्रार्कपतिको नमस्कार है। आप ही अन्न, अन्नके भोक्ता, पक्वभुक् एवं पवित्रोंमें श्रेष्ठ हैं। हे देवदेवेश! आप ही जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज—चतुर्विध भूतसमुदाय हैं ॥ १०३–१०६ ॥

स्रष्टा चराचरस्यास्य पाता हन्ता तथैव च। त्वामाहुर्ब्रह्म विद्वांसो ब्रह्म ब्रह्मविदां गतिम् ॥१०७॥
मनसः परमज्योतिस्त्वं वायुर्ज्योतिषामपि। हंसवृक्षे मधुकरमाहुस्त्वां ब्रह्मवादिनः ॥१०८॥
यजुर्मयो ऋङ्मयस्त्वामाहुः साममयस्तथा। पठ्यसे स्तुतिभिर्नित्यं वेदोपनिषदां गणैः ॥१०९॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वर्णावराश्च ये। त्वमेव मेघसंघाश्च विद्युतोऽशनिगर्जितम् ॥११०॥

आप इस चराचरकी सृष्टि करनेवाले, पालन करनेवाले एवं संहार करनेवाले हैं। विद्वज्जन आपको ब्रह्म एवं ज्ञानियोंकी (कैवल्य) गति कहते हैं। आप मनकी परमज्योति हैं और ज्योतियोंके (धारण करनेवाले) वायु हैं। ब्रह्मवादीजन आपको हंसवृक्षपर रहनेवाला भ्रमर कहते हैं। वे आपको यजुर्मय, ऋङ्मय एवं साममय कहते हैं। वेद और उपनिषदोंके समूह स्तुतियोंद्वारा आपका ही नित्य पाठ करते हैं। आप ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्य अवर वर्ण, मेघसमूह, विद्युत् तथा मेघगर्जन भी हैं ॥ १०७–११० ॥

संवत्सरस्त्वमृतवो मासो मासार्धमेव च। युगा निमेषाः काष्ठाश्च नक्षत्राणि ग्रहाः कलाः ॥१११॥
वृक्षाणां ककुभोऽसि त्वं गिरीणां हिमवान् गिरिः। व्याघ्रो मृगाणां पततां तार्क्ष्योऽनन्तश्च भोगिनाम् ॥११२॥
क्षीरोदोऽस्युदधीनां च यन्त्राणां धनुरेव च। वज्रं प्रहरणानां च व्रतानां सत्यमेव च ॥११३॥
त्वमेव द्वेष इच्छा च रागो मोहः क्षमाक्षमे। व्यवसायो धृतिर्लोभः कामक्रोधौ जयाजयौ ॥११४॥

आप युग, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, निमेष, काष्ठा तथा कला हैं। आप वृक्षोंमें अर्जुन वृक्ष, पर्वतोंमें हिमालय, पशुओंमें व्याघ्र, पक्षियोंमें गरुड़ और साँपोंमें शेषनाग हैं। आप समुद्रोंमें क्षीरसागर, यन्त्रोंमें धनुष, आयुधोंमें वज्र और व्रतोंमें सत्य हैं। आप ही द्वेष, इच्छा, राग, मोह, क्षमा, अक्षमा, व्यवसाय, धैर्य, लोभ, काम, क्रोध, जय और पराजय हैं ॥ १११–११४ ॥

त्वं शरी त्वं गदी चापि खट्वाङ्गी च शरासनी। छेत्ता भेत्ता प्रहर्ताऽसि मन्ता नेता सनातनः ॥ ११५ ॥
दशलक्षणसंयुक्तो धर्मोऽर्थः काम एव च। समुद्राः सरितो गङ्गा पल्वलाश्च सरांसि च ॥ ११६ ॥

लतावल्ल्यस्तृणौषध्य पशवो मृगपक्षिण । द्रव्यकर्मगुणारम्भ कालपुष्पफलप्रदः ॥ ११७ ॥
आदिश्चान्तश्च वेदाना गायत्री प्रणवस्तथा । लोहितो हरितो नील कृष्ण पीत सितस्तथा ॥ ११८ ॥
कद्रुश्च कपिलश्चैव कपोतो मेचकस्तथा । सवर्णश्चाप्यवर्णश्च कर्त्ता हर्त्ता त्वमेव हि ॥ ११९ ॥

आप बाण धारण करनेवाले, गदा धारण करनेवाले, खट्वाङ्ग धारण करनेवाले एव धनुर्धारी हैं । आप विदारण करनेवाले, प्रहार करनेवाले, अवबोधन (सतर्क) करनेवाले, प्राप्त करानेवाले और सनातन हैं । दस लक्षणोंसे सयुक्त धर्म, अर्थ एव काम तथा समस्त समुद्र, नदियाँ, गङ्गा, पर्वत एव सरोवर हैं । लताएँ, वल्लियाँ, तृण, ओषधियाँ, पशु, मृग, पक्षी, पृथ्वी, अप् आदि नवों द्रव्यों, उत्क्षेपण-आकुञ्चन आदि कर्मों, रूप, रस, गन्ध आदि चौबीस गुणोंके आरम्भक भी आप ही हैं । आप ही समयपर फल एव फल देनेवाले हैं । आप वेदोंके आदि और अन्त हैं, गायत्री तथा प्रणव भी आप ही हैं । आप ही लोहित, नील, कृष्ण, पीत, सित, कद्रु, कपिल, कपोत, मेचक, सवर्ण, अवर्ण, कर्ता एव हर्ता हैं ॥ ११५–११९ ॥

त्वमिन्द्रश्च यमश्चैव वरुणो धनदोऽनिलः । उपप्लवश्चित्रभानुः स्वर्भानुर्भानुरेव च ॥ १२० ॥
शिक्षाहोत्र त्रिसौपर्ण यजुषा शतरुद्रियम् । पवित्र च पवित्राणा मङ्गलाना च मङ्गलम् ॥ १२१ ॥
तिन्दुको गिरिजो वृक्षो मुद्‌ग चाखिलजीवनम् । प्राणा सत्त्व रजश्चैव तमश्च प्रतिपत्पति ॥ १२२ ॥
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च । उन्मेषश्च निमेषश्च क्षुत जृम्भितमेव च ॥ १२३ ॥

आप इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, पवन, उपप्लव, चित्रभानु, स्वर्भानु एव भानु हैं । आप शिक्षा, होत्र, त्रिसौपर्ण, यजुर्वेदका शतरुद्रिय, पवित्रोंमें पवित्र एव मङ्गलोंमें मङ्गल हैं । आप तिन्दुक, शिलाजतु, वृक्ष, मुद्ग, सबके जीवन, प्राण, सत्त्व, रज, तम तथा प्रतिपत्पति हैं । आप ही प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, उन्मेष, निमेष, छींक एवं जँभाई हैं ॥ १२०–१२३ ॥

लोहितान्तर्गतो दृष्टिर्महावक्त्रो महोदर । शुचिरोमा हरिश्मश्रुरूर्ध्वकेशश्चलाचलः ॥ १२४ ॥
गीतवादित्रनृत्यज्ञो गीतवादित्रकप्रिय । मत्स्यो जालो जलौकाश्च काल केलिकला कलि ॥ १२५ ॥
अकालश्च विकालश्च दुष्कालः काल एव च । मृत्युश्च मृत्युकर्ता च यक्षो यक्षभयकर ॥ १२६ ॥
सवर्तकोऽन्तकश्चैव सवर्तकवलाहक । घण्टा घण्टी महाघण्टा चिरी माली च मातलि ॥ १२७ ॥

आप लोहितके अन्त स्थित, दृष्टि, बड़े मुँहवाले, भारी पेटवाले, पवित्र रोमावलीवाले, हरिश्मश्रु, ऊर्ध्वकेश एव चल तथा अचल हैं । आप गाने, बजाने, नृत्यकलाके विद्वान् हैं तथा गाना-बजाना करनेवालोंके भी आप प्रिय हैं । आप मत्स्य, जाल, जलौका, काल तथा कलिस्वरूप [illegible] । आप अकाल, [illegible] और कालस्वरूप हैं । आप मृत्यु, मृत्युकर्ता, यक्ष तथा यक्षको [illegible] । आप [illegible] सवर्तकनामक बादल हैं । आप घण्ट, घण्टी, महाघण्टी, चिरी, माली [illegible] ॥ १२[illegible]

[illegible]कालयमाग्नीना [illegible]
चातुराश्रम्यनेता च [illegible] । [illegible] धूर्तो [illegible]
रक्तमाल्याम्बरधरो [illegible] । [illegible] श्रेष्ठ [illegible]
भगनेत्राङ्कुशश्चण्डो [illegible] । [illegible]

आप ब्रह्मा, काल, [illegible]
चातुर्वर्ण्यके प्रवर्तक हैं । [illegible]

(धर्म्य) धूर्तदेके भी प्रयोक्ता, गणाध्यक्ष और गणोंके स्वामी हैं। आप लाल माला और लाल वस्त्र धारण करनेवाले हैं तथा गिरिक, गिरिकप्रिय, शिल्प, शिल्पिश्रेष्ठ तथा हर प्रकारके शिल्पोंके प्रवर्तक हैं। आप भगनेत्राङ्कुश, चण्ड एवं पूषाके दाँतोंके विनाशक हैं। आप स्वाहा, स्वधा, वषट्कार और नमस्कार हैं। आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ १२८–१३१ ॥

गूढव्रतो गुह्यतपास्तारकस्तारकामय। धाता विधाता संधाता पृथिव्या धरणोऽपर ॥ १३२ ॥
ब्रह्मा तपश्च सत्यं च व्रतचर्यमथार्जवम्। भूतात्मा भूतकृद् भूतिभूतभव्यभवोद्भव ॥ १३३ ॥
भूर्भुवः स्वर्ऋतं चैव ध्रुवो दान्तो महेश्वर। दीक्षितोऽदीक्षितः कान्तो दुर्दान्तो दान्तसम्भवः ॥ १३४ ॥
चन्द्रावर्तो युगावर्तः संवर्तकप्रवर्तक। बिन्दुः कामो ह्यणुः स्थूलः कर्णिकारस्रजप्रियः ॥ १३५ ॥

आप गूढव्रतवाले, गुप्ततपस्यावाले, तारक और तारकामय हैं। आप धाता, विधाता, संधाता और पृथिवीके श्रेष्ठ धारण और पोषण करनेवाले हैं। आप ब्रह्मा, तप, सत्य, व्रत चर्या और सरल एवं शुद्ध हैं। आप (पञ्च) भूतस्वरूप ऐश्वर्य और प्राणियोंके उत्पत्ति-स्थान हैं। आप भू, भुव, स्व, ऋत, ध्रुव कोमल तथा महेश्वर हैं। आप दीक्षित, अदीक्षित, कान्त, दुर्दान्त (उग्र) और दान्तसे उत्पन्न हैं। आप चन्द्रावर्त, युगावर्त, संवर्तक और प्रवर्तक हैं। आप बिन्दु, काम, अणु, स्थूल तथा कनेरकी मालाके प्रेमी हैं ॥ १३२–१३५ ॥

नन्दीमुखो भीममुख सुमुखो दुर्मुखस्तथा। हिरण्यगर्भः शकुनिर्महोरगपतिर्विराट् ॥ १३६ ॥
अधर्महा महादेवो दण्डधारो गणोत्कटः। गोनर्दो गोप्रतारश्च गोवृषेश्वरवाहन ॥ १३७ ॥
त्रैलोक्यगोप्ता गोविन्दो गोमार्गो मार्ग एव च। स्थिरः श्रेष्ठश्च स्थाणुश्च विक्रोशः क्रोश एव च ॥ १३८ ॥
दुर्वारणो दुर्विषहो दुःसहो दुरतिक्रमः। दुर्द्धर्षो दुष्प्रकाशश्च दुर्दर्शो दुर्जयो जय ॥ १३९ ॥

आप नन्दीमुख, भीममुख, सुमुख तथा दुर्मुख हैं। आप हिरण्यगर्भ, शकुनि, महासर्पपति तथा विराट् हैं। आप अधर्मका नाश करनेवाले महादेव, दण्डधार, गणोत्कट, गोनर्द, गोप्रतार तथा गोवृषेश्वर-वाहन हैं। आप त्रैलोक्यरक्षक, गोविन्द, गोमार्ग तथा मार्ग हैं। आप स्थिर, श्रेष्ठ, स्थाणु, विक्रोश तथा क्रोश हैं। आप दुर्वारण, दुर्विषह, दुस्सह, दुरतिक्रम, दुर्धर्ष, दुष्प्रकाश, दुर्दर्श, दुर्जय तथा जय हैं ॥ १३६–१३९ ॥

शशाङ्कानलशीतोष्णः क्षुत्तृष्णा च निरामय। आधयो व्याधयश्चैव व्याधिहा व्याधिनाशन ॥ १४० ॥
समूहश्च समूहस्य हन्ता देव सनातन। शिखण्डी पुण्डरीकाक्षः पुण्डरीकवनालयः ॥ १४१ ॥
त्र्यम्बको दण्डधारश्च उग्रदंष्ट्रः कुलान्तकः।
विषापह सुरश्रेष्ठ सोमपास्त्वं मरुत्पते। अमृताशी जगन्नाथो देवदेव गणेश्वरः ॥ १४२ ॥
मधुश्च्युतानां मधुपो ब्रह्मवाक् त्वं घृतच्युत। सर्वलोकस्य भोक्ता त्वं सर्वलोकपितामहः ॥ १४३ ॥

आप चन्द्र, अनल, शीत, उष्ण, क्षुधा, तृष्णा, निरामय, आधिव्याधि, व्याधिहन्ता एवं व्याधियोंको नष्ट करनेवाले हैं। आप समूह हैं और समूहके हन्ता तथा सनातन देव हैं। आप शिखण्डी, पुण्डरीकाक्ष तथा पुण्डरीकवनके आश्रय हैं। मरुत्पति! हे देवदेव! आप तीन नेत्रवाले, दण्डधारी, भयंकर दाँतवाले, कुलके अन्त करनेवाले, विषको नष्ट करनेवाले, सुरश्रेष्ठ, सोमरस पीनेवाले, अमृताशी, जगत्‌के स्वामी तथा गणेश्वर हैं। आप मधुस्रवण करनेवालोंमें मधुप, वाणियोंमें ब्रह्मवाक्, घृतच्युत, समस्त लोकोंका पालन-पोषण और उपसंहार करनेवाले एवं सर्वलोकके पितामह हैं ॥ १४०–१४३ ॥

हिरण्यरेता पुरुषस्त्वमेक' त्वं स्त्री पुमांस्त्वं हि नपुंसकं च।
बालो युवा स्थविरो देवदंष्ट्रा त्वत्तो गिरिर्विश्वकृद् विश्वहर्ता ॥ १४४ ॥
त्वं वै धाता विश्वकृतां वरेण्यस्त्वां पूजयन्ति प्रणताः सदैव।
चन्द्रादित्यौ चक्षुषी ते भवान् हि त्वमेव चाग्निः प्रपितामहश्च।
आराध्य त्वां सरस्वतीं वाग्लभन्ते अहोरात्रे निमिषोन्मेषकर्ता ॥ १४५ ॥
न ब्रह्मा न च गोविन्दः पौराणा ऋषयो न ते। माहात्म्यं वेदितुं शक्ता याथातथ्येन शंकर ॥ १४६ ॥
पुंसां शतसहस्राणि यत्समावृत्य तिष्ठति। महतस्तमसः पारे गोप्ता मन्ता भवान् सदा ॥ १४७ ॥

आप हिरण्यरेता तथा अद्वितीय पुरुष हैं। आप स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक भी हैं। आप ही बालक, युवक, वृद्ध, देवदंष्ट्र, गिरि, संसारके रचयिता तथा संसारके संहार करनेवाले भी हैं। आप विश्व रचनेवालोंमें वरणीय धाता हैं। विनयी जन सदैव आपकी पूजा करते हैं। चन्द्रमा एवं सूर्य आपके नेत्रस्वरूप हैं। आप ही अग्नि एवं प्रपितामह हैं। सरस्वतीस्वरूप आपकी आराधना कर लोग (प्राज्ञजन) वाणीकी प्राप्ति करते हैं। आप दिन और रात्रि हैं और निमेष एवं उन्मेषके कर्ता हैं। हे शंकर! ब्रह्मा, गोविन्द तथा प्राचीन ऋषि भी आपकी महिमाको ठीक-ठीक नहीं जान सकते। आप (अपनेमें) लाखों पुरुषोंको समावृत कर स्थित हैं। आप सदा महान् तमसे परे रहनेवाले परम रक्षक एवं (सबके) अवलोकक हैं ॥ १४४-१४७ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः। ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥ १४८ ॥
या मूर्तयश्च सूक्ष्मास्ते न शक्या या निदर्शितुम्। ताभिर्मां सततं रक्ष पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १४९ ॥
रक्ष मां रक्षणीयोऽहं तवानघ नमोऽस्तु ते। भक्तानुकम्पी भगवान् भक्तश्चाहं सदा त्वयि ॥ १५० ॥
जटिने दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे। कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥ १५१ ॥

निद्रारहित (अतः सदा जागरूक), श्वासपर विजय प्राप्त करनेवाले, सत्त्वगुणमें सदा स्थित एवं संयतेन्द्रिय योगिजन जिस ज्योतिका दर्शन करते हैं, उस योगात्मक (-आप)को नमस्कार है। सूक्ष्म होनेके कारण आपकी जो मूर्तियाँ प्रदर्शित नहीं की जा सकतीं उनके द्वारा आप सदा मेरी इस प्रकार रक्षा करें जैसे पिता अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है। पुण्यात्मन्! आप मेरी रक्षा करें। मैं आपका रक्षणीय हूँ। आपको नमस्कार है। आप भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले भगवान् हैं, मैं सदा आपका भक्त हूँ। जटी, दण्डी, लम्बोदरशरीरी तथा कमण्डलुनिषङ्ग रुद्रात्माको नमस्कार है ॥ १४८-१५१ ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु। कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ १५२ ॥
सम्भक्ष्य सर्वभूतानि युगान्ते पर्युपस्थिते। यः शेते जलमध्यस्थस्तं प्रपद्येऽम्बुशायिनम् ॥ १५३ ॥
प्रविश्य वदनं राहोर्यः सोमं पिबते निशि। ग्रसत्यर्कं च स्वर्भानू रक्षितस्तव तेजसा ॥ १५४ ॥
ये चात्र पतिता गर्भा रुद्रगर्भस्य रक्षणे। नमस्तेऽस्तु स्वधा स्वाहा प्राप्नुवन्ति तदद्भुते ॥ १५५ ॥

जिनके केशोंमें बादल, समस्त अङ्गोंकी सन्धियोंमें नदियाँ एवं कुक्षिमें चारों समुद्र हैं, उन तोयात्मा भगवान्को नमस्कार है। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर भूतोंको अपने उदरमें स्थित रखकर जो जलके मध्यमें शयन करते हैं उन जलशायी-(विष्णु) की मैं शरण लेता हूँ। रात्रिमें आप जो राहुके मुखमें प्रवेश कर सोमको पीते हैं तथा आपके तेजसे रक्षित राहु सूर्यको ग्रस लेता है, ऐसे आपको नमस्कार है। रुद्रगर्भकी रक्षामें जो यहाँ गर्भ (बालगर्भ) गिरे, आपके ही तेजसे गिरे, अतः आपको नमस्कार है, उन्हीं अद्भुत (तेजों)में स्वधा तथा स्वाहाको वे प्राप्त करते हैं ॥ १५२-१५५ ॥

यऽङ्गुष्ठमात्रा पुरुषा देहस्था सर्वदेहिनाम्। रक्षन्तु ते हि मां नित्यं ते मामाप्याययन्तु वै ॥ १५६ ॥
ये नदीषु समुद्रेषु पर्वतेषु गुहासु च। वृक्षमूलेषु गोष्ठेषु कान्तारगहनेषु च ॥ १५७ ॥
चतुष्पथेषु रथ्यासु चत्वरेषु सभासु च। हस्त्यश्वरथशालासु जीर्णोद्यानालयेषु च ॥ १५८ ॥
ये च पञ्चसु भूतेषु दिशासु विदिशासु च। चन्द्रार्कयोर्मध्यगता ये च चन्द्रार्करश्मिषु ॥ १५९ ॥
रसातलगता ये च ये च तस्मात् परं गताः। नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यश्च नित्यशः ॥ १६० ॥

सभी देहधारियोंकी देहमें स्थित अङ्गुष्ठमात्रमें निवास करनेवाले जो पुरुष हैं, वे नित्य मेरी रक्षा करें तथा वे मुझे सर्वदा संतृप्त करें। जो नदियों, समुद्रों, पर्वतों, गुहाओं, वृक्षकी जड़ों, गायोंके रहनेके स्थानों, घने जंगलों, चौराहों, गलियों, चबूतरों, सभाओं, हस्तिसारों, घुड़सारों और रथशालाओं, जीर्ण बाग-बगीचों, आलयों, पञ्चभूतों, पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं एवं अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, वायव्यकोण एवं ईशानकोणोंमें स्थित हैं।-जो चन्द्र और सूर्यके बीचमें रहनेवाले, चन्द्र तथा सूर्यकी किरणोंमें स्थित, रसातलमें रहनेवाले एवं उससे भी आगे पहुँचे हुए हैं, उनको नित्य बारम्बार नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है ॥ १५६-१६० ॥

येषां न विद्यते संख्या प्रमाणं रूपमेव च। असंख्येयगणा रुद्रा नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥ १६१ ॥
प्रसीद मम भद्रं ते तव भावगतस्य च। त्वयि मे हृदयं देव त्वयि बुद्धिर्मतिस्त्वयि ॥ १६२ ॥
स्तुत्वैवं स महादेवं विरराम द्विजोत्तम ॥ १६३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

जिनकी कोई संख्या नहीं है और न प्रमाण तथा रूप ही है, उन अनगिनत रुद्रगणोंको सदा नमस्कार है। आपका कल्याण हो। आपके भक्तिभावमें स्थित मेरे ऊपर आप प्रसन्न हों। हे देव! आपहीमें मेरा हृदय, मेरी बुद्धि एवं मति है। द्विजोत्तमने इस प्रकार महादेवकी स्तुति करके विराम ले लिया ॥ १६१-१६३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

[अथाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः]

सनत्कुमार उवाच

अथैनमब्रवीद् देवस्त्रैलोक्याधिपतिर्भवः। आश्वासनकरं चास्य वाक्यविद् वाक्यमुत्तमम् ॥ १ ॥
अहो तुष्टोऽस्मि ते राजन् स्तवेनानेन सुव्रत। बहुनाऽत्र किमुक्तेन मत्समीपे वसिष्यसि ॥ २ ॥
उषित्वा सुचिरं कालं मम गात्रोद्भवः पुनः। असुरो ह्यन्धको नाम भविष्यसि सुरान्तकृत् ॥ ३ ॥
हिरण्याक्षगृहे जन्म प्राप्य वृद्धिं गमिष्यसि। पूर्वाधर्मेण घोरेण वेदनिन्दाकृतेन च ॥ ४ ॥

अड़तालीसवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वेन कृत शिव स्तुति एवं स्थाणुतीर्थका माहात्म्य, वेन आदिकी सुगतिका वर्णन)

सनत्कुमारने कहा—इसके बाद किसीकी किसी प्रकारकी भी उक्तिके अभिप्रायको भलीभाँति जाननेवाले तीनों लोकोंके स्वामी शंकरभगवान्ने उस-(वेन)को आश्वासन देनेवाला उत्तम वचन कहा—राजन्! सुव्रत! तुम्हारी इस स्तुतिसे मैं संतुष्ट हूँ। इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है, तुम मेरे निकट (में ही सदा) निवास करोगे। बहुत दिनोंतक निवास करनेके बाद तुम फिर देवोंको नष्ट करनेवाले अन्धक नामक असुर होकर मेरे शरीरसे उत्पन्न होओगे और वेदकी निन्दा करनेसे पूर्वकालिक प्रचण्ड पापके कारण पुनः हिरण्याक्षके घरमें उत्पन्न होकर बड़े होगे—सयाने होगे ॥ १-४ ॥

साभिलाषो जगन्मातुर्भविष्यसि यदा तदा। देहं शूलेन हत्वाहं पावयिष्यामि समाबुदम्॥ ५॥
तत्राप्यकल्मषो भूत्वा स्तुत्वा मां भक्तितः पुनः। ख्यातो गणाधिपो भूत्वा नाम्ना भृङ्गिरिटिः स्मृतः॥ ६॥
मत्सन्निधाने स्थित्वा त्वं ततः सिद्धिं गमिष्यसि। वेनप्रोक्तं स्तवमिमं कीर्त्तयेद् यः शृणोति च॥ ७॥
नाशुभं प्राप्नुयात् किंचिद् दीर्घमायुरवाप्नुयात्। यथा सर्वेषु देवेषु विशिष्टो भगवाञ्छिवः॥ ८॥
तथा स्तवो वरिष्ठोऽयं स्तवानां वेननिर्मितः। यशो राज्यसुखैश्वर्यधनमानाय कीर्त्तितः॥ ९॥

जब तुम जगत्की माता-(पार्वती)की अभिलाषा करोगे तब मैं शूलद्वारा तुम्हारी देहका हनन करके दस करोड़ वर्षोंतकके लिये (तुम्हें) पवित्र करूँगा। उसके बाद वहाँ पापसे रहित होकर पुनः मेरी स्तुति करोगे और तब तुम भृङ्गिरिटि नामसे प्रसिद्ध गणाधिप बनोगे। फिर मेरी सन्निधिमें रहकर तुम सिद्धिको प्राप्त करोगे। जो मनुष्य वेनके द्वारा कही हुई इस स्तुतिका कीर्तन करेगा या इसे सुनेगा वह कभी अशुभ-(अकल्याण-)को नहीं प्राप्त होगा और दीर्घ आयु प्राप्त करेगा। जैसे सभी देवताओंमें भगवान् शिवकी विशिष्टता है, वैसे ही वेनसे निर्मित यह स्तव सभी स्तवोंमें श्रेष्ठ (विशिष्ट) है। इसका कीर्तन यश, राज्य, सुख, ऐश्वर्य, धन एवं मानका देनेवाला है॥ ५-९॥

श्रोतव्यो भक्तिमास्थाय विद्याकामैश्च यत्नतः। व्याधितो दुःखितो दीनश्चौरराजभयान्वितः॥ १०॥
राजकार्यविमुक्तो वा मुच्यते महतो भयात्। अनेनैव तु देहेन गणानां श्रेष्ठतां व्रजेत्॥ ११॥
तेजसा यशसा चैव युक्तो भवति निर्मलः। न राक्षसाः पिशाचा वा न भूता न विनायकाः॥ १२॥
विघ्नं कुर्युर्गृहे तत्र यत्रायं पठ्यते स्तवः। शृणुयाद् या स्तवं नारी अनुज्ञां प्राप्य भर्तृतः॥ १३॥
मातृपक्षे पितुः पक्षे पूज्या भवति देववत्। शृणुयाद् यः स्तवं दिव्यं कीर्तयेद् वा समाहितः॥ १४॥
तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्धिं गच्छन्ति नित्यशः। मनसा चिन्तितं यच्च यच्च वाचाऽनुकीर्तितम्॥ १५॥
सर्वं सम्पद्यते तस्य स्तवनस्यानुकीर्त्तनात्।
मनसा कर्मणा वाचा कृतमेनो विनश्यति। वरं वरय भद्रं ते यत्त्वया मनसेप्सितम्॥ १६॥

विद्याकी इच्छा रखनेवालेको श्रद्धासहित यत्नपूर्वक इस स्तुतिको सुनना चाहिये। व्याधिसे ग्रस्त, दुःखी, दीन, चोर या राजासे भयभीत अथवा राजकार्यसे अलग किया गया पुरुष (इस स्तुतिके द्वारा) महान् भयसे मुक्त होकर इसी देहसे गणोंमें श्रेष्ठता प्राप्त करता है एवं निर्मल होकर तेज एवं यशसे युक्त होता है। जिस गृहमें इस स्तवका पाठ होता है उसमें राक्षस, पिशाच, भूत या विनायकगण विघ्न नहीं करते। पतिकी आज्ञा प्राप्त कर इस स्तवका श्रवण करनेवाली नारी मातृपक्ष एवं पितृपक्षमें देवताके समान पूजनीया हो जाती है। जो मनुष्य समाहित होकर इस दिव्य स्तवको सुनेगा या कीर्तन करेगा, उसके सभी कार्य नित्य सिद्ध होंगे। इस स्तवका कीर्तन करनेवाले मनुष्यके मनमें चिन्तित तथा वचनके द्वारा कथित सभी कार्य सम्पन्न होते जायँगे और मानसिक, वाचिक तथा कार्मिक—सारे पाप विनष्ट हो जायँगे। तुम्हारे मनमें जो अभीष्ट हो उस वरको माँग लो, तुम्हारा कल्याण हो॥ १०-१६॥

वेन उवाच

अस्य लिङ्गस्य माहात्म्यात् तथा लिङ्गस्य दर्शनात्। मुक्तोऽहं पातकैः सर्वैस्तव दर्शनतः किल॥ १७॥
यदि तुष्टोऽसि मे देव यदि देयो वरो मम। देवस्वभक्षणाज्जातं भयोनौ तव सेवकम्॥ १८॥
एतस्यापि प्रसादं त्वं कर्तुमर्हसि शङ्कर। पापस्यापि भयान्मध्ये सरसोऽहं निमज्जितः॥ १९॥
दैवैर्निवारितः पूर्वं तीर्थेऽस्मिन् स्नानकारणात्। अयं कृतोपकारश्च एतदर्थं वृणोम्यहम्॥ २०॥

तस्यैतद् वचनं श्रुत्वा तुष्टः प्रोवाच शंकरः। एषोऽपि पापनिर्मुक्तो भविष्यति न संशयः॥ २१॥
प्रसादान्मे महाबाहो शिवलोकं गमिष्यति। तथा स्तवमिमं श्रुत्वा मुच्यते सर्वपातकैः॥ २२॥
कुरुक्षेत्रस्य माहात्म्यं सरसोऽस्य महीपते। मम लिङ्गस्य चोत्पत्तिं श्रुत्वा पापैः प्रमुच्यते॥ २३॥

वेनने कहा—इस लिङ्गके माहात्म्यसे, इसके तथा आपके दर्शनोंसे मैं समस्त पापोंसे निश्चित रूपसे छूट गया हूँ। देव! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे वर देना चाहते हैं तो हे शङ्कर! अपने उस सेवकपर कृपा करें जो देवद्रव्यका भक्षण करनेके कारण कुत्तेकी योनिमें उत्पन्न हुआ है। पहले इस तीर्थमें स्नान करनेके लिये देवोंके मना करनेपर भी इस (कुत्ते)के भयसे मैंने सरोवरमें स्नान किया। इसने मेरा उपकार किया है। अतएव मैं इसके लिये वर माँगता हूँ। उस-(वेन)के इस वचनको सुनकर शंकर सन्तुष्ट होकर बोले—महाबाहो! यह भी मेरी कृपासे निःसन्देह सभी पापोंसे बिल्कुल छूट जायगा और शिवलोकको प्राप्त करेगा। इस स्तवको सुनकर मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जायगा। राजन्! इस कुरुक्षेत्र तथा इस सरोवरका माहात्म्य और मेरे लिङ्गकी उत्पत्तिका वर्णन सुननेसे मनुष्य पापसे बिल्कुल छूट जाता है॥ १७–२३॥

सनत्कुमार उवाच

इत्येवमुक्त्वा भगवान् सर्वलोकनमस्कृतः। पश्यतां सर्वलोकानां तत्रैवान्तरधीयत॥ २४॥
स च श्वा तत्क्षणादेव स्मृत्वा जन्म पुरातनम्। दिव्यमूर्तिधरो भूत्वा तं राजानमुपस्थितः॥ २५॥
कृत्वा स्नानं ततो वैन्यः पितृदर्शनलालसः। स्थाणुतीर्थे कुटीं शून्यां दृष्ट्वा शोकसमन्वितः॥ २६॥
दृष्ट्वा वेनोऽब्रवीद् वाक्यं हर्षेण महताऽन्वितः। सत्पुत्रेण त्वया वत्स त्रातोऽहं नरकार्णवात्॥ २७॥

सनत्कुमारने कहा—इस प्रकार कहकर समस्त लोकोंद्वारा नमस्कृत भगवान् सभी लोगोंके देखते हुए वहीं अन्तर्हित हो गये। वह कुत्ता भी उसी समय पूर्वजन्मका स्मरण करके दिव्य शरीर धारणकर उस राजाके सामने उपस्थित हुआ। उसके बाद वेनका पुत्र पृथु स्नान करके पितृदर्शनकी अभिलाषासे स्थाणुतीर्थमें आनेपर कुटीको सूनी देख चिन्तित हो गया। वेन उसे देखकर बड़ी प्रसन्नतापूर्वक बोला—वत्स! तुमने नरक-सागरमें जानेसे मेरी रक्षा कर ली, अतः तुम सत्पुत्र सिद्ध हुए॥ २४–२७॥

त्वयाभिषिञ्चितो नित्यं तीर्थस्य पुलिने स्थितः। अस्य साधोः प्रसादेन स्थाणोर्देवस्य दर्शनात्॥ २८॥
मुक्तपापश्च स्वर्लोकं यास्ये यत्र शिवः स्थितः। इत्येवमुक्त्वा राजानं प्रतिष्ठाप्य महेश्वरम्॥ २९॥
स्थाणुतीर्थे ययौ सिद्धिं तेन पुत्रेण तारितः। स च श्वा परमां सिद्धिं स्थाणुतीर्थप्रभावतः॥ ३०॥
विमुक्तः कलुषैः सर्वैर्जगाम भवमन्दिरम्। राजा पितृऋणैर्मुक्तः परिपाल्य वसुंधराम्॥ ३१॥
पुत्रानुत्पाद्य धर्मेण कृत्वा यज्ञं निरर्गलम्। दत्त्वा कामांश्च विप्रेभ्यो भुक्त्वा भोगान् पृथग्विधान्॥ ३२॥

तीर्थके तटपर रहने एवं तुम्हारे द्वारा नित्य अभिषिक्त होनेके कारण तथा इस साधुके अनुग्रह एवं स्थाणुदेवके दर्शन करनेसे मैं पापोंसे छूटकर उस स्वर्गलोकको जा रहा हूँ, जहाँ शिवजी (सदा) स्थित हैं। राजा पृथुसे ऐसा कहनेके पश्चात् उस पुत्रद्वारा (पापनिर्मुक्त) तारित वेनने स्थाणुतीर्थमें महेश्वरको प्रतिष्ठापित करके सिद्धि प्राप्त कर ली। स्थाणुतीर्थके प्रभावसे वह कुत्ता भी पापसे रहित होकर परम सिद्धिको प्राप्त हुआ और शिवलोकको चला गया। राजा पृथु पितृ-ऋणसे मुक्त हो गये और पृथ्वीका पालन करते हुए उन्होंने धर्मपूर्वक पुत्रोंको उत्पन्न करके बाधारहित होकर यज्ञ (यज्ञानुष्ठान) किया। उन्होंने ब्राह्मणोंको मनोऽभिलषित पदार्थोंका दान दिया तथा भाँति-भाँतिके भोगोंका उपभोग किया॥ २८–३२॥

सुहृदोऽथ ऋणैर्मुक्त्वा कामैः सतर्प्य च स्त्रियः। अभिषिच्य सुतं राज्ये कुरुक्षेत्रं ययौ नृपः ॥ ३३॥
तत्र तप्त्वा तपो घोरं पूजयित्वा च शङ्करम्। आत्मेच्छया तनुं त्यक्त्वा प्रयातः परमं पदम् ॥ ३४॥
एतत्प्रभावं तीर्थस्य स्थाणोर्यः शृणुयान्नरः। सर्वपापविनिर्मुक्तः प्रयाति परमां गतिम् ॥ ३५॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

मित्रोंको (भी) ऋणसे मुक्त तथा स्त्रियोंके मनोरथोंको संतुष्टि प्रदान करनेके पश्चात् पुत्रको राज्य अभिषिक्त कर पृथु राजा कुरुक्षेत्रमें चले गये। वहाँ घोर तपस्या तथा शङ्करका पूजन करके अपनी इच्छासे शरीर त्याग कर उन्होंने परमपदको प्राप्त किया। जो मनुष्य स्थाणुतीर्थके इस प्रभावको सुनेगा, वह सभी पापोंसे छूट जायगा और परम गतिको प्राप्त करेगा ॥ ३३–३५ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अड़तालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

[अथैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

मार्कण्डेय उवाच

चतुर्मुखानामुत्पत्तिं विस्तरेण ममानघ। तथा ब्रह्मेश्वराणां च श्रोतुमिच्छा प्रवर्तते ॥ १ ॥

उनचासवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चार मुखोंकी उत्पत्ति-कथा, ब्रह्म-कृत शिवकी स्तुति और स्थाणुतीर्थका माहात्म्य)

मार्कण्डेयने कहा—निष्पाप ! चार मुखों और ब्रह्मेश्वरोंकी उत्पत्तिको विस्तारपूर्वक सुननेकी मेरी इच्छा हो रही है (अतः आप उसे सुनानेकी कृपा करें) ॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच

शृणु सर्वमशेषेण कथयिष्यामि तेऽनघ। ब्रह्मणः स्रष्टुकामस्य यद् वृत्तं पद्मजन्मनः ॥ २ ॥
उत्पन्न एव भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः। ससर्ज सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ३ ॥
पुनश्चिन्तयतः सृष्टिं जज्ञे कन्या मनोरमा। नीलोत्पलदलश्यामा तनुमध्या सुलोचना ॥ ४ ॥
तां दृष्ट्वाभिमतां ब्रह्मा मैथुनायाजुहाव ताम्। तेन पापेन महता शिरोऽछिद्यत वेधसः ॥ ५ ॥

सनत्कुमार बोले—अनघ ! सृष्टिकी कामना करनेवाले एवं कमलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माका जो वृत्त है, उसे मैं तुमसे पूर्णतः कहता हूँ, सुनो। लोक-पितामह भगवान् ब्रह्माने उत्पन्न होते ही पहले अचर और चर रूप सम्पूर्ण भूतोंकी रचना की। पुनः उनके सृष्टिकी चिन्ता करनेपर एक नीले कमल-दलके समान श्याम, पतली मध्य भागवाली, सुलोचना, मन-मोहिनी कन्या उत्पन्न हुई। उस मनोहर कन्याको देखकर ब्रह्माने उसे मनोनीत हेतु बुलाया। (बस,) उस महान् पापसे ब्रह्माका मस्तक गिर गया ॥ २–५ ॥

तेन शापेन स ययौ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। सान्निहत्यं सरः पुण्यं सर्वपापक्षयावहम् ॥ ६ ॥
तत्र पुण्ये स्थाणुतीर्थे ऋषिसिद्धनिषेविते। सरस्वत्युत्तरे तीरे प्रतिष्ठाप्य चतुर्मुखम् ॥ ७ ॥
आराधयामास तदा धूपैर्गन्धैर्मनोरमैः। उपहारैस्तथा हृद्यै रौद्रसूक्तैर्दिने दिने ॥ ८ ॥
तस्यैवं भक्तियुक्तस्य शिवपूजापरस्य च। स्वयमेवाजगामाथ भगवान् नीललोहितः ॥ ९ ॥
समागतं शिवं दृष्ट्वा ब्रह्मा लोकपितामहः। प्रणम्य शिरसा भूमौ स्तुतिं तस्य चकार ह ॥ १० ॥

वे (ब्रह्माजी) उस गिरे मस्तकको लेकर सभी पापोंका विनाश करनेवाले तीनों लोकोंमें विख्यात सान्निहत्यसर नामके तीर्थमें गये। ऋषि और सिद्धोंसे सेवित उस पवित्र स्थाणुतीर्थमें सरस्वतीके उत्तरी तट

चतुर्मुख ब्रह्मा

चतुर्मुख (चार मुखवाले शिवलिङ्ग) को स्थापित कर प्रतिदिन मनोरम धूप, गन्ध, सुन्दर उपहारों एवं रुद्र-सूक्तोंसे उसकी उपासना करने लगे। उनके इस प्रकार भक्तिपूर्वक शिवपूजामें तन्मय हो जानेपर भगवान् नीललोहित (शंकरजी) स्वयं ही वहाँ आ गये। लोकपितामह ब्रह्माने उन आये हुए शिवको देखकर सिर झुकाकर प्रणाम किया और पुनः वे (ब्रह्माजी) उन-(शिव)की स्तुति करने लगे॥ ९-१०॥

ब्रह्मोवाच

नमस्तेऽस्तु महादेव भूतभव्य भवाश्रय। नमस्ते स्तुतिनित्याय नमस्त्रैलोक्यपालिने॥ ११॥
नमः पवित्रदेहाय सर्वकल्मषनाशिने। चराचरगुरो गुह्यगुह्यानां च प्रकाशकृत्॥ १२॥
रोगा न यान्ति भिषजैः सर्वरोगविनाशन। रौरवाजिनसंवीत वीतशोक नमोऽस्तु ते॥ १३॥
वारिकल्लोलसंक्षुब्धमहाबुद्धिविघट्टिने। त्वन्नामजापिनो देव न भवन्ति भवाश्रयाः॥ १४॥

ब्रह्माने कहा—भूत, भव्य तथा भवके आश्रयस्वरूप महादेवजी! आपको नमस्कार है। नित्य-स्तुति किये जानेवाले और तीनों लोकोंके रक्षक! आपको नमस्कार है। सभी पापोंको नष्ट करनेवाले एवं पवित्र देहवाले! आपको नमस्कार है। चर और अचरके गुरु! आप रहस्योंके भी रहस्यको (गुप्तसे गुप्त तत्त्वको) प्रकाशित करनेवाले हैं। वैद्योंकी दवाओंसे दूर न होनेवाले सभी रोगोंका विनाश करनेवाले! रुरुमृगचर्मधारी! शोकसे रहित शिव! आपको नमस्कार है। जलकी उत्ताल तरङ्गोंसे महाबुद्धिके विघटन करनेमें (स्वयं भी) संक्षुब्ध देव! आपके नामका जप करनेवाले प्राणी संसारमें नहीं पड़ते॥ ११-१४॥

नमस्ते नित्यनित्याय नमस्त्रैलोक्यपालन। शंकरायाप्रमेयाय व्याधीनां शमनाय च॥ १५॥
परायापरिमेयाय सर्वभूतप्रियाय च। योगेश्वराय देवाय सर्वपापक्षयाय च॥ १६॥
नमः स्थाणवे सिद्धाय सिद्धवन्दिस्तुताय च। भूतसंसारदुर्गाय विश्वरूपाय ते नमः॥ १७॥
फणीन्द्रोक्तमहिम्ने ते फणीन्द्राङ्गदधारिणे। फणीन्द्रवरहाराय भास्कराय नमो नमः॥ १८॥

नित्यके भी नित्य आपको नमस्कार है। तीनों लोकोंके पालक! कल्याणकारी (निश्चयात्मिका बुद्धिसे भी अगम्य) अप्रमेय शारीरिक-मानसिक रोगोंके नाश करनेवाले आपको नमस्कार है। सबसे परे, अपरिमेय (मापमें न आने योग्य), सभी प्राणियोंके प्रिय देव एवं सभी पापोंके क्षय करनेवाले योगेश्वर आपको नमस्कार है। (आप) स्थाणुस्वरूप सिद्ध एवं सिद्धों तथा वन्दियोंके द्वारा स्तुत आपको नमस्कार है। संसारके प्राणियोंके लिये दुर्ग बने हुए आप विश्वरूपके लिये नमस्कार है। सर्पराजके द्वारा बखानी गयी महिमावाले, सर्पराजके बाजूबंद एवं माला धारण करनेवाले भास्करस्वरूप आपको बारम्बार नमस्कार है॥ १५-१८॥

एवं स्तुतो महादेवो ब्रह्माणं प्राह शङ्करः। न च मन्युस्त्वया कार्यो भावित्यर्थे कदाचन॥ १९॥
पुरा वराहकल्पे ते यन्मयाऽपहृतं शिरः। चतुर्मुखं च तद्भूतं न कदाचिन्नशिष्यति॥ २०॥
अस्मिन् सांनिहिते तीर्थे लिङ्गानि मम भक्तितः। प्रतिष्ठाप्य विमुक्तस्त्वं सर्वपापैर्भविष्यसि॥ २१॥
सृष्टिकामेन च पुरा त्वयाऽहं प्रेरितः किल। तेनाहं त्वां तथेत्युक्त्वा भूतानां देहवर्जितः॥ २२॥
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा मग्नः संनिहिते स्थितः। सुमहान्तं ततः कालं त्वं प्रतीक्षां ममाकरोः॥ २३॥

इस प्रकार स्तुति किये जानेपर शंकरने ब्रह्मासे कहा—ब्रह्मन्! जो कार्य अवश्यम्भावी है उसके विषयमें आपको कभी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। पहले वराह-कल्पमें मैंने आपका जो मस्तक अपहरण किया था वही चार मुख हो गया। अब वह कभी विनष्ट नहीं होगा। इस सांनिहित तीर्थमें भक्तिपूर्वक मेरे लिङ्गोंकी प्रतिष्ठा

करके आप सभी पापोंसे छूट जायँगे। प्राचीनकालमें सृष्टि रचनेकी इच्छासे आपने मुझे अनुप्रेरित किया था। अन्त मैं 'ऐसा ही होगा' यह कहकर भूतोंके नेशमें रहनेवालेकी भाँति दीर्घकालतक तप करके संनिहितमें निरत होकर स्थित रहा। उसके बाद आपने बहुत दिनोंतक मेरी प्रतीक्षा की ॥ १९–२३ ॥

स्रष्टारं सर्वभूतानां मनसा कल्पितं त्वया। सोऽब्रवीत् त्वां तदा दृष्ट्वा मां मग्नं तत्र चाम्भसि ॥ २४ ॥
यदि मे नाग्रजस्त्वन्यस्ततः स्रक्ष्याम्यहं प्रजाः। त्वयैवोक्तश्च नैवास्ति त्वदन्यः पुरुषोऽग्रजः ॥ २५ ॥
स्थाणुरेष जले मग्नो विवशः कुरु मद्धितम्। स सर्वभूतानसृजद् दक्षादींश्च प्रजापतीन् ॥ २६ ॥

फिर आपने अपने मनमें सभी प्राणियोंकी सृष्टि करनेवालेका ध्यान किया। तब उन्होंने मुझे यहाँ जलमें विलीन देखकर आपसे कहा कि यदि मुझसे अन्य कोई बड़ा पहले हुआ न माना जाय तो मैं प्रजाकी सृष्टि करूँ। आपने कहा—आपके बिना कोई दूसरा अग्रज पुरुष नहीं है। ये स्थाणु जलमें विलीन तथा विवश पड़े हैं। आप मेरा कल्याण करें। फिर उन्होंने दक्ष आदि प्रजापतियों तथा समस्त भूतोंकी सृष्टि की ॥ २४–२६ ॥

यैरिमं प्रकरोत् सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम्। ताः सृज्यमानाः क्षुधिताः प्रजाः सर्वाः प्रजापतिम् ॥ २७ ॥
बिभक्षयिषवो ब्रह्मन् सहसा प्राद्रवंस्तथा। स भक्ष्यमाणस्त्राणार्थी पितामहमुपाद्रवत् ॥ २८ ॥
अथासां च महावृत्तिं प्रजानां संविधीयताम्। दत्तं ताभ्यस्त्वया ह्यन्नं स्थावराणां महौषधीः ॥ २९ ॥
जङ्गमानि च भूतानि दुर्बलानि बलीयसाम्। विहितान्नाः प्रजाः सर्वाः पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ ३० ॥

(इस तरह) जिन्होंने इस चार प्रकारके प्राणि-समुदायको उत्पन्न किया, सृष्टि होते ही वे सभी प्रजाएँ क्षुधित हो गयीं और प्रजापतिको खानेकी इच्छासे उन्हींपर लपक पड़ीं। जब उन्होंने उन्हींका भक्षण करनेकी चेष्टा की, तब त्राण पानेकी इच्छासे वे पितामहके पास दौड़कर गये और उनसे बोले—प्रजाओंकी जीविकाका विधान कीजिये। फिर आपने उन्हें अन्न (जीवन-साधन) प्रदान किया। अचल प्राणियोंकी महौषधियाँ और निर्बल चल प्राणी शक्तिशाली प्राणियोंके अन्न (प्राणन-शक्ति) बने। इस प्रकार जीवन निर्वाहके लिये प्राणन-शक्तिका विधान हुआ। फिर सभी प्रजाएँ अपने स्थानको लौट गयीं ॥ २७–३० ॥

ततो ववृधिरे सर्वाः प्रीतियुक्ताः परस्परम्। भूतग्रामे विवृद्धे तु तुष्टे लोकगुरौ त्वयि ॥ ३१ ॥
समुत्तिष्ठञ्जलात् तस्मात् प्रजाः सदृश्यानहम्। ततोऽहं ताः प्रजा दृष्ट्वा विहिताः स्वेन तेजसा ॥ ३२ ॥
क्रोधेन महता युक्तो लिङ्गमुत्पाट्य चाक्षिपम्। तत् क्षिप्तं सरसो मध्ये ऊर्ध्वमेव यदा स्थितम् ॥ ३३ ॥
तदा प्रभृति लोकेषु स्थाणुरित्येष विश्रुतः। सकृद् दर्शनमात्रेण विमुक्तः सर्वकिल्बिषैः ॥ ३४ ॥
प्रयाति मोक्षं परमं यस्मान्नावर्तते पुनः। यश्चेह तीर्थे निवसेत् कृष्णाष्टम्यां समाहितः ॥ ३५ ॥
स मुक्तः पातकैः सर्वैरगम्यागमनोद्भवैः। इत्युक्त्वा भगवान् देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३६ ॥

फिर तो वे सब परस्पर प्रेमपूर्वक रहकर बढ़ने लगे। प्राणि-समुदायके बढ़ने एवं लोकके गुरु आपके हर्षित होनेपर मैंने उस जलसे निकलकर प्रजाओंको देखा। उसके बाद अपने तेजसे उत्पन्न हुई उन प्रजाओंको देखकर भारी क्रोधसे भरकर मैंने लिङ्गको उखाड़कर फेंक दिया। तालाबके बीचमें फेंका गया वह (लिङ्ग) ऊपर स्थित हो गया। तभीसे वह (लिङ्ग) संसारमें 'स्थाणु' नामसे प्रसिद्ध हो गया। इस (लिङ्ग) का एक बार भी दर्शन करनेसे मनुष्य सभी पापोंसे छूटकर मोक्षपद प्राप्त कर लेता है, जहाँसे वह फिर नहीं लौटता। कृष्णाष्टमीके दिन मनको शान्त—समाहित कर इस तीर्थमें निवास करनेवाला व्यक्ति अगम्यागमनसे होनेवाले सभी पापोंसे छूट जाता है—ऐसा कहकर भगवान् महादेव वहीं अन्तर्हित हो गये ॥ ३१–३६ ॥

ब्रह्मा विशुद्धपापस्तु पूज्य देवं चतुर्मुखम्। लिङ्गानि देवदेवस्य ससृजे सरमध्यतः ॥ ३७ ॥
आद्यं ब्रह्मसरः पुण्यं हरिपार्श्वे प्रतिष्ठितम्। द्वितीयं ब्रह्मसदनं स्वकीये ह्याश्रमे कृतम् ॥ ३८ ॥
तस्यैव पूर्वदिग्भागे तृतीयं च प्रतिष्ठितम्। चतुर्थं ब्रह्मणा लिङ्गं सरस्वत्यास्तटे कृतम् ॥ ३९ ॥
एतानि ब्रह्मतीर्थानि पुण्यानि पावनानि च। ये पश्यन्ति निराहारास्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ४० ॥

पापके शोधन हो जानेके कारण ब्रह्माने भी चतुर्मुख महादेवका पूजन कर तालाबके बीचमें देवाधिदेव-(शिव)के लिङ्गोंकी सृष्टि की। पहले तो उन्होंने हरिकी बगलमें ब्रह्मसरको स्थापित किया और दूसरा अपने आश्रममें ब्रह्मसदनका निर्माण किया। उसीकी पूर्व दिशामें ब्रह्माने तृतीय लिङ्गको एवं सरस्वती नदीके तटपर चतुर्थ लिङ्गको प्रतिष्ठित किया। जो प्राणी उपवास-व्रतपूर्वक इन पवित्र और पापनाशक ब्रह्मतीर्थोंका दर्शन करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ३७-४० ॥

कृते युगे हरेः पार्श्वे त्रेतायां ब्रह्मणाश्रमे। द्वापरे तस्य पूर्वेण सरस्वत्यास्तटे कलौ ॥ ४१ ॥
एतानि पूजयित्वा च दृष्ट्वा भक्तिसमन्विताः। विमुक्ताः कलुषैः सर्वे प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ४२ ॥
सृष्टिकाले भगवता पूजितस्तु महेश्वरः। सरस्वत्युत्तरे तीरे नाम्ना ख्यातश्चतुर्मुखः ॥ ४३ ॥
तं प्रणम्य श्रद्धधानो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः। लोलार्कसंकरसम्भूतैस्तथा वैभाण्डसंकरैः ॥ ४४ ॥

सत्ययुगमें हरिकी बगलमें, त्रेतामें ब्रह्माके आश्रममें, द्वापरमें उसके पूर्व तथा कलिमें सरस्वतीके तटपर स्थित लिङ्गोंका भक्तिपूर्वक पूजन एवं दर्शन करनेसे मनुष्य सभी पापोंसे छूटकर परम गतिको प्राप्त करते हैं। सृष्टि करनेके समय सरस्वतीके उत्तरी तटपर भगवान् ब्रह्मासे अर्चित भगवान् महेश्वर चतुर्मुख नामसे विख्यात हुए। मनुष्य उनको श्रद्धाके साथ प्रणाम कर लोलासाङ्कर्य (चचलासे उत्पन्न वर्णसंकर) तथा वैभाण्डसाङ्कर्यसे उत्पन्न सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४१-४४ ॥

तथैव द्वापरे प्राप्ते स्वाश्रमे पूज्य शङ्करम्। विमुक्तो राजसैर्भावैर्वर्णसंकरसम्भवैः ॥ ४५ ॥
ततः कृष्णचतुर्दश्यां पूजयित्वा तु मानवः। विमुक्तः पातकैः सर्वैरभोज्यस्यान्नसम्भवैः ॥ ४६ ॥
कलिकाले तु संप्राप्ते वसिष्ठाश्रममास्थितः। चतुर्मुखं स्थापयित्वा ययौ सिद्धिमनुत्तमाम् ॥ ४७ ॥
तत्रापि ये निराहाराः श्रद्धधाना जितेन्द्रियाः। पूजयन्ति महादेवं ते यान्ति परमं पदम् ॥ ४८ ॥
इत्येतत् स्थाणुतीर्थस्य माहात्म्यं कीर्तितं तव। यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति मानवः ॥ ४९ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

उसी प्रकार द्वापरयुगके आनेपर अपने आश्रममें शङ्करका पूजन कर ब्रह्मा वर्णसाङ्कर्यसे उत्पन्न होनेवाले रजोगुणके भावोंसे मुक्त हुए। मनुष्य कृष्णचतुर्दशी तिथिमें वहाँ शङ्करजीका पूजन कर अभक्ष्य अन्नके भक्षण करनेसे होनेवाले समस्त पापोंसे विमुक्त हो जाता है। कलिकाल आनेपर वसिष्ठाश्रममें स्थित होकर ब्रह्माने चतुर्मुख (शङ्कर)की स्थापना की तथा उत्तम सिद्धि प्राप्त की। जो लोग वहाँ निराहार, श्रद्धायुक्त और जितेन्द्रिय होकर महादेवकी पूजा करेंगे वे परमपदको प्राप्त करेंगे। इस प्रकार मैंने आपसे स्थाणुतीर्थका माहात्म्य बताया, जिसे सुनकर मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४५-४९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उनचासवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

[अथ पञ्चाशत्तमोऽध्याय]

देवदेव उवाच

एवं पृथूदको देवा पुण्य पापभयापहः । तं गच्छध्वं महातीर्थं यावत् सनिधिसेविकम् ॥ १ ॥
यदा मृगशिरोऋक्षे शशिसूर्यौ बृहस्पति । तिष्ठन्ति सा तिथि पुण्या त्वक्षया परिगीयते ॥ २ ॥
त गच्छध्व सुरश्रेष्ठा यत्र प्राची सरस्वती । पितॄनाराधयध्वं हि तत्र श्राद्धेन भक्तित ॥ ३ ॥
ततो मुरारिवचनं श्रुत्वा देवाः सवासवा । समाजग्मुः कुरुक्षेत्रे पुण्यतीर्थं पृथूदकम् ॥ ४ ॥

पचासवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कुरुक्षेत्रके पृथूदक-तीर्थके सन्दर्भमें अक्षय तृतीयाके महत्त्वकी कथा)

देवदेव-(महादेव)ने कहा—देवताओ ! इस प्रकार पृथूदक-तीर्थ पाप-भयको नष्ट करनेवाला और पवित्र है । तुमलोग 'सन्निहित' तालाबतक (उस) स्थान (व्याप्त) होनेवाले महातीर्थमें जाओ । जिस तिथिमें चन्द्र, सूर्य एवं बृहस्पति—ये तीनों ग्रह मृगशिरा नक्षत्रमें स्थित होते हैं, उस पवित्र तिथिको 'अक्षया' तिथि कहते हैं । श्रेष्ठ देवताओ ! जहाँ सरस्वती नदी पूर्व दिशामें बह रही है, वहाँ जाकर भक्ति-श्रद्धासे श्राद्ध करके पितरोंकी आराधना करो । भगवान्का निर्देश सुनकर इन्द्रके सहित सभी देवता कुरुक्षेत्रमें विद्यमान पृथूदक नामवाले पवित्र तीर्थमें गये ॥ १–४ ॥

तत्र स्नात्वा सुरा सर्वे बृहस्पतिमचोदयन् ।
विशस्व भगवन् ऋक्षमिमं मृगशिरं गुरु । पुण्या तिथिं पापहरां तव कालोऽयमागतः ॥ ५ ॥
प्रवर्तते रविस्तत्र चन्द्रमाऽपि विशत्यसौ । त्वदायत्तं गुरो कार्यं सुराणां तद् कुरुष्व च ॥ ६ ॥
इत्येवमुक्तो देवैस्तु देवाचार्योऽब्रवीदिदम् ।
यदि वर्षाधिपोऽहं स्यां ततो यास्यामि देवता । बाढमूचुः सुराः सर्वे ततोऽसौ प्राक्रमन्मृगम् ॥ ७ ॥

वहाँ स्नान करके सभी देवताओंने बृहस्पतिसे कहा—भगवन् ! इस मृगशिरा नक्षत्रमें आप प्रविष्ट होकर पापविनाशिनी पवित्र तिथिका निर्माण (विधान) करें । आपका यह (निर्दिष्ट) समय आ गया है । सूर्य [illegible] हैं तथा चन्द्रमा भी उसमें प्रविष्ट हो रहे हैं । हे बृहस्पति ! देवताओंका कार्य आपके अधीन है, [illegible] करें । देवताओंके इस प्रकार कहनेपर देवोंके गुरु बृहस्पतिने यह कहा—देवताओ ! यदि मैं [illegible] बनूँ तो (मृगशिरा नक्षत्रपर) जाऊँगा । सभी देवोंने कहा—ठीक है । तब उन्होंने (बृहस्पतिने) मृगशिरा नक्षत्रमें प्रवेश किया ॥ ५–७ ॥

आषाढे मासि मार्गर्क्षे चन्द्रक्षयतिथिर्हि या । तस्यां पुरन्दरः प्रीतः पिण्डं पितृषु भक्तितः ॥ ८ ॥
प्रादात् तिलमधुमिश्रं हविष्यान्नं कुरुष्वथ । ततः प्रीतास्तु पितरस्तां प्राहुस्तनयां निजाम् ॥ ९ ॥
मेनां देवाश्च शैलाय हिमयुक्ताय वै ददुः ।
तां मेनां हिमवाँल्लब्ध्वा प्रसादाद् दैवतेष्वथ । प्रीतिमानभवच्चासौ रराम च यथेच्छया ॥ १० ॥
ततो हिमाद्रिः पितृकन्यया समं समर्पयन् वै विषयान् यथेष्टम् ।
अथाजनत् सा तनयाश्च तिस्रो रूपान्वितास्ता सुरयोषितोपमा ॥ ११ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

आषाढ़ महीनेके मृगशिरा नक्षत्रमें चन्द्रक्षय (अमावस्या) तिथिके आ जानेपर इन्द्रने प्रसन्न होकर कुरुक्षेत्रमें भक्तिके साथ पितरोंको तिल और मधुसे मिला हुआ हविष्यान्नका पिण्ड प्रदान किया । तब पितरोंने

देवोंको अपनी मेना नामकी कन्या दी। देवताओंने उसे हिमालयको सौंप दिया। देवोंके अनुग्रहसे उस मेनाको पाकर वे हिमवान् प्रसन्न हो गये और इच्छानुकूल विनोद विहारमें लग गये। हिमालय पितरोंद्वारा दी गयी उस कन्याके साथ दाम्पत्यसुखमें आसक्त हो गये। फिर उस मेनाने भी सुरनारियोंके समान अत्यन्त रूपवती तीन कन्याओंको उत्पन्न किया॥ ८–११॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचासवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ५०॥

[अथैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

मेनाया कन्यकास्तिस्रो जाता रूपगुणान्विताः। सुनाभ इति च ख्यातश्चतुर्थस्तनयोऽभवत्॥ १॥
रक्ताङ्गी रक्तनेत्रा च रक्ताम्बरविभूषिता। रागिणी नाम संजाता ज्येष्ठा मेनासुता मुने॥ २॥
शुभाङ्गी पद्मपत्राक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा। श्वेतमाल्याम्बरधरा कुटिला नाम चापरा॥ ३॥
नीलाञ्जनचयप्रख्या नीलेन्दीवरलोचना। रूपेणानुपमा काली जघन्या मेनकासुता॥ ४॥

इक्यावनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(मेनाकी तीन कन्याओंका जन्म, कुटिला और रागिणीको शाप, उमाकी तपस्या, शिवद्वारा उमाकी परीक्षा एवं मन्दराचलपर गमन)

पुलस्त्यजी बोले—मेनाको रूप और गुणोंसे सम्पन्न तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं और चौथा सुनाभ नामसे विख्यात पुत्र उत्पन्न हुआ। मुने! मेनाकी जेठी कन्या 'रागिणी' नामकी थी जो लाल अङ्गों तथा लाल आँखोंवाली थी। वह लाल वस्त्रोंसे सुशोभित रहती थी। दूसरी 'कुटिला' नामकी कन्या थी जो सुन्दर शरीरवाली, कमलदलनयना, नीले एवं घुँघराले बालोंवाली थी तथा उज्ज्वल माला और उज्ज्वल वस्त्र धारण किये रहती थी। मेनाकी तीसरी कन्याका नाम था 'काली'। उसका रंग नीले अञ्जनके ढेरके समान और आँखें नीले कमलके जैसी थीं। वह अत्यन्त सुन्दर थी॥ १–४॥

जातास्ताः कन्यकास्तिस्रः षडब्दात् परतो मुने। कर्तुं तपः प्रयातास्ता देवास्ता ददृशुः शुभाः॥ ५॥
ततो दिवाकरैः सर्वैर्वसुभिश्च तपस्विनी। कुटिला ब्रह्मलोकं तु नीता शशिकरप्रभा॥ ६॥
अथोचुर्देवताः सर्वाः किं त्वियं जनयिष्यति। पुत्रं महिषहन्तारं ब्रह्मन् व्याख्यातुमर्हसि॥ ७॥
ततोऽब्रवीत् सुरपतिर्नेयं शक्ता तपस्विनी। शार्वं धारयितुं तेजो वराकी मुच्यतां त्वियम्॥ ८॥

मुने! वे तीनों कन्याएँ जन्मसे छः वर्षके बाद तपस्या करने चली गयीं। देवताओंने उन सुन्दरी कन्याओंको देखा, फिर आदित्य तथा वसुगण चन्द्रमाकी किरणोंके समान कान्तिशाली तपस्विनी (मध्यमा कन्या) कुटिलाको ब्रह्मलोकमें ले गये। उसके बाद सभी देवताओंने ब्रह्मासे कहा कि ब्रह्मन्! आप बतलायें कि क्या यह कन्या महिषासुरको मारनेवाले पुत्रको जनेगी? तब सुरपतिने कहा—यह बेचारी तपस्विनी शिवका तेज धारण करनेमें समर्थ नहीं है, इसे छोड़ दो॥ ५–८॥

ततस्तु कुटिला क्रुद्धा ब्रह्माणं प्राह नारद। तथा यतिष्ये भगवन् यथा शार्वं सुदुर्धरम्॥ ९॥
धारयिष्याम्यहं तेजस्तथैव शृणु सत्तम। तपसाहं सुतप्तेन समाराध्य जनार्दनम्॥ १०॥
यथा हरस्य मूर्धानं नमयिष्ये पितामह। तथा देव करिष्यामि सत्यं सत्यं मयोदितम्॥ ११॥

नारद ! उसके बाद कुपित होकर कुटिलाने ब्रह्मासे कहा—भगवन् ! शङ्करके दुर्धरणीय तेजको मैं धारण कर सकूँ, मैं वैसा उपाय करूँगी। सत्तम ! आप सुनें, कठिनतर तपस्यासे जनार्दन भगवान्‌की उत्तम आराधना करके मैं उनके तेजको वैसे ही धारण करूँगी जिससे शङ्करका सिर नत कर दूँ। पितामह देव ! मैंने जो कहा है वह सत्य है, सत्य है, मैं वैसा ही करूँगी ॥ ९-११ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततः पितामहः क्रुद्धः कुटिलां प्राह दारुणाम्। भगवानादिकृद् ब्रह्मा सर्वेशोऽपि महामुने ॥ १२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—महामुने ! उसके बाद आदिकर्ता सबके उपास्य पितामह भगवान् ब्रह्माने उस स्वभाववाली कुटिलासे कुपित होकर कहा—॥ १२ ॥

ब्रह्मोवाच

यस्मान्मद्वचनं पापे न क्षान्तं कुटिले त्वया। तस्मान्मच्छापनिर्दग्धा सर्वा आपो भविष्यसि ॥ १३ ॥
इत्येवं ब्रह्मणा शप्ता हिमवद्दुहिता मुने। आपोमया ब्रह्मलोकं प्लावयामास वेगिनी ॥ १४ ॥
तामुद्वृत्तजलां दृष्ट्वा प्रबबन्ध पितामहः। ऋक्सामाथर्वयजुभिर्वाङ्मयैर्बन्धनैर्दृढम् ॥ १५ ॥
सा बद्धा संस्थिता ब्रह्मन् तत्रैव गिरिकन्यका। आपोमयी प्लावयन्ती ब्रह्मणो विमला जटा ॥ १६ ॥

ब्रह्माने कहा—पापिनी कुटिले ! जिस कारण तुमने मेरे वचनको सहन नहीं किया, उसी कारण मेरे शापसे तुम निर्दग्ध होकर पूर्णतः जलमयी हो जाओगी। मुने ! इस प्रकार ब्रह्मासे अभिशप्त हिमालय-पुत्री (कुटिला) जलमयी होकर (अपने) वेगसे ब्रह्मलोकको जलसे आप्लावित करने लगी। पितामहने उसके उमड़कर बहते हुए जलकी धाराको देखकर ऋक्, साम, अथर्व और यजुर्की स्तुतियोंका पाठ करके उसे स्तुतिद्वारा दृढतापूर्वक बाँध दिया। ब्रह्मन् ! जलमयी वह पर्वतपुत्री ब्रह्माकी विमल जटाको भिगोती हुई वहीं बद्ध (अवरुद्ध) हो गयी ॥ १३-१६ ॥

या सा रागवती नाम सापि नीता सुरैर्दिवम्। ब्रह्मणे तां निवेद्यैव तामप्याह प्रजापतिः ॥ १७ ॥
सापि क्रुद्धाऽब्रवीन्नूनं तथा तप्स्ये महत्तपः। यथा मन्नामसंयुक्तो महिषघ्नो भविष्यति ॥ १८ ॥
तामप्यथाशपद् ब्रह्मा सन्ध्या पापे भविष्यसि। या मद्वाक्यमलङ्घ्यं वै सुरैर्लङ्घयसे बलात् ॥ १९ ॥
सापि जाता मुनिश्रेष्ठ सन्ध्या रागवती ततः। प्रतीच्छत् कृत्तिकायोगं शैलेयी विग्रहं दृढम् ॥ २० ॥

जो रागवती (रागिणी) नामवाली थी उसे भी देवगण स्वर्गमें ले गये और उन्होंने ब्रह्माको उसे समर्पित कर दिया। उससे भी ब्रह्माने उसी प्रकार कहा। उसने भी क्रुद्ध होकर कहा—मैं निश्चय ही ऐसी कठिन तपस्या करूँगी, जिससे मेरे नामसे सम्बद्ध पुत्र महिषको मारनेवाला होगा। ब्रह्माने उसे भी शाप दिया—पापे ! देवोंसे भी अनुल्लङ्घ्य मेरे वचनको अहङ्कारवश न माननेसे तुम 'सन्ध्या' हो जाओगी। मुनिश्रेष्ठ ! उसके बाद वह शैलतनया रागवती भी सन्ध्या हो गयी और स्वस्थ शरीर धारण कर कृत्तिकायोगकी प्रतीक्षा करने लगी ॥ १७-२० ॥

ततो गते कन्यके द्वे ज्ञात्वा मेना तपस्विनी। तपसो वारयामास उमेत्येवाब्रवीच्च सा ॥ २१ ॥
तदेव माता नामास्याश्चक्रे पितृसुता शुभा। उमेत्येव हि कन्यायाः सा जगाम तपोवनम् ॥ २२ ॥
ततः सा मनसा देवं शूलपाणिं वृषध्वजम्। रुद्रं चेतसि सन्धाय तपस्तेपे सुदुष्करम् ॥ २३ ॥
ततो ब्रह्माऽब्रवीद् देवान् गच्छध्वं हिमवत्सुताम्। इहानयध्वं तां कालीं तपस्यन्तीं हिमालये ॥ २४ ॥

(इस प्रकार) दो कन्याओंको नष्ट हुई जानकर तपस्विनी मेनाने (तृतीय कन्या पार्वतीको) तपस्या करनेसे रोका। उसने 'उ' 'मा' ऐसा कहा। पितरोंकी पुत्री कल्याणमयी माता-(मेना)ने कन्याका यही 'उमा' नाम रख दिया। उमा भी तपोवनमें चली गयी। उसके बाद उसने मनमें शूलपाणि वृषध्वज रुद्रका ध्यान कर

कठिन तपस्या की। फिर ब्रह्माने देवताओंसे कहा—देवताओ! तुमलोग हिमालयपर तप करती हुई हिमालयकी पुत्री कालीके पास जाओ और उसे यहाँ लिवा लाओ ॥ २१–२४ ॥

ततो देवाः समाजग्मुर्ददृशुः शैलनन्दिनीम्। तेजसा विजितास्तस्या न शेकुरुपसर्पितुम् ॥ २५ ॥
इन्द्रोऽमरगणैः सार्धं निर्धूतस्तेजसा तया। ब्रह्मणोऽधिकतेजोऽस्या विनिवेद्य प्रतिष्ठितः ॥ २६ ॥
ततो ब्रह्माऽब्रवीत् सा हि ध्रुवं शङ्करवल्लभा। यूयं यत्तेजसा नूनं विक्षिप्तास्तु हतप्रभाः ॥ २७ ॥
तस्माद् भजध्वं स्वं स्वं हि स्थानं भो विगतज्वराः। सतारकं हि महिषं विद्ध्वं निहतं रणे ॥ २८ ॥

उसके बाद देवगण (हिमालयपर) आये और (उन लोगोंने) शैलनन्दिनीको देखा। परंतु उसके तेजसे व्यग्र (व्याकुल) हो जानेके कारण वे उसके निकट न जा सके। देवताओंके साथ इन्द्र भी उसके तेजसे कान्तिहीन से हो गये। वे ब्रह्मासे उसके तेजका आधिक्य बतलाकर खड़े हो गये। उसके बाद ब्रह्माने कहा—यह निश्चय ही शङ्करकी पत्नी होगी, क्योंकि इसके तेजसे तुम सब आकुल और प्रभाहीन हो गये हो। अतः देवताओ! तुम लोग चिन्ता छोड़कर अपने-अपने स्थानको जाओ। अब समझ लो कि युद्धमें तारकके साथ महिष मारा (ही) गया ॥ २५–२८ ॥

इत्येवमुक्ता देवेन ब्रह्मणा सेन्द्रकाः सुराः। जग्मुः स्वान्येव धिष्ण्यानि सद्यो वै विगतज्वराः ॥ २९ ॥
उमामपि तपस्यन्तीं हिमवान् पर्वतेश्वरः। निवर्त्य तपसस्तस्मात् सदारो ह्यनयद्गृहान् ॥ ३० ॥
देवोऽप्याश्रित्य तद्रौद्रं व्रतं नाम्ना निराश्रयम्। विचचार महाशैलान् मेरुप्राग्र्यान् महामतिः ॥ ३१ ॥
स कदाचिन्महाशैलं हिमवन्तं समागतः। तेनार्चितः श्रद्धयाऽसौ तां रात्रिमवसद्धरः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माने जब इन्द्रके साथ सभी देवताओंसे कहा तब देवगण चिन्तारहित होकर उसी समय अपने अपने स्थानपर चले गये। फिर पत्नीसहित पर्वतराज हिमवान् तपश्चर्यामें लगी हुई उमाको भी उस तपश्चर्यासे हटाकर उसे घर ले आये। महाज्ञानी महादेव भी निराश्रय नामक उस कठिन (रौद्र) व्रतका आश्रय लेकर मेरु आदि बड़े-बड़े पर्वतोंपर भ्रमण करने लगे। वे कभी पर्वतराज हिमाचलपर गये। हिमालयने उनकी श्रद्धासे पूजा की। उस रात उन्होंने वहीं निवास किया ॥ २९–३२ ॥

द्वितीयेऽह्नि गिरीशेन महादेवो निमन्त्रितः। इहैव तिष्ठस्व विभो तपःसाधनकारणात् ॥ ३३ ॥
इत्येवमुक्तो गिरिणा हरश्चक्रे मतिं च ताम्। तस्यावाश्रममाश्रित्य त्यक्त्वा वासं निराश्रयम् ॥ ३४ ॥
वसतोऽप्याश्रमे तस्य देवदेवस्य शूलिनः। न देशमगमत् काली गिरिराजसुता शुभा ॥ ३५ ॥
तामागतां हरो दृष्ट्वा भूयो जातां प्रियां सतीम्। स्वागतेनाभिसम्पूज्य तस्थौ योगरतो हरः ॥ ३६ ॥

दूसरे दिन पर्वतराज (हिमालय)ने महादेवको निमन्त्रित किया (और) कहा—हे प्रभो! आप तपस्या करनेके लिये यहीं रहें। हिमालयके इस प्रकार कहनेपर शङ्करने भी यही विचार किया और बिना घरका रहना छोड़कर आश्रममें रहने लगे। देवाधिदेव त्रिशूलधारी शङ्करके आश्रममें रहनेपर गिरिराजकी कल्याणी कन्या काली उस स्थानपर आयी। अपनी प्रिया सतीको पुनः हिमतनया उमाके रूपमें उत्पन्न हुई और (अपने) सामने आयी देखकर शङ्करने उनका अभिवादन तो किया, पर वे फिर योगमें लीन हो गये ॥ ३३–३६ ॥

सा चाभ्येत्य वरारोहा कृताञ्जलिपरिग्रहा। ववन्दे चरणौ शैवौ सखीभिः सह भामिनी ॥ ३७ ॥
ततस्तु सुचिराच्छर्वः समीक्ष्य गिरिकन्यकाम्। न युक्तं चैवमुक्त्वाऽथ सगणोऽन्तर्दधे ततः ॥ ३८ ॥
साऽपि शर्ववचो रौद्रं श्रुत्वा ज्ञानसमन्विता। अन्तर्दुःखेन दह्यन्ती पितरं प्राह पार्वती ॥ ३९ ॥
तात यास्ये महारण्ये तप्तुं घोरं महत्तपः। आराधनाय देवस्य शङ्करस्य पिनाकिनः ॥ ४० ॥

सुन्दर शरीरवाली हिमसुताने वहाँ जानेके बाद दोनों हाथ जोड़कर सहेलियोंके साथ शिवके चरणोंमें अभिवादन (प्रणाम) किया। उसके बाद शङ्करने देरतक गिरिकन्याको देखा और कहा—यह उचित नहीं है। ऐसा कहकर शङ्कर अपने गणोंके साथ तिरोहित हो गये (छिप गये)। मद उत्पन्न करनेवाले शङ्करके वचनको सुनकर आन्तरिक दुःखसे जलती हुई ज्ञानिनी उन पार्वतीने भी अपने पितासे कहा—तात! त्रिशूल धारण करनेवाले शङ्करदेवकी आराधना एवं उत्कृष्ट तथा महान् तप करनेके लिये मैं निकल जाऊँगी ॥ ३७–४० ॥

तथेत्युक्ता च पित्रा पादे तस्यैव विस्तृते। ललिताख्या तपस्तेपे हराराधनकाम्यया ॥ ४१ ॥
तस्याः सख्यस्तदा देव्याः परिचर्यां तु कुर्वते। समित्कुशफलं चापि मूलाहरणमादिताः ॥ ४२ ॥
विनोदनार्थं पार्वत्या मृन्मयः शूलधृग् हरः। कृतस्तु तेजसा युक्तो भद्रमस्त्विति साऽब्रवीत् ॥ ४३ ॥
पूजां करोति तस्यैव तं पश्यति मुहुर्मुहुः। ततोऽस्यास्तुष्टिमगमच्छ्रद्धया त्रिपुरान्तकृत् ॥ ४४ ॥

पिताने कहा—ठीक है। उसके बाद शङ्करकी आराधनाकी इच्छासे ललिता (पार्वती) उसी (हिमालय) पर्वतकी विस्तृत तलहटीमें तप करने लगीं। उस समय उनकी सहचरियाँ समिधा, कुश, फल, मूल आदि लाकर देवीकी सेवा करने लगीं। (उन सहचरियोंने) पार्वतीके विनोदके लिये तेजस्वी त्रिशूलधारी शङ्करकी मिट्टीकी मूर्ति बनायी। पार्वतीने भी कहा—सखियो! ठीक है। (फिर तो) वे (पार्वतीजी) उसी मूर्तिकी पूजा करती और बार-बार उसे निहारती रहती थीं। उसके बाद उनकी श्रद्धासे त्रिपुरासुरको मारनेवाले शङ्कर प्रसन्न हो गये ॥ ४१–४४ ॥

बटुरूपं समाधाय आषाढी मुञ्जमेखली। यज्ञोपवीती छत्री च मृगाजिनधरस्तथा ॥ ४५ ॥
कमण्डलुव्यग्रकरो भस्मारुणितविग्रहः। प्रत्याश्रमं पर्यटन् स तं काल्याश्रममागतः ॥ ४६ ॥
तमुत्थाय तदा काली सखीभिः सह नारद। पूजयित्वा यथान्यायं पर्यपृच्छदिदं ततः ॥ ४७ ॥

उसके बाद पलाशका दण्ड, मुञ्जकी मेखला, यज्ञोपवीत, छत्र एवं मृगचर्म, हाथमें कमण्डलु लिये एवं शरीरमें भस्म रमाये हुए वे (शङ्कर) बटुके रूपमें एक एक आश्रममें घूमते हुए कालीके आश्रममें पहुँचे। नारद! उसके बाद सहचरियोंके साथ कालीने (उनका) प्रत्युत्थान किया और यथोचित पूजन कर उनसे यह पूछा— ॥ ४५–४७ ॥

उमोवाच

कस्मादागम्यते भिक्षो कुत्र स्थाने तवाश्रमः। क्व च त्वं प्रतिगन्तासि मम शीघ्रं निवेदय ॥ ४८ ॥

उमाने कहा (पूछा)—अये भिक्षुक! आप शीघ्र मुझे बतलायें कि आप कहाँसे आ रहे हैं? आपका आश्रम कहाँ है एवं आप कहाँ जायँगे? ॥ ४८ ॥

भिक्षुरुवाच

ममाश्रमपदं बाले वाराणस्यां शुचिव्रते। अथातस्तीर्थयात्रायां गमिष्यामि पृथूदकम् ॥ ४९ ॥

भिक्षुने कहा—पवित्र व्रतवाली बाले! मेरा आश्रम वाराणसीमें है। अब मैं यहाँसे तीर्थयात्रामें पृथूदक जाऊँगा ॥ ४९ ॥

देव्युवाच

किं पुण्यं तत्र विप्रेन्द्र लब्धासि त्वं पृथूदके। पथि स्नानेन च फलं केषु किं लब्धवानसि ॥ ५० ॥

देवीने कहा—विप्रेन्द्र! पृथूदकतीर्थमें आपको कौन-सा पुण्य प्राप्त होगा? मार्गमें किन-किन तीर्थोंमें स्नान करनेसे आप कौन-कौन-सा फल प्राप्त कर चुके हैं? ॥ ५० ॥

भिक्षुरुवाच

मया स्नानं प्रयागे तु कृतं प्रथममेव हि। ततोऽथ तीर्थे कुब्जाम्रे जयन्ते चण्डिकेश्वरे ॥ ५१ ॥
बन्धुवृन्दे च कर्कन्धे तीर्थे कनखले तथा। सरस्वत्यामग्निकुण्डे भद्रायां तु त्रिविष्टपे ॥ ५२ ॥
कोनटे कोटितीर्थे च कुब्जके च कृशोदरि। निष्कामेन कृतं स्नानं ततोऽस्म्यागाः तवाश्रमम् ॥ ५३ ॥
इहस्थां त्वां समाभाष्य गमिष्यामि पृथूदकम्। पृच्छामि यदहं त्वां वै तत्र न क्रोद्धुमर्हसि ॥ ५४ ॥

भिक्षुने कहा—कृशोदरि ! मैंने पहले प्रयागमें स्नान किया, उसके बाद कुब्जाम्र, जयन्त, चण्डिकेश्वर, बन्धुवृन्द, कर्कन्ध, कनखलतीर्थ, सरस्वती, अग्निकुण्ड, भद्रा, त्रिविष्टप, कोनट, कोटितीर्थ और कुब्जकमें निष्काम भावसे स्नान कर मैं तुम्हारे आश्रममें आया हूँ। यहाँपर स्थित रहनेवाली तुमसे बात करनेके बाद मैं पृथूदक तीर्थमें जाऊँगा। मैं तुमसे जो कुछ पूछता हूँ, उसपर क्रोध न करना ॥ ५१–५४ ॥

अहं यत्तपसात्मानं शोषयामि कृशोदरि। बाल्येऽपि संयततनुस्तत्तु श्लाघ्यं द्विजन्मनाम् ॥ ५५ ॥
किमर्थं भवती रौद्रं प्रथमे वयसि स्थिता। तपः समाश्रिता भीरु संशयः प्रतिभाति मे ॥ ५६ ॥
प्रथमे वयसि स्त्रीणां सह भर्त्रा विलासिनि। सुभोगा भोगिताः काले व्रजन्ति स्थिरयौवने ॥ ५७ ॥
तपसा वाञ्छयन्तीह गिरिजे सचराचराः। रूपाभिजनमैश्वर्यं तच्च ते विद्यते बहु ॥ ५८ ॥
तत् किमर्थमपास्यैतानलङ्कारान् जटा धृता। चीनांशुकं परित्यज्य किं त्वं वल्कलधारिणी ॥ ५९ ॥

कृशोदरि ! मैं बचपनमें भी शरीरको संयत कर तपस्यासे जो अपनेको सुखा रहा हूँ वह तो ब्राह्मणोंके लिये प्रशंसनीय है। परंतु भीरु ! तुम इस प्रथम अवस्थामें ही क्यों उग्र तप कर रही हो ? (इसमें मुझे) शङ्का हो रही है। अयि स्थिरयौवने ! अयि विलासिनि ! प्रथम अवस्थामें स्त्रियाँ पतिके साथ सुन्दर भोगोंका भोग करती हैं। पर्वतपुत्रि ! चर और अचर सभी प्राणी तपस्यासे संसारमें रूप, उत्तम कुल और सम्पत्ति चाहते हैं, सो तो तुम्हें अधिक-से-अधिक मात्रामें उपलब्ध हैं ही, फिर सौन्दर्य-साधनोंको छोड़कर तुमने जटा क्यों धारण कर ली है ? तुमने रेशमी वस्त्र छोड़कर वल्कल क्यों पहन लिया है ? ॥ ५५–५९ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततस्तु तपसा वृद्धा देव्याः सोमप्रभा सखी। भिक्षवे कथयामास यथावत् सा हि नारद ॥ ६० ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारद ! उसके बाद तपस्यामें बढ़ी हुई पार्वतीकी सोमप्रभा नामकी सहचरीने उन भिक्षुसे वस्तुस्थिति कही ॥ ६० ॥

सोमप्रभोवाच

तपश्चर्यां द्विजश्रेष्ठ पार्वत्या येन हेतुना। तं शृणुष्व त्वियं कालीं हरं भर्तारमिच्छति ॥ ६१ ॥

सोमप्रभाने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! पार्वती जिस हेतुसे तपस्या कर रही हैं, उसे सुनिये। ये काली (तपस्याके बलसे) शिवको अपना पति बनाना चाहती हैं ॥ ६१ ॥

पुलस्त्य उवाच

सोमप्रभाया वचनं श्रुत्वा संकम्प्य वै शिरः। विहस्य च महाहासं भिक्षुराह वचस्त्विदम् ॥ ६२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—सोमप्रभाकी बात सुनकर भिक्षुने सिर हिलाते हुए बड़े जोरसे हँसकर यह वचन कहा—॥ ६२ ॥

भिक्षुरुवाच

वदामि ते पार्वति वाक्यमेकं केन प्रदत्ता तव बुद्धिरेषा।
कथं करः पल्लवकोमलस्ते समेष्यते शार्वकरं ससर्पम्॥ ६३॥
तथा दुकूलाम्बरशालिनी त्वं मृगारिचर्माभिवृतस्तु रुद्रः।
त्वं चन्दनाक्ता स च भस्मभूषितो न युक्तरूपं प्रतिभाति मे त्विदम्॥ ६४॥

भिक्षुकने कहा—पार्वति! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, तुमको यह बुद्धि किसने दी? पल्लवके समान तुम्हारा कोमल कर शङ्करके सर्पयुक्त हाथसे कैसे मिलेगा? कहाँ तुम सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाली और कहाँ व्याघ्रचर्म धारण करनेवाले वे रुद्र! कहाँ तुम चन्दनसे चर्चित और कहाँ भस्मसे भूषित शङ्कर! अतः मुझे यह मेल अनुरूप नहीं प्रतीत होता॥ ६३-६४॥

पुलस्त्य उवाच

एवं वादिनि विप्रेन्द्र पार्वती भिक्षुमब्रवीत्। मा मैवं वद भिक्षो त्वं हरः सर्वगुणाधिकः॥ ६५॥
शिवो वाप्यथवा भीमः सधनो निर्धनोऽपि वा। अलंकृतो वा देवेशस्तथा वाप्यनलंकृतः॥ ६६॥
यादृशस्तादृशो वापि स मे नाथो भविष्यति।
निवार्यतामयं भिक्षुर्विवक्षुः स्फुरिताधरः। न तथा निन्दकः पापी यथा शृण्वञ्छशिप्रभे॥ ६७॥

पुलस्त्यजी बोले—विप्रेन्द्र! भिक्षुकके इस प्रकार कहनेपर पार्वतीने उससे कहा—भिक्षुक! तुम ऐसी बात मत बोलो। शङ्कर सब गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। वे देवेश चाहे मङ्गलमूर्ति हों या भयङ्कर रूप, धनी हों या निर्धन तथा अलङ्कार-सम्पन्न हों अथवा अलङ्कार-विहीन—वे जैसे-तैसे ही क्यों न हों—पर वे ही मेरे स्वामी होंगे। (सहचरीको निर्देश कर) शशिप्रभे! इसे (भिक्षुकको) मना करो। यह पुनः कुछ कहना चाहता है; क्योंकि इसके ओठ फड़क रहे हैं। सखी, निन्दा करनेवाला व्यक्ति वैसा पापी नहीं होता जैसा कि निन्दाको सुननेवाला होता है॥ ६५-६७॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वरदा समुत्थातुमथैच्छत। ततोऽत्यजद् भिक्षुरूपं स्वरूपस्थोऽभवच्छिवः॥ ६८॥
भूत्वोवाच प्रिये गच्छ स्वमेव भवनं पितुः। तवार्थाय प्रहेष्यामि महर्षीन् हिमवद्गृहे॥ ६९॥
यच्चेदं रुद्रमाहात्म्या मृगयद्रम्भेश्वरं कृतम्। असौ भद्रेश्वरेत्येव ख्यातो लोके भविष्यति॥ ७०॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षाः किंपुरुषोरगाः। पूजयिष्यन्ति मनुजा मानवाश्च शुभेप्सवः॥ ७१॥

पुलस्त्यजी (पुनः) बोले—इस प्रकार कहकर वरदायिनी पार्वती (ज्यों ही) वहाँसे उठकर जाना चाहीं त्यों ही शङ्कर (बनावटी) भिक्षुरूपका त्याग कर अपने वास्तविक रूपमें हो गये। वे अपने वास्तविक रूपमें आकर बोले—प्रिये! अपने गृह जाओ। मैं हिमवान्‌के घर तुम्हारे लिये महर्षियोंको भेजूँगा। रुद्रकी कामना करनेवाली तुमने यहाँ जिस पार्थिव रूपको ईश्वर माना है, वे संसारमें भद्रेश्वर नामसे प्रसिद्ध होंगे। देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, किंनर, उरग एवं मनुष्य जो भी कल्याणकी कामना करनेवाले होंगे, वे सभी उनकी पूजा करेंगे॥ ६८-७१॥

इत्येवमुक्ता देवेन गिरिजा गरुणा मुने। जगामाम्बरमाविश्य स्वमेव भवनं पितुः॥ ७२॥
शङ्करोऽपि महातेजा विसृज्य गिरिकन्यकाम्। पृथूदकं जगामाथ स्नातुं पर्वे विधानतः॥ ७३॥
गत्वा तु नयवर्पो महेश्वरः पृथूदके स्नानमथाचकल्पत्।
ययौ सनन्दिः सगणः सवाहनो महागिरिं मन्दरमाजगाम॥ ७४॥

आयाति त्रिपुरान्तके सह गणैर्ब्रह्मर्षिभिः सप्तभिरागेहत्पुलको बभौ गिरिवरः सद्यप्रचित्त क्षणात्।
चक्रे दिव्यफलैर्जलेन शुचिना मूलैश्च कन्दादिभिः पूजा सर्वगणेश्वरैः सह विभोरद्रिस्त्रिनेत्रस्य तु ॥ ७१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

मुने ! शङ्करके इस प्रकार कहनेपर हिमालय-पुत्री पार्वतीजी आकाशमार्गसे अपने पिताके घर चली गयीं। महातेजस्वी शङ्कर भी पर्वतराजकी कन्याको विदाकर पृथूदक नामके तीर्थमें चले गये और वहाँ जाकर उन्होंने यथाविधि स्नान किया। उसके बाद देवोंमें प्रधान महेश्वर पृथूदक-तीर्थमें स्नान करके पापसे विमुक्त होकर नन्दी, गणों एवं वाहनके सहित महान् मन्दर गिरिपर आ गये। सात ब्रह्मर्षियों (सप्तर्षियों) तथा अपने गणोंके साथ त्रिपुरासुरको मारनेवाले शङ्करके आ जानेपर पर्वतश्रेष्ठ मन्दर क्षणभरमें ही प्रसन्नचित्त हो गया। पर्वतराजने दिव्य फलों, मूलों, कन्दों एवं पवित्र जलसे समस्त गणेश्वरोंके साथ भगवान् शङ्करकी पूजा की ॥ ७२–७५ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

[अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः सम्पूजितो रुद्रः शैलेन प्रीतिमानभूत्। सस्मार च महर्षींस्तु अरुन्धत्या समं ततः ॥ १ ॥
ते संस्मृतास्तु ऋषयः शङ्करेण महात्मना। समाजग्मुर्महाशैलं मन्दरं चारुकन्दरम् ॥ २ ॥
तानागतान् समीक्ष्यैव देवस्त्रिपुरनाशनः। अभ्युत्थायाभिपूज्यैतानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
धन्योऽयं पर्वतश्रेष्ठः श्लाघ्यः पूज्यश्च दैवतैः। धूतपापस्तथा जातो भवतां पादपङ्कजैः ॥ ४ ॥
स्थीयतां विस्तृते रम्ये गिरिप्रस्थे समे शुभे। शिलासु पद्मवर्णासु श्लक्ष्णासु च मृदुष्वपि ॥ ५ ॥

बावनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(शिवजीका महर्षियोंको स्मृतकर उन्हें हिमवान्‌के यहाँ भेजना, महर्षियोंका हिमवान्‌से शिवके लिये उमाकी याचना, हिमालयकी स्वीकृति और सप्तर्षियोंद्वारा शिवको स्वीकृति सूचना)

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद पर्वतद्वारा सम्यक् रूपसे पूजित होकर भगवान् रुद्र बहुत प्रसन्न हुए। उसके बाद शङ्करने अरुन्धतीसहित सात महर्षियोंका स्मरण किया। महात्मा शङ्करके द्वारा स्मृत किये गये वे ऋषिगण सुन्दर कन्दराओंवाले महान् शैल मन्दरपर आ गये। उन-(ऋषियों)को आये हुए देखकर त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले महादेवने अभ्युत्थानकर उनका पूजन किया, फिर यह वचन कहा—प्रभो ! यह पर्वतश्रेष्ठ देवताओंद्वारा प्रशंसनीय एवं पूजनीय होनेसे धन्य है, (और आज यह) आपके चरणकमलोंकी अनुकम्पासे निष्पाप हो गया। अब आपलोग इस विस्तृत, सम, रम्य तथा शुभ पर्वतशिखरपर बैठें। इसकी शिला कमल-वर्णकी तथा चिकनी एवं कोमल है ॥ १–५ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ता देवेन शङ्करेण महर्षयः। सममेव त्वरुन्धत्या विविशुः शैलसानुनि ॥ ६ ॥
उपविष्टेषु ऋषिषु नन्दी देवगणाग्रणीः। अर्घ्यादिना समभ्यर्च्य स्थितः प्रयतमानसः ॥ ७ ॥
ततोऽब्रवीत् सुरपतिर्धर्म्यं वाक्यं हितं सुरान्। आत्मनो यत्तसो मुदये सप्तर्षीन् विनयान्वितान् ॥ ८ ॥

भिक्षुरुवाच

वदामि ते पार्वति वाक्यमेव येन प्रदत्ता तव बुद्धिरेषा।
कथं करः पल्लवकोमलस्ते समेष्यते शार्वकरं ससर्पम्॥ ६३॥
तथा दुकूलाम्बरशालिनी त्वं मृगारिचर्माभिवृतस्तु रुद्रः।
त्वं चन्दनाक्ता स च भस्मभूषितो न युक्तरूपं प्रतिभाति मे त्विदम्॥ ६४॥

भिक्षुकने कहा—पार्वति! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, तुमको यह बुद्धि किसने दी? पल्लवके समान तुम्हारा कोमल कर शङ्करके सर्पयुक्त हाथसे कैसे मिलेगा? कहाँ तुम सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाली और कहाँ व्याघ्रचर्म धारण करनेवाले ये रुद्र! कहाँ तुम चन्दनसे चर्चित और कहाँ भस्मसे भूषित शङ्कर! अतः मुझे यह मेल अनुरूप नहीं प्रतीत होता॥ ६३-६४॥

पुलस्त्य उवाच

एवं वादिनि विप्रेन्द्र पार्वती भिक्षुमब्रवीत्। मा मैवं वद भिक्षो त्वं हरः सर्वगुणाधिकः॥ ६५॥
शिवो वाप्यथवा भीमः सधनो निर्धनोऽपि वा। अलंकृतो वा देवेशस्तथा वाप्यनलङ्कृतः॥ ६६॥
यादृशस्तादृशो वापि स मे नाथो भविष्यति।
निवार्यतामयं भिक्षुर्विवक्षुः स्फुरिताधरः। न तथा निन्दकः पापी यथा श्रृण्वञ्शशिप्रभे॥ ६७॥

पुलस्त्यजी बोले—विप्रेन्द्र! भिक्षुकके इस प्रकार कहनेपर पार्वतीने उससे कहा—भिक्षुक! तुम ऐसी बात मत बोलो। शङ्कर सब गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। वे देवेश चाहे मङ्गलमूर्ति हों या भयङ्कर रूप, धनी हों या निर्धन तथा अलङ्कार-सम्पन्न हों अथवा अलङ्कार विहीन—वे जैसे-तैसे ही क्यों न हों—पर वे ही मेरे स्वामी होंगे। (सहचरीको निर्देश कर) शशिप्रभे! इसे (भिक्षुकको) मना करो। यह पुनः कुछ कहना चाहता है, क्योंकि इसके ओठ फड़क रहे हैं। देखो, निन्दा करनेवाला व्यक्ति वैसा पापी नहीं होता जैसा कि निन्दाको सुननेवाला होता है॥ ६५-६७॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वरदा समुत्थातुमथैच्छत। ततोऽत्यजद् भिक्षुरूपं स्वरूपस्थोऽभवच्छिवः॥ ६८॥
भूत्वोवाच प्रिये गच्छ स्वमेव भवनं पितुः। तवार्थाय प्रहेष्यामि महर्षीन् हिमवद्गृहे॥ ६९॥
यच्चेह रुद्रमीहन्त्या मृण्मयस्त्वीश्वरः कृतः। असौ भद्रेश्वरेत्येवं ख्यातो लोके भविष्यति॥ ७०॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षाः किंपुरुषोरगाः। पूजयिष्यन्ति सततं मानवाश्च शुभेप्सवः॥ ७१॥

पुलस्त्यजी (पुनः) बोले—इस प्रकार कहकर वरदायिनी पार्वतीने (ज्योंही) वहाँसे उठकर जाना चाहा त्योंही शङ्कर (बनावटी) भिक्षुरूपको छोड़कर अपने वास्तविक रूपमें हो गये। वे अपने वास्तविक रूपमें आनेपर बोले—प्रिये! अपने गृह जाओ। मैं हिमवान्‌के घर तुम्हारे लिये महर्षियोंको भेजूँगा। रुद्रकी कामना करनेवाली तुमने यहाँ जिस पार्थिव रूपको ईश्वर माना है, वे संसारमें भद्रेश्वर नामसे प्रसिद्ध होंगे। देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, उरग एवं मनुष्य जो भी कल्याणकी कामना करनेवाले होंगे, वे सदा उनकी पूजा करेंगे॥ ६८-७१॥

इत्येवमुक्ता देवेन गिरिराजसुता मुने। जगामाम्बरमाविश्य स्वमेव भवनं पितुः॥ ७२॥
शङ्करोऽपि महातेजा विसृज्य गिरिकन्यकाम्। पृथूदकं जगामाथ स्नानं चक्रे विधानतः॥ ७३॥
ततस्तु देवप्रवरो महेश्वरः पृथूदके स्नानमपास्तकल्मषः।
कृत्वा सनन्दिः सगणः सवाहनो महागिरिं मन्दरमाजगाम॥ ७४॥

आयाति त्रिपुरान्तके सह गणैर्ब्रह्मर्षिभिः सप्तभिरारोहत्पुलको बभौ गिरिवरः सहृष्टचित्तः क्षणात्।
चक्रे दिव्यफलैर्जलेन शुचिना मूलैश्च कन्दादिभिः पूजां सर्वगणेश्वरैः सह विभोरद्रिस्त्रिनेत्रस्य तु ॥ ७१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

मुने! शङ्करके इस प्रकार कहनेपर हिमालय-पुत्री पार्वतीजी आकाशमार्गसे अपने पिताके घर चली गयीं। महातेजस्वी शङ्कर भी पर्वतराजकी कन्याको विदाकर पृथूदक नामक तीर्थमें चले गये और वहाँ जाकर उन्होंने यथाविधि स्नान किया। उसके बाद देवोंमें प्रधान महेश्वर पृथूदक-तीर्थमें स्नान करके पापसे विमुक्त होकर नन्दी, गणों एवं वाहनके सहित महान् मन्दर गिरिपर आ गये। सात ब्रह्मर्षियों (सप्तर्षियों) तथा अपने गणोंके साथ त्रिपुरासुरको मारनेवाले शङ्करके आ जानेपर पर्वतश्रेष्ठ मन्दर क्षणभरमें ही प्रसन्नचित्त हो गया। पर्वतराजने दिव्य फलों, मूलों, कन्दों एवं पवित्र जलसे समस्त गणेश्वरोंके साथ भगवान् शङ्करकी पूजा की ॥ ७२–७५ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

[अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः सम्पूजितो रुद्रः शैलेन प्रीतिमानभूत्। सस्मार च महर्षींस्तु अरुन्धत्या समं ततः ॥ १ ॥
ते संस्मृतास्तु ऋषयः शङ्करेण महात्मना। समाजग्मुर्महाशैलं मन्दरं चारुकन्दरम् ॥ २ ॥
तानागतान् समीक्ष्यैव देवस्त्रिपुरनाशनः। अभ्युत्थायाभिपूज्यैतानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
धन्योऽयं पर्वतश्रेष्ठः श्लाघ्यः पूज्यश्च दैवतैः। धूतपापस्तथा जातो भवतां पादपङ्कजैः ॥ ४ ॥
स्थीयतां विस्तृते रम्ये गिरिप्रस्थे समे शुभे। शिलासु पद्मवर्णासु श्लक्ष्णासु च मृदुष्वपि ॥ ५ ॥

बावनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(शिवजीका महर्षियोंको स्मृतकर उन्हें हिमवान्‌के यहाँ भेजना, महर्षियोंका हिमवान्‌से शिवके लिये उमाकी याचना, हिमालयकी स्वीकृति और सप्तर्षियोंद्वारा [illegible] स्वीकृति सूचना)

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद पर्वतद्वारा सम्यक् रूपसे पूजित होकर भगवान् रुद्र बहुत प्रसन्न हुए। उसके बाद शङ्करने अरुन्धतीसहित सात महर्षियोंका स्मरण किया। महात्मा शङ्करके द्वारा स्मृत किये गये वे ऋषिगण सुन्दर कन्दराओंवाले महान् शैल मन्दरपर आ गये। उन (मुनियों)को आये हुए देखकर त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले महादेवने अभ्युत्थानकर उनका पूजन किया, फिर यह वचन कहा—प्रभो! यह पर्वतश्रेष्ठ देवताओंद्वारा प्रशंसनीय एवं पूजनीय होनेसे धन्य है, (और आज यह) आपके चरणकमलोंकी अनुकम्पासे निष्पाप हो गया। अब आपलोग इस विस्तृत, सम, रम्य तथा शुभ पर्वतशिखरपर बैठें। इसकी शिला कमल-वर्णकी तथा चिकनी एवं कोमल है ॥ १–५ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ता देवेन शङ्करेण महर्षयः। सममेव त्वरुन्धत्या विविशुः शैलसानुनि ॥ ६ ॥
उपविष्टेषु ऋषिषु नन्दी देवगणाग्रणीः। अर्घ्यादिना समभ्यर्च्य स्थितः प्रयतमानसः ॥
ततोऽमरपतिर्धीमान् धाम्य [illegible] सुरान्। आत्मनो यशसो वृद्ध्यै सप्तर्षीन् विनयान्वितान् ॥

पुलस्त्यजी (फिर) बोले—भगवान् शङ्करके द्वारा इस प्रकार कह जानेपर महर्षिगण अरुन्धतीके द्वारा शैलशिखरपर बैठ गये। ऋषियोंके बैठ जानेपर देवताओंमें अग्रणी तथा संयत चित्तवाले नन्दी अर्घ्य आदिसे उनकी पूजा कर खड़े हो गये। उसके बाद सुरपालक शिवने विनयसे युक्त सप्तर्षियोंसे अपने यशकी वृद्धि एवं देवताओंके कल्याणके लिये धर्मसे युक्त वचन कहा—॥ ६–८ ॥

हर उवाच

कश्यपात्रे वसिष्ठ गाधेय शृणु गौतम। भरद्वाज शृणुष्व त्वमङ्गिरस्त्वं शृणुष्व च ॥ ९ ॥
ममासीद् दक्षतनुजा प्रिया सा दक्षकोपतः। उत्ससर्ज सती प्राणान् योगदृष्ट्या पुरा किल ॥ १० ॥
साऽद्य भूयः समुद्भूता शैलराजसुता उमा। सा मदर्थाय शैलेन्द्रो याच्यतां द्विजसत्तमाः ॥ ११ ॥

शङ्करजीने कहा—कश्यप! अत्रि! वसिष्ठ! विश्वामित्र! गौतम! भरद्वाज! अङ्गिरा! आप सभी लोग सुनें—प्राचीन कालमें दक्षकी आत्मजा सती मेरी प्रिया थीं। उसने दक्षके ऊपर कुपित होकर योगदृष्टिसे अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। वही आज फिर उमा नामसे गिरिराज हिमालयकी कन्या हुई है। द्विजसत्तमो! आपलोग मेरे लिये पर्वतराजसे उसकी याचना करें ॥ ९–११ ॥

पुलस्त्य उवाच

सप्तर्षयस्त्वेवमुक्ता बाढमित्यब्रुवन् वचः। ॐ नमः शङ्करायेति प्रोक्त्वा जग्मुर्हिमालयम् ॥ १२ ॥
ततोऽप्यरुन्धतीं शर्वः प्राह गच्छस्व सुन्दरि। पुरन्ध्रयो हि पुरन्ध्रीणां गतिं धर्मस्य वै विदुः ॥ १३ ॥
इत्येवमुक्ता दुर्लङ्घ्य लोकाचारं त्वरुन्धती। नमस्ते रुद्र इत्युक्त्वा जगाम पतिना सह ॥ १४ ॥
गत्वा हिमाद्रिशिखरमोषधिप्रस्थमेव च। ददृशुः शैलराजस्य पुरीं सुरपुरीमिव ॥ १५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—शङ्करजीके ऐसा कहनेपर सप्तर्षियोंने 'बहुत अच्छा'—यह वचन कहा एवं 'ॐ नमः शङ्कराय' कहकर वे हिमालयके यहाँ गये। उसके पश्चात् शङ्करने अरुन्धतीसे कहा—'सुन्दरि! तुम भी जाओ। स्त्रियोंके धर्मकी गतिको स्त्रियाँ ही जानती हैं।' शङ्करके इस प्रकार कहनेपर लोकाचारको दुर्लङ्घ्य प्रतिपादित करनेवाली अरुन्धती अपने पतिके साथ 'नमस्ते रुद्र' ऐसा कहकर हिमालयपर गयीं। उन लोगोंने ओषधियोंसे भरे हिमालयकी चोटीपर जाकर सुरपुरीके समान हिमालयकी पुरीको देखा ॥ १२–१५ ॥

ततः सम्पूज्यमानास्ते शैलयोषिद्भिरादरात्। सुनाभादिभिरव्यग्रैः पूज्यमानास्तु पर्वतैः ॥ १६ ॥
गन्धर्वैः किन्नरैर्यक्षैस्तथान्यैस्तत्पुरस्सरैः। विविशुर्भवनं रम्यं हिमाद्रेर्हाटकोज्ज्वलम् ॥ १७ ॥
तत्र सर्वे महात्मानस्तपसा धौतकल्मषाः। समासाद्य महाद्वारं संतस्थुर्द्वाःस्थकारणात् ॥ १८ ॥
ततस्तु त्वरितोऽभ्यागाद् द्वाःस्थोऽद्रिर्गन्धमादनः। धारयन् वै करे दण्डं पद्मरागमयं महत् ॥ १९ ॥

उसके बाद वे पर्वतोंकी पत्नियों, शान्तचित्तवाले सुनाभादि पर्वतों, गन्धर्वों, किन्नरों, यक्षों एवं अन्य दूसरोंसे भी पूजित (सम्मानित) होकर स्वर्णकी भाँति प्रकाशमान हिमालयके सुन्दर भवनमें प्रविष्ट हुए। फिर तपस्या करनेसे निष्पाप हुए वे सभी महात्मा महाद्वारपर जाकर द्वारपालके निकट रुक गये। उसके बाद द्वारपर स्थित गन्धमादन पर्वत पद्मरागके बने विशाल दण्डको हाथमें धारण किये हुए शीघ्र उनके पास गया ॥ १६–१९ ॥

ततस्तमूचुर्मुनयो गत्वा शैलपतिं शुभम्। निवेदयास्मान् सम्प्राप्तान् महत्कार्यार्थिनो वयम् ॥ २० ॥
इत्येवमुक्तः शैलेन्द्रो ऋषिभिर्गन्धमादनः। जगाम तत्र यत्रास्ते शैलराजो द्विजैर्वृतः ॥ २१ ॥
निषण्णो भुवि जानुभ्यां दत्त्वा हस्तौ मुखे गिरिः। दण्डं निक्षिप्य कक्षायामिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

उसके बाद मुनियोंने उनसे कहा—द्वारपाल ! तुम श्रीमान् शैलपतिसे जाकर यह शुभ समाचार निवेदित करो कि हम सब विशेष कार्यके लिये यहाँ आये हैं । ऋषियोंके ऐसा कहनेपर शैलेन्द्र गन्धमादन, पर्वतोंसे घिरे हुए शैलराजके पास गया और पृथ्वीपर घुटनोंके बल बैठ गया । फिर दण्डको काँखमें दबाकर एवं दोनों हाथ मुखके निकट ले जाकर उसने यह वचन कहा—॥ २०–२२ ॥

गन्धमादन उवाच

इमे हि ऋषयः प्राप्ताः शैलराज तवार्थिनः । द्वारि स्थिताः कार्यिणस्ते तव दर्शनलालसाः ॥ २३ ॥

गन्धमादनने कहा—शैलराज ! ये ऋषिगण किसी कार्यकी याचनाके हेतु आपसे भेंट करनेकी इच्छावाले होकर आये हैं और द्वारपर स्थित हैं ॥ २३ ॥

पुलस्त्य उवाच

द्वाःस्थवाक्यं समाकर्ण्य समुत्थायाचलेश्वरः । स्वयमभ्यागमद् द्वारि समादायार्घ्यमुत्तमम् ॥ २४ ॥
तानर्च्यार्घ्यादिना शैलः समानीय सभातलम् । उवाच वाक्यं वाक्यज्ञ उपासनपरिग्रहान् ॥ २५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—द्वारपालकी बात सुननेके बाद पर्वतराज उठकर स्वयं उत्तम अर्घ्य लेकर द्वारपर आये । अर्घ्य आदिसे उन ऋषियोंका अर्चन करनेके बाद उन्हें सभा-स्थानमें लिवा लाये । फिर उनके यथायोग्य आसन ग्रहण कर लेनेपर वक्ताके अभिप्रायको स्पष्ट समझनेवाले शैलराजने उन ऋषियोंसे यह वाक्य कहा—॥ २४-२५ ॥

हिमवानुवाच

अनभ्रवृष्टिः किमियमुताहो कुसुमं फलम् । अप्रतर्क्यमचिन्त्यं च भवदागमनं त्विदम् ॥ २६ ॥
अद्यप्रभृति धन्योऽस्मि शैलराड्च सत्तमाः । संशुद्धदेहोऽस्म्यद्यैव यद् भवन्तो ममाजिरम् ॥ २७ ॥
आत्मसंसर्गसंशुद्धं कृतवन्तो द्विजोत्तमाः । दृष्टिपूतं पदाक्रान्तं तीर्थं सारस्वतं यथा ॥ २८ ॥
दासोऽहं भवतां विप्राः कृतपुण्यश्च साम्प्रतम् । येनार्थिनो हि ते यूयं तन्ममाख्यातुमर्हथ ॥ २९ ॥
सदारोऽहं सह पुत्रैर्भृत्यैर्नप्तृभिरव्यया । किंकरोऽस्मि स्थितो युष्मदाज्ञाकारी तदुच्यताम् ॥ ३० ॥

हिमवान्ने कहा—(ऋषियो ! मेरे लिये) आपलोगोंका यहाँ पधारना ऐसा ही है जैसे बिना बादलकी वृष्टि तथा बिना फूलके फलका उद्गम, यह अतर्क्य एवं अचिन्त्य है । परमपूज्यो ! आजसे मैं धन्य हो गया । आज ही मैं (अन्वर्थक) शैलराज हुआ । आज ही मेरा शरीर शुद्ध हुआ, क्योंकि आप लोगोंने आज मेरे आँगनको पवित्र किया है । द्विजोत्तमो ! जिस प्रकार सारस्वत तीर्थका जल पवित्र कर देता है, उसी प्रकार आपलोगोंने चरण रखकर तथा अपनी पवित्र दृष्टिसे देखकर हमें पवित्र कर दिया है । ब्राह्मणो ! मैं आप लोगोंका दास हूँ । इस समय मैं पुण्यवान् हुआ हूँ । जिस उद्देश्यसे आपलोग अर्थी—याचना करनेवाले—हुए हैं, उसके लिये मुझे आज्ञा दें । महर्षियो ! मैं स्त्री, पुत्र, नाती और भृत्योंके साथ आपका आज्ञाकारी सेवक हूँ, अतः आदेश दीजिये ॥ २६–३० ॥

पुलस्त्य उवाच

शैलराजवचः श्रुत्वा ऋषयः संशितव्रताः । ऊचुरङ्गिरसं वृद्धं कार्यमस्मै निवेदय ॥ ३१ ॥
इत्येवं चोदितः सर्वैर्ऋषिभिः कश्यपादिभिः । प्रत्युवाच परं वाक्यं गिरिराजं तमङ्गिराः ॥ ३२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—गिरिराजकी बात सुनकर प्रशस्तव्रती ऋषियोंने वृद्ध अङ्गिरा मुनिसे कहा—(मुने !) आप हिमवान्का कार्य निवेदन करें । इस प्रकार कश्यप आदि ऋषियोंसे प्रेरणा प्राप्तकर अङ्गिराने गिरिराज हिमालयसे (उनके अनुरागक उत्तरमें) यह श्रेष्ठ वचन बोले—॥ ३१-३२ ॥

अङ्गिरा उवाच

श्रूयतां पर्वतश्रेष्ठ येन कार्येण वै वयम्। समागतास्त्वत्सदनमरुन्धत्या समं गिरे ॥ ३३ ॥
योऽसौ महात्मा सर्वात्मा दक्षयज्ञक्षयङ्करः। शङ्करः शूलधृक् शर्वस्त्रिनेत्रो वृषवाहनः ॥ ३४ ॥
जीमूतकेतुः शत्रुघ्नो यज्ञभोक्ता स्वयं प्रभुः। यमीश्वरं वदन्त्येके शिवं स्थाणुं भवं हरम् ॥ ३५ ॥
भीममुग्रं महेशानं महादेवं पशोः पतिम्। वयं तेन प्रेषिताः स्मस्त्वत्सकाशं गिरीश्वर ॥ ३६ ॥

अङ्गिराने कहा—पर्वतराज ! हमलोग अरुन्धतीके साथ आपके घर जिस कार्यके लिये आये हैं, उसे (आप) सुनें। गिरीश्वर ! जिन महात्मा सर्वात्मा, दक्षयज्ञके विनाशक, शूलधारी, शर्व, त्रिनेत्र, वृषवाहन, जीमूतकेतु, शत्रुघ्न, यज्ञभोक्ता, स्वयंप्रभु ईश्वरको कुछ लोग शिव, स्थाणु, भव, हर, भीम, उग्र, महेशान, महादेव एवं पशुपति कहते हैं, उन्होंने ही हमलोगोंको आपके पास भेजा है ॥ ३३—३६ ॥

इयं या त्वत्सुता काली सर्वलोकेषु सुन्दरी। तां प्रार्थयति देवेशस्तां भवान् दातुमर्हति ॥ ३७ ॥
स एव धन्यो हि पिता यस्य पुत्री शुभं पतिम्। रूपाभिजनसम्पत्त्या प्राप्नोति गिरिसत्तम ॥ ३८ ॥
यावन्तो जङ्गमागम्या भूताः शैल चतुर्विधाः। तेषां माता त्वियं देवी यतः प्रोक्तः पिता हरः ॥ ३९ ॥
प्रणम्य शङ्करं देवाः प्रणमन्तु सुतां तव। कुरुष्व पादं शत्रूणां मूर्ध्नि भस्मपरिप्लुतम् ॥ ४० ॥
याचितारो वयं शर्वो वरो दाता त्वमप्युमा। वधूः सर्वजगन्माता कुरु यच्छ्रेयसे तव ॥ ४१ ॥

[बात यह है कि—] आपकी यह 'काली' कन्या समस्त लोकोंमें सुन्दर है। इसके लिये देवेश (भगवान् शङ्कर) प्रार्थना कर रहे हैं। आपको उन्हें उसका दान दे देना चाहिये। गिरिश्रेष्ठ ! वही पिता धन्य है, जिसकी पुत्री रूपवान्, निष्कलङ्क, कुलीन और श्रीमान् शुभ पतिको प्राप्त करती है। शैल ! ये देवी चार प्रकारके जितने जड-जङ्गम प्राणी हैं उनकी माता (हो जाती) हैं, क्योंकि शङ्करजी सबके पिता कहे गये हैं। (हम सबका निवेदन है कि) समस्त देवता शङ्करको प्रणामकर तुम्हारी पुत्रीको भी प्रणाम करें, इसलिये इसे समर्पित कर दें। (और इस प्रकार आप) अपने शत्रुओंके सिरपर अपना भस्मयुक्त चरण रखें (शत्रुओंको विजित करें)। हमलोग याचना करनेवाले हैं, शङ्कर वर हैं, आप दाता हैं और समस्त संसारकी जननी उमा वधू हैं। आपको जो कल्याणकारी जँचे, उसे करें ॥ ३७—४१ ॥

पुलस्त्य उवाच

तद्वचोऽङ्गिरसः श्रुत्वा काली तस्थावधोमुखी। हर्षमागत्य सहसा पुनर्दैन्यमुपागता ॥ ४२ ॥
ततः शैलपतिः प्राह पर्वतं गन्धमादनम्। गच्छ शैलानुपामन्त्र्य सर्वानागन्तुमर्हसि ॥ ४३ ॥
तत शीघ्रतरः शैलो गृहाद् गृहमगाज्जवी। मेर्वादीन् पर्वतश्रेष्ठानाजुहाव समन्ततः ॥ ४४ ॥
तेऽप्याजग्मुस्त्वरावन्तः कार्यं मत्वा महत्तदा। विविशुर्विस्मयाविष्टाः सौवर्णेष्वासनेषु ते ॥ ४५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—अङ्गिराकी वह वाणी सुनकर कालीने (लज्जासे) अपना मुख नीचे झुका लिया। सहसा वे प्रसन्न होकर पुनः उदास हो गयीं। उसके बाद गिरिराजने गन्धमादन पर्वतसे कहा—(गन्धमादन !) जाओ ! सभी पर्वतोंको आनेके लिये आमन्त्रित कर आओ। उसके पश्चात् वेगशाली पर्वत-(गन्धमादन) ने चारों ओर शीघ्रतापूर्वक घर-घर जाकर मेरु आदि सभी श्रेष्ठ पर्वतोंको आनेके लिये निमन्त्रण दे दिया। वे सभी पर्वत भी कार्यकी महत्ता समझकर शीघ्रतासे आ गये और सुवर्णमय आसनोंपर उत्सुकतापूर्वक बैठ गये ॥ ४२—४५ ॥

*

उदयो हेमकूटश्च रम्यको मन्दरस्तथा। उद्दालको वारुणश्च वराहो गरुडासनः ॥ ४६ ॥
शुक्तिमान् वेगसानुश्च दृढशृङ्गोऽथ शृङ्गवान्। चित्रकूटस्त्रिकूटश्च तथा मन्दरकाचलः ॥ ४७ ॥
विन्ध्यश्च मलयश्चैव पारियात्रोऽथ दुर्दरः। कैलासाद्रिर्महेन्द्रश्च निषधोऽञ्जनपर्वतः ॥ ४८ ॥
एते प्रधाना गिरयस्तथाऽन्ये क्षुद्रपर्वताः। उपविष्टाः सभायां वै प्रणिपत्य ऋषींश्च तान् ॥ ४९ ॥

उदय, हेमकूट, रम्यक, मन्दर, उद्दालक, वारुण, वराह, गरुडासन, शुक्तिमान्, वेगसानु, दृढशृङ्ग, शृङ्गवान्, चित्रकूट, त्रिकूट, मन्दरकाचल, विन्ध्य, मलय, पारियात्र, दुर्दर, कैलास, महेन्द्र, निषध, अञ्जन—ये सभी प्रमुख पर्वत तथा छोटे-छोटे अन्य पर्वत उन ऋषियोंको प्रणाम कर सभामें बैठ गये ॥ ४६—४९ ॥

ततो गिरीशः स्वां भार्यां मेनामाहूतवांश्च सः। समागच्छत कल्याणी सम पुत्रेण भामिनी ॥ ५० ॥
साऽभिवन्द्य ऋषीणां हि चरणांश्च तपस्विनी। सर्वाञ्ज्ञातीन्समाभाष्य विवेश ससुता ततः ॥ ५१ ॥
ततोऽद्रिषु महाशैल उपविष्टेषु नारद। उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः सर्वानाभाष्य सुस्वरम् ॥ ५२ ॥

उसके पश्चात् उन गिरीशने अपनी भार्या मेनाको बुलाया। (वे) कल्याणी भामिनी अपने पुत्रके साथ आयीं और तब उन साध्वीने ऋषियोंके चरणोंमें प्रणाम किया एवं समस्त ज्ञातियोंसे अनुज्ञा लेकर वे पुत्रके साथ बैठ गयीं। नारदजी! उसके बाद सभी पर्वतोंके भी बैठ जानेपर उनकी अनुमति लेकर उक्तिके अभिप्रायके विज्ञाता महाशैलने मधुर वचन कहा—॥ ५०—५२ ॥

हिमवानुवाच

इमे सप्तर्षयः पुण्या याचितारः सुतां मम। महेश्वरार्थं कन्यां तु तथावेद्य भवत्सु वै ॥ ५३ ॥
तद् यदर्थं यथाप्रज्ञ ज्ञातयो यूयमेव मे। नोल्लङ्घ्य युष्मान् दास्यामि तत्सम यदमुत्तमम् ॥ ५४ ॥

हिमवान्‌ने निवेदन किया—(उपस्थित सज्जनो!) ये पुण्यात्मा सप्तर्षि भगवान् शङ्करके लिये मेरी कन्याकी याचना कर रहे हैं। शङ्करके लिये कन्या देनेका प्रस्ताव है—यही आपलोगोंसे निवेदन करना है। आप लोग ही मेरे ज्ञाति-बन्धु हैं, अतः अपनी बुद्धिके अनुसार परामर्श दें। आप-(के मन)का उल्लङ्घन कर मैं (कन्याका) दान नहीं करूँगा, अतः आप लोग उचित परामर्श दें ॥ ५३—५४ ॥

पुलस्त्य उवाच

हिमवद्वचनं श्रुत्वा मेर्वाद्याः स्थावरोत्तमाः। सर्वे प्रयाद्रुवन् वाक्यं स्थिताः स्वेष्वासनेषु ते ॥ ५५ ॥
याचितारश्च मुनयो वरस्त्रिपुरहा हरः। दीयतां शैल कालीयं जामाताऽभिमतो हि नः ॥ ५६ ॥
मेनाप्यथाह भर्तारं शृणु शैलेन्द्र मद्वचः। पितॄनाराध्य देवैस्तैर्दत्ताऽनेनैव हेतुना ॥ ५७ ॥
यस्त्वस्यां भूतपतिना पुत्रो जातो भविष्यति। स हनिष्यति दैत्येन्द्रं महिषं तारकं तथा ॥ ५८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—हिमवान्‌के प्रस्तावकी बात सुनकर मेरु आदि सभी श्रेष्ठ गिरिवरोंने अपने-अपने आसनपर आसीन होते हुए ही कहा—(गिरिराज!) याचना करनेवाले सप्तर्षि हैं और त्रिपुरासुरका वध करनेवाले शङ्कर वर हैं। शैलराज! इस कालीको आप उनके लिये प्रदान करें। जामाता हमलोगोंके मनपसंद हैं। उसके बाद मेनाने अपने पतिसे कहा—शैलेन्द्र! मेरी बात सुनिये। पितरोंकी आराधना करनेके बाद उन देवोंने (इस कन्याको) मुझे इसीलिये दिया था कि भूतपति-(शिव) द्वारा इससे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह दैत्येन्द्र महिष एवं तारकका वध करेगा ॥ ५५—५८ ॥

इत्येवं मेनया प्रोक्तः शैले शैलेश्वरः सुताम्। प्रोवाच पुत्रि दत्ताऽसि शर्वाय त्वं मयाऽधुना ॥ ५९ ॥
ऋषीनुवाच कालीयं मम पुत्री तपोधनाः। प्रणामं शङ्करवधूर्भक्तिनम्रा करोति वः ॥ ६०

ततोऽप्यरुन्धती कालीमङ्कमारोप्य चाङ्कुकै । लज्जमाना समाश्वास्य हरनामोदितै शुभैः ॥ ६१ ॥
ततः सप्तर्षयः प्रोचुः शैलराज निशामय । जामित्रगुणसंयुक्ता तिथिं पुण्या शुभमङ्गलाम् ॥ ६२ ॥
उत्तराफाल्गुनीयोगं तृतीयेऽह्नि हिमाशुमान् । गमिष्यति च तत्रोक्तो मुहूर्तो मैत्रनामकः ॥ ६३ ॥

मेना तथा पर्वतोंके इस प्रकार कहनेपर हिमवान्ने अपनी कन्यासे कहा—पुत्रि ! अब मैंने तुम्हें शङ्करको दे दिया । फिर उन्होंने ऋषियोंसे कहा—हे तपोधनो ! यह मेरी पुत्री तथा शङ्करकी वधू काली मेरे सहित विनम्र-भावसे आप लोगोंको प्रणाम करती है । उसके बाद अरुन्धतीने लज्जित हो रही कालीको (अपनी) गोदमें बैठाकर शङ्करके प्रेमभरे शुभ नामोंके उच्चारणसे उसे भलीभाँति आश्वस्त किया । उसके बाद ऋषियोंने कहा—शैलराज ! (अब आप) जामित्र (सप्तम भावकी शुद्धता) गुणसे संयुक्त मङ्गलमय पवित्र तिथिको सुनिये । (आजके) तीसरे दिन चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रसे योग करेगा । उसे मैत्र नामक मुहूर्त कहते हैं ॥ ५९-६३ ॥

तस्यां तिथ्यां हरः पाणिं ग्रहीष्यति समन्त्रकम् । तव पुत्र्या वयं यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ६४ ॥
ततः सम्पूज्य विधिना फलमूलादिभिः शुभैः । विसर्जयामास शनैः शैलराड् ऋषिपुङ्गवान् ॥ ६५ ॥
तेऽप्याजग्मुर्महावेगात् त्वाक्रम्य मरुदालयम् । आसाद्य मन्दरगिरिं भूयोऽवन्दन्त शङ्करम् ॥ ६६ ॥
प्रणम्योचुर्महेशानं भवान् भर्ताऽद्रिजा वधूः । सब्रह्मकास्त्रयो लोका द्रक्ष्यन्ति घनवाहनम् ॥ ६७ ॥

उस तिथिमें शङ्कर मन्त्रपूर्वक आपकी पुत्रीका पाणिग्रहण करेंगे । आप अनुमति दें, (अब) हम लोग जा रहे हैं । उसके बाद शैलराजने उन ऋषिश्रेष्ठोंको सुन्दर फल-मूलोंसे विधिपूर्वक पूजितकर विदा किया । वे ऋषि भी आकाशमार्गसे अत्यन्त वेगसे मन्दरगिरिपर आ गये और शंकरको प्रणाम किया । उन महर्षिजनोंने पुनः महेश्वरको प्रणाम कर कहा—शङ्कर ! आप वर हैं एवं गिरिजा वधू हैं । ब्रह्माके साथ तीनों लोक आप घनवाहन-(शिव) को (इस रूपमें) दर्शन करेंगे (—ऐसी सबकी लालसा है)॥ ६४–६७ ॥

ततो महेश्वरः प्रीतो मुनीन् सर्वाननुक्रमात् । पूजयामास विधिना अरुन्धत्या समं हरः ॥ ६८ ॥
ततः सम्पूजिता जग्मुः सुराणां मन्त्रणाय ते । तेऽप्याजग्मुर्हरं द्रष्टुं ब्रह्मविष्ण्विन्द्रभास्कराः ॥ ६९ ॥
गेहं ततोऽभ्येत्य महेश्वरस्य कृतप्रणामा विविशुर्महर्षे ।
सस्मार नन्दिप्रमुखांश्च सर्वानभ्येत्य ते वन्द्य हरं निषण्णाः ॥ ७० ॥
देवैर्गणैश्चापि वृतो गिरीशः स शोभते मुक्तजटाग्रभारः ।
यथा वने सर्ज्जकदम्बमध्ये प्ररोहमूलोऽथ वनस्पतिर्वै ॥ ७१ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

उसके बाद शङ्करने प्रसन्न होकर क्रमानुसार अरुन्धतीके साथ सप्तर्षियोंका विधिपूर्वक पूजन (सत्कार) किया । (शिवद्वारा) भलीभाँति पूजित होकर वे सभी ऋषि देवोंसे मन्त्रणा करनेके लिये चले गये । फिर ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र एवं सूर्य आदि (देवता) भी शिवका दर्शन करने आ गये । (पुलस्त्यजी कहते हैं—) महर्षे ! वहाँ जाकर (शङ्करको) प्रणाम करनेके बाद वे लोग शङ्करके गृहमें प्रविष्ट हुए । उन्होंने नन्दी आदिका स्मरण किया। (फलतः) वे सभी आकर शङ्करको प्रणाम करनेके बाद बैठ गये । देवों एवं गणोंसे घिरे खुली जटावाले वे शङ्करजी वनमें सर्ज्ज और कदम्बके मध्य प्ररोहयुक्त (बरोहवाले) वटवृक्षके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ६८–७१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

[अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

समागतान् सुरान् दृष्ट्वा नन्दिराख्यातवान् विभो । अथोत्थाय हरिं भक्त्या परिष्वज्य न्यपीडयत् ॥ १ ॥
ब्रह्माणं शिरसा नत्वा समाभाष्य शतक्रतुम् । आलोक्यान्यान् सुरगणान् सभावयत् स शङ्करः ॥ २ ॥
गणाश्च जय देवेति वीरभद्रपुरोगमाः । शैवाः पाशुपताद्याश्च विविशुर्मन्दराचलम् ॥ ३ ॥
ततस्तस्मा महाशैलं कैलासं सह दैवतैः । जगाम भगवान् शर्वः कर्तुं वैवाहिकं विधिम् ॥ ४ ॥

तिरपनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(हिमालय पुत्री उमाका भगवान् शिवके साथ विवाह और वालखिल्योंकी उत्पत्ति)

पुलस्त्यजी बोले—नन्दीने आये हुए सभी देवताओंको देखकर शङ्करको बताया। शङ्करने उठकर भक्तिपूर्वक विष्णुका गाढ आलिङ्गन किया। उन शङ्करने ब्रह्माको सिरसे (झुककर) प्रणाम किया एवं इन्द्रसे कुशल-समाचार पूछा तथा अन्य देवोंकी ओर देखकर उनका आदर किया। वीरभद्र आदि शैव एवं पाशुपतगण 'जय देव' कहते हुए मन्दराचलमें प्रविष्ट हुए। उसके बाद भगवान् शिव वैवाहिक विधि सम्पन्न करनेके लिये देवताओंके साथ महान् कैलास पर्वतपर गये ॥ १-४ ॥

ततस्तस्मिन् महाशैले देवमाताऽदितिः शुभा । सुरभिः सुरसा चान्याश्चक्रुर्मण्डनमाकुलाः ॥ ५ ॥
महास्थिशेखरी चारुरोचनातिलको हरः । सिंहाजिनी चालिनीलभुजङ्गकृतकुण्डलः ॥ ६ ॥
महाहिरत्नवलयो हारकेयूरनूपुरः । समुन्नतजटाभारो वृषभस्थो विराजते ॥ ७ ॥
तस्याग्रतो गणाः स्वैः स्वैरारूढा यान्ति वाहनैः । देवाश्च पृष्ठतो जग्मुर्हुताशनपुरोगमाः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् उस महान् पर्वतपर कल्याणी देवमाता अदिति, सुरभि, सुरसा एवं अन्य स्त्रियोंने शीघ्रतासे शङ्करका शृङ्गार किया। (गलेमें) मुण्डमाल धारण किये, कटिमें व्याघ्रचर्म, कानोंमें भ्रमरके समान नीले (काले) सर्पका कुण्डल, (कलाईमें) महान् सर्पोंका रत्नरूपी कङ्कण पहने, कण्ठमें हार, बाहुओंमें भुजबंद, पैरोंमें नूपुर धारण किये, सिरपर ऊँची जटा बाँधे, ललाटपर गोरोचनका तिलक लगाये हुए भगवान् शङ्कर वृषभपर विराजमान हुए। शङ्करके आगे अपनी-अपनी सवारियोंपर बैठे उनके गण एवं उनके पीछे अग्नि आदि देवता (बारात) चले ॥ ५-८ ॥

वैनतेयं समारूढः सह लक्ष्म्या जनार्दनः । प्रयाति देवपार्श्वस्थो हंसेन च पितामहः ॥ ९ ॥
गजाधिरूढो देवेन्द्रश्छत्रं शुक्लपटं विभुः । धारयामास विततं शच्या सह सहस्रदृक् ॥ १० ॥
यमुना सरितां श्रेष्ठा वालव्यजनमुत्तमम् । श्वेतं प्रगृह्य हस्तेन कच्छपे संस्थिता ययौ ॥ ११ ॥
हंसकुन्देन्दुसंकाशं वालव्यजनमुत्तमम् । सरस्वती सरिच्छ्रेष्ठा गजारूढा समादधे ॥ १२ ॥

शङ्करकी बगलमें लक्ष्मीके साथ गरुडपर बैठे हुए विष्णु एवं हंसपर आरूढ ब्रह्मा चलने लगे। शचीके साथ ऐरावत हाथीपर चढ़कर सहस्र नेत्रधारी इन्द्रने श्वेत वस्त्रके बने विशाल छत्रको धारण किया। (एक ओर) नदियोंमें श्रेष्ठ यमुना कच्छपपर सवार होकर अपने हाथमें उत्तम श्वेत चँवर लेकर डुलाने लगी और (दूसरी ओर) सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती भी हाथीपर आरूढ होकर हंस, कुन्द एवं इन्दुके समान उत्तम चँवर लेकर डुलाने लगी ॥ ९-१२ ॥

ऋतवः षट् समादाय कुसुमं गन्धसंयुतम्। पञ्चवर्णं महेशानं जग्मुस्ते कामचारिणः ॥ १३॥
मत्तमैरावतनिभं गजमारुह्य वेगवान्। अनुलेपनमादाय ययौ तत्र पृथूदकः ॥ १४॥
गन्धर्वास्तुम्बुरुमुखा गायन्तो मधुरस्वरम्। अनुजग्मुर्महादेवं वादयन्तश्च किंनराः ॥ १५॥
नृत्यन्त्योऽप्सरसश्चैव स्तुवन्तो मुनयश्च तम्। गन्धर्वा यान्ति देवेशं त्रिनेत्रं शूलपाणिनम् ॥ १६॥

कामचारी छः ऋतुएँ पँचरंगे सुगन्धित पुष्पोंको लेकर शङ्करके साथ चलने लगीं। ऐरावतके समान मतवाले हाथीपर चढ़कर पृथूदक अनुलेपन लेकर चला। तुम्बुरु आदि गन्धर्व मधुर स्वरसे गाते एवं किंनर बाजा बजाते हुए शङ्करके पीछे-पीछे चले। नृत्य करती हुई अप्सराएँ तथा शूलपाणि त्रिलोचन देवेशकी स्तुति करते हुए मुनि और गन्धर्व (मङ्गलमयी यात्रामें) चले ॥ १३—१६ ॥

एकादश तथा कोट्यो रुद्राणां तत्र वै ययुः। द्वादशैवादितेयानामष्टौ कोट्यो वसूनपि ॥ १७॥
सप्तषष्टिस्तथा कोट्यो गणानामृषिसत्तम। चतुर्विंशत् तथा जग्मुर्ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ॥ १८॥
असंख्यातानि यूथानि यक्षकिंनररक्षसाम्। अनुजग्मुर्महेशानं विवाहाय समाकुलाः ॥ १९॥
ततः क्षणेन देवेशः क्ष्माधराधिपतेस्तलम्। सम्प्राप्तास्त्वागमन् शैलाः कुञ्जरस्थाः समन्ततः ॥ २०॥

ऋषिसत्तम! ग्यारह कोटि रुद्र, बारह कोटि आदित्य, आठ कोटि वसु, सड़सठ कोटि गण एवं चौबीस (कोटि) ऊर्ध्वरेता ऋषियोंने (भी साथ ही) प्रस्थान किया। महेशके पीछे यक्ष, किंनर एवं राक्षसोंके अनगिनत झुंड विवाहके लिये उत्साहपूर्वक चले। तत्पश्चात् देवेश (भगवान् शङ्कर) क्षणमात्रमें पर्वतराज हिमालयपर पहुँच गये। चारों ओरसे हाथियोंपर बैठे पर्वत उनके पास इकट्ठे हो गये ॥ १७—२० ॥

ततो ननाम भगवांस्त्रिनेत्रः स्थावराधिपम्। शैलाः प्रणेमुरीशानं ततोऽसौ मुदितोऽभवत् ॥ २१॥
समं सुरैः पार्षदैश्च विवेश वृषकेतनः। नन्दिना दर्शिते मार्गे शैलराजपुरं महत् ॥ २२॥
जीमूतकेतुरायात इत्येवं नगरस्त्रियः। निजं कर्म परित्यज्य दर्शनव्यापृताभवन् ॥ २३॥
माल्यार्धमन्या चादाय करेणैकेन भामिनी। केशपाशं द्वितीयेन शङ्कराभिमुखी गता ॥ २४॥

उसके बाद त्रिलोचन भगवान् शङ्करने पर्वतराजको प्रणाम किया। उसके पश्चात् अन्य पर्वतोंने भी शिवजीको प्रणाम किया जिससे वे प्रसन्न हो गये। नन्दीद्वारा दिखाये गये मार्गसे देवताओं एवं पार्षदोंके साथ वृषकेतु शङ्कर पर्वतराजके महान् पुरमें प्रविष्ट हुए। जीमूतकेतु शङ्करको आया हुआ जानकर नगरकी स्त्रियाँ (स्वागतके उल्लासमें इतनी विह्वल हो गयीं कि) अपना काम छोड़कर उन्हें देखने लगीं। एक स्त्री एक हाथमें आधी माला और दूसरे हाथमें अपने केशपाशको पकड़े हुए शङ्करकी ओर दौड़ पड़ी ॥ २१—२४ ॥

अन्याऽलक्तकरागाढ्यं पादं कृत्वाकुलेक्षणा। अनलक्तकमेकं हि हरं द्रष्टुमुपागता ॥ २५॥
एकेनाक्ष्णाञ्जितेनैव श्रुत्वा भीममुपागतम्। साञ्जना च प्रगृह्यान्या शलाकां सुष्ठु धावति ॥ २६॥
अन्या सरसनं वासः पाणिनादाय सुन्दरी। उन्मत्तेवागमच्छम्भो हरदर्शनलालसा ॥ २७॥
अन्यातिक्रान्तमीशानं श्रुत्वा स्तनभरालसा। अनिन्दत रुषा बाला यौवनं स्वं कृशोदरी ॥ २८॥

लालसाभरी नेत्रोंवाली अन्य स्त्री एक पैरमें महावर लगाकर तथा दूसरेमें बिना महावर लगाये शङ्करको देखने चली आयी। कोई स्त्री शङ्करको आया सुनकर एक आँखमें अञ्जन लगाये और दूसरी आँखमें अञ्जन लगानेके लिये अञ्जनयुक्त सलाई लिये दौड़ पड़ी। शङ्करके दर्शनकी उत्सुकतासे दूसरी सुन्दरी उन्मत्ताकी भाँति करधनीके साथ पहननेके वस्त्रको हाथमें लिये नंगी ही चली आयी। दूसरी कोई महादेवका आना सुनकर स्तनके भारसे अलसायी कृशोदरी बाला रोषसे अपने यौवनकी निन्दा करने लगी ॥ २५—२८ ॥

इत्थं स नगरस्त्रीणां क्षोभं सञ्जनयन् हरः । जगाम वृषभारूढो दिव्यं श्वशुरमन्दिरम् ॥ २९ ॥
ततः प्रविष्टं प्रसमीक्ष्य शम्भुं शैलेन्द्रवेश्मन्यबला ब्रुवन्ति ।
स्थाने तपो दुश्चरमम्बिकायाश्चीर्णं महानेष सुरस्तु शम्भुः ॥ ३० ॥
स एष येनाङ्गमनङ्गता कृतं कन्दर्पनाम्नः कुसुमायुधस्य ।
क्रतोः क्षयी दक्षविनाशकर्ता भगाक्षिहा शूलधरः पिनाकी ॥ ३१ ॥
नमो नमः शङ्कर शूलपाणे मृगारिचर्माम्बर कालशत्रो ।
महाहिहाराङ्कितकुण्डलाय नमो नमः पार्वतिवल्लभाय ॥ ३२ ॥

इस प्रकार नगरकी महिलाओंको क्षुभित करते हुए बैलपर चढ़े शङ्कर अपने श्वशुरके दिव्य महलमें गये । तदनन्तर घरमें प्रविष्ट हुए शम्भुको देखकर घरमें आयी हुई स्त्रियाँ स्पष्ट कहने लगीं कि पार्वतीद्वारा किया गया कठिन तप सर्वथा उचित है, क्योंकि ये शङ्कर महान् देव हैं । ये वही हैं, जिन्होंने कन्दर्प नामके कामदेवके शरीरको भस्म कर दिया । ये ही क्रतुक्षयी, दक्षयज्ञविनाशक, भगाक्षिहन्ता, शूलधर एवं पिनाकी हैं । (फिर वे उन्हें बार-बार नमन करने लगीं—) हे शङ्कर ! हे शूलपाणे ! हे व्याघ्रचर्मधारिन् ! हे कालशत्रो ! हे महान् सर्पोंका हार और कुण्डल धारण करनेवाले पार्वती-वल्लभ ! आपको बार-बार नमस्कार है ॥ २९–३२ ॥

इत्थं संस्तूयमानः सुरपतिविधृतेनातपत्रेण शम्भुः सिद्धैर्वन्द्यः सयक्षैरहिकृतवलयी चारुभस्मोपलिप्तः ।
अग्रस्थेनाग्रजेन प्रमुदितमनसा विष्णुना चानुगेन वैवाहीं मङ्गलाढ्यां हुतवहमुदितामारुरोहाथ वेदीम् ॥३३॥
आयाते त्रिपुरान्तके सहचरैः सार्धं च सप्तर्षिभिर्व्यग्रोऽभूद्गिरिराजवेश्मनि जनः काल्याः समालङ्कृतौ ।
व्याकुल्यं समुपागताश्च गिरयः पूजादिना देवताः प्रायो व्याकुलिता भवन्ति सुहृदः कन्याविवाहोत्सुकाः ॥३४॥
प्रसाध्य देवीं गिरिजां ततः स्त्रियो दुकूलशुक्लाभिवृताङ्गयष्टिकाम् ।
प्राग्वा सुनाभेन तदोत्सवे कृते सा शङ्करस्याश्रममथोपपादिता ॥ ३५ ॥
ततः शुभे हर्म्यतले हिरण्मये स्थिताः सुराः शङ्करकालिचेष्टितम् ।
पश्यन्ति देवोऽपि समं कृशाङ्ग्या लोकानुजुष्टं पदमाससाद ॥ ३६ ॥

इस प्रकार संस्तुत तथा इन्द्रके द्वारा धारण किये छत्रसे युक्त, सिद्धों एवं यक्षोंद्वारा वन्दनीय, सर्पका कङ्कण पहने, सुन्दर भस्म रमाये, ब्रह्माको आगे किये हुए एवं विष्णुद्वारा अनुगत शिव मङ्गलमयी अग्निशोभित विवाह मण्डपकी वेदीपर गये । सहचरों और सप्तर्षियोंके साथ त्रिपुरान्तक शिवके आ जानेपर हिमवान्के घरके लोग कालीका शृङ्गार करनेमें एवं आये हुए पर्वत देवताओंकी पूजा और सत्कार करनेमें व्यस्त हो गये । कन्याके विवाहमें उत्साहभरे प्रेमीजन प्रायः व्याकुल हो ही जाते हैं । फिर तो पार्वतीके दुबले-पतले शरीरको स्त्रियोंने उज्ज्वल रेशमी वस्त्र पहनाकर अलङ्कृत कर दिया एवं भाई सुनाभने वैवाहिक उत्सवके लिये उसे शङ्करके पास पहुँचाया । उसके बाद सोनेके बने महलके अंदर बैठे हुए देवगण शङ्कर और पार्वतीकी विवाह विधि देखने लगे और महादेवजीने भी दुबले-पतले शरीरवाली पार्वतीके साथ जगत्पूज्य स्थानको प्राप्त कर लिया ॥ ३३–३६ ॥

यत्र क्रीडा विचित्रा सुकुसुमतरवो वारिणो विन्दुपातै
र्गन्धाढ्यैर्गन्धचूर्णैः प्रविरलमयनौ गुण्ठितौ गुण्ठिकायाम् ।
मुक्तादामैः प्रकामं हरगिरितनया क्रीडनार्थं तदाऽभवत्
पश्चात् सिन्दूरपुञ्जैरविरतवितताश्चमन्तु क्षमा सुरस्नाम् ॥ ३७ ॥
एवं क्रीडां हरः कृत्वा समं च गिरिकन्यया । आगच्छद् दक्षिणां वेदिमृषिभिः सेवितां तदा ॥ ३८ ॥

अथाजगाम हिमवान् शुक्लाम्बरधरः शुचिः । पवित्रपाणिरादाय मधुपर्कमयोज्ज्वलम् ॥ ३९ ॥
उपविष्टस्त्रिनेत्रस्तु शाक्रीं दिशमपश्यत । सप्तर्षिकाश्च शैलेन्द्र सुपविष्टोऽवलोकयन् ॥ ४० ॥
सुखासीनस्य शर्वस्य कृताञ्जलिपुटो गिरिः । प्रोवाच वचनं श्रीमान् धर्मसाधनमात्मनः ॥ ४१ ॥

सुन्दर पुष्पोंवाले वृक्षोंसे सुशोभित भूमिके घेरेमें क्रीडा करते हुए शङ्कर और पार्वतीने एक दूसरेपर सुगन्धित जलसीकरों (फुहारों) और गन्धचूर्णोंकी लगातार वर्षा की । उसके बाद उन दोनोंने क्रीडा-हेतु एक दूसरेके मुक्तादाम (मोतीकी मालाओं)से आहरण-क्रीडा करनेके बाद सिन्दूरकी मुट्ठी भर-भरकर विवाह-स्थलको सिन्दूरसे रँग दिया—पृथ्वीपर सिन्दूर-ही सिन्दूर कर दिया । इस प्रकार शङ्करजी पार्वतीके साथ क्रीडा करनेके पश्चात् ऋषियोंसे सेवित सुदृढ़ (वैवाहिक मण्डपकी) दक्षिण वेदीपर आये । उसके बाद पवित्रक पहने तथा श्वेतवस्त्र धारण किये हिमवान् श्वेत-मधुर मधुपर्क लिये हुए आये । बैठे हुए त्रिनेत्र ऐन्द्री (पूर्व) दिशाकी ओर देख रहे थे । शैलेन्द्रने सप्तर्षियोंकी ओर देखते हुए भलीभाँति आसन ग्रहण किया । आरामसे आसनपर आसीन शङ्करसे गिरिने हाथ जोड़कर अपने धर्मका साधक वचन कहा—॥ ३७–४१ ॥

हिमवानुवाच

मत्पुत्रीं भगवन् कालीं पौत्रीं च पुलहाग्रजे । पितॄणामपि दौहित्रीं प्रतीच्छेमां मयोद्यताम् ॥ ४२ ॥

हिमवान्ने कहा—भगवन् ! मेरे द्वारा दी जा रही पुलहाग्रजकी पौत्री, पितरोंकी दौहित्री एवं मेरी पुत्री कालीको आप कृपया स्वीकार करें ॥ ४२ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा शैलेन्द्रो हस्तं हस्तेन योजयन् । प्रादात् प्रतीच्छ भगवन् इदमुच्चैरुदीरयन् ॥ ४३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—यह कहकर शैलेन्द्रने (शङ्करके) हाथसे (पार्वतीके) हाथको संयोजितकर उच्च स्वरसे यह कहते हुए कि 'हे भगवन् ! इसे आप स्वीकार करें' दान दे दिया ॥ ४३ ॥

हर उवाच

न मेऽस्ति माता न पिता तथैव न ज्ञातयो वाऽपि च बान्धवाश्च ।
निराश्रयोऽहं गिरिशृङ्गवासी सुतां प्रतीच्छामि तवाद्रिराज ॥ ४४ ॥
इत्येवमुक्त्वा वरदोऽपपीडयत् करं करेणाद्रिकुमारिकायाः ।
सा चापि संस्पर्शमवाप्य शम्भोः परां मुदं लब्धवती सुरर्षे ॥ ४५ ॥
तथाधिरूढो वरदोऽथ वेदिं सहाद्रिपुत्र्या मधुपर्कमश्नन् ।
दत्त्वा च लाजान् कमलस्य शुक्लांस्ततो विरिञ्चो गिरिजामुवाच ॥ ४६ ॥

कालि पश्यस्व वदनं भर्तुः शशधरप्रभम् । समदृष्टिः स्थिरा भूत्वा कुरुष्वाग्नेः प्रदक्षिणम् ॥ ४७ ॥
ततोऽम्बिका हरमुखे दृष्टे शैत्यमुपागता । यथार्करश्मिसंतप्ता प्राप्य वृष्टिमिवावनिः ॥ ४८ ॥

शङ्करने कहा—पर्वतराज ! मेरे पिता, माता, दायाद या कोई बान्धव नहीं है । मैं गृह-विहीन हो पर्वतकी ऊँची चोटीपर रहता हूँ । मैं आपकी पुत्रीको अङ्गीकार करता हूँ । यह कहकर वरदाता शङ्करने पर्वत-पुत्री पार्वतीके हाथको अपने हाथमें ले लिया । देवर्षे ! शङ्करके हाथका स्पर्श प्राप्त कर उसे भी अत्यन्त आनन्द हुआ । इसके बाद मधुपर्कका प्राशन करते हुए वरदायक शङ्कर पर्वतकी पुत्रीके साथ वेदीपर बैठे । उसके बाद धानका सफेद लावा देकर ब्रह्माने गिरिजासे कहा—काली ! पतिके चन्द्रमाके समान मुखको देखो एवं समदृष्टि एवं स्थिर होकर अग्निकी प्रदक्षिणा करो । उसके बाद शङ्करका मुख देखनेपर अम्बिकाको इस प्रकारकी शीतलता प्राप्त हुई जैसी सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त पृथ्वीको वृष्टि पाकर होती है ॥ ४४–४८ ॥

भूय प्राह विभोर्वक्त्रमीक्षस्वेति पितामहः । लज्जया साऽपि दृष्टेति शनैर्ब्रह्माणमब्रवीत् ॥ ४९ ॥
समं गिरिजया तेन हुताशस्त्रिः प्रदक्षिणम् । कृतो लाजाश्च हविषा समं क्षिप्ता हुताशने ॥ ५० ॥
ततो हराङ्घ्रिग्रहणं मालिन्या गृहीतो दायकारणात् । किं याचसि ददाम्यद्य मुञ्चस्वेति हरोऽब्रवीत् ॥ ५१ ॥
मालिनी शङ्करं प्राह मत्सख्या देहि शङ्कर । सौभाग्यं निजगोत्रीयं ततो मोक्षमवाप्स्यसि ॥ ५२ ॥

पितामहने फिर कहा—त्रिभुका मुख देखो । अब उसने भी लज्जापूर्वक धीरेसे ब्रह्मासे कहा—देख लिया । (इसके बाद) गिरिजाके साथ उन्होंने अग्निकी तीन प्रदक्षिणा की एवं अग्निमें हविष्यके साथ लावाकी आहुति दी । तत्पश्चात् मालिनीने दाय (नेग) के लिये शङ्करका पैर पकड़ लिया । शङ्करने कहा—क्या माँगती हो ? मैं दूँगा । पैर छोड़ दो । मालिनीने शङ्करसे कहा—हे शङ्करजी ! मेरी सखीको अपने गोत्रका सौभाग्य दीजिये, तभी छुटकारा मिलेगा ॥ ४९-५२ ॥

अथोवाच महादेवो दत्तं मालिनि मुञ्च माम् । सौभाग्यं निजगोत्राय योऽस्यास्तच्छृणु यच्चि ते ॥ ५३ ॥
योऽसौ पीताम्बरधरः शङ्खभृन्मधुसूदनः । एतदायो हि सौभाग्यो दत्तोऽस्मद्गोत्रमेव हि ॥ ५४ ॥
इत्येवमुक्ते वचने प्रमुमोच वृषध्वजम् । मालिनी निजगोत्रस्य शुभचारित्रमालिनी ॥ ५५ ॥
यदा हरो हि मालिन्या गृहीतश्चरणे शुभे । तदा कालीमुखं ब्रह्मा ददर्श शशिनोऽधिकम् ॥ ५६ ॥

उसके बाद महादेवने कहा—मालिनी ! तुम जो माँगती हो उसे मैंने दे दिया । मुझे छोड़ो । इसका जो गोत्रीय सौभाग्य होगा उसे मैं तुम्हें बतलाता हूँ । तुम सुनो ! ये जो पीताम्बर पहनने और शङ्ख धारण करनेवाले मधुसूदन हैं मेरा गोत्र इनका सौभाग्य ही है, उसे मैंने दे दिया। इस प्रकार शङ्करके कहनेपर अपने कुलकी शुभ सच्चरित्रताकी माला धारण करनेवाली मालिनीने शङ्करको छोड़ दिया । जब मालिनीने शङ्करके दोनों चरण पकड़ रखे थे, तब ब्रह्माने कालीके चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर मुखको देखा ॥ ५३-५६ ॥

तद् दृष्ट्वा क्षोभमगमच्छुक्रच्युतिमवाप च । तच्छुक्रं वालुकाया च खिलीचक्रे ससाध्वसः ॥ ५७ ॥
ततोऽब्रवीद्धरो ब्रह्मन् न द्विजान् हन्तुमर्हसि । अमी महर्षयो धन्या वालखिल्याः पितामह ॥ ५८ ॥
ततो महेशवाक्यान्ते समुत्तस्थुस्तपस्विनः । अष्टाशीतिसहस्राणि वालखिल्या इति स्मृताः ॥ ५९ ॥
ततो विवाहे निर्वृत्ते प्रविष्टः कौतुकं हरः । रेमे सहोमया रात्रिं प्रभाते पुनरुत्थितः ॥ ६० ॥

ततोऽद्रिपुत्रीं समवाप्य शम्भुः सुरैः समं भूतगणैश्च हृष्टः ।
सम्पूजितः पर्वतपार्थिवेन स मन्दरं शीघ्रमुपाजगाम ॥ ६१ ॥
ततः सुरान् ब्रह्महरीन्द्रमुख्यान् प्रणम्य सम्पूज्य यथाविभागम् ।
विसर्ज्य भूतैः सहितो महीध्रमध्यावसन्मन्दरमष्टमूर्तिः ॥ ६२ ॥

इति श्रीवामनपुराणे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

उसको देखकर वे क्षुब्ध हो गये । उनका शुक्र च्युत हो गया । भयवश उन्होंने उस शुक्रको वालुकामें छिपा दिया । उसके बाद शङ्करने कहा—ब्रह्मन् ! ब्राह्मणोंका वध मत कीजिये । पितामह ! ये सभी वालखिल्य महर्षि हैं, जो बड़े ही धन्य हैं । फिर शङ्करके कहनेके बाद अट्ठासी हजार वालखिल्य नामक तपस्वी उठ खड़े हुए । उसके बाद विवाह हो जानेपर शङ्कर कौतुकागार (कोहबर) में गये । उन्होंने रात्रिमें पार्वतीके साथ विनोद किया । पुनः प्रातःकाल उठे । उसके बाद पार्वतीको प्राप्तकर प्रसन्न हुए शङ्कर पर्वतराजसे पूजित होनेके बाद देवों एवं भूतगणोंके साथ तुरन्त ही मन्दराचलपर आ गये । उसके बाद अष्टमूर्ति शङ्करने ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओंका यथोचित पूजन किया तथा उन्हें प्रणाम कर विदा किया । फिर स्वयं अपने भूतगणोंके साथ मन्दर पर्वतपर रहने लगे ॥ ५७-६२ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरपनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

[अथ चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततो गिरौ वसन् रुद्रः स्वेच्छया विचरन् मुने। विश्वकर्माणमाहूय प्रोवाच कुरु मे गृहम्॥ १॥
ततश्चकार शर्वस्य गृहं स्वस्तिकलक्षणम्। योजनानि चतुःषष्टि प्रमाणेन हिरण्मयम्॥ २॥
दन्ततोरणनिर्यूहं मुक्ताजालान्तरं शुभम्। शुद्धस्फटिकसोपानं वैडूर्यकृतरूपकम्॥ ३॥
सप्तकक्षं सुविस्तीर्णं सर्वैः समुदितं गुणैः। ततो देवपतिश्चक्रे यज्ञं गार्हस्थ्यलक्षणम्॥ ४॥

चौवनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(भगवान् शिवके लिये मन्दरपर विश्वकर्माद्वारा गृहनिर्माण, शिवका यज्ञकर्म करना, पार्वतीको तपस्यासे ब्रह्माका वर देना, कौशिकीकी स्थापना, शिवके प्राङ्गणमें अग्नि प्रवेश, देवोंकी प्रार्थना आदि और गजाननकी उत्पत्ति)

पुलस्त्यजी बोले—मुने! मन्दरगिरिपर रहते हुए और इच्छानुसार भ्रमण करते हुए शङ्करने विश्वकर्माको आमन्त्रित कर कहा—विश्वकर्मन्! मेरे लिये गृह बना दो। उसके बाद विश्वकर्माने शङ्करके लिये चौंसठ योजन विस्तृत स्वर्णनिर्मित तथा स्वस्तिक चिह्नोंसे युक्त गृहका निर्माण किया। उसमें हाथीके दाँतोंके तोरण तथा मोतियोंकी सुन्दर झालरें लगी हुई थीं और वैडूर्यमणिसे जटित शुद्ध-स्फटिककी सीढ़ियाँ थीं। सात कक्षोंवाला वह लम्बा-चौड़ा घर सभी गुणोंसे भरा पूरा था। घर बन जानेके बाद देवाधिदेवने गृहस्थ आश्रमके उपयुक्त यज्ञकर्म सम्पन्न किया॥ १—४॥

न पूर्वचरितं मार्गमनुयाति स शङ्करः। तथा सतस्त्रिनेत्रस्य महान् कालोऽभ्यगान्मुने॥ ५॥
रमतः सह पार्वत्या धर्मापेक्षी जगत्पतिः। ततः कदाचिन्नर्मार्थं कालीत्युक्ता भवेन हि॥ ६॥
पार्वती मन्युनाविष्टा शङ्करं वाक्यमब्रवीत्।
संरोहतीषुणा विद्धं वनं परशुना हतम्। वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम्॥ ७॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति तैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
न तान् विमुञ्चेत हि पण्डितो जनस्तमद्य धर्मं वितथं त्वया कृतम्॥ ८॥

शङ्कर भगवान् पहलेके श्रेष्ठ जनोंद्वारा आचरित (धर्म्य) पथका अनुसरण करने लगे। मुने! त्रिनेत्रके इस प्रकार रहते हुए बहुत समय बीत गया। पार्वतीके साथ धर्मके अनुसार व्यवहार करते हुए जगत्स्वामी शङ्करने किसी समय विनोदमें गिरिजाको 'काली' कह दिया। क्रोधसे भरकर पार्वतीने शङ्करसे कहा—(देखिये प्रभु!) बाणसे बिंधा हुआ घाव भर जाता है और कुल्हाड़ीसे काटा हुआ वन पुनः हरा-भरा हो जाता है, किंतु वाणीसे किया गया दोषपूर्ण तथा बीभत्स घाव नहीं भरता। मुखसे निकले हुए वाग्बाणोंसे घायल प्राणी दिन-रात चिन्ता करते रहते हैं, अतः पण्डितजनोंको उन्हें (कुवाक्य—वाक्य बाणोंको) नहीं प्रयुक्त करना चाहिये। आज आपने उस वाच्यधर्मको व्यर्थ कर दिया॥ ५—८॥

तस्माद् व्रजामि देवेश तपस्तप्तुमनुत्तमम्। तथा यतिष्ये न यथा भवान् कालीति वक्ष्यति॥ ९॥
इत्येवमुक्त्वा गिरिजा प्रणम्य च महेश्वरम्। अनुज्ञाता त्रिनेत्रेण दिवमेवोत्पपात ह॥ १०॥
समुत्पत्य च वेगेन हिमाद्रिशिखरं दिवम्। दृष्टवांश्छिन्नं प्रयत्नेन विधात्रा निर्मितं यथा॥ ११॥
ततोऽपर्णाय सस्मार जया च विजया तथा। जयन्तीं च महापुण्यां चतुर्थीमपराजिताम्॥ १२॥

मङ्गलायतन भगवान् विनायक

देवेश्वर ! इसलिये मैं सर्वोत्तम तपस्या करने जा रही हूँ । मैं कठोर परिश्रम करके ऐसा उपाय करूँगी जिससे आप फिर मुझे 'काली'—ऐसा न कहेंगे । इस प्रकार कहनेके बाद हिमतनया (पार्वती-)ने शङ्करको प्रणाम किया एवं उनसे आदेश लेकर आकाशमें चली गयीं और वे उड़कर मङ्गलमय हिमालयकी चोटीपर पहुँचीं । वह हिमालयकी चोटी ऐसी थी जैसे विधाताने प्रयत्नपूर्वक टाँकीसे काटकर निर्माण किया हो । (आकाशसे पर्वतपर) उतरकर (उन्होंने) जया, विजया, जयन्ती, तथा चौथी महापुण्या अपराजिताका स्मरण किया ॥ ०–१२ ॥

ताः संस्मृता समाजग्मुः कालीं द्रष्टुं हि देवताः । अनुज्ञातास्तथा देव्या शुश्रूषां चक्रिरे शुभाः ॥ १३ ॥
ततस्तपसि पार्वत्या स्थिताया हिमवद्वनात् । समाजगाम तं देशं व्याघ्रो दंष्ट्रानखायुधः ॥ १४ ॥
एकपादस्थितायां तु देव्यां व्याघ्रस्त्वचिन्तयत् । यदा पतिष्यते चेयं तदादास्यामि वै अहम् ॥ १५ ॥
इत्येवं चिन्तयन्नेव दत्तदृष्टिर्मृगाधिपः । पश्यमानस्तु वदनमेकदृष्टिरजायत ॥ १६ ॥

(पार्वतीके) स्मरण करते ही वे (आहूत) देवियाँ कालीको देखनेके लिये आ गयीं । (और) वे कल्याणकारिणी सखियाँ देवीकी आज्ञा पाकर उनकी सेवा करने लगीं । उसके बाद पार्वतीके तपस्यामें लग जानेपर हिमालयके वनसे आयुधके रूपमें आनेवाले दाँतों और नखोंके आयुधवाला एक बाघ उस स्थानपर आया । पार्वतीको एक पैरपर खड़ी देखकर बाघने सोचा कि जब यह गिरेगी तो मैं अवश्य ही इसे खा जाऊँगा । इस प्रकार सोचता हुआ वह मृगोंका स्वामी पार्वतीके मुखको एकटक देखने लगा ॥ १३–१६ ॥

ततो वर्षशतं देवी गृणन्ती ब्रह्मणः पदम् । तपोऽतप्यत् ततोऽभ्यागाद् ब्रह्मा त्रिभुवनेश्वरः ॥ १७ ॥
पितामहस्ततोवाच देवीं प्रीतोऽस्मि शाश्वते । तपसा धूतपापासि वरं वृणु यथेप्सितम् ॥ १८ ॥
अथोवाच वचः काली व्याघ्रस्य कमलोद्भव । वरदो भव तेनाहं यास्ये प्रीतिमनुत्तमाम् ॥ १९ ॥
ततः प्रादाद् वरं ब्रह्मा व्याघ्रस्याद्भुतकर्मणः । गाणपत्यं विभौ भक्तिमजेयत्वं च धर्मिताम् ॥ २० ॥

उसके बाद सौ वर्षोंतक ब्रह्ममन्त्रका जाप करती हुई देवीने तपस्या की । तब स्वर्ग, पृथ्वी तथा पातालके स्वामी ब्रह्मा उपस्थित हुए । ब्रह्माने देवीसे कहा—सनातनि ! मैं प्रसन्न हूँ । तुम तपस्या करके निष्पाप हो गयी हो । इच्छानुकूल वर माँगो । इसके बाद कालीने कहा—हे कमलजन्मा (ब्रह्माजी) ! इस व्याघ्रको आप वर दें । इससे मैं उत्तम सुख प्राप्त करूँगी । तब ब्रह्माजीने उस अलौकिक कर्म करनेवाले व्याघ्रको गणनायक हो जाने, शङ्करकी भक्ति प्राप्त करने एवं किसीसे न जीते जाने और धार्मिक हो जानेका वर दिया ॥ १७–२० ॥

वरं व्याघ्राय दत्त्वैव शिवकान्तामथाऽब्रवीत् । वृणीष्व वरमव्यग्रा वरं दास्ये तवाऽम्बिके ॥ २१ ॥
ततो वरं गिरिसुता प्राह देवी पितामहम् । वरः प्रदीयतां मह्यं वर्णं कनकसंनिभम् ॥ २२ ॥
तथेत्युक्त्वा गतो ब्रह्मा पार्वती चाभवत् ततः । कोशं कृष्णं परित्यज्य पद्मकिञ्जल्कसन्निभा ॥ २३ ॥
तस्मात् कोशाच्च संजाता भूयः कात्यायनी मुने ।
तामभ्येत्य सहस्राक्षः प्रतिजग्राह दक्षिणाम् । प्रोवाच गिरिजा देवी वाक्यं स्वार्थाय वासव ॥ २५ ॥

इस प्रकार व्याघ्रको वर देकर (उन्होंने) शिवकान्ता-(पार्वती) से कहा—अम्बिके ! तुम (भी) शान्त चित्तसे वर माँगो । मैं तुम्हें (भी) वर दूँगा । उसके बाद गिरिनन्दिनी पार्वती देवीने पितामहसे कहा—ब्रह्मन् ! मुझे यही वर दीजिये कि मेरा वर्ण सुवर्णके समान हो जाय । ब्रह्मा 'ऐसा ही हो' कहकर चले गये । पार्वती भी अपने शरीरका कालापन त्यागकर कमलके केसरके समान हो गयी । मुने ! उस कृष्ण कोशसे फिर कात्यायनी

उत्पन्न हुई। हजार आँखोंवाले इन्द्रने उनके पास जाकर दक्षिणा ग्रहण की और अपने लिये निम्नलिखित वचन कहा—॥ २१–२४ ॥

इन्द्र उवाच

इयं मदीयता मह्यं भगिनी मेऽस्तु कौशिकी। त्वत्कोशसम्भवा चेयं कौशिकी कौशिकोऽप्यहम्॥२५॥
तां प्रादादिति संश्रुत्य कौशिकीं रूपसंयुताम्। सहस्राक्षोऽपि तां गृह्य विन्ध्यं वेगाज्जगाम च॥२६॥
तत्र गत्वा त्वथोवाच तिष्ठस्वात्र महाबले। पूज्यमाना सुरैर्नाम्ना ख्याता त्वं विन्ध्यवासिना॥२७॥
तत्र स्थाप्य हरिर्देवीं दत्त्वा सिंहं च वाहनम्। भवामरारिहन्त्रीत्युक्त्वा स्वर्गमुपागमत्॥२८॥

इन्द्रने कहा—आप इसे मेरे लिये दे दें। यह कौशिकी मेरी बहन बनेगी। आपके कोशसे उत्पन्न होनेके कारण यह 'कौशिकी' हुई और मैं भी कौशिक हुआ। उसे मैंने दे दिया—इस (प्रतिज्ञा-वचन)को सुननेके बाद उस रूपवती कौशिकीको लेकर देवराज इन्द्र शीघ्रतापूर्वक विन्ध्यपर्वतपर चले गये। इसके बाद वहाँ जाकर (उन्होंने उससे) कहा—महाबले! तुम यहाँ रहो। देवताओंद्वारा आराधित होती हुई तुम 'विन्ध्यवासिनी' नामसे प्रसिद्ध होगी। इन्द्रने देवीको वहाँ स्थापितकर उनके वाहनके लिये (उन्हें) सिंह दे दिया और तुम देवताओंके शत्रुओंका मारने वाली बनो—ऐसा कहकर वे स्वर्ग चले गये ॥ २५–२८ ॥

उमाऽपि तं वरं लब्ध्वा मन्दरं पुनरेत्य च। प्रणम्य च महेशानं स्थिता सविनयं मुने॥२९॥
ततोऽमरगुरुः श्रीमान् पार्वत्या सहितोऽव्ययः। तस्थौ वर्षसहस्रं हि महामोहनके मुने॥३०॥
महामोहस्थिते रुद्रे भुवनाश्चेलुरुद्धता। चुक्षुभुः सागराः सप्त देवाश्च भयमागमन्॥३१॥
ततः सुराः सहेन्द्रेण ब्रह्मणः सदनं गताः। प्रणम्योचुर्महेशान जगत् क्षुब्धं तु किं त्विदम्॥३२॥

मुने! उमादेवी भी उस वरको प्राप्त करके मन्दर पर्वतपर चली गयीं और महेशको प्रणाम कर विनीनभाव रहने लगीं। मुने! उसके पश्चात् पार्वतीके साथ श्रीमान्, अव्यय देवगुरु एक हजार वर्षोंतक महामोहनक (सुरत-क्रीडामें) स्थित रहे। रुद्रदेवके महामोहमें स्थित होनेपर समस्त भुवन क्षुब्ध होकर विचलित हो गये। सातों सागर खलबला उठे और देवगण भयभीत हो गये। तब देवता लोग इन्द्रके साथ ब्रह्मलोक गये और महेशान-(ब्रह्मा)को प्रणाम कर बोले—यह जगत् क्यों अशान्त हो गया है—यह क्या बात है? ॥ २९–३२ ॥

तानुवाच भवो नूनं महामोहनके स्थितः। तेनाक्रान्तास्त्विमे लोका जग्मुः क्षोभं दुरत्ययम्॥३३॥
इत्युक्त्वा सोऽभवत् तूर्ष्णीं ततोऽप्यूचुः सुरा हरिम्। आगच्छ शक्र गच्छामो यावत् तन्न समाप्यते॥३४॥
समाप्ते मोहने बालो यः समुत्पत्स्यतेऽव्ययः। स नूनं देवराजस्य पदमैन्द्रं हरिष्यति॥३५॥
ततोऽमराणां वचनाद् विवेको बलघातिनः। भयाज्ज्ञानं ततो नष्टं भाविकर्मप्रचोदनात्॥३६॥

(ब्रह्माने) उन देवताओंसे कहा—निश्चय ही महादेव महामोहनक-(सुरतक्रीडा)में स्थित हैं। उनसे आक्रान्त होनेके कारण यह सारा जगत् अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है। इतना कहकर वे चुप हो गये। फिर देवताओंने इन्द्रसे कहा—शक्र! जबतक यह (महामोहनक) समाप्त नहीं हो जाता, तभीतक हमलोग उन-(महेश्वर)के पास चलें। मोह समाप्त हो जानेपर उत्पन्न होनेवाला अविनाशी बालक निश्चय ही देवराजके ऐन्द्रपदका हरण कर लेगा। उसके बाद भवितव्यतावश देवताओंके वचनसे बलघाती-(इन्द्र) का विवेक भयके कारण ज्ञान (भी) नष्ट हो गया ॥ ३३–३६ ॥

तत शक्रः सुरै सार्धं वह्निना च सहस्रदृक्। जगाम मन्दरगिरिं तच्छृङ्गे न्यविशत्तत ॥ ३७ ॥
अशक्ता सर्व पर्वते प्रवेष्टुं तद्भवाजिरम्। चिन्तयित्वा तु सुचिरं पावकं ते व्यसर्जयन् ॥ ३८ ॥
स चाभ्येत्य सुरश्रेष्ठो दृष्ट्वा द्वारे च नन्दिनम्। दुष्प्रवेश च त मत्वा चिन्ता वह्नि परा गत ॥ ३९ ॥
स तु चिन्तार्णवे मग्न प्रापश्यच्छम्भुसद्मन। निष्क्रामन्तीं महापङ्क्ति हंसाना विमला तथा ॥ ४० ॥

तब हजार आँखवाले इन्द्र अग्नि और देवताओंके साथ मन्दर पर्वतपर गये एव उस पर्वतकी ऊँची चोटीपर बैठ गये, परंतु वे सभी महादेवके भवनमें प्रवेश न पा सके। अधिक समयतक आपसमें विचार विमर्श कर उन लोगोंने अग्निदेवको (उनके पास) भेजा। सुरश्रेष्ठ अग्निदेव वहाँ गये और द्वारपर नन्दीको देखकर एव वहाँ प्रवेश पाना कठिन समझकर चिन्ता-सागरमें डूब गये। शोक-सागरमें डूबे हुए उन्होंने शम्भुके भवनसे निकल रही हंसोंकी निर्मल लम्बी कतार देखी ॥ ३७-४० ॥

अयमेवाभ्युपाय इत्युक्त्वा हंसरूपो हुताशन। वञ्चयित्वा प्रतीहार प्रविवेश हराजिरम् ॥ ४१ ॥
प्रविश्य सूक्ष्ममूर्तिश्च शिरोदेशे कपर्दिनः। प्राह प्रहस्य गम्भीरं देवा द्वारि स्थिता इति ॥ ४२ ॥
तच्छ्रुत्वा सहसोत्थाय परित्यज्य गिरे सुताम्। विनिष्क्रान्तोऽजिराच्छर्वो वह्निना सह नारद ॥ ४३ ॥
विनिष्क्रान्ते सुरपतौ देवा मुदितमानसा। शिरोभिरवनीं जग्मु सेन्द्रार्कशशिपावका ॥ ४४ ॥
ततः प्रीत्या सुरानाह यद्भ्यं कार्यमाशु मे। प्रणामावनताना वो दास्येऽहं वरमुत्तमम् ॥ ४५ ॥

यही उपाय है—ऐसा कहकर वे अग्निदेव द्वारपालको भुलावा देकर महादेवके गृहमें हंसरूपमें प्रविष्ट हो गये। प्रवेश करनेके पश्चात् सूक्ष्म शरीर धारण करनेवाले अग्निदेवने महादेवके सिरके पास हँसते हुए गम्भीर स्वरमें कहा—(प्रभो!) देवतालोग दरवाजेपर खड़े हैं। (पुलस्त्यजी बोले) नारदजी! महादेवजी उस बातको सुनकर उसी समय सहसा उठ और हिमालयकी कन्याको छोड़कर अग्निके साथ आँगनसे निकल आये। सुरपति शङ्करके निकल जानेपर इन्द्रसहित चन्द्र, सूर्य और अग्नि आदि सभी देवताओंने हर्षित मनवाले होकर पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया। उसके बाद (भगवान् महादेवने) प्रेमपूर्वक देवताओंसे कहा—देवताओ! आपलोग मुझे शीघ्र अपना कार्य बतायें। मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करनेवाले आपलोगोंको उत्तम वर दूँगा ॥ ४१-४५ ॥

देवा ऊचु

यदि तुष्टोऽसि देवाना वर दातुमिहेच्छसि। तदिद त्यज्यता ताव महामैथुनमीश्वर ॥ ४६ ॥

देवताओंने कहा—ईश्वर! यदि आप प्रसन्न हैं और हम देवताओंको वर देना चाहते हैं तो आप इस महासुरतलीलाका परित्याग कर दें ॥ ४६ ॥

ईश्वर उवाच

एवं भवतु सत्यक्तो मया भावोऽमरोत्तमा। ममेद तेज उद्रिक्त कश्चिद् देव प्रतीच्छतु ॥ ४७ ॥

ईश्वरने कहा—देवश्रेष्ठो! ऐसा ही होगा। मैंने आसक्ति छोड़ दी। किंतु कोई देवता मेरे इस बढ़े हुए तेज (शुक्र)को ग्रहण करे ॥ ४७ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्युक्ता शम्भुना देवा सेन्द्रचन्द्रदिवाकरा। असीदन्त यथा मग्ना पङ्के वृन्दारका इव ॥ ४८ ॥
सीदत्सु दैवतेष्वेव हुताशोऽभ्येत्य शङ्करम्। प्रोवाच मुञ्च तेजस्त्व प्रतीच्छाम्येष शङ्कर ॥ ४९ ॥
ततो मुमोच भगवास्तद्रेत स्कन्नमेव तु। जल तृषार्तो वै यद्वत् तैलपान पिपासित ॥ ५० ॥
तत पीते तेजसि वै शार्वे देवेन वह्निना। स्वस्था सुरा समामन्त्र्य हर जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥ ५१ ॥

पुलस्त्यजी बोले—शम्भुके इस प्रकार कहनेपर (प्रश्न समस्यासे) इन्द्रके साथ चन्द्रमा एवं सूर्य आदि देवता कीचड़में फँसे हुए हाथीके समान दुःखी हो गये। देवताओंके इस प्रकार दुःखी हो जानेपर अग्निने (स्वयं) शङ्करके पास जाकर कहा—शङ्कर! आप (अपने) तेजको छोड़ें—बाहर करें। मैं उसे ग्रहण करूँगा। उसके बाद भगवान्ने (तेजको) छोड़ दिया और उस त्यक्त रेतस्को जैसे जलको प्यासा व्यक्ति तेल पी जाता है अग्निदेवने उसी प्रकार (उसे) पी लिया। अग्निके द्वारा शङ्करके तेजको इस प्रकार पी लिये जानेपर देवगण स्वस्थ हो गये और महादेवसे अनुमति लेकर स्वर्गमें लौट गये ॥ ४८—५१ ॥

सम्प्रयातेषु देवेषु हरोऽपि निजमन्दिरम्। समभ्येत्य महादेवीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५२ ॥
देवि देवैरिहाभ्येत्य यत्नात् प्रेष्य हुताशनम्। नीतः मोक्षो निषिद्धस्तु पुत्रोत्पत्तिं तवोदरात् ॥ ५३ ॥
साऽपि भर्तुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धा रक्तान्तलोचना। शशाप दैवतान् सर्वान् नष्टपुत्रोद्भवा शिवा ॥ ५४ ॥
यस्मान्नेच्छन्ति ते दुष्टा मम पुत्रमथौरसम्। तस्मात् ते न जनिष्यन्ति स्वासु योषित्सु पुत्रकान् ॥ ५५ ॥

देवताओंके स्वर्ग चले जानेपर महादेवने भी अपने मन्दिरमें जाकर महादेवीसे यह वचन कहा—देवि! देवोंने यहाँ आकर युक्तिसे अग्निको मेरे निकट भेजकर मुझे बुलाया और तुम्हारी कोखसे पुत्र न जननेके लिये कहा। पुत्र न जननेकी बात पतिसे सुनकर क्रोधसे शिवाकी आँखें लाल हो गयीं और (उन्होंने) समस्त देवताओंको शाप दे दिया, क्योंकि वे दुष्ट मेरे उदरसे पुत्रकी उत्पत्ति नहीं चाहते, अतः वे भी अपनी पत्नियोंसे पुत्र नहीं उत्पन्न करेंगे ॥ ५२—५५ ॥

एवं शप्त्वा सुरान् गौरी शौचशालामुपागमत्। आहूय मालिनीं स्नातुं मतिं चक्रे तपोधना ॥ ५६ ॥
मालिनी सुरभिं गृह्य श्लक्ष्णमुद्वर्तनं शुभा।
देव्यङ्गमुद्वर्तयते करभ्यां कनकप्रभम्। तत्स्वेदं पार्वती चैव मेने कीदृग्गुणेन हि ॥ ५७ ॥
मालिनी तूर्णमगमद् गृहं स्नानस्य कारणात्। तस्यां गतायां शैलेयी मलाच्चक्रे गजाननम् ॥ ५८ ॥
चतुर्भुजं पीनवक्षं पुरुषं लक्षणान्वितम्। कृत्वोत्ससर्ज भूम्यां च स्थिता भद्रासने पुनः ॥ ५९ ॥

इस तरह देवताओंको शाप देकर तपोधना गौरी शुद्धिशालामें गयीं और मालिनीको बुलाकर स्नान करनेका विचार किया। सुन्दरी मालिनी सुगन्धयुक्त मुलायम उबटन लेकर देवीके सोने जैसे कान्तिवाले शरीरमें (उसे) दोनों हाथोंसे लगाने लगी। (उबटन लगाते समय पसीनेसे मिला उबटनका मैल देखकर) पार्वतीजी (अपने मनमें) विचार करने लगीं कि (देखूँ कि) इस स्वेदमें क्या गुण है। मालिनी स्नान-(कराने)के लिये शीघ्र स्नानगृहमें (पहले) चली गयी। उसके चले जानेपर शैलपुत्रीने (उस) मैलसे गजवदनको बनाया। चार भुजावाले, चौड़ी छातीवाले, सुन्दर लक्षणोंसे युक्त पुरुषको बनाकर उसे भूमिपर रख दिया और वे स्वयं पुनः उत्तम आसनपर बैठ गयीं ॥ ५६—५९ ॥

मालिनी तच्छिरः स्नानं ददौ विहसती तदा। ईषद्धासामुमा दृष्ट्वा मालिनीं प्राह नारद ॥ ६० ॥
किमर्थं भीरु शनकैर्हसमि त्वमतीव च। साऽथोवाच हसाम्येवं भयत्यास्तनयः किल ॥ ६१ ॥
भविष्यतीति देवेन प्रोक्तो नन्दी गणाधिपः। तच्छ्रुत्वा मम हासोऽयं संजातोऽद्य कृशोदरि ॥ ६२ ॥
यस्माद् देवैः पुत्रकामः शङ्करो विनिवारितः। एतच्छ्रुत्वा वचो देवी सस्नौ तत्र विधानतः ॥ ६३ ॥

उस समय मालिनीने हँसते हुए देवीको सिरसे स्नान कराया। नारदजी! मालिनीको मुस्कराते हुए देखकर देवीने कहा—भीरु! तुम धीरे-धीरे इतना क्यों हँस रही हो? मालिनीने कहा—मैं इसलिये हँस रही

हैं कि आपको (अवश्य) पुत्र होगा, ऐसा महादेवने गणपति नन्दीसे कहा था। कृशोदरि! उसे सुनकर (स्मरण कर) आज मुझे हँसी आ गयी है, क्योंकि देवताओंने शङ्करको पुत्रके लिये इच्छा करनेसे रोक दिया है। इस बातको सुनकर देवीने (फिर) यहाँ विधिपूर्वक स्नान किया ॥ ६०–६३ ॥

स्नात्वार्च्य शङ्करं भक्त्या समभ्यागाद् गृहं प्रति। ततः शम्भुः समागत्य तस्मिन् भद्रासने त्वपि ॥ ६४ ॥
स्नातस्तस्य ततोऽधस्तात् स्थित स मलपूरुषः। उमास्वेदं भवस्वेदं जलभूतिसमन्वितम् ॥ ६५ ॥
तत्सम्पर्कात् समुत्तस्थौ फूत्कृत्य करमुत्तमम्। अपत्यं हि विदित्वा च प्रीतिमान् भुवनेश्वरः ॥ ६६ ॥
तं चादाय हरो नन्दिमुवाच भगनेत्रहा। इदं स्नात्वार्च्य देवादीन् वारिभिरङ्घ्रि पितॄनपि ॥ ६७ ॥

स्नान करनेके बाद भक्तिसे शङ्करकी अर्चना कर उमा घरकी ओर चलीं। उसके बाद महादेवने भी आकर उसी पवित्र आसनपर स्नान किया। उसी आसनके नीचे वह मैलसे बनाया पुरुष पड़ा था। उमाके स्वेद एवं जल तथा भस्मसे युक्त शङ्करके स्वेदका सम्मिश्रण होनेसे वह उत्तम शुण्डसे फूत्कार करते हुए उठा। उसे अपना पुत्र जानकर भुवनेश्वर प्रसन्न हो गये। भगनेत्रको नष्ट करनेवाले महादेवने उसे लेकर नन्दीसे कहा— (यह मेरा पुत्र है)। स्नान करनेके बाद शिवने स्तुतियोंसे देवताओंकी तथा जलसे (नित्य) पितरोंकी भी अर्चना की ॥ ६४–६७ ॥

जप्त्वा सहस्रनामानमुमापार्श्वमुपागतः। समेत्य देवीं विहसन् शङ्करः शूलधृग् वचः ॥ ६८ ॥
प्राह त्वं पश्य शैलेयि स्वसुतं गुणसंयुतम्। इत्युक्ता पर्वतसुता समेत्यापश्यदद्भुतम् ॥ ६९ ॥
यत्तदङ्गमलाद्दिव्यं कृतं गजमुखं नरम्। ततः प्रीता गिरिसुता तं पुत्रं परिषस्वजे ॥ ७० ॥
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय ततः शर्वोऽब्रवीदुमाम्। नायकेन विना देवि तव भूतोऽपि पुत्रकः ॥ ७१ ॥
यस्माज्जातस्ततो नाम्ना भविष्यति विनायकः। एष विघ्नसहस्राणि सुरादीनां हरिष्यति ॥ ७२ ॥

वे सहस्रनामका जप कर उमाके निकट गये। देवीके निकट जाकर शूल धारण करनेवाले शङ्करने हँसते हुए यह वचन कहा—शैलजे! तुम अपने गुणवान् पुत्रको देखो। इस प्रकार कहे जानेपर पार्वतीने जाकर यह आश्चर्य देखा कि उनके शरीरके मलसे अलौकिक सुन्दर हाथीके मुखवाला पुरुष हो गया है। उसके बाद गिरिजाने प्रसन्नतापूर्वक उस पुत्रको आलिङ्गित किया। उसके सिरको सूँघकर शम्भुने उमासे कहा— देवि! तुम्हारा यह पुत्र बिना नायकके उत्पन्न हुआ है, अतः इसका नाम 'विनायक' होगा। यह देवादिकोंके सहस्रों विघ्नोंका हरण करेगा ॥ ६८–७२ ॥

पूजयिष्यन्ति चैवास्य लोका देवि चराचराः। इत्येवमुक्त्वा देव्यास्तु दत्तवांस्तनयाय हि ॥ ७३ ॥
सहायं तु गणश्रेष्ठं नाम्ना ख्यातं घटोदरम्। तथा मातृगणा घोरा भूता विघ्नकराश्च ये ॥ ७४ ॥
ते सर्वे परमेशेन देव्याः प्रीत्योपपादिताः। देवी च स्वसुतं दृष्ट्वा परां मुदमवाप च ॥ ७५ ॥
रेमेऽथ शम्भुना सार्धं मन्दरे चारुकन्दरे।
एवं भूयोऽभवद् देवी इयं कात्यायनी विभो। या जघान महादैत्यौ पुरा शुम्भनिशुम्भकौ ॥ ७६ ॥
एतत् तवोक्तं वचनं शुभाख्यं यथोद्भवं पर्वततो मृडान्याः।
स्वर्ग्यं यशस्यं च तथाघहारि आख्यानमूर्जस्करमद्रिपुत्र्याः ॥ ७७ ॥

॥ इति श्रीवामनपुराणे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

देवि! सारा चर और अचर जगत् इसकी पूजा करेगा। देवीसे इस प्रकार कहकर उन्होंने पुत्र विनायकके लिये घटोदर नामके श्रेष्ठ गणको दे दिया। फिर देवीके प्रेमसे घोर मातृगणों तथा विघ्नकारी भूतोंको अधीनतामें

करनेवाला बना दिया—परमेशने उन सबकी सृष्टि की। अपने पुत्रको देखकर पार्वती देवीको भी परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। इसके बाद देवी शम्भुके साथ सुन्दर कन्दराओंवाले मन्दराचलपर विचरण करने लगीं। फिर यह देवी फिर कात्यायनी हुईं, जिन्होंने प्राचीन कालमें शुम्भ और निशुम्भ नामके दो महान् दैत्योंका विनाश किया। (पुलस्त्यजी प्रकृत प्रसङ्गका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—) मृडानी जैसे पर्वतसे उत्पन्न हुईं, उस पुण्य आख्यानको मैंने आपसे कहा। पर्वतनन्दिनीका यह आख्यान स्वर्ग एवं यशको देनेवाला, पापका हरण करनेवाला एवं ओजस्वी है ॥ ७३–७७ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौवनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

[अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

कश्यपस्य दनुर्नाम भार्यासीद् द्विजसत्तम। तस्याः पुत्रत्रयं चासीत् सहस्राक्षाद् बलाधिकम् ॥ १ ॥
ज्येष्ठः शुम्भ इति ख्यातो निशुम्भश्चापरोऽसुरः। तृतीयो नमुचिर्नाम महाबलसमन्वितः ॥ २ ॥
योऽसौ नमुचिरित्येवं ख्यातो दनुसुतोऽसुरः। तं हन्तुमिच्छति हरिः प्रगृह्य कुलिशं करे ॥ ३ ॥
त्रिदिवेशं समायान्तं नमुचिस्तद्भयादथ। प्रविवेश रथं भानोस्ततो नाशकदच्युतः ॥ ४ ॥

पचपनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(देवीद्वारा नमुचिका वध, शुम्भ-निशुम्भका वृत्तान्त, धूम्रलोचनका वध, देवीका चण्ड-मुण्डसे युद्ध और असुरोंके सहित चण्ड-मुण्डका विनाश)

पुलस्त्यजी बोले—द्विजसत्तम! कश्यपकी दनु नामकी पत्नी थी। उसके इन्द्रसे अधिक बलशाली तीन पुत्र थे। उनमें बड़का नाम था शुम्भ, मझलेका नाम निशुम्भ और महाबलशाली तृतीय पुत्रका नाम नमुचि था। इन्द्रने हाथमें वज्र धारणकर नमुचि नामसे विख्यात (उस) दनुपुत्र असुरको मारना चाहा, तब नमुचि इन्द्रको आते देखकर उनके भयसे सूर्यके रथमें प्रवेश कर गया। इससे इन्द्र उसे मार न सके ॥ १–४ ॥

शक्रस्तेनाथ समयं चक्रे सह महात्मना। अवध्यत्वं वरं प्रादाच्छस्त्रैरस्त्रैश्च नारद ॥ ५ ॥
ततोऽवध्यत्वमाज्ञाय शस्त्रादस्त्राच्च नारद। संत्यज्य भास्कररथं पातालमुपयाद्थ ॥ ६ ॥
स निमज्जन्नपि जले सामुद्रं फेनमुत्तमम्। ददर्श दानवपतिस्तं प्रगृह्येदमब्रवीत् ॥ ७ ॥
यदुक्तं देवपतिना वासवेन वचोऽस्तु तत्। अयं स्पृशतु मां फेनः कराभ्यां गृह्य दानवः ॥ ८ ॥
मुखनासाक्षिकर्णादीन् सम्ममार्ज्ज यथेच्छया। तस्मिन्छक्रोऽसृजद् वज्रमन्तर्हितमपीश्वरः ॥ ९ ॥

नारद! इसके बाद महात्मा इन्द्रने उससे समझौता कर लिया और उसे अस्त्र-शस्त्रोंसे न मारे जानेका वर दे दिया। नारदजी! उसके बाद तो वह (नमुचि) अपनेको अस्त्र-शस्त्रोंसे न मारे जानेवाला जानकर सूर्यके रथको त्यागकर पातालोकमें चला गया। उस दानवपतिने जलमें स्नान करते हुए समुद्रके उत्तम फेनको देखा और उसे ग्रहण कर यह वचन कहा—देवराज! इन्द्रने जो वचन कहा है वह सत्य हो। यह फेन मेरा स्पर्श करे। ऐसा कहकर वह दानव दोनों हाथोंसे फेन उठाकर अपनी इच्छाके अनुसार उससे अपने मुख, नाक और कर्ण आदिका मार्जन करने लगा। उस-(फेन) में छिपे हुए इन्द्रने वज्रकी सृष्टि की ॥ ५–९ ॥

तेनासौ भग्ननासास्यः पपात च ममार च। समये च तथा भग्ने ब्रह्महत्याऽस्पृशद्धरिम् ॥ १० ॥
स वै तीर्थं समासाद्य स्नातः पापादमुच्यत। ततोऽस्य भ्रातरौ वीरौ क्रुद्धौ शुम्भनिशुम्भकौ ॥ ११ ॥
उद्योगं सुमहत्कृत्वा सुरान् बाधितुमागतौ। सुरास्तेऽपि सहस्राक्षं पुरस्कृत्य विनिर्ययुः ॥ १२ ॥
जितास्त्वाक्रम्य दैत्याभ्यां सबलाः सपदानुगाः। शक्रस्याहृत्य च गजं याम्यं च महिषं बलात् ॥ १३ ॥
वरुणस्य मणिच्छत्रं गदां वै मारुतस्य च। निधयः पद्मशङ्खाद्या हृतास्त्वाक्रम्य दानवैः ॥ १४ ॥

उससे उसकी नाक और मुख भग्न हो गये और वह गिर पड़ा तथा मर गया। प्रतिज्ञाके भङ्ग हो जानेसे इन्द्रको ब्रह्महत्याका पाप लगा। (फिर) वे तीर्थोंमें जाकर स्नान करनेसे पापमुक्त हुए। उसके बाद (नमुचिके मर जानेपर) शुम्भ और निशुम्भ नामके उसके दो वीर भाई अत्यन्त कुपित हुए। वे दोनों बहुत बड़ी तैयारी कर देवताओंको मारनेके लिये चढ़ आये। (फिर तो) वे सभी देवता भी इन्द्रको आगे कर निकल पड़े। उन दोनों दैत्योंने धावा बोलकर सेना और अनुचरोंके साथ देवताओंको पराजित कर दिया। दानवोंने आक्रमणकर इन्द्रके हाथी, यमके महिष, वरुणके मणिमय छत्र, वायुकी गदा तथा पद्म और शङ्ख आदि निधियोंको भी छीन लिया ॥ १०–१४ ॥

त्रैलोक्यं वशगं चास्ते ताभ्यां नारद सर्वतः। तदाजग्मुर्महीपृष्ठं ददृशुस्ते महासुरम् ॥ १५ ॥
रक्तबीजमथोचुस्ते को भवानिति सोऽब्रवीत्। अहं दैत्योऽस्मि विभो सचिवो महिषस्य तु ॥ १६ ॥
रक्तबीजेति विख्यातो महावीर्यो महाभुजः। अमात्यौ रुचिरौ वीरौ चण्डमुण्डाविति श्रुतौ ॥ १७ ॥
तावास्तां सलिले मग्नौ भयाद् देव्या महाभुजौ। यस्त्वासीत् प्रभुरस्माकं महिषो नाम दानवः ॥ १८ ॥
निहतः स महादेव्या विन्ध्यशैले सुविस्तृते।
भवन्तौ कस्य तनयौ कौ वा नाम्ना परिश्रुतौ। किंवीर्यौ किंप्रभावौ च एतच्छंसितुमर्हथः ॥ १९ ॥

नारदजी! उन दोनोंने तीनों लोकोंको अपने अधीन कर लिया। तब वे सभी (देवतालोग) पृथ्वीतलपर आ गये तथा उन लोगोंने रक्तबीज नामके एक महान् असुरको देखा और उससे पूछा—आप कौन हैं? उसने उत्तर दिया—विभो! मैं महिषासुरका मन्त्री एक दैत्य हूँ। मैं रक्तबीज नामसे विख्यात महापराक्रमी एवं विशाल भुजाओंवाला (दैत्य) हूँ। सुन्दर, श्रेष्ठ और विशाल भुजाओंवाले चण्ड और मुण्ड नामसे विख्यात, महिषके दो मन्त्री देवीके डरसे जलमें छिप गये हैं। महादेवीने सुविस्तृत विन्ध्यपर्वतपर हमारे स्वामी महिष नामके दानवको मार डाला है। फिर (देवताओंने पूछा—) आपलोग (हमें) यह बतलायें कि आप दोनों किसके पुत्र हैं तथा आपलोग किस नामसे विख्यात हैं? (और आप दोनों यह भी बतलायें कि) आपलोगोंमें कितना बल एवं प्रभाव है? ॥ १५–१९ ॥

शुम्भनिशुम्भावूचतुः

अहं शुम्भ इति ख्यातो दनोः पुत्रस्तथौरसः। निशुम्भोऽयं मम भ्राता कनीयान् शत्रुपूगहा ॥ २० ॥
अनेन बहुशो देवाः सेन्द्ररुद्रदिवाकराः। समेत्य निर्जिता वीरा येऽन्ये च बलवत्तराः ॥ २१ ॥
तदुच्यतां कया दैत्यो निहतो महिषासुरः। यावत्तां घातयिष्यावः स्वसैन्यपरिवारितौ ॥ २२ ॥
इति तयोस्तु वदतोर्नर्मदायास्तटे मुने। जलवासाद्विनिष्क्रान्तौ चण्डमुण्डौ च दानवौ ॥ २३ ॥

शुम्भ और निशुम्भने कहा—(पहले शुम्भ बोला—) मैं दनुका औरस पुत्र हूँ और शुम्भ नामसे प्रसिद्ध हूँ। यह मेरा छोटा भाई है। इसका नाम निशुम्भ है। यह शत्रुसमूहका विनाश करनेवाला (वीर) है। इसने इन्द्र, रुद्र, दिवाकर आदि देवताओं तथा अन्य अनेक अत्यन्त बलशाली वीरोंको भी (बहुत बार चढ़ाई करके) पराजित कर दिया है। तुम बतलाओ कि किस देवीने दैत्य महिषासुरको मार दिया है? हम दोनों अपनी सेनाओंके साथ लेकर

विनाश करेंगे। मुने! नर्मदाके किनारे इस प्रकार दोनोंके बात करते समय चण्ड और मुण्ड नामके दानव जलसे बाहर निकल आये ॥ २०—२३ ॥

ततोऽभ्येत्यासुरश्रेष्ठौ रक्तबीजं समाश्रितौ। ऊचतुर्वचनं श्लक्ष्णं कोऽयं तव पुरस्सरः ॥ २४ ॥
स चोभौ प्राह दैत्योऽसौ शुम्भो नाम सुरार्दनः। कनीयानस्य च भ्राता द्वितीयो हि निशुम्भकः ॥ २५ ॥
एतावाश्रित्य तां दुष्टां महिषघ्नीं न संशयः। अहं विवाहयिष्यामि रत्नभूतां जगत्त्रये ॥ २६ ॥

उसके बाद असुरश्रेष्ठ उन दोनोंने रक्तबीजके निकट जाकर मधुर वाणीमें पूछा—तुम्हारे सामने यह कौन खड़ा है? उसने उन दोनोंसे कहा—यह देवताओंको कष्ट देनेवाला शुम्भ नामका दैत्य है एवं यह इसका छोटा भाई निशुम्भ है। मैं निश्चय ही इन दोनोंकी सहायतासे उस तीनों लोकोंमें रत्नस्वरूपा, (पर) दुष्टासे विवाह करूँगा, जिसने महिषासुरका विनाश किया है ॥ २४—२६ ॥

चण्ड उवाच

न सम्यगुक्तं भवता रत्नार्होऽसि न साम्प्रतम्। यः प्रभुः स्यात्स रत्नार्हस्तस्मात् शुम्भाय योज्यताम् ॥ २७ ॥
तदाचचक्षे शुम्भाय निशुम्भाय च कौशिकीम्। भूयोऽपि तद्विधा जाता कौशिकीं रूपशालिनीम् ॥ २८ ॥
ततः शुम्भो निजं दूतं सुग्रीवं नाम दानवम्। दैत्यं च प्रेरयामास सकाशं विन्ध्यवासिनीम् ॥ २९ ॥
स गत्वा तद्वचः श्रुत्वा देव्यागत्य महासुरः। निशुम्भशुम्भावाहेदं मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ ३० ॥

चण्डने कहा—आपका कहना उचित नहीं है, (क्योंकि) आप अभी उस रत्नके योग्य नहीं हैं। राजा ही रत्नके योग्य होता है। अतः शुम्भके लिये ही यह संयोग बैठाइये। उसके बाद उन्होंने शुम्भ और निशुम्भसे उस प्रकार सम्पन्न रूपवाली कौशिकीका वर्णन किया। तब शुम्भने अपने दूत सुग्रीव नामके दानवको विन्ध्यवासिनीके समीप भेजा। वह महान् असुर सुग्रीव वहाँ गया एवं देवीकी बात सुनकर क्रोधसे तिलमिला उठा। फिर उसने आकर निशुम्भ और शुम्भसे कहा ॥ २७—३० ॥

सुग्रीव उवाच

युवयोर्वचनाद् देवीं सदर्पं दैत्यनायकौ। गत्वावदमहं चैव तामहं वाक्यमद्भुतम् ॥ ३१ ॥
यथा शुम्भोऽतिविख्यातः ककुद्मी दानवेष्वपि। स त्वां प्राह महाभागे प्रभुरस्मि जगत्त्रये ॥ ३२ ॥
यानि स्वर्गे महीपृष्ठे पाताले चापि सुन्दरि। रत्नानि सन्ति तावन्ति मम वेश्मनि नित्यशः ॥ ३३ ॥
त्वमुक्ता चण्डमुण्डाभ्यां रत्नभूता कृशोदरि। तस्माद् भजस्व मां वा त्वं निशुम्भं वा ममानुजम् ॥ ३४ ॥

सुग्रीवने कहा—दैत्यनायको! आप लोगोंके कथनके अनुसार देवीके (समीप) उत्तर लिये मैं गया था। मैंने आज ही जाकर उससे कहा कि भाग्यशालिनि! सुप्रसिद्ध दानवश्रेष्ठ शुम्भने तुमसे कहा है कि—मैं तीनों लोकोंका समर्थ स्वामी हूँ। सुन्दरि! स्वर्ग, पृथ्वी एवं पातालके सारे रत्न मेरे घरमें सदा भरे रहते हैं। कृशोदरि! चण्ड और मुण्डने तुम्हें रत्नस्वरूपा बतलाया है। अतः तुम मेरा या मेरे छोटे भाई निशुम्भका वरण करो ॥ ३१—३४ ॥

सा चाह मां विहसती शृणु सुग्रीव मद्वचः। सत्यमुक्तं त्रिलोकेशः शुम्भो रत्नार्ह एव सः ॥ ३५ ॥
किं त्वस्ति दुर्विनीताया हृदये मे मनोरथः। यो मां विजयते युद्धे स भर्ता स्यान्महासुर ॥ ३६ ॥
मया चोक्ताऽवलिप्ताऽसि यो नयेत् ससुरासुरान्। स त्वां कथं न जयते सा त्वमुत्तिष्ठ भामिनि ॥ ३७ ॥
साऽथ मां प्राह किं कुर्मि यदनालोचितं कृतम्। मनोरथस्तु तद् गच्छ शुम्भाय च निवेदय ॥ ३८ ॥
तयैवमुक्तस्त्वभ्यागां त्वत्सकाशं महासुर। सा चाग्निकोटिसदृशा मत्वैवं कुरु यत्क्षमम् ॥ ३९ ॥

✿

(उसके बाद) हँसती हुई उसने मुझसे कहा कि सुग्रीव ! मेरी बात सुनो । तुमने यह ठीक कहा है कि तीनों लोकोंका स्वामी शुम्भ रत्नके अर्ह (उपयुक्त) है । परंतु महासुर ! मुझ अविनीताके हृदयकी यह अभिलाषा है कि युद्धमें मुझे पराजित करनेवाला ही मेरा पति हो । उत्तरमें (तब) मैंने (उससे) कहा कि तुम्हें घमण्ड हो गया है । भला जिस असुरने सारे देवताओं और राक्षसोंको पराजित कर अपने अधीन कर लिया है वह तुम्हें क्यों नहीं पराजित कर देगा ? इसलिये अयि कोमलाङ्गी ! तुम उठो—बात मान लो । उसके बाद उसने मुझसे कहा—मैं क्या करूँ ? बिना विचार किये ही मैंने इस प्रकारका प्रण कर लिया है । अतः (तुम) जाकर शुम्भसे मेरी बात कहो । फलतः महासुर ! उसके इस प्रकार कहनेपर मैं आपके निकट आ गया हूँ । वह जलती हुई आगकी लौकी भाँति तेजस्विनी है, यह जानकर आप जैसा उचित हो, वैसा कार्य करें ॥ ३५–३९ ॥

पुलस्त्य उवाच

इति सुग्रीववचनं निशाम्य स महासुरः । प्राह दूरस्थितं शुम्भो दानवं धूम्रलोचनम् ॥ ४० ॥

पुलस्त्यजी बोले—सुग्रीवकी इस बातको सुनकर उस महान् असुर शुम्भने कुछ दूरपर खड़े, धूम्रलोचन दानवसे कहा ॥ ४० ॥

शुम्भ उवाच

धूम्राक्ष गच्छ तां दुष्टां केशाकर्षणविह्वलाम् । सापराधां यथा दासीं कृत्वा शीघ्रमिहानय ॥ ४१ ॥
यश्चास्याः पक्षकृत् कश्चिद् भविष्यति महाबलः । स हन्तव्योऽविचार्यैव यदि हि स्यात् पितामहः ॥ ४२ ॥
स एवमुक्तः शुम्भेन धूम्राक्षोऽक्षौहिणीशतैः । वृतः षड्भिर्महातेजा विन्ध्यं गिरिमुपाद्रवत् ॥ ४३ ॥
स तत्र दृष्ट्वा तां दुर्गां भ्रान्तदृष्टिर्वाच ह ।
एह्येहि मूढे भर्तारं शुम्भमिच्छस्व कौशिकि । न चेद् बलान्नयिष्यामि केशाकर्षणविह्वलाम् ॥ ४४ ॥

शुम्भने कहा—धूम्राक्ष ! तुम जाओ । उस दुष्टाको अपराधिनी दासीकी तरह केश खींचनेसे व्याकुल बनाकर यहाँ शीघ्र ले आओ । यदि कोई पराक्रमी उसका पक्ष ले तो तुम बिना विचारे उसे मार डालना—चाहे ब्रह्मा ही क्यों न हो । शुम्भके इस प्रकार कहनेपर उस महान् तेजस्वी धूम्राक्षने छः सौ अक्षौहिणी* सेनाके साथ विन्ध्य पर्वतपर चढ़ाई कर दी । किंतु वहाँ उन दुर्गाको देखकर दृष्टि चौंधिया जानेसे उसने कहा—मूढ़े ! आओ, आओ ! कौशिकि ! तुम शुम्भको अपना पति बनानेकी इच्छा करो, अन्यथा मैं बलपूर्वक तुम्हारे केश पकड़कर तुम्हें घसीटता हुआ व्याकुल रूपमें (यहाँसे) ले जाऊँगा ॥ ४१–४४ ॥

श्रीदेव्युवाच

प्रेषितोऽसीह शुम्भेन बलान्नेतुं हि मां किल । तत्र किं ह्यबला कुर्याद् यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४५ ॥

श्रीदेवीने कहा—शुम्भने तुमको मुझे बलपूर्वक ले जानेके लिये निश्चय ही भेजा है तो इस विषयमें एक अबला क्या करेगी ! तुम जैसा चाहो वैसा करो ॥ ४५ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुक्तो विभावर्या बलवान् धूम्रलोचनः । समभ्यधावत् त्वरितो गदामादाय वीर्यवान् ॥ ४६ ॥
तमापतन्तं सगदं हुंकारेणैव कौशिकी । सबलं भस्मसाच्चक्रे शुष्कमग्निरिवेन्धनम् ॥ ४७ ॥
ततो हाहाकृतमभूज्जगत्यस्मिन् धराधरे । सबलं भस्मसान्नीतं कौशिक्या वीक्ष्य दानवम् ॥ ४८ ॥

---

* एक अक्षौहिणी सेनामें १०९३५० पैदल सिपाही, ६५६१० घुड़सवार, २१८७० रथी और २१८७० गजारोही रहते हैं ।

विनाश करेंगे। मुने! नर्मदाके किनारे इस प्रकार दोनोंके बात करते समय चण्ड और मुण्ड नामके दो दानव जलसे बाहर निकल आये ॥ २०–२३ ॥

ततोऽभ्येत्यासुरश्रेष्ठौ रक्तबीजं समाश्रितौ। ऊचतुर्वचनं श्लक्ष्णं कोऽयं तव पुरस्सरः ॥ २४ ॥
स चोभौ प्राह दैत्योऽसौ शुम्भो नाम सुरार्दनः। कनीयानस्य च भ्राता द्वितीयो हि निशुम्भकः ॥ २५ ॥
एतावाश्रित्य तां दुर्गां महिषघ्नीं न संशयः। अहं विवाहयिष्यामि रत्नभूतां जगत्त्रये ॥ २६ ॥

उसके बाद असुरश्रेष्ठ उन दोनोंने रक्तबीजके निकट जाकर मधुर शब्दोंमें पूछा—तुम्हारे सामने यह कौन खड़ा है? उसने उन दोनोंसे कहा—यह देवताओंको कष्ट देनेवाला शुम्भ नामका दैत्य है एवं यह दूसरा इसका छोटा भाई निशुम्भ है। मैं निश्चय ही इन दोनोंकी सहायतासे उस तीनों लोकोंमें रत्नस्वरूपा (उस) दुर्गासे विवाह करूँगा, जिसने महिषासुरका विनाश किया है ॥ २४–२६ ॥

चण्ड उवाच

न सम्यगुक्तं भवता रत्नार्होऽसि न साम्प्रतम्। यः प्रभुः स्यात्स रत्नार्हस्तस्माच्छुम्भाय योज्यताम् ॥ २७ ॥
तदाचचक्षे शुम्भाय निशुम्भाय च कौशिकीम्। भूयोऽपि तद्विधा जाता कौशिकी रूपशालिनीम् ॥ २८ ॥
ततः शुम्भो निजं दूतं सुग्रीवं नाम दानवम्। दैत्यं च प्रेषयामास सकाशं विन्ध्यवासिनीम् ॥ २९ ॥
स गत्वा तद्वचः श्रुत्वा देव्यागत्य महासुरः। निशुम्भशुम्भावाहेदं मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ ३० ॥

चण्डने कहा—आपका कहना उचित नहीं है, (क्योंकि) आप अभी उस रत्नके योग्य नहीं हैं। राजा ही रत्नके योग्य होता है। अतः शुम्भके लिये ही यह संयोग बैठाइये। उसके बाद उन्होंने शुम्भ और निशुम्भसे उस प्रकार सम्पन्न स्वरूपवाली कौशिकीका वर्णन किया। तब शुम्भने अपने दूत सुग्रीव नामके दानवको विन्ध्यवासिनीके समीप भेजा। वह महान् असुर सुग्रीव वहाँ गया एवं देवीकी बात सुनकर क्रोधसे तिलमिला उठा। फिर उसने आकर निशुम्भ और शुम्भसे कहा ॥ २७–३० ॥

सुग्रीव उवाच

युवयोर्वचनाद् देवीं प्रदेष्टुं दैत्यनायकौ। गतवानहमद्यैव तामहं वाक्यमब्रुवम् ॥ ३१ ॥
यथा शुम्भोऽतिविख्यातः प्रभुर्यो दानवेष्वपि। स त्वां प्राह महाभागे प्रभुरस्मि जगत्त्रये ॥ ३२ ॥
यानि स्वर्गे महीपृष्ठे पाताले चापि सुन्दरि। रत्नानि सन्ति तावन्ति मम वेश्मनि नित्यशः ॥ ३३ ॥
त्वमुक्ता चण्डमुण्डाभ्यां रत्नभूता कृशोदरि। तस्माद् भजस्व मां वा त्वं निशुम्भं वा ममानुजम् ॥ ३४ ॥

सुग्रीवने कहा—दैत्यनायको! आप लोगोंके कथनके अनुसार देवीसे (संवाद) कहनेके लिये मैं गया था। मैंने आज ही जाकर उससे कहा कि भाग्यशालिनि! सुप्रसिद्ध दानवश्रेष्ठ शुम्भने तुमसे कहा है कि—मैं तीनों लोकोंका समर्थ स्वामी हूँ। सुन्दरि! स्वर्ग, पृथ्वी एवं पातालके सारे रत्न मेरे घरमें सदा भरे रहते हैं। कृशोदरि! चण्ड और मुण्डने तुम्हें रत्नस्वरूपा बतलाया है। अतः तुम मेरा या मेरे छोटे भाई निशुम्भका वरण करो ॥ ३१–३४ ॥

सा चाह मां विहसती शृणु सुग्रीव मद्वचः। सत्यमुक्तं त्रिलोकेशः शुम्भो रत्नार्ह एव च ॥ ३५ ॥
किं त्वस्ति दुर्विनीताया हृदये मे मनोरथः। यो मां विजयते युद्धे स भर्ता स्यान्महासुर ॥ ३६ ॥
मया चोक्तोऽवलिप्तासि यो जयत् ससुरासुरान्। स त्वां कथं न जयते सा त्वमुत्तिष्ठ भामिनि ॥ ३७ ॥
साऽथ मां प्राह किं कुर्मि यदनालोचितं कृतम्। मनोरथस्तु तद् गच्छ शुम्भाय त्वं निवेदय ॥ ३८ ॥
तयैवमुक्तस्त्वभ्यागां त्वत्सकाशं महासुर। सा चाग्निकोटिसदृशी मत्वैवं कुरु यत्क्षमम् ॥ ३९ ॥

*

(उसके बाद) हँसती हुई उसने मुझसे कहा कि सुग्रीव ! मेरी बात सुनो। तुमने यह ठीक कहा है कि तीनों लोकोंका स्वामी शुम्भ रत्नके अर्ह (उपयुक्त) है। परंतु महासुर ! मुझ अविनीताके हृदयकी यह अभिलाषा है कि युद्धमें मुझे पराजित करनेवाला ही मेरा पति हो। उत्तरमें (तब) मैंने (उससे) कहा कि तुम्हें घमण्ड हो गया है। भला जिस असुरने सारे देवताओं और राक्षसोंको पराजित कर अपने अधीन कर लिया है वह तुम्हें क्यों नहीं पराजित कर देगा ? इसलिये अये कोपवाली ! तुम उठो—बात मान लो। उसके बाद उसने मुझसे कहा—मैं क्या करूँ ? बिना विचार किये ही मैंने इस प्रकारका प्रण कर लिया है। अतः (तुम) जाकर शुम्भसे मेरी बात कहो। फलतः महासुर ! उसके इस प्रकार कहनेपर मैं आपके निकट आ गया हूँ। वह जलती हुई आगकी लौकी भाँति तेजस्विनी है, यह जानकर आप जैसा उचित हो, वैसा कार्य करें॥ ३५—३९॥

पुलस्त्य उवाच

इति सुग्रीववचनं निशम्य स महासुरः। प्राह दूरस्थितं शुम्भो दानवं धूम्रलोचनम्॥ ४०॥

पुलस्त्यजी बोले—सुग्रीवकी इस बातको सुनकर उस महान् असुर शुम्भने कुछ दूरपर खड़े, धूम्रलोचन दानवसे कहा॥ ४०॥

शुम्भ उवाच

धूम्राक्ष गच्छ तां दुष्टां केशाकर्षणविह्वलाम्। सापराधां यथा दासीं कृत्वा शीघ्रमिहानय॥ ४१॥
यश्चास्याः पक्षकृत् कश्चिद् भविष्यति महाबलः। स हन्तव्योऽविचार्यैव यदि हि स्यात् पितामहः॥ ४२॥
स एवमुक्तः शुम्भेन धूम्राक्षोऽक्षौहिणीशतैः। वृतः षड्भिर्महातेजा विन्ध्यं गिरिमुपाद्रवत्॥ ४३॥
स तत्र दृष्ट्वा तां दुर्गां भ्रान्तदृष्टिरुवाच ह।
एह्येहि मूढे भर्तारं शुम्भमिच्छस्व कौशिकी। न चेद् बलान्नयिष्यामि केशाकर्षणविह्वलाम्॥ ४४॥

शुम्भने कहा—धूम्राक्ष ! तुम जाओ। उस दुष्टाको अपराधिनी दासीकी तरह केश खींचनेसे व्याकुल बनाकर यहाँ शीघ्र ले आओ। यदि कोई पराक्रमी उसका पक्ष ले तो तुम बिना विचारे उसे मार डालना—चाहे ब्रह्मा ही क्यों न हो। शुम्भके इस प्रकार कहनेपर उस महान् तेजस्वी धूम्राक्षने छः सौ अक्षौहिणी* सेनाके साथ विन्ध्य पर्वतपर चढ़ाई कर दी। किंतु वहाँ उन दुर्गाको देखकर दृष्टि चौंधिया जानेसे उसने कहा—मूढ़े ! आओ, आओ ! कौशिकि ! तुम शुम्भको अपना पति बनानेकी इच्छा करो, अन्यथा मैं बलपूर्वक तुम्हारे केश पकड़कर तुम्हें घसीटता हुआ व्याकुल रूपमें (वहाँसे) ले जाऊँगा॥ ४१—४४॥

श्रीदेव्युवाच

प्रेषितोऽसीह शुम्भेन बलान्नेतुं हि मां किल। तत्र किं ह्यबला कुर्याद् यथेच्छसि तथा कुरु॥ ४५॥

श्रीदेवीने कहा—शुम्भने तुमको मुझे बलपूर्वक ले जानेके लिये निश्चय ही भेजा है तो इस विषयमें एक अबला क्या करेगी ! तुम जैसा चाहो वैसा करो॥ ४५॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुक्तो विभावर्या बलवान् धूम्रलोचनः। समभ्यधावत् त्वरितो गदामादाय वीर्यवान्॥ ४६॥
तमापतन्तं सगदं हुंकारेणैव कौशिकी। सबलं भस्मसाच्चक्रे शुष्कमग्निरिवेन्धनम्॥ ४७॥
ततो हाहाकृतमभूज्जगत्यस्मिश्चराचरे। सबलं भस्मसात्रीतं कौशिक्या वीक्ष्य दानवम्॥ ४८॥

* एक अक्षौहिणी सेनामें १०९३५० पैदल सिपाही, ६५६१० घुड़सवार, २१८७० रथी और २१८७० गजारोही रहते हैं।

पुलस्त्यजी बोले—विन्ध्यवासिनी-(देवी) के इस प्रकार कहनेपर बलवान् एवं पराक्रमी धूम्रलोचन गदा लेकर झट दौड़ पड़ा। कौशिकीने गदा लेकर आ रहे उस असुरको, साथ ही उसकी सेनाको भी हुंकारसे ही ऐसे भस्म कर दिया जैसे आग सूखी लकड़ीको जला देती है। कौशिकीद्वारा सेनाके साथ बलवान् दानवको भस्म किये जाते देखकर सारे संसारमें हाहाकार मच गया ॥ ४६–४८ ॥

तच्च शुम्भोऽपि शुश्राव महच्छब्दमुदीरितम्। समादिदेश बलिनौ चण्डमुण्डौ महासुरौ ॥ ४९ ॥
रुरुं च बलिनां श्रेष्ठं तथा जग्मुर्मुदान्विताः। तेषां च सैन्यमतुलं गजाश्वरथसंकुलम् ॥ ५० ॥
समाजगाम सहसा यत्रास्ते कोशसम्भवा। तदायान्तं रिपुबलं दृष्ट्वा कोटिशतावरम् ॥ ५१ ॥
सिंहोऽग्रसद् धुतसटः पाटयन् दानवान् रणे। कांश्चित् करप्रहारेण कांश्चिदास्येन लीलया ॥ ५२ ॥
नखरैः कांश्चिदाक्रम्य उरसा प्रममाथ च। ते वध्यमानाः सिंहेन गिरिकन्दरवासिना ॥ ५३ ॥
भूतैश्च देव्यनुचरैश्चण्डमुण्डौ समाश्रयन्। तावार्त्तं स्वबलं दृष्ट्वा कोपप्रस्फुरिताधरौ ॥ ५४ ॥

शुम्भने भी (हाहाकारका) वह महान् शब्द सुना। उसके बाद उसने चण्ड एवं मुण्ड नामके दोनों महान् एवं बलवान् असुरों तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ रुरुको आदेश दिया और वे प्रसन्नतापूर्वक (युद्धके लिये) चल पड़े। हाथियों, घोड़ों और रथोंसे भरी उनकी बड़ी सेना शीघ्र ही वहाँ पहुँच गयी, जहाँ कौशिकी खड़ी थीं। उस समय शत्रुके सैकड़ों सेनाओंको आते देखकर सिंह युद्धमें अपनी गर्दनके बालोंको फटकारने लगा तथा खेल-खेलमें—बिना किसी परिश्रमके ही—दानवोंको पछाड़-पछाड़कर मारने लगा। उसने कुछको पंजोंके थपेड़ोंसे, कुछको मुखसे, कुछको तेज नखोंसे एवं कुछको अपनी छातीके धक्के देकर भयभीत कर दिया। फिर तो पर्वतकी गुफामें रहनेवाले सिंह एवं देवीके अनुगत भूतोंसे मारे जा रहे वे सभी दानव (भागकर) चण्ड-मुण्डकी शरणमें चले गये। चण्ड और मुण्ड अपनी सेनाको घबरायी एवं दुखी हुई देखकर कुपित हो गये और अपने ओठ फड़फड़ाने लगे ॥ ४९–५४ ॥

समाद्रवेतां दुर्गां वै पतङ्गाविव पावकम्। तावापतन्तौ रौद्रौ वै दृष्ट्वा क्रोधपरिप्लुता ॥ ५५ ॥
त्रिशाखां भ्रुकुटीं वक्त्रे चकार परमेश्वरी।
भ्रुकुटीकुटिलाद् देव्या ललाटफलकाद् द्रुतम्। काली करालवदना निःसृता योगिनी शुभा ॥ ५६ ॥
खट्वाङ्गमादाय करेण रौद्रमसिं च कालाञ्जनकोशमुग्रम्।
संशुष्कगात्रा रुधिराप्लुताङ्गी नरेन्द्रमूर्ध्ना स्रजमुद्वहन्ती ॥ ५७ ॥
कांश्चित् खड्गेन चिच्छेद खट्वाङ्गेन परान् रणे। न्यषूदयद् भृशं क्रुद्धा सरथाश्वगजान् रिपून् ॥ ५८ ॥

अग्निकी ओर उड़कर जानेवाले (जलकर मरनेवाले) पतिंगोंके समान वे दोनों दैत्य देवीकी ओर दौड़े। उन दोनों भयङ्कर दानवोंको सामने आते हुए देखकर देवी अत्यन्त क्रुद्ध हो गयीं। परमेश्वरीने मुखके ऊपर तीन रेखाओंवाली भृकुटि चढ़ायी। देवीके टेढ़ी भौंहोंसे युक्त भालस्थलसे शीघ्र ही विकराल मुखवाली, (भक्तोंके लिये) मङ्गलदायिनी योगिनी काली निकल आयी। उनके हाथमें भयङ्कर खट्वाङ्ग (नामक) हथियार तथा काले अञ्जनके समान तरकसमें युक्त भयङ्कर तलवार थी। उनका शरीर कङ्काल और खूनसे सना हुआ था तथा उनके गलेमें राजाओंके कटे हुए सिरोंकी बनी हुई मुण्डमाला थी। उन्होंने बहुत अधिक क्रुद्ध होकर युद्धमें कुछको तलवारके घाट उतार दिया और हाथी, रथ एवं घोड़ोंसे युक्त कुछ अन्य असुर-शत्रुओंको खट्वाङ्गसे मार डाला ॥ ५५–५८ ॥

चर्माङ्कुशं मुद्गरं च सधनुष्कं सघण्टिकम्। कुञ्जरं सह यन्त्रेण प्रचिक्षेप मुखेऽम्बिका ॥ ५९ ॥
सचक्रकूबररथं ससारथितुरङ्गमम्। समं योधेन वदने क्षिप्य चर्वयतेऽम्बिका ॥ ६० ॥

पत्र जग्राह केशेषु ग्रीवायामपर नरम्। पादेनाक्रम्य चैवान्य प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ६१ ॥
ततस्तु तद् बल देव्या भक्षित सबलाधिपम्। दृष्ट्वा प्रदुद्राव त चण्डी ददर्श स्वयम् ॥ ६२ ॥
आजघानाथ शिरसि खट्वाङ्गेन महासुरम्। स पपात हतो भूम्या छिन्नमूल इव द्रुम ॥ ६३ ॥

अम्बिका देवी चर्म, अङ्कुश, मुद्गर, धनुष, घण्टियों और यन्त्रके साथ हाथियोंको अपने मुखमें झोंकने लगीं और चक्र तथा मारती, घोड़े और योद्धाके साथ कूबरसे युक्त रथको अपने मुखमें डालकर वे चबाने लगीं। फिर उन्होंने किसीका सिरके केश पकड़कर, किसीको गला पकड़कर और अन्य किसीको पैरोंसे रौंद-रौंदकर मृत्युके समीप पहुँचा दिया। उसके बाद सेनापतिके साथ उस सेनाको देवीद्वारा भक्षण किया जाता हुआ देखकर रुरु दौड़ पड़ा। चण्डीने स्वय उसे देखा और खट्वाङ्गसे उस महान् असुरके सिरपर आघात कर दिया। वह मरकर जड़से कटे हुए वृक्षके समान पृथ्वीपर (धड़ामसे) गिर पड़ा ॥ ५०–६३ ॥

ततस्त पतित दृष्ट्वा पशोरिव विभावरी। कोशमुत्कर्तयामास कर्णादिचरणान्तिकम् ॥ ६४ ॥
सा च कोश समादाय बबन्ध विमला जटा। एका न बन्धमगमत् तामुत्पाट्याक्षिपद् भुवि ॥ ६५ ॥
सा जाता सुतरा रौद्री तैलाभ्यक्तशिरोरुहा। कृष्णार्धमर्धशुक्ल च धारयन्ती स्वक वपु ॥ ६६ ॥
साऽब्रवीद् वरमेक तु मारयामि महासुरम्। तस्या नाम तदा चक्रे चण्डमारीति विश्रुतम् ॥ ६७ ॥

देवीने उसे जमीनपर गिरा हुआ देखकर पशुके समान उसके कानसे पैरतकका कोश काट दिया—उसकी चमड़ी उधेड़ दी। उस कोश-(चमड़ी)को लेकर उन्होंने अपनी निर्मल जटाओंको बाँध लिया। उनमें एक जटा नहीं बाँधी गयी। उसे उखाड़कर उन्होंने जमीनपर फेंक दिया। वह जटा एक भयावनी देवी हो गयी। उसके सिरके बाल तेलसे सिक्त (सने) थे एव वह आधा काला तथा आधा सफेद वर्णका शरीर धारण किये हुए थी। उसने कहा—मैं एक भारी महासुरको मारूँगी। तब देवीने उसका चण्डमारी—यह प्रसिद्ध नाम रख दिया ॥ ६४–६७ ॥

साह गच्छस्व सुभगे चण्डमुण्डाविहानय। स्वय हि मारयिष्यामि तावानेतु त्वमर्हसि ॥ ६८ ॥
श्रुत्वैव वचन देव्या साऽभ्यद्रवत तावुभौ। प्रदुद्रुवतुर्भयार्तौ दिशामाश्रित्य दक्षिणाम् ॥ ६९ ॥
ततस्तावपि वेगेन प्राधावत् त्यक्तवाससौ। साऽधिरुह्य महावेग रासभ गरुडोपमम् ॥ ७० ॥
यतो गतौ च तौ दैत्यौ तत्रैवानुययौ शिवा। सा ददर्श तदा पौण्ड्र महिष वै यमस्य च ॥ ७१ ॥

देवीने कहा—सुभगे! तुम जाओ और चण्ड-मुण्डको यहाँ पकड़ लाओ। उन्हें पकड़ लानेमें तुम समर्थ हो। मैं स्वय उन्हें मारूँगी। इस प्रकार देवीके उस कथनको सुनकर वह उन दोनोंकी ओर दौड़ पड़ी। वे दोनों भयसे दुःखी होकर दक्षिण दिशाकी ओर भाग गये। तब चण्डमारी गरुड़के समान वेगवान् गदहेपर सवार होकर वेगसे भागनेके कारण वस्त्रहीन हुए उन दोनोंके पीछे दौड़ पड़ी। (फिर तो) जहाँ-जहाँ चण्ड और मुण्ड दोनों दैत्य गये, वहाँ-वहाँ उनके पीछे शिवा भी पहुँचती गयीं। उस समय उन्होंने यमराजके पौण्ड्रनामक महिषको देखा ॥ ६८–७१ ॥

सा तस्मादवतारयामास विषाण भुजगाकृतिम्। स प्रगृह्य करेणैव दानवावन्वगाज्जवात् ॥ ७२ ॥
तौ चापि भूमि सत्यज्य जग्मतुर्गगन तदा। वेगेनाभिसृता सा च रासभेन महेश्वरी ॥ ७३ ॥
ततो ददर्श गरुड पन्नगेन्द्र विषादिपुम्। कर्कोटक स दृष्ट्वैव ऊर्ध्वरोमा व्यजायत ॥ ७४ ॥
भयात्माप्ताथ गरुडो मांसपिण्डोपमो बभौ। न्यपतस्तस्य पत्राणि रौद्राणि हि पतत्रिण ॥ ७५ ॥

उसने (चण्डमारीने) उस महिषकी साँपके आकारवाली सींगको उखाड़ लिया और उसे हाथमें लेकर शीघ्रतासे दानवोंके पीछे दौड़ पड़ी। तब वे दोनों दैत्य पृथिवी छोड़कर आकाशमें चले गये। फिर महेश्वरी गरुड़के साथ शीघ्रतासे उन दोनोंका पीछा किया। (देवीने) सर्पराज कर्कोटकको खानेकी इच्छावाले गरुड़को देखा। (फिर तो देवीको) देखते ही उनके रोंगटे खड़े हो गये, वे डर गये। चण्डमारीके भयसे वे मांसपिण्डके समान—लोथड़े-से हो गये। उन पक्षिराजके भयङ्कर पाँख (भयके कारण) गिर पड़े ॥ ७२-७५ ॥

खगेन्द्रपत्त्राण्यादाय नागं कर्कोटकं तथा। वेगेनानुसरद् देवी चण्डमुण्डौ भयातुरौ ॥ ७६ ॥
सम्प्राप्तौ च तदा देव्या चण्डमुण्डौ महासुरौ। बद्धौ कर्कोटकेनैव बद्ध्वा विन्ध्यमुपागमत् ॥ ७७ ॥
निवेदयित्वा कौशिक्यै कोशमादाय भैरवम्। शिरोभिर्दानवेन्द्राणां तार्क्ष्यपत्त्रैश्च शोभनैः ॥ ७८ ॥
कृत्वा स्रजमनौपम्यां चण्डिकायै न्यवेदयत्। घर्घरां च मृगेन्द्रस्य चर्मणः सा समार्पयत् ॥ ७९ ॥

पक्षिराजके (गिरे हुए) पाँखों तथा कर्कोटक सर्पको लेकर चण्डमारी भयसे आर्त चण्ड और मुण्डके पीछे दौड़ी। उसके बाद तुरत ही वह देवी चण्ड और मुण्ड नामके महान् असुरोंके निकट पहुँच गयी एवं उन दोनोंको कर्कोटक नागसे बाँधकर विन्ध्य पर्वतपर ले आयी। उस चण्डमारीने देवीके पास उन दानवोंको निवेदित करनेके बाद भयङ्कर कोश लेकर दानवोंके मस्तकों तथा गरुड़के सुन्दर पाँखोंसे बनी अनुपम माला निर्मितकर देवीको दे दी एवं सिंहचर्मका घाघरा भी देवीको समर्पित किया ॥ ७६-७९ ॥

स्रजमन्यैः खगेन्द्रस्य पत्त्रैर्मूर्ध्नि निबध्य च। आत्मना सा पपौ पानं रुधिरं दानवस्य पि ॥ ८० ॥
चण्डं रथादाय चण्डं च मुण्डं चासुरनायकम्। चकार कुपिता दुर्गा विशिरस्कौ महासुरौ ॥ ८१ ॥
तयोरेवाहिना देवी शेखरं शुष्करेवती। कृत्वा जगाम कौशिक्या सकाशं भार्यया सह ॥ ८२ ॥
समेत्य साब्रवीद् देवि गृह्यतां शेखरोत्तमम्। ग्रथितो दैत्यशीर्षाभ्यां नागराजेन वेष्टितः ॥ ८३ ॥
तं शेखरं शिवा गृह्य चण्डाया मूर्ध्नि विस्तृतम्। बबन्ध प्राह चैवैनां कृतं कर्म सुदारुणम् ॥ ८४ ॥

उन्होंने स्वयं गरुड़के अन्य पाँखोंसे दूसरी माला बनाकर उसे अपने सिरमें बाँध लिया और (फिर वे) दानवोंका खून पीने लगीं। उसके बाद प्रचण्ड दुर्गाने चण्ड और असुरनायक मुण्डको पकड़ लिया एवं कुपित होकर उन दोनों महासुरोंका सिर काट डाला। शुष्करेवती देवीने सर्पद्वारा उनके सिरका अलंकार बनाया और वह चण्डमारीके साथ कौशिकीके पास गयी। वहाँ जाकर उसने कहा—देवि! दैत्योंके सिरसे गुँथे एवं नागराजसे लपेटकर सिरपर पहने जानेवाले इस श्रेष्ठ अलंकारको धारण करें। शिवा देवीने उस विस्तृत सिरके आभूषणको लेकर उसे चामुण्डाके मस्तकपर बाँध दिया और उनसे कहा—आपने अत्यन्त भयंकर कार्य किया है ॥ ८०-८४ ॥

शेखरं चण्डमुण्डाभ्यां यस्माद् धारयसे शुभम्। तस्माल्लोके तव ख्यातिश्चामुण्डेति भविष्यति ॥ ८५ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं त्रिनेत्रा सा चण्डमुण्डस्रजधारिणीं वै।
दिग्वाससं चाभ्यवदत् प्रतीता निषूदय स्वारिबलान्यमूनि ॥ ८६ ॥
सा त्वेवमुक्ताऽथ विषाणकोट्या सुघर्घरयुक्तेन च गामभेत।
निषूदयन्ती रिपुसैन्यमुग्रं चचार चान्यानसुरांश्चखाद ॥ ८७ ॥
ततोऽम्बिकायास्त्वथ चर्ममुण्डया माया च सिंहेन च भूतसंघैः।
निपात्यमाना दनुपुङ्गवास्ते प्रकम्पिताः शुम्भमुपाश्रयन्त ॥ ८८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

चूँकि आपने चण्ड और मुण्डके सिरोंका शुभ आभूषण धारण किया है, अतः आप लोकमें चामुण्डा नामसे प्रख्यात होंगी। चण्ड और मुण्डकी माला धारण करनेवाली उन देवीसे त्रिनेत्रने इस प्रकार कहकर शिवदूतीसे कहा—तुम अपने इन शत्रुसैनिकोंका विनाश करो। ऐसा कहनेपर बहुत तेज गतिवाले गणके साथ वह देवी भीषण नादसे उस शत्रु सेनाके दलोंका संहार करती हुई विचरण करने लगी और (इस प्रकार) असुरोंको चबाने लगी। उसके बाद अम्बिकाकी अनुगामिनियों—चर्ममुण्डा, मारी, सिंह एवं भूतगणोंद्वारा मारे जा रहे वे महादानव अपने नायक शुम्भकी शरणमें गये ॥ ८३–८८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचपनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

[अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

चण्डमुण्डौ च निहतौ दृष्ट्वा सैन्यं च विद्रुतम्।
समादिदेशातिबलं रक्तबीजं महासुरम्। अक्षौहिणीनां त्रिंशद्भिः कोटिभिः परिवारितम् ॥ १ ॥
तमापतन्तं दैत्यानां बलं दृष्ट्वैव चण्डिका। मुमोच सिंहनादं वै ताभ्यां सह महेश्वरी ॥ २ ॥
निनदन्त्यास्ततो देव्या ब्रह्माणी मुखतोऽभवत्। हंसयुक्तविमानस्था साक्षसूत्रकमण्डलुः ॥ ३ ॥
माहेश्वरी त्रिनेत्रा च वृषारूढा त्रिशूलिनी। महाहिवलया रौद्रा जाता कुण्डलिनी क्षणात् ॥ ४ ॥

छप्पनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(चण्डिकासे मातृकाओंकी उत्पत्ति, असुरोंसे उनका युद्ध, रक्तबीज निशुम्भ-शुम्भ-वध, देवताओंके द्वारा देवीकी स्तुति, देवीद्वारा वरदान और भविष्यमें प्रादुर्भावका कथन)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) शुम्भने चण्ड और मुण्डको मृत तथा सैनिकोंको भगा हुआ देखकर अत्यन्त बलवान् महान् असुर रक्तबीजको (लड़नेके लिये) आज्ञा दी। उसके बाद महेश्वरी चण्डिकाने दैत्योंकी तीस करोड़ अक्षौहिणीवाली उस सेनाको आती हुई देखकर उन दोनों देवियोंके साथ सिंहके समान गर्जन किया। उसके बाद सिंहके समान निनाद (हुंकार) करती हुई देवीके मुखसे, हंसके विमानपर बैठी हुई तथा अक्षमाला और कमण्डलु लिये ब्रह्माणी उत्पन्न हो गयी। क्षणभरमें ही वृषपर आरूढ त्रिशूलधारिणी महासर्पके कंगन पहने और कुण्डल धारण किये हुए तीन नेत्रोंवाली माहेश्वरी भी उत्पन्न हो गयी ॥ १–४ ॥

कण्ठादथ च कौमारी बर्हिपत्रा च शक्तिनी। समुद्भूता च देवर्षे मयूरवरवाहना ॥ ५ ॥
बाहुभ्यां गरुडारूढा शङ्खचक्रगदासिनी। शार्ङ्गबाणधरा जाता वैष्णवी रूपशालिनी ॥ ६ ॥
महोग्रमुसला रौद्रा दंष्ट्रोल्लिखितभूतला। वाराही पृष्ठतो जाता शेषनागोपरि स्थिता ॥ ७ ॥
वज्राङ्कुशोद्यतकरा नानालङ्कारभूषिता। जाता गजेन्द्रपृष्ठस्था माहेन्द्री स्तनमण्डलात् ॥ ८ ॥

देवर्षि नारदजी! मोरपंखसे सुशोभित शक्तिधारिणी एवं श्रेष्ठ मोरके वाहनपर आरूढ 'कौमारी' देवीके कण्ठसे उत्पन्न हुई। गरुडपर सवार, शङ्ख, चक्र, गदा, तलवार एवं धनुष-बाण धारण करनेवाली सौन्दर्यशालिनी 'वैष्णवी' शक्ति देवीकी दोनों भुजाओंसे उत्पन्न हुई। भारी भयङ्कर मूसल लिये, दाढ़ोंसे पृथ्वीको खोदनेवाली, शेषनागके ऊपर स्थित 'वाराही' शक्ति देवीकी पीठसे उत्पन्न हुई। हाथमें वज्र और अंकुशको लिये, भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे विभूषित, गजराजकी पीठपर बैठी हुई माहेन्द्री शक्ति उनके स्तन-मण्डलसे उत्पन्न हुई ॥ ५–८ ॥

विक्षिपन्ती सटाक्षेपैर्ग्रहनक्षत्रतारकाः । नखिनी हृदयाज्जाता नारसिंही सुदारुणा ॥ ९ ॥
ताभिर्निपात्यमानं तु निरीक्ष्य बलमासुरम् ।
ननाद भूयो नादान् वै चण्डिका निर्भया रिपून् । तन्निनादं महच्छ्रुत्वा त्रैलोक्यप्रतिपूरकम् ॥ १० ॥
समाजगाम देवेशः शूलपाणिस्त्रिलोचनः । अभ्येत्य पन्दा चैवैना प्राह वाक्यं तदाऽम्बिके ॥ ११ ॥
समायातोऽस्मि वै दुर्गे देह्याज्ञां किं करोमि ते । तद्वाक्यसमकालं च देव्या देहोद्भवा शिवा ॥ १२ ॥
जाता सा चाह देवेशं गच्छ दौत्येन शंकर । ब्रूहि शुम्भं निशुम्भं च यदि जीवितुमिच्छथ ॥ १३ ॥
तद् गच्छध्वं दुराचाराः सप्तमं हि रसातलम् । वासवो लभतां स्वर्गं देवाः सन्तु गतव्यथाः ॥ १४ ॥

गर्जनके बालोंको फटकारनेसे ग्रह, नक्षत्र और ताराओंको विक्षुब्ध करती हुई तीक्ष्ण नखोंवाली अत्यन्त भयङ्कर नारसिंही शक्ति देवीके हृदयसे उत्पन्न हुई। फिर चण्डिकाने उन शक्तियोंद्वारा संहार की जाती हुई असुर सेना एवं शत्रुओंको देखकर भयरहित होकर घोर गर्जना की। तीनों लोकोंको ध्वनिसे गुँजा देनेवाले उस गर्जनको सुनकर शूलपाणि, त्रिलोचन, महादेवजी देवीके निकट आये और उनको प्रणामकर (उन्होंने) यह कहा—अम्बिके! दुर्गे! मैं आ गया हूँ। मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ? मुझे आज्ञा दीजिये। उस उक्तिके साथ ही देवीके देहसे शिवा उत्पन्न हो गयी। उन्होंने देवेश्वरसे कहा—शङ्कर! आप दूत बनकर जाइये और शुम्भ निशुम्भसे कहिये कि अये दुराचारियो! यदि तुम सब जीनेकी इच्छा करते हो तो सातवें (लोक) रसातलमें चले जाओ। इन्द्रको स्वर्गकी प्राप्ति हो एवं देवगण पीड़ा (बाधासे) रहित हो जायँ ॥ ९—१४ ॥

यजन्तु ब्राह्मणायामी वर्णा यज्ञांश्च साम्प्रतम् । नोचेद् बलावलेपेन भवन्तो योद्धुमिच्छथ ॥ १५ ॥
तदागच्छध्वमव्यग्रा एषाऽहं विनिपूदये । यतस्तु सा शिवं दौत्ये न्ययोजयत नारद ॥ १६ ॥
ततो नाम महादेव्याः शिवदूतीत्यजायत ।
ते चापि शंकरवचः श्रुत्वा गर्वसमन्वितम् । हुङ्कृत्वाऽभ्यद्रवन् सर्वे यत्र कात्यायनी स्थिता ॥ १७ ॥
ततः शरैः शक्तिभिरङ्कुशैर्वरैः परश्वधैः शूलभुशुण्डिपट्टिशैः ।
प्रासैः सुतीक्ष्णैः परिघैश्च विस्तृतैर्ववर्षुरुग्रैस्त्ववरी सुरेश्वरीम् ॥ १८ ॥

ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्ण विधि विधानसे यज्ञ-(अनुष्ठान) करें। यदि तुम (सब) अपने पूरे बलके घमण्डसे युद्ध करना चाहते हो, तो आओ। यह मैं बिना किसी घबराहटके—आसानीसे तुमलोगोंका विनाश करूँ—किये देती हूँ। नारदजी! उन्होंने शिवको दूत बनाया, अतः महादेवीका नाम शिवदूती हुआ। वे सारे असुर भी शङ्करके गर्वीले वचनको सुनकर हुंकार करते हुए, जहाँ कात्यायनी स्थित थीं वहाँ दौड़ पड़े। उसके बाद दानवों असुर सुरेश्वरीके ऊपर बाण, शक्ति, अङ्कुश, श्रेष्ठ कुठार, शूल, भुशुण्डी, पट्टिश, तीक्ष्ण प्रास और बड़ा बड़े परिघ आदि अस्त्रोंकी बौछार करने लगे ॥ १५—१८ ॥

सा चापि बाणैर्वरकार्मुकच्युतैश्चिच्छेद शस्त्राण्यथ बाहुभिः सह ।
जघान चान्यान् रणचण्डविक्रमा महासुरान् बाणशतैर्महेश्वरी ॥ १९ ॥
मारी त्रिशूलेन जघान चान्यान् खट्वाङ्गपातैरपराश्च कौशिकी ।
महाजलक्षेपहतप्रभावान् ब्राह्मी तथान्यानसुरांश्चकार ॥ २० ॥
माहेश्वरी शूलविदारितोरसश्चकार दैत्यानपरांश्च वैष्णवी ।
शक्त्या कुमारी कुलिशेन चैन्द्री तुण्डेन चक्रेण वराहरूपिणी ॥ २१ ॥
नखैर्विभिन्नानपि नारसिंही अट्टाट्टहासैरपि रुद्रदूती ।
रुद्रस्त्रिशूलेन तथैव चान्यान् विनायकश्चापि परश्वधेन ॥ २२ ॥

युद्ध में प्रचण्ड पराक्रमशालिनी उस महेश्वरीने भी श्रेष्ठ धनुषसे निकले बाणोंसे असुरोंके शस्त्रोंको उनकी भुजाओंसहित काट दिया एवं सैकड़ों बाणोंसे अन्य असुरोंको मौतके घाट उतार दिया। माहेश्वरीने त्रिशूलसे बहुतोंको मार, कौशिकीने खड्गाङ्कके प्रहारसे बहुतोंका वध किया तथा ब्राह्मीने जलराशि फेंककर दूसरे बहुत-से असुरोंको प्राणहीन कर दिया। माहेश्वरीने शूलसे बहुत-से असुरोंका छाती उदकर जर्जर कर दिया। वैष्णवीने बहुतोंको जला कर भस्म कर डाला। कुमारीने शक्तिसे, एन्द्रीने वज्रसे, वाराहीने मुखसे एवं चक्रसे असुरोंका संहार किया। नारसिंहीने नखोंके प्रहारसे दैत्योंको चीर डाला, शिवदूतीने अट्टहाससे, रुद्रने त्रिशूलसे एवं विनायकने फरसेकी धारसे अन्य असुरोंको विनष्ट कर दिया ॥ १०—२२ ॥

एवं हि देव्या विविधैस्तु रूपैर्निपात्यमाना दनुपुङ्गवास्ते।
पेतुः पृथिव्यां भुवि चापि भूतैस्ते भक्ष्यमाणाः प्रलयं प्रजग्मुः ॥ २३ ॥
ते बध्यमानास्त्वथ दैवताभिर्महासुरा मातृभिराकुलाश्च।
विमुक्तकेशास्तरलेक्षणा भयात् तं रक्तबीजं शरणं हि जग्मुः ॥ २४ ॥
स रक्तबीजः सहसाभ्युपेत्य वरास्त्रमादाय च मातृमण्डलम्।
विद्रावयन् भूतगणान् समन्ताद् विवेश कोपात् स्फुरिताधरश्च ॥ २५ ॥
तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य मातरः शस्त्रैः शिताग्रैर्दितिजं ववृषुः।
यो रक्तबिन्दुर्न्यपतत् पृथिव्यां स तत्प्रमाणस्त्वसुरोऽपि जज्ञे ॥ २६ ॥

इस प्रकार देवीके बहुत-से रूपोंद्वारा संहार किये जाते हुए दानव धराशायी होने लगे। भूतगण पृथ्वीपर (गिरे हुए) उन दानवोंको खा-खाकर उन्हें नष्ट करने लगे। देवताओं और मातृशक्तियोंद्वारा संहार किये जा रहे एवं व्याकुल किये गये वे सारे महान् असुर खुले बालों एवं भयसे इधर-उधर देखते हुए रक्तबीजकी शरणमें गये। क्रोधसे ओठको फड़फड़ाते हुए रक्तबीज तेज धारवाले अस्त्रोंको लेकर एकाएक आ धमका एवं भूतगणोंको इधर उधर खदेड़ते हुए मातृव्यूहमें प्रवेश कर गया। उसको आते हुए देखकर मातृशक्तियोंने उस असुरपर अपने तेज शस्त्रोंकी बौछार की। (उनके शरीरसे) रक्तकी जो बूँदें पृथ्वीपर गिरती थीं उनसे उतने ही बड़े असुर उत्पन्न हो जाते थे ॥ २३—२६ ॥

ततस्तदाश्चर्यमयं निरीक्ष्य सा कौशिकी केशिनिमभ्युवाच।
पिबस्व चण्डे रुधिरं त्वरातेर्विनत्य वक्त्रं वडवानलाभम् ॥ २७ ॥
सा त्वेवमुक्ता वरदाऽम्बिका हि विनत्य वक्त्रं विकरालमुग्रम्।
ओष्ठं नभस्पृक् पृथिवीं स्पृशन्तं कृत्वाऽधरं तिष्ठति चर्ममुण्डा ॥ २८ ॥
ततोऽम्बिका केशविकर्षणाकुलं कृत्वा रिपुं प्राक्षिपत स्वयक्त्रे।
बिभेद शूलेन तथाऽप्युरस्तः क्षतोद्भवान्ये न्यपतंश्च वक्त्रे ॥ २९ ॥
ततस्तु शोषं प्रजगाम रक्तं रक्तक्षये हीनबलो बभूव।
तं हीनवीर्यं शतधा चकार चक्रेण चामीकरभूषितेन ॥ ३० ॥

उसके बाद उस अद्भुत दृश्यको देखकर कौशिकीने केशिनीसे कहा—चण्डिके! वडवानल-(समुद्री आग-) की भाँति अपने मुखको फैलाकर शत्रुका खून पी जाओ। ऐसा कहनेपर वरदायिनी अम्बिकाने अपना विशाल भयङ्कर मुँह फैलाया। ऊपरी ओठसे आकाश एवं निचले ओठसे पृथ्वीका स्पर्श करती हुई चामुण्डा खड़ी हो गयी। उसके बाद अम्बिकाने शत्रुके बालोंको पकड़ करके उसे घसीटकर व्याकुल कर दिया

अपने मुखमें डाल लिया और उसकी छातीमें शूलसे प्रहार कर दिया। तब रक्तसे उत्पन्न होनेवाले दूसरे गण भी उनके मुखमें ही गिरने लगे। उसके बाद उसका रक्त सूख गया। रक्तके नष्ट हो जानेसे वह क्षीण हो गया। निर्बल हो जानेपर उसका देवीने सुदर्शन विभूति चक्रसे सौ टुकड़ोंमें काट डाला ॥ २७-३० ॥

तस्मिन् निरस्ते दनुसैन्यनाथे ते दानवा दीनतरं विनेदुः ।
हा तात हा भ्रातरिति ब्रुवन्तः क्व यासि तिष्ठस्व मुहूर्तमद्य ॥ ३१ ॥
तथाऽपरे विलुलितकेशपाशा विशीर्णवर्माभरणा दिगम्बराः ।
निपातिता धरणितले मृडान्या प्रदुद्रुवुर्गिरिवरमुह्य दैत्याः ॥ ३२ ॥
विशीर्णवर्मायुधभूषणं तद् बलं निरीक्ष्यैव हि दानवेन्द्रः ।
विशीर्णचक्राक्षरथो निशुम्भः कोपान्मृडानीं समुपाजगाम ॥ ३३ ॥
खड्गं समादाय च चर्म भास्वरं धुन्वञ्छिरः प्रेक्ष्य च रूपमस्याः ।
सस्तम्भमादज्वरपीडितोऽथ चित्रे यथाऽसौ लिखितो बभूव ॥ ३४ ॥

उस दानव सेनापतिके मारे जानेपर वे सभी दानव हा तात ! हा भाई ! कहाँ जा रहे हो, क्षणभर रुको, यहाँ आओ—ऐसा कहते हुए करुण क्रन्दन करने लगे। मृडानीने खुले और बिखरे बालोंवाले तथा टूटे टुकड़े हुए कवचवाले अनेक नंगे दैत्योंको पृथ्वीपर गिरा दिया। वे श्रेष्ठ पर्वतश्रेष्ठको छोड़कर भाग गये। टूटे कवच, हथियारों एवं आभूषणोंसे युक्त अपनी सेनाको देखकर टूटे (ही) चक्र एवं धुरीवाले रथपर चढ़कर दानवश्रेष्ठ निशुम्भ क्रोधपूर्वक मृडानी (देवी)के पास गया। चमकती हुई तलवार और ढाल लेकर सिर हिलाते हुए वह देवीका रूप देखकर मोहज्वरसे पीड़ित हो चित्र-लिखे हुएकी भाँति ठिठक गया ॥ ३१-३४ ॥

तं स्तम्भितं वीक्ष्य सुरारिमग्रे प्रोवाच देवी वचनं विहस्य ।
अनेन वीर्येण सुरास्त्वया जिता अनेन मां प्रार्थयसे बलेन ॥ ३५ ॥
श्रुत्वा तु वाक्यं कौशिक्या दानवः सुचिरादिव । प्रोवाच चिन्तयित्वाऽथ वचनं वदतां वरः ॥ ३६ ॥
सुकुमारशरीरोऽयं मच्छस्त्रपतनादपि । शतधा यास्यते भीरु आमपात्रमिवाम्भसि ॥ ३७ ॥
एतद् विचिन्तयन्नर्थं त्वां प्रहर्तुं न सुन्दरि । करोमि बुद्धिं तस्मात् त्वं मां भजस्वायतेक्षणे ॥ ३८ ॥

देवीने उस स्तब्ध हुए देवताओंके शत्रुको सामने देखकर हँसते हुए यह वचन कहा—क्या इसी शक्तिके बलपर तुमने देवताओंको पराजित किया है ? और, क्या इसी बलपर मुझको (पत्नीरूपमें) पानेके लिये याचना करते रहे ? कौशिकीकी बात सुननेके बाद देरतक विचार करके बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ वह दानव यह वचन बोला—भीरु ! यह तुम्हारा अत्यन्त कोमल शरीर मेरे शस्त्रोंकी मारसे जलमें कच्चे बर्तनकी तरह सैकड़ों टुकड़ोंमें अलग-अलग हो जायगा। सुन्दरि ! यह सोचकर मैं तुम्हारे ऊपर आघात करनेका विचार नहीं कर रहा हूँ। अतः विशालनयने ! तुम मुझे अङ्गीकार कर लो ॥ ३५-३८ ॥

मम खड्गनिपातं हि नेन्द्रो धारयितुं क्षमः । निवर्तय मतिं युद्धाद् भार्या मे भव साम्प्रतम् ॥ ३९ ॥
इत्थं निशुम्भवचनं श्रुत्वा योगेश्वरी मुने । विहस्य भावगम्भीरं निशुम्भं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥
पराजिताऽहं रणे यावद् भवे भार्या हि कस्यचित् । भवान् यदीह भार्यार्थी ततो मां जय संयुगे ॥ ४१ ॥
इत्येवमुक्ते वचने खड्गमुद्यम्य दानवः । प्रचिक्षेप तदा वेगात् कौशिकीं प्रति नारद ॥ ४२ ॥

मेरी तलवारकी मारको इन्द्र भी नहीं सह सकते। तुम युद्धका विचार छोड़ दो एवं अब मेरी पत्नी बन जाओ। मुने ! योगीश्वरीने निशुम्भकी यह बात सुनकर हँसते हुए उससे भावभरे वचनमें कहा—

वीर ! लड़ाईके मैदानमें बिना हारे हुए मैं किसीकी पत्नी नहीं बन सकती । यदि तुम मुझे अपनी स्त्री बनाना चाहते हो तो संग्राममें मुझे जीत लो । नारदजी ! इस बातके कहनेपर उस दानवने तलवार उठाकर कौशिकीकी ओर उसे वेगसे चलाया ॥ ३९–४२ ॥

तमापतन्तं निस्त्रिंशं षड्भिर्बर्हिणराजितैः । चिच्छेद चर्मणा सार्द्धं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४३ ॥
खड्गे सचर्मणि छिन्ने गदां गृह्य महासुरः । समाद्रवत् कौशिकीं वायुवेगसमो जवे ॥ ४४ ॥
तस्यापतत एवाशु करौ श्लिष्टौ समौ दृढौ । गदया सह चिच्छेद क्षुरप्रेण रणेऽम्बिका ॥ ४५ ॥
तस्मिन्निपतिते रौद्रे सुरशत्रौ भयंकरे । चण्डाद्या मातरो हृष्टाश्चक्रुः किलकिलाध्वनिम् ॥ ४६ ॥

देवीने आती हुई उस तलवारको ढालसहित मोरके पंखसे सुशोभित छः बाणोंसे काट दिया । वह (दृश्य) बड़ा ही विचित्र हुआ । ढालके साथ तलवारके कट जानेपर वह महा असुर गदा लेकर हवाके समान तेजीसे कौशिकीकी ओर दौड़ा । अम्बिकाने लड़ाईमें चढ़ाई करनेवाले उस असुरकी, गदाके साथ सुपुष्ट, सुडौल, गठीली भुजाओंको क्षुरप्र (खुरपा या बाण) से उसी समय काट गिराया । उस अत्यन्त भयङ्कर देवशत्रुके गिरनेपर चण्डी आदि मातृकाएँ प्रसन्न होकर किलकिलाध्वनि (हर्षसूचक ध्वनि) करने लगीं ॥ ४३–४६ ॥

गगनस्थास्ततो देवाः शतक्रतुपुरोगमाः । जयस्व विजयेत्यूचुर्हृष्टाः शत्रौ निपातिते ॥ ४७ ॥
ततस्तूर्याण्यवाद्यन्त भूतसङ्घैः समन्ततः । पुष्पवृष्टिं च मुमुचुः सुराः कात्यायनीं प्रति ॥ ४८ ॥
निशुम्भं पतितं दृष्ट्वा शुम्भः क्रोधान्महामुने । वृन्दारकं समारुह्य पाशपाणिः समभ्यगात् ॥ ४९ ॥
तमापतन्तं दृष्ट्वाऽथ सगजं दानवेश्वरम् । जग्राह चतुरो बाणांश्चन्द्रार्धाकारवर्चसः ॥ ५० ॥

उसके बाद आकाशमें स्थित इन्द्र आदि देवगण शत्रुको मारकर गिराये जानेपर हर्षित होते हुए बोले—विजये ! तुम्हारी जय हो । फिर चारों ओर भूतगण भेरी बजाने लगे और देवगण कात्यायनीके ऊपर फूलोंकी वर्षा करने लगे । महामुनि नारदजी ! निशुम्भको गिरा हुआ देखकर शुम्भ क्रोधसे हाथमें पाश लिये हुए हाथीपर चढ़कर आया । हाथीपर चढ़कर दानवेश्वरको आते देख (देवीने) चमकते हुए अर्धचन्द्राकार चार बाणोंको उठा लिया ॥ ४७–५० ॥

क्षुरप्राभ्यां समं पादौ द्वौ चिच्छेद द्विपस्य सा । द्वाभ्यां कुम्भे जघानाथ हसन्ती लीलयाऽम्बिका ॥ ५१ ॥
निकृत्ताभ्यां गजः पद्भ्यां निपपात यथेच्छया । शक्रवज्रसमाक्रान्तं शैलराजशिरो यथा ॥ ५२ ॥
तस्यावर्जितनागस्य शुम्भस्याप्युत्पतिष्यतः । शिरश्चिच्छेद बाणेन कुण्डलालङ्कृतं शिवा ॥ ५३ ॥
छिन्ने शिरसि दैत्येन्द्रो निपपात सकुञ्जरः । यथा समहिषः क्रौञ्चो महासेनसमाहतः ॥ ५४ ॥
श्रुत्वा हतौ सुररिपू निहतौ मृडान्या सेन्द्राः ससूर्यमरुदश्विवसुप्रधानाः ।
आगम्य तं गिरिवरं विनयावनम्रा देव्यास्तदा स्तुतिपदं त्विदमीरयन्त ॥ ५५ ॥

हँसते हुए उस अम्बिकाने खेल-खेलमें दो तीखे बाणोंसे उस हाथीके दो पैरोंको काट दिया तथा दो बाणोंसे उसके कुम्भस्थलपर आघात किया । दो पैरोंके कट जानेपर वह हाथी इन्द्रके वज्रसे घायल पर्वतराजकी ऊँची चोटीकी तरह अपने-आप ही गिर पड़ा । शिवाने घायल हुए हाथीपरसे उछलते हुए शुम्भके कुण्डलसे सुशोभित मस्तक बाणसे (काट) गिरा दिया । सिरके कट जानेपर दैत्येन्द्र हाथीके साथ ऐसे गिर गया जैसे महासेन कार्तिकेयद्वारा घायल हुआ क्रौञ्चासुर महिषके साथ गिरा था । मृडानी (देवी)द्वारा दोनों शत्रुओंका संहार किया जाना सुनकर इन्द्रसहित सूर्य, मरुद्, अश्विनीकुमार एवं वसुगण आदि देवता उस श्रेष्ठ पर्वतपर आये एवं विनयपूर्वक देवीकी इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ ५१–५५ ॥

देवा ऊचु

नमोऽस्तु ते भगवति पापनाशिनि नमोऽस्तु ते सुररिपुदर्पशातनि।
नमोऽस्तु ते हरिहरराज्यदायिनि नमोऽस्तु ते मखभुजकार्यकारिणि ॥ ५६ ॥
नमोऽस्तु ते त्रिदशारिपुक्षयंकरि नमोऽस्तु ते शतमखपादपूजिते।
नमोऽस्तु ते महिषविनाशकारिणि नमोऽस्तु ते हरिहरभास्करस्तुते ॥ ५७ ॥
नमोऽस्तु तेऽष्टादशबाहुशालिनि नमोऽस्तु ते शुम्भनिशुम्भघातिनि।
नमोऽस्तु लोकार्तिहरे त्रिशूलिनि नमोऽस्तु नारायणि चक्रधारिणि ॥ ५८ ॥
नमोऽस्तु वाराहि सदा धराधरे त्वां नारसिंहि प्रणता नमोऽस्तु ते।
नमोऽस्तु ते वज्रधरे गजध्वजे नमोऽस्तु कौमारि मयूरवाहिनि ॥ ५९ ॥

देवताओंने स्तुति की—भगवति ! पापनाशिनि ! आपको नमस्कार है। सुर-शत्रुओंके दर्पका दलन करनेवाली ! आपको नमस्कार है। विष्णु और शङ्करको राज्य देनेवाली ! आपको नमस्कार है। यज्ञके भाग भोक्ता देवोंका कार्य करनेवाली ! आपको नमस्कार है। दानवोंके शत्रुओंका विनाश करनेवाली ! आपको नमस्कार है। इन्द्रके द्वारा पूजित चरणोंवाली ! आपको नमस्कार है। महिषासुरका विनाश करनेवाली ! आपको नमस्कार है। विष्णु, शङ्कर एवं सूर्यसे स्तुति की जानेवाली ! आपको नमस्कार है। अष्टादश भुजाओंवाली ! आपको नमस्कार है। शुम्भ और निशुम्भका वध करनेवाली ! आपको नमस्कार है। समस्त संसारका दुःख हरण करनेवाली ! त्रिशूल धारण करनेवाली ! आपको नमस्कार है। चक्र धारण करनेवाली नारायणि ! आपको नमस्कार है। वाराहि ! धराको सदा धारण करनेवाली ! आपको नमस्कार है। नारसिंहि ! आपके चरणोंपर हम प्रणत हैं, आपको नमस्कार है। वज्र धारण करनेवाली ! गजध्वजे ! आपको नमस्कार है। कौमारि ! मयूरवाहिनि ! आपको नमस्कार है ॥ ५६–५९ ॥

नमोऽस्तु पैतामहहंसवाहने नमोऽस्तु मालाविकटे सुकेशिनि।
नमोऽस्तु ते रासभपृष्ठवाहिनि नमोऽस्तु सर्वार्तिहरे जगन्मये ॥ ६० ॥
नमोऽस्तु विश्वेश्वरि पाहि विश्वं निषूदयारीन् द्विजदेवतानाम्।
नमोऽस्तु ते सर्वमयि त्रिनेत्रे नमो नमस्ते वरदे प्रसीद ॥ ६१ ॥
ब्रह्माणी त्वं मृडानी वरशिखिगमना शक्तिहस्ता कुमारी
वाराही त्वं सुवक्त्रा खगपतिगमना वैष्णवी त्वं सशार्ङ्गी।
दुर्दृश्या नारसिंही घुरघुरितरवा त्वं तथैन्द्री सवज्रा
त्वं मारी चर्ममुण्डा शवगमनरता योगिनी योगसिद्धा ॥ ६२ ॥
नमस्ते त्रिनेत्रे भगवति तव चरणानुषिता ये अहरहर्विनतशिरसोऽवनताः।
नहि नहि परिभवमस्त्यशुभं च स्तुतिबलिकुसुमकरा सततं ये ॥ ६३ ॥

ब्रह्माके हंसपर बैठनेवाली ! आपको नमस्कार है। विकटमाला धारण करनेवाली ! सुन्दर केशोंवाली ! नमस्कार है। गर्दभकी पीठपर बैठनेवाली ! आपको नमस्कार है। समस्त क्लेशोंका नाश करनेवाली ! ! आपको नमस्कार है। विश्वेश्वरि ! आपको नमस्कार है। आप विश्वकी रक्षा करें तथा ब्राह्मणों और के शत्रुओंका संहार करें। त्रिनेत्रे ! सर्वमयि ! आपको नमस्कार है। वरदायिनि ! आपको नमस्कार है। आप प्रसन्न हों। ब्रह्माणी और मृडानी आप ही हैं। आप ही सुन्दर मोरपर

चलनेवाली और हाथमें शक्ति धारण करनेवाली कुमारी हैं । सुन्दर मुखवाली वाराही आप ही हैं तथा गरुड़पर चलनेवाली, शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाली वैष्णवी आप ही हैं । घुर-घुर शब्द करनेवाली, दाँतनेमें भयंकर नारसिंही आप ही हैं । आप ही वज्र धारण करनेवाली ऐन्द्री एवं महानारी चर्ममुण्डा हैं । शवपर चलनेवाली तथा योग सिद्ध कर चुकनेवाली योगिनी भी आप ही हैं । तीन नेत्रोंवाली भगवति ! आपको नमस्कार है । आपके चरणोंका आश्रय कर नम्रतासे प्रतिदिन अपना सिर झुकानेवालों तथा बलि एवं फूलोंको हाथमें लिये सर्वत्र आपकी स्तुति करनेवालोंका कोई पराजय, अनादर और अकल्याण नहीं होता ॥ ६०–६३ ॥

> एवं स्तुता सुरवरैः सुरशत्रुनाशिनी प्राह प्रहस्य सुरसिद्धमहर्षिवर्यान् ।
> प्राप्तो मयाऽद्भुततमो भवतां प्रसादात् संग्रामभूम्नि सुरशत्रुजयः प्रमर्दात् ॥ ६४ ॥
> इमां स्तुतिं भक्तिपरा नरोत्तमा भवद्भिरुक्तामनुकीर्तयन्ति ।
> दुःस्वप्ननाशो भविता न संशयो वरस्तथान्यो व्रियतामभीप्सितः ॥ ६५ ॥

श्रेष्ठ देवताओंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर देवताओंके शत्रुओंका संहार करनेवाली देवीने देवताओं, सिद्धों और श्रेष्ठ महर्षियोंसे हँसकर कहा—मैंने आपलोगोंकी कृपासे युद्धभूमिमें (शत्रुका) मर्दन कर देवशत्रुओं (दानवों) पर अत्यन्त अनूठी विजय प्राप्त की है । आपलोगोंसे कही गयी इस स्तुतिको पढ़नेवाले भक्तिपरायण श्रेष्ठ मनुष्योंके दुःस्वप्नोंका निस्संदेह नाश होगा । (अब) आपलोग दूसरे इच्छित वरको माँगें ॥ ६४–६५ ॥

देवा ऊचुः

> यदि वरदा भवती त्रिदशानां द्विजशिशुगोषु यतस्व हिताय ।
> पुनरपि देवरिपूनपरांस्त्वं प्रदह हुताशनतुल्यशरीरे ॥ ६६ ॥

देवताओंने कहा—यदि आप देवताओंको वर देना चाहती हैं तो ब्राह्मणों, बच्चों और गौओंके कल्याणके लिये यत्न कीजिये । अग्निके सदृश शरीरवाली ! आप (इस समय) अन्य देवशत्रुओंको भविष्यमें भी जलाकर भस्म करें ॥ ६६ ॥

देव्युवाच

> भूयो भविष्याम्यसृगुक्षिताननाः हराननस्वेदजलोद्भवा सुराः ।
> अन्धासुरस्याप्रतिपोषणे रता नाम्ना प्रसिद्धा भुवनेषु चर्चिका ॥ ६७ ॥
> भूयो भविष्यामि सुरारिमुत्तमं सम्भूय नन्दस्य गृहे यशोदया ।
> स विप्रचित्तिं लवणं तथाऽपरौ शुम्भं निशुम्भं दशनप्रहारिणी ॥ ६८ ॥
> भूयः सुरास्तिष्ययुगे निराशिनो निरीक्ष्य नारी च गृहे दानवान्तो ।
> सम्भूय देव्याऽमितसत्यधामया सुरा भरिष्यामि च शाकम्भरी वै ॥ ६९ ॥
> भूयो विपक्षक्षपणाय देवा विन्ध्ये भविष्याम्यृषिरक्षणाय ।
> दुर्वृत्तचेष्टान् विनिहत्य दैत्यान् भूयः समेष्यामि सुरालयं हि ॥ ७० ॥
> यदाऽरुणाख्यो भविता महासुरः तदा भविष्यामि हिताय देवताः ।
> महालिरूपेण विनाशजीवितं कृत्वा समेष्यामि पुनस्त्रिविष्टपम् ॥ ७१ ॥

देवीने कहा—देवो ! मैं पुनः अन्धकके मुखपर पसीनेके जलसे उत्पन्न होकर रक्तसे रञ्जित मुखवाली होकर संसारमें चर्चिका नामसे प्रसिद्ध होऊँगी और अन्धकासुरका संहार करूँगी । फिर मैं नन्दके गृहमें उत्पन्न होकर प्रधान देव-शत्रुका वध करूँगी । वहाँ मैं अवतार लेकर दाँतोंके आघातसे विप्रचित्ति, लवण

अन्य शुम्भ-निशुम्भ दानवोंका विनाश करूँगी। देवताओ! कलियुगमें भोजन न करती हुई इन्द्रके घरमें गयोंको देखकर मैं पुनः अमितसत्यधामा देवीके साथ इन्द्रके घर शाकम्भरीके रूपमें प्रकट होकर भरण-पोषण करूँगी। देवताओ! पुनः मैं शत्रुओंके संहार तथा ऋषियोंकी रक्षाके लिये विन्ध्याचलमें उपस्थित होऊँगी। देवो! मैं दुराचारी दैत्योंका नाश करनेके बाद पुनः स्वर्ग चली जाऊँगी। देवताओ! अरुणाक्ष नामक महासुरके उत्पन्न होनेपर महाभ्रमरके रूपसे पुनः उत्पन्न होऊँगी एवं उसका संहार कर फिर स्वर्ग चली जाऊँगी ॥ ६७-७१ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वरदा सुराणां कृत्वा प्रणामं द्विजपुङ्गवानाम्।
विसृज्य भूतानि जगाम देवी खं सिद्धसङ्घैरनुगम्यमाना ॥ ७२ ॥
इदं पुराणं परमं पवित्रं देव्या जयं मङ्गलदायि पुंसाम्।
श्रोतव्यमेतन्नियतैः सदैव रक्षोघ्नमेतद्भगवानुवाच ॥ ७३ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ऐसा कहनेके बाद देवी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको प्रणाम करके अन्य प्राणियोंको विदा एवं देवोंको वर देकर सिद्धोंके साथ स्वर्गमें चली गयीं। संयतचित्त मनुष्योंको यह प्राचीन, परम पवित्र, पुरुषोंको मङ्गल देनेवाली देवीकी विजयकथा सदा सुननी चाहिये। भगवान्ने इसे 'रक्षोघ्न' कहा है ॥ ७२-७३ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छप्पनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

[अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

नारद उवाच

कथं सग्रहपः क्रौञ्चो भिन्नः स्कन्देन सुव्रत। एतन्मे विस्तराद् ब्रह्मन् कथयस्वामितद्युते ॥ १ ॥

सत्तावनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(कार्तिकेयका जन्म, उनके छः मुख और चतुर्मूर्ति होनेका हेतु, उनका सेनापति होना तथा उनका गण, मयूर, शक्ति और दण्डादिका पाना)

नारदजीने पूछा—स्कन्दने भक्तका सुपालन करनेवाले अमित तेजस्वी महान्! आप मुझे विस्तारसे यह बतलाये कि स्कन्दने महिषक सहित क्रौञ्चको किस प्रकार मारा? ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कथयिष्यामि कथां पुण्यां पुरातनीम्। यशोवृद्धिं कुमारस्य कार्तिकेयस्य नारद ॥ २ ॥
यत्पीतं घृतादीनं स्कन्नं शुक्रं पिनाकिनः। तेनाक्रान्तोऽभवद् ब्रह्मन् मन्दतेजा हुताशनः ॥ ३ ॥
ततो जगाम त्वाना सकाशममितद्युतिः। तैश्चापि प्रहितस्तूर्णं ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥ ४ ॥
स गच्छन् कुटिलां देवीं ददर्श पथि पावकः। तां दृष्ट्वा प्राह कुटिले तेज एतत्सुदुर्धरम् ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारद! सुनो, मैं कीर्तिको बढ़ानेवाली कुमार कार्तिकेयकी पवित्र प्राचीन कथा कहता हूँ। ब्रह्मन्! अग्निने शङ्करके उस च्युत शुक्रका पान कर लिया था। उससे ग्रस्त होनेके कारण अग्निका तेज क्षीण हो गया। उसके बाद अत्यन्त तेजस्वी अग्नि देवताओंके निकट गये। फिर उन देवोंके भेजे जानेपर वे शीघ्र ही ब्रह्मलोक चले गये। मार्गमें जाते हुए अग्निने कुटिला नामकी स्त्रीको देखा। उसको देखकर अग्निने कहा—कुटिले! इस तेजको धारण करना अत्यन्त कठिन है ॥ २-५ ॥

महेश्वरेण सत्यक्तं निर्दहेद् भुवनान्यपि । तस्मात् प्रतीच्छ पुत्रोऽयं तव धन्यो भविष्यति ॥ ६ ॥
इत्यग्निना सा कुटिला स्मृत्वा स्वमतमुत्तमम् । प्रक्षिपस्वाम्भसि मम माह वह्निं महापगा ॥ ७ ॥
ततस्त्वधारयद्देवी शार्वं तेजस्त्वपूपुषत् । हुताशनोऽपि भगवान् कामचारी परिभ्रमन् ॥ ८ ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि धृतवान् हव्यभुक् तत । मांसमस्थीनि रुधिरं मेदोऽन्त्ररेतसी त्वचं ॥ ९ ॥
रोमश्मश्रुक्षिकेशाद्याः सर्वे जाता हिरण्मयाः । हिरण्यरेता लोकेषु तेन गीतश्च पावकः ॥ १० ॥

शङ्करके द्वारा त्यागा गया (यह तेज समस्त) लोकोंको नष्ट कर देगा अतः तुम इसे ग्रहण कर लो । इससे तुम्हें एक भाग्यशाली पुत्र होगा । अग्निके इस प्रकार कहनेपर अपने उत्तम मनोरथका स्मरण कर महानदी कुटिलाने अग्निसे कहा—इसे मेरे जलमें छोड़ दें । (ऐसा कहनेपर) उसके बाद वह देवी शङ्करके तेजको ग्रहणकर उसका पालन-पोषण करने लगी । भगवान् अग्निदेव भी इच्छाके अनुसार विचरण करने लगे । अग्निने उस तेजको पाँच हजार वर्षोंतक धारण किया था । इसलिये अग्निके मांस, हड्डी, रक्त, मेदा, आँत, रेतस, त्वचा, रोम, दाढ़ी, मूँछ, नेत्र एवं केश आदि सभी सुवर्णमय बन गये । इसीसे संसारमें अग्निको 'हिरण्यरेता' कहा जाने लगा ॥ ६–१० ॥

पञ्चवर्षसहस्राणि कुटिला ज्वलनोपमम् । धारयन्ती तदा गर्भं ब्रह्मणः स्थानमागता ॥ ११ ॥
तां दृष्ट्वान् पद्मजन्मा संतप्यन्तीं महापगाम् । कृपया प्रच्छ केनायं तव गर्भः समाहितः ॥ १२ ॥
सा चाह शाङ्करं यत्तच्छुक्रं पीतं हि वह्निना । तदशक्तेन तेनाद्य निक्षिप्तं मयि सत्तम ॥ १३ ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि धारयन्त्याः पितामह । गर्भस्य वर्तते काले न पपात च कर्हिचित् ॥ १४ ॥

तब अग्निके समान उस गर्भको पाँच हजार वर्षोंतक धारण करती हुई कुटिला ब्रह्माके स्थानपर गयी । कमलजन्मा ब्रह्माने उस महानदीको संतप्त होती देखकर पूछा—तुम्हारा यह गर्भ किसके द्वारा स्थापित है ? उसने उत्तर दिया—सत्तम ! अग्निने पिये हुए शङ्करके उस शुक्रको अपनेमें धारण करनेकी शक्ति न होनेके कारण मुझमें त्याग दिया । पितामह ! गर्भ धारण किये हुए मेरा पाँच हजार वर्षका समय बीत गया, परंतु किसी प्रकार यह बाहर नहीं निकल रहा है ॥ ११–१४ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवानाह गच्छ त्वमुदयं गिरिम् । तत्रास्ति योजनशतं रौद्रं शरवणं महत् ॥ १५ ॥
तत्रैनं क्षिप सुश्रोणि विस्तीर्णे गिरिसानुनि । दशवर्षसहस्रान्ते ततो बालो भविष्यति ॥ १[illegible] ॥
सा श्रुत्वा ब्रह्मणो वाक्यं रूपिणी गिरिमागता । आगत्य गर्भं तत्याज मुखेनैवाद्रिनन्दिनी ॥ १७ ॥
सा तु संत्यज्य तं बालं ब्रह्माणं सहसागमत् । आपोमयी मन्त्रवशात् संजाता कुटिला सती ॥ १८ ॥

उसको सुनकर भगवान् ब्रह्माने कहा—तुम उदयाचलपर जाओ । वहाँपर सौ योजनमें फैला हुआ सरपतोंका विशाल घनघोर वन है । अयि सुन्दर कटिवाली ! उस विस्तृत पर्वतकी ऊँची चोटीपर इसे छोड़ दो । यह दस हजार वर्षोंके बाद बालक हो जायगा । ब्रह्माकी बात सुननेके बाद वह गिरिनन्दिनी सुन्दरी पर्वतपर गयी एवं मुखसे ही (उसने) गर्भका परित्याग कर दिया । वह उस (जन्म लेनेवाले) बालकको छोड़कर शीघ्र ही ब्रह्माके समीप चली गयी । सती कुटिला मन्त्र (शाप)के कारण जलरूपमें हो गयी ॥ १५–१८ ॥

तेजसा चापि शार्वेण रौक्मं शरवणं महत् । तन्निवासरताश्चान्ये पादपा मृगपक्षिणः ॥ १[illegible] ॥
ततो दशसु पूर्णेषु शरद्दशशतेष्वथ । बालार्कदीप्तिः संजातो बालः कमललोचनः ॥ २० ॥
उत्तानशायी भगवान् दिव्ये शरवणे स्थितः । मुखेऽङ्गुष्ठं समाक्षिप्य रुरोद जलदस्वनः ॥ २१ ॥
एतस्मिन्नन्तरे देव्यः कृत्तिकाः षट् सुतेजसः । ददृशुः स्वेच्छया यान्त्यो बालं शरवणे स्थितम् ॥ २२ ॥

शङ्करके तेजसे वह विशाल सरपतोंका वन सुवर्णमय बन गया। उस वनमें रहनेवाले पशु, पक्षी भी सुवर्णमय हो गये। उसके बाद दस हजार वर्षोंके बीत जानेपर उगते हुए बालसूर्यके समान दीप्ति तथा कमलके समान आँखोंवाला बालक उत्पन्न हुआ। उस दिव्य सरपतके वनमें उत्तान सोये हुए वह कुमार अपने मुखमें अपना अँगूठा डालकर बादलकी ध्वनिके समान अस्पष्ट ध्वनिमें रोने लगे। इसी बीच स्वेच्छासे जाती हुई दिव्य तेजस्विनी छहों कृत्तिकाओंने सरपतके वनमें स्थित उस बालकको देखा ॥ १९-२२ ॥

कृपायुक्ताः समाजग्मुर्यत्र स्कन्दः स्थितोऽभवत्। अहं पूर्वमहं पूर्वं तस्मै स्तन्येऽभिचुक्रुशुः ॥ २३ ॥
विवदन्तीः स ता दृष्ट्वा षण्मुखः समजायत। अबीभरंश्च ताः सर्वाः शिशुं स्नेहाच्च कृत्तिकाः ॥ २४ ॥
म्रियमाणः स ताभिस्तु बालो वृद्धिमगान्मुने। कार्त्तिकेयेति विख्यातो जातः स बलिनां वरः ॥ २५ ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन् पावकं प्राह पद्मजः। कियत्प्रमाणः पुत्रस्ते वर्त्तते साम्प्रतं गुहः ॥ २६ ॥

ये कृत्तिकाएँ दयापूर्वक वहाँ गयीं जहाँ कुमार स्कन्द थे। उन्हें दूध पिलानेके लिये वे आपसमें 'हम पहले, हम पहले' (पिलायेंगी—) कहकर विवाद करने लगीं। उन्हें आपसमें विवाद करती हुई देखकर वह कुमार षण्मुख (छह मुखवाले) बन गये। फिर तो उन (छहों) कृत्तिकाओंने प्रेमपूर्वक बच्चेका पोषण किया। मुने! उनके द्वारा रक्षित होकर वह शिशु बड़ा हुआ। वह बलवानोंमें श्रेष्ठ कार्त्तिकेय नामसे प्रसिद्ध हुआ। ब्रह्मन्! इसी बीच ब्रह्माने अग्निसे प्रश्न किया कि अग्निदेव! तुम्हारा पुत्र गुह (कार्तिकेय) इस समय कितना बड़ा हुआ है? ॥ २३-२६ ॥

स तद्वचनमाकर्ण्य अजानन् स्तं हरात्मजम्। प्रोवाच पुत्रं देवेश न वेद्मि कतमो गुहः ॥ २७ ॥
तं प्राह भगवान् यत्तु तेजः पीतं पुरा त्वया। त्रैयम्बकं त्रिलोकेश जातः शरवणे शिशुः ॥ २८ ॥
श्रुत्वा पितामहवचः पावकस्त्वरितोऽभ्यगात्। वेगिनं मेषमारुह्य कुटिला तं ददर्श ह ॥ २९ ॥
ततः पप्रच्छ कुटिला शीघ्रं क्व व्रजसे कवे। सोऽब्रवीत् पुत्रदृष्ट्यर्थं जातं शरवणे शिशुम् ॥ ३० ॥

ब्रह्माके प्रश्नको सुनकर अग्निने शंकरके उस पुत्रको न जाननेके कारण उत्तरमें कहा—देवेश! मैं पुत्रको नहीं जानता, कौन-सा गुह है? भगवान्‌ने उनसे कहा—त्रिलोकेश! पूर्वकालमें तुमने शंकरका जो तेज पी लिया था, वह शरवण-(सरपतके वन)में शिशुरूपमें उत्पन्न हुआ है। पितामहका वचन सुननेके बाद अग्निदेव तीव्र गतिवाले बकरेपर चढ़कर शीघ्र (वहाँ) गये। कुटिलाने उन्हें जाते हुए देखा। तब कुटिलाने उनसे पूछा—अग्निदेव! आप कहाँ जा रहे हैं? उन्होंने कहा—कुटिले! शरवणमें उत्पन्न हुए बालक पुत्रको देखने जा रहा हूँ ॥ २७-३० ॥

साऽब्रवीत् तनयो मह्यं ममेत्याह च पावकः। विवदन्तौ ददर्शाथ स्वेच्छाचारी जनार्दनः ॥ ३१ ॥
तौ पप्रच्छ किमर्थं वा विवादमिह चक्रथ। तावूचतुः पुत्रहेतो रुद्रशुक्रोद्भवाय हि ॥ ३२ ॥
तावुवाच हरिर्देवो गच्छतं त्रिपुरान्तकम्। स यद् वक्ष्यति देवेशस्तत्कुरुध्वमसंशयम् ॥ ३३ ॥
इत्युक्तौ वासुदेवेन कुटिलाग्नी हरान्तिकम्। समभ्येत्योचतुस्तथ्यं कस्य पुत्रेति नारद ॥ ३४ ॥

उसने कहा कि 'पुत्र मेरा है' और अग्निने कहा कि 'मेरा है'। स्वेच्छासे विचरण कर रहे जनार्दनने उन दोनोंको परस्पर विवाद करते हुए देखा। उन्होंने उन दोनोंसे पूछा—तुम दोनों आपसमें किसलिये विवाद कर रहे हो। (तो) उन दोनोंने कहा—रुद्रके शुक्रसे उत्पन्न हुए पुत्रके लिये। विष्णुने उन दोनोंसे कहा—तुम दोनों

त्रिपुरासुरका विनाश करनेवाले शिवके पास जाओ। वे देवेश जो कहें, उसे निस्सन्देह करो। (पुलस्त्यजी कहते हैं कि) नारदजी! ब्रह्माके इस प्रकार कहनेपर कुटिला एवं अग्नि शंकरके पास गये और उन्होंने उनसे) यह गूढ़ रहस्य पूछा कि पुत्र किसका है? ॥ ३१–३४ ॥

रुद्रस्तद्वाक्यमाकर्ण्य हर्षनिर्भरमानसः। दिष्ट्या दिष्ट्येति गिरिजां प्रोद्भूतपुलकोऽब्रवीत् ॥ ३५ ॥
ततोऽम्बिका प्राह हरं देव गच्छाम तं शिशुम्। प्रष्टुं समाश्रयेद् यं स तस्य पुत्रो भविष्यति ॥ ३६ ॥
बाढमित्येव भगवान् समुत्तस्थौ वृषध्वजः। सहोमया कुटिलया पावकेन च धीमता ॥ ३७ ॥
सम्प्राप्तास्ते शरवणं हराग्निकुटिलाम्बिकाः। ददृशुः शिशुकं तं च कृत्तिकोत्सङ्गशायिनम् ॥ ३८ ॥

उनके वचनको सुनकर शंकरका मन हर्षसे भर गया। उन्होंने हर्षगद्गद होकर गिरिजासे कहा—अहो भाग्य! अहो भाग्य!! तब अम्बिकाने शंकरसे कहा—देव! हम सब उस शिशुसे ही पूछने चलें। वह जिसका आश्रय स्वीकार करेगा उसीका पुत्र होगा। ठीक है—ऐसा कहकर वृषध्वज भगवान् शंकर पार्वती, कुटिला तथा बुद्धिमान् पावकके साथ चलनेके लिये उठ खड़े हुए। शंकर, पार्वती, कुटिला एवं पावक शरवणमें गये। उन लोगोंने कृत्तिकाकी गोदमें लेटे हुए उस बालकको देखा ॥ ३५–३८ ॥

ततः स बालकस्तेषां मत्वा चिन्तितमादरात्। योगी चतुर्मूर्तिरभूत् षण्मुखः स शिशुस्त्वपि ॥ ३९ ॥
कुमारः शङ्करमगाद् विशाखो गौरिमागमत्। कुटिलामगमच्छाखो महासेनोऽग्निमभ्ययात् ॥ ४० ॥
ततः प्रीतियुतो रुद्र उमा च कुटिला तथा। पावकश्चापि देवेशः परं मुदमवाप च ॥ ४१ ॥
ततोऽब्रुवन् कृत्तिकास्ताः षण्मुखः किं हरात्मजः। ता अब्रवीद्धरः प्रीत्या विधिवद् वचनं मुने ॥ ४२ ॥

उसके बाद छः मुखोंवाला वह बालक उन लोगोंका चिन्तित जान करके उनमें आदर रखकर बच्चा होते हुए भी योगीके समान कुमार, विशाख, शाख, महासेन—(इन) चार मूर्तियोंवाला हो गया। कुमार शङ्करके, विशाख गिरिजाके, शाख कुटिलाके और महासेन अग्निके समीप चले गये। फिर तो रुद्र, उमा, कुटिला तथा देवेश्वर अग्नि—ये चारों ही अत्यन्त हर्षित हो गये। उसके बाद उन कृत्तिकाओंने पूछा—क्या षडानन शङ्करके पुत्र हैं? मुने! शङ्करने उन सभीसे प्रेमपूर्वक विधिवत् (आगेका) वचन कहा—॥ ३९–४२ ॥

नाम्ना तु कार्त्तिकेयो हि युष्माकं तनयस्त्वसौ। कुटिलायाः कुमारेति पुत्रोऽयं भविताऽव्ययः ॥ ४३ ॥
स्कन्द इत्येव विख्यातो गौरीपुत्रो भवत्यसौ। गुह इत्येव नाम्ना च ममासौ तनयः स्मृतः ॥ ४४ ॥
महासेन इति ख्यातो हुताशस्यास्तु पुत्रकः। शारद्वत इति ख्यातः सुतः शरवणस्य च ॥ ४५ ॥
एवमेष महायोगी पृथिव्यां ख्यातिमेष्यति। षडास्यत्वान्महाबाहुः षण्मुखो नाम गीयते ॥ ४६ ॥

कृत्तिकाओ! 'कार्त्तिकेय' नामसे ये तुम्हारे पुत्र होंगे तथा ये अविनाशी 'कुमार' नामसे कुटिलाके पुत्र होंगे। ये ही 'स्कन्द' नामसे विख्यात गौरीके पुत्र होंगे तथा 'गुह' नामसे मेरे पुत्र होंगे। 'महासेन' नामसे ये अग्निके प्रख्यात पुत्र होंगे तथा 'शारद्वत'—इस नामसे विख्यात ये शरवणके पुत्र होंगे। इस प्रकार ये महायोगी भूमण्डलमें विख्यात होंगे। छः मुखवाले होनेके कारण ये महाबाहु षण्मुख नामसे प्रसिद्ध होंगे ॥ ४३–४६ ॥

इत्येवमुक्त्वा भगवाञ्शूलपाणिः पितामहम्। सस्मार दैवतैः सार्द्धं तेऽप्याजग्मुस्त्वरान्विताः ॥ ४७ ॥
प्रणिपत्य च कामारिमुमां च गिरिनन्दिनीम्। दृष्ट्वा हुताशनं प्रीत्या कुटिलां कृत्तिकास्तथा ॥ ४८ ॥
ददृशुर्बालमग्र्यं षण्मुखं सूर्यसन्निभम्। मुष्णन्तमिव चक्षूंषि तेजसा स्वेन देवताः ॥ ४९ ॥
कौतुकाभिवृता सर्वे प्रणमुः सुरोत्तमाः। देवकार्यं त्वया देव कृतं देव्याऽग्निना तथा ॥ ५० ॥

इस प्रकार कहकर शूलपाणि शङ्करने देवताओंके साथ पितामह ब्रह्माका स्मरण किया । वे स्वे यहाँ आ गये और कामरिपु शङ्कर तथा गिरिनन्दिनी पार्वतीको प्रणामकर एवं अग्निदेव, कुटिला स्नेहपूर्वक देखकर उन देवोंने अतिशय दीप्तिमान् सूर्यके सदृश एवं अपने तेजसे सभीके नेत्रोंको डालनेवाले उस षडानन बालकको देखा । प्रसन्नतासे भरे उन श्रेष्ठ देवोंने कहा—देव ! आपने, देवी अग्निने देवताओंका कार्य सम्पन्न कर दिया ॥ ४७—५० ॥

तदुत्तिष्ठ व्रजामोऽद्य तीर्थमौजसमव्ययम् । कुरुक्षेत्रे सरस्वत्यामभिषिञ्चाम षण्मुखम् ॥५१॥
सेनायाः पतिरस्त्वेष देवगन्धर्वकिंनराः । महिषं घातयत्वेष तारकं च सुदारुणम् ॥५२॥
बाढमित्यब्रवीच्छर्वः समुत्तस्थुः सुरास्ततः । कुमारसहिता जग्मुः कुरुक्षेत्रं महाफलम् ॥५३॥
तत्रैव देवताः सेन्द्राः रुद्रब्रह्मजनार्दनाः । यत्नमस्याभिषेकार्थं चक्रुर्मुनिगणैः सह ॥५४॥

तो आप उठें । अब हमलोग अविनाशी औजस तीर्थको चलें । कुरुक्षेत्रमें चलकर सरस्वती (नदी) हमलोग षण्मुखका अभिषेक करें । देवो, गन्धर्वों और किन्नरो ! ये हमारे सेनापति बनें और महिषासुर तारकका संहार करें । शङ्करने कहा—बहुत अच्छा । उसके बाद सभी देवता उठे और कुमारके साथ फलदायी कुरुक्षेत्रमें चले गये । वहीं मुनियोंके साथ इन्द्र, रुद्र, जनार्दन आदि समस्त देवताओंने उस कुमारके अभिषेकका उपाय किया ॥ ५१—५४ ॥

ततोऽम्बुना सप्तसमुद्रवाहिनां नदीजलेनापि महाफलेन ।
परौषधीभिश्च सहस्रमूर्तिभिस्तदाभ्यषिञ्चन् गुहमच्युताद्याः ॥५५॥
अभिषिञ्चति सेनान्या कुमारे दिव्यरूपिणि । जगुर्गन्धर्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥५६॥
अभिषिक्तं कुमारं च गिरिपुत्री निरीक्ष्य हि । स्नेहादुत्सङ्गगं स्कन्दं मूर्ध्न्याजिघ्रन्मुहुर्मुहुः ॥५७॥
जिघ्रती कार्तिकेयस्य अभिषेकार्द्रमाननम् । भात्यद्रिजा यथेन्द्रस्य देवमाताऽदितिः पुरा ॥५८॥

उसके बाद अच्युत (विष्णु) आदि देवताओंने (सरस्वतीके तथा) सातों समुद्रोंमें मिलकर बहनेवाली नदियोंके महान् फलदायक जलसे एवं सहस्रों प्रकारकी उत्तमोत्तम ओषधियोंसे गुहका (सेनापतिके पदपर) अभिषेक किया । दिव्य रूप धारण करनेवाले सेनापति कुमारके अभिषिक्त हो जानेपर गन्धर्वराज गाने और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं । गिरिजाने कुमारको अभिषिक्त देखकर स्नेहसे गोदमें ले लिया और वे बार-बार उनके सिरको सूँघने लगीं । अभिषेकसे आर्द्र हुए कार्तिकेयके मुखको (आशीर्वाद देनेकी प्रक्रियामें) सूँघती हुई पार्वती पूर्वकालमें (आशीर्वाद देती हुई) इन्द्रके मुखको सूँघनेवाली देवमाता अदिति-जैसी सुशोभित हुईं ॥ ५५-५८ ॥

तदाऽभिषिक्तं तनयं दृष्ट्वा शर्वो मुदं ययौ । पावकः कृत्तिकाश्चैव कुटिला च यशस्विनी ॥५९॥
ततोऽभिषिक्तस्य हरः सेनापत्ये गुहस्य तु । प्रमथांश्चतुरः प्रादाच्छक्रतुल्यपराक्रमान् ॥६०॥
घण्टाकर्णं लोहिताक्षं नन्दिसेनं च दारुणम् । चतुर्थं बलिनां मुख्यं ख्यातं कुमुदमालिनम् ॥६१॥
हरदत्तान् गणान् दृष्ट्वा देवाः स्कन्दस्य नारद । प्रददुः प्रमथान् स्वान् स्वान् सर्वे ब्रह्मपुरोगमाः ॥६२॥

उसके बाद शङ्कर, पावक, कृत्तिकाएँ एवं यशस्विनी कुटिला (—ये सभी) अपने पुत्रको अभिषिक्त देखकर अत्यन्त हर्षित हुए । उसके बाद शङ्करने सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किये गये गुहको इन्द्रके तुल्य शक्तिशाली चार प्रमथों—घण्टाकर्ण, लोहिताक्ष, दारुण नन्दिसेन और चौथे बलवानोंमें श्रेष्ठ विख्यात कुमुदमालीको दिया । नारदजी ! शङ्करद्वारा दिये गये गणोंको देखकर ब्रह्मा आदि सभी देवताओंने (सेनापति) स्कन्दके लिये अपने-अपने प्रमथोंको (भी) दे दिया ॥ ५९—६२ ॥

✿

स्थाणुं ब्रह्मा गणं प्रादाद् विष्णुः प्रादाद् गणत्रयम् । संक्रमं विक्रमं चैव तृतीयं च पराक्रमम् ॥ ६३ ॥
उत्केशं पङ्कजं शक्रो रविर्दण्डकपिङ्गलौ । चन्द्रो मणिं वसुमणिमश्विनौ वत्सनन्दिनौ ॥ ६४ ॥
ज्योतिर्हुताशनः प्रादाज्ज्वलज्जिह्वं तथापरम् । कुन्दं मुकुन्दं कुसुमं त्रीन् धाताऽनुचरान् ददौ ॥ ६५ ॥
चक्रानुचक्रौ त्वष्टा च वेधातिस्थिरसुस्थिरौ । पाणित्यजं कालकञ्च प्रादात् पूषा महाबलौ ॥ ६६ ॥

ब्रह्माने अपने गण स्थाणुको दिया और विष्णुने संक्रम, विक्रम और पराक्रम नामके तीन गणोंको दिया । इन्द्रने उत्केश और पङ्कजको, रविने दण्डक और पिङ्गलको, चन्द्रमाने मणि एवं वसुमणिको, अश्विनीकुमारोंने वत्स और नन्दीको दिया । अग्निने ज्योति तथा दूसरे ज्वलज्जिह्वको दिया । धाताने कुन्द, मुकुन्द तथा कुसुम नामक तीन अनुचरोंको दिया । त्वष्टाने चक्र और अनुचक्रको, वेधाने अतिस्थिर और सुस्थिरको एवं पूषाने महाबलशाली पाणित्यज तथा कालकको दिया ॥ ६३–६६ ॥

स्वर्णमालं घनाह्वं च हिमवान् प्रमथोत्तमौ । प्रादाद्विन्ध्योऽच्छ्रितो विन्ध्यस्त्वतिशृङ्गं च पार्षदम् ॥ ६७ ॥
सुवर्चसं च वरुणः प्रददौ चातिवर्चसम् । संग्रहं विग्रहं चाब्धिर्नागा जयमहाजयौ ॥ ६८ ॥
उन्मादं शङ्कुकर्णं च पुष्पदन्तं तथाऽम्बिका । घसं चातिघसं वायुः प्रादादनुचरावुभौ ॥ ६९ ॥
परिघं चटकं भीमं दहतिदहनौ तथा । प्रददावंशुमान् पञ्च प्रमथान् षण्मुखाय हि ॥ ७० ॥

हिमालयने प्रमथोंमें श्रेष्ठ स्वर्णमाल और घनाह्वको तथा ऊँचे विन्ध्याचलने अतिशृङ्ग नामक पार्षदको दिया । वरुणने सुवर्चा एवं अतिवर्चाको, समुद्रने संग्रह तथा विग्रहको एवं नागोंने जय तथा महाजयको दिया । अम्बिकाने उन्माद, शङ्कुकर्ण और पुष्पदन्तको तथा पवनने घस और अतिघस नामके दो अनुचरोंको दिया । अंशुमान्ने षडाननको परिघ, चटक, भीम, दहति तथा दहन नामके पाँच प्रमथोंको दिया ॥ ६७–७० ॥

यमः प्रमाथमुन्माथं कालसेनं महामुखम् । तालपत्रं नाडिजङ्घं षडेवानुचरान् ददौ ॥ ७१ ॥
सुप्रभं च सुकर्माणं ददौ धाता गणेश्वरौ । सुव्रतं सत्यसन्धं च मित्रः प्रादाद् द्विजोत्तम ॥ ७२ ॥
अनन्तः शङ्कुपीठश्च निकुम्भः कुमुदोऽम्बुजः । एकाक्षः कुनटी चक्षुः किरीटी कलशोदरः ॥ ७३ ॥
सूचीवक्त्रः कोकनदः प्रहासः प्रियकोऽच्युतः । गणाः पञ्चदशैते हि यक्षैर्दत्ता गुहस्य तु ॥ ७४ ॥

यमराजने प्रमाथ, उन्माथ, कालसेन, महामुख, तालपत्र और नाडिजङ्घ नामके छः अनुचरोंको दिया । द्विजोत्तम ! धाताने सुप्रभ और सुकर्मा नामके दो गणेश्वरोंको तथा मित्रने सुव्रत तथा सत्यसन्ध नामके दो अनुचरोंको दिया । यक्षोंने अनन्त, शङ्कुपीठ, निकुम्भ, कुमुद, अम्बुज, एकाक्ष, कुनटी, चक्षु, किरीटी, कलशोदर, सूचीवक्त्र, कोकनद, प्रहास, प्रियक एवं अच्युत—इन पंद्रह गणोंको कार्तिकेयको दे दिया ॥ ७१–७४ ॥

कालिन्द्या कालकन्दश्च नर्मदाया रणोत्कटः । गोदावर्याः सिद्धयात्रस्तमसायाद्रिकम्पकः ॥ ७५ ॥
सहस्रबाहुं सीताया वञ्जुलाया सितोदरः । मन्दाकिन्यास्तथा नन्दो विपाशाया प्रियङ्करः ॥ ७६ ॥
ऐरावत्याश्चतुर्दंष्ट्रः षोडशाक्षो वितस्तया । मार्जारकौशिकौ प्रादात् क्रथक्रौञ्चौ च गौतमी ॥ ७७ ॥
बाहुदा शतशीर्षं च घाघ्रा गोनन्दनन्दिकौ । भीमं भीमरथी प्रादाद् वेगारिं सरयूर्ददौ ॥ ७८ ॥

कालिन्दीने कालकन्दको, नर्मदाने रणोत्कटको, गोदावरीने सिद्धयात्रको एवं तमसाने अद्रिकम्पकको दिया । सीताने सहस्रबाहुको, वञ्जुलाने सितोदरको, मन्दाकिनीने नन्दको एवं विपाशाने प्रियङ्करको दिया । ऐरावतीने चतुर्दंष्ट्रको, वितस्ताने षोडशाक्षको, कौशिकीने मार्जारको एवं गौतमीने क्रथ और क्रौञ्चको दिया । बाहुदाने शतशीर्षको, घाघ्राने गोनन्द और नन्दिकको, भीमरथीने भीमको और सरयूने वेगारिको दिया ॥ ७५–७८ ॥

अष्टबाहुं ददौ काशी सुबाहुमपि गण्डकी। महानदी चित्रदेवं चित्रा चित्ररथं ददौ॥ ७९॥
कुहूः कुवलयं प्रादान्मधुवर्णं मधूदका। जम्बूकं धूतपापा च वेणा श्वेताननं ददौ॥ ८०॥
श्रुतवर्णं च पर्णासा रेवा सागरवेगिनम्। प्रभावार्थं सहं प्रादात् काञ्चना कनकेक्षणम्॥ ८१॥
गृध्रपत्रं च विमला चारुवक्त्रं मनोहरा। धूतपापा महारावं कर्णा विद्रुमसंनिभम्॥ ८२॥

काशीने अष्टबाहुको, गण्डकीने सुबाहुको, महानदीने चित्रदेवको तथा चित्राने चित्ररथको दिया।, कुहूने कुवलयको, मधूदकाने मधुवर्णको, धूतपापाने जम्बूकको और वेणाने श्वेताननको समर्पित किया। पर्णासाने श्रुतवर्णको, रेवाने सागरवेगको, प्रभावाने अर्थ और सहको एवं काञ्चनाने कनकक्षणको दिया। विमलाने गृध्रपत्रको, मनोहराने चारुवक्त्रको, धूतपापाने महारावको एवं कर्णाने विद्रुमसन्निभको दिया॥ ७०–८२॥

सुप्रसादं सुवेणुश्च जिष्णुमोघवती ददौ। यज्ञबाहुं विशाला च सरस्वत्यो ददुर्गणान्॥ ८३॥
कुटिला तनयस्यादाद् दश शक्रबलान् गणान्। करालं सितकेशं च कृष्णकेशं जटाधरम्॥ ८४॥
मेघनादं चतुर्दंष्ट्रं विद्युज्जिह्वं दशाननम्। सोमाप्यायनमेवोग्रं देवयाजिनमेव च॥ ८५॥
हंसास्यं कुण्डजठरं बहुग्रीवं हयाननम्। कूर्मग्रीवं च पञ्चैतान् ददुः पुत्राय कृत्तिकाः॥ ८६॥

सुवेणुने सुप्रसादको और ओघवतीने जिष्णुको प्रदान किया। विशालाने यज्ञबाहुको दिया। इस प्रकार सरस्वती आदि नदियोंने अनेक गणोंको दिया। कुटिलाने अपने पुत्र (उन)को कराल, सितकेश, कृष्णकेश, जटाधर, मेघनाद, चतुर्दंष्ट्र, विद्युज्जिह्व, दशानन, सोमाप्यायन एवं उग्र देवयाजी नामक दस गणोंको दिया। कृत्तिकाओंने अपने पुत्रको हंसास्य, कुण्डजठर, बहुग्रीव, हयानन तथा कूर्मग्रीव—इन पाँच अनुचरोंको प्रदान किया॥ ८३–८६॥

स्थाणुजङ्घं कुम्भवक्त्रं लोहजङ्घं महाननम्। पिण्डाकारं च पञ्चैतान् ददुः स्कन्दाय चर्षयः॥ ८७॥
नागजिह्वं चन्द्रभासं पाणिकूर्मं शशीक्षकम्। चापवक्त्रं च जम्बूकं ददौ तीर्थं पृथूदकः॥ ८८॥
चक्रतीर्थं सुचक्राक्षं मकराक्षं गयाशिरः। गणं पञ्चशिखं नाम ददौ कनखलं स्वकम्॥ ८९॥
बन्धुदत्तं वाजिशिरो बाहुशालं च पुष्करम्। सर्वौजसं माहिश्वरं मानसः पिङ्गलं तथा॥ ९०॥

ऋषियोंने स्कन्दको स्थाणुजङ्घ, कुम्भवक्त्र, लोहजङ्घ, महानन और पिण्डाकार—इन पाँच अनुचरोंको दिया। पृथूदक तीर्थने नागजिह्व, चन्द्रभास, पाणिकूर्म, शशीक्षक, चापवक्त्र तथा जम्बूक नामके अनुचरोंको दिया। चक्रतीर्थने सुचक्राक्ष तथा गयाशिरने मकराक्षको और कनखलने पञ्चशिख नामक अपने गणोंको दिया। वाजिशिरने बन्धुदत्त और पुष्करने बाहुशालको तथा मानसने सर्वौजस, माहिश्वर और पिङ्गलको दिया॥ ८७–९०॥

रुद्रमौशनसः प्रादात् ततोऽन्ये मातरो ददुः। वसुदामां सोमतीर्थं प्रभासा नन्दिनीमपि॥ ९१॥
इन्द्रतीर्थं विशोकां च उदपाना घनस्वनाम्। सप्तसारस्वतं प्रादात् मातरश्चतुरोऽसुताः॥ ९२॥
गीतप्रियां माधवीं च तीर्थनेमिं स्मिताननाम्। पञ्चचूडां नागतीर्थं कुरुक्षेत्रं पलासदाम्॥ ९३॥
ब्रह्मयोनिश्चण्डशिलां भद्रकालीं त्रिविष्टपः। चौण्डीं भैण्डीं योगभैण्डीं मातृश्चरणपावनः॥ ९४॥

औशनसने रुद्रको प्रदान किया तथा अन्योंने मातृकाओंको दिया। सोमतीर्थने वसुदामाको और प्रभासने नन्दिनीको तथा इन्द्रतीर्थने विशोकाको अर्पित किया। उदपानने घनस्वनाको एवं सप्तसारस्वतने गीतप्रिया, माधवी, तीर्थनेमि एवं स्मितानना नामकी चार अनुग मातृकाओंको प्रदान किया। नागतीर्थने पञ्चचूडाको एवं कुरुक्षेत्रने पलासदाको दिया। ब्रह्मयोनिने चण्डशिलाको, त्रिविष्टपने भद्रकालीको तथा चरणपावनने चौण्डी, भैण्डी तथा योगभैण्डीको दिया॥ ९१–९४॥

सोपानीया महीं प्रादाच्छालिका मानसो ह्रदः । शतघण्टा शतानन्दा तथोलूखलमेखलाम् ॥ ९५ ॥
पद्मावर्ती माधवीं च ददौ बदरिकाश्रमः । सुप्रभामेकचूडा च देवीं धमधमां तथा ॥ ९६ ॥
उत्क्राथनीं वेदमित्रा केदारो मातरो ददौ । सुनक्षत्रा कद्रूला च सुप्रभाता सुमङ्गलाम् ॥ ९७ ॥
देवमित्रा चित्रसेनां ददौ रुद्रमहालयः । कोटरामूर्ध्ववेणीं च श्रीमतीं बहुपुत्रिकाम् ॥ ९८ ॥
पलिता कमलाक्षीं च प्रयागो मातरो ददौ । सूपला मधुकुम्भा च ख्याति दहदहा पराम् ॥ ९९ ॥
प्रादात् खटक्टा चान्या सर्वपापविमोचनः । ससानिका विकल्पिका कमश्वत्वरवासिनीम् ॥१००॥

महीने सोपानीयाको, मानसह्रदने शाल्किाको एवं बदरिकाश्रमने शतघण्टा, शतानन्दा, उलूखलमेखला, पद्मावती और माधवीको प्रदान किया। केदारतीर्थने सुप्रभा, एकचूडा, धमधमादेवी, उत्क्राथनी तथा वेदमित्रा नामक मातृकाओंको दिया। रुद्रमहालयने सुनक्षत्रा, कद्रूला, सुप्रभाता, सुमङ्गला, देवमित्रा और चित्रसेनाको दिया। प्रयागने कोटरा, ऊर्ध्ववेणी, श्रीमती, बहुपुत्रिका, पलिता तथा कमलाक्षी नामकी मातृकाओंको अर्पित किया। सर्वपापविमोचनने सूपला, मधुकुम्भा, ख्याति, दहदहा, परा और खटकटाको समर्पित किया। कमने संतानिका, विकल्पिका और चत्वरवासिनीको प्रदान किया ॥ ९५–१०० ॥

जलेश्वरीं कुक्कुटिका सुदामा लोहमेखलाम् ।
वपुष्मत्युल्मुकाक्षी च कोकनामा महाशनी । रौद्रा कर्कटिका तुण्डा श्वेततीर्थो ददौ त्विमाः ॥१०१॥
एतानि भूतानि गणाश्च मातरो दृष्ट्वा महात्मा विनतातनूजः ।
ददौ मयूरं स्वसुतं महाजवं तथाऽरुणस्ताम्रचूडं च पुत्रम् ॥१०२॥
शक्तिं हुताशोऽद्रिसुता च वस्त्रं दण्डं गुरुः सा कुटिलं कमण्डलुम् ।
मालां हरिः शूलधरः पताकां कण्ठे च हारं मघवानुरस्तः ॥१०३॥
गणैर्वृतो मातृभिरन्वयातो मयूरसंस्थो वरशक्तिपाणिः ।
सैन्याधिपत्ये स कृतो भवेन रराज सूर्येव महावपुष्मान् ॥१०४॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

श्वेततीर्थने तो जलेश्वरी, कुक्कुटिका, सुदामा, लोहमेखला, वपुष्मती, उल्मुकाक्षी, कोकनामा, महाशनी, रौद्रा, कर्कटिका और तुण्डा—इन अनुचरियोंको दिया। इन भूतों, गणों और मातृकाओंको देखकर विनतापुत्र महात्मा गरुड़ने अपने पुत्र महावेगशाली मयूरको समर्पित किया और अरुणने अपने पुत्र ताम्रचूडको प्रदान कर दिया। अग्निने शक्ति, पार्वतीने वस्त्र, बृहस्पतिने दण्ड, उमा कुटिलने कमण्डलु, विष्णुने माला, शङ्करने पताका तथा इन्द्रने अपने हृदयका हार कार्तिकेयके कण्ठमें अर्पित कर दिया। गणोंसे युक्त, मातृकाओंसे अनुगमित, मयूरपर बैठे एवं श्रेष्ठ शक्तिको हाथमें लिये हुए महाशरीरधारी वे कुमार (कार्तिकेय) शङ्करके द्वारा सेनापतिके पदपर अभिषिक्त होकर (और अधिकार पाकर) सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे ॥ १०१–१०४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५७ ॥

[अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

सेनापत्येऽभिषिक्तस्तु कुमारो दैवतैरथ । प्रणिपत्य भवं भक्त्या गिरिजां पावकं शुचिम् ॥ १ ॥
षट् कृत्तिकाश्च शिरसा प्रणम्य कुटिलामपि । ब्रह्माणं च नमस्कृत्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

अट्ठावनवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सेनापतिपदपर नियुक्त कार्तिकेयके लिये ऋषियोंद्वारा स्वस्त्ययन, तारक-विजयके लिये प्रस्थान, पातालकेतुका वृत्तान्त, तारक महिषासुर-वध तथा सुचक्राक्षको वर)

पुलस्त्यजी बोले—जब शङ्कर एवं देवताओंने देवताओंके सेनापतिके पदपर कुमार कार्तिकेयका अभिषेक किया तब उक्त पदपर अभिषिक्त कुमारने भक्तिपूर्वक शङ्कर, पार्वती और पवित्र अग्निको प्रणाम किया । उसके बाद छः कृत्तिकाओं एवं कुटिलाको भी सिर झुकाकर प्रणाम करके ब्रह्माको नमस्कार कर यह वचन कहा ॥ १-२ ॥

कुमार उवाच

नमोऽस्तु भवतां देवा ओं नमोऽस्तु तपोधना । युष्मत्प्रसादाज्जेष्यामि शत्रू महिषतारकौ ॥ ३ ॥
शिशुरस्मि न जानामि वक्तुं किंचन देवताः । दीयतां ब्रह्मणा सार्द्धमनुज्ञा मम साम्प्रतम् ॥ ४ ॥
इत्येवमुक्ते वचने कुमारेण महात्मना । मुखं निरीक्षन्ति सुराः सर्वे विगतसाध्वसाः ॥ ५ ॥
शङ्करोऽपि सुतस्नेहात् समुत्थाय प्रजापतिम् । आदाय दक्षिणे पाणौ स्कन्दान्तिकमुपागतम् ॥ ६ ॥
अथोमा प्राह तनयं पुत्र एह्येहि शत्रुहन् । वन्दस्व चरणौ दिव्यौ विष्णोर्लोकनमस्कृतौ ॥ ७ ॥

कुमारने कहा—देवताओ ! आपलोगोंको नमस्कार है । तपोधनो ! आपलोगोंको ओंकारके साथ नमस्कार (ॐ नमः) है । आपलोगोंकी अनुकम्पासे मैं महिष एवं तारक दोनों शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूँगा । देवो ! मैं शिशु हूँ, मैं बोलना नहीं जानता । ब्रह्माके सहित आपलोग इस समय मुझे अनुमति दें । महात्मा कुमारके इस प्रकार कहनेपर सभी देवता निडर होकर उनका मुख देखने लगे । भगवान् शङ्कर पुत्रके स्नेहवश उठे और ब्रह्माको अपने दाहिने हाथसे पकड़कर स्कन्दके समीप ले आये । उसके बाद उमाने पुत्रसे कहा—शत्रुओंको मारनेवाले ! आओ ! आओ ! संसारसे वन्दित विष्णुके दिव्य चरणोंको प्रणाम करो ॥ ३—७ ॥

ततो विहस्याह गुहः कोऽयं मातर्वदस्व माम् । यस्यादरात् प्रणामोऽयं क्रियते मद्विधैर्जनैः ॥ ८ ॥
तं माता प्राह वचनं कृते कर्मणि पद्मभूः । वक्ष्यते तव योऽयं हि महात्मा गरुडध्वजः ॥ ९ ॥
केवलं त्विह मां देवस्तवपिता प्राह शङ्करः । नान्यः परतरोऽस्माद्धि वयमन्ये च देहिनः ॥ १० ॥
मात्रा गदिते स्कन्दः प्रणिपत्य जनार्दनम् । तस्थौ कृताञ्जलिपुटस्त्वाज्ञां प्रार्थयतेऽच्युतात् ॥ ११ ॥
कृताञ्जलिपुटं स्कन्दं भगवान् भूतभावनः । कृत्वा स्वस्त्ययनं देवो ह्यनुज्ञां प्रददौ ततः ॥ १२ ॥

उसके बाद कार्तिकेयने हँसकर कहा—हे माता ! मुझे स्पष्ट बतलाओ कि ये कौन हैं, जिन्हें हमारे जैसे (अन्य) व्यक्ति भी प्रेमपूर्वक प्रणाम करते हैं ? माताने उनसे कहा—ये महात्मा गरुडध्वज कौन हैं, यह तुम्हें कर्म करनेपर ब्रह्मा ही बतलायेंगे । तुम्हारे पिता शङ्करदेवने मुझसे केवल यही [illegible] कि इनसे बढ़कर हमलोग या अन्य कोई शरीरधारी नहीं हैं । पार्वतीके स्पष्ट कहनेपर कार्तिकेयने [illegible] किया एवं दोनों हाथोंको जोड़कर वे खड़े हो गये और भगवान् अच्युतसे [illegible] लगे । [illegible] विष्णुने हाथ जोड़े हुए स्कन्दका स्वस्त्ययन कर उन्हें आज्ञा दी ॥ ८

नारद उवाच

यत्तत् स्वस्त्ययनं पुण्यं कृतवान् गरुडध्वज । शिखिध्वजाय विप्रर्षे तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १३ ॥

नारदने कहा—विप्रर्षे ! गरुडध्वज विष्णुने मयूरध्वज कार्तिकेयके लिये जिस पवित्र स्वस्त्ययनका पाठ किया, उसे आप मुझसे कहें ॥ १३ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणु स्वस्त्ययनं पुण्यं यत्प्राह भगवान् हरिः । स्कन्दस्य विजयार्थाय महिषस्य वधाय च ॥ १४ ॥
स्वस्ति ते कुरुतां ब्रह्मा पद्मयोनी रजोगुणः । स्वस्ति चक्राङ्कितकरो विष्णुस्ते विदधात्वज ॥ १५ ॥
स्वस्ति ते शङ्करो भक्त्या सपत्नीको वृषध्वजः । पावकः स्वस्ति तुभ्यं च करोतु शिखिवाहन ॥ १६ ॥
दिवाकरः स्वस्ति करोतु तुभ्यं सोमः सभौमः सबुधो गुरुश्च ।
काव्यः सदा स्वस्ति करोतु तुभ्यं शनैश्चरः स्वस्त्ययनं करोतु ॥ १७ ॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) स्कन्दकी विजय एवं महिषके वधके लिये भगवान् विष्णुद्वारा कहे गये मङ्गलमय स्वस्तिवाचन–स्वस्त्ययनको सुनिये । (विष्णुने जो स्वस्त्ययन-पाठ किया, वह इस प्रकार है—) रजोगुणसे सम्पन्न कमलयोनि ब्रह्मा तुम्हारा कल्याण करें । हाथमें चक्र धारण करनेवाले अजन्मा विष्णु तुम्हारा मङ्गल करें । पत्नीसहित वृषभध्वज शङ्कर प्रेमपूर्वक तुम्हारा मङ्गल करें । मयूरवाहन ! अग्निदेव तुम्हारा कल्याण करें । सूर्य तुम्हारा मङ्गल करें, भौमसहित सोम तथा बुधसहित बृहस्पति तुम्हारा मङ्गल करें । शुक्र सदैव तुम्हारा मङ्गल करें तथा शनैश्चर तुम्हारा मङ्गल करें ॥ १४–१७ ॥

मरीचिरत्रिः पुलहः पुलस्त्यः क्रतुर्वसिष्ठो भृगुरङ्गिराश्च ।
मृकण्डुजस्ते कुरुतां हि स्वस्ति स्वस्ति सदा सप्त महर्षयश्च ॥ १८ ॥
विश्वेऽश्विनौ साध्यमरुद्गणाग्नयो दिवाकराः शूलधरा महेश्वराः ।
यक्षाः पिशाचा वसवोऽथ किन्नरास्ते स्वस्ति कुर्वन्तु सदोद्यतास्त्वमी ॥ १९ ॥
नागाः सुपर्णाः सरितः सरांसि तीर्थानि पुण्यायतना समुद्राः ।
महाबला भूतगणा गणेन्द्रास्ते स्वस्ति कुर्वन्तु सदा समुद्यताः ॥ २० ॥

स्वस्ति द्विपादिकेभ्यस्ते चतुष्पादेभ्य एव च । स्वस्ति ते बहुपादेभ्यस्त्वपादेभ्योऽप्यनामयम् ॥ २१ ॥

मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, वसिष्ठ, भृगु, अङ्गिरा, मार्कण्डेय—ये ऋषि तुम्हारा मङ्गल करें । सप्तर्षिगण तुम्हारा सदा मङ्गल करें । विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, साध्य, मरुद्गण, अग्नि, सूर्य, शूलधर, महेश्वर, यक्ष, पिशाच, वसु और किन्नर—ये सब तत्परतासे सदा तुम्हारा मङ्गल करें । नाग, पक्षी, नदियाँ, सरोवर, तीर्थ, पवित्र देवस्थान, समुद्र, महाबलशाली भूतगण तथा विनायकगण सदा तत्पर होकर तुम्हारा मङ्गल करें । दो पैरवालों एवं चार पैरवालोंसे तुम्हारा मङ्गल हो । बहुत पैरवालोंद्वारा तुम्हारा मङ्गल हो एवं बिना पैरवालोंसे तुम्हारी स्वस्थता बनी रहे—सुम नीरोग बने रहो ॥ १८–२१ ॥

प्राचीं दिग् रक्षतां वज्री दक्षिणां दण्डनायकः । पाशी प्रतीचीं रक्षतु लक्ष्मांशुः पातु चोत्तराम् ॥ २२ ॥
वह्निर्दक्षिणपूर्वां च कुबेरो दक्षिणापराम् । प्रतीचीमुत्तरां वायुः शिवः पूर्वोत्तरामपि ॥ २३ ॥
उपरिष्टाद् ध्रुवः पातु अधस्ताच्च धराधरः । मुसली लाङ्गली चक्री धनुष्मानन्तरेषु च ॥ २४ ॥
वाराहोऽम्बुनिधौ पातु दुर्गे पातु नृकेसरी । सामवेदध्वनिः श्रीमान् मदनः पातु माधवः ॥ २५ ॥

वज्र धारण करनेवाले (इन्द्र) पूर्व दिशाकी, दण्डनायक (यम) दक्षिण दिशाकी, पाशधारी (वरुण) पश्चिम दिशाकी तथा चन्द्रमा उत्तर दिशाकी रक्षा करें । अग्नि अग्नि-(पूर्व-दक्षिण) कोणकी, कुबेर नैर्ऋत्य

(दक्षिण पश्चिम) कोणकी वायुरूप धाय य (पश्चिम-उत्तर) कोणकी और मित्र ईशान-(उत्तर-पूर्व) कोणकी (रक्षा करें)। ऊपरकी ओर ध्रुव, नीचेकी ओर पृथिवीको धारण करनेवाले शेषनाग एवं बीचके स्थानोंमें मुसल हल, चक्र तथा धनुष धारण करनेवाले भगवान् विष्णु रक्षा करें। समुद्रमें वाराह, दुर्गम स्थानमें नरसिंह तथा सभी ओरसे सामवेदके ध्वनि-रूप श्रीमान् श्रीलक्ष्मीकान्त माधव तुम्हारी रक्षा करें ॥ २२–२५ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवं कृतस्वस्त्ययनो गुहः शक्तिधरोऽग्रणीः। प्रणिपत्य सुरान् सर्वान् समुत्पतत भूतलात् ॥ २६ ॥
तमन्वेव गणाः सर्वे दत्ता ये मुदितैः सुरैः। अनुजग्मुः कुमारं ते कामरूपा विहङ्गमाः ॥ २७ ॥
मातरश्च तथा सर्वाः समुत्पेतुर्नभस्तलम्। समं स्कन्देन बलिना हन्तुकामा महासुरान् ॥ २८ ॥
ततः सुदीर्घमध्वानं गत्वा स्कन्दोऽब्रवीद् गणान्। भूम्यां तूर्णं महावीर्याः कुरुध्वमवतारणम् ॥ २९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकार स्वस्त्ययन सम्पन्न हो जानेपर शक्ति धारण करनेवाले सेनापति कार्तिकेयजी सभी देवताओंको प्रणामकर भूतलसे आकाशकी ओर उड़ चले। प्रसन्न होकर देवताओंने जिन गणोंको गुहको दिया था, उन इच्छानुकूल रूप धारण करनेवाले सभी गणोंने पक्षीका रूप धारण कर कुमारका अनुगमन किया। सभी माताएँ भी पराक्रमी स्कन्दके साथ महान् असुरोंके वधके लिये आकाशमें उड़ चलीं। उसके बाद बहुत दूर जानेपर स्कन्दने गणोंसे कहा—महापराक्रमियो ! तुमलोग शीघ्र ही पृथ्वीपर उतर जाओ ॥ २६–२९ ॥

गणा गुहवचः श्रुत्वा अवतीर्य महीतलम्। आरात् पतन्तस्तद्देशं नादं चक्रुर्भयंकरम् ॥ ३० ॥
तन्निनादो महीं सर्वामापूर्य च नभस्तलम्। विवेशार्णवरन्ध्रेण पातालं दानवालयम् ॥ ३१ ॥
श्रुतः स महिषेणाथ तारकेण च धीमता। विरोचनेन जम्भेन कुजम्भेनासुरेण च ॥ ३२ ॥
ते श्रुत्वा सहसा नादं वज्रपातोपमं दृढम्। किमेतदिति संचिन्त्य तूर्णं जग्मुस्तदान्धकम् ॥ ३३ ॥

गुहकी बात सुनकर सभी गण पृथ्वीपर उतर आये। उतरकर उस स्थानपर उन गणोंने एकाएक भयंकर नाद किया। वह भयंकर नाद सारी पृथ्वी एवं गगनमण्डलमें गूँज गया। फिर तो वह समुद्रके छिद्रसे दानवोंके निवासस्थान पाताललोक-(तक)में पहुँच गया। उसके बाद मतिमान् महिष, तारक, विरोचन, जम्भ तथा कुजम्भ आदि असुरोंने उस ध्वनिको सुना। एकाएक वज्रपातके समान उस भयंकर ध्वनिको सुनकर यह क्या है—यह सोचकर वे सभी शीघ्रतासे अन्धकके पास चले गये ॥ ३०–३३ ॥

ते समागम्याधकेनैव समं दानवपुङ्गवाः। मन्त्रयामासुरुद्विग्नास्तं शब्दं प्रति नारद ॥ ३४ ॥
मन्त्रयत्सु च दैत्येषु भूतलात् सूकराननः। पातालकेतुर्दैत्येन्द्रः सम्प्राप्तोऽथ रसातलम् ॥ ३५ ॥
स बाणविद्धो व्यथितः कम्पमानो मुहुर्मुहुः। अब्रवीद् वचनं दीनं समभ्येत्यान्धकासुरम् ॥ ३६ ॥

नारदजी ! वे सभी असुरश्रेष्ठ व्याकुल होकर अन्धकके साथ ही एकत्र होकर उस शब्दके विषयमें परस्पर विचार विमर्श करने लगे। उन दैत्योंके विचार करते समय सूकर-जैसे मुखवाला दैत्यश्रेष्ठ पातालकेतु भूतलसे रसातलमें आया। बाणसे विद्ध दानव व्यथित होकर वह बारम्बार काँपता हुआ अन्धकासुरके पास आकर दीन वचन बोला—॥ ३४–३६ ॥

पातालकेतुरुवाच

गतोऽहमासं दैत्येन्द्र गालवस्याश्रमं प्रति। तं विध्वंसयितुं यत्नं समारब्धं मया मया ॥ ३७ ॥
यावत्सूकररूपेण प्रविशामि तमाश्रमम्। न जाने नरः कोऽपि राजन् येन मे प्रहितः शरः ॥ ३८ ॥

शरसंभिन्नजत्रुश्च भयात् तस्य महाजव । प्रणष्ट आश्रमात् तस्मात् स च मां पृष्ठतोऽन्वगात् ॥ ३९ ॥
तुरङ्गखुरनिर्घोषः श्रूयते परमोऽसुर ।
तिष्ठ तिष्ठेति वदतस्तस्य शूरस्य पृष्ठतः । तद्भयाद्दस्मि जलधिं सम्प्राप्तो लवणार्णवम् ॥ ४० ॥

पातालकेतुने कहा—दैत्येश्वर! मैं गालवके आश्रममें गया था और उसको बलपूर्वक नष्ट करनेका उद्योग करने लगा। राजन्! मैंने सूअरके रूपमें जैसे ही उस आश्रममें प्रवेश किया वैसे ही पता नहीं, किस मानवने मेरे ऊपर बाण छोड़ दिया। बाणसे हँसलीके टूट जानेपर मैं उसके भयके कारण आश्रमसे तुरंत भागा। पर उसने मेरा पीछा किया। असुर! मेरे पीठ-पीछे आ रहे 'रुको रुको' कहनेवाले उस वीरके घोड़ेकी टापका महान् शब्द सुनायी पड़ रहा था। उसके भयसे मैं जलनिधि लवण समुद्रमें आ गया ॥ ३७—४० ॥

यावत्पश्यामि तत्रस्थान् नानावेषाकृतीन् नरान् । केचिद् गर्जन्ति घनवत् प्रतिगर्जन्ति चापरे ॥ ४१ ॥
अन्ये चोचुर्वयं नूनं निघ्नामो महिषासुरम् । तारकं घातयामोऽद्य वदन्त्यन्ये सुतेजसः ॥ ४२ ॥
तच्छ्रुत्वा सुतरां त्रासो मम जातोऽसुरेश्वर । महार्णवं परित्यज्य पतितोऽस्मि भयातुरः ॥ ४३ ॥
धरण्या विवृतं गर्तं स मामन्वपतद् बली । तद्भयात् सम्परित्यज्य हिरण्यपुरमागतः ॥ ४४ ॥
तवान्तिकमनुप्राप्तः प्रसादं कर्तुमर्हसि । तच्छ्रुत्वा तारको वाक्यं प्राह मेघस्वनं वचः ॥ ४५ ॥

वहाँ मैंने अनेक प्रकारके पहनावे तथा आकृतिवाले मनुष्योंको देखा। उनमें कुछ तो बादलकी भाँति गर्जन कर रहे थे और कुछ दूसरे उसी प्रकारकी प्रतिध्वनि कर रहे थे। दूसरे कह रहे थे कि हम महिषासुरको निश्चय ही मार डालेंगे और अति तेजस्वी दूसरे लोग कह रहे थे कि आज हम तारकको मारेंगे। असुरेश्वर! उसे सुनकर मुझे बहुत डर हो गया और मैं विशाल समुद्रको छोड़कर भयभीत हो पृथ्वीके नीचे विस्तृत गड्ढे (सुरंग)के रूपमें बने हुए गुप्त मार्गसे भागा। तब भी उस बलशालीने मेरा पीछा किया। उसके डरसे मैं अपना हिरण्यपुर त्यागकर आपके पास आ गया हूँ। आप मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये। यह बात सुनकर तारकने बादलकी गर्जन-ध्वनिमें यह वचन कहा—॥ ४१—४५ ॥

न मन्तव्यं त्वया तस्मात् सत्यं गोप्तास्मि दानव । महिषस्तारकश्चोभौ बाणश्च बलिनां वरः ॥ ४६ ॥
अनापृच्छ्यैव ते वीरास्त्वन्वयं महिषादयः । स्वपरिग्रहसंयुक्ता भूमिं युद्धाय निर्ययुः ॥ ४७ ॥
यत्र ते दारुणाकारा गणाश्चक्रुर्महास्वनम् । तत्र दैत्याः समाजग्मुः सायुधाः सबला मुने ॥ ४८ ॥
दैत्यानापततो दृष्ट्वा कार्तिकेयगणास्ततः । अभ्यद्रवन्त सहसा स चोग्रो मातृमण्डलः ॥ ४९ ॥

दानव! तुम्हें उससे डरना नहीं चाहिये। मैं तुम्हारा सच्चा रक्षक हूँ। उसके बाद महिष और तारक—ये दोनों तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ बाण—ये सभी अ[illegible]क्रमसे बिना पूछे ही अपने अनुगामियोंके साथ युद्ध करनेके लिये पृथ्वीपर निकल आये। मुने! जिस स्थानपर भयंकर आकारवाले गण गर्जन कर रहे थे, उसी स्थानपर हथियारोंसे सजे-धजे दल-बलके साथ दैत्य भी आ गये। इसके बाद दैत्योंको आक्रमण करते हुए देखकर कार्तिकेयके गण तथा उग्र मातृकाएँ (उनपर) सहसा टूट पड़ीं ॥ ४६—४९ ॥

तेषां पुरस्सरः स्थाणुः प्रगृह्य परिघं करे । निषूदयन् परबलं क्रुद्धो रुद्रः पशूनिव ॥ ५० ॥
तं निघ्नन्तं महादेवं निरीक्ष्य कलशोदरः । कुठारपाणिनादाय हन्ति सर्वान् महासुरान् ॥ ५१ ॥
ज्वालामुखो भयंकरः करेणादाय चासुरम् । सरथं सगजं साश्वं विस्तृते वदनेऽक्षिपत् ॥ ५२ ॥
दण्डकश्चापि संक्रुद्धः प्रासपाणिर्महासुरम् । सवाहनं प्रक्षिपति समुत्पाट्य महार्णवे ॥ ५३ ॥

(दक्षिण-पश्चिम) कोणकी, वायुदेव वायव्य (पश्चिम-उत्तर) कोणकी और शिव ईशान-(उत्तर-पूर्व) कोणकी (रक्षा करें) । ऊपरकी ओर ध्रुव, नीचेकी ओर पृथिवीको धारण करनेवाले शेषनाग एवं बीचके स्थानोंमें मुसल, हल, चक्र तथा धनुष धारण करनेवाले भगवान् विष्णु रक्षा करें । समुद्रमें वाराह, दुर्गम स्थानमें नरसिंह तथा सभी ओरसे सामवेदके ध्वनि-रूप श्रीमान् श्रीलक्ष्मीकान्त माधव तुम्हारी रक्षा करें ॥ २२-२५ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवं कृतस्वस्त्ययनो गुहः शक्तिधरोऽग्रणीः । प्रणिपत्य सुरान् सर्वान् समुत्पतत भूतलात् ॥ २६ ॥
तमन्वेव गणाः सर्वे दत्ता ये मुदितैः सुरैः । अनुजग्मुः कुमारं ते कामरूपा विहंगमाः ॥ २७ ॥
मातरश्च तथा सर्वाः समुत्पेतुर्नभस्तलम् । समं स्कन्देन बलिना हन्तुकामा महासुरान् ॥ २८ ॥
ततः सुदीर्घमध्वानं गत्वा स्कन्दोऽब्रवीद् गणान् । भूम्यां तूर्णं महावीर्याः कुरुध्वमवतारणम् ॥ २९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकार स्वस्त्ययन सम्पन्न हो जानेपर शक्ति धारण करनेवाले सेनापति कार्तिकेयजी सभी देवताओंको प्रणामकर भूतलसे आकाशकी ओर उड़ चले । प्रसन्न होकर देवताओंने जिन गणोंको गुहको दिये दिया था, उन इच्छानुकूल रूप धारण करनेवाले सभी गणोंने पक्षीका रूप धारण कर कुमारका अनुगमन किया । सभी माताएँ भी पराक्रमी स्कन्दके साथ महान् असुरोंके वधके लिये आकाशमें उड़ चलीं । उसके बाद बहुत दूर जानेपर स्कन्दने गणोंसे कहा—महापराक्रमियो ! तुमलोग शीघ्र ही पृथ्वीपर उतर जाओ ॥ २६-२९ ॥

गणा गुहवचः श्रुत्वा अवतीर्य महीतलम् । आराद् पतन्तस्तद्देशं नादं चक्रुर्भयंकरम् ॥ ३० ॥
तन्निनादो महीं सर्वामापूर्य च नभस्तलम् । विवेशार्णवरन्ध्रेण पातालं दानवालयम् ॥ ३१ ॥
श्रुतः स महिषेणाथ तारकेण च धीमता । विरोचनेन जम्भेन कुजम्भेनासुरेण च ॥ ३२ ॥
ते श्रुत्वा सहसा नादं वज्रपातोपमं दृढम् । किमेतदिति संचिन्त्य तूर्णं जग्मुस्तदान्धकम् ॥ ३३ ॥

गुहकी बात सुनकर सभी गण पृथ्वीपर उतर आये । उतरकर उस स्थानपर उन गणोंने एकाएक भयंकर नाद किया । वह भयंकर नाद सारी पृथ्वी एवं गगनमण्डलमें गूँज गया । फिर तो वह समुद्री छिद्रसे दानवोंके निवासस्थान पाताललोक-(तक)में पहुँच गया । उसके बाद मतिमान् महिष, तारक, विरोचन, जम्भ तथा कुजम्भ आदि असुरोंने उस ध्वनिको सुना । एकाएक वज्रपातके समान उस भयंकर ध्वनिको सुनकर यह क्या है—यह सोचकर वे सभी शीघ्रतासे अन्धकके पास चले गये ॥ ३०-३३ ॥

ते समेत्यान्धकेनैव समं मन्त्रयपुङ्गवाः । मन्त्रयामासुरुद्विग्नास्ते शब्दं प्रति नारद ॥ ३४ ॥
मन्त्रयत्सु च दैत्येषु भूतलात् सूकराननः । पातालकेतुर्दैत्येन्द्रः सम्प्राप्तोऽथ रसातलम् ॥ ३५ ॥
स बाणविद्धो व्यथितः कम्पमानो मुहुर्मुहुः । अब्रवाद् वचनं दीनं समभ्येत्यान्धकासुरम् ॥ ३६ ॥

नारदजी ! वे सभी असुरश्रेष्ठ व्याकुल होकर अन्धकके साथ ही एकत्र होकर उस शब्दके विषयमें परस्पर विचार-विमर्श करने लगे । उन दैत्योंके विचार करते समय सूकर-जैसे मुखवाला दैत्यश्रेष्ठ पातालकेतु भूतलसे रसातलमें आया । बाणसे बिद्ध होनेके कारण व्यथित होकर वह बारम्बार काँपता हुआ अन्धकासुरके पास आकर दीन वचन बोला—॥ ३४-३६ ॥

पातालकेतुरुवाच

गतोऽहमासं दैत्येन्द्र गालवस्याश्रमं प्रति । तं विध्वंसयितुं यत्नं समारब्ध बलान्मया ॥ ३७ ॥
यावत्सूकररूपेण प्रविशामि तमाश्रमम् । न जाने न नरः कोऽपि राजन् येन स प्रहितः शरः ॥ ३८ ॥

उन सबमें सबसे आगे बलशाली स्थाणु भगवान् गोहेकी उनी गदा लेकर क्रोधसे भरकर पशुओंके तुल्य शत्रुओंके सैन्य-समूह संहार करने लगे। असुरोंको मारते हुए महाग्निजीको देखकर कल्शोदर (भी) हाथमें कुल्हाड़ा लेकर सभी बड़े असुरोंका विनाश करने लगा। भय उत्पन्न कर दनदनाता ज्वालामुख रथ, हाथी और घोड़ोंके साथ असुरोंको हाथसे पकड़-पकड़कर अपने फैलाये हुए मुखमें झोंकने लगा। हाथमें वज्र लिये हुए दण्डक भी क्रुद्ध होकर महासुरोंको उनके वाहनोंसहित उठाकर समुद्रमें फेंकने लगा ॥ ५०—५३ ॥

शङ्कुकर्णश्च मुसली हलेनाकृष्य दानवान्। सञ्चूर्णयति मन्त्रीव राजानं प्रासमुद् वशी ॥ ५४ ॥
खड्गचर्मधरो वीर पुष्पदन्तो गणेश्वरः। द्विधा त्रिधा च बहुधा चक्रे दैतेयदानवान् ॥ ५५ ॥
पिङ्गलो दण्डमुद्यम्य यत्र यत्र प्रधावति। तत्र तत्र प्रदृश्यन्ते राशयः शावदानवैः ॥ ५६ ॥
सहस्रनयनः शूलं भ्रामयन् वै गणाग्रणी। निजघानासुरान् वीरः सवाजिरथकुञ्जरान् ॥ ५७ ॥

मुसल एवं प्रास लिये हुए जितेन्द्रिय शङ्कुकर्ण दानवोंको हलसे खींच-खींचकर इस प्रकार मर्दनमेज करने लगा, जैसे मन्त्री (अनाचारी अविचारी) राजाको नष्ट करता जाता है। तलवार और ढाल धारण करनेवाला गणोंका स्वामी वीर पुष्पदन्त भी दैत्यों एवं दानवोंमें किसीको दो-दो, किसीको तीन-तीन टुकड़ोंमें काट डालता तथा किसी किसीको तो अनेक टुकड़ोंमें कर डालता था। पिङ्गल दण्डको उठाकर जहाँ-जहाँ दौड़ता, वहाँ-वहाँ दैत्योंके शवका ढेर दिखलायी पड़ने लगता। गणोंमें श्रेष्ठ वीर सहस्रनयन शूल घुमाते हुए घोड़े, रथ और हाथियोंसहित असुरोंको मार रहा था ॥ ५४—५७ ॥

भीमो भीमशिलावर्षैः स पुरस्सरतोऽसुरान्। निजघान यथैवेन्द्रो वज्रवृष्ट्या नगोत्तमान् ॥ ५८ ॥
रौद्रः शकटचक्राक्षो गणः पञ्चशिखो बली। भ्रामयन् मुद्गरं वेगान्निजघान बलाद् रिपून् ॥ ५९ ॥
गिरिभेदी तलेनैव सारोहं कुञ्जरं रणे। भस्म चक्रे महावेगो रथं च रथिना सह ॥ ६० ॥
नाडीजङ्घोऽङ्घ्रिपार्ष्णिभ्यां मुष्टिभिर्जानुनाऽसुरान्। कीलाभिर्वज्रतुल्याभिर्जघान बलवान् मुने ॥ ६१ ॥

भीम भयङ्कर शिलाओंकी वर्षासे सामने आ रहे असुरोंको इस भाँति मार रहा था, जिस प्रकार इन्द्र वज्रकी वृष्टिसे उत्तम पर्वतोंको ध्वस्त करते हैं। भयङ्कर शकटचक्राक्ष और बलवान् पञ्चशिख नामक गण तेजीसे मुद्गर घुमाते हुए बलपूर्वक शत्रुओंका संहार कर रहे थे। प्रबल वेगवान् गिरिभेदी युद्धमें थप्पड़ोंके भीषण आघातसे ही सवारके साथ हाथीको एवं रथीके सहित रथको चूर्ण विचूर्ण करने लगा। मुने! बलवान् नाडीजङ्घ पैरों, मुक्कों, घुटनों एवं वज्रके समान कोहनियोंके प्रहारसे असुरोंको मारने लगा ॥ ५८—६१ ॥

कूर्मग्रीवो ग्रीवयैव शिरसा चरणेन च। तुण्डेन तथा दैत्यान् निजघान सवाहनान् ॥ ६२ ॥
पिण्डारकस्तु तुण्डेन शृङ्गाभ्यां च कलिप्रिय। विदारयति संग्रामे दानवान् समरोद्धतान् ॥ ६३ ॥
ततस्तन्नैन्यमतुलं वध्यमानं गणेश्वरैः। प्रदुद्राव महिषस्तारकश्च गणाग्रणी ॥ ६४ ॥
त हन्यमाना प्रमथा दानवाभ्यां वरायुधैः। परिवार्य समन्तात् ते युयुधुः कुपितास्तदा ॥ ६[illegible] ॥

कूर्मग्रीव ग्रीवा, सिर एवं पैरोंके प्रहारोंसे तथा चञ्चु लेकर वाहनोंके साथ दैत्योंको मारने लगा। नारदजी! पिण्डारक थूथन तुण्ड तथा दोनों सींगोंसे गर्वीले दानवोंको छिन्न भिन्न करने लगा। इसके बाद गणपतियोंद्वारा उस अतीव सेनाके दलोंको मारा जाता देख गणनायक महिष एवं तारक दौड़े। उन दोनों दानवोंद्वारा उत्तम-से उत्तम आयुधोंसे मारे जा रहे वे सभी प्रमथगण अधिक क्रुद्ध होकर चारों ओरसे घेरकर युद्ध करने लगे ॥ ६२—६५ ॥

हसास्य पट्टिशेनाथ जघान महिषासुरम्। षोडशाक्षस्त्रिशूलेन शतशीर्षो वरासिना ॥ ६६ ॥
श्रुतायुधस्तु गदया विशोको मुसलेन तु। बन्धुदत्तस्तु शूलेन मूर्ध्नि दैत्यमताडयत् ॥ ६७ ॥
तथान्यैः पार्षदैर्युद्धे शूलशक्त्यृष्टिपट्टिशैः। नाकम्पत ताड्यमानोऽपि मैनाक इव पर्वतः ॥ ६८ ॥
तारको भद्रकाल्या च तथोलूखल्या रणे। वध्यते चैकचूडाया दायते परमायुधैः ॥ ६९ ॥

हसास्य पट्टिशसे, षोडशाक्ष त्रिशूलसे और शतशीर्ष श्रेष्ठ तलवारसे महिषासुरको मारने लगा। श्रुतायुधने गदासे, विशोकने मुसलसे तथा बन्धुदत्तने शूलसे उस दैत्यके मस्तकपर मारा। वैसे ही अन्य पार्षदोंद्वारा शूल, शक्ति, ऋष्टि एवं पट्टिशोंसे मार खाते रहनेपर भी वह मैनाकपर्वतके समान तनिक भी विकम्पित नहीं हुआ। रणमें भद्रकाली, उलूखला एवं एकचूडाने श्रेष्ठ आयुधोंसे तारकके ऊपर प्रहार किया ॥ ६६—६९ ॥

तौ ताड्यमानौ प्रमथैर्मातृभिश्च महासुरौ। न क्षोभं जग्मतुर्वीरौ क्षोभयन्तौ गणानपि ॥ ७० ॥
महिषो गदया तूर्णं प्रहारैः प्रमथानथ। पराजित्य पराधावत् कुमारं प्रति सायुधः ॥ ७१ ॥
तमापतन्तं महिषं सुचक्राक्षो निरीक्ष्य हि। चक्रमुद्यम्य संक्रुद्धः रुरोध दनुनन्दनम् ॥ ७२ ॥
गदाचक्राङ्कितकरौ गणासुरमहारथौ। अयुध्येतां तदा ब्रह्मन् लघु चित्रं च सुष्ठु च ॥ ७३ ॥

वे दोनों महान् असुर प्रमथों और मातृशक्तियोंसे मारे जाते हुए होनेपर भी (स्वयं) अक्षुब्ध रहकर गणोंको क्षुब्ध कर रहे थे। उसके बाद आयुधसहित महिषासुर गदाकी बार-बार मारसे प्रमथोंको शीघ्र पराजितकर कुमारकी ओर झपटा। उस महिषको झपटते देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हुए सुचक्राक्षने चक्र उठाकर (उस) दनुनन्दनको (बीचमें ही) रोक दिया। ब्रह्मन्! हाथोंमें गदा और चक्र धारण किये हुए असुर और गण दोनों महारथी उस समय आपसमें कभी तेज, कभी अद्भुत, कभी निपुण (इस प्रकार विविध प्रकारकी) लड़ाई करने लगे ॥ ७०—७३ ॥

गदां मुमोच महिषः समाविध्य गणाय तु। सुचक्राक्षो निजं चक्रमुत्ससर्जासुरं प्रति ॥ ७४ ॥
गदां छित्त्वा सुतीक्ष्णारं चक्रं महिषमाद्रवत्। ततः उच्चुकुशुर्दैत्या हा हतो महिषस्त्विति ॥ ७५ ॥
तच्छ्रुत्वाऽभ्यद्रवद् बाणः प्रासमाविध्य वेगवान्। जघान चक्रं स्वारं पञ्चमुष्टिशतेन हि ॥ ७६ ॥
पञ्चबाहुशतेनापि सुचक्राक्षं बबन्ध सः। बलवानपि बाणेन निष्प्रयत्नगतिः कृतः ॥ ७७ ॥

महिषने गदा घुमाकर सुचक्राक्षके ऊपर मारा और सुचक्राक्षने अपने चक्रको उस असुरकी ओर चलाया। अत्यन्त तीक्ष्ण अरोंसे युक्त वह चक्र गदाको टूक-टूक काटकर महिषके ऊपर चल पड़ा। उसके बाद दैत्यलोग यह कहते हुए जोरसे चिल्ला उठे कि हाय! महिष मारा गया। उसे सुननेके बाद शीघ्रगामी वेगवान् बाणासुर प्रास लेकर वेगपूर्वक दौड़ा और पाँच सौ मुष्टियोंसे चक्रपर प्रहार किया तथा पाँच सौ बाहुओंसे सुचक्राक्षको बाँध लिया। बलवान् होते हुए भी सुचक्राक्ष बाणासुरके द्वारा प्रयत्नशून्य कर दिया गया ॥ ७४—७७ ॥

सुचक्राक्षं सचक्रं हि बद्धं बाणासुरेण हि। दृष्ट्वाभ्यद्रवद् गदापाणिर्मकराक्षो महाबलः ॥ ७८ ॥
गदया मूर्ध्नि बाणं हि निजघान महाबलः।
वेदनार्तो मुमोचाथ सुचक्राक्षं महासुरः। स चापि तेन संयुक्तो व्रीडायुक्तो महामना ॥ ७९ ॥
स संग्रामं परित्यज्य सालिग्राममुपाययौ। बाणोऽपि मकराक्षेण ताडितोऽभूत् पराङ्मुखः ॥ ८० ॥
प्रभज्यत बलं सर्वं दैत्यानां सुरतापसः।
ततः स्वबलमालक्ष्य प्रभग्नं तारको बली। खड्गोद्यतकरो दैत्यः प्रदुद्राव गणेश्वरान् ॥ ८१ ॥

फिर, बाणासुरके द्वारा सुचक्राक्षको चक्रसहित बँधा हुआ देखकर महाबली मकराक्ष हाथमें गदा लेकर दौड़ा। महाबली मकराक्षने गदासे बाणके मस्तकपर प्रहार किया। उसके बाद पीड़ासे दुःखी बाणने सुचक्राक्षको

तोड़ दिया और वह मनस्वी उससे घबराकर लज्जित होता हुआ युद्ध छोड़कर शालिग्रामके समीप चला गया। बाण भी मकराक्षसे चोट खाकर युद्धसे मुख मोड़ लिया। नारदजी! दैत्योंकी सारी सेना छिन्न भिन्न हो गयी। उसके बाद अपनी सेनाको नष्ट हुआ देख बलवान् दैत्य तारक हाथमें तलवार लेकर गणेश्वरोंकी ओर दौड़ा ॥ ७८–८१ ॥

ततस्तु सेनामतिमन्य सासिना स हंसवक्त्रप्रमुखा गणेश्वराः।
समागतश्चापि पराजिता रणे स्कन्दं भयार्त्ताः शरणं प्रपेदिरे ॥ ८२ ॥
भग्नान् गणान् वीक्ष्य महेश्वरात्मजस्तं तारकं सासिनमापतन्तम्।
दृष्ट्वैव शक्त्या हृदये बिभेद स भिन्नमर्मा न्यपतत् पृथिव्याम् ॥ ८३ ॥
तस्मिन्हते भ्रातरि भग्नदर्पो भयातुरोऽभून्महिषो महर्षे।
संत्यज्य संग्रामशिरो दुरात्मा जगाम शैलं स हिमाचलाख्यम् ॥ ८४ ॥
बाणेऽपि वीरे निहतेऽथ तारके गते हिमाद्रिं महिषे भयार्त्ते।
भयाद् विवेशोग्रमपां निधानं गणैर्बले घ्नत्यति सापराधे ॥ ८५ ॥

उसके बाद खड्ग धारण करनेवाले उस बेजोड़ वीरने उन मातृकाओंसहित हंसवक्त्र आदि गणेश्वरोंको हरा दिया। वे सभी हारकर स्कन्दकी शरणमें गये। महेश्वरके पुत्र कुमारने अपने गणोंको निरुत्साह तथा खड्गधारी तारकासुरको आते हुए देखकर शक्तिके प्रहारसे उसका हृदय विदीर्ण कर डाला। हृदय फट जानेके कारण वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। महर्षे! उस भाईके मर जानेपर महिषासुरका अभिमान चूर हो गया। वह दुरात्मा डरसे व्याकुल होकर युद्धभूमिसे भागकर हिमालय पर्वतपर चला गया। वीर तारकके मारे जाने, डरकर महिषके हिमालयपर भाग जाने एवं गणोंद्वारा अपराधी सेनाका संहार किये जानेपर बाण भी डरके कारण अगाध समुद्रमें प्रवेश कर गया ॥ ८२–८५ ॥

हत्वा कुमारो रणमूर्ध्नि तारकं प्रगृह्य शक्तिं महता जवेन।
मयूरमारुह्य शिखण्डमण्डितं ययौ निहन्तुं महिषासुरस्य ॥ ८६ ॥
स पृष्ठतः प्रेक्ष्य शिखण्डिकेतनं समापतन्तं वरशक्तिपाणिनम्।
कैलासमुत्सृज्य हिमाचलं गतः क्रौञ्चं समभ्येत्य गुहां विवेश ॥ ८७ ॥
दैत्यं प्रविष्टं स पिनाकिसूनुर्गुगोप यस्माद् भगवान् गुहोऽपि।
स्वयं बुद्ध्वा भविता कथं स्वहं संचिन्तयन्नेव ततः स्थितोऽभूत् ॥ ८८ ॥
ततोऽभ्यगात् पुष्करसंभवस्तु हरो मुरारिस्त्रिदशाधिपश्च।
अभ्येत्य चोचुर्महदिष सशैलं भिन्त्स्व शक्त्या कुरु देवकार्यम् ॥ ८९ ॥

युद्धभूमिमें तारकका संहार कर कुमारने शक्ति उठा ली और वे शिखण्डयुक्त मोरपर चढ़ गये। फिर अत्यन्त शीघ्रतासे महिषासुरको मारने चले। हाथमें श्रेष्ठ शक्ति लिये हुए मयूरध्वज (मोरकी पताकावाले) कार्तिकेयको पीछे आते देख वह महिषासुर कैलास एवं हिमालयको छोड़कर क्रौञ्च पर्वतपर चला गया और उसकी गुफामें प्रवेश कर गया। महादेवके पुत्र भगवान् गुह (कार्तिकेय) पर्वतकी गुफामें प्रविष्ट हुए दैत्यकी (भय) प्रयत्नपूर्वक रक्षा करने लगे। वे मानने लगे कि मैं अपने (ममेरे) भाईका विनाशकर्ता कैसे होऊँ! व (कुछ समय) स्तब्ध हो गये। उसके बाद ही पद्मजन्मा ब्रह्मा, भगवान् शंकर, विष्णु और इन्द्र वहाँ आ पहुँचे। उन लोगोंने कहा कि शक्तिके द्वारा पर्वतसहित महिषको विदीर्ण कर दो और देवकार्यको पूर्ण करो ॥ ८६–९० ॥

तत् कार्तिकेय प्रियमेव तथ्यं श्रुत्वा वचः प्राह सुरान् विहस्य ।
कथं हि मातामहनप्तृकं वधं सभ्रातरं भ्रातृसुतं च मातुः ॥ ९० ॥
एषा श्रुतिश्चापि पुरातनी स्थिरा गायन्ति या वेदविदो महर्षयः ।
कृत्वा च यस्या मतमुत्तमाया स्वर्गं व्रजन्ति त्वतिपापिनोऽपि ॥ ९१ ॥
गां ब्राह्मणं वृद्धमथाप्तवाक्यं बालं स्वबन्धुं ललनामदुष्टाम् ।
कृतापराधा अपि नैव वध्या आचार्यमुख्या गुरवस्तथैव ॥ ९२ ॥
एवं जानन् धर्ममग्र्यं सुरेन्द्रा नाहं हन्या भ्रातरं मातुलेयम् ।
यदा दैत्यो निर्गमिष्यद् गुहान्त तदा शक्त्या घातयिष्यामि शत्रुम् ॥ ९३ ॥

इस प्रिय-तथ्य वचनको सुनकर हँसते हुए कार्तिकेय देवताओंसे बोले—मैं नानाके नाती, माताके भतीजे और अपने ममेरे भाईको कैसे मारूँ ? (इस विषयमें) यह (इनको न मारनेकी) प्राचीन श्रुति भी है, जिसे वेदज्ञाता महर्षिगण गाया करते हैं। (इसी प्रकार) गौ, ब्राह्मण, वृद्ध, यथार्थवक्ता, बालक, अपना सम्बन्धी, दोषरहित स्त्री तथा आचार्य आदि गुरुजन अपराध करनेपर भी अवध्य होते हैं। इस उत्तम श्रुतिके अनुसार आचरण करनेवाले महान् पापी भी स्वर्गलोकको जाते हैं। सुरश्रेष्ठो ! मैं इस श्रेष्ठ धर्मको जानते हुए (ऐसी दशामें—गुफामें छिपी अवस्थामें) अपने भाईको नहीं मार सकूँगा। जब दैत्य गुहाके भीतरसे बाहर निकलेगा तब मैं शक्तिसे उस (दैत्य)शत्रुका संहार करूँगा (तब हमें धर्मबाधा नहीं होगी) ॥ ९०-९३ ॥

श्रुत्वा कुमारवचनं भगवान्महर्षे कृत्वा मतिं स्वहृदये गुहमाह शक्रः ।
मत्तो भवान् न मतिमान् वदसे किमर्थं वाक्यं शृणुष्व हरिणा गदितं हि पूर्वम् ॥ ९४ ॥
नैकस्यार्थे बहून् हन्यादिति शास्त्रेषु निश्चयः । एकं हन्याद् बहुभ्योऽर्थे न पापी तेन जायते ॥ ९५ ॥
एतच्छ्रुत्वा मया पूर्वं समयस्थेन चाग्निज । निहतो नमुचिः पूर्वं सोदरोऽपि ममानुजः ॥ ९६ ॥
तस्माद् बहूनामर्थाय सक्रौञ्चं महिषासुरम् । घातयस्व पराक्रम्य शक्त्या पावकदत्तया ॥ ९७ ॥

महर्षे ! कुमारका वचन सुननेके बाद इन्द्रने अपने हृदयमें विचारकर गुहसे कहा—आप मुझसे अधिक मतिमान् नहीं हैं। आप (ऐसा) क्यों बोल रहे हैं। पहले समयमें भगवान् श्रीहरिकी कही हुई बातको सुनिये। शास्त्रोंमें यह निश्चय किया गया है कि एक व्यक्तिके रक्षाके लिये बहुतोंका संहार नहीं करना चाहिये। परंतु बहुतोंके कल्याणके लिये एकका वध करनेसे मनुष्य पापी नहीं होता। अग्निपुत्र ! इस शास्त्रनिर्णयको सुनकर पहले समयमें मैंने मेल रहनेपर भी अपने सहोदर छोटे भाई नमुचिको मार दिया। अतः बहुतोंके कल्याणके लिये तुम क्रौञ्चसहित महिषासुरका संहार अग्निद्वारा दी हुई शक्तिसे बलपूर्वक कर डालो ॥ ९४-९७ ॥

पुरन्दरवचः श्रुत्वा क्रोधादारक्तलोचनः । कुमारः प्राह वचनं कम्पमानः शतक्रतुम् ॥ ९८ ॥
मूढ किं ते बलं बाह्वोः शरीरं चापि वृत्रहन् । येनाधिक्षिपसे मां त्वं ध्रुवं न मतिमानसि ॥ ९९ ॥
तमुवाच सहस्राक्षस्त्वत्तोऽहं बलवान् गुह । तं गुहः प्राह परीहि युद्धस्व बलवान् यदि ॥१००॥
तावत् प्रादाय बाहुभ्यां शायनं कृत्तिकासुत । प्रदक्षिणं शीघ्रतरं यः कुर्यात् सोऽधिको हि ॥१०१॥

इन्द्रकी बात सुनकर कुमारकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। आवेशमें काँपते हुए कुमारने इन्द्रसे कहा—मूढ वृत्रारि ! तुम्हारी बाहुओं और शरीरमें कितनी शक्ति है, जिसके बलपर तुम मेरे ऊपर (मतिमन्द कहकर) आक्षेप कर रहे हो। तुम निश्चय ही बुद्धिमान् नहीं हो। इसपर आँखवाले इन्द्र उनसे कहा—गुह ! मैं तुमसे अधिक बली हूँ।

गुहने इन्द्रसे कहा—यदि तुम शक्तिशाली हो तो आओ, युद्ध कर देख लो। तब इन्द्रने कहा—कृत्तिकानन्दन! हम दोनोंमें जो पहले क्रौञ्च पर्वतकी प्रदक्षिणा कर सकेगा वही शक्तिशाली समझा जायगा ॥ ९८–१०१ ॥

श्रुत्वा तद्वचनं स्कन्दो मयूरं मोक्ष्य वेगवान्। प्रदक्षिणं पादचारी कर्तुं तूर्णतरोऽभ्यगात् ॥१०२॥
शक्रोऽवतीर्य नागेन्द्रात् पादेनाथ प्रदक्षिणम्। कृत्वा तस्थौ गुहोऽभ्येत्य मूढ किं संस्थितो भवान् ॥१०३॥
तमिन्द्रः प्राह कौटिल्य मया पूर्वं प्रदक्षिणम्। कृतोऽस्य न त्वया पूर्वं कुमारः शक्रमब्रवीत् ॥१०४॥
मया पूर्वं मया पूर्वं विवदन्तौ परस्परम्। प्राप्तौ तु महेशाय ब्रह्मणे माधवाय च ॥१०५॥

उस बातको सुनकर स्कन्द अपने वाहन मयूरको छोड़कर पैदल प्रदक्षिणा करनेके लिये शीघ्रतासे चल पड़े। इन्द्र भी गजराजसे उतरकर पैदल ही प्रदक्षिणाकर वहाँ आ गये। स्कन्दने उनके पास जाकर कहा—मूढ! क्यों बैठे हो? इन्द्रने उन कौटिल्य (कुटिलाके पुत्र स्कन्द)से कहा—मैंने तुमसे पहले ही इसकी प्रदक्षिणा कर ली है। कुमारने इन्द्रसे कहा—तुमने पहले नहीं की है। 'मैंने पहले की है, मैंने पहले की है।' इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए उन दोनोंने शंकर, ब्रह्मा एवं विष्णुके पास जाकर कहा ॥ १०२–१०५ ॥

अथोवाच हरिः स्कन्दं प्रष्टुमर्हसि पर्वतम्। योऽयं वक्ष्यति पूर्वं स भविष्यति महाबलः ॥१०६॥
तन्माधववचः श्रुत्वा क्रौञ्चमभ्येत्य पावकिः। पप्रच्छाद्रिमिदं केन कृतं पूर्वं प्रदक्षिणम् ॥१०७॥
इत्येवमुक्तः क्रौञ्चस्तु प्राह पूर्वं महामतिः। चकार गोत्रभित् पश्चात्त्वया कृतमथो गुह ॥१०८॥
एवं ब्रुवन्तं क्रौञ्चं स क्रोधात्प्रस्फुरिताधरः। बिभेद शक्त्या कौटिल्यो महिषेण समं तदा ॥१०९॥

इसके बाद विष्णुने स्कन्दसे कहा कि तुम पर्वतसे पूछ सकते हो। वह जिसे पहले आया हुआ बतलायेगा, वही महाशक्तिशाली मान्य होगा। माधवकी उन बातोंको सुनकर अग्निनन्दनने क्रौञ्चपर्वतके पास जाकर उससे यह पूछा कि प्रदक्षिणा पहले किसने की है? इस बातको सुनकर चतुर क्रौञ्चने कहा—कार्तिकेय! पहले इन्द्रने प्रदक्षिणा की, इसके बाद तुमने की है। इस प्रकार कहनेवाले क्रौञ्चको क्रोधसे आठ कँपाते हुए उस कुटिलानन्दन कुमारने शक्तिकी मारसे महिषासुरके साथ ही विदीर्ण कर दिया ॥ १०६–१०९ ॥

तस्मिन् हतेऽथ तनये बलवान् सुनाभो वेगेन भूमिधरपार्थिवजस्त्वथागात्।
ब्रह्मेन्द्ररुद्रमरुदश्विवसुप्रधाना जग्मुर्दिवं महिषमीड्य हतं गुहेन ॥ ११० ॥
स्वमातुलं वीक्ष्य बली कुमारः शक्तिं समुत्पाट्य निहन्तुकामः।
निवारितश्चक्रधरेण वेगादालिङ्ग्य दोर्भ्यां गुरुरित्युदार्य ॥ १११ ॥
सुनाभमभ्येत्य हिमाचलस्तु प्रगृह्य हस्तेऽभ्यगम गय नालयात्।
हरिः कुमारं मणिमण्डितं नयद्वेगाद्दिवं पन्नगशत्रुपत्रः ॥ ११२ ॥
ततो गुहः प्राह हरिं सुरेशं मोहेन नष्टो भगवन् विवेकः।
ज्ञाता मया मातुलजो निरस्तस्तस्मात् चरिष्ये स्वशरीरशोषम् ॥ ११३ ॥

उस पुत्रके मारे जानेपर पर्वतराजपुत्र बलवान् सुनाभ शीघ्र ही वहाँ आ गये। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, वसु आदि देवता गुह (कार्तिकेय) के द्वारा महिषको मारा गया देखकर स्वर्ग चले गये। अपने मामाको देखकर बलवान् कुमारने शक्ति लेकर (उन्हें) मारना चाहा। परंतु विष्णुने शीघ्रतासे उन्हें बाहुओंसे आलिङ्गित करते हुए 'ये गुरु हैं' ऐसा कहकर रोक दिया। हिमाचल सुनाभको लेकर चले और उनका हाथ पकड़कर दूसरी ओर ले गये तथा गरुडवाहन विष्णु मयूरमण्डित कुमारको वेगसे स्वर्गमें लिये चले गये। उसके

बाद गुहने सुरेश्वर हरिसे कहा—भगवन् ! मोहसे मेरी विचार-शक्ति नष्ट हो गयी और मैंने अपने ममेरे भाईका संहार कर दिया है। अतः (प्रायश्चित्तमें) मैं अपने शरीरको सुखा डालूँगा ॥ ११०–११३ ॥

> तं प्राह विष्णुर्व्रज तीर्थवर्यं पृथूदकं पापतरोः कुठारम्।
> स्नात्वौघवत्यां हरमर्च्य भक्त्या भविष्यसे सूर्यसमप्रभावः ॥ ११४ ॥
> इत्येवमुक्तो हरिणा कुमारस्त्वभ्येत्य तीर्थं प्रसमीक्ष्य शम्भुम्।
> स्नात्वाऽर्च्य देवान् स रविप्रकाशो जगाम शैलं सदनं हरस्य ॥ ११५ ॥
> सुचक्रनेत्रोऽपि महाश्रमे तपश्चचार शैले पवनाशनस्तु।
> आराधयानो वृषभध्वजं तदा हरोऽस्य तुष्टो वरदो बभूव ॥ ११६ ॥
> देवात् स वव्रे वरमायुधार्थे चक्रं तथा वै रिपुबाहुखण्डम्।
> छिन्द्याद्यया त्वप्रतिमं करेण बाणस्य तन्मे भगवान् ददातु ॥ ११७ ॥

विष्णुने उनसे कहा—कुमार ! तुम पापरूपी वृक्षके लिये कुठार-स्वरूप श्रेष्ठ तीर्थ पृथूदकमें जाओ। वहाँ ओघवतीके जलमें स्नानकर भक्तिपूर्वक महादेवका दर्शन करनेसे तुम (निष्पाप होकर) सूर्यके समान कान्तियुक्त हो जाओगे। हरिके इस प्रकार कहनेपर कुमार (पृथूदक) तीर्थमें गये और उन्होंने महादेवका दर्शन किया। स्नान करनेके बाद देवताओंकी पूजा करके वे सूर्यके समान तेजस्वी होकर महादेवके निवासस्थल पर्वतपर चले गये। सुचक्रनेत्र भी केवल वायु पीकर पर्वतके महान् आश्रममें शंकरकी आराधना करता हुआ तपस्या करने लगा। तब प्रसन्न होकर शंकरने उसे वर देनेका वचन दिया। उसने शस्त्रप्राप्तिके हेतु वर माँगा—हे भगवन् ! शत्रुकी भुजाओंको काटनेवाला ऐसा अनुपम चक्र मुझे दें, जिससे मैं हाथसे ही बाणासुरकी भुजाओंको काट सकूँ ॥ ११४–११७ ॥

> तमाह शम्भुर्व्रज दत्तमेतद् वरं हि चक्रस्य तवायुधस्य।
> बाणस्य तद्बाहुबलं प्रवृद्धं संछेत्स्यते नात्र विचारणाऽस्ति ॥ ११८ ॥
> वरे प्रदत्ते त्रिपुरान्तकेन गणेश्वरः स्कन्दमुपाजगाम।
> निपत्य पादौ प्रतिवन्द्य हृष्टो निवेदयामास हरप्रसादम् ॥ ११९ ॥

महादेवजीने उससे कहा—जाओ ! तुमने चक्रके निमित्त जो वर माँगा, उसे मैंने दे दिया। यह बाणासुरके अत्यन्त बढ़े हुए बाहुबलको निःसंदेह काट डालेगा। त्रिपुरको मारनेवाले महेश्वरके वर देनेपर गणेश्वर (सुचक्रनेत्र) स्कन्दके निकट गया और (उसने) उनके चरणोंमें गिरकर वन्दना की। उसके बाद उनसे प्रसन्नतापूर्वक महादेवकी कृपाका वर्णन किया ॥ ११८–११९ ॥

> एवं तवोक्तं महिषासुरस्य वधं त्रिनेत्रात्मजशक्तिभेदात्।
> क्रौञ्चस्य मृत्युः शरणागतार्थे पापापहं पुण्यविवर्धनं च ॥ १२० ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार मैंने (पुलस्त्यने) तुमसे शंकरके पुत्रके द्वारा शक्तिसे महिषासुरके संहार किये जानेका वर्णन किया। शरणागतके हेतु क्रौञ्चकी मृत्यु हुई। यह आख्यान पापका विनाश एवं पुण्यकी वृद्धि करनेवाला है ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अट्ठावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

गर्म निःश्वास छोड़ा। वह सर्वथा अनुपम था। उसके बाद आकाशसे एक सुन्दर घोड़ा गिरा और अशरीरिणी वाणी—आकाशवाणी हुई कि यह बलवान् अश्व एक दिनमें हजारों योजन जा सकता है। शस्त्रसे सजे हुए उस राजा ऋतध्वजको वह घोड़ा सौंपकर वे महर्षि (पुनः) तपस्या करने लगे। उसके बाद राजपुत्रने दैत्यके पास जाकर उसे बाणसे घायल कर दिया ॥ ५–८ ॥

नारद उवाच

केनाम्बरतलाद् वाजी निसृष्टो वद सुव्रत। वाक् कस्याऽदेहिनी जाता परं कौतूहलं मम ॥ ९ ॥

नारदने कहा (पुनः पूछा)—सुव्रत! आप यह बतलायें कि किसने आकाशसे इस अश्वको गिराया था एवं आकाशवाणी किसकी थी? (इस विषयमें) मुझे बड़ी उत्सुकता है ॥ ९ ॥

पुलस्त्य उवाच

विश्वावसुर्नाम महेन्द्रगायनो गन्धर्वराजो बलवान् यशस्वी।
निसृष्टवान् भूवलये तुरङ्गं ऋतध्वजस्यैव सुतार्थमाशु ॥ १० ॥

पुलस्त्यजी बोले—महेन्द्रका गुणगान करनेवाले बलशाली विश्वावसु नामक यशस्वी गन्धर्वराजने अपनी पुत्रीके लिये ऋतध्वजके हेतु उस समय अश्वको पृथ्वीपर गिराया था ॥ १० ॥

नारद उवाच

कोऽर्थो गन्धर्वराजस्य येनाश्वं प्रैषी महाजवम्। राज्ञः कुवलयाश्वस्य कोऽर्थो नृपसुतस्य च ॥ ११ ॥

नारदने कहा (फिर पूछा)—महान् वेगशाली इस अश्वको भेजनेमें गन्धर्वराजका क्या उद्देश्य था तथा राजपुत्र राजा कुवलयाश्वका इसमें क्या लाभ था? (कृपया इसे भी बतलाइये।) ॥ ११ ॥

पुलस्त्य उवाच

विश्वावसोः शीलगुणोपपन्ना आसीत्पुरन्ध्रीषु वरा त्रिलोके।
लावण्यराशिः शशिकान्तितुल्या मदालसा नाम मदालसैव ॥ १२ ॥
तां नन्दने देवरिपुस्तरस्वी समीक्षती रूपवतीं ददर्श।
पातालकेतुस्तु जहार तन्वीं तदर्थमेतं सोऽश्ववरं प्रदत्त ॥ १३ ॥
हत्वा च दैत्यं नृपतेस्तनूजो लब्ध्वा वरोरूमपि सम्स्थितोऽभूत्।
रेमे यथा देवपतिर्महेन्द्रः शच्या तथा राजसुतो मृगाक्ष्या ॥ १४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—विश्वावसुकी गर्भसे उत्पन्न मदालसा नामकी एक (भोलीभाली) कन्या थी। वह शील और गुणसे सम्पन्न, त्रिलोककी स्त्रियोंमें उत्तम, सुन्दरताकी खानि और चन्द्रमाकी कान्तिके समान (कोमलाङ्गी) थी। नन्दनवनमें क्रीडा कर रही उस सौन्दर्यशालिनीको देवताओंके शत्रु पातालकेतुने देखा और सुरन्त उसे उठा ले गया। उसीके कारण वह श्रेष्ठ घोड़ा दिया गया था। दैत्यको मारनेके बाद श्रेष्ठ ऊरुवाली स्त्रीको पाकर राजपुत्र निश्चिन्त हो गये। राजपुत्र (उस) मृगनयनीके साथ ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे शचीके साथ इन्द्र सुशोभित होते हैं ॥ १२–१४ ॥

नारद उवाच

एवं निरस्ते महिषे तारके च महासुरे। हिरण्याक्षसुतो धीमान् किमचेष्टत वै पुनः ॥ १५ ॥

नारदने पुनः पूछा—इस प्रकार महान् असुर तारक और महिषके निरस्त—समाप्त हो जानेपर हिरण्याक्षके बुद्धिमान् पुत्र (अन्धक)ने पुनः क्या किया? ॥ १५ ॥

[अथैकोनषष्टितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

योऽसौ मन्मथतापार्तो दैत्यानां शरताडितः । स केन वद निर्भिन्नः शरेण दितिजेश्वर ॥ १ ॥

उनसठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(ऋतध्वजका पातालकेतुपर आक्रमण कर प्रहार करना, अश्वका गौरीको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना)

नारदने पूछा—आप हमें यह बतलायें कि संग्राह करते हुए दैत्योंमेंसे जो वह दैत्य बाणद्वारा बिंध गया था उसे किस बाणसे विदीर्ण कर दिया था ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

आसीन्नृपो रघुकुले रिपुजिन्महर्षे तस्यात्मजो गुणगणैकनिधिर्महात्मा ।
शूरोऽरिसैन्यदमनो बलवान् सुहृत्सु विप्रार्थदीनकृपणेषु समानभावः ॥ २ ॥
ऋतध्वजो नाम महान् महीयान् स गालवार्थे तुरगाधिरूढः ।
पातालकेतुं निजघान पृष्ठे बाणेन चन्द्रार्धनिभेन वेगात् ॥ ३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—महर्षे! रघुकुलमें रिपुजित् नामक एक राजा थे। उनके ऋतध्वज नामका एक पुत्र था। वह सभी गुणोंकी निधि, महात्मा, वीर, शत्रुकी सेनाओंका नाश करनेवाला, बली, मित्रों, ब्राह्मणों, अर्थों, गरीबों एवं दयापात्र दीनोंमें समान भाव रखनेवाला था। उसने गालवके लिये घोड़ेपर सवार होकर पातालकेतुकी पीठमें अर्धचन्द्रके सदृश बाणसे बड़ी तेजीसे मारा था ॥ २-३ ॥

नारद उवाच

किमर्थं गालवस्यासौ साधयामास सत्तम । येनासौ पत्त्रिणा दैत्यं निजघान नृपात्मजः ॥ ४ ॥

नारदने कहा (पूछा)—उस श्रेष्ठ राजपुत्रने जिस कारण बाणसे उस दैत्यको मारा, उससे गालवका कौन-सा कार्य सिद्ध किया? ॥ ४ ॥

पुलस्त्य उवाच

पुरा तपस्यति गालवर्षिर्महाश्रमे स्वे सततं निविष्टः ।
पातालकेतुस्तपसोऽस्य विघ्नं करोति मौढ्यात् स समाधिभङ्गम् ॥ ५ ॥
न चेष्यतेऽसौ तपसो व्ययं हि शक्तोऽपि कर्तुं स्वयं भस्मसात् तम् ।
आकाशमीक्ष्याथ स दीर्घमुष्णं मुमोच निःश्वासमनुत्तमं हि ॥ ६ ॥
ततोऽम्बरात् वाजिवरः पपात बभूव वाणी त्वशरीरिणी च ।
असौ तुरङ्गो व्रजते श्रमेण अह्ना सहस्राणि तु योजनानाम् ॥ ७ ॥
स तं प्रगृह्याश्ववरं नरेन्द्रमृतध्वजं योज्य तदाश्रमस्थम् ।
स्थितस्तपस्येव ततो महर्षिर्दैत्यं समेत्य विशिखैर्नृपजो बिभेद ॥ ८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—यह तो प्रसिद्ध बात है कि गालव अपने आश्रममें तपस्यामें सदा लीन रहा करते थे। दैत्य पातालकेतु मूर्खताके कारण उनकी तपस्यामें बाधा डाला करता और उनकी समाधि (ध्यान) को भंग किया करता था। वे उसको जलाकर राख कर देनेमें समर्थ होते हुए भी अपनी तपस्या क्षीण नहीं करना चाहते थे, (क्योंकि क्रोधावेशसे दूसरोंका अनिष्ट करनेसे तपस्या क्षीण हो जाती है)। उन्होंने आकाशकी ओर देखकर लम्बी,

में नि श्वास छोड़ा । वह सर्वथा अनुपम था । उसके बाद आकाशसे एक सुन्दर घोड़ा गिरा और अशरीरिणी वाणी—आकाशवाणी हुई कि यह बलवान् अश्व एक दिनमें हजारों योजन जा सकता है । शब्दसे सने हुए उस राजा ऋतध्वजको वह घोड़ा सौंपकर वे महर्षि (पुन) तपस्या करने लगे । उसके बाद राजपुत्रने दैत्यके पास जाकर उसे बाणसे घायल कर दिया ॥ ५–८ ॥

नारद उवाच

केनाम्बरतलाद् वाजी निसृष्टो वद सुव्रत । वाग् कस्याऽदेहिनी जाता पर कौतूहल मम ॥ ९ ॥

नारदने कहा (पुन पूछा)—सुव्रत ! आप यह बतलाय कि किसने आकाशसे इस अश्वको गिराया था और आकाशवाणी किसकी थी ? (इस विषयमें) मुझे बड़ी उत्सुकता है ॥ ९ ॥

पुलस्त्य उवाच

विश्वावसुर्नाम महेन्द्रगायनो गन्धर्वराजो बलवान् यशस्वी ।
निसृष्टवान भूवलये तुरङ्ग ऋतध्वजस्यैव सुतार्थमाशु ॥ १० ॥

पुलस्त्यजी बोले—महेन्द्रका गुणगान करनेवाले बलशाली विश्वावसु नामके यशस्वी गन्धर्वराजने अपनी पुत्रीके लिये ऋतध्वजके हेतु उस समय अश्वको पृथ्वीपर गिराया था ॥ १० ॥

नारद उवाच

कोऽर्थो गन्धर्वराजस्य येनाश्वो महाजवम् । दत्त कुवलयाश्वस्य कोऽर्थो नृपसुतस्य च ॥ ११ ॥

नारदने कहा (फिर पूछा)—महान् वेगशाली इस अश्वको भेजनेमें गन्धर्वराजका क्या उद्देश्य था तथा राजपुत्र राजा कुवलयाश्वका इसमें क्या लाभ था ? (कृपया इसे भी बतलाइये ।) ॥ ११ ॥

पुलस्त्य उवाच

विश्वावसोः शीलगुणोपपन्ना आसीत्पुरन्ध्रीषु वरा त्रिलोके ।
लावण्यराशि शशिकान्तितुल्या मदालसा नाम मदालसैव ॥ १२ ॥
ता नन्दने देवरिपुस्तरस्वी क्रीडन्तीं रूपवतीं ददर्श ।
पातालकेतुस्तु जहार तन्वीं तस्यायन सोऽश्ववर प्रदत्त ॥ १३ ॥
हत्वा च दैत्य नृपतेस्तनूजो लब्ध्वा वरोरूमपि मन्मिनोऽभूत् ।
दृष्टो यथा देवपतिर्महेन्द्र शच्या तथा राजसुतो मृगाक्ष्या ॥ १४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—विश्वावसुकी मदसे अलसायी-सी मदालसा नामकी एक (भोगिनाशी) कन्या थी । वह शील और गुणसे सम्पन्न, त्रिलोककी स्त्रियोंमें उत्तम, सुन्दरताकी खानि और चन्द्रमाकी कान्तिके समान (चन्द्रमुखी) थी । नन्दनवनमें क्रीडा कर रही उस सौन्दर्यशालिनीको देवताओंके शत्रु पातालकेतुने देखा और तुरन्त उसे उठा ले गया । उसीके कारण यह श्रेष्ठ घोड़ा दिया गया था । दैत्यको मारनेके बाद श्रेष्ठ ऊरुवाली स्त्रीको पाकर राजपुत्र निश्चिन्त हो गये । राजपुत्र (उस) मृगनयनीके साथ ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे शचीके साथ इन्द्र सुशोभित होते हैं ॥ १२–१४ ॥

नारद उवाच

एवं निरस्ते महिषे तारके च महासुरे । हिरण्याक्षसुतो धीमान् किमचेष्टत वै पुन ॥ १५ ॥

नारदने पुनः पूछा—इस प्रकार महान् असुर तारक और महिषके निरस्त—समाप्त हो जानेपर हिरण्याक्षके बुद्धिमान् पुत्र (अन्धक)ने पुन क्या किया ? ॥ १५ ॥

पुलस्त्य उवाच

तारकं निहतं दृष्ट्वा महिषं च रणेऽन्धकः। क्रोधं चक्रे सुदुर्बुद्धिर्देवानां देवसैन्यहा ॥ १६ ॥
ततः स्वल्पपरीवारः प्रगृह्य परिघं करे। निर्जगामाथ पातालाद् विचचार च मेदिनीम् ॥ १७ ॥
ततो विचरता तेन मन्दरे चारुकन्दरे। दृष्टा गौरी च गिरिजा सखीमध्ये स्थिता शुभा ॥ १८ ॥
ततोऽभूत् कामबाणार्त्तो महसैवान्धकोऽसुरः। तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं गिरिराजसुतां वने ॥ १९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—तारक और महिष दोनोंको संग्राममें मारे गये देखकर देवसेनाके सनूर्हार ना करनेवाला, महामूर्ख अन्धक देवताओंपर कुपित हो गया। उसके बाद थोड़ी-सी सेनाके साथ वह हाथमें परिघ लेकर पातालसे बाहर निकल आया और पृथ्वीपर विचरण करने लगा। उसके बाद घूमते हुए ही उसने सुन्दर कन्दराओंवाले मन्दर गिरिपर सखियोंके बीचमें गिरिनन्दिनी कल्याणी गौरीको देखा। उस सर्वाङ्गसुन्दरी गिरिराजनन्दिनीको वनमें देखकर अन्धकासुर एकाएक काम-बाणसे पीड़ित हो गया ॥ १६–१९ ॥

अथाब्रवीच्चासुरो मूढो वचनं मन्मथान्धकः। कस्येयं चारुसर्वाङ्गी वने चरति सुन्दरी ॥ २० ॥
इयं यदि भवेन्नैव ममान्तःपुरवासिनी। तन्मदीयेन जीवेन म्रियते निष्फलेन किम् ॥ २१ ॥
यदस्यास्तनुमध्याया न परिष्वङ्गवानहम्। अतो धिङ्मां रूपेण किं स्थिरेण प्रयोजनम् ॥ २२ ॥
स मे बन्धुः स सचिवः स भ्राता साम्परायिकः। यो मामसितकेशान्तां योजयेन्मृगलोचनाम् ॥ २३ ॥

तब कामसे अंधे हुए उस मूर्ख असुर अन्धकने कहा—वनमें भ्रमण कर रही यह सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या किसकी है? यदि यह मेरे अन्तःपुरमें निवास करनेवाली न हुई तो मेरे इस व्यर्थके जीवनसे क्या लाभ? यदि इस कृशोदरी सुन्दरी ललनाका आलिङ्गन मुझे प्राप्त न हुआ तो मुझे धिक्कार है। मेरी इस स्थायी सुन्दरतासे क्या लाभ? मेरा वही बन्धु, वही सचिव, वही भ्राता तथा वही संकटकालका साथी है जो इस काले केशवाली मृगनयनी सुन्दरीको मुझसे मिला दे ॥ २०–२३ ॥

इत्थं वदति दैत्येन्द्रे प्रह्लादो बुद्धिसागरः। पिधाय कर्णौ हस्ताभ्यां शिरःकम्पं वचोऽब्रवीत् ॥ २४ ॥
मा मैवं वद दैत्येन्द्र जगतो जननी त्वियम्। लोकनाथस्य भार्येयं शङ्करस्य त्रिशूलिनः ॥ २५ ॥
मा कुरुष्व सुदुर्बुद्धिं सद्यः कुलविनाशिनीम्। भवतः परदारेयं मा निमज्ज रसातले ॥ २६ ॥
सत्सु कुत्सितमेवं हि असत्स्वपि हि कुत्सितम्। शत्रवस्ते प्रकुर्वन्तु परदारावगाहनम् ॥ २७ ॥

दैत्यराजके इस प्रकार कहनेपर महाबुद्धिमान् प्रह्लाद दोनों हाथोंसे दोनों कानोंको ढँककर सिर हिलाते हुए बोले—दैत्येन्द्र! इस प्रकार मत कहो। ये तो संसारकी जननी और लोकस्वामी, त्रिशूलधारी शङ्करकी पत्नी हैं। तुम कुलका सद्यः विनाश करनेवाली ऐसी दुर्बुद्धि मत करो। तुम्हारे लिये ये परस्त्री हैं। अतः रसातलमें मत गिरो, क्योंकि (ऐसा दुष्कर्म) सज्जनोंमें तो अत्यन्त निन्दित है ही, असत् पुरुषोंमें भी निन्दित है। यह दुष्कर्म—परदारा-अभिगमन तुम्हारे शत्रु करें (जिससे उनका विनाश हो जाय) ॥ २४–२७ ॥

किंचित् त्वया न श्रुतं दैत्यनाथ गीतं श्लोकं गाधिना पार्थिवेन।
दृष्ट्वा सैन्यं विप्रधेनुप्रसक्तं तथ्यं पथ्यं सर्वलोके हितं च ॥ २८ ॥
वरं प्राणास्त्याज्या न च पिशुनवादेष्वभिरतिर्वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतम्।
वरं क्लीबैर्भाव्यं न च परकलत्राभिगमनं वरं भिक्षार्थित्वं न च परधनास्वादमसकृत् ॥ २९ ॥
स प्रह्लादवचः श्रुत्वा क्रोधान्धो मदनार्दितः। इयं सा शत्रुजननीत्येवमुक्त्वा प्रदुद्रुवे ॥ ३० ॥
ततोऽन्वधावन् दैतेया वज्रमुखा हयोपलाः। तान् रुरोध बलान्नन्दी वज्रोद्यतकरोऽव्ययः ॥ ३१ ॥

✽

दैत्येश ! ब्राह्मणकी गौपर प्रसक्त सेनाको देखकर गणिराजने समस्त जगत्‌के लिये कल्याणकारी, सत्य एवं उचित जो श्लोक कहा है क्या उसे आपने नहीं सुना है ? (उन्होंने कहा है—) प्राणोंका छोड़ देना अच्छा है, परंतु चुगुलखोरोंका बातमें दिलचस्पी लेना उचित नहीं। मौन रहना अच्छा है, किंतु असत्य बोलना ठीक नहीं। नपुंसक होकर रहना ठीक है, परंतु परस्त्रीगमन उचित नहीं। भीख माँगना अच्छा है, किंतु बार-बार दूसरेके धनका उपभोग करना उचित नहीं। प्रह्लादका वचन सुननेके बाद काम-पीडित अन्धक क्रोधसे अंधा होकर 'यह यही शत्रुकी जननी है'—यह कहते हुए दौड़ पड़ा। उसके बाद दूसरे और दानव भी यन्त्रसे छूटे हुए पत्थरकी गोलीके समान उसके पीछे दौड़ चले। परंतु अव्यय नन्दीने हाथमें वज्र उठाकर बलपूर्वक उन सबको रोक दिया ॥ २८-३१ ॥

मयतारपुरोगास्ते वारिता द्राविताास्तथा। कुलिशेनाहतास्तूर्णं जग्मुर्भीता दिशो दश ॥ ३२ ॥
तानर्दितान् रणे दृष्ट्वा नन्दिनाऽन्धकदानवः। परिघेण समाहत्य पातयामास नन्दिनम् ॥ ३३ ॥
शैलादिं पतितं दृष्ट्वा धावमानं तथान्धकम्। शतरूपाऽभवद् गौरी भयात् तस्य दुरात्मनः ॥ ३४ ॥
ततः स देवीगणमध्यसंस्थितः परिभ्रमन् भाति महाऽसुरेन्द्रः ।
यथा वने मत्तकरी परिभ्रमन् करेणुमध्ये मदलोलदृष्टिः ॥ ३५ ॥

वज्रकी मारसे रोक दिये गये और भगाये जाते हुए वे मय एवं तारक आदि सभी दैत्य डरकर दसों दिशाओंमें भाग गये। संग्राममें अन्धकासुरने उन सभीको नन्दीद्वारा पीडित देखकर नन्दीको परिघसे मारकर गिरा दिया। नन्दीको गिरा हुआ और अन्धकको दौड़कर आते हुए देखकर गौरी उस दुष्टात्माके भयसे सैकड़ों रूपवाली हो गयीं। उसके बाद देवियोंके बीच घूमता हुआ (वह) दैत्य ऐसा लग रहा था जैसा कि वनमें हथिनियोंके बीच घूमता हुआ मदसे चञ्चल दृष्टिवाला मतवाला हाथी सुशोभित होता है ॥ ३२-३५ ॥

न परिज्ञातवांस्तत्र का तु सा गिरिकन्यका। नाश्चर्यं न पश्यन्ति चत्वारोऽमी सदैव हि ॥ ३६ ॥
न पश्यतीह जात्यन्धो रागान्धोऽपि न पश्यति।
न पश्यति मदान्मत्तो लोभाक्रान्तो न पश्यति। सोऽपश्यमानो गिरिजां पश्यन्नपि तदान्धकः ॥ ३७ ॥
प्रहारं नाददद् तासां युवत्य इति चिन्तयन्। ततो देव्या स दुष्टात्मा शतावर्या निराकृतः ॥ ३८ ॥
कुट्टितः प्रवरैः शस्त्रैर्निपपात महीतले। योऽस्यान्धकं निपतितं शतरूपा विभावरी ॥ ३९ ॥
तस्मात् स्थानादपाक्रम्य गताऽन्तर्धानमम्बिका। पतितं चान्धकं दृष्ट्वा दैत्यदानवयूथपाः ॥ ४० ॥
कुर्वन्तः सुमहाशब्दं प्राद्रवन्त रणार्थिनः। तेषामापततां शब्दं श्रुत्वा तस्थौ गणेश्वरः ॥ ४१ ॥

(पर) वह नहीं समझ रहा था कि उनमें वे गिरिनन्दिनी कौन हैं ? इसमें (उसके न समझनेमें) कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि संसारमें ये चार प्रकारके व्यक्ति सदा ही (ठीक-ठीक) नहीं देख पाते। जन्मका अन्धा नहीं देखता, प्रेममें अन्धा हुआ नहीं देखता, मदोन्मत्त नहीं देखता एवं लोभसे पराभूत भी नहीं देखता है। अतः अन्धक उस समय देखते हुए भी गिरिजाको नहीं देख पा रहा था। उस दानवने उन सभीको युवती समझकर उनपर आघात नहीं किया, फिर तो शतावरीदेवीने (ही) उस दुरात्मापर आघात कर दिया। उत्कृष्ट कोटिके शस्त्रोंसे पिटकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। अन्धकको गिरा हुआ देखकर शतरूपोंवाली विभावरी अम्बिका उस स्थानसे हटकर अन्तर्हित हो गयीं। अन्धकको गिरा हुआ देख दैत्यों एवं दानवोंके सेनापति युद्धके लिये चिल्लाते हुए दौड़ पड़े। आक्रमण करनेवाले उन-(दैत्यों)के शब्दको सुनकर गणेश्वर खड़े हो गये ॥ ३६-४१ ॥

आदाय वज्रं बलवान् मघवानिव कोपितः । दानवान् समयान् वीरः पराजित्य गणेश्वरः ॥ ४२ ॥
समभ्येत्याम्बिकां दृष्ट्वा ववन्दे चरणौ शुभौ । देवी च ता निजा मूर्तीः प्राह गच्छध्वमिच्छया ॥ ४३ ॥
विहरध्वं महीपृष्ठे पूज्यमाना नरैरिह । वसतिर्भवतीनां च उद्यानेषु वनेषु च ॥ ४४ ॥
वनस्पतिषु वृक्षेषु गच्छध्वं विगतज्वराः । तास्त्वेवमुक्ता शैलेय्या प्रणिपत्याम्बिकां क्रमात् ॥ ४५ ॥
दिक्षु सर्वासु जग्मुस्ताः स्तूयमानाश्च किंनरैः ।
अन्धकोऽपि स्मृतिं लब्ध्वा अपश्यन्नद्रिनन्दिनाम् । स्वबलं निर्जितं दृष्ट्वा ततः पातालमाद्रवत् ॥ ४६ ॥
ततो दुरात्मा स तदान्धको मुने पातालमभ्येत्य दिवा न भुङ्क्ते ।
रात्रौ न शेते मदनेषुताडितो गौरीं स्मरन्कामबलाभिपन्नः ॥ ४७ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

क्रुद्ध हुए गणेश्वर इन्द्रके समान वज्र लेकर मयसहित दानवोंको हराकर अम्बिकाके निकट गये और (उन्होंने) उनके शुभ चरणोंमें प्रणाम किया । देवीने भी अपनी उन मूर्तियोंसे कहा—तुम सभी इच्छानुरूप स्थानोंको जाओ और मनुष्योंकी आराधना प्राप्त करती हुई पृथ्वीपर भ्रमण करो । तुम सबका निवास उद्यानों, वनों, वनस्पतियों एवं वृक्षोंमें होगा । अब तुम सभी निश्चिन्त होकर जाओ । पार्वतीके इस प्रकार कहनेपर वे सभी देवियाँ अम्बिकाको प्रणामकर किंनरोंसे स्तुत होती हुई (दसों) दिशाओंमें चली गयीं । अन्धक भी होशमें आनेके बाद गिरिजाको न देखकर तथा अपनी सेनाको हारी हुई समझकर पातालमें चला गया । मुने ! उसके बाद कामबाणसे घायल एवं कामके वेगसे पीडित दुरात्मा अन्धक पातालमें जाकर गौरीका चिन्तन करता हुआ न दिनमें खाता था और न रातमें सोता था—वह बेचैन-सा हो गया था ॥ ४२–४७ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उनसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५९ ॥

[अथ षष्टितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

क्व गतः शङ्करो ह्यासीद् येनाम्बा नन्दिना सह । शर्वर्कं योधयामास एतन्मे वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

साठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(पुनः तेजःप्राप्तिके लिये शिवकी तपश्चर्या, केदारतीर्थकी उपलब्धि, शिवका सरस्वतीमें निमग्न होना, मुरासुरका प्रसंग और सनत्कुमारका प्रसंग)

नारदने कहा (पूछा)—आप मुझे यह बतलायें कि शंकर कहाँ चले गये थे, जिससे नन्दिसहित अम्बिकाने अन्धकसे (स्वयं) युद्ध किया ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

यदा वर्षसहस्रं तु महामोहे स्थितोऽभवत् । तदाप्रभृति निस्तेजा शशिपाय प्रदृश्यते ॥ २ ॥
समात्मानं निरीक्ष्याथ निस्तेजोऽङ्ग महेश्वरः । तपोऽर्थाय तदा चक्रे मतिं मतिमतां वरः ॥ ३ ॥
स महाव्रतमुत्पाद्य समाश्वास्याम्बिकां विभुः । शैलादिं स्थाप्य गोप्तारं विचचार महीतलम् ॥ ४ ॥
महामुद्रार्पितग्रीवो महाहिकृतकुण्डलः । धारयाणः कटीदेशे महाशङ्खस्य मेखलाम् ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—वे (शंकरजी) जिस समय एक हजार वर्षतक महामोहमें पड़ गये थे, उस समयसे वे तेजरहित एवं शक्तिहीन-से दिखायी दे रहे थे। मतिमानोंमें श्रेष्ठ महेश्वरने स्वयं अपने अङ्गोंको निस्तेज देखकर तप

करनेके लिये निश्चय किया। उन व्यापक शंकरने महाव्रतका निर्णय करनेके बाद अम्बिकाको धैर्य धारण कराया और वे शैल आदि (नन्दी) को उनकी रक्षाके लिये नियुक्त कर पृथ्वीपर विचरण करने लगे। उन्होंने गलेमें तन्त्रानुसार महामुद्रा पहन ली। महासर्पके कुण्डल एवं कमरमें महाशङ्खकी मेखला धारण कर ली॥ २—५॥

कपाल दक्षिणे हस्ते सव्ये गृह्य कमण्डलुम्। एकाहवासी वृक्षे हि शैलसानुनदीष्वटन्॥ ६॥
स्थानं त्रैलोक्यमास्थाय मूलाहारोऽम्बुभोजनः। वाय्वाहारस्तदा तस्थौ नववर्षशतं क्रमात्॥ ७॥
ततो घोटां मुखे क्षिप्य निरुच्छ्वासोऽभवद् यतिः। विस्तृते हिमवत्पृष्ठे रम्ये समशिलातले॥ ८॥
ततो घोटा विशत्येव कपालं परमेष्ठिनः। सार्चिष्मती जटामध्यान्निपपात धरणीतले॥ ९॥

दाहिने हाथमें कपाल एवं बायें हाथमें कमण्डलु लेकर वे वृक्षोंके नीचे (कभी) पड़े रहते, कभी पहाड़ोंकी चोटियोंपर तथा नदियोंके तटपर चक्कर लगाते रहते। प्रथम (आरम्भमें) मूल-फल खाकर फिर जल पीकर, उसके बाद वायु पीकर (यम नियमका) व्रत पालन करनेवाले उन्होंने क्रमशः तीनों लोकोंमें नौ सौ वर्ष व्यतीत किये। उसके बाद उन्होंने हिमालयके ऊपर रमणीय तथा समतल पर्वतीय चट्टानपर आसन लगा लिया और अपने मुखमें काष्ठकी बनी गुल्ली डालकर श्वास रोक लिया—कुम्भक प्राणायाम कर लिया। उसके बाद शंकरके कपालको फाड़कर ज्वालामयी वह गुल्ली (उनकी) जटाके बीचसे निकलकर पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ ६—९॥

घोटया तु पतन्त्याऽद्रिर्दारित क्ष्मासमोऽभवत्। जातस्तीर्थवरः पुण्यः केदार इति विश्रुतः॥ १०॥
ततो हरो वरं प्रादात् केदाराय वृषध्वजः। पुण्यवृद्धिकरं ब्रह्मन् पापघ्नं मोक्षसाधनम्॥ ११॥
ये जलं तावके तीर्थे पीत्वा संयमिनो नराः। मधुमासनिवृत्ता ये ब्रह्मचारिव्रते स्थिताः॥ १२॥
षण्मासाद् धारयिष्यन्ति निवृत्ताः परपाकतः। तेषां हृत्पङ्कजेष्वेव मल्लिङ्गं भविता ध्रुवम्॥ १३॥

उस गुल्लीके गिरनेसे पर्वत टूट-फूटकर पृथ्वीके समान (समतल) हो गया और वहाँ केदार नामका प्रसिद्ध तीर्थ बन गया। ब्रह्मन्! उसके बाद वृषध्वज महादेवने केदारको पुण्यकी वृद्धि करनेवाले एवं पापके विनाश करनेवाले और मोक्षके साधनका वर दिया तथा यह भी वर दिया कि जो संयमी मनुष्य परान्नभोजनको त्यागकर तथा ब्रह्मचर्यका धारणकर तुम्हारा जल पीते हुए यहाँ छः महीनेतक निवास करेंगे उनके हृदयकमलमें निश्चय ही मेरे लिङ्गकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रकट होगी॥ १०—१३॥

न चास्य पापाभिरतिर्भविष्यति कदाचन। पितृणामक्षयं श्राद्धं भविष्यति न संशयः॥ १४॥
स्नानदानतपांसीह होमजप्यादिका क्रिया। भविष्यन्त्यक्षया नृणां मृतानामपुनर्भवः॥ १५॥
एतद् वरं हरात् तीर्थं प्राप्य पुष्णाति देवताः। पुनाति पुंसां केदारस्त्रिनेत्रवचनं यथा॥ १६॥
केदाराय वरं दत्त्वा जगाम त्वरितो हरः। स्नातुं भानुसुतां देवीं कालिन्दीं पापनाशिनीम्॥ १७॥

उन्हें कभी पापमें अभिरुचि नहीं होगी तथा उनसे किया गया पितरोंका श्राद्ध अक्षय होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। मनुष्योंद्वारा यहाँ की गयी स्नान, दान, तपस्या, होम एवं जप आदिकी क्रियाएँ अक्षय होंगी तथा इस स्थानपर मनुष्योंके मरनेपर उनका पुनर्जन्म नहीं होगा। महादेवसे इस प्रकारका वर पाकर यह केदारतीर्थ त्रिनेत्र महादेवके वचनके अनुकूल प्राणियोंको पवित्र एवं देवताओंका पोषण करने लगा। केदारतीर्थको वर देकर महादेव पापविनाशिनी रवितनया देवी कालिन्दी (यमुना)में स्नान करनेके लिये शीघ्र चले गये॥ १४—१७॥

तत्र स्नात्वा शुचिर्भूत्वा जगामाथ सरस्वतीम्। सुवा तीर्थवरे पुण्ये प्लक्षजा पापनाशिनीम्॥ १८॥
अवतीर्णस्ततः स्नातुं निमग्नश्च महाम्भसि। द्रुपदा नाम गायत्रीं जजापान्तर्जले हरः॥ १९॥

निमग्ने शङ्करे देव्यां सरस्वत्यां कलिप्रिय । साग्रः संवत्सरो जातो न चोन्मज्जत ईश्वरः ॥ २० ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन् भुवनाः सप्त सार्णवाः । चेलु पेतुर्धरण्यां च नक्षत्रास्तारकैः सह ॥ २१ ॥

वहाँ स्नान करके पवित्र होकर भगवान् शङ्कर सैकड़ों पवित्र तीर्थोंसे घिरी (युत) और प्लक्ष वृक्षसे उत्पन्न पापनाशिनी सरस्वतीके निकट गये । उसके बाद वे स्नान करनेके लिये उसमें उतरे एवं अगाध जलमें भलीभाँति स्नान कर द्रुपदा गायत्रीका जप करने लगे । कलिप्रिय ! देवी सरस्वतीके जलमें शङ्करको डुबकी लगाये हुए एक वर्षसे अधिक बीत गया, परंतु भगवान् ऊपर नहीं उठे । ब्रह्मन् ! उस समय समुद्रोंसहित सातों भुवन काँपने लगे और ताराओंके साथ नक्षत्र (टूट-टूटकर) भूतलपर गिरने लगे ॥ १८—२१ ॥

आसनेभ्यः प्रचलिता देवाः शक्रपुरोगमाः । स्वस्त्यस्तु लोकेभ्य इति जपन्तः परमर्षयः ॥ २२ ॥
ततः क्षुब्धेषु लोकेषु देवा ब्रह्माणमागमन् । दृष्ट्वोचुः किमिदं लोकाः क्षुब्धाः संशयमागताः ॥ २३ ॥
तानाह पद्मसम्भूतो नैतद् वेद्मि च कारणम् । तदागच्छत वो युक्तं द्रष्टुं चक्रगदाधरम् ॥ २४ ॥
पितामहेनैवमुक्ता देवाः शक्रपुरोगमाः । पितामहं पुरस्कृत्य मुरारिसदनं गताः ॥ २५ ॥

इन्द्र प्रमुख हैं जिनमें, ऐसे देवता अपने-अपने आसनोंसे उचक पड़े और महर्षिगण 'संसारका कल्याण हो'—इस भावनासे जप करने लगे । तत्पश्चात् जगत्के अशान्त हो जानेपर देवगण ब्रह्माके निकट आये और उन्हें देखकर उन लोगोंने पूछा—ब्रह्मन् ! संसार अशान्त होकर क्यों सन्देहके झोंके खा रहा है ? कमलयोनि ब्रह्माने उनसे कहा—मैं इसके कारणको नहीं जान पा रहा हूँ । तुम लोग जाओ, (इसके लिये) चक्र-गदाधारी विष्णुका दर्शन करना उचित है । पितामहके इस प्रकार कहनेपर इन्द्र आदि सभी देवता पितामहको आगे कर मुरारिलोक (विष्णुलोक)में गये ॥ २२—२५ ॥

नारद उवाच

कोऽसौ मुरारिर्देवर्षे देवो यक्षो नु किंनरः । दैत्यो वा राक्षसो वापि पार्थिवो वा तदुच्यताम् ॥ २६ ॥

नारदने पूछा—देवर्षे ! आप यह बतलायें कि ये मुरारि कौन हैं ? ये देवता हैं या यक्ष, किंनर हैं या दैत्य, राक्षस हैं या मनुष्य ? ॥ २६ ॥

पुलस्त्य उवाच

योऽसौ रजः सत्त्वमयो गुणवांश्च तमोमयः । निर्गुणः सर्वगो व्यापी मुरारिर्मधुसूदनः ॥ २७ ॥

पुलस्त्यजीने कहा—देवताओ ! जो ये मुरारि हैं वे मधु नामके राक्षसके विनाशकारी हैं, वे सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणसे युक्त हैं, निर्गुण और सगुण हैं, सर्वगामी और सर्वव्यापी हैं ॥ २७ ॥

नारद उवाच

योऽसौ मुर इति ख्यातः कस्य पुत्रः स गीयते । कथं च निहतः संख्ये विष्णुना तद् वदस्व मे ॥ २८ ॥

नारदने (पुलस्त्यजीसे) पूछा—आप मुझे यह बतलायें कि यह मुर-नामधारी दानव किसका पुत्र है और लड़ाईके मैदानमें भगवान् विष्णुने उसे किस प्रकार मारा ? ॥ २८ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि सुरासुरनिबर्हणम् । विचित्रमिदमाख्यानं पुण्यं पापप्रणाशनम् ॥ २९ ॥
कश्यपस्यौरसः पुत्रो मुरो नाम दनूद्भवः । स ददर्श रणे शस्तान् दितिपुत्रान् सुरोत्तमैः ॥ ३० ॥
ततः स मरणाद् भीतस्तप्त्वा वर्षगणान्बहून् । आराधयामास विभुं ब्रह्माणमपराजितम् ॥ ३१ ॥
ततोऽस्य तुष्टो वरदः प्राह वत्स वरं वृणु । स च वव्रे वरं दैत्यो वरमेवं पितामहात् ॥ ३२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारद ! मुर असुरके विनाशकी कथा अद्भुत है, वह पापका विनाश करनेवाली और पवित्रकारिणी है, मैं उसे कहूँगा, तुम सुनो । दनुकी कोखमे कश्यपका औरस पुत्र मुर उत्पन्न हुआ । उसने श्रेष्ठ देवोंद्वारा संग्राममें दैत्योंको पराजित देखा । उसके बाद मृत्युसे भयभीत होकर उसने बहुत वर्षोंतक तपस्या करते हुए व्यापक अजेय ब्रह्माकी आराधना की । उसके बाद उसके ऊपर संतुष्ट होकर ब्रह्माने कहा—वत्स ! वर माँगो । उस दैत्यने पितामहसे यह श्रेष्ठ वर माँगा—॥ २९–३२ ॥

य य करतलेनाहं स्पृशेयं समरे विभो । स स मद्धस्तसम्पृष्टस्त्वमरोऽपि मरत्यत ॥ ३३ ॥
बाढमित्याह भगवान् ब्रह्मा लोकपितामह । ततोऽभ्यागा महातेजा मुर सुरगिरिं बली ॥ ३४ ॥
समेत्याह्वयते देव यक्ष किंनरमेव वा । न कश्चिद् युयुधे तेन सम दैत्येन नारद ॥ ३५ ॥
ततोऽमरावतीं क्रुद्धः स गत्वा शक्रमाह्वयत् । न चास्य सह योद्धुं वै मतिं चक्रे पुरंदर ॥ ३६ ॥

विभो ! युद्धमें मैं जिसे हाथसे छू दूँ वह मेरे हाथसे छूते ही अमर (देवता) होनेपर भी मृत्युको प्राप्त हो जाय। लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने कहा—बहुत ठीक, ऐसा ही होगा । उसके बाद महातेजस्वी बलशाली मुर देवगिरि पर जा पहुँचा । [पुलस्त्यजी कहते हैं कि] नारदजी ! वहाँ पहुँचकर उसने देवता, यक्ष, किंनर आदिको युद्धके लिये ललकारा, किंतु किसीने भी उसके साथ युद्ध नहीं किया । उसके बाद क्रुद्ध होकर वह अमरावतीकी ओर चला गया और इन्द्रको संग्राम करनेके लिये ललकारने लगा । किंतु इन्द्रने भी उसके साथ युद्ध करनेका विचार नहीं किया ॥ ३३–३६ ॥

तत स करमुद्यम्य प्रविवेशामरावतीम् । प्रविशन्तं न तं कश्चिन्निवारयितुमुत्सहेत् ॥ ३७ ॥
स गत्वा शक्रसदन प्रोवाचेन्द्र मुरस्तदा । देहि युद्धं सहस्राक्ष नो चेत् स्वर्गं परित्यज ॥ ३८ ॥
इत्येवमुक्तो मुरुणा ब्रह्मन् हरिहयस्तदा । स्वराज्यं परित्यज्य भूचरः समजायत ॥ ३९ ॥
ततो गजेन्द्रकुलिशौ हृतौ शक्रस्य शत्रुणा । सकलत्रो महातेजा सह देवै सुतेन च ॥ ४० ॥
कालिन्द्या दक्षिणे कूले निवेश्य स्वपुरं स्थित । मुरश्चापि महाभोगान् बुभुजे स्वर्गसंस्थित ॥ ४१ ॥

उसके बाद हाथ उठाये हुए उसने अमरावतीमें प्रवेश किया । परतु किसीने भी प्रवेश करते हुए उसको रोकनेका साहस नहीं किया । उसके बाद इन्द्रके भवनमें जाकर मुरने इन्द्रसे कहा—सहस्राक्ष ! मुझसे संग्राम करो, अन्यथा स्वर्गको छोड़ दो । ब्रह्मन् ! मुरके इस प्रकार कहनेपर इन्द्र (युद्ध न कर) स्वर्गका राज्य छोड़कर पृथ्वीपर विचरण करने लगे । उसके बाद (उस) शत्रुने इन्द्रके गजराज (ऐरावत) और वज्रको छीन लिया । महातेजस्वी इन्द्र अपनी पत्नी, पुत्र और देवताओंके साथ कालिन्दीके दक्षिण तटपर अपना नगर बसाकर रहने लगे और मुर स्वर्गमें रहते हुए महान् भोगोंका उपभोग करने लगा ॥ ३७–४१ ॥

दानवाश्चापरे रौद्रा मयतारपुरोगमा । मुरमासाद्य मोदन्ते स्वर्गे सुकृतिनो यथा ॥ ४२ ॥
स कदाचिन्महीपृष्ठं समायातो महासुरः । एकाकी कुञ्जरारूढ सरयूं निम्नगां प्रति ॥ ४३ ॥
स सरय्वास्तटे वीर राजानं सूर्यवंशजम् । ददर्श रघुनामानं दीक्षितं यज्ञकर्मणि ॥ ४४ ॥
तमुपेत्याब्रवीद् दैत्यो युद्धं मे दीयतामिति । नो चेन्निवर्तता यज्ञो नेष्टव्या देवतास्त्वया ॥ ४५ ॥

मय और तारक आदि दूसरे भयङ्कर दानव भी मुरके निकट पहुँचकर स्वर्गमें पुण्यात्माओंके समान आमोद-प्रमोद करने लगे । वह महान् असुर किसी समय पृथ्वीपर आया और अकेला ही हाथीपर चढ़कर सरयू नदीके तटपर उपस्थित हुआ । उसने सरयूके किनारे सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए एवं यज्ञकर्ममें दीक्षित रघु नामके राजाको

देखा। उनके पास जाकर उस दैत्यने कहा—मुझसे संग्राम करो, नहीं तो यज्ञ करना बंद कर दो। तुम देवताओंकी पूजा नहीं कर सकते ॥ ४२-४५ ॥

तमुपेत्य महातेजा मित्रावरुणसम्भवः। प्रोवाच बुद्धिमान् ब्रह्मन् वसिष्ठस्तपतां वरः ॥ ४६ ॥
किं ते जितैर्नरैर्दैत्य अजिताननुशासय। प्रहर्तुमिच्छसि यदि तं निवारय चान्तकम् ॥ ४७ ॥
स वर्ती शासनं तुभ्यं न करोति महासुर। तस्मिञ्जिते हि विजितं सर्वं मन्यस्व भूतलम् ॥ ४८ ॥
स तद् वसिष्ठवचनं निशम्य दनुपुङ्गवः। जगाम धर्मराजानं विजेतुं दण्डपाणिनम् ॥ ४९ ॥

ब्रह्मन्! मित्रावरुणके पुत्र महातेजस्वी, बुद्धिमान् और तपस्वियोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठने उस दैत्यके पास जाकर कहा—दैत्य! मनुष्योंको जीत लेनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? जो नहीं जीते गये हैं उनको पराजित करो। यदि तुम (चढ़ाई कर) प्रहार करना चाहते हो तो उन यमराजका अवरोध करो। महासुर! वे बलशाली हैं। तुम्हारा शासन नहीं मानते। उनको जीत लेनेपर समस्त भूतलको पराजित हुआ समझो। वसिष्ठका यह वचन सुनकर दानवश्रेष्ठ दण्ड धारण करनेवाले धर्मराजको जीतनेके लिये चल पड़ा ॥ ४६-४९ ॥

तमायान्तं यमः श्रुत्वा मत्वाऽवध्यं च संयुगे। स समारुह्य महिषं केशवान्तिकमागमत् ॥ ५० ॥
समेत्य चाभिवाद्यैनं प्रोवाच मुरचेष्टितम्। स चाह गच्छ मामद्य प्रेषयस्व महासुरम् ॥ ५१ ॥
स वासुदेववचनं श्रुत्वाऽभ्यागात् त्वरान्वितः। एतस्मिन्नन्तरे दैत्यः सम्प्राप्तो नगरीं मुरः ॥ ५२ ॥
तमागतं यमः प्राह किं मुरो कर्तुमिच्छसि। वदस्व वचनं कर्ता त्वदीयं दानवेश्वर ॥ ५३ ॥

उसे आता हुआ सुनकर तथा संग्राममें वह अवध्य है—ऐसा विचारकर वे यमराज महिषपर सवार होकर भगवान् केशवके पास चले गये। उनके पास जाकर प्रणाम करनेके पश्चात् (यमराजने) मुरके कर्मोंको बताया। उन्होंने कहा—तुम जाकर अभी उस महासुरको मेरे पास भेज दो। वासुदेवके वचनको सुनकर वे शीघ्र चले आये। इतनेमें मुर दैत्य उनकी नगरीमें आया। उसके आनेपर यमने कहा—हे मुर! बतलाओ तुम क्या करना चाहते हो? दानवेश्वर! मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ५०-५३ ॥

मुर उवाच

यम प्रजासंयमनान्निवृत्तिं कर्तुमर्हसि। नो चेत् तवाद्य छित्त्वाऽहं मूर्धानं पातये भुवि ॥ ५४ ॥
तमाह धर्मराड् ब्रह्मन् यदि मां संयमाद् भवान्। गोपायति मुरो सत्यं करिष्ये वचनं तव ॥ ५५ ॥
मुरस्तमाह भवतः कः संयन्ता वदस्व माम्। अहमेनं पराजित्य वारयामि न संशयः ॥ ५६ ॥
यमस्तं प्राह मां विष्णुर्देवश्चक्रगदाधरः। श्वेतद्वीपनिवासी यः स मां संयमतेऽव्ययः ॥ ५७ ॥

मुर या मुरने कहा—यम! तुम प्रजाओंके ऊपर नियन्त्रण करना बंद कर दो, नहीं तो मैं तुम्हारा सिर काटकर पृथ्वीपर फेंक दूँगा। ब्रह्मन्! धर्मराजने उससे कहा—यदि तुम मेरे ऊपर संयम करनेवालेसे मेरी रक्षा कर सको तो मैं सत्य कहता हूँ कि तुम्हारे वचनका पालन करूँगा। मुरने उनसे कहा—मुझे बतलाओ कि तुम्हारा संयन्ता (शासक) कौन है? मैं निस्संदेह उसे पराजित कर रोक दूँगा। यमने उससे कहा—जो श्वेतद्वीपके निवासी, चक्र-गदा धारण करनेवाले, अविनाशी भगवान् विष्णु हैं, वे ही मुझे शासित करते हैं ॥ ५४-५७ ॥

तमाह दैत्यशार्दूलः क्वासौ वसति दुर्जयः। स्वयं तत्र गमिष्यामि तस्य संयमनोद्यतः ॥ ५८ ॥
तमुवाच यमो गच्छ क्षीरोदं नाम सागरम्। तत्रास्ते भगवान् विष्णुर्लोकनाथो जगन्मयः ॥ ५९ ॥
मुरस्तद्वाक्यमाकर्ण्य प्राह गच्छामि केशवम्। किं तु त्वया न तावद्धि संयम्या धर्म मानवाः ॥ ६० ॥
स प्राह गच्छ त्वं तावत् प्रवर्तिष्ये जय प्रति। स्वेच्छयेद्धा यथा स्यादि ततो मुर समाचर ॥ ६१ ॥
इत्येवमुक्तो वचनं दुग्धाब्धिमगमन्मुरः। यत्रास्ते दोषपर्यङ्के चतुर्मूर्तिर्जनार्दनः ॥ ६२ ॥

दैत्योंमें श्रेष्ठ मुरने यमराजसे कहा—यम ! वह कहाँ रहता है, जिसे कठिनतासे जीना जा सकता है ? उसका सयमन करनेके लिये मैं तयार होकर वहाँ स्वय जाऊँगा । यमराजने उससे कहा—तुम क्षीरसागरमें जाओ । वहाँ लोकस्वामी जगन्मूर्ति भगवान् विष्णु रहते हैं । मुरने उनकी बात सुनकर कहा—धर्मराज ! मैं केशवके पास जा रहा हूँ, परतु तुम तबतक मनुष्योंका नियमन मत करना । उस (मुर) ने कहा—तुम जाओ । तबतक मैं तुम्हारे नियामकको जैसे भी हो जीतनेका प्रयत्न करूँगा । उसके बाद तुम युद्ध करना । इतना कहकर मुरु या मुर दैत्य क्षीरसागरमें जा पहुँचा । वहाँ (जाकर उसने देखा कि) चतुर्भुजाधारी जनार्दन अनन्त नागकी शय्यापर (पड़े हुए) हैं ॥५८–६२॥

नारद उवाच

चतुर्मूर्त्ति कथ विष्णुरेक एव निगद्यते । सर्वगत्वात् कथमपि अव्यक्तत्वाच्च तद्वद ॥ ६३ ॥

नारदजीने पूछा—आप (कृपया) यह बतलायें कि विष्णु एक होनेपर भी चतुर्मूर्ति क्यों कहे जाते है । क्या सर्वगत एव अव्यक्त होनेके कारण तो नहीं कहा जाता ? (आप) उसे कहें ॥ ६३ ॥

पुलस्त्य उवाच

अव्यक्त सर्वगोऽपीह एक एव महामुने । चतुर्मूर्त्तिर्जगन्नाथो यथा ब्रह्मस्तथा शृणु ॥ ६४ ॥
अप्रतर्क्यमनिर्देश्य शुक्ल शान्त पर पदम् । वासुदेवाख्यमव्यक्त स्मृत द्वादशपत्रकम् ॥ ६५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन् ! अव्यक्त एव सर्वव्यापी होनेपर भी वे एक ही हैं । जिस कारणसे जगन्नाथ चतुर्मूर्ति कहे जाते हैं, उसे बताता हूँ, सुनो । वासुदेव नामक श्रेष्ठ पद (तर्क या अनुमानद्वारा अज्ञेय) एव निर्देश किये जानेमें अशक्य, शुक्ल (शुद्ध), शान्तियुक्त, अव्यक्त (अप्रकट) एव द्वादशपत्रक (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय—) द्वादशाक्षर मन्त्रवाला) कहा गया है ॥ ६४ ६५ ॥

नारद उवाच

कथ शुक्ल कथ शान्तमप्रतर्क्यमनिन्दितम् । कान्यस्य द्वादशोक्तानि पत्रकाणि वद ॥ ६६ ॥

नारदजीने पुन पूछा—किस प्रकार वे शुक्ल, शान्त, अप्रतर्क्य एव अनिन्दित है ? मुझे बतलाइये कि उनके कथित द्वादशपत्रक कौन हैं ॥ ६६ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व गुह्य परम परमेष्ठिप्रभाषितम् । श्रुत सनत्कुमारेण तेनाख्यात च तन्मम ॥ ६७ ॥

पुलस्त्यजी बोले—पितामह ब्रह्माने जिस परम गुह्य वचनको कहा है, उसे सुनिये । सनत्कुमारने उसे सुना था और उन्होंने मुझसे कहा था ॥ ६७ ॥

नारद उवाच

कोऽय सनत्कुमारेति यस्योक्त ब्रह्मणा स्वयम् । तथापि तेन गदित पद मामनुपूर्वशः ॥ ६८ ॥

नारदजीने फिर कहा—इस विषयमें स्वय ब्रह्माने जिनसे कहा है वे सनत्कुमार कौन हैं ? और उन्होंने भी आपसे जो कहा है उसे कृपया मुझसे कहें ॥ ६८ ॥

पुलस्त्य उवाच

धर्मस्य भार्याहिंसाख्या तस्या पुत्रचतुष्टयम् । सजात मुनिशार्दूल योगशास्त्रविचारकम् ॥ ६९ ॥
ज्येष्ठ सनत्कुमारोऽभूद् द्वितीयश्च सनातन । तृतीय सनको नाम चतुर्थश्च सनन्दन ॥ ७० ॥
साख्यवेत्तारमपर कपिल वोढुमासुरिम् । दृष्ट्वा पञ्चशिख श्रेष्ठ योगयुक्त तपोनिधिम् ॥ ७१ ॥

ज्ञानयोगं न ते दद्युर्ज्यायांसोऽपि कनीयसाम्। मानसुकं महायोगं कपिलादीनुपासतः ॥ ७२ ॥
सनत्कुमारश्चाभ्येत्य ब्रह्माणं कमलोद्भवम्। अपृच्छद् योगविज्ञानं तमुवाच प्रजापतिः ॥ ७३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—धर्मकी पत्नी अहिंसा है। उससे चार पुत्र हुए। मुनिश्रेष्ठ! वे सभी योगशास्त्रके विचार करनेमें कुशल थे। उनमें सनत्कुमार ज्येष्ठ, सनातन द्वितीय, सनक तृतीय एवं चतुर्थ सनन्दन हुए। वे सभी सांख्यवेत्ता कपिल, वोढु, आसुरी एवं योगसे युक्त तपोनिधि श्रेष्ठ पञ्चशिख नामक (ऋषि) को देखकर (उनके पास गये)। बड़े होनेपर भी उन लोगोंने अपनेसे छोटोंको ज्ञानयोगका उपदेश नहीं दिया। कपिल आदिकी उपासना करनेवालोंको महायोगका परिणाम मात्र बतला दिया। सनत्कुमारने कमलोद्भव ब्रह्माके पास जाकर योग-विज्ञान पूछा। प्रजापतिने उनसे कहा ॥ ६९—७३ ॥

ब्रह्मोवाच

कथयिष्यामि ते साध्य यदि पुत्रत्वमिच्छसि। यस्य कस्य न वक्तव्यं तत्सत्यं नान्यथेति हि ॥ ७४ ॥

ब्रह्माने कहा—साध्य! यदि तुम पुत्र होना चाहो तो मैं तुमसे कहूँगा। उसे जिस किसीसे नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यह सत्य है, अन्यथा नहीं है ॥ ७४ ॥

सनत्कुमार उवाच

पुत्र एवास्मि देवेश यतः शिष्योऽस्म्यहं विभो। न विशेषोऽस्ति पुत्रस्य शिष्यस्य च पितामह ॥ ७५ ॥

सनत्कुमारने कहा—देवेश! मैं पुत्र ही हूँ, क्योंकि विभो! मैं शिष्य हूँ। पितामह! पुत्र और शिष्यमें कोई भेद नहीं होता ॥ ७५ ॥

ब्रह्मोवाच

विशेषः शिष्यपुत्राभ्यां विद्यते धर्मनन्दन। धर्मकर्मसमायोगे तथापि गदतः शृणु ॥ ७६ ॥
पुन्नाम्नो नरकात् त्राति पुत्रस्तेनेह गीयते। शेषपापहरः शिष्य इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ ७७ ॥

ब्रह्माने कहा—धर्मनन्दन! शिष्य और पुत्रमें धर्म-कर्मके संयोगमें (जो) कुछ भेद होता है उसे बताता हूँ, मुझसे सुनो। यह वैदिकी श्रुति है—जो पुम् नामक नरकसे उद्धार कर देता है उसे 'पुत्र' कहा जाता है और शेष पापोंका हरण करनेवाला होनेसे 'शिष्य' कहा जाता है (—यही दोनोंमें भेद है) ॥ ७६-७७ ॥

सनत्कुमार उवाच

कोऽयं पुन्नामको देव नरकात् त्राति पुत्रकः। कस्माच्छेषं तथा पापं हरेच्छिष्यश्च तद्वद ॥ ७८ ॥

सनत्कुमारने कहा (पूछा)—देव! यह 'पुम्' नामक नरक कौन है? जिस नरकसे पुत्र रक्षा करता है और शिष्य किससे अवशिष्ट पापका हरण करता है, आप कृपया इन्हें बतलाइये ॥ ७८ ॥

ब्रह्मोवाच

एतद् पुराणं परमं महार्थं योगाङ्गयुक्तं च सदैव यच्च।
तथैव चोग्रं भयहारि मानवं वदामि ते साध्य निशामयैतम् ॥ ७९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

ब्रह्माने कहा—महर्षे! मैं तुमको अत्यन्त प्राचीन, योगाङ्गसे युक्त, उग्र भय दूर करनेवाला परम पवित्र कथा सुनाता हूँ। हे साध्य! तुम इसे सुनो ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें साठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

[अथैकषष्टितमोऽध्यायः]

ब्रह्मोवाच

परदाराभिगमनं पापीयासोपसेवनम्। पारुष्यं सर्वभूतानां प्रथमं नरकं स्मृतम् ॥ १ ॥
फलस्तेयं महापापं फलहीनं तथाऽटनम्। छेदनं वृक्षजातीनां द्वितीयं नरकं स्मृतम् ॥ २ ॥
वर्ज्यादानं तथा दुष्टमवध्यवधबन्धनम्। विवादमर्थहेतुत्थं तृतीयं नरकं स्मृतम् ॥ ३ ॥
भयदं सर्वसत्त्वानां भवभूतिविनाशनम्। भ्रंशनं निजधर्माणां चतुर्थं नरकं स्मृतम् ॥ ४ ॥

इकसठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(पुन्नाम नरकोंका वर्णन, पुत्र-शिष्यकी विशेषता एवं बारह प्रकारके पुत्रोंका वर्णन, सनत्कुमार ब्रह्माका प्रसंग, चतुर्मूर्तिका वर्णन और गुरु-भक्ति)

ब्रह्माने कहा—परस्त्रीसे सगम होना, पापियोंके साथ रहना और सब प्राणियोंके प्रति (किसी भी प्राणीके साथ) कठोरताका व्यवहार करना पहला नरक कहा गया है। फलोंकी चोरी, (अच्छे) उद्देश्यसे रहित घूमना (अवारापन) एवं वृक्ष आदि वनस्पतियोंका काटना घोर पाप तथा दूसरा नरक कहा गया है। दोषयुक्त एवं वर्जित—ग्रहण न करने योग्य—वस्तुओंका लेना, जो वध्य योग्य नहीं है उसे मारना अथवा बन्धनमें डालना (बन्दी बनाना) और अर्थ (धन—रुपये-पैसे)के लिये किया जानेवाला विवाद (मुकदमा उठाना) तीसरा नरक होता है। सभी प्राणियोंको भय देना, ससारकी सार्वजनिक सम्पत्तिको नष्ट करना तथा अपने नियत धर्म नियमोंसे विचलित होना चौथे प्रकारका नरक कहलाता है ॥ १–४ ॥

मारणं मित्रकौटिल्यं मिथ्याऽभिशपनं च यत्। मिष्टैकाशनमित्युक्तं पञ्चमं तु नृपात्मज ॥ ५ ॥
पत्रफलादिहरणं यमनं योगनाशनम्। यानयुग्यस्य हरणं षष्ठमुक्तं नृपात्मज ॥ ६ ॥
राजभागहरं मूढ राजजायानिषेवणम्। राज्ये त्वहितकारित्वं सप्तमं निरयं स्मृतम् ॥ ७ ॥
लुब्धत्वं लोलुपत्वं च लब्धधर्मार्थनाशनम्। लालासङ्कीर्णमित्योक्तमष्टमं नरकं स्मृतम् ॥ ८ ॥

पुरश्चरण आदि तान्त्रिक अभिचारोंसे किसीको मारना, मृत्यु-जैसा अपार कष्ट देना तथा मित्रके साथ उल-झुम, झूठी शपथ और अकेले मधुर पदार्थ खाना पाँचवाँ नरक कहा जाता है। पत्र (पुष्प आदि) एवं फल चोराना, किसीको बाँध (बंधुवा बनाये) रखना, किसीके प्राप्तव्यकी प्राप्तिमें विघ्न-बाधा डालकर उसे नष्ट कर देना, घोड़ा-गाड़ी आदि सवारीके जुए (आदि सामानों) की चोरी कर लेना छठा पाप कहा गया है। मुर्खतेमें पड़कर राजाके अंशका चुरा लेना एवं मूर्खतावश साहस कर राजपत्नीका ससर्ग एवं राज्यका अमङ्गल (नुकसान) करना सातवाँ नरक कहा जाता है। किसी वस्तु या व्यक्तिपर लुभा जाना, लालच करना, पुरुषार्थसे प्राप्त धर्मयुक्त अर्थका विनाश करना और लारमिली वाणीको आठवाँ नरक कहते हैं ॥ ५–८ ॥

विभेदं ब्रह्महरणं ब्राह्मणानां विनिन्दनम्। विरोधं बन्धुभिश्चोक्तं नवमं नरकं स्मृतम् ॥ ९ ॥
शिष्टाचारविनाशं च शिष्टद्वेषं शिशोर्वधम्। शास्त्रस्तेयं धर्मनाशं दशमं परिकीर्तितम् ॥ १० ॥
षडङ्गनिधनं घोरं षाड्गुण्यप्रतिषेधनम्। एकादशममेवोक्तं नरकं सद्भिरुत्तमम् ॥ ११ ॥
सदा तु निरयं सद्भिः वैरमनाचारमक्रिया। सस्कारपरिहीनत्वमिदं द्वादशमं स्मृतम् ॥ १२ ॥

ब्राह्मणोंको भेदसे विभक्त करना, ब्राह्मणका धन चुराना, ब्राह्मणोंकी निन्दा करना तथा बन्धुओंसे विरोध करना नवाँ नरक कहा जाता है। शिष्टाचारका नाश, शिष्टजनोंसे विरोध, बालक बच्चेकी हत्या शास्त्रग्रन्थोंकी

दोष प्रकट करना—ये घोर पाप हैं। दूसरेका उत्कर्ष देखकर जलना, कड़वी बात बोलना, निर्दयता, नाम कहनेसे भी अधर्मजनक व्यक्तिता और तात्स्यादिता, भयङ्करता तथा अधार्मिकताके कार्य नरकके कारण हैं। इन पापोंसे युक्त मनुष्य (भी) यदि परमज्ञानी शङ्करको (अपनी आराधनासे) सन्तुष्ट कर लेता है तो शेष पापोंको वह पूर्णरूपसे जीत लेता है। धर्मपुत्र! उस जन्ममें किये गये (अपने) सभी कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्म तथा माता पिता एवं आश्रितजनों और भाइयों एवं बान्धवोंद्वारा किये गये कर्म भी विलीन हो जाते हैं। साध्य! पुत्र और शिष्यका यही धर्म है। इसके विपरीत होनेपर विपरीत गति प्राप्त होती है, अतएव विद्वान् व्यक्तिको चाहिये कि पुत्र और शिष्यकी (परम्परा) बनाये रखे। इसी अभिप्रायकी दृष्टिसे शिष्यकी अपेक्षा पुत्र अत्यन्त श्रेष्ठ होता है कि शिष्य केवल शेष पापोंसे मुक्त करता है और पुत्र सम्पूर्ण पापोंसे बचा लेता है ॥ २१–२९ ॥

पुलस्त्य उवाच

पितामहवचः श्रुत्वा साध्य प्राह तपोधनः। त्रिः सत्यं तव पुत्रोऽहं देव योगं वदस्व मे ॥ ३० ॥
तमुवाच महायोगी त्वं मातापितरौ यदि। दास्येते च ततः सुतुर्दायादो मेऽसि पुत्रक ॥ ३१ ॥
सनत्कुमारः प्रोवाच दायादपरिकल्पना। येयं हि भवता प्रोक्ता तां मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३२ ॥
तदुक्तं साध्यमुख्येन वाक्यं श्रुत्वा पितामहः। प्राह प्रहस्य भगवान् शृणु वत्सेति नारद ॥ ३३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—पितामहकी बात सुनकर साध्य तपोधन सनत्कुमारने कहा—देव! मैं तीन बार सत्यका उच्चारण करके कहता हूँ कि मैं आपका पुत्र हूँ। अब मुझे आप योगका उपदेश दीजिये। तब महायोगी पितामहने उनसे कहा—पुत्र! तुम्हारे माता पिता यदि तुमको मुझे दे दें तो तुम मेरे (सत्यप्राप्तिमें अधिकृत) 'दायाद' (भागीदार) पुत्र हो जाओगे। सनत्कुमारने कहा—भगवन्! आपने जो यह 'दायाद' शब्द कहा है उसका अर्थ क्या है? (कृपया) उसकी विवेचना कीजिये। नारदजी! भगवान् पितामह साध्यप्रधान सनत्कुमारको वचन सुनकर हँसते हुए बोले—वत्स! सुनो ॥ ३०–३३ ॥

ब्रह्मोवाच

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवास्तु षट् ॥ ३४ ॥
तेषु षट्सु पुत्रेषु ऋणपिण्डधनक्रियाः। गोत्रसाम्यं कुले वृत्तिः प्रतिष्ठा शाश्वती तथा ॥ ३५ ॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा। स्वयंदत्तः पारशवः षड् दायादबान्धवाः ॥ ३६ ॥
अमीभिर्ऋणपिण्डादिक्रिया नैवेह विद्यते। नामधारका एवैते न गोत्रकुलसम्मताः ॥ ३७ ॥

ब्रह्माने कहा—'औरस', 'क्षेत्रज', 'दत्त', 'कृत्रिम', 'गूढोत्पन्न' और 'अपविद्ध'—ये छः बान्धव दायाद अर्थात् (दायभागके अधिकारी) होते हैं। इन छः पुत्रोंसे ऋण, पिण्ड, धनकी क्रिया, गोत्रसाम्य, कुलवृत्ति और स्थिर प्रतिष्ठा रहती है। (इसके अतिरिक्त) कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और पारशव—ये छः दायाद-बान्धव कहे जाते हैं। इनके द्वारा ऋण एवं पिण्ड आदिका कार्य नहीं होता। ये केवल नामधारी होते हैं। ये गोत्र एवं कुलसे सम्मत नहीं होते ॥ ३४–३७ ॥

स तु तस्य वचनं श्रुत्वा ब्रह्मणः सनकाग्रजः। उवाचैषां विशेषं मे ब्रह्मन् व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३८ ॥
ततोऽब्रवीत् सुरपतिर्विशेषं शृणु पुत्रक। औरसो यः स्वयं जातः प्रतिबिम्बमिवात्मनः ॥ ३९ ॥
क्लीबोन्मत्ते व्यसनिनि पत्यौ तस्यास्तथा तु या। भार्या ह्यानुज्ञया पुत्रं जनयेत् क्षेत्रजस्तु सः ॥ ४० ॥
मातापितृभ्यां यो दत्तः स दत्तः परिगीयते। मित्रपुत्रं मित्रदत्तं कृत्रिमं प्राहुरुत्तमाः ॥ ४१ ॥

सनत्कुमारने कहा—तात ! मैंने योग जाननेके लिये पितामहसे प्रार्थना की थी। उन्होंने मुझसे अपना पुत्र होनेके लिये कहा था। अतः आप मुझे प्रदान कर दें। पुत्रके इस प्रकार कहनेपर उन दोनों योगाचार्योंने पितामहसे कहा—प्रभो ! हम दोनोंका यह पुत्र आपका हो। ब्रह्मन् ! आजसे यह पुत्र आपका होगा। इतना कहकर वे शीघ्र ही जिस मार्गसे आये थे उसीसे फिर चले गये। पितामहने भी उस विनयी पुत्र सनत्कुमारको द्वादशपत्रयोगका उपदेश किया (जो आगे वर्णित है—) ॥ ५०—५३ ॥

शिखासंस्थ तु ओङ्कारं मेषोऽस्य शिरसि स्थितः। मासो वैशाखनामा च प्रथमं पत्रकं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
नकारो मुखसंस्थो हि वृषस्तत्र प्रकीर्तितः। ज्येष्ठमासश्च तत्पत्रं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ५५ ॥
मोकारो भुजयोर्युग्मं मिथुनस्तत्र संस्थितः। मासो आषाढनामा च तृतीयं पत्रकं स्मृतम् ॥ ५६ ॥
भकारं नेत्रयुगलं तत्र कर्कटकः स्थितः। मासः श्रावण इत्युक्तश्चतुर्थं पत्रकं स्मृतम् ॥ ५७ ॥

इन-(भगवान् वासुदेव)की शिखामें स्थित 'ओंकार', सिरपर स्थित मेष और वैशाखमास—ये इनके प्रथम पत्रक हैं। मुखमें स्थित 'न'अक्षर और वहींपर विद्यमान वृषराशि तथा ज्येष्ठमास—ये उनके द्वितीय पत्रक कहे गये हैं। दोनों भुजाओंमें स्थित 'मो' अक्षर, मिथुन राशि एवं आषाढमास—ये उनके तृतीय पत्रक हैं। उनके नेत्रद्वयमें विद्यमान 'भ'अक्षर कर्क राशि और श्रावणमास—ये चतुर्थ पत्रक हैं ॥ ५४—५७ ॥

गकारं हृदयं प्रोक्तं सिंहो वसति तत्र च। मासो भाद्रस्तथा प्रोक्तः पञ्चमं पत्रकं स्मृतम् ॥ ५८ ॥
वकारं कवचं विद्यात् कन्या तत्र प्रतिष्ठिता। मासश्चाश्वयुजो नाम षष्ठं तत् पत्रकं स्मृतम् ॥ ५९ ॥
तेकारमस्त्रग्रामं च तुलाराशिः कृताश्रयः। मासश्च कार्तिको नाम सप्तमं पत्रकं स्मृतम् ॥ ६० ॥
वाकारं नाभिसंयुक्तं स्थितस्तत्र तु वृश्चिकः। मासो मार्गशिरो नाम त्वष्टमं पत्रकं स्मृतम् ॥ ६१ ॥

(उनके) हृदयके रूपमें विद्यमान 'ग'अक्षर, सिंहराशि और भाद्रपदमास—ये पञ्चम पत्रक हैं। (उनके) कवचके रूपमें विद्यमान 'व'अक्षर, कन्याराशि और आश्विनमास—ये षष्ठ पत्रक हैं। (उनके) अस्त्र-समूहके रूपमें विद्यमान 'ते'अक्षर, तुलाराशि और कार्तिकमास—ये सप्तम पत्रक हैं। मुने ! (उनके) नाभिरूपसे विद्यमान 'वा'अक्षर वृश्चिक राशि और मार्गशीर्षमास—ये अष्टम पत्रक हैं ॥ ५८—६१ ॥

सुकारं जघनं प्रोक्तं तत्रस्थश्च धनुर्धरः। पौषेति गदितो मासो नवमं परिकीर्तितम् ॥ ६२ ॥
देकारश्चोरुयुगलं मकरोऽप्यत्र संस्थितः। माघो निगदितो मासः पत्रकं दशमं स्मृतम् ॥ ६३ ॥
वाकारो जानुयुग्मं च कुम्भस्तत्रादिसंस्थितः। पत्रकं फाल्गुनं प्रोक्तं तदेकादशमुत्तमम् ॥ ६४ ॥
पादौ यकारो मीनोऽपि स चैत्रे वसते मुने। इदं द्वादशमं प्रोक्तं पत्रं वै वक्षस्य हि ॥ ६५ ॥

(उनके) जघनरूपमें विद्यमान 'सु'अक्षर, धनुराशि और पौषमास—ये नवम पत्रक हैं। (उनके) ऊरु-युगलरूपमें विद्यमान 'दे'अक्षर, मकर राशि और माघमास—ये दशम पत्रक हैं। (उनके) दोनों घुटनोंके रूपमें विद्यमान 'वा'अक्षर, कुम्भ राशि और फाल्गुनमास—ये एकादशम पत्रक हैं। (उनके) चरणद्वयरूपमें विद्यमान 'य' अक्षर, मीन राशि और चैत्रमास—ये द्वादश पत्रक हैं। ये ही पत्रात्मक द्वादश पत्र हैं ॥६२—६५॥

द्वादशारं तथा चक्रं षण्णाभि द्वियुगं तथा। त्रिव्यूहमेकमूर्तिश्च तयोक्तं परमेश्वरः ॥ ६६ ॥
एतद् तयोक्तं देवस्य रूपं द्वादशपत्रकम्। यस्मिन् ज्ञाते मुनिश्रेष्ठ न भूयो मरणं भवेत् ॥ ६७ ॥
द्वितीयमुक्तं सत्त्वाद्यं चतुर्वर्णं चतुर्मुखम्। चतुर्बाहुमुदाराङ्गं श्रीवत्सधरमव्ययम् ॥ ६८ ॥
वर्तीयस्तामसो नाम शेषमूर्तिः सहस्रपात्। सहस्रवदनः श्रीमान् प्रजाप्रलयकारकः ॥ ६९ ॥

उनका चक्र बारह अरों, बारह नाभियों और तीन व्यूहोंसे युक्त है। इस प्रकारकी उन [illegible] एक मूर्ति है। मुनिश्रेष्ठ! मैंने तुमसे भगवान्‌के इस द्वादश-पत्रक (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय—इस) मन्त्र वर्णन किया, जिसके जाननेसे पुनः (जन्म) मरण नहीं होता। उनकी द्वितीय सत्त्वमय, श्रीवत्सधारी, शक्ति स्वरूप चतुर्वर्ग, चतुर्मुख, चतुर्बाहु एवं उदार अङ्गोंसे युक्त है। हजारों पैरों एवं हजारों मुखोंसे सम्पन्न श्रेष्ठ तमोगुणमयी उनकी तृतीय शेषमूर्ति प्रजाओंका प्रलय करती है ॥ ६६–६९ ॥

चतुर्थो राजसो नाम रक्तवर्णश्चतुर्मुखः। द्विभुजो धारयन् मालां सृष्टिकृच्चादिपूरुषः ॥ ७० ॥
अव्यक्तात् सम्भवन्त्येते त्रयो व्यक्ता महामुने। अतो मरीचिप्रमुखास्तथान्येऽपि सहस्रशः ॥ ७१ ॥

एतत् तवोक्तं मुनिवर्य रूपं विभोः पुराणं मतिपुष्टिवर्धनम्।
चतुर्भुजं तं स मुरो दुरात्मा कृतान्तवाक्यात् पुनराससाद ॥ ७२ ॥
तमागतं प्राह मुने मधुघ्नः प्राप्तोऽसि केनासुर कारणेन।
स प्राह योद्धुं सह वै त्वयाद्य तं प्राह भूयः सुरशत्रुहन्ता ॥ ७३ ॥

उनका चतुर्थ रूप राजस है। वह रक्तवर्ण, चार मुख एवं दो भुजाओंवाला एवं माला धारण किये है। वही सृष्टि करनेवाला आदिपुरुष रूप है। महामुने! ये तीन व्यक्त मूर्तियाँ अव्यक्त (आत्मतत्त्व) उत्पन्न होती हैं। इनसे ही मरीचि आदि ऋषि तथा अन्यान्य हजारों पुरुष उत्पन्न हुए हैं। मुनिवर! तुम्हारे सामने मैंने विष्णुका अत्यन्त प्राचीन और मति-पुष्टिवर्धक रूपका वर्णन किया है। [अब आगेकी कथा सुनिये— दुरात्मा मुर यमराजके कहनेसे पुनः उन चतुर्भुज (विष्णु) के पास गया। मुने! मधुसूदनने आये हुए उससे पूछा—असुर! तुम किसलिये आये हो? उसने कहा—मैं तुम्हारे साथ आज युद्ध करने आया हूँ। मधुसूदन (विष्णु) ने फिर उससे कहा— ॥ ७०–७३ ॥

यद्यागतो मां युद्धुमुपागतोऽसि तत् कम्पते ते हृदयं किमर्थम्।
ज्वरातुरस्येव मुहुर्मुहुर्वै तथास्मि योत्स्ये सह कातरेण ॥ ७४ ॥
इत्येवमुक्तो मधुसूदनेन मुरस्तदा स्वे हृदये स्वहस्तम्।
क्व क्वेति कस्येति मुहुस्तथोक्त्वा निपातयामास विपन्नबुद्धिः ॥ ७५ ॥
हरिश्च चक्रं मृदुलाघवेन मुमोच तद्धृत्कमलस्य शत्रोः।
विच्छेद दैत्यास्तु गतव्यथाभवन् देवं प्रशंसन्ति च पद्मनाभम् ॥ ७६ ॥
एतत् तवोक्तं मुरदैत्यनाशनं कृतं हि युक्त्या शितचक्रपाणिना।
अतः प्रसिद्धिं समुपाजगाम मुरारिरित्येव विभुर्नृसिंह ॥ ७७ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

यदि तुम मेरे साथ युद्ध करनेके लिये आये हो तो ज्वरसे पीड़ितके सदृश तुम्हारा हृदय बारंबार क्यों काँप रहा है? मैं तो कायरके साथ युद्ध नहीं करूँगा। मधुसूदनके इस प्रकार कहनेपर 'कैसे, कहाँ! किसका?' इस प्रकार बार-बार कहते हुए बुद्धिहीन मुरने अपने हृदयपर हाथ रखा। इसे देखकर हरिने चतुराईसे (अत्यन्त लाघवताके) चक्र निकाला और उस शत्रुके हृदय-कमलपर उसे छोड़ दिया (जिससे उसका हृदय विदीर्ण हो गया)। उसके बाद सभी दैत्य सन्तापरहित होकर भगवान् पद्मनाभ विष्णुकी स्तुति करने लगे। मैंने (नारद) तुमसे तीक्ष्ण चक्र धारण करनेवाले विष्णुद्वारा (चातुर्यसे) किये गये दैत्यके विनाशका वर्णन किया। इसीसे विभु नृसिंह 'मुरारि' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ७४–७७ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें इकसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६१ ॥

[अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततो मुरारिभवनं समभ्येत्य सुरास्ततः। ऊचुर्नत्वा नमस्कृत्य जगत्संक्षुब्धिकारणम् ॥ १ ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् प्राह गच्छामो हरमन्दिरम्। स वेत्स्यति महाज्ञानी जगत्क्षुब्धं चराचरम् ॥ २ ॥
तथोक्ता वासुदेवेन देवाः शक्रपुरोगमाः।
जनार्दनं पुरस्कृत्य प्रजग्मुर्मन्दरं गिरिम्। न तत्र देवं न वृषं न देवीं न च नन्दिनम् ॥ ३ ॥
शून्यं गिरिमपश्यन्त अज्ञानतिमिरावृताः। तान् मूढदृष्टीन् समीक्ष्य देवान् विष्णुर्महाद्युतिः ॥ ४ ॥
प्रोवाच किं न पश्यध्वं महेशं पुरतः स्थितम्। तमूचुर्नैव देवेशं पश्यामो गिरिजापतिम् ॥ ५ ॥

बासठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(शिवके अभिषेक और तप्त कृच्छ्र व्रतका उपदेश, हरि हरके संयोगसे विष्णुके हृदयमें शिवकी संस्थिति, शुक्रको संजीवनी विद्याकी शिक्षा, मङ्कणकी कथा और सप्त सारस्वतीर्थका माहात्म्य)

पुलस्त्यजी (पुनः) बोले—उन देवोंने विष्णुभवनमें पहुँचकर उन्हें नमस्कार करनेके बाद जगत्के अशान्त होनेका कारण पूछा। भगवान् विष्णुने उनके प्रश्नको सुनकर कहा—हम सभी लोग शिवजीके पास चलें। वे महान् ज्ञानी हैं। इस चराचर जगत्के व्याकुल होनेका कारण वे जानते होंगे। वासुदेवके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि देवगण जनार्दन भगवान्को आगेकर मन्दर पर्वतपर गये। (किंतु) वहाँ उन्होंने न तो महादेवको देखा, न वृषको, न देवी पार्वती और न नन्दीको ही। अज्ञानके अन्धकारसे घिरे हुए उन लोगोंने पर्वतको देवशून्य देखा। (फिर तो) महातेजस्वी विष्णुने दर्शन प्राप्त न होनेके कारण चकपकाये हुए देवोंको देखकर कहा—क्या आपलोग सामने स्थित महादेवको नहीं देख रहे हैं? उन्होंने उत्तर दिया—हाँ, हमलोग गिरिजापति देवेशको नहीं देख रहे हैं ॥ १–५ ॥

न विद्मः कारणं तच्च येन दृष्टिर्हता हि नः। तानुवाच जगन्मूर्तिर्यूयं देवस्य सागसः ॥ ६ ॥
पापिष्ठा गर्भहन्तारो मृडान्याः स्वार्थतत्पराः। तेन ज्ञानविवेको वै हृतो देवेन शूलिना ॥ ७ ॥
येनाग्रतः स्थितमपि पश्यन्तोऽपि न पश्यथ। तस्मात् कायविशुद्ध्यर्थं देवदृष्ट्यर्थमादरात् ॥ ८ ॥
तप्तकृच्छ्रेण संशुद्धाः कुरुध्वं स्नानमीश्वरे। क्षीरस्नाने प्रयुञ्जीत सार्द्धं कुम्भशतं सुराः ॥ ९ ॥

हमलोग उस कारणको नहीं जानते, जिससे हमारी देखनेकी शक्ति नष्ट हो गयी है। जगन्मूर्ति (विष्णु)ने उनसे कहा—आपलोगोंने देवताओंके साथ अपराध किया है। आपलोग स्वार्थी हैं। आपलोग पार्वतीके गर्भ नष्ट करनेके कारण महापापसे ग्रस्त हो गये हैं, इसलिये शूलपाणि महादेवने आपलोगोंके सम्यक् आलोचना और विचारशक्तिको आहृत कर लिया है। इस कारण आप सब सामने स्थित (शङ्कर) को देखकर भी नहीं देख रहे हैं। अब सब लोग विधासके साथ शरीरकी पवित्रता और देवका दर्शन प्राप्त करनेके लिये तप्तकृच्छ्र-व्रतद्वारा पवित्र होकर स्नान करें। और, हे देवताओ! महादेवको दूधसे स्नान करानेके लिये डेढ़ सौ घड़ोंका प्रयोग करें ॥ ६–९ ॥

दधिस्नाने चतुष्षष्टिर्द्विगुणाविशेषोऽर्दणे। पञ्चगव्यस्य शुद्धस्य कुम्भाः षोडश कीर्तिताः ॥ १० ॥
मधुनोऽष्णे जलस्योक्ताः सर्वे ते द्विगुणाः सुराः। ततो रोचनया देवमश्लोत्तरशतेन हि ॥ ११ ॥
मनुलिम्पेत् कुङ्कुमेन चन्दनेन च भक्तितः। बिल्वपत्रैः सकमलैः धत्तूरकुसुमैः ॥ १२ ॥

उन लोगोंने विष्णुसे कहा कि हमलोग तो आपमें त्रिपुरनाशक शङ्करको नहीं देख रहे हैं। सुरेशान! आप सच बतलाइये कि महेश किस स्थानपर स्थित हैं। उसके बाद अव्ययात्मा मुरारि विष्णुने देवताओंको अपने हृदयकमलमें विश्राम करनेवाले शङ्करके लिङ्गका दर्शन करा दिया। उसके बाद देवताओंने क्रमशः दूध आदिसे उस नित्य, स्थिर एवं अक्षय लिङ्गको स्नान कराया। फिर उन लोगोंने गोरोचन और सुगन्धित चन्दनका लेपन कर बिल्वपत्रों और कमलोंसे भक्तिपूर्वक (यथाविधि उन) देवकी पूजा की ॥ २२–२५ ॥

प्रधूप्यागुरुणा भक्त्या निवेद्य परमौषधीः । जप्त्वाऽष्टशतनामानं प्रणामं चक्रिरे ततः ॥ २६ ॥
इत्येवं चिन्तयन्तश्च देवा येतौ हरीश्वरौ । कथं योगत्वमापन्नौ सत्त्वाध्वतमसोद्भवौ ॥ २७ ॥
सुराणां चिन्तितं ज्ञात्वा विश्वमूर्तिरभूद्विभुः । सर्वलक्षणसंयुक्तः सर्वायुधधरोऽव्ययः ॥ २८ ॥
साऽर्द्धं त्रिनेत्रं कमलाहिकुण्डलं जटागुडाकेशखगर्षभध्वजम् ।
समाधवं हारभुजङ्गवक्षसं पीताजिनाच्छन्नकटिप्रदेशम् ॥ २९ ॥
चक्रासिहस्तं हलशार्ङ्गपाणिं पिनाकशूलाजगवान्वितं च ।
कपर्दखट्वाङ्गकपालघण्टासशङ्खटङ्कारवं महर्षे ॥ ३० ॥
दृष्ट्वैव देवा हरिशङ्करं तं नमोऽस्तु ते सर्वगताव्ययेति ।
प्रोक्त्वा प्रणामं कमलासनाद्याश्चक्रुर्मतिं चैकतरां नियुज्य ॥ ३१ ॥

उसके बाद देवोंने प्रेमपूर्वक धूप-दानकर परमौषधियों (भङ्ग आदि)को समर्पित किया। फिर (शङ्करके) एक सौ आठ नामोंका जप करनेके बाद उन्हें प्रणाम किया। सभी देवता यह विचारने लगे कि सत्त्वगुणकी प्रधानतासे विष्णु एवं तमोगुणकी अधिकतासे आविर्भूत शिवमें एकता किस प्रकार हुई? देवताओंके विचारको जानकर अविनाशी व्यापक भगवान् सभी (शुभ) लक्षणोंसे युक्त एवं सब प्रकारके आयुधोंको धारण करनेवाले विश्वमूर्ति हो गये। महर्षे! फिर तो देवताओंने एक ही शरीरमें कानमें सर्पके कुण्डल पहने, सिरपर आधेमें शिखा एवं आधेमें जटाजूट बाँधे, गलेमें सर्पके हार लटकाये, हाथमें पिनाक, शूल, आजगव धनुष, खट्वाङ्ग धारण किये तथा कपालसे युक्त बाघाम्बर धारण करनेवाले त्रिनेत्रधारी वृषध्वज महादेव और साथ ही कमलके कुण्डलधारी, गरुड़ध्वज, हार और पीताम्बर पहने, हाथोंमें चक्र, असि, हल, शार्ङ्गधनुष, टङ्कार-सी ध्वनि करनेवाले शङ्खको लिये गुडाकेश विष्णुको देखा। उसके बाद 'सर्वव्यापी अविनाशी प्रभुको नमस्कार है'—इस प्रकार कहकर ब्रह्मा आदि देवताओंने उन हरि एवं शङ्करको एक रूप (अभिन्न) समझा ॥ २६–३१ ॥

नानेकविधान् विहाय सुरान् देवपतिर्हरिः । प्रगृह्याभ्यव्ययं पूर्णं कुरुक्षेत्रं स्वमाश्रमम् ॥ ३२ ॥
ततोऽपश्यन्त देवेशं स्थाणुभूतं जले शुचिम् । दृष्ट्वा नमः स्थाणवेति प्रोक्त्वा सर्वे ह्युपाविशन् ॥ ३३ ॥
ततोऽब्रवीत् सुरपतिरेह्येहि दीयतां वरः । क्षुब्धं जगज्जगन्नाथ उन्मज्जस्व प्रियातिथे ॥ ३४ ॥
ततस्ता मधुरां वाणीं शुश्राव वृषभध्वजः । शुश्रुवोत्तस्थौ च वेगेन सर्वव्यापी निरञ्जनः ॥ ३५ ॥
नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यः प्रोवाच प्रहसन् हरः । स चागतः सुरैः सेन्द्रैः प्रणतो विनयान्वितैः ॥ ३६ ॥

देवोंके स्वामी भगवान् विष्णु उन देवताओंको समान हृदयवाला मानकर उन्हें साथ लेकर शीघ्र अपने आश्रम कुरुक्षेत्रमें चले गये। उसके बाद उन लोगोंने जलके भीतर पवित्र स्थाणुभूत उन देवेश (महादेव)को देखा। उन्हें देखकर 'स्थाणवे नमः' (स्थाणुको नमस्कार है)—यह कहकर वे सभी (वहीं) बैठ गये। उसके बाद इन्द्रने कहा—जगन्नाथ! अतिथिप्रिय! समस्त संसार क्षुब्ध हो उठा है। आप (कृपया) बाहर निकलकर

स ब्राह्मणः प्राह ममाद्य तुष्टिर्येनेह जाता शृणु तद् द्विजेन्द्र ।
बहून् गणान् वै मम तप्यतस्तपः संवत्सरान् कायविशोषणार्थम् ॥ ४८ ॥
ततोऽनुपश्यामि करात् क्षतोत्थं निर्गच्छते शाकरसं ममेह ।
तेनाद्य तुष्टोऽस्मि भृशं द्विजेन्द्र येनास्मि नृत्यामि सुभावितात्मा ॥ ४९ ॥
तं प्राह शम्भुर्द्विज पश्य मह्यं भस्म प्रवृत्तोऽङ्गुलितोऽतिशुभ्रम् ।
सताडनादेव न च प्रहर्षो ममास्ति नूनं हि भवान् प्रमत्तः ॥ ५० ॥

शंकरने उनके पास जाकर एवं उनका हाथ पकड़कर हँसते हुए कहा—महर्षे ! किस भावनासे प्रभावित होकर एवं किस कारणसे आप नाच रहे हैं ? आप (मेरे पास) आकर मुझसे यह बतलाइये कि आपको इस विषयमें क्यों संतुष्टि है ? उस ब्राह्मणने कहा—द्विजेन्द्र ! आज मुझे जिस कारणसे प्रसन्नता हो रही है, उसे सुनिये। शरीरको दुर्बल करनेके लिये तपस्या करते हुए मेरे अनेक वर्ष बीत गये हैं। अब मैं देखता हूँ कि मेरे हाथके घावसे शाकरस निकल रहा है। द्विजेन्द्र ! इसी कारण मुझे बहुत आनन्द मिल रहा है और मैं भावविभोर होकर नृत्य कर रहा हूँ। शम्भुने उनसे कहा—द्विज ! मुझे देखो। चोट करनेसे ही मेरी अङ्गुलिसे अत्यन्त स्वच्छ सफेद भस्म निकल रहा है, परंतु इससे मुझे तो उत्कट प्रसन्नता नहीं होती। आप निश्चय ही उन्मत्त हो गये हैं ॥ ४७–५० ॥

श्रुत्वाऽथ वाक्यं वृषभध्वजस्य मत्वा मुनिर्मङ्कणको महर्षे।
नृत्यं परित्यज्य सुविस्मितोऽथ ववन्द पादौ विनयावनम्रः ॥ ५१ ॥
तमाह शम्भुर्द्विज गच्छ लोकं तं ब्रह्मणो दुर्गममव्ययस्य ।
इदं च तीर्थं प्रवरं पृथिव्यां पृथूदकस्यास्तु समं फलेन ॥ ५२ ॥
सांनिध्यमत्रैव सुरासुराणां गन्धर्वविद्याधरकिन्नराणाम् ।
सदाऽस्तु धर्मस्य निधानमग्र्यं सारस्वतं पापमलापहारि ॥ ५३ ॥
सुप्रभा काञ्चनाक्षी च सुवेणुर्विमलोदका । मनोहरा चौघवती विशाला च सरस्वती ॥ ५४ ॥
एता सप्त सरस्वत्यो निवसिष्यन्ति नित्यशः । सोमपानफलं सर्वाः प्रयच्छन्ति सुपुण्यदाः ॥ ५५ ॥

महर्षे ! शंकरकी बात सुनकर और उसे मानकर मङ्कणक मुनिने नृत्य करना छोड़ दिया और आश्चर्यसहित तथा विनम्र भावसे झुककर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। शम्भुने उनसे कहा—द्विज ! तुम अविनाशी ब्रह्मके दुर्गम लोकको जाओ। और, यह श्रेष्ठ तीर्थ पृथूदक-तीर्थके सदृश पृथ्वीमें फल देनेवाला प्रसिद्ध होगा। सुर, असुर, गन्धर्व, विद्याधर और किन्नरलोग सदा यहाँ उपस्थित रहेंगे। यह श्रेष्ठ 'सारस्वत' तीर्थ सदा धर्मका निधान एवं पाप-मलका अपहरण करनेवाला होगा। यहाँ सुप्रभा, काञ्चनाक्षी, सुवेणु, विमलोदका, मनोहरा, ओघवती, विशाला, सरस्वती नामकी सात नदियाँ नित्य निवास करेंगी। ये सभी पुण्य प्रदान करनेवाली नदियाँ यज्ञीय सोमरसके पीनेसे होनेवाले फलको देनेवाली हैं ॥ ५१–५५ ॥

भवानपि कुरुक्षेत्रे मूर्तिं स्थाप्य गरीयसीम् । गमिष्यति महापुण्यं ब्रह्मलोकं सुदुर्गमम् ॥ ५६ ॥
इत्येवमुक्तो देवेन शङ्करेण तपोधन । मूर्तिं स्थाप्य कुरुक्षेत्रे ब्रह्मलोकमगाद् वशी ॥ ५७ ॥
गते मङ्कणके पृथ्वी निश्चला समजायत । यथागमं मन्दरं शम्भुर्निजमायतनं शुचिः ॥ ५८ ॥
एतत् तवोक्तं द्विज शङ्करस्तु गतस्तदाऽऽसीत् तपसेऽथ शैले ।
शून्येऽप्यगाद् दुष्टमतिर्हि देव्या सयोधिनो यत्र हि कारणेन ॥ ५९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

यदा तु लोकविद्विष्टं दुष्टं कर्म करिष्यति । त्रैलोक्यजननीं चापि अभिवाञ्छिष्यतेऽधम ॥१०॥
घातयिष्यति वा विप्रं यदा प्रक्षिप्य चासुरान् । तदास्य स्वयमेवाहं करिष्ये कायशोधनम् ॥११॥
एवमुक्त्वा गतः शम्भुः स्वस्थानं मन्दराचलम् । त्वत्पिताऽपि समभ्यागात् त्वामादाय रसातलम् ॥१२॥
एतेन कारणेनाम्बा शैलेयी भविता तव । सर्वस्यापीह जगतो गुरुः शम्भुः पिता ध्रुवम् ॥१३॥

(किंतु) यह अधम जब संसारके विरोधमें बुरा कर्म करेगा तथा त्रैलोक्य-जननीकी चाह करेगा अथवा असुरोंको भेजकर जब यह विप्रोंका वध करायेगा, तब मैं स्वयं इसके शरीरकी शुद्धि करूँगा । ऐसा कहकर शम्भु अपने स्थान मन्दराचलपर चले गये और तुम्हारे पिता तुमको लेकर रसातलमें चले आये । इसी कारण शैलपुत्री तुम्हारी माता एवं समस्त जगत्‌के गुरु शम्भु निश्चय ही तुम्हारे पिता हैं ॥ १०–१३ ॥

भवानपि तपोयुक्तः शास्त्रवेत्ता गुणाप्लुतः । नेदृशे पापसङ्कल्पे मतिं कुर्याद् भवद्विधः ॥ १४ ॥
त्रैलोक्यप्रभुरव्यक्तो भवः सर्वैर्नमस्कृतः । अजेयस्तस्य भार्येयं न त्वमर्होऽमरार्दन ॥ १५ ॥
न चापि शक्तः प्राप्तुं तां भवाञ्शैलनृपात्मजाम् । अजित्वा सगणं रुद्रं स च कामोऽद्य दुर्लभः ॥ १६ ॥
यस्तरेत् सागरं दोर्भ्यां पातयेद् भुवि भास्करम् । मेरुमुत्पाटयेद् वापि स जयेच्छूलपाणिनम् ॥ १७ ॥

आप भी तपस्या करनेवाले एवं शास्त्रके ज्ञाता तथा अनेक अलौकिक गुणोंसे भूषित हो । अतः आप जैसे पुरुषको इस प्रकारके पाप करनेमें मानसिक निश्चय भी नहीं करना चाहिये । देवताओंको कष्ट देनेवाले, तीनों लोकोंपर शासन करनेवाले और सबसे वन्दित अव्यक्त भगवान् शङ्कर (सर्वथा) अजेय हैं । उनकी ये भार्या हैं । तुम न तो इनके योग्य हो और न समर्थ ही । गणोंके सहित शङ्करको बिना जीते तुम उस पर्वतराजकी कन्याको प्राप्त करना चाहते हो, सो तो यह मनोरथ पूरा होना कठिन है । शूलपाणि शङ्करको वही जीत सकता है, जो अपनी भुजाओंसे समुद्रको पार कर जाय अथवा सूर्यको पृथ्वीपर गिरा दे या मेरुपर्वतको उखाड़ दे ॥ १४–१७ ॥

उताहोस्विदिमाः शक्या क्रिया कर्तुं नरैर्बलात् । न च शक्यो हरो जेतुं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ १८ ॥
किं त्वया न श्रुतं दैत्य यथा दण्डो महीपतिः । परस्त्रीकामवान् मूढः सगणो नाशमागतः ॥ १९ ॥
आसीद् दण्डो नाम नृपः प्रभूतबलवाहनः । स च वव्रे महातेजाः पौरोहित्याय भार्गवम् ॥ २० ॥
ईजे च विविधैर्यज्ञैर्नृपतिः शुक्रपालितः । शुक्रस्यासीच्च दुहिता अरजा नाम नामतः ॥ २१ ॥

उपर्युक्त सभी कार्य भले ही मनुष्य बलसे कर ले किंतु शङ्कर नहीं जीते जा सकते, यह मैंने सच-सच कह दिया है । दैत्य ! क्या तुमने यह नहीं सुना है कि परस्त्रीकी अभिलाषा करनेवाला दण्ड नामका मूर्ख राजा अपने राष्ट्रके साथ विनष्ट हो गया । (सुनो, प्राचीन कालमें) प्रचुर सेना एवं वाहनोंसे भरा पूरा दण्ड नामका एक राजा था । उस महातेजस्वीने पुरोहितके स्थानपर शुक्राचार्यको वृत किया था । शुक्राचार्यके निर्देशनमें उस राजाने भाँति-भाँतिके यज्ञोंका अनुष्ठान किया । शुक्राचार्यकी अरजा नामकी एक कन्या थी ॥ १८–२१ ॥

नृपः कदाचिदगमद् भृगुपत्तनमासुरम् । तेनार्चितधिया तत्र सन्वो भार्गवसत्तम ॥ २२ ॥
अरजा स्वगृहे यद्दृच्छ शुश्रूषन्ती महासुर । अतिष्ठत सुतार्गेही ततोऽभ्यागान्नराधिपः ॥ २३ ॥
स पप्रच्छ क्व शुभेति समूचुः परिचारिकाः । गतः स भगवान् शुक्रो याजनाय दितेः सुतम् ॥ २४ ॥
पप्रच्छ नृपतिः का नु तिष्ठते भार्गवाश्रमे । तासमूचुर्गुरोः पुत्री सतिष्ठत्यत्र नृप ॥ २५ ॥

क्या (लाभ), (बस मैं इतना ही कहती हूँ कि इस असत् प्रस्तावके कारण—) तुम शुक्राचार्यके शापसे भृत्य, जाति और बन्धुओंके साथ अपना विनाश मत करो ॥ ३४–३७ ॥

ततोऽब्रवीन्नरपतिः सुतनु शृणु चेष्टितम्। चित्राङ्गदाया यद् वृत्तं पुरा देवयुगे शुभे ॥ ३८ ॥
विश्वकर्मसुता साध्वी नाम्ना चित्राङ्गदाऽभवत्। रूपयौवनसम्पन्ना पद्महीनेव पद्मिनी ॥ ३९ ॥
सा कदाचिन्महारण्यं सखीभिः परिवारिता। जगाम नैमिषं नाम स्नातुं कमललोचना ॥ ४० ॥
सा स्नातुमवतीर्णा च अथाभ्यागान्नरेश्वरः।
सुदेवतनयो धीमान् सुरथो नाम नामतः। तां ददर्श च तन्वङ्गीं शुभाङ्गो मदनातुरः ॥ ४१ ॥

उसके बाद राजाने कहा—सुन्दरि! प्राचीन कालमें—पवित्र देवयुगमें घटित चित्राङ्गदाका एक वृत्तान्त सुनो। विश्वकर्माकी चित्राङ्गदा नामकी एक साध्वी कन्या थी। वह रूप और यौवनसे सम्पन्न मानो कमलसे रहित कमलिनी थी। कमलके समान नेत्रोंवाली वह किसी समय अपनी सखियोंसे घिरी हुई—सखियोंके साथ नैमिष नामके महारण्यमें स्नान करनेके लिये गयी। वह स्नान करनेके लिये जलमें जैसे ही उतरी, वैसे ही सुदेवके पुत्र बुद्धिमान् राजा सुरथ वहाँ पहुँचे। उन्होंने उस कृशाङ्गीको देखा। सुन्दर शरीरवाले वे उसे देखकर कामातुर हो गये ॥ ३८–४१ ॥

तं दृष्ट्वा सा सखीराह वचनं सत्यसंयुतम्। असौ नराधिपसुतो मदनेन प्रबाध्यते ॥ ४२ ॥
मदर्थे च मम मेऽस्य ह्यात्मप्रदानं सुरूपिणः। सख्यस्तामब्रुवन् बाला न प्रगल्भाऽसि सुन्दरि ॥ ४३ ॥
अस्वातन्त्र्यं तवास्तीह प्रदाने स्वात्मनोऽनघे। पिता तवास्ति धर्मिष्ठः सर्वशिल्पविशारदः ॥ ४४ ॥
न ते युक्तमिहात्मानं दातुं नरपतेः स्वयम्। एतस्मिन्नन्तरे राजा सुरथः सत्यवाक् सुधीः ॥ ४५ ॥
समभ्येत्याऽब्रवीदेनां कन्दर्पशरपीडितः। त्वं मुग्धे मोहयसि मां दृष्ट्यैव मदिरेक्षणे ॥ ४६ ॥

उनको देखकर उस (चित्राङ्गदा) ने अपनी सखियोंसे सत्य (छिपावरहित) वचन कहा—यह राजपुत्र मेरे ही लिये कामपीड़ित होकर कष्ट पा रहा है। अतः मुझे यह उचित (प्रतीत होता) है कि इस सौन्दर्यशाली व्यक्तिको मैं अपनेको समर्पित कर दूँ। उसकी 'बाला' सहेलियोंने उससे कहा कि सुन्दरि! तुम सयानी (वयस्क) नहीं हो। निष्पाप बालिके! स्वयंको दान करनेमें तुम्हें स्वतन्त्रता नहीं है, तुम्हारे पिता परम धार्मिक हैं और सभी शिल्पकर्मोंमें परम निपुण हैं, इसलिये यहाँ तुम्हें अपनेको राजाके लिये (दान) दे देना ठीक नहीं है। इसी बीच कामबाणसे पीड़ित सत्यवक्ता बुद्धिमान् सुरथने उसके पास आकर कहा—मुग्धे! मदिरेक्षणे! तुम अपनी दृष्टिसे ही मुझे मोहित कर रही हो ॥ ४२–४६ ॥

त्वद्दृष्टिशरपातेन स्मरेणाभ्येत्य ताडितः। तस्मात् कुचतले तल्पे अभिशाययितुमर्हसि ॥ ४७ ॥
नो चेत् प्रधक्ष्यते कामो भूयो भूयोऽतिदर्शनात्। ततः सा चारुसर्वाङ्गी राज्ञो गाम्भीर्यगोचरा ॥ ४८ ॥
वार्यमाणा सखीभिस्तु प्रादादात्मानमात्मना। एवं पुरा तया तन्व्या परित्राताः स भूपतिः ॥ ४९ ॥
तस्मान्मामपि सुश्रोणि त्वं परित्रातुमर्हसि। अरजस्काऽब्रवीद् दण्ड तस्या यद् वृत्तमुत्तरम् ॥ ५० ॥
किं त्वया न परिज्ञातं तस्मात् ते कथयाम्यहम्। तदा तया तु तन्वङ्ग्या सुरथस्य महीपते ॥ ५१ ॥
आत्मा प्रदत्तः स्वातन्त्र्यात् ततस्तामशपत् पिता। यस्माद् धर्मं परित्यज्य स्त्रीभावान्मन्दचेतसे ॥ ५२ ॥
आत्मा प्रदत्तस्तस्मात्त्वं न विवाहो भविष्यति। विवाहरहिता नैव सुखं त्वं प्राप्स्यसि भर्तृतः ॥ ५३ ॥

कामदेवने उपस्थित होकर तुम्हारी दृष्टिरूपी बाणसे मुझे घायल कर दिया है। इसलिये तुम मुझे अपने कुचतलरूपी शय्यापर सुलानेकी योग्या हो। ऐसा न करनेपर बार-बार तुम्हारे देखनेसे काम मुझे जला डालेगा।

दण्डने कहा—क्रोडोनि ! उसके पिता तथा राजा सुरथके साथ घटित हुए उसके शापके वृत्तान्तको सुननेके लिये तुम सावधान हो जाओ । राजाके दूर चले जानेपर जब वह महावनमें गिरी, उस समय आकाशमें सञ्चरण करनेवाले अञ्जन नामक गुह्यकने उसे देखा । उसके बाद वह उस बालाके पास गया और प्रयत्नपूर्वक उसे सान्त्वना देते हुए कहा—सुभगे ! सुरथके लिये उदास मत होओ । अयि कजरारे नेत्रोंवाली ! तुम उससे संयोग अवश्य प्राप्त कर लोगी । अब तुम शीघ्र भगवान् श्रीकण्ठका दर्शन करनेके लिये चली जाओ ॥६४–६७॥

इत्येवमुक्ता सा तेन गुह्यकेन सुलोचना । श्रीकण्ठमागता तूर्णं कालिन्द्या दक्षिणे तटे ॥ ६८ ॥
दृष्ट्वा महेशं श्रीकण्ठं स्नात्वा रविसुताजले । अतिष्ठत शिरोनम्रा यावन्मध्यस्थितो रविः ॥ ६९ ॥
अथाजगाम देवस्य स्नानं कर्तुं तपोधनः । शुभः पाशुपताचार्यः सामवेदी ऋतध्वजः ॥ ७० ॥
स ददर्श तत्र तन्वङ्गीं मुनिश्चित्राङ्गदां शुभाम् । रतीमिव स्थितां पुण्यामनङ्गपरिवर्जिताम् ॥ ७१ ॥

उस गुह्यकके ऐसा कहनेपर सुन्दर नेत्रोंवाली वह शीघ्रतापूर्वक कालिन्दीके दक्षिण तटपर स्थित श्रीकण्ठके निकट चली गयी । वह कालिन्दीके जलमें स्नान करके महेश्वर श्रीकण्ठका दर्शन कर दोपहरतक सिर झुकाये स्थित रही । इतनेमें देव श्रीकण्ठके पास शुभ लक्षणोंसे युक्त, पाशुपताचार्य, सामवेदी, तपोधन, ऋतध्वज स्नान करनेके लिये आये । मुनिने कामसे रहित रतिके समान कृशाङ्गी कल्याणकारिणी चित्राङ्गदाको वहाँ देखा ॥ ६८–७१ ॥

तां दृष्ट्वा स मुनिर्ध्यानमगमत् केयमित्युत । अथ सा तमृषिं वन्द्य कृताञ्जलिपुटा स्थिता ॥ ७२ ॥
तां प्राह पुत्रि कस्यासि सुता सुरसुतोपमा । किमर्थमागतासीह निर्मनुष्यमृगे वने ॥ ७३ ॥
ततः सा प्राह तमृषिं यथातथ्यं कृशोदरी । श्रुत्वर्षिः कोपमगमच्छशापच्छिल्पिनां वरम् ॥ ७४ ॥
यस्मात् स्वतनुजातेयं परदेयाऽपि पापिना । योजिता नैव पतिना तस्माच्छाखामृगोऽस्तु सः ॥ ७५ ॥

उन मुनिने उसको देखकर ध्यान किया कि यह कौन है । इसके बाद वह उन ऋषिके निकट जाकर उन्हें प्रणाम कर हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी । (ऋषिने) उससे पूछा—पुत्रि ! देवकन्याकी भाँति तुम किसकी पुत्री हो ? मनुष्य तथा पशुरहित इस वनमें तुम क्यों आयी हो ? उसके बाद उस कृशोदरीने उन ऋषिसे सच्ची बात कही । उसे सुनकर ऋषि क्रुद्ध हो गये और शिल्पियोंमें श्रेष्ठ विश्वकर्माको शाप दे दिया—चूँकि उस पापीने दूसरेको देनेयोग्य भी अपनी इस पुत्रीको पतिसे युक्त नहीं किया, अतः वह शाखामृग (बन्दर) हो जाय ॥ ७२–७५ ॥

इत्युक्त्वा स महायोगी भूयः स्नात्वा विधानतः । उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां पूजयामास शङ्करम् ॥ ७६ ॥
सम्पूज्य देवदेवेशं यथोक्तविधिना हरम् । उवाचागम्यतां सुभ्रूः सुदतीं पतिलालसाम् ॥ ७७ ॥
गच्छस्व सुभगे देशं सप्तगोदावरं शुभम् । तत्रोपास्य महेशानं महाल्यं हाटकेश्वरम् ॥ ७८ ॥
तत्र स्थितायाः रम्भोरु ख्याता देववती शुभा । आगमिष्यति दैत्यस्य पुत्री कन्दरमालिनः ॥ ७९ ॥

यह कहनेके बाद उन महायोगीने पुनः विधिपूर्वक स्नान एवं पश्चिम (सायङ्काल) सन्ध्या कर शङ्करजीका पूजन किया । शास्त्रमें वर्णित विधिसे देवेश्वर शङ्करकी पूजा करनेके बाद उन्होंने पतिकी चाहनेवाली तथा सुन्दर भौंहों और दाँतोंवाली चित्राङ्गदासे कहा—सुभगे ! कल्याणकारक सप्तगोदावर नामक देशमें जाओ । वहाँ महान् हाटकेश्वर भगवान्की पूजा करते हुए निवास करो । रम्भोरु ! वहाँपर रहते हुए तुम्हारे पास कन्दरमालीकी प्रसिद्ध देववती नामकी कल्याणकारिणी पुत्री आयेगी ॥ ७६–७९ ॥

एकदा दैत्यशार्दूलः कन्दराख्यः सुतां प्रियाम्। प्रतिगृह्य समभ्यागाद् ख्यातां देववतीमिति ॥ ५ ॥
तां च तद् वनमायान्तीं समं पित्रा वराननाम्। ददर्श वानरश्रेष्ठः प्रजग्राह बलात् करे ॥ ६ ॥
ततो गृहीतां कपिना स दैत्यः स्वसुतां शुभे। कन्दरो वीक्ष्य संक्रुद्धः खड्गमुद्यम्य चाद्रवत् ॥ ७ ॥
तमापतन्तं दैत्येन्द्रं दृष्ट्वा शाखामृगो बली। तयैव सह चार्वङ्ग्या हिमाचलमुपागतः ॥ ८ ॥

एक समय कन्दर नामका दैत्य वीर 'देववती' नामसे प्रसिद्ध अपनी प्रिय पुत्रीको साथ लेकर वहाँ आया। उसके बाद पिताके साथ वनमें आ रही उस सुन्दरीको उस वानरश्रेष्ठने देखा, (उसने) बलपूर्वक उसका हाथ पकड़ लिया। शुभे! दैत्य कन्दर अपनी कन्याको बन्दरसे पकड़ी गयी देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और तलवार उठाकर दौड़ पड़ा। बलशाली बन्दर (अपने पीछे) उस दैत्येन्द्रको आते देखकर उस सुन्दरी कन्याको साथ लिये हिमालयपर चला गया ॥ ५-८ ॥

ददर्श च महादेवं श्रीकण्ठं यमुनातटे। तस्याविदूरे गहनमाश्रमं ऋषिवर्जितम् ॥ ९ ॥
तस्मिन् महाश्रमे पुण्ये स्थाप्य देववतीं कपिः। न्यमज्जत स कालिन्द्यां पश्यतो दानवस्य हि ॥ १० ॥
सोऽजानत् सा मृता पुत्री मम शाखामृगेण हि। जगाम च महातेजाः पातालं निलयं निजम् ॥ ११ ॥
स चापि वानरो देव्या कालिन्द्या वेगतो हृतः। नीतः शिबीति विख्यातं देशं शुभजनावृतम् ॥ १२ ॥

उसने यमुनाके तटपर महादेव श्रीकण्ठका दर्शन किया। (उसने) उससे थोड़ी दूरपर ऋषियोंसे रहित एक दुर्गम आश्रम भी देखा। उस पवित्र महाश्रममें देववतीको रखकर वह बन्दर दैत्य कन्दरके देखते-देखते कालिन्दी (के जल-) में डूब गया। उस कन्दरने बन्दरके साथ पुत्रीको (डूबकर) मरी हुई समझ लिया। अतः (निराश होकर) वह महातेजस्वी पातालमें स्थित अपने घरमें चला गया और वेगपूर्वक उस बन्दरको भी देवी कालिन्दी भी शुभजनोंसे व्याप्त शिबि नामसे प्रसिद्ध स्थानमें बहाकर ले गयी ॥ ९-१२ ॥

ततस्तीर्त्वाऽथ वेगेन स कपिः पर्वतं प्रति। गन्तुकामो महातेजा यत्र न्यस्ता सुलोचना ॥ १३ ॥
अथापश्यत् समायान्तमञ्जनं गुह्यकोत्तमम्। नन्दयन्त्या समं पुत्र्या गत्या जिगमिषुं कपिः ॥ १४ ॥
तां दृष्ट्वाऽमन्यत श्रीमान् सेयं देववती ध्रुवम्। तन्मे वृथा श्रमो जातो जलमज्जनसम्भवः ॥ १५ ॥
इति संचिन्तयन्नेव समाद्रवत सुन्दरीम्। सा तद्भयाच्च न्यपतन्नदीं चैव हिरण्वतीम् ॥ १६ ॥

उसके बाद महातेजस्वी उस बन्दरने तेजीसे तैरकर उसे पार करनेके बाद उस पर्वतपर जानेकी इच्छा की, जहाँ वह सुनयना रखी गयी थी। उसके बाद उसने नन्दयन्ती नामकी पुत्रीके साथ जाते हुए श्रेष्ठ गुह्यक अञ्जनको देखा। जानेकी इच्छा रखनेवाला वह बन्दर (उसके) निकट गया। उसे देखकर श्रीमान् कपिने सोचा कि सचमुच यह वही देववती है। अतः जलमें डूबनेका मेरा परिश्रम व्यर्थ हो गया। इस प्रकार सोचता हुआ वह बन्दर उस सुन्दरीकी ओर दौड़ा। उसके भयसे वह कन्या हिरण्वती नदीमें कूद पड़ी ॥ १३-१६ ॥

गुह्यको वीक्ष्य तनयां पतितामापगाजले। दुःखशोकसमाक्रान्तो जगामाञ्जनपर्वतम् ॥ १७ ॥
तत्रासौ तप आस्थाय मौनव्रतधरः शुचिः। समास्ते वै महातेजा वर्षगणान् बहून् ॥ १८ ॥
नन्दयन्त्यपि वेगेन हिरण्वत्याऽपवाहिता। नीता देशं महापुण्यं कौशलं साधुभिर्युतम् ॥ १९ ॥
गच्छन्ती सा च रुदती ददृशे वटपादपम्। प्ररोहमावृततनुं जटाधरमिवाध्वरम् ॥ २० ॥

कन्याको नदीके जलमें कूदती हुई देखकर गुह्यक दुःख और शोकसे विह्वल होता हुआ अञ्जन पर्वतपर चला गया। वह महातेजस्वी वहाँ पवित्रतापूर्वक मौनव्रत धारण करके बहुत वर्षोंतक तप करता रहा। हिरण्वती भी (जलधाराके) वेगसे नन्दयन्तीको भी बहा ले गयी और सज्जनोंसे सेवित महापवित्र कोशल

बुढ़ापेमें चालीस सौ वर्षोंतक अत्यन्त क्लेश भोगना होगा । उस समय तुम्हें भूमिपर सोना तथा कुत्सित अन्न—कदन्न—साँवा, कोदो-(आदि-)का भोजन करना पड़ेगा । पिताके इस प्रकार कहनेके बाद पाँच वर्षकी अवस्थामें मैं हिरण्वतीमें स्नान करनेके उद्देश्यसे पृथ्वीपर विचरता हुआ जा रहा था । उस समय मैंने एक श्रेष्ठ बन्दरको देखा । उसने मुझसे कहा—अरे मूढ़ ! इस महान् आश्रममें रखी हुई इस भैरवीको लेकर तू कहाँ जा रहा है ? सुन्दरि ! उसके बाद उसने छटपटाते हुए मुझको पकड़कर प्रयत्नपूर्वक इस वटवृक्षके शिखरपर जटाओं (नरोहों-)से बाँध दिया ॥ ३३–३६ ॥

तथा च रक्षा कपिना कृता भीरु निरन्तरे । लतापाशैर्महायन्त्रमधस्ताद् दुष्टबुद्धिना ॥ ३७ ॥
अभेद्योऽयमनाक्रम्य उपरिष्टात् तथाप्यधः । दिशामुखेषु सर्वेषु कृतं यन्त्रं लतामयम् ॥ ३८ ॥
संयम्य मां कपिवरः प्रयातोऽमरपर्वतम् । यथेच्छया मया दृष्टमेतत् ते गदितं शुभे ॥ ३९ ॥
भवती का महारण्ये ललना परिवर्जिता । समायाता सुचार्वङ्गी केन सार्धेन मां वद ॥ ४० ॥

भीरु ! उस कुमति बन्दरने बहुत से लता-जालोंसे एक महान् यन्त्र (ऊना) बनाकर उसके नीचे मुझे स्थापित कर दिया और सदा मेरी रक्षा करता रहा । सभी दिशाओंमें चारों ओरसे बनाया गया यह लतायन्त्र न तो टूट सकता है और न किसी प्रकार ऊपर या नीचेसे इसके ऊपर आक्रमण ही किया जा सकता है । वह श्रेष्ठ बन्दर मुझको बाँधकर स्वेच्छासे अमर पर्वतपर चला गया । शुभे ! मैंने जो कुछ देखा था उसे तुमसे कह दिया । सुन्दरि ! मुझे बतलाओ कि तुम कौन हो ? इस विस्तृत वनमें अकेली तुम किसके साथ आयी हो ? ॥ ३७–४० ॥

साऽब्रवीदञ्जनो नाम गुह्यकेन्द्रः पिता मम । नन्दयन्तीति मे नाम प्रम्लोचागर्भसम्भवा ॥ ४१ ॥
तत्र मे जातके प्रोक्तमृषिणा मुद्गलेन हि । इयं नरेन्द्रमहिषी भविष्यति न संशयः ॥ ४२ ॥
तद्वाक्यसमकालं च व्यनदद् देवदुन्दुभिः । शिवा चाशिवनिर्घोषा ततो भूयोऽब्रवीन्मुनिः ॥ ४३ ॥
न सन्देहो नरपतेर्महाराज्ञी भविष्यति ।
महान्तं संशयं घोरं कन्याभावे गमिष्यसि । ततो जगाम स ऋषिरित्युक्त्वा वचोऽद्भुतम् ॥ ४४ ॥

उसने कहा—गुह्यकराज अञ्जन मेरे पिता हैं । मेरा नाम नन्दयन्ती है । मेरा जन्म प्रम्लोचाके गर्भसे हुआ है । मेरे जन्मके समय मुद्गल ऋषिने कहा था कि यह कन्या भविष्यमें राजरानी बनेगी । उनके कहनेके समय ही स्वर्गमें दुन्दुभि बजने लगी तथा तत्काल ही अमङ्गल सूचक शब्द सियारिनयाँ बोलने लगीं । उसके बाद मुनिने पुनः कहा—इसमें सन्देह नहीं कि यह बालिका महाराजकी महारानी होगी । परंतु कन्या-अवस्थामें ही यह भयङ्कर विपत्तिमें पड़ जायगी । इस प्रकारके अद्भुत वचन कहकर वे ऋषि चले गये ॥ ४१–४४ ॥

पिता मामपि चादाय समागन्तुमपैच्छत । तार्थं ततो हिरण्यवाससारान् नपरिप्योनतत् ॥ ४५ ॥
तद्रूपाद्य मया हा मा भित्त्वा सागरगाजले । मयाऽस्मि देवमानीता इमं मानुषपर्विनम् ॥ ४६ ॥
श्रुत्वा आयालिश्य तद् वचनं वै तपोदितम् । माद सुन्दरि गत्वाऽस्य यावच्छ यमुनातटे ॥ ४७ ॥
तत्रागच्छति मध्याह्ने मत्पिता शर्वमर्चितुम् । तस्मै निवेदयाख्यानं मम श्रेयोऽभिलप्स्यसे ॥ ४८ ॥

उसके बाद मेरे पिताने तीर्थयात्रा करनेकी इच्छा की । इसी बीच मुझे (अपने साथ) लेकर बन्दर हिरण्वतीके तटसे उड़ा । उसके डरसे मैंने अकस्मात् नर्मदामें गिरनेवाली नदीके जलमें गिरा दिया (मैं नदीमें कूद पड़ी)

स दृष्ट्वा वाचयित्वा च तमर्थमधिगम्य च। मुहूर्तं ध्यानमास्थाय व्यजानाच्च तपोनिधिः ॥ ६१ ॥
ततः सम्पूज्य देवेशं त्वरया स ऋतध्वजः। अयोध्यामगमत् क्षिप्रं द्रष्टुमिक्ष्वाकुमीश्वरम् ॥ ६२ ॥
तं दृष्ट्वा नृपतिश्रेष्ठं तापसो वाक्यमब्रवीत्। श्रूयतां नरशार्दूल विज्ञप्तिर्मम पार्थिव ॥ ६३ ॥
मम पुत्रो गुणैर्युक्तः सर्वशास्त्रविशारदः। बद्धस्त्वः कपिना राजन् विषयान्ते तवैव हि ॥ ६४ ॥

उन्हें देख और पढ़कर तथा उनका अर्थ समझकर वे तपोनिधि एक क्षणमें ध्यान लगाकर (सब कुछ ठीक-ठीक) जान गये। उसके बाद महर्षि ऋतध्वज शीघ्रतासे देवेश्वरकी पूजाकर राजा इक्ष्वाकुका दर्शन करनेके लिये तुरत ही अयोध्या चले गये। श्रेष्ठ नरपतिका दर्शन करके तपस्वी ऋतध्वजने कहा—नरशार्दूल! राजन्! मेरी विज्ञप्ति (याचिका) सुनिये। राजन्! आपके ही राज्यकी सीमामें एक बन्दरने सर्वशास्त्रोंमें निपुण, अच्छे गुणोंसे युक्त मेरे पुत्रको बाँध रखा है॥ ६१–६४॥

स हि मोचयितुं नान्य शक्यस्त्वत्तनयादृते। शकुनिर्नाम राजेन्द्र स शास्त्रविधिपारगः ॥ ६५ ॥
तन्मुनेर्वाक्यमाकर्ण्य पिता मम कृशोदरि। आदिदेश प्रियं पुत्रं शकुनिं तापसान्वये ॥ ६६ ॥
ततः स प्रहितः पित्रा भ्राता मम महाभुजः। सम्प्राप्तो बन्धनोद्देशं समं हि परमर्षिणा ॥ ६७ ॥
दृष्ट्वा न्यग्रोधमत्युच्चं प्ररोहास्तृतदिङ्मुखम्। ददर्श वृक्षशिखरे उद्बद्धमृषिपुत्रकम् ॥ ६८ ॥

राजेन्द्र! अस्त्र विधिमें पारङ्गत आपके शकुनि नामक पुत्रके सिवाय दूसरा कोई उसे छुड़ा नहीं सकता। कृशोदरि! मुनिके उस वचनको सुनकर मेरे पिताने अपने पुत्र (मेरे भाई) शकुनिको उन तपस्वीके पुत्रके (बन्धन छुड़ानेके) सम्बन्धमें उचित आदेश दिया। उसके बाद पिताके द्वारा भेजा गया वह शक्तिशाली मेरा भाई उन श्रेष्ठ ऋषिके साथ ही बन्धनके स्थानपर आया। चारों ओर बरोहोंसे ढके हुए अत्यन्त ऊँचे वटवृक्षको देखनेके बाद उसने वृक्षकी ऊँची चोटीपर बँधे हुए ऋषिके पुत्रको (बँधा हुआ) देखा॥ ६५–६८॥

तांश्च सर्वांल्लतापाशान् दृष्टवान् स समन्ततः। दृष्ट्वा स मुनिपुत्रं तं स्वजटासंयतं वटे ॥ ६९ ॥
धनुरादाय बलवानधिज्यं स चकार ह। लाघवादृषिपुत्रं तं रक्षंश्चिच्छेद मार्गणैः ॥ ७० ॥
कपिना यत् कृतं सर्वं लतापाशं चतुर्दिशम्। पञ्चवर्षशते काले गते शकुनिना शरैः ॥ ७१ ॥
लताच्छन्नं ततस्तूर्णमारुरोह मुनिर्वटम्। प्राप्त स पितरं दृष्ट्वा जाबालिः संयतोऽपि सन् ॥ ७२ ॥
आदरात् पितरं मूर्ध्ना ववन्दे तु विधानतः। सम्परिष्वज्य स मुनिर्मूर्ध्न्याघ्राय सुतं ततः ॥ ७३ ॥

(फिर) उसने (फैले हुए) उन समस्त लताजालोंको चारों ओरसे (अच्छी तरह) देखा एवं वटके पेड़में एवं अपनी जटाओंसे बँधे मुनिपुत्रको देखकर उस पराक्रमीने धनुष लेकर उसकी प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ायी एवं वह ऋषि-पुत्रकी रक्षा करते हुए निपुणतासे बाणोंद्वारा लताजालोंको काटने लगा। पाँच सौ वर्ष बीत जानेपर चारों ओर बन्दरके द्वारा बनाया गया लताजाल बाणोंसे जब काट दिया गया तब ऋषि ऋतध्वज लताओंसे ढके उस वटवृक्षपर शीघ्र चढ़ गये। जाबालिने अपने पिताको आया देखकर बँधे रहनेपर भी अत्यन्त आदरके साथ यथाविधि सिरसे (सिर झुकाकर) प्रणाम किया। उस मुनिने (पुत्रका) मस्तक सूँघकर उसको अच्छी तरह गले लगाया॥ ६९–७३॥

उन्मोचयितुमारब्धो न शशाक सुसंयतम्। ततस्तूर्णं धनुर्न्यस्य बाणांश्च शकुनिर्बली ॥ ७४ ॥
आरुरोह वटं तूर्णं जटा मोचयितुं तदा। न च शक्नोति संच्छन्नं दृढं कपिवरेण हि ॥ ७५ ॥
यदा न शक्तिास्तेन सम्प्रमोचयितुं जटाः। तदाऽपर्मार्ग शकुनिः सहितः परमर्षिणा ॥ ७६ ॥

नदीके भीषण प्रवाहसे मैं इस निर्जन देशमें आ गयी हूँ। जाबालिने उसकी कही हुई बातको सुनकर कहा— सुन्दरि! तुम यमुनाके किनारे श्रीकण्ठके पास जाओ। वहाँ मेरे पिताजी मध्याह्नमें शिवजीकी पूजा करनेके लिये आते हैं। तुम वहाँ जाकर उनको अपना समाचार सुनाओ। इससे तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ४५-४८ ॥

ततस्तु त्वरिता काले नन्दयन्ती तपोनिधिम्। परित्राणार्थमगमद्धिमाद्रेर्यमुनां नदीम् ॥ ४९ ॥
सा त्वदीर्घेण कालेन कन्दमूलफलाशना। सम्प्राप्ता शङ्करस्थानं यत्रागच्छति तापसः ॥ ५० ॥
तत्र सा देवदेवेशं श्रीकण्ठं लोकवन्दितम्। प्रणिपत्य ततोऽपश्यदक्षरास्ता महामुने ॥ ५१ ॥
तेषामर्थं हि विज्ञाय सा तदा चारुहासिनी। तज्जाबाल्युदितं श्लोकमलिखच्चान्यमात्मनः ॥ ५२ ॥

उसके बाद नन्दयन्ती अपनी रक्षाके लिये शीघ्रतापूर्वक हिमाचलसे चल पड़ी और यमुनाके तीरपर स्थित तपोनिधि-(ऋतध्वज) के पास पहुँच गयी। कन्द-मूल-फल खाती हुई वह कुछ ही समयमें शङ्करके (भी) उस स्थानपर पहुँची जहाँ तपस्वी आया करते थे। महामुने! उसके बाद उसने विश्ववन्दित देवाधिदेव श्रीकण्ठकी पूजाकर उन (लिखे) अक्षरोंको देखा। उनका अर्थ जानकर मधुर मुस्कान करती हुई उसने जाबालिद्वारा कथित श्लोक तथा अपना एक अन्य श्लोक लिखा—॥ ४९-५२ ॥

मुद्गलेनास्मि गदिता राजपत्नी भविष्यसि। सा चावस्थामिमां प्राप्ता कश्चिन्मां त्रातुमीश्वरः ॥ ५३ ॥
इत्युल्लिख्य शिलापट्टे गता स्नातुं यमस्वसाम्। ददर्श चाश्रमवरं मत्तकोकिलनादितम् ॥ ५४ ॥
ततोऽमन्यत सा ब्रह्मर्षिर्नूनं तिष्ठति सत्तमः। इत्येवं चिन्तयन्ती सा सम्प्रविष्टा महाश्रमम् ॥ ५५ ॥
ततो ददर्श देवाभां स्थितां देववतीं शुभाम्। सशुष्कास्यां चलन्नेत्रां परिम्लानामिवाब्जिनीम् ॥ ५६ ॥

'महर्षि मुद्गलने कहा था कि मैं राजपत्नी होऊँगी, किंतु मैं इस अवस्थामें आ गयी हूँ। क्या कोई मेरा उद्धार करनेमें समर्थ है?' शिलापटपर यह लिखकर वह स्नान करनेके लिये यमुनाके किनारे चली गयी और उसने उस स्थानपर मतवाली कोकिलोंके स्वरों (कलरवों)से निनादित एक सुन्दर आश्रम देखा। उसने सोचा—इस आश्रममें श्रेष्ठ ऋषि अवश्य रहते होंगे। ऐसा सोचती हुई उस महान् आश्रममें प्रविष्ट हुई। उसके बाद उसने देवोंके समान शोभासे युक्त, मुरझायी हुई कमलिनीके समान सूखे मुख एवं चञ्चल नेत्रोंवाली देववतीको वहाँ बैठी हुई देखा ॥ ५३-५६ ॥

सा चायतन्तीं ददृशे यक्षजां दैत्यनन्दिनी। केयमित्येव संचिन्त्य समुत्थाय स्थिताभवत् ॥ ५७ ॥
ततोऽन्योन्यं समालिङ्ग्य गाढं गाढं सुहृत्तया। पप्रच्छतुस्तथा योऽन्यं कथयामासतुस्तदा ॥ ५८ ॥
ते परिज्ञाततत्त्वार्थे अन्योन्यं ललनोत्तमे। समासीने कथाभिस्ते नानारूपाभिरादरात् ॥ ५९ ॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः श्रीकण्ठं स्नातुमादरात्। स तत्त्ववो मुनिश्रेष्ठो अक्षराण्यवलोकयत् ॥ ६० ॥

दैत्यकन्या यक्षपुत्रीको आती हुई देखा और यह कौन है—ऐसा विचारकर वह उठ खड़ी हुई। उसके बाद सखीभावसे उन दोनोंने आपसमें गाढ आलिङ्गन किया—वे एक दूसरेके गले लगीं तथा परस्पर पूछ-ताछ और बातचीत करने लगीं। वे दोनों उत्तम ललनाएँ एक दूसरीकी सभी घटनाओंको जानकर बैठ गयीं एवं आदरपूर्वक अनेक प्रकारकी कथाएँ कहने लगीं। इसी बीच वे तपस्वी मुनिश्रेष्ठ श्रीकण्ठके निकट स्नान करनेके लिये आये और उन्होंने पत्थरपर लिखे हुए अक्षरोंको देखा ॥ ५७-६० ॥

स दृष्ट्वा वाचयित्वा च तमर्थमधिगम्य च । मुहूर्तं ध्यानमास्थाय व्यजानाच्च तपोनिधिः ॥ ६१ ॥
ततः सम्पूज्य देवेशं त्वरया स ऋतध्वजः । अयोध्यामगमत् क्षिप्रं द्रष्टुमिक्ष्वाकुमीश्वरम् ॥ ६२ ॥
तं दृष्ट्वा नृपतिश्रेष्ठं तापसो वाक्यमब्रवीत् । श्रूयतां नरशार्दूल विज्ञप्तिर्मम पार्थिव ॥ ६३ ॥
मम पुत्रो गुणैर्युक्तः सर्वशास्त्रविशारदः । उद्‌बद्धः कपिना राजन् विषयान्ते तवैव हि ॥ ६४ ॥

उन्हें देख और पढ़कर तथा उनका अर्थ समझकर वे तपोनिधि एक क्षणमें ध्यान लगाकर (सब कुछ ठीक-ठीक) जान गये । उसके बाद महर्षि ऋतध्वज शीघ्रतासे देवेश्वरकी पूजाकर राजा इक्ष्वाकुका दर्शन करनेके लिये तुरत ही अयोध्या चले गये । श्रेष्ठ नरपतिका दर्शन करके तपस्वी ऋतध्वजने कहा—नरशार्दूल ! राजन् ! मेरी विज्ञप्ति (याचिका) सुनिये । राजन् ! आपके ही राज्यकी सीमामें एक बन्दरने सर्वशास्त्रोंमें निपुण, अच्छे गुणोंसे युक्त मेरे पुत्रको बाँध रखा है ॥ ६१–६४ ॥

स हि मोचयितुं नान्यः शक्तस्त्वत्तनयादृते । शकुनिर्नाम राजेन्द्र स ह्यस्त्रविधिपारगः ॥ ६५ ॥
तन्मुनेर्वाक्यमाकर्ण्य पिता मम कृशोदरि । आदिदेश प्रियं पुत्रं शकुनिं तापसान्वये ॥ ६६ ॥
ततः स प्रहितः पित्रा भ्राता मम महाभुजः । सम्प्राप्तो बन्धनोद्देशं सम हि परमर्षिणा ॥ ६७ ॥
दृष्ट्वा न्यग्रोधमत्युच्चं प्ररोहास्तृतदिङ्मुखम् । ददर्श वृक्षशिखरे उद्‌बद्धमृषिपुत्रकम् ॥ ६८ ॥

राजेन्द्र ! अस्त्र-विधिमें पारङ्गत आपके शकुनि नामक पुत्रके सिवाय दूसरा कोई उसे छुड़ा नहीं सकता । कृशोदरि ! मुनिके उस वचनको सुनकर मेरे पिताने अपने पुत्र (मेरे भाई) शकुनिको उन तपस्वीके पुत्रके (बन्धन छुड़ानेके) सम्बन्धमें उचित आदेश दिया । उसके बाद पिताके द्वारा भेजा गया वह शक्तिशाली मेरा भाई उन श्रेष्ठ ऋषिके साथ ही बन्धनके स्थानपर आया । चारों ओर बरोहोंसे ढके हुए अत्यन्त ऊँचे वटवृक्षको देखनेके बाद उसने वृक्षकी ऊँची चोटीपर बँधे हुए ऋषिके पुत्रको (बँधा हुआ) देखा ॥ ६५–६८ ॥

तांश्च सर्वाँल्लतापाशान् दृढबद्धान् स समन्ततः । दृष्ट्वा स मुनिपुत्रं तं स्वजटासंयतं वटे ॥ ६९ ॥
धनुरादाय बलवानधिज्यं स चकार ह । लाघवादृषिपुत्रं तं रक्षंश्चिच्छेद मार्गणैः ॥ ७० ॥
कपिना यद् कृतं सर्वं लतापाशं चतुर्दिशम् । पञ्चवर्षशते काले गते शक्त्या शरैः ॥ ७१ ॥
लताच्छन्नं ततस्तूर्णमारुरोह मुनिर्वटम् । प्राप्तः स्वपितरं दृष्ट्वा जाबालिः संयतोऽपि सन् ॥ ७२ ॥
आदरात् पितरं मूर्ध्ना ववन्दे सु विधानतः । सम्परिष्वज्य स मुनिर्मूर्ध्न्याघ्राय सुतं ततः ॥ ७३ ॥

(फिर) उसने (फैले हुए) उन समस्त लताजालोंको चारों ओरसे (अच्छी तरह) देखा एवं वटके पेड़में एवं अपनी जटाओंसे बँधे मुनिपुत्रको देखकर उस पराक्रमीने धनुष लेकर उसकी प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ायी एवं वह ऋषि-पुत्रकी रक्षा करते हुए निपुणतासे बाणोंद्वारा लताजालोंको काटने लगा । पाँच सौ वर्ष बीत जानेपर चारों ओर बन्दरके द्वारा बनाया गया लताजाल बाणोंसे जब काट दिया गया तब ऋषि ऋतध्वज लताओंसे ढके उस वटवृक्षपर शीघ्र चढ़ गये । जाबालिने अपने पिताको आया देखकर बँधे रहनेपर भी अत्यन्त आदरके साथ यथाविधि सिरसे (सिर झुकाकर) प्रणाम किया । उस मुनिने (पुत्रका) मस्तक सूँघकर उसको अच्छी तरह गले लगाया ॥ ६९–७३ ॥

उन्मोचयितुमारब्धो न शशाक सुसंयतम् । ततस्तूर्णं धनुर्न्यस्य बाणांश्च शकुनिर्बली ॥ ७४ ॥
आरुरोह वटं तूर्णं जटा मोचयितुं तदा । न च शक्नोति संच्छेत्तुं दृढं कपिवरेण हि ॥ ७५ ॥
यदा न शक्तिमांस्तेन सम्प्रमोचयितुं जटाः । तदाऽपर्णार्णं शकुनिः

उन्होंने उन दोनों कन्याओंको देखकर 'ये किसकी कन्याएँ हैं'—इस प्रकार सोचते विचारते हुए कालिन्दीके विमल जलमें प्रवेश किया । गालव ऋषिने स्नान करनेके बाद पवित्र होकर श्रीकण्ठ महादेवकी पूजा की । उसके बाद यक्ष और असुरकी दोनों कन्याओंने मधुर स्वरसे गीत गाया । तब (उनके) स्वरको सुनकर गालवने यह जान लिया कि ये दोनों निस्सन्देह गन्धर्वकी ही कन्याएँ हैं । गालवने विधिसे श्रीकण्ठदेवकी पूजा कर जप किया । उनके बाद दोनों कन्याओंसे अभिवन्दित होकर वे बैठ गये ॥ ५–८ ॥

ततः पप्रच्छ स मुनिः कन्यके कस्य कथ्यताम् । कुलालङ्कारकरणे भक्तियुक्ते भवस्य हि ॥ ९ ॥
तमूचतुर्मुनिश्रेष्ठं याथातथ्यं शुभानने । ज्ञातो विदितवृत्तान्तो गालवस्तपसां वरः ॥ १० ॥
समुष्य तत्र रजनीं ताभ्यां सम्पूजितो मुनिः । प्रातरुत्थाय गौरीशं सम्पूज्य च विधानतः ॥ ११ ॥
ते उपेत्याब्रवीद्यास्ये पुष्करारण्यमुत्तमम् । आमन्त्रयामि वां कन्ये समनुज्ञातुमर्हथ ॥ १२ ॥

उसके बाद उन मुनिने उन दोनों कन्याओंसे पूछा—कन्याओ ! तुम दोनों यह बतलाओ कि शङ्करमें भक्ति करनेवाली कुलकी शोभारूपा तुम दोनों किसकी कन्याएँ हो ? शुभानने ! उन दोनों कन्याओंने उन मुनिश्रेष्ठसे सत्य बातें बतलायीं । तब तपस्वियोंमें श्रेष्ठ गालवने सम्पूर्ण वृत्तान्त (पूर्णतः) जान लिया । उन दोनोंसे सत्कृत होकर मुनिने वहाँ रात्रिमें निवास किया और प्रातःकाल उठकर विधिपूर्वक गौरीपति शङ्करका पूजन किया । उसके बाद उन दोनोंके पास जाकर उन्होंने कहा—मैं परम उत्तम पुष्कर वनमें जाऊँगा । मैं तुम दोनोंसे अनुरोधकर विदा लेना चाहता हूँ । तुम दोनों मुझे अनुज्ञा (अनुमति) दो ॥ ९—१२ ॥

ततस्ते ऊचतुर्ब्रह्मन् दुर्लभं दर्शनं तव । किमर्थं पुष्करारण्यं भवान् यास्यत्यथादरात् ॥ १३ ॥
ते उवाच महातेजा महत्कार्यसमन्वितः । कार्तिकी पुण्यदा भाविमासान्ते पुष्करेषु हि ॥ १४ ॥
ते ऊचतुर्यत्र यामो भवान् यत्र गमिष्यति । न त्वया त्वं विना ब्रह्मन्निह स्थातु हि शक्नुवः ॥ १५ ॥
इत्युक्तः ऋषिश्रेष्ठस्ततो नत्वा महेश्वरम् । गते मे ऋषिणा सार्धं पुष्करारण्यमादरात् ॥ १६ ॥

उसके बाद उन दोनोंने कहा—ब्रह्मन् ! आपका दर्शन दुर्लभ है । किस कारण आप पुष्करारण्यमें जा रहे हैं । इसके बाद धार्मिक कृत्य करनेवाले महातेजस्वी (मुनि)ने उन दोनोंसे आदरपूर्वक कहा—आगे महीनेके अन्तमें पुष्करमें पुण्यदायिनी कार्तिकी पूर्णिमा होगी । उन दोनोंने कहा—(तो) आप जहाँ जायँगे, वहीं हम भी चलेंगी । ब्रह्मन् ! आपके बिना हम दोनों यहाँ नहीं रह सकतीं । ऋषिश्रेष्ठने कहा—ठीक है । उसके बाद आदरपूर्वक महेश्वरको प्रणामकर ऋषिके साथ वे दोनों (कन्याएँ) पुष्करारण्य चली गयीं ॥ १३–१६ ॥

तथाऽन्ये ऋषयस्तत्र समायाताः सहस्रशः । पार्थिवा जानपदाश्च मुक्त्वैकं तमृतध्वजम् ॥ १७ ॥
तत्र स्नाताश्च कार्तिक्यामृषयः पुष्करेष्वथ । राजानश्च महाभागा नाभागेक्ष्वाकुमुख्यकाः ॥ १८ ॥
गालवोऽपि समं ताभ्यां कन्यकाभ्यामथादरात् । स्नातुं स पुष्करे तीर्थे मध्यमे धनुराद्वती ॥ १९ ॥
निमज्जन्नपि ददृशे महामत्स्यं जलेशयम् । महाभिर्मत्स्यकन्याभिः प्रीयमाणं पुनः पुनः ॥ २० ॥

वहाँ केवल उन ऋतध्वजके सिवाय अन्य हजारों ऋषि, राजा एवं जनपद निवासी भी आये । उसके बाद ऋषियों एवं नाभाग तथा इक्ष्वाकु आदि महाभाग्यवान् राजाओंने कार्तिकी पूर्णिमाके दिन पुष्कर तीर्थमें स्नान किया । गालव भी उन दोनों कन्याओंके साथ आदरपूर्वक बहुतसे मध्यम पुष्करतीर्थमें स्नान करनेके लिये उतरे । (जलमें) निमग्न होनेपर उन्होंने देखा कि एक जलचर महामत्स्य जलमें स्थित है और अनेक मत्स्यकन्याएँ उसे पुनः पुनः प्रसन्न करनेमें लगी हुई हैं ॥ १७–२० ॥

स ताश्चाह तिमिर्मुग्धा यूयं धर्मं न जानथ। जनापवादं घोरं हि न शक्तः सोढुमुल्बणम् ॥ २१ ॥
तास्तमूचुर्महामत्स्य किं न पश्यसि गालवम्। तापसं कन्यकाभ्यां वै विचरन्तं यथेच्छया ॥ २२ ॥
यद्यसावपि धर्मात्मा न बिभेति तपोधनः। जनापवादात् तत्किं त्वं बिभेषि जलमध्यगः ॥ २३ ॥
ततस्ताश्चाह स तिमिर्नैव वेत्ति तपोधनः। रागान्धो नापि च भयं विजानाति सुबालिशः ॥ २४ ॥

उस मत्स्यने उन (मछलियों)से कहा—भोली प्रकृति होनेके कारण तुम सभी लोक-धर्म नहीं जानती हो। मैं जनताद्वारा किये जानेवाले कठोर अपवाद (निन्दा) सहन नहीं कर सकता। (तब) उन सभी-(मछलियों)ने कहा—क्या तुम स्वच्छन्दतासे विचरते हुए तपस्वी गालवको दो कन्याओंके साथ नहीं देख रहे हो ? यदि धर्मात्मा एवं तपस्वी होते हुए भी वे लोक-निन्दासे नहीं डरते तो जलमें रहनेवाले तुम क्यों डर रहे हो। उसके बाद उस तिमि-(मत्स्य)ने उनसे कहा—तपस्वी लोक-निन्दाको नहीं जानते एवं प्रेममें अन्धा होनेसे प्रचण्ड मूर्ख बनकर लोक-निन्दाके भयको भी नहीं समझते ॥ २१–२४ ॥

तच्छ्रुत्वा मत्स्यवचनं गालवो व्रीडया युतः। नोत्ततार निमग्नोऽपि तस्थौ स विजितेन्द्रियः ॥ २५ ॥
स्नात्वा ते अपि रम्भोरू समुत्तीर्य तटे स्थिते। प्रतीक्षन्त्यौ मुनिवरं तद्दर्शनसमुत्सुके ॥ २६ ॥
वृत्ता च पुष्करे यात्रा गता लोका यथागतम्। ऋषयः पार्थिवाश्चान्ये नाना जानपदास्तथा ॥ २७ ॥
तत्र स्थितैका सुदती विश्वकर्मतनूद्भवा। चित्राङ्गदा सुचार्वङ्गी वीक्षन्ती तनुमध्यमे ॥ २८ ॥

मत्स्यके उस वचनको सुनकर गालव लज्जित हो गये। (फिर तो) वे जितेन्द्रिय मुनि जलमें निमग्न होकर भी ऊपर नहीं आये, भीतर ही डूबे रहे। वे दोनों कदली-सदृश ऊरुवाली सुन्दरियाँ स्नान करनेके बाद जलसे बाहर निकलकर तीरपर खड़ी हो गयीं एवं मुनिश्रेष्ठका दर्शन करनेके लिये उत्कण्ठित होकर उनकी प्रतीक्षा करने लगीं। पुष्करकी यात्रा पूरी होनेपर सभी ऋषि, राजा और नगरवासी लोग जहाँसे आये थे, वहाँ चले गये। वहाँ केवल सुन्दर दाँतोंवाली एवं पतली सुन्दर शरीरवाली विश्वकर्माकी कन्या चित्राङ्गदा उन दोनों कृशोदरियों-(कन्याओं-)को देखती हुई रह गयी ॥ २५–२८ ॥

ते स्थिते चापि वीक्षन्त्यौ प्रतीक्षन्त्यौ च गालवम्। सस्थिते निर्जने तीर्थे गालवोऽन्तर्जले तथा ॥ २९ ॥
ततोऽभ्यागाद् वेदवती नाम्ना गन्धर्वकन्यका। पर्जन्यतनया साध्वी घृताचीगर्भसम्भवा ॥ ३० ॥
सा चाभ्येत्य जले पुण्ये स्नात्वा मध्यमपुष्करे। ददर्श कन्यात्रितयमुभयोस्तटयोः स्थितम् ॥ ३१ ॥
चित्राङ्गदामथाभ्येत्य पप्रच्छ स्निग्धसुस्वरम्। कासि केन च कार्येण निर्जने स्थितवत्यसि ॥ ३२ ॥

वे दोनों भी (उसे) देखती एवं गालवकी प्रतीक्षा करती हुई निर्जन तीर्थमें पड़ी रहीं और गालव जलके भीतर ही स्थित रहे। उसके बाद वेदवती नामकी गन्धर्व-कन्या वहाँ आयी। वह साध्वी घृताचीके गर्भसे उत्पन्न हुई थी एवं पर्जन्य नामक गन्धर्वकी पुत्री थी। उसने आकर मध्यम पुष्कर तीर्थके पवित्र जलमें स्नान किया और दोनों तटोंपर स्थित (उन) तीनों कन्याओंको देखा। इसके बाद चित्राङ्गदाके समीप जाकर उसने सरलतासे पूछा—तुम कौन हो ? और किस कार्यसे इस निर्जन स्थानमें स्थित हो ? ॥ ३०–३२ ॥

सा तामुवाच पुत्री मां विन्द्रस्व सुरवर्धकेः। चित्राङ्गदेति सुश्रोणि विख्याता विश्वकर्मणः ॥ ३३ ॥
साहमभ्यागता भद्रे स्नातुं पुण्यां सरस्वतीम्। नैमिषे काञ्चनाक्षीं तु विख्यातां धर्मवाहनाम् ॥ ३४ ॥
तत्रागतश्च राजाऽद दृष्ट्वा वैदर्भकेण हि। सुरथेन स कामार्तो मामेव शरणं गतः ॥ ३५ ॥
मयाप्यस्य दत्तश्च सखीभिर्वार्यमाणया। ततः शप्ताऽस्मि तातेन वियुक्तास्मि च भूभुजा ॥ ३६ ॥

उस-(चित्राङ्गदा) ने उस (वेदवती) से कहा—हे सुश्रोणि ! मुझे देवशिल्पी विश्वकर्माकी चित्राङ्गदा नामसे प्रसिद्ध पुत्री जानो । भद्रे ! मैं नैमिषमें धर्मकी जननी काञ्चनाक्षी नामसे प्रसिद्ध पवित्र सरस्वती नदीमें स्नान करने आयी थी । वहाँ आनेपर विदर्भवंशमें उत्पन्न राजा सुरथने मुझे देखा और कामपीड़ित होकर मेरी शरणमें आया । सखियोंके रोकनेपर भी मैंने उन्हें अपनेको समर्पित कर दिया । उसके बाद पिताजीने मुझे शाप दे दिया और मैं राजासे वियोगिनी हो गयी ॥ ३३–३६ ॥

मर्तुं कृतमतिर्भद्रे धारिता गुह्यकेन च । श्रीकण्ठमार्यं द्रष्टुं ततो गोदावरं जलम् ॥ ३७ ॥
तस्मादिमं समायाता तीर्थप्रवरमुत्तमम् । न चापि दृष्टः सुरथः स मनोह्लादनः पतिः ॥ ३८ ॥
भवती चात्र का बाले वृत्ते यात्राफलेऽधुना । समागता हि तच्छंस मम सत्येन भामिनि ॥ ३९ ॥
साब्रवीच्छ्रूयतां याऽस्मि मन्दभाग्या कृशोदरी । यथा यात्राफले वृत्ते समायाताऽस्मि पुष्करम् ॥ ४० ॥

भद्रे ! मैंने मरनेका विचार किया, परंतु गुह्यकने मुझे रोक दिया । उसके बाद मैं श्रीकण्ठभगवान्‌का दर्शन करनेके लिये गयी और वहाँसे गोदावर जलके निकट गयी, (और अब) वहाँसे मैं इस श्रेष्ठ उत्तम तीर्थमें आ गयी हूँ । किंतु मनको आनन्दित करनेवाले उन सुरथ पतिको मैंने नहीं देखा । बाले ! यात्राफलके समाप्त होनेपर (पर्वकी समाप्ति हो जानेपर) आज यहाँ आनेवाली आप कौन हैं ? भामिनि ! मुझे सच-सच बतलाओ । उसने कहा—कृशोदरि ! मैं मन्दभागिनी कौन हूँ तथा यात्राफलके समाप्त होनेपर पुष्करमें क्यों आयी हूँ, उसे सुनो ॥ ३७–४० ॥

पर्जन्यस्य घृताच्यां तु जाता वेदवतीति हि । रममाणा वनोद्देशे दृष्टाऽस्मि कपिना सखि ॥ ४१ ॥
स चाभ्येत्याब्रवीत् का त्वं यासि देववतीति हि । आनीताप्याश्रमात् येन भूपृष्ठा मेरुपर्वतम् ॥ ४२ ॥
ततो मयोक्तो नैवास्मि कपे देववतीत्यहम् । नाम्ना वेदवती येव मेरावपि कृताश्रया ॥ ४३ ॥
ततस्तेनातिदुष्टेन वानरेण ह्यभिद्रुता । समारूढास्मि सहसा बन्धुजीवं नगोत्तमम् ॥ ४४ ॥

मैं पर्जन्य नामक गन्धर्वकी पुत्री हूँ तथा घृताचीके गर्भसे उत्पन्न हुई हूँ । मेरा नाम वेदवती है । सखि ! वनप्रदेशमें भ्रमण कर रही मुझको एक बन्दरने देखा । उसने समीपमें आकर मुझसे कहा—तुम कौन हो ? कहाँ जा रही हो ? (निश्चय ही तुम) देववती हो । पृथ्वीपर रहनेवाले आश्रमसे मेरु पर्वतपर तुम्हें कौन लाया है ? इसपर मैंने कहा—कपे ! मैं देववती नहीं हूँ, मेरा नाम वेदवती है । मेरु पर्वतपर ही मैंने अपना आश्रम बना लिया है । उसके बाद अत्यन्त दुष्ट उस बन्दरसे खदेड़ी जाती हुई मैं बन्धुजीव (गुलदुपहरिया)के उत्तम वृक्षपर शीघ्रतासे चढ़ गयी ॥ ४१–४४ ॥

तेनापि वृक्षस्तरसा पादाग्रान्तस्त्वभज्यत । ततोऽस्य विपुलां शाखां समाश्रित्य स्थिता त्वहम् ॥ ४५ ॥
तत प्लवङ्गमो वृक्षं प्राक्षिपत् सागराम्भसि । सह तेनैव वृक्षेण पतिताऽस्म्यहमापुरा ॥ ४६ ॥
ततोऽम्बरतलाद् वृक्षं निपतन्तं दिदृक्षया । ददृशुः सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ४७ ॥
तदा चाहाकृतं लोकैर्मां पतन्तीं निरीक्ष्य हि । ऊचुश्च मिथुनचर्याः कष्टं सेयं महागतः ॥ ४८ ॥
इन्द्रद्युम्नस्य महिषी गदिता ब्रह्मणा स्वयम् । सता पुत्रस्य चाप्यस्य सदप्यनुगामिनः ॥ ४९ ॥

उसने शीघ्र ही पैरके आघातसे उस वृक्षको तोड़ दिया । उसके बाद मैं उस वृक्षकी एक बड़ी डालीको पकड़कर स्थित रही । फिर बन्दरने उस वृक्षको समुद्रके जलमें फेंक दिया । मैं अपने सहचर उस वृक्षके साथ ही जलमें गिर पड़ी । उसके बाद चर और अचर सभी प्राणियोंने आकाशसे गिरते हुए उ

उसके बाद उसीके साथ मुझको भी गिरती हुई देखकर सभी लोग हाहाकार करने लगे। सिद्ध और गन्धर्व कहने लगे—हाय! यह कष्टकी बात है। इसके सम्बन्धमें तो ब्रह्माने स्वयं कहा था कि यह कन्या सौ यज्ञोंका करनेवाले मनुके वीर पुत्र इन्द्रद्युम्नकी राजरानी होगी (पर यह क्या हो गया!) ॥ ४०–४९ ॥

ता वाणीं मधुरां श्रुत्वा मोहमस्म्यागता ततः। न च जाने स केनापि वृक्षश्छिन्नः सहस्रधा ॥ ५० ॥
ततोऽसि वेगाद् बलिना हुतानलसखेन हि। समानीतास्म्यहमिमं त्वद्दृष्टा चाद्य सुन्दरि ॥ ५१ ॥
तदुत्तिष्ठस्व गच्छाव पृच्छावः क इमे स्थिते। कन्यके अनुपदये हि पुष्करस्योत्तरे तटे ॥ ५२ ॥
एवमुक्त्वा वरारोहा सा तया सुतनुकन्यया। जगाम कन्यके द्रष्टुं प्रष्टुं कार्यसमुत्सुका ॥ ५३ ॥

उस मधुर वाणीको सुननेके बाद मुझे मूर्च्छा आ गयी। मैं यह नहीं जानती कि उस वृक्षको किसने सहस्रों टुकड़ोंमें काट डाला। उसके बाद अग्निके सखा बलवान् वायुने मुझे शीघ्रतासे यहाँ ला दिया है। सुन्दरि! तुमको आज मैंने यहाँ देखा है। इसलिये उठो, हम दोनों चलें, और फिर पूछें तथा देखें कि पुष्कर तीर्थके उत्तरी तटपर दिखायी देनेवाली ये दोनों कन्याएँ कौन हैं। ऐसा कहकर इस पर्वतके करमें उत्कण्ठित वह सुन्दरी उस सुन्दर तथा दुर्बल देहवाली कन्याके साथ उस पारकी दोनों कन्याओंको देखने तथा वस्तुस्थिति पूछनेके लिये वहाँ गयी ॥ ५०–५३ ॥

ततो गत्वा पर्यपृच्छद् ते ऊचतुरुभे अपि। याथातथ्यं तयोस्ताभ्यां स्वमात्मानं निवेदितम् ॥ ५४ ॥
ततस्ताश्चतुरोऽपि सप्तगोदावरं जलम्। सम्प्राप्य तीर्थे तिष्ठन्ति अर्चन्त्यो हाटकेश्वरम् ॥ ५५ ॥
ततो बहून् धर्मगणान् बभ्रुस्ते जनाश्रयः। तासामर्थाय शकुनिर्जाबालिः स कृतध्वजः ॥ ५६ ॥
भारवाही ततः खिन्नो वर्षसहस्रातिके गते। काले जगाम निर्वेदात् नगं विधाय तु शाकलम् ॥ ५७ ॥

उसके बाद वहाँ जाकर उसने उन दोनोंसे पूछा। उन दोनोंने अपनी सभी घटना उन दोनोंसे बतायी। उसके बाद चारों कन्याएँ सप्तगोदावर जलके समीप जाकर हाटकेश्वर भगवान्‌की पूजा करती हुई तीर्थमें रहने लगीं। इधर शकुनि, जाबालि और ऋतध्वज—ये तीनों व्यक्ति उन कन्याओंके लिये अनेक धर्मोंका धारण करते रहे। तब एक हजार वर्ष बीत जानेपर भार वहन करनेवाले (जाबालि) खिन्न होकर शिवके साथ शाकल नगरमें चले गये ॥ ५४–५७ ॥

तस्मिन्नृपतिः धीमानिन्द्रद्युम्नो मनोः सुतः। समभ्यास्ते स विज्ञाय सावधानो विनिर्ययौ ॥ ५८ ॥
सम्यक् सम्पूजितस्तेन जाबालिश्च ऋतध्वजः। स चेक्ष्वाकुसुतो धीमान् शकुनिश्चापि मोऽर्चितः ॥ ५९ ॥
ततो वाक्यं मुनिः प्राह इन्द्रद्युम्नं ऋतध्वजः। राजन् त्वदीयां अस्माकं नन्दयन्तीति विश्रुता ॥ ६० ॥
तदर्थं चैव वसुधा अस्माभिरटिता पुरा। तस्मादुत्तिष्ठ मार्गस्व साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ६१ ॥

वहाँ मनुके पुत्र श्रीमान् राजा इन्द्रद्युम्न निवास कर रहे थे। वे इस समाचारको जानकर सावधान होकर उनके लिये बाहर निकले। उन्होंने विधिपूर्वक सुन्दर रीतिसे जाबालि और ऋतध्वजकी पूजा की तथा उन इक्ष्वाकुनन्दन बुद्धिमान् मन्त्रीने शकुनिकी भी अर्चना की। उसके बाद ऋतध्वज मुनि इन्द्रद्युम्नसे बोले— राजन्! हमलोगोंकी नन्दयन्ती नामसे प्रसिद्ध (अपनी) कन्या खो गयी है। राजन्! उसके लिये हमलोगोंने सारी पृथ्वीपर भ्रमण किया है। इसलिये (कृपया) उठिये पता लगाइये और हमारी सहायता कीजिये ॥ ५८–६१ ॥

ममाप्यद्य सुता ब्रह्मन् ममापि कन्योत्तमा । नष्टा कृतश्रमस्यापि कस्मात् कथयामि ताम् ॥ ६२ ॥
आकाशात् पर्वताकारं पतमानो नगोत्तमः । सिद्धानां वाक्यमाकर्ण्य बाणैश्छिन्नः सहस्रधा ॥ ६३ ॥
न चैव सा वरारोहा विभिन्ना लाघवान्मया । न च जानामि सा कुत्र तस्माद् गच्छामि मार्गितुम् ॥ ६४ ॥
इत्येवमुक्त्वा स नृपः समुत्थाय त्वरान्वितः । स्यन्दनानि द्विजाभ्यां स भ्रातृपुत्राय चार्पयत् ॥ ६५ ॥

इसके बाद राजाने कहा—ब्रह्मन्! मेरी भी एक उत्तम लड़की कन्या खो गयी है। उसे ढूँढनेमें मैं परिश्रम कर चुका हूँ। उसके विषयमें मैं किससे कहूँ। सिद्धोंका वचन सुनकर आकाशसे नीचे गिरनेवाले पर्वतके समान श्रेष्ठ वृक्षको मैंने बाणोंसे हजारों टुकड़ोंमें काट डाला। मेरे हस्तकौशलसे उस सुन्दरी कन्याको चोट नहीं लगा। मैं नहीं जानता हूँ कि वह कहाँ है? अतः उसे ढूँढनेके लिये मैं (भी) चल रहा हूँ। ऐसा कहनेके बाद वे राजा शीघ्रतासे उठे। उन्होंने उन दोनों ब्राह्मणों तथा अपने भतीजेके लिये रथ दे दिये ॥ ६२–६५ ॥

तेऽधिरुह्य रथांस्तूर्णं मार्गन्ते वसुधां क्रमात् । बदर्याश्रममासाद्य ददृशुस्तपसां निधिम् ॥ ६६ ॥
तपसा कर्शितं दीनं मलपङ्कजटाधरम् । निःश्वासायासपरमं प्रथमे वयसि स्थितम् ॥ ६७ ॥
तमुपेत्याब्रवीद् राजा इन्द्रद्युम्नो महाभुजः । तपस्विन् यौवने घोरमास्थितोऽसि सुदुष्करम् ॥ ६८ ॥
तपः किमर्थं तच्छंस किमभिप्रेतमुच्यताम् । सोऽब्रवीत् को भवान् ब्रूहि ममात्मानं स्पृहया ॥ ६९ ॥
परिपृच्छसि शोकार्तं परिखिन्नं तपोन्वितम् । स प्राह राजाऽस्मि विभो तपस्विन् शाकले पुरे ॥ ७० ॥
मनोः पुत्रः प्रियो भ्राता इक्ष्वाकोः कथितस्तव । स चास्मै पूर्वचरितं सर्वं कथितवान् नृप ॥ ७१ ॥

वे रथोंपर चढ़कर शीघ्रतासे क्रमशः पृथ्वीपर खोज करने लगे। (इस क्रममें) उन लोगोंने बदरिकाश्रममें जाकर तपस्या करनेसे दुबले और धूल-मिट्टीसे भरे, जटा धारण किये हुए, जोर जोरसे साँस ले रहे एक तपोमूर्ति युवकको देखा। महाबाहु राजा इन्द्रद्युम्नने उसके पास जाकर कहा—तपस्विन्! यह बतलाओ कि युवा अवस्थामें ही तुम अत्यन्त दुष्कर कठोर तप क्यों कर रहे हो? यह भी बतलाओ कि तुम्हारी अभिलाषा क्या है? उसने कहा—आप मुझसे यह बतलायें कि चिन्तासे ग्रस्त अत्यन्त दुःखी एवं तपस्यासे युक्त मुझसे प्रेमपूर्वक पूछनेवाले आप कौन हैं? उसने कहा—तपस्विन्! विभो! मैं मनुका पुत्र एवं इक्ष्वाकुका प्रिय भाई शाकलपुरका राजा हूँ। मैंने अपना परिचय कह दिया। उस राजाने भी उनसे पहलेकी सारी कथा कह सुनायी ॥ ६६–७१ ॥

श्रुत्वा प्रोवाच राजर्षिर्मा मुञ्चस्व कलेवरम् । आगच्छ यामि तन्वङ्गीं विचेतुं भ्रातृजोऽसि मे ॥ ७२ ॥
इत्युक्त्वा सम्परिष्वज्य नृपो धमनिसंततम् । समारोप्य रथं तूर्णं तापसाभ्यां न्यवेदयत् ॥ ७३ ॥
ऋतध्वजः सपुत्रस्तु तं दृष्ट्वा पृथिवीपतिम् । प्रोवाच राजन्नेतेऽद्य करिष्यामि तव प्रियम् ॥ ७४ ॥
या सौ चित्राङ्गदा नाम त्वया दृष्टा हि नैमिषे । सप्तगोदावरे तीर्थे सा मयैव विसर्जिता ॥ ७५ ॥

(ऊपर कही बातोंको) सुनकर राजर्षिने कहा—तुम अपने शरीरका त्याग मत करो। तुम मेरे भतीजे हो। आओ, मैं उस सुन्दरीकी खोज करने जा रहा हूँ। इतना कहकर उन्होंने उसे नसोंसे भरे हुए शरीरको गले लगाया और उन्हें रथपर चढ़ाकर शीघ्र उन दोनों तपस्वियोंके पास पहुँचा दिया। पुत्रसहित ऋतध्वजने उन राजाको देखकर कहा—राजन्! डरिये! डरिये! मैं आपका प्रिय कार्य करूँगा। आपने नैमिषारण्यमें जिस चित्राङ्गदाको देखा था, उसे मैंने ही सप्तगोदावर तीर्थमें छोड़ दिया था ॥ ७२–७५ ॥

तदागच्छाथ गच्छाम सौदेवस्यैव कारणात्। तत्रासाकं समेष्यन्ति कन्यास्तिस्रस्तथापराः ॥ ७६ ॥
इत्येवमुक्त्वा स ऋषिं समाश्वास्य सुदेवजम्। शकुनिं पुरतः कृत्वा सेन्द्रद्युम्नः सपुत्रकः ॥ ७७ ॥
स्यन्दनेनाश्वयुक्तेन गन्तुं समुपचक्रमे। सप्तगोदावरं तीर्थं यत्र ताः कन्यका गताः ॥ ७८ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तन्वी घृताची शोकसंयुता। विचचारोदयगिरिं विचिन्वन्ती सुतां निजाम् ॥ ७९ ॥

तो आइये, हमलोग सुदेवके पुत्रके कार्यसे ही वहाँ चलें। वहाँपर हमलोगोंको अन्य तीन कन्याएँ भी मिलेंगी। इस प्रकार कहकर उन्होंने ऋषि सुदेवके पुत्रको सान्त्वना दे करके एवं शकुनिको आगे कर इन्द्रद्युम्न और पुत्रके साथ घोड़े जुते रथसे सप्तगोदावर तीर्थमें जानेकी योजना बनायी—जहाँ वे कन्याएँ गयी थीं। इस बीच दुर्बलाङ्गी घृताची शोकसे चिन्तित होकर अपनी कन्याको ढूँढ़ती हुई उदयगिरिपर विचरण करने लगी ॥ ७६–७९ ॥

समासाद च कपिं पर्यपृच्छत् तथाप्सराः। किं बाला न त्वया दृष्टा कथं सत्यं वदस्व माम् ॥ ८० ॥
तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा स कपिः प्राह बालिकाम्। दृष्टा देववती नाम्ना मया न्यस्ता महाश्रमे ॥ ८१ ॥
कालिन्द्या विमले तीर्थे मृगपक्षिसमन्विते। श्रीकण्ठायतनस्याग्रे मया सत्यं तवोदितम् ॥ ८२ ॥
सा प्राह वानरपते नाम्ना वेदवतीति सा। न हि देववती ख्याता तत्रागच्छ व्रजावहे ॥ ८३ ॥

वहाँ घृताची अप्सराको वह बन्दर मिल गया। घृताची अप्सराने उससे पूछा—कपे! मुझसे सच कहो कि क्या तुमने लड़कीको नहीं देखा है? उसके वचनको सुनकर उस कपिने कहा—मैंने देववती नामकी बालिकाको देखा है और उसे मृगों तथा पक्षियोंसे भरे कालिन्दीके विमल तीर्थमें श्रीकण्ठके मन्दिरके सामने स्थित महाश्रममें रख दिया है। मैंने तुमसे यह सत्य बात कही है। उस-(घृताची)ने कहा—कपिराज! वह वेदवती नामसे विख्यात है, वह देववती नहीं है। तो आओ, हम दोनों वहाँ चलें ॥ ८०–८३ ॥

घृताच्यास्तद्वचः श्रुत्वा वानरस्त्वरितक्रमः। पृष्ठतोऽस्याः समागच्छन्नदीमन्वेव कौशिकीम् ॥ ८४ ॥
ते चापि कौशिकीं प्राप्ता राजर्षिप्रवरास्त्रयः। द्वितयं तापसाभ्यां च रथैः परमवेगिभिः ॥ ८५ ॥
अवतीर्य रथेभ्यस्ते स्नातुमभ्यागमन् नदीम्। घृताच्यपि नदीं स्नातुं सुपुण्यामाजगाम ह ॥ ८६ ॥
तामन्वेव कपिः प्रायाद् दृष्टो जाबालिना तथा। दृष्ट्वैव पितरं प्राह पार्थिवं च महाबलम् ॥ ८७ ॥

घृताचीकी उस बातको सुनकर बन्दर शीघ्रतासे पग बढ़ाता हुआ उसके पीछे-पीछे कौशिकी नदीकी ओर चला। वे तीनों श्रेष्ठ राजर्षि भी दोनों तपस्वियों- (जाबालि और ऋतध्वज)के साथ बहुत तेज चलनेवाले रथोंपर चढ़कर कौशिकी नदीके समीप पहुँचे। वे लोग रथसे उतरकर स्नान करनेके लिये नदीके निकट आये। घृताची भी उस परम पवित्र नदीमें स्नान करने आयी। बन्दर भी उनके पीछे ही आ गया। जाबालिने उसे देख। देखते ही उन्होंने पिता एवं महाबलशाली राजासे कहा— ॥ ८४–८७ ॥

स एव पुनरायाति वानरस्तात वेगवान्। पूर्वं अहमस्येव बलाचेन बद्धोऽस्मि पादपे ॥ ८८ ॥
तज्जाबालिवचः श्रुत्वा शकुनिः क्रोधमूर्च्छितः। ससार धनुरादाय इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८९ ॥
अनन् प्रदीयतां मह्यमाज्ञा तात वदस्व माम्। यावदेनं निहन्म्यद्य शरेणैकेन वानरम् ॥ ९० ॥
इत्येवमुक्ते वचने सत्यमूनदिते रताः। महर्षिः शकुनिं प्राह हेतुयुक्तं वचो महत् ॥ ९१ ॥

तात! यह वही बन्दर फिर तेजीसे (यहाँ) आ रहा है, जिसने पहले मुझे जबरदस्ती बरगदके बड़े पेड़में बाँध दिया था। जाबालिके उस वचनको सुनकर क्रोधसे कुपित हुए शकुनिने बाणसहित धनुषको लेकर यह वचन कहा—भ्रातः! मुझे आज्ञा दीजिये, तात! मुझसे कहिये, मैं एक बाणसे ही इस

बन्दरको मार डालूँ । ऐसा कहनेपर समस्त प्राणियोंकी भलाईमें लगे रहनेवाले महर्षिने शकुनिसे अत्यन्त युक्तियुक्त वचन कहा— ॥ ८८–९१ ॥

न कश्चित्तात केनापि बध्यते हन्यतेऽपि वा । वधबन्धौ पूर्वकर्मवशगौ नृपतिनन्दन ॥ ९२ ॥
इत्येवमुक्त्वा शकुनिमृषिर्वानरमब्रवीत् । एह्येहि वानरास्माकं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ९३ ॥
इत्येवमुक्तो मुनिना बाले स कपिकुञ्जरः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा प्रणिपत्येदमब्रवीत् । ममाज्ञा दीयतां ब्रह्मन् शाधि किं करवाण्यहम् ॥ ९४ ॥
इत्युक्ते प्राह स मुनिस्तं वानरपतिं वचः । मम पुत्रस्त्वयोद्बद्धो जटासु वटपादपे ॥ ९५ ॥

तात ! (वस्तुतः) न तो किसीको कोई बाँधता है और न मारता ही है । नृपतिनन्दन ! वध और बन्धन पूर्वजन्ममें किये गये कर्मोंके फलाधीन होते हैं । शकुनिसे इस प्रकार कहकर मुनिने बन्दरसे कहा—बन्दर ! आओ, आओ ! तुम्हें हमलोगोंकी सहायता करनी चाहिये । बाले ! मुनिके ऐसा कहनेपर उस श्रेष्ठ कपिने करबद्ध प्रणाम करते हुए यह कहा—ब्रह्मन् ! मुझे आज्ञा दीजिये, मुझे निर्देश दीजिये कि मैं क्या करूँ ? उसके ऐसा कहनेपर मुनिने उस कपिपतिसे यह वचन कहा—तुमने मेरे पुत्रको बड़के पेड़में जटाओंसे बाँध रखा था ॥ ९२–९५ ॥

न चोन्मोचयितुं वृक्षाच्छक्नुयामोऽपि यत्नतः । तद्बनेन नरेन्द्रेण त्रिधा कृत्वा तु शाखिनः ॥ ९६ ॥
शाखां वहति मत्सूनुः शिरसा तां विमोचय । दशवर्षशतान्यस्य शाखां वै वहतोऽगमन् ॥ ९७ ॥
न च सोऽस्ति पुमान् कश्चिद् यो ह्युन्मोचयितुं क्षमः । स ऋषेर्वाक्यमाकर्ण्य कपिर्जाबालिनो जटाः ॥ ९८ ॥
शनैरुन्मोचयामास क्षणादुन्मोचिताश्च ताः । ततः प्रीतो मुनिश्रेष्ठो वरदोऽभूत्तपोधनः ॥ ९९ ॥

विशेष यत्न करनेपर भी हमलोग उस पेड़से इसको उन्मुक्त (अलग) नहीं कर सके । इसलिये इस राजाने उस वृक्षके तीन टुकड़े कर दिये । मेरा पुत्र आजतक सिरपर उसकी डालीको ढो रहा है । अब तुम उसे उन्मुक्त कर दो । इस डालीको ढोते हुए उसको एक हजार वर्ष बीत गये हैं । ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो इसे छुड़ानेमें समर्थ हो । उस बन्दरने ऋषिकी बात सुनकर जाबालिकी जटाओंको धीरे-धीरे खोल दिया । वे जटाएँ क्षणभरमें ही खुल गयीं । उसके बाद प्रसन्न होकर मुनिश्रेष्ठ ऋतध्वज वर देनेके लिये तैयार हो गये ॥ ९६–९९ ॥

कपिं प्राह वृणीष्व त्वं वरं यन्मनसेप्सितम् । ऋतध्वजवचः श्रुत्वा इमं वरमयाचत ॥ १०० ॥
विश्वकर्मा महातेजाः कपित्वे प्रतिसंस्थितः । ब्रह्मन् भवान् वरं मह्यं यदि दातुमिहेच्छसि ॥ १०१ ॥
तास्मद्दत्तो महाघोरो मम शापो निवर्त्यताम् । चित्राङ्गदायाः पितरं मां त्वं विद्धि तपोधन ॥ १०२ ॥
अभिजानीहि भवतः शापाद्वानरतां गतम् । कुर्वन्ति च पापानि मया यानि कृतानि हि ॥ १०३ ॥
कपिचापल्यदोषेण तानि मे यान्तु संक्षयम् । ततो ऋतध्वजः प्राह शापस्यान्तो भविष्यति ॥ १०४ ॥
यदा घृताच्यां तनयं जनिष्यसि महाबलम् । इत्येवमुक्तः संहृष्टः स तदा कपिकुञ्जरः ॥ १०५ ॥

(फिर) उन्होंने बन्दरसे कहा—तुम अपना मनोभिलषित वर माँगो । ऋतध्वजकी बात सुनकर कपि-योनिमें स्थित महातेजस्वी विश्वकर्माने यह वर माँगा—ब्रह्मन् ! यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो मुझे दिये गये अपने महाघोर शापका निवारण कर दें । तपोधन ! चित्राङ्गदाके पिता मुझ विश्वकर्माको आप पहचान लें । आपके शापसे (ही) मैं बन्दर हो गया हूँ । कपिकी (स्वाभाविक) चञ्चलताके कारण

मैंने जिन बहुत-से पापोंको किया है, वे सभी नष्ट हो जायँ। उसके बाद भगवानने कहा—जब तुम इससे महाबलवान् पुत्र उत्पन्न करोगे तब शापका अन्त होगा। तब ऐसा कहनेपर वह कपिश्रेष्ठ अदृश्य हो गया ॥ १००—१०५ ॥

स्नातुं तूर्णं महानद्यामवतीर्णं कृशोदरि। ततस्तु सर्वं क्रमशः स्नात्वाऽभ्यर्च्य पितृदेवताः ॥ १०६ ॥
जग्मुर्हृष्टा रथेभ्यस्ते घृताची दिवमुत्पतत्। तामन्वेव महावेगः स कपिः प्लवतां वरः ॥ १०७ ॥
ददृशे रूपसम्पन्नां घृताचीं स प्लवङ्गमः। सापि तं वलिनां श्रेष्ठं दृष्ट्वैव कपिकुञ्जरम् ॥ १०८ ॥
ज्ञात्वाऽथ विश्वकर्माणं कामयामास कामिनी। ततोऽनुपर्वतश्रेष्ठे ख्याते कोलाहले कपिः ॥ १०९ ॥
रमयामास तां तन्वीं सा च तं वानरोत्तमम्। एवं रमन्तौ सुचिरं सम्प्राप्तौ विन्ध्यपर्वतम् ॥ ११० ॥

कृशोदरि! वह शीघ्र ही महानदीमें स्नान करनेके लिये उतरा। उसके बाद वे सब क्रमशः स्नानकर पितरों और देवोंका तर्पण-अर्चन कर रथसे चले गये एवं घृताची स्वर्गमें उड़ गयी। महावेगशाली श्रेष्ठ कपिने भी उसका अनुसरण किया। उस बन्दरने रूपसे सम्पन्न घृताचीको देखा। उस कामिनी (घृताची)ने भी बलवानोंमें श्रेष्ठ उत्तम कपिको देखकर एवं उसे विश्वकर्मा जानकर उसकी कामना की। उसके बाद कोलाहल नामसे विख्यात श्रेष्ठ पर्वतपर उस बन्दरने घृताचीके साथ एवं घृताचीने उस श्रेष्ठ बन्दरके साथ आनन्द-क्रीडा की। इस प्रकार बहुत दिनोंतक क्रीडा करते हुए वे दोनों विन्ध्यपर्वतपर पहुँचे ॥१०६—११० ॥

रथैः पञ्चापि तत्तीर्थं सम्प्राप्तास्ते नरोत्तमाः। मध्याह्नसमये प्रीताः सप्तगोदावरं जलम् ॥ १११ ॥
प्राप्य विश्रामहेत्वर्थमवतेरुस्त्वरान्विताः। तथा सारथयश्चाश्वान् स्नात्वा पीतोदकान्युतान् ॥ ११२ ॥
रमणाय वनोद्देशे प्रचारार्थं समुत्सृजन्। शाद्वलाढ्येषु देशेषु मुहूर्तादेव वाजिनः ॥ ११३ ॥
तृप्ताः समाद्रवन् सर्वे देवायतनमुत्तमम्। तुरङ्गखुरनिर्घोषं श्रुत्वा ता योषितो वराः ॥ ११४ ॥
किमेतदिति चोक्त्वैव प्रजग्मुर्हाटकेश्वरम्। आरुह्य वलभीं तास्तु समुदैक्षन्त सत्वराः ॥ ११५ ॥

वे पाँचों श्रेष्ठ व्यक्ति भी उत्कण्ठित होकर रथद्वारा दोपहरके समय सप्तगोदावर जलवाले उस तीर्थमें पहुँचे। वहाँ जाकर वे विश्राम करनेके लिये शीघ्रतासे नीचे उतरे। उनके सारथियोंने भी स्नान किया एवं घोड़ोंको नहलाकर तथा पानी पिलाकर (उन्हें) सुन्दर वनप्रदेशमें विचरण करनेके लिये छोड़ दिया। मुहूर्तभरमें ही हरियालीसे हरे-भरे स्थानमें वे घोड़े तृप्त हो गये। उसके बाद वे सभी (घोड़े) उत्तम देवमन्दिरकी ओर दौड़ने लगे। घोड़ोंके टापका शब्द सुनकर श्रेष्ठ स्त्रियाँ 'यह क्या है' ऐसा कहकर हाटकेश्वर (के मन्दिरके) वलभी पर ऊपर चढ़कर सबै ओर देखने लगीं ॥ १११—११५ ॥

सप्तगङ्गतीर्थसलिले स्नायमानान् नरोत्तमान्।
[illegible] जटामण्डलधारिणम्। सुरूपं दमनं प्राह संवादपुलका सखाम् ॥ ११६ ॥
[illegible] योऽसौ युवा गौरवर्णमकरा सदृश्यते दीर्घभुजः सुरूपः।
[illegible] स एव नूनं गन्धेश्वर मूर्तो मया पूर्णवरः पतिर्मे ॥ ११७ ॥
यदृच्छैव आमूलदत्तुल्यवर्णः देवो जटाभारमधारयिष्यत्।
स एव नूनं सहसा परिहो शृङ्गधन्यो नाथ धिगस्तमस्मि ॥ ११८ ॥
[illegible] मार्तण्डनम्। यतोऽयतोऽस्यैव सुतो आवासिनाद [illegible] ॥ ११९ ॥
[illegible] ॥ १२० ॥

उन कन्याओंने तीर्थके जलमें स्नान करते हुए उन श्रेष्ठ पुरुषोंको देखा। फिर चित्राङ्गदाने जटा मण्डल धारण करनेवाले नृपति सुरथको देखा। रोमाञ्चित होकर उसने हँसती हुई सखीसे कहा—नीले मेघके समान वर्ण तथा लम्बी भुजाओंवाला यह जो सुन्दर युवा पुरुष दिखलायी पड़ रहा है, निश्चय ही पहले (जन्ममें) मैंने उसी राजपुत्रको पतिरूपसे वरण किया था। इसमें कुछ विचारनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वर्णके समान वर्णवाले जो व्यक्ति श्वेत जटाभारको धारण किये हुए हैं वे निश्चय ही तपस्वियोंमें श्रेष्ठ ऋतध्वज ही हैं (इसमें शङ्का नहीं है)। उसके बाद वेदवतीने सखियोंसे हर्षित होकर कहा—यह दूसरा व्यक्ति निस्सन्देह इन्हीं ऋतध्वजके पुत्र जाबालि हैं। इस प्रकार कहकर वे सभी उससे उतरीं एवं शङ्करके सामने बैठकर कल्याण करनेवाले गीतका गान करने (स्तुति करने) लगीं—॥ ११६–१२० ॥

नमोऽस्तु शर्व शम्भो त्रिनेत्र चारुगात्र त्रैलोक्यनाथ उमापते दक्षयज्ञविध्वंसकर कामाङ्गनाशन घोर पापप्रणाशन महापुरुष महोग्रमूर्ते सर्वसत्त्वक्षयकर शुभङ्कर महेश्वर त्रिशूलधारिन् स्मरारे गुहावासिन् दिग्वास महाशङ्खशेखर जटाधर कपालमालाविभूषितशरीर वामचक्षु वामदेवप्रजाध्यक्ष भगाक्ष्णोः क्षयङ्कर भीमसेन महासेननाथ पशुपते कामाङ्गदहन चत्वरवासिन् शिव महादेव ईशान शङ्कर भीम भव वृषभध्वज जटिल प्रौढ महानाट्येश्वर भूरिरत्न अविमुक्तक रुद्र रुद्रेश्वर स्थाणो एकलिङ्ग कालिन्दीप्रिय श्रीकण्ठ नीलकण्ठ अपराजित रिपुभयङ्कर सन्तोषपते वामदेव अघोर तत्पुरुष महाघोर अघोरमूर्ते शान्त सरस्वतीकान्त कीनाट सहस्रमूर्ते महोद्भव विभो कालाग्निरुद्र रुद्र हर महीधरप्रिय सर्वतीर्थाधिवास हंस कामेश्वर केदाराधिपते परिपूर्ण मुचुकुन्द मधुनिवासिन् कृपाणपाणे भयङ्कर विद्याराज सोमराज कामराज रक्षक अञ्जनराजकन्याहृदयवसते समुद्रशायिन् गजमुख घण्टेश्वर गोकर्ण ब्रह्मयोने सहस्रवक्त्राक्षिचरण हाटकेश्वर नमोऽस्तु ते ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता सर्वे पर्वतपार्थिवा। द्रष्टुं त्रैलोक्यकर्तारं त्र्यम्बकं हाटकेश्वरम् ॥१२१॥

हे शर्व! हे शम्भो! हे तीन नेत्रवाले! हे सुन्दर गात्रवाले! हे तीनों लोकोंके स्वामिन्! हे उमापते! हे दक्ष यज्ञको विध्वस्त करनेवाले! हे कामदेवके नाश करनेवाले! हे घोर! हे पापके नष्ट करनेवाले! हे महापुरुष! हे भयङ्कर मूर्तिवाले! हे सम्पूर्ण प्राणियोंके क्षय करनेवाले! हे शुभ करनेवाले! हे महेश्वर! हे त्रिशूलधारिन्! हे कामशत्रो! हे गुफामें रहनेवाले! हे दिगम्बर! हे महाशङ्खके शिरोभूषणवाले! हे जटाधर! हे कपालमालासे विभूषित शरीरवाले! हे वामचक्षु! हे वामदेव! हे प्रजाध्यक्ष! हे भगाक्षिके क्षयकारिन्! हे भीमसेन! हे महासेनानाथ! हे पशुपते! हे कामदेवके जलानेवाले! हे चत्वरवासिन् (चबूतरेपर वास करनेवाले)! हे शिव! हे महादेव! हे ईशान! हे शङ्कर! हे भीम! हे भव! हे वृषभध्वज! हे जटिल! हे प्रौढ! हे महानाट्यके ईश्वर! हे भूरिरत्न (रत्नराशि)! हे अविमुक्तक! हे रुद्र! हे रुद्रेश्वर! हे स्थाणो! हे एकलिङ्ग! हे कालिन्दीप्रिय! हे श्रीकण्ठ! हे नीलकण्ठ! हे अपराजित! हे रिपुभयङ्कर! हे सन्तोषपते! हे वामदेव! हे अघोर! हे तत्पुरुष! हे महाघोर! हे अघोरमूर्ते! हे शान्त! हे सरस्वतीकान्त! हे कीनाट! हे सहस्रमूर्ते! हे महोद्भव! हे विभो! हे कालाग्निरुद्र! हे रुद्र! हे हर! हे महीधरप्रिय! हे सर्वतीर्थनिवास! हे हंस! हे कामेश्वर! हे केदाराधिपते! हे परिपूर्ण! हे मुचुकुन्द! हे मधुनिवासिन्! हे कृपाणपाणे! हे भयङ्कर! हे विद्याराज! हे सोमराज! हे कामराज! हे रक्षक! हे अञ्जनराजकन्या (काली)के हृदयमें सदा रहनेवाले! हे समुद्रशायिन्! हे गजमुख! हे घण्टेश्वर! हे गोकर्ण! हे ब्रह्मयोने! हे हजार मुख, आँख एवं चरणवाले! हे हाटकेश्वर! आपको नमस्कार है।

उन कन्याओंने तीर्थके जलमें स्नान करते हुए उन श्रेष्ठ पुरुषोंको देखा। फिर चित्राङ्गदाने जटा-मण्डल धारण करनेवाले नृपति मुख्यको देखा। रोमाञ्चित होकर उसने हँसती हुई सखीसे कहा—नीले मेघके समान वर्ण तथा लम्बी भुजाओंवाला यह जो सुन्दर युवा पुरुष दिखलायी पड़ रहा है, निश्चय ही पहले (जन्ममें) मैंने उसी राजपुत्रको पतिरूपसे वरण किया था। इसमें कुछ विचारनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वर्णके समान वर्णवाले जो व्यक्ति श्वेत जटाभारको धारण किये हुए हैं वे निश्चय ही तपस्वियोंमें श्रेष्ठ ऋतध्वज ही हैं (इसमें शङ्का नहीं है)। उसके बाद नन्दयन्तीने सखियोंसे हर्षित होकर कहा—यह दूसरा व्यक्ति निस्सन्देह इन्हीं ऋतध्वजके पुत्र जाबालि हैं। इस प्रकार कहकर वे सभी जलसे उतरीं एवं शङ्करके सामने बैठकर कल्याण करनेवाले गीतका गान करने (स्तुति करने) लगीं—॥ ११६–१२० ॥

नमोऽस्तु शर्व शम्भो त्रिनेत्र चारुगात्र त्रैलोक्यनाथ उमापते दक्षयज्ञविध्वंसकर कामाङ्गनाशन घोर पापप्रणाशन महापुरुष महोग्रमूर्ते सर्वसत्त्वक्षयंकर शुभङ्कर महेश्वर त्रिशूलधारिन् स्मरारे गुहावासिन् दिग्वास महाशङ्खशेखर जटाधर कपालमालाविभूषितशरीर वामचक्षु वामदेवप्रजाध्यक्ष भगाक्ष्णोः क्षयङ्कर भीमसेन महासेननाथ पशुपते कामाङ्गदहन चत्वरवासिन् शिव महादेव ईशान शङ्कर भीम भव वृषभध्वज जटिल प्रौढ महानाट्येश्वर भूरिरत्न अविमुक्तक रुद्र रुद्रेश्वर स्थाणो एकलिङ्ग कालिन्दीप्रिय श्रीकण्ठ नीलकण्ठ अपराजित रिपुभयङ्कर सन्तोषपते वामदेव अघोर तत्पुरुष महाघोर अघोरमूर्ते शान्त सरस्वती कान्त कीनाट सहस्रमूर्ते महोद्भव विभो कालाग्निरुद्र रुद्र हर महीधरप्रिय सर्वतीर्थाधिवास हंस कामेश्वर केदाराधिपते परिपूर्ण मुचुकुन्द मधुनिवासिन् कृपाणपाणे भयङ्कर विद्याराज सोमराज कामराज रञ्जक अञ्जनराजकन्याहृदयचलवसते समुद्रशायिन् गजमुख घण्टेश्वर गोकर्ण ब्रह्मयोने सहस्रवक्त्राक्षिचरण हाटकेश्वर नमोऽस्तु ते ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता सर्व पर्वतपार्थिवा। द्रष्टुं त्रैलोक्यकर्तारं त्र्यम्बकं हाटकेश्वरम् ॥१२१॥

हे शर्व! हे शम्भो! हे तीन नेत्रवाले! हे सुन्दर गात्रवाले! हे तीनों लोकोंके स्वामिन्! हे उमापते! हे दक्ष यज्ञको विध्वस्त करनेवाले! हे कामदेवके नाश करनेवाले! हे घोर! हे पापके नष्ट करनेवाले! हे महापुरुष! हे भयङ्कर मूर्तिवाले! हे सम्पूर्ण प्राणियोंके क्षय करनेवाले! हे शुभ करनेवाले! हे महेश्वर! हे त्रिशूलधारिन्! हे कामशत्रो! हे गुफामें रहनेवाले! हे दिगम्बर! हे महाशङ्खके शिरोभूषणवाले! हे जटाधर! हे कपालमालासे विभूषित शरीरवाले! हे वामचक्षु! हे वामदेव! हे प्रजाध्यक्ष! हे भगाक्षिके क्षयकारिन्! हे भीमसेन! हे महासेनानाथ! हे पशुपते! हे कामदेवके जलानेवाले! हे चत्वरवासिन् (चबूतरेपर वास करनेवाले)! हे शिव! हे महादेव! हे ईशान! हे शङ्कर! हे भीम! हे भव! हे वृषभध्वज! हे जटिल! हे प्रौढ! हे महानाट्यके ईश्वर! हे भूरिरत्न (रत्नराशि)! हे अविमुक्तक! हे रुद्र! हे रुद्रेश्वर! हे स्थाणो! हे एकलिङ्ग! हे कालिन्दीप्रिय! हे श्रीकण्ठ! हे नीलकण्ठ! हे अपराजित! हे रिपुभयङ्कर! हे सन्तोषपते! हे वामदेव! हे अघोर! हे तत्पुरुष! हे महाघोर! हे अघोरमूर्ते! हे शान्त! हे सरस्वतीकान्त! हे कीनाट! हे सहस्रमूर्ति! हे महोद्भव! हे विभो! हे कालाग्निरुद्र! हे रुद्र! हे हर! हे महीधरप्रिय! हे सर्वतीर्थनिवास! हे हंस! हे कामेश्वर! हे केदाराधिपते! हे परिपूर्ण! हे मुचुकुन्द! हे मधुनिवासिन्! हे कृपाणपाणे! हे भयङ्कर! हे विद्याराज! हे सोमराज! हे कामराज! हे रञ्जक! हे अञ्जनराजकन्या (काली)के हृदयमें सदा रहनेवाले! हे समुद्रशायिन्! हे गजमुख! हे घण्टेश्वर! हे गोकर्ण! हे ब्रह्मयोने! हे हजार मुख, आँख एवं चरणवाले! हे हाटकेश्वर! आपको नमस्कार है।

ऐसा कहनेपर वायुके समान पराक्रमवाला कपि अञ्जन पर्वतपर पहुँच गया और (गुह्यकको) आमन्त्रित कर पुन सुमेरु पर्वतपर प्रविष्ट हो गया। वहाँ उसने पर्जन्यको आमन्त्रित किया और ससगोदावर तीर्थमें स्थित महाश्रममें उन्हें भेजनेके बाद वह फिर पातालडोकमें प्रविष्ट हो गया । वहाँ (जाकर उसने) महापराक्रमी कन्दरमालीको आमन्त्रित किया । वेगशाली बन्दर फिर पातालसे निकलकर पृथ्वीपर घूमने फिरने लगा । तपोनिधि गालवको माहिष्मतीके निकट देखकर उसने उन्हें उठा लिया और उन्हें शीघ्र ससगोदावरके जलके निकट ला दिया । वहाँ विधानसे स्नान करनेके बाद वह हाटकेश्वरके समीप पहुँचा और उसने वहाँ बैठी हुई नन्दयन्ती तथा देववतीको भी देखा ॥ १३४–१३८ ॥

त दृष्ट्वा गालवं चैव समुत्थायाभ्यवादयत् ।
स चार्चयित्वा महादेवं महर्षीनभ्यवादयत् । ते चापि नृपतिश्रेष्ठास्त सम्पूज्य तपोधनम् ॥१३९॥
महामतुलं गत्वा उपविष्टा यथासुखम् । तेषूपविष्टेषु तदा वानरोपनिमन्त्रिता ॥१४०॥
समायाता महात्मानो यक्षगन्धर्वदानवाः । तानागतान् समीक्ष्यैव पुत्र्यस्ता पृथुलोचनाः ॥१४१॥
स्नेहार्द्रनयना सर्वास्तदा सस्वजिरे पितृन् । नन्दयन्त्यादिका दृष्ट्वा सपितृका वरानना ॥१४२॥
सबाष्पनयना जाता विश्वकर्मसुता तदा । अथ तामाह स मुनि सत्य सत्यध्वजो वच ॥१४३॥

उन सभीने गालवको देखकर उठकर उनको प्रणाम किया । उन्होंने भी महादेवकी पूजा कर महर्षियोंको प्रणाम किया । उन श्रेष्ठ राजाओंने भी उन तपस्वीकी पूजा की तथा वे अत्यन्त हर्षित होकर सुखपूर्वक बैठ गये । उनके बैठ जानेपर कपिद्वारा आमन्त्रित किये गये यक्ष, महानुभाव गन्धर्व एव दानव वहाँ आ गये । उन्हें आया हुआ देखते ही उन विशालनयना पुत्रियोंके नेत्रोंमें स्नेहसे आँसू भर आये । वे सभी अपने-अपने पिताके गले लग गयीं। नन्दयन्ती आदिको पिताके साथ उपस्थित हुई देखकर विश्वकर्माकी सुन्दरी पुत्रीके नेत्रोंमें (पिताकी स्मृतिमें) आँसू छलक आये । उसके बाद ऋतध्वज मुनिने उससे सच्ची बात कह दी—॥ १३९–१४३ ॥

मा विषाद कृथा पुत्रि पिताऽय तव वानरः । सा तद्वचनमाकर्ण्य व्रीडोपहतचेतना ॥१४४॥
कथ तु विश्वकर्माऽसौ वानरत्वं गतोऽधुना । दुष्पुत्र्या मयि जातायां तस्मात् त्यक्ष्ये कलेवरम् ॥१४५॥
इति संचिन्त्य मनसा ऋतध्वजमुवाच ह । परित्रायस्व मा ब्रह्मन् पापोपहतचेतनाम् ॥१४६॥
पितृघ्नी मर्तुमिच्छामि तदनुज्ञातुमर्हसि । अथोवाच मुनिस्तन्वीं मा विषाद कृथाधुना ॥१४७॥

पुत्रि ! तुम उदास मत होओ । यह बन्दर ही तुम्हारा पिता है । उस वचनको सुनकर वह लजा गयी, क्योंकि मुझ कुपुत्रीके जन्म लेनेके कारण ये विश्वकर्मा इस समय बन्दर हो गये हैं, अत (उसने सोचा-) मैं अपने शरीरका त्याग करूँगी । मनमें इस प्रकार विचारकर उसने ऋतध्वजसे कहा—ब्रह्मन् ! मैं पापसे नष्टमतिवाली हूँ । आप मेरी रक्षा करें । पिताका घात करनेवाली मैं मरना चाहती हूँ । अत आप स्वीकृति दें । तब मुनिने उस तन्वङ्गीसे कहा—अब विषाद मत करो ॥ १४४–१४७ ॥

भाव्यस्य नैव नाशोऽस्ति तस्मा त्याक्षी कलेवरम् । भविष्यति पिता तुभ्य भूयोऽप्यमरवर्द्धकिः ॥१४८॥
जातेऽपत्ये घृताच्या तु नात्र कार्या विचारणा । इत्येवमुक्ते वचने मुनिना भावितात्मना ॥१४९॥
घृताची ता समभ्येत्य प्राह चित्राङ्गदा वचः । पुत्रि त्यजस्व शोक त्व मासैर्दशभिरात्मज ॥१५०॥
भविष्यति पितुस्तुभ्य मत्सकाशात्र सशय । इत्येवमुक्ता सहसा ययौ चित्राङ्गदा तदा ॥१५१॥

भवितव्यताका विनाश नहीं होता—होनी होकर रहती है । इसलिये देहका परित्याग मत करो । घृताचीकी कोखसे पुत्रके उत्पन्न हो जानेपर तुम्हारे पिता फिर भी देवताओंके शिल्पी हो जायँगे—इसमें सन्दे-

मुनयो मुनिमादाय सपुत्र जग्मुरादरात्। भार्यास्त्वादाय राजानः स्व स्व नगरमागताः ॥ १६७ ॥
प्रहृष्टाः सुखिनस्तस्थुः भुञ्जते विषयान् प्रियान्।
चित्राङ्गदायाः कल्याणि एवं वृत्तं पुरा किल। तन्मां कमलपत्राक्षि भजस्व ललनोत्तमे ॥ १६८ ॥
इत्येवमुक्त्वा नरदेवसूनुस्तां भूमिदेवस्य सुतां वरोरुम्।
स्तुवन् मृगाक्षीं मृदुना क्रमेण सा चापि वाक्यं नृपतिं बभाषे ॥ १६९ ॥
इति श्रीवामनपुराणे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

विवाह कार्य सम्पन्न हो जानेपर मुनि (ऋतध्वज) ने इन्द्र आदि देवताओंसे कहा—इस सप्तगोदावर तीर्थमें आपलोग सदा निवास करें। विशेषरूपसे इस उत्तम वैशाख महीनेमें आपलोग यहाँ अवश्य रहें। देवता लोग 'ऐसा ही हो'—(ऐसा) कहकर प्रसन्नतापूर्वक स्वर्ग चले गये। मुनिलोग पुत्रसहित मुनि (ऋतध्वज) को सादर साथ लेकर चले गये। राजा लोग भी अपनी-अपनी पत्नीके साथ अपने-अपने नगरमें आ गये। सभी लोग प्रिय विषयोंका उपभोग करते हुए आनन्दपूर्वक रहने लगे। कल्याणि ! चित्राङ्गदाका पूर्व वृत्तान्त इस प्रकारका है। इसलिये सरोजनयने ! ललनोत्तमे ! तुम मुझे अङ्गीकार करो। ऐसा कहकर राजपुत्र (दण्ड) ब्राह्मणकी उस सुन्दरी मृगनयनी पुत्रीकी कोमल वाणीसे स्तुति करने लगे। उसने भी राजासे (आगेवाला वचन) कहा—॥ १६५–१६९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पैंसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥

[अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः]

अरजा उवाच

नाहं मान तव दास्यामि बहुनोक्तेन किं मम। रक्षन्ती भवतः शापादात्मानं च महीपते ॥ १ ॥

छाछठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(दण्डक-अरजाके प्रसङ्गमें शुक्रद्वारा दण्डकको शाप, प्रह्लादका अन्धकको उपदेश और अन्धक-शिव-सन्दर्भ)

अरजाने कहा—पृथिवीपते ! आपके अधिक कहनेसे क्या लाभ ? (थोड़ेमें समझ लीजिये कि पिताके) शापसे आपकी और अपनी रक्षा करती हुई (ही) मैं अपनेको आपके लिये समर्पित नहीं करूँगी ॥ १ ॥

प्रह्लाद उवाच

इत्थं विवदमानां तां भार्गवेन्द्रसुतां बलात्। कामोपहतचित्तात्मा व्यध्वंसयत मन्दधीः ॥ २ ॥
स कृत्वा च्युतचारित्रो मदान्धः पृथिवीपतिः। निश्चक्रामाश्रमात् तस्माद् गतश्च नगरं निजम् ॥ ३ ॥
साऽपि शुक्रसुता तन्वी अरजा रजसाप्लुता। आश्रमाद् वै निर्गत्य बहिस्तस्थावधोमुखी ॥ ४ ॥
चिन्तयन्ती स्वपितरं रुदती च मुहुर्मुहुः। महाग्रहोपतप्तेव रोहिणी शशिनः प्रिया ॥ ५ ॥

प्रह्लादने कहा—कामसे अंधे हुए उस मूर्खने इस प्रकार विवाद (विरोध) करती हुई श्रेष्ठ भार्गव कुलमें प्रसूत उस कन्याको हठात् अपावन (ध्वस्तशील) कर दिया। मदसे अंधा बना हुआ वह चरित्रसे च्युत हो करके उस आश्रमसे बाहर निकलकर अपने नगर चला गया। उसके बाद रजसे लथपथ वह कृशाङ्गी शुक्रपुत्री अरजा भी आश्रमसे बाहर निकलकर नीचे मुख लटकाये बैठ गयी। राहुसे पीड़ित चन्द्र-प्रिया रोहिणीके समान वह अपने पिताका चिन्तन करती हुई बारम्बार (बिलख-बिलखकर) रोने लगी ॥ २–५ ॥

ततो बहुतिथे काले समाप्ते यज्ञकर्मणि । पातालादागमच्छुक्रः स्वमाश्रमपदं मुनिः ॥ ६ ॥
आश्रमान्ते च ददृशे सुतां दैत्य रजस्वलाम् । मेघलेखामिवाकाशे सन्ध्यारागेण रञ्जिताम् ॥ ७ ॥
तां दृष्ट्वा परिपप्रच्छ पुत्रि केनासि धर्षिता । कः क्रीडति सरोषेण सममाशीविषेण हि ॥ ८ ॥
कोऽद्यैव याम्यां नगरीं गमिष्यति सुदुर्मतिः । यस्त्वां शुद्धसमाचारां विध्वंसयति पापकृत् ॥ ९ ॥
ततः स्वपितरं दृष्ट्वा कम्पमाना पुनः पुनः । रुदन्ती व्रीडयापन्ना मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १० ॥

उसके बाद जब बहुत दिनोंवाला समय बीत गया और यज्ञ समाप्त हो गया तब शुक्रमुनि पातालसे अपने आश्रममें आये । दैत्य ! उन्होंने आश्रमसे बाहर आकाशमें सन्ध्याके समय लालिमासे रञ्जित मेघमालाकी तरह धूलसे छिपी हुई अपनी पुत्रीको देखा । उसे देखकर उन्होंने पूछा—पुत्रि ! किसने तुम्हारा धर्षण (अपमान) किया है ? क्रोधभरे साँपसे कौन खेल कर रहा है ? पवित्र आचरणवाली तुम्हें शीलसे च्युत कर कौन दुर्बुद्धि पापी आज ही यमपुरी जानेवाला है ? उसके बाद अपने पिताको देखकर बारम्बार काँपती, रोती एवं लजाती हुई अरजा धीरे-धीरे कहा—॥ ६–१० ॥

तव शिष्येण दण्डेन वार्यमाणेन चासकृत् । बलादनाथा रुदती नीताऽहं वचनीयताम् ॥ ११ ॥
ततः पुत्र्या वचः श्रुत्वा क्रोधसंरक्तलोचनः । उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥
यस्मात् तेनाविनीतेन मत्तो ह्यभयमुत्तमम् । गौरवं च निरस्येह च्युतधर्माऽरजा कृता ॥ १३ ॥
तस्मात् सराष्ट्रः सबलः सभृत्यो वाहनैः सह । सप्तरात्रान्तराद् भस्म पांशुवृष्ट्या भविष्यति ॥ १४ ॥

बार-बार मना करनेपर भी आपके शिष्य दण्डने रोती हुई मुझ अनाथाको बलपूर्वक निन्दनीय बना दिया है—हमारा शीलभ्रंश कर दिया है । कन्याकी इस बातको सुनकर शुक्राचार्यकी आँखें क्रोधसे अत्यन्त लाल हो गयीं । उन्होंने आचमन करके शुद्ध होकर यह (शाप) वचन कहा—चूँकि उस उद्दण्डने मुझसे प्राप्त उत्तम अभय एवं गौरवका तिरस्कार करके अरजाको धर्मसे च्युत किया है, अतः यह सात रात्रियों (दिनों) में धूलवृष्टिके कारण राष्ट्र, सेना, भृत्य एवं वाहनोंसहित विनष्ट हो जायगा—भस्म हो जाय ॥ ११–१४ ॥

इत्येवमुक्त्वा मुनिपुङ्गवोऽसौ शप्त्वा स दण्डं स्वसुतामुवाच ।
त्वं पापमोक्षार्थमिहैव पुत्रि तिष्ठस्व कल्याणि तपश्चरन्ती ॥ १५ ॥
शप्त्वैवं भगवान् शुक्रो दण्डमिक्ष्वाकुनन्दनम् । जगाम शिष्यसहितः पातालं दानवालयम् ॥ १६ ॥
दण्डोऽपि भस्मसाद् भूतः सराष्ट्रबलवाहनः । महता पांशुवर्षेण सप्तरात्रान्तरे तदा ॥ १७ ॥
एवं दण्डकारण्यं परित्यजन्ति देवताः । आलयं राक्षसानां तु कृतं देवेन शम्भुना ॥ १८ ॥

उन मुनिश्रेष्ठने ऐसा कहकर दण्डको शाप देकर यह अपनी पुत्रीसे कहा—पुत्रि ! कल्याणि ! पापसे छुटकारा पानेके लिये तुम तपस्या करती हुई यहीं रहो । भगवान् शुक्र इक्ष्वाकुनन्दन दण्डको इस प्रकार शाप देकर शिष्योंके साथ दानवोंके निवास-स्थान पाताललोकमें चले गये । उसके बाद दण्ड भी बहुत बड़ी धूलवृष्टिके कारण सात रात्रियोंके भीतर ही अपने राष्ट्र, सेना और वाहनोंके साथ नष्ट हो गया । यही कारण है कि देवताओंने दण्डकारण्यको छोड़ दिया और शम्भुने उसे राक्षसोंका स्थान बना दिया ॥ १५–१८ ॥

एवं परकलत्राणि नयन्ति सुकृतीनपि । भस्मभूतान् प्राकृतांस्तु महान्तं च पराभवम् ॥ १९ ॥
तस्मात्त्वमपि दुर्बुद्धे कार्यां भजस्व स्त्रियम् । [illegible] ॥ २० ॥
शङ्करोऽपि न दैत्येन्द्र शक्यो जेतुं सुरासुरैः । द्रष्टुमप्यमितौजस्कः किमु योधयितुं रणे ॥ २१ ॥

इस प्रकार (जैसा कि ऊपर वर्णित है, परनारियाँ अपनको (अपवित्र करनेवाले) पुण्यात्माओंको भी जलाकर राख (नष्ट) कर देती हैं, फिर साधारण मनुष्य तो बहुत बड़ा तिरस्कार प्राप्त करते हैं। अतः अन्धक! आपको ऐसी दुर्बुद्धि नहीं करनी चाहिये। साधारण स्त्री भी जला सकती है तो पार्वतीका क्या कहना। दैत्येश्वर! सुर या असुर कोई भी महादेवको नहीं जीत सकता। जब रणमें अत्यधिक ओजसे सम्पन्न शंकरको देखा भी नहीं जा सकता तब उनसे युद्ध करना कैसे सम्भव है ॥१०–२१॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्ते वचने क्रुद्धस्ताम्रेक्षणः श्वसन्। वाक्यमाह महातेजाः प्रह्लादं चान्धकासुरः ॥ २२ ॥
किं ममासौ रणे योद्धुं शक्तस्त्रिणयनोऽसुर। एकाकी धर्मरहितो भस्मारुणितविग्रहः ॥ २३ ॥
नान्धको बिभियादिन्द्राद्‌ नामरेभ्यः कथंचन। स कथं वृषपत्राक्षाद् बिभेति स्त्रीमुखेक्षकात् ॥ २४ ॥
तच्छ्रुत्वाऽस्य वचो घोरं प्रह्लादः प्राह नारद। न सम्यगुक्तं भवता विरुद्धं धर्मतोऽर्थतः ॥ २५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ऐसा वचन कहनेपर क्रुद्ध एवं लाल-लाल आँखें किये हुए महातेजस्वी अन्धकासुरने लंबी साँस लेते हुए प्रह्लादसे कहा—असुर! क्या शरीरपर राख लपेटे, (किंतु, लोक) धर्मसे रहित अकेला यह त्रिनयन लड़ाईके मैदानमें मुझसे युद्ध कर सकता है? जो अन्धक इन्द्र या (अन्य) देवताओंसे कभी नहीं डरता वह बैलकी सवारी करनेवाले तथा स्त्रीका मुख निहारनेवाले त्रिनेत्र-(शंकर) से कैसे डर सकता है? नारद! उसके उस कठोर वचनको सुनकर प्रह्लादने कहा—आप यह उचित नहीं कह रहे हैं। आपका कहना धर्म एवं अर्थके विपरीत है ॥ २२–२५ ॥

हुताशनपतङ्गाभ्यां सिंहक्रोष्टुकयोरिव। गजेन्द्रमशकाभ्यां च रुक्मपाषाणयोरिव ॥ २६ ॥
एवमेभिरुदितं यावदन्तरमन्धक। तावदेवान्तरं चास्ति भवतो वा हरस्य च ॥ २७ ॥
वारितोऽसि मया वीर भूयो भूयश्च वार्यसे। शृणुष्व वाक्यं देवर्षेरसितस्य महात्मनः ॥ २८ ॥
यो धर्मशीलो जितमानरोषो विद्याविनीतो न परोपतापी।
स्वदारतुष्टः परदारवर्जी न तस्य लोके भयमस्ति किंचित् ॥ २९ ॥

अन्धक! अग्नि और जुगनू, सिंह और सियार, गजेन्द्र और मशक तथा सोने और पत्थरमें जितना अन्तर कहा जाता है, उतना ही अन्तर आप और शङ्करकी तुलनामें है। वीर! आपको मैंने रोका है और (अब भी) बार-बार रोक रहा हूँ। आप देवर्षि असितका वचन सुनें—जो व्यक्ति धर्मनिष्ठ, अभिमान और क्रोधको जीतनेवाला, विद्यासे विनम्र, किसीको दुःख न देनेवाला, अपनी पत्नीमें सन्तुष्ट तथा परस्त्रीका त्याग करनेवाला होता है, उसे संसारमें कोई भय नहीं होता ॥ २६–२९ ॥

यो धर्महीनः कलहप्रियः सदा परोपतापी श्रुतिशास्त्रवर्जितः।
परार्थदारेप्सुरवर्णसंगमी सुखं न विन्देत परत्र चेह ॥ ३० ॥
धर्मान्वितोऽभूद् भगवान् प्रभाकरः संत्यक्तरोषश्च मुनिः स वारुणिः।
विद्याऽन्वितोऽभून्मनुरर्कपुत्रः स्वदारसंतुष्टमनास्त्वगस्त्यः ॥ ३१ ॥
एतानि पुण्यानि कृतान्यमीभिर्मया निवृत्तानि कुलक्रमोक्त्या।
तेजोऽन्विताः शापवरक्षमाश्च जाताश्च सर्वे सुरसिद्धपूज्याः ॥ ३२ ॥
अधर्मयुक्तोऽङ्गसुतो बभूव विमुक्तनिद्रः कलहप्रियोऽभूत्।
परोपतापी नमुचिर्दुरात्मा परावलेही सुर्नहुषश्च राजा ॥ ३३ ॥

पर्वतपर जाओ और शंकरसे कहो—भिक्षुक ! तुम गुफामें रहनेवाले होकर और सबके समान मन्दर पर्वतका उपभोग क्यों कर रहे हो ? मुझे बतलाओ कि तुमको इसे किसने दे दिया है ? इन्द्र आदि देवता मेरा शासन मानते हैं। तुम मेरा अपमान करके इस मन्दर पर्वतपर कैसे रह रहे हो ? ॥ ४१–४४ ॥

यद्यष्टस्तव शैलेन्द्र क्रियतां वचनं मम। येयं हि भवतः पत्नी सा मे शीघ्रं प्रदीयताम् ॥ ४५ ॥
इत्युक्तः स तदा तेन शम्बरो मन्दरं द्रुतम्। जगाम तत्र यत्रास्ते सह देव्या पिनाकधृक् ॥ ४६ ॥
गत्वोवाचान्धकवचो याथातथ्यं दनोः सुतः। तमुत्तरं हरः प्राह शृण्वत्या गिरिकन्यया ॥ ४७ ॥
ममायं मन्दरो दत्तः सहस्राक्षेण धीमता। तन्न शक्तोऽस्म्यहं त्यक्तुं विनाज्ञां वृत्रवैरिणः ॥ ४८ ॥

यदि यह पर्वतराज तुम्हें अभीष्ट है तो मेरे कहनेके अनुसार कार्य करो। तुम्हारी जो यह स्त्री है, उसे मुझे शीघ्र दे दो। उसके ऐसा कहनेपर शम्बर शीघ्रतासे उस मन्दर पर्वतपर गया, जहाँ पिनाकपाणि शंकर देवीके साथ निवास कर रहे थे। दनुपुत्रने वहाँ जाकर अन्धकके वचनको ज्यों-का-त्यों कहा। शङ्करने पर्वतनन्दिनीके सुनते हुए उसे उत्तर दिया। बुद्धिमान् इन्द्रने मुझे यह मन्दर पर्वत दिया है। इसलिये वृत्रासुरके वैरी इन्द्रकी आज्ञाके बिना मैं इसे नहीं छोड़ सकता ॥ ४५–४८ ॥

यच्चाब्रवीद् दीयतां मे गिरिपुत्रीति दानव। तदेषा यातु स्वं कामं नाहं वारयितुं क्षमः ॥ ४९ ॥
ततोऽब्रवीद् गिरिसुता शम्बरं मुनिसत्तम। ब्रूहि गत्वान्धकं वीरं मम वाक्यं विपश्चितम् ॥ ५० ॥
अहं पताका संग्रामे भवानीशश्च देविनौ। प्राणद्यूतं परिस्तीर्य यो जेष्यति स लप्स्यते ॥ ५१ ॥
इत्येवमुक्तो मतिमाञ् शम्बरोऽन्धकमागमत्। समागम्याब्रवीद् वाक्यं शर्वगौर्योश्च भाषितम् ॥ ५२ ॥

दानवने जो यह कहा कि गिरिनन्दिनीको मुझे दे दो, तो ये अपनी इच्छासे जा सकती हैं। मैं इन्हें नहीं रोक सकता। मुनिसत्तम ! उसके बाद गिरिपुत्री पार्वतीने शम्बरसे कहा—वीर ! तुम जाकर विद्वान् अन्धकसे मेरी बात कहो—संग्राममें मैं तो पताका हूँ। आप और शंकर खेलनेवाले हैं। प्राणोंका द्यूत फैलाकर (हार जीतका दाँव लगाकर) जो जीतेगा वह मुझे प्राप्त करेगा। ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् शम्बर अन्धकके पास गया एवं उसने शंकर तथा गौरीकी कही हुई बातें (ज्यों-की-त्यों) उससे कह दीं ॥ ४९–५२ ॥

तच्छ्रुत्वा दानवपतिः क्रोधदीप्तेक्षणः श्वसन्। समाहूयाब्रवीद् वाक्यं दुर्योधनमिदं वचः ॥ ५३ ॥
गच्छ शीघ्रं महाबाहो भेरीं सांग्रामिकीं दृढाम्। ताडयस्व सुविश्रब्धं दुःशीलामिव योषितम् ॥ ५४ ॥
समादिष्टोऽन्धकेनाथ भेरीं दुर्योधनो बलात्। ताडयामास वेगेन यथा प्राणेन भूयसा ॥ ५५ ॥
सा ताडिता बलवता भेरी दुर्योधनेन हि। सस्वरं भैरवं रावं रुराव सुरभी यथा ॥ ५६ ॥

उसे सुनकर दानवपतिकी आँखें क्रोधसे जलने लगीं। लंबी साँस लेते हुए दुर्योधनको बुलाकर उसने कहा—महाबाहो ! शीघ्र जाओ एवं मारू या संग्रामके समयमें बजनेवाले जुझाऊ नगाड़ेको (मस्तीसे) जोर-जोरसे ऐसे पीटो जैसे दुराचारिणीको कोई (उसके अपराधके कारण उसका अभिभावक आदि निर्भयतासे) ताड़ित करता है। उसके बाद अन्धकसे आदेश प्राप्त कर दुर्योधन अत्यन्त बलपूर्वक जी-जानसे वेगपूर्वक भेरीको बजाने लगा। बलवान् दुर्योधनद्वारा बलपूर्वक बजायी जाती हुई वह भेरी सहसा भयंकर ध्वनिमें घरघराने लगी, जिस प्रकार सुरभी घरघराती है ॥ ५३–५६ ॥

तस्यास्तं स्वरमाकर्ण्य सर्वे एव महासुराः। समायाताः सभां तूर्णं किमेतदिति वादिनः ॥ ५७ ॥
याथातथ्यं च तान् सर्वानाह सेनापतिर्बली। ते चापि बलिनां श्रेष्ठाः सन्नद्धा युद्धकाङ्क्षिणः ॥ ५८ ॥

मन्दरपर अवस्थित भगवान् शङ्कर

नन्दयुवाच

यानेतान् पश्यसे शम्भो त्रिनेत्राञ्जटिलाञ्शुचीन्। एते रुद्रा इति ख्याता कोट्य एकादशैव तु ॥ ५ ॥
वानरास्यान् पश्यसे यान् शार्दूलसमविक्रमान्। एतेषां द्वारपालास्ते मन्नामानो यशोधनाः ॥ ६ ॥
षण्मुखान् पश्यसे यांश्च शक्तिपाणीञ्शिखिध्वजान्। षट् च षष्टिस्तथा कोट्यः स्कन्दनाम्नः कुमारकान् ॥ ७ ॥
एतावत्यस्तथा कोट्यः शाखा नाम षडाननाः। विशाखास्तावदेवोक्ता नैगमेयाश्च शङ्कर ॥ ८ ॥

नन्दीने कहा—शम्भो ! तीन नेत्रोंवाले और जटा धारण करनेवाले तथा पवित्र जिन गणोंको आप देख रहे हैं, उन्हें रुद्र कहते हैं। इनकी संख्या ग्यारह कोटि है। बन्दरके समान मुँह और सिंहके समान पराक्रम वाले जिन्हें आप देख रहे हैं, वे मेरे नामको धारण करनेवाले यशस्वी इनके द्वारपाल हैं। हाथमें शक्ति लिये तथा मयूरध्वजी जिन छ मुखवालोंको आप देख रहे हैं, वे स्कन्द नामके कुमार हैं। इनकी संख्या छाछठ करोड है। शंकर ! इतने ही छ मुख धारण करनेवाले शाखा नामके गण हैं और इतने ही विशाख और नैगमेय नामके गण हैं ॥ ५–८ ॥

सप्तकोटिशतं शम्भो अमी वै प्रमथोत्तमाः। एकैकं प्रति देवेश तावत्यो ह्यपि मातरः ॥ ९ ॥
भस्मारुणितदेहाश्च त्रिनेत्राः शूलपाणयः। एते शैवा इति प्रोक्तास्तव भक्ता गणेश्वराः ॥ १० ॥
तथा पाशुपताश्चान्ये भस्मप्रहरणा विभो। एते गणास्त्वसंख्याताः सहायार्थं समागताः ॥ ११ ॥
पिनाकधारिणो रौद्रा गणाः कालमुखापरे। तव भक्ताः समायाता जटामण्डलिनोऽद्भुताः ॥ १२ ॥

शम्भो ! इन उत्तम प्रमथोंकी संख्या सात सौ करोड है। देवेश ! प्रत्येकके साथ उतनी ही मातृकाएँ भी हैं। इन भस्मविभूषित शरीरवाले शूलपाणि त्रिनेत्रधारियोंको शैव कहा जाता है। ये सभी गणेश्वर आपके भक्त हैं। विभो ! भस्मरूपी अस्त्र धारण करनेवाले अन्य अनगिनत पाशुपत गण सहायताके लिये आये हैं। पिनाक धारण करनेवाले जटामण्डलसे युक्त, अद्भुत भयङ्कर कालमुखनामक आपके अन्य गण (भी) आये हैं ॥ ९–१२ ॥

खट्वाङ्गयोधिनो वीरा रक्तचर्मसमावृताः। इमे प्राप्ता गणा योद्धुं महाव्रतिन उत्तमाः ॥ १३ ॥
दिग्वाससो मौनिनश्च घण्टाप्रहरणास्तथा। निराश्रया नाम गणाः समायाता जगद्गुरो ॥ १४ ॥
सार्धद्विनेत्राः पद्माक्षाः श्रीवत्साङ्कितवक्षसः। समायाताः खगारूढा वृषभध्वजिनोऽव्ययाः ॥ १५ ॥
महापाशुपता नाम चक्रशूलधरास्तथा। भैरवो विष्णुना सार्धमभेदेनार्चितो हि यैः ॥ १६ ॥

खट्वाङ्गसे संग्राम करनेवाले, लाल ढालसे युक्त महाव्रती नामके ये उत्तम गण युद्धके लिये आये हैं। जगद्गुरो ! घण्टा नामके आयुधको धारण करनेवाले दिगम्बर और मौनी तथा निराश्रय नामक गण उपस्थित हुए हैं। तीन नेत्रोंवाले, पद्माक्ष एवं श्रीवत्ससे चिह्नित वक्ष स्थलवाले गरुड पक्षीपर चढ़े हुए तथा अविनाशी वृषभध्वजी गण यहाँ आ गये हैं। चक्र तथा शूल धारण करनेवाले महापाशुपत नामके गण आ गये हैं जिन्होंने अभिन्नभावसे विष्णुके साथ भैरवकी पूजा (यहाँ) की है ॥ १३–१६ ॥

इमे मृगेन्द्रवदनाः शूलबाणधनुर्धराः। गणास्त्वद्रोमसम्भूता वीरभद्रपुरोगमाः ॥ १७ ॥
एते चान्ये च बहवः शतशोऽथ सहस्रशः। सहायार्थं तवायाता यथा प्रीत्यादिशस्व तान् ॥ १८ ॥
ततोऽभ्येत्य गणाः सर्वे प्रणेमुर्वृषभध्वजम्। तान् करेणैव भगवान् समाश्वास्योपवेशयत् ॥ १९ ॥
महापाशुपतान् दृष्ट्वा समुत्थाय महेश्वरः। सम्परिष्वजवान्सर्वांस्ते प्रणेमुर्महेश्वरम् ॥ २० ॥

आपके रोमोंसे उत्पन्न हुए ये सभी सिंहके समान मुखवाले शूल, बाण और धनुष धारण करनेवाले वीरभद्र आदि गण तथा दूसरे भी सैकड़ों एवं हजारों गण आपकी सहायताके लिये आ गये हैं। अपनी

था॰ जीमूतवाहन शंकरने मेघके समान गम्भीर वाणीमें हँसकर कहा—अपनी कीर्ति बढ़ानेवाली सम्पूर्ण बात मैं बतलाता हूँ, उसे सुनो—तुमलोग कभी भी महानरकके योग्य नहीं हो। परंतु अपकीर्तिके डरसे मैं आप सभीके सामने गोपनीय वस्तु स्थितिको प्रकाशित करता हूँ ॥ ३१–३४ ॥

प्रियत्वं मयि चेतेन एतमधिकास्तु नित्यशः। एकरूपात्मकं देहं कुरुध्वं यत्नमास्थिताः ॥ ३५ ॥
पयसा हविषाद्यैश्च स्नपनेन प्रयत्नतः। चन्दनादिभिरेकाग्रैर्न मे प्रीतिः प्रजायते ॥ ३६ ॥
यत्नात् क्रकचमादाय छिन्दध्वं मम विग्रहम्। नरकार्हो भवद्भक्ता रक्षामि स्वयशोऽर्थतः ॥ ३७ ॥
माऽयं वदिष्यते लोको महान्तमपवादिनम्। यथा पतन्ति नरके हरभक्तास्तपस्विनः ॥ ३८ ॥

मुझमें निरन्तर चित्त लगाये रहनेसे भी अन्य लोग प्रिय हैं। तुमलोग यत्नपूर्वक एक देहात्मक रूपको समझो। प्रयत्नपूर्वक दूध या घीसे स्नान कराने तथा स्थिरचित्ततापूर्वक चन्दन आदिद्वारा लेप करनेसे मुझे प्रसन्नता नहीं उत्पन्न होती। आरा लेकर मेरी देहको भले ही चीर डालो, परंतु अपनी कीर्तिके लिये नरकके योग्य आप भक्तोंकी मैं (उससे) रक्षा करता ही हूँ। (क्योंकि) यह संसार मुझे इस प्रकारका महान् कलङ्क न लगाये कि शंकरके तपस्वी भक्त नरकमें जाते हैं ॥ ३५–३८ ॥

मज्जन्ति नरकं घोरमित्येवं परिवादिनः। अतोऽर्थं न क्षिपाम्यद्य भवतो नरकेऽद्भुते ॥ ३९ ॥
यन्निन्दध्व जगन्नाथं पुष्कराक्षं च मन्मयम्। स चैव भगवाञ्छर्वः सर्वव्यापी गणेश्वर ॥ ४० ॥
न तस्य सदृशो लोके विद्यते सचराचरे। श्वेतमूर्तिः स भगवान् पीतो रक्तोऽञ्जनप्रभः ॥ ४१ ॥
तस्मात् परतरं लोके नान्यद् धर्मं हि विद्यते।
सात्त्विकं राजसं चैव तामसं मिश्रकं तथा। स एव धत्ते भगवान् सर्वपूज्यः सदाशिवः ॥ ४२ ॥

इस प्रकारकी निन्दा करनेवाले लोग भयंकर नरकमें जाते हैं। इसलिये मैं आपलोगोंको अद्भुत नरकमें नहीं डालता। आपलोग मेरे स्वरूप जिन कमलनयन जगन्नाथकी निन्दा करते हैं, वे ही सर्वव्यापी गणेश्वर भगवान् शर्व हैं। इस समस्त चर और अचर लोकमें उनके समान कोई नहीं है। वे भगवान् श्वेतमूर्ति पीत, रक्त एवं अञ्जनके सदृश कान्तिवाले हैं। संसारमें उनसे श्रेष्ठ कोई दूसरा धर्म नहीं है। सर्वपूज्य वे सदाशिव (सदा मङ्गल करनेवाले) भगवान् ही सभी सात्त्विक, राजस, तामस एवं मिश्रित भावोंको धारण करते हैं ॥ ३९–४२ ॥

शङ्करस्य वचः श्रुत्वा शैवाद्याः प्रमथोत्तमाः। प्रत्यूचुर्भगवन् ब्रूहि सदाशिवविशेषणम् ॥ ४३ ॥
तेषां तद् भाषितं श्रुत्वा प्रमथानामधेश्वरः। दर्शयामास तद्रूपं सदाशैवं निरञ्जनम् ॥ ४४ ॥
ततः पश्यन्ति हि गणा तमीशं वै सहस्रशः। सहस्रवक्त्रचरणं सहस्रभुजमीश्वरम् ॥ ४५ ॥
दण्डपाणिं सुदुर्दर्शं लोकैर्व्याप्तं समन्ततः। दण्डसंस्थाऽस्य दृश्यन्ते देवग्रहरणास्तथा ॥ ४६ ॥

शंकरके वचनको सुनकर शैव आदि श्रेष्ठ गणोंने कहा—भगवन्! आप सदाशिवकी विशेषता प्रकट करनेवाले गुणको कहिये। प्रमथेश्वरने उनके इस वचनको सुनकर उन्हें निरञ्जन सदाशिवरूपको दिखलाया। उसके बाद हजारों गणोंने उन ईश्वरको हजारों मुख, चरण एवं भुजाओंवाला हुआ देखा। वे लोकोंसे सभी ओर व्याप्त थे तथा दण्डपाणि एवं अत्यधिक सुदुर्दर्श्य थे। देवास्त्रोंके अग्र उनके दण्डमें दिखलायी पड़ रहे थे ॥ ४३–४६ ॥

ततः एकमुखं भूयो ददृशुः शङ्करं गणाः। रौद्रैश्च वैष्णवैश्चैव वृतं चिह्नैः सहस्रशः ॥ ४७ ॥
अर्धेन वैष्णववपुरर्धेन हरविग्रहः। खगध्वजं वृषारूढं खगारूढं वृषध्वजम् ॥ ४८ ॥
यथा यथा त्रिनयनो रूपं धत्ते गुणाग्रणीः। तथा तथा त्वजायन्त महापाशुपता गणाः ॥ ४९ ॥

[अथाष्टषष्टितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः समं दैत्यैस्तथाऽन्धकः । मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं प्रमथाश्रितकन्दरम् ॥ १ ॥
प्रमथा दानवान् दृष्ट्वा चक्रुः किलकिलाध्वनिम् । ममथाश्चापि सरब्धा जघ्नुस्तूर्याण्यनेकशः ॥ २ ॥
स चावृणोन्महानादो रोदसी प्रलयोपमः । शुश्राव वायुमार्गस्थो विघ्नराजो विनायकः ॥ ३ ॥
समभ्ययात् सुसंक्रुद्धः प्रमथैरभिसंवृतः । मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं ददृशे पितरं तथा ॥ ४ ॥

अड़सठवाँ अध्याय प्रारम्भ

(भगवान् शंकरका अन्धकसे युद्धके लिये प्रस्थान, रुद्रगणोंका दानववर्गसे युद्ध और तुहुण्ड आदि दैत्योंका विनाश)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) इसी बीच दैत्योंके साथ वह अन्धक प्रमथोंसे सेवित गुफाओंवाले पर्वतश्रेष्ठ मन्दर गिरिपर आ गया। प्रमथोंने दानवोंको देखकर हर्षसूचक 'किलकिला' ध्वनि की और फिर उन्होंने बहुत-सी तुरहियाँ बजायीं। प्रलय-(कालीन ध्वनि)-के समान वह भयङ्कर ध्वनि आकाश और पृथ्वीके बीच भर गयी। आकाशमें स्थित विघ्नराज गणेशने उस ध्वनिको सुना। प्रमथोंसे घिरे हुए वे अत्यन्त क्रुद्ध होकर पर्वतश्रेष्ठ मन्दरपर गये और उन्होंने अपने पिताको देखा ॥ १–४ ॥

प्रणिपत्य तथा भक्त्या वाक्यमाह महेश्वरम् । किं तिष्ठसि जगन्नाथ समुत्तिष्ठ रणोत्सुकः ॥ ५ ॥
ततो विघ्नेशवचनाज्जगन्नाथोऽम्बिकां वचः । प्राह यास्येऽन्धकं हन्तुं स्थेयमेवाप्रमत्तया ॥ ६ ॥
ततो गिरिसुता देवं समालिङ्ग्य पुनः पुनः । समीक्ष्य सस्नेहदृशं प्राह गच्छ जयान्धकम् ॥ ७ ॥
ततोऽमरगुरोर्गौरी चन्दनं रोचनाञ्जनम् । प्रतिवन्द्य सुसम्प्रीता पादावेवाभ्यवन्दत ॥ ८ ॥

(फिर) श्रद्धापूर्वक प्रणामकर महेश्वरसे (यह) वाक्य कहा—हे जगन्नाथ ! आप बैठे क्यों हैं ? युद्ध करनेके लिये प्रबल इच्छा रखकर आप उठें। विघ्नेश्वर गणेशके कहनेपर जगत्पति महादेवने अम्बिकासे कहा—मैं अन्धकको मारनेके लिये जाऊँगा, तुम सावधानीसे रहना। उसके बाद पर्वतनन्दिनीने महादेवको बार-बार गले लगाकर एवं प्रेमपूर्ण दृष्टिसे उन्हें देखकर (मङ्गल वचन) कहा—जाइये और अन्धकपर विजय प्राप्त कीजिये। उसके बाद गौरीने देवश्रेष्ठ शंकरको चन्दन, रोचना एवं अञ्जन लगाया तथा अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनके चरणोंकी वन्दना की ॥ ५–८ ॥

ततो हरः प्राह वचो यशस्यं मालिनीमपि । जयां च विजयां चैव जयन्तीं चापराजिताम् ॥ ९ ॥
युष्माभिरप्रमत्ताभिः स्थेयं गेहे सुरक्षिते । रक्षणीया प्रयत्नेन गिरिपुत्री प्रमादतः ॥ १० ॥
इति संदिश्य ताः सर्वाः समारुह्य वृषं विभुः । निर्जगाम गृहात् तुष्टो जयेप्सुः शूलधृग् वली ॥ ११ ॥
निर्गच्छतस्तु भवनाद्देवेश्वरस्य गणाधिपाः । समन्तात् परिवार्यैव जयशब्दांश्च चक्रिरे ॥ १२ ॥

उसके बाद महादेवने मालिनी, जया, विजया, जयन्ती और अपराजितासे कीर्ति बढ़ानेवाला यह वचन कहा—तुमलोग सुरक्षित घरमें सतर्कतासे रहना और प्रयत्नपूर्वक पार्वतीको असावधानीसे बचाना। उन सभीको इस प्रकार समझाने-बुझानेके बाद वृषभपर सवार होकर शूल धारण करनेवाले विजयाभिलाषी बलशाली भगवान् शंकर (आत्मविश्वासके साथ) संतुष्ट होकर घरसे चल पड़े। घरसे निकलते समय गणाधिपोंने शंकरको चारों ओरसे घेरकर 'जय जयकार' किया ॥ ९–१२ ॥

गणेश्वरोंद्वारा चतुरङ्गिणी—रथ, हाथी, घोड़े, पैदल चार अङ्गोंवाली सेनाको मारी जाती हुई देख करके क्रुद्ध होकर तुहुण्ड तेजीसे आगे बढ़ा। ग्लसे बँधे हुए लोहेके बने चमचमाते भयङ्कर परिघको लेकर वह इन्द्रके ऊँचे ध्वजके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था। बलशाली तुहुण्ड उस परिघको घुमाते हुए युद्धमें गणोंको मारने लगा। रुद्रसे लेकर स्कन्दतक वे सभी गण भयभीत होकर भाग चले। उस सेनाको नष्ट हुई देखकर गणनाथ विनायक दानवश्रेष्ठ तुहुण्डकी ओर तेजीसे दौड़े ॥ २५-२८ ॥

आपतन्तं गणपतिं दृष्ट्वा दैत्यो दुरात्मवान्। परिघं पातयामास कुम्भपृष्ठे महाबलः ॥ २९ ॥
विनायकस्य तत्कुम्भे परिघं वज्रभूषणम्। शतधा त्वगमद् ब्रह्मन् मेरौ कूटं इवाशनिः ॥ ३० ॥
परिघं विफलं दृष्ट्वा समायान्तं च पार्षदम्। बबन्ध बाहुपाशेन राहुः रक्षन् हि मातुलम् ॥ ३१ ॥
स बद्धो बाहुपाशेन बलादाकृष्य दानवम्। समाजघान शिरसि कुठारेण महोदरः ॥ ३२ ॥

महाबलशाली दुरात्मा दैत्यने गणपतिको सामने आते देखकर (उनके) कुम्भस्थलमें परिघका वार कर दिया। ब्रह्मन्! वज्रसे अलंकृत वह परिघ विनायकके कुम्भस्थलपर ऐसे सैकड़ों टुकड़े हो गया, जैसे मेरुके शिखरपर वज्र सैकड़ों टुकड़े हो जाता है। परिघको विफल हुआ देखकर अपने मामाकी रक्षा करते हुए राहुने आनेवाले पार्षदको अपने भुजापाशमें जकड़ लिया। भुजापाशमें बँधे हुए (होनेपर भी) उन महोदरने दानवको बलपूर्वक खींचकर उसके मस्तकपर कुठारसे वार किया ॥ २९-३२ ॥

काष्ठवत् स द्विधा भूतो निपपात धरातले।
तथाऽपि नात्यजद् राहुर्बलवान् दानवेश्वरः। स मोक्षार्थेऽकरोद् यत्नं न शशाक च नारद ॥ ३३ ॥
विनायकं संयतमीक्ष्य राहुणा कुण्डोदरो नाम गणेश्वरोऽथ।
प्रगृह्य तूर्णं मुशलं महात्मा राहुं दुरात्मानमसौ जघान ॥ ३४ ॥
ततो गणेशः कलशध्वजस्तु प्रासेन राहुं हृदये बिभेद।
घटोदरो वै गदया जघान खड्गेन रक्षोऽधिपतिः सुकेशी ॥ ३५ ॥
स तैश्चतुर्भिः परिताड्यमानो गणाधिपं राहुरथोत्ससर्ज।
सत्यक्तमात्रोऽथ परश्वधेन तुहुण्डमूर्धानमथो बिभेद ॥ ३६ ॥

वह काष्ठके समान दो टुकड़े होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। फिर भी बलशाली दानवेश्वर राहुने उन्हें नहीं छोड़ा। नारदजी! उन्होंने छूटनेका प्रयत्न तो किया, किंतु उससे वे छूट न सके। राहुद्वारा विनायकको बँधा हुआ देखकर कुण्डोदर नामके गणेश्वरने तुरत मुसल उठा लिया और उन महात्मा ने दुरात्मा राहुपर (उसे) मारा। उसके बाद कलशध्वज ध्वजवाले गणेशने प्रासद्वारा राहुके हृदयपर (भी) चोट कर दिया। घटोदरने गदासे तथा राक्षसोंके अधिपति सुकेशीने तलवारसे वार किया। उन चारोंद्वारा प्रहार किये जानेपर राहुने गणाधिपतिको छोड़ दिया। छूटते ही उन्होंने फरसेसे तुहुण्डके मस्तकको काट दिया ॥ ३३-३६ ॥

हते तुहुण्डे विमुखे च राहौ गणेश्वराः क्रोधविषं मुमुक्षव।
पञ्चैककालानलसन्निकाशा विशन्ति सेनां दनुपुङ्गवानाम् ॥ ३७ ॥
तां वध्यमानां स्वचमूं समीक्ष्य बलिर्बली मारुततुल्यवेगः।
गदां समाविध्य जघान मूर्ध्नि विनायकं कुम्भतटे करे च ॥ ३८ ॥

गणेश्वरोंद्वारा चतुरङ्गिणी—रथ, हाथी, घोड़े, पैदल चार अङ्गोंवाली सेनाको मारी जाती हुई देखकर क्रुद्ध होकर तुहुण्ड तेजीसे आगे बढ़ा। लोहेसे बँधे हुए लोहेके बने चमचमाते भयङ्कर परिघको लेकर वह इन्द्रके ऊँचे ध्वजके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था। बलशाली तुहुण्ड उस परिघको घुमाते हुए युद्धमें गणोंको मारने लगा। रुद्रसे लेकर स्कन्दतक वे सभी गण भयभीत होकर भाग चले। उस सेनाको नष्ट हुई देखकर गणनाथ विनायक दानवश्रेष्ठ तुहुण्डकी ओर तेजीसे दौड़े ॥ २५–२८ ॥

आपतन्तं गणपतिं दृष्ट्वा दैत्यो दुरात्मवान्। परिघं पातयामास कुम्भपृष्ठे महाबलः ॥ २९ ॥
विनायकस्य तत्कुम्भे परिघो वज्रभूषणम्। शतधा त्वगमद् ब्रह्मन् मेरौ कूटं इवाशनिः ॥ ३० ॥
परिघं विफलं दृष्ट्वा समायान्तं च पार्षदम्। बबन्ध बाहुपाशेन राहुः रक्षन् हि मातुलम् ॥ ३१ ॥
स बद्धो बाहुपाशेन बलादाकृष्य दानवम्। समाजघान शिरसि कुठारेण महोदरः ॥ ३२ ॥

महाबलशाली दुरात्मा दैत्यने गणपतिको सामने आते देखकर (उनके) कुम्भस्थलमें परिघका वार कर दिया। ब्रह्मन्! वज्रसे अलंकृत वह परिघ विनायकके कुम्भस्थलपर ऐसे सैकड़ों टुकडे हो गया, जैसे मेरुके शिखरपर वज्र सैकड़ों टुकड़े हो जाता है। परिघको विफल हुआ देखकर अपने मामाकी रक्षा करते हुए राहुने आनेवाले पार्षदको अपने भुजापाशमें जकड़ लिया। भुजापाशमें बँधे हुए (होनेपर भी) उन महोदरने दानवको बलपूर्वक खींचकर उसके मस्तकपर कुठारसे वार किया ॥ २९–३२ ॥

काष्ठवत् स द्विधा भूतो निपपात धरातले।
तथाऽपि नात्यजद् राहुर्बलवान् दानवेश्वरः। स मोक्षार्थेऽकरोद् यत्नं न शशाक च नारद ॥ ३३ ॥
विनायकं संयतमीक्ष्य राहुणा कुण्डोदरो नाम गणेश्वरोऽथ।
प्रगृह्य तूर्णं मुसलं महात्मा राहुं दुरात्मानमसौ जघान ॥ ३४ ॥
ततो गणेशः कलशध्वजस्तु प्रासेन राहुं हृदये बिभेद।
घटोदरो वै गदया जघान खड्गेन रक्षोऽधिपतिः सुकेशी ॥ ३ ॥
स तैश्चतुर्भिः परिताड्यमानो गणाधिपं राहुरथोत्ससर्ज।
सत्यकमात्रोऽथ परश्वधेन तुहुण्डमूर्धानमथो बिभेद ॥ ३६ ॥

वह काष्ठके समान दो टुकड़े होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। फिर भी बलशाली दानवेश्वर राहुने उन्हें नहीं छोड़ा। नारदजी! उन्होंने छूटनेका प्रयत्न तो किया, किंतु उससे वे छूट न सके। राहुद्वारा विनायकको बँधा हुआ देखकर कुण्डोदर नामके गणेश्वरने तुरत मुसल उठा लिया और उन महात्माने दुरात्मा राहुपर (दे) मारा। उसके बाद कलशके ध्वजवाले गणेशने प्रासद्वारा राहुके हृदयपर (भी) चोट कर दिया। घटोदरने गदासे तथा राक्षसोंके अधिपति सुकेशीने तलवारसे वार किया। उन चारोंद्वारा प्रहार किये जानेपर राहुने गणाधिपतिको छोड़ दिया। छूटते ही उन्होंने फरसेसे तुहुण्डके मस्तकको काट दिया ॥ ३३–३६ ॥

हते तुहुण्डे विमुखे च राहौ गणेश्वराः क्रोधविषं मुमुक्षवः।
पञ्चैककालानलसन्निकाशा विशन्ति सेना दनुपुङ्गवानाम् ॥ ३७ ॥
तां पच्यमानां स्वचमूं समीक्ष्य बलिर्बली मारुततुल्यवेगः।
गदां समाविध्य जघान मूर्ध्नि विनायकं कुम्भतटे करे च ॥ ३८ ॥

…के सदृश प्रकाशसे युक्त प्रास ले लिया तथा 'तुम मारे गये' ऐसा कहते हुए उसे नन्दीकी ओर फेंका ।
…आ रहे उस (प्रास) को वज्रसे इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े काट दिया, जैसे चुगलखोर व्यक्ति गुप्त विषयका
…कर देता है । उसके बाद उस प्रासको विदीर्ण हुआ देख (दुर्योधन) मुट्ठी बाँधकर गण (नन्दी) के पास
…वा । उसके बाद ही नन्दीने शीघ्रतासे तालके समान उसके मस्तकको कुलिशसे काट डाला । मारे जानेपर
… पृथ्वीपर गिर पड़ा और भयभीत हुए सभी दैत्य तेजीसे दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ४५–४८ ॥

ततो हतं स्व तनयं निरीक्ष्य हस्ती तदा नन्दिनमाजगाम ।
प्रगृह्य बाणासनमुग्रवेगं विभेद बाणैर्यमदण्डकल्पैः ॥ ४९ ॥
गणान् सनन्दीन् वृषभध्वजास्तान् धाराभिरेवाम्बुधरास्तु शैलान् ।
ते छाद्यमानासुरबाणजालैर्विनायकाद्या बलिनोऽपि वीराः ।
सिंहप्रणुन्ना वृषभा यथैव भयातुरा दुद्रुविरे समन्तात् ॥ ५० ॥
पराङ्मुखान् वीक्ष्य गणान् कुमारः शक्त्या पृषत्कानथ वारयित्वा ।
तूर्णं समभ्येत्य रिपुं समीक्ष्य प्रगृह्य शक्त्या हृदये विभेद ॥ ५१ ॥
शक्तिनिर्भिन्नहृदयो हस्ती भूम्यां पपात ह । ममार चारिपृतना जाता भूयः पराङ्मुखी ॥ ५२ ॥
भग्नपरिबलं दृष्ट्वा क्रुद्धा गणेश्वराः । पुरतो नन्दिनं कृत्वा जिघांसन्ति स दानवान् ॥ ५३ ॥
ते वध्यमानाः प्रमथैर्दैत्याश्चापि पराङ्मुखाः । भूयो निवृत्ता बलिनः कार्त्तस्वरपुरोगमाः ॥ ५४ ॥

हस्ती (नामक असुर) अपने पुत्रको मारा गया देखकर नन्दीके समीप आ गया । उसने धनुष लेकर
तीव्र वेगसे यमदण्डके समान बाणोंसे वार किया । बादल जिस प्रकार जलकी धाराओंसे पर्वतोंको ढँक देता है,
उसी प्रकार उसने नन्दीके साथ वृषभध्वजके उन गणोंको ढँक दिया । असुरके बाणसमूहसे घिरे वे विनायक
आदि बलशाली वीर सिंहके द्वारा आक्रमण किये जानेपर वृषभोंकी भाँति भयसे व्याकुल होकर चारों ओर भागने
गे । कुमारने गणोंको विमुख होते देख शक्तिद्वारा बाणोंको रोक दिया और तुरन्त ही शत्रुके पास पहुँचकर
शक्तिसे उसके हृदयको बेध डाला । शक्तिसे हृदयके बिंध जानेपर हस्ती भूमिपर गिर पड़ा तथा मर गया और
शत्रुसेना फिर पीठ दिखाकर विमुख हो गयी । दैत्यसेनाको छिन्न भिन्न हुई देखकर कुपित हुए गणेश्वर नन्दीको
आगे कर दानवोंको और मारने लगे, किंतु प्रमथोंद्वारा मारे जा रहे वे सभी विमुख बलशाली कार्त्तस्वरादि दैत्य
फिर लौट पड़े ॥ ४९–५४ ॥

तान् निवृत्तान् समीक्ष्यैव क्रोधदीप्तेक्षणः श्वसन् । नन्दिषेणो व्याघ्रमुखो निवृत्तश्चापि वेगवान् ॥ ५५ ॥
तस्मिन् निवृत्ते गणपे पट्टिशाग्रकरे तदा । कार्त्तस्वरो निववृते गदामादाय नारद ॥ ५६ ॥
तमापतन्तं ज्वलनप्रकाशं गणः समीक्ष्यैव महासुरेन्द्रम् ।
न पट्टिशं भ्राम्य जघान मूर्ध्नि कार्त्तस्वरं विस्फुरदुग्रदन्तम् ॥ ५७ ॥
तस्मिन् हते भ्रातरि मातुलेये पाशं समाविध्य तुरङ्गकन्धरः ।
बबन्ध वीरं सह पट्टिशेन गणेश्वरं चाप्यथ नन्दिषेणम् ॥ ५८ ॥
नन्दिषेणं तथा बद्धं समीक्ष्य बलिनां वरः । विशाखः कुपितोऽभ्येत्य शक्तिपाणिरवस्थितः ॥ ५९ ॥
तं दृष्ट्वा बलिनां श्रेष्ठः पाशपाणिरयःशिराः । संयोधयामास बली विशाखं कुक्कुटध्वजम् ॥ ६० ॥

उन्हें लौटकर आते देख वेगशाली व्याघ्रमुख नन्दिषेण भी क्रोधसे आँखें लाल कर हाँफता हुआ
… गया । नारदजी ! उसके बाद हाथके अग्रभागमें पट्टिश लिये हुए उस गणाधिपके लौटनेपर

प्राणियोंको बाधित (पराभूत) करते हैं । परंतु भगवन् ! आप देखिये कि मेरे द्वारा सम्भित (हमारी) यह सेना अनाथिनी नारी-सी होकर प्रमथोंद्वारा कालके मुखमें भेजी जा रही है । भार्गव ! कुजम्भ आदि मेरे भाई तो मारे गये और ये प्रमथगण (अबतक) कुरुक्षेत्रतीर्थके फलके सदृश अक्षय बने हुए हैं ॥ १–४ ॥

तस्मात् कुरुष्व श्रेयो नो न जीयेम यथा परैः । जयेम च परान् युद्धे तथा त्वं कर्तुमर्हसि ॥' ॥
शुक्रोऽप्यकथयच्च श्रुत्वा सान्त्वयन् परमाद्भुतम् ।
वचनं प्राह दैत्यर्षे महर्षिर्दानवेश्वरम् । त्वद्धितार्थं यतिष्यामि करिष्यामि तव प्रियम् ॥ ६ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं विद्यां संजीवनीं कविः । आवर्तयामास तदा विधानेन शुचिव्रतः ॥ ७ ॥
तस्यामावर्त्यमानायां विद्यायामसुरेश्वराः । ये हताः प्रथमं युद्धे दानवास्ते समुत्थिताः ॥ ८ ॥

अतः आप हमलोगोंके लिये कल्याणका विधान करें, जिससे हमलोग शत्रुओंके द्वारा जीते न जायँ और ऐसा भी उपाय करें जिससे हमलोग युद्धमें दूसरोंको जीत सकें । देवर्षे ! महर्षि शुक्राचार्यने अन्धककी बातको सुनकर दानवेश्वरको आश्वासन देते हुए उससे कहा—मैं तुम्हारे कल्याणके लिये उद्योग करूँगा और तुम्हारा प्रिय करूँगा । ऐसा कहकर पवित्र व्रतवाले शुक्राचार्यने विधानके अनुसार संजीवनी विद्याको प्रकट किया । उस विद्याके प्रकट होनेपर युद्धमें पहले मारे गये (सभी) असुरेश्वर और दानव जी उठे ॥ ५–८ ॥

कुजम्भादिषु दैत्येषु भूयः पर्वोत्थितेष्वथ । युद्धायाभ्यागतेष्वेव नन्दी शङ्करमब्रवीत् ॥ ९ ॥
महादेव वचो मह्यं शृणु त्वं परमाद्भुतम् । अविचिन्त्यमसह्यं च मृतानां जीवनं पुनः ॥ १० ॥
ये हताः प्रमथैर्दैत्या यथाशक्त्या रणाजिरे । ते समुज्जीविता भूयो भार्गवेणाथ विद्यया ॥ ११ ॥
तदिदं तैर्महादेव महत्कर्मकृतं रणे । संजातं स्वल्पमेवेश शुक्रविद्याबलाश्रयात् ॥ १२ ॥

उसके बाद कुजम्भ आदि दैत्योंके फिर उठ खड़े होने तथा युद्ध करनेके लिये उपस्थित होनेपर नन्दीने शंकरसे कहा—महादेव ! आप मेरा अत्यन्त अद्भुत वचन सुनिये । मरे हुए लोगोंका फिर भी जी उठना कल्पनासे परे तथा असह्नीय है । संग्राममें प्रमथोंने जिन दैत्योंको बलपूर्वक मारा था, उन्हें भार्गवने संजीवनी विद्याद्वारा पुनः जीवित कर दिया । अतः हे महादेव ! हे ईश ! उन सभीने युद्धमें जो उत्कृष्ट कार्य किया था, वह शुक्रकी विद्याके बलसे महत्त्वहीन हो गया है—सबपर पानी फिर गया है ॥ ९–१२ ॥

इत्येवमुक्ते वचने नन्दिना कुलनन्दिना । प्रत्युवाच प्रभुः प्रीत्या स्वार्थसाधनमुत्तमम् ॥ १३ ॥
गच्छ शुक्रं गणपते ममान्तिकमुपानय । अहं तं संयमिष्यामि यथायोगं समेत्य हि ॥ १४ ॥
इत्येवमुक्तो रुद्रेण नन्दी गणपतिस्ततः । समाजगाम दैत्यानां चमूं शुक्रजिघृक्षया ॥ १५ ॥
तं ददर्शासुरश्रेष्ठो बलवान् हयकन्धरः । सरुरोध तदा मार्गं सिंहस्येव पशुर्वने ॥ १६ ॥
समुपेत्याहनन्नन्दी वज्रेण शतपर्वणा । स पपाताथ निःसंज्ञो ययौ नन्दी ततस्त्वरन् ॥ १७ ॥

कुलको आनन्द देनेवाले नन्दीके इस प्रकार कहनेपर महादेवने स्नेहपूर्वक स्वार्थसिद्ध करनेवाला उत्तम वचन कहा—गणपते ! तुम जाओ और शुक्रको मेरे समीप लिवा लाओ । (फिर तो) मैं उन्हें पाकर योग-क्रियामें संयमित कर दूँगा । रुद्रके ऐसा कहनेपर गणपति नन्दी शुक्राचार्यको पकड़ लानेकी कामनासे दैत्योंकी सेनामें गये । हयकन्धर नामक बलवान् श्रेष्ठ असुरने उन्हें सेनामें आते हुए देखा और जिस प्रकार साधारण पशु (दुस्साहससे) वनमें सिंहका मार्ग रोक दे, उसी प्रकार उनके मार्गको उसने रोका । नन्दीने समीप आकर शतपर्व (वज्र) से उसे मारा और वह अचेत होकर गिर पड़ा । उसके बाद नन्दी तुरत वहाँसे चल दिये ॥ १३–१७ ॥

शुक्रने कहा—प्रभो ! गुणसे सम्पन्न आप परमज्ञानी हरको नमस्कार है । शंकर, महेश, त्रिनेत्रको बार बार नमस्कार है । लोकोंके स्वामिन् ! कृपाकरे ! आप जीवनस्वरूपको नमस्कार है । हे कामदेवके लिये अग्निस्वरूप ! कालशत्रो ! आप वामदेवको नमस्कार है । स्थाणु, विश्वरूप, वामन, सद्गति, महादेव, शर्व और ईश्वर ! आपको बार-बार नमस्कार है । हे त्रिनयन ! हे हर ! हे भव ! हे शंकर ! हे उमापते ! हे जीमूतकेतो ! हे गुहागृह ! हे श्मशाननिरत ! हे भूतिविलेपन ! हे त्रिशूलधारिन् ! हे पशुपते ! हे गोपते ! हे श्रेष्ठ परमपुरुष ! आपको बार-बार नमस्कार है । इस प्रकार कविवर-(शुक्राचार्य)के भक्तिपूर्वक स्तुति करनेपर शंकरने कहा—मैं तुमसे प्रसन्न हूँ । तुम वर माँगो, मैं तुम्हें वर दूँगा । उन्होंने कहा—हे देवेश्वर ! इस समय मुझे यही वर दीजिये कि मैं पुनः आपके उदरसे बाहर निकलूँ । उसके बाद शंकरने नेत्रोंको बंदकर कहा—हे द्विजेन्द्र ! अब तुम बाहर निकल जाओ । (परंतु) शंकरके इस प्रकार कहनेपर भी वे भार्गवश्रेष्ठ शुक्राचार्य उनके उदरमें विचरण करने लगे ॥ २९–३३ ॥

परिभ्रमन् ददर्शाथ शम्भोरेवोदरे कविः । भुवनार्णवपातालान् वृतान् स्थावरजङ्गमैः ॥ ३४ ॥
आदित्यान् वसवो रुद्रान् विश्वेदेवान् गणास्तथा । यक्षान् किंपुरुषादींश्च गन्धर्वाप्सरसां गणान् ॥ ३५ ॥
मुनीन् मनुजसाध्यांश्च पशुकीटपिपीलिकान् । वृक्षगुल्मान् गिरीन् वल्ल्यः फलमूलौषधानि च ॥ ३६ ॥
स्थलस्थांश्च जलस्थांश्चानिमिषान्निमिषानपि । चतुष्पदान् सद्विपदान् स्थावरान् जङ्गमानपि ॥ ३७ ॥
अव्यक्तांश्चैव व्यक्तांश्च सगुणान्निर्गुणानपि ।
स दृष्ट्वा कौतुकाविष्टः परिबभ्राम भार्गवः । तत्रासतो भार्गवस्य दिव्यः संवत्सरो गतः ॥ ३८ ॥
न चान्तमलभद् ब्रह्मंस्ततः श्रान्तोऽभवत् कविः ।
स श्रान्तं वीक्ष्य चात्मानं नालभन्निर्गमं वशी । भक्तिनम्रो महादेवं शरणं समुपागमत् ॥ ३९ ॥

(भगवान् शंकरके उदरमें) विचरण करते हुए शुक्राचार्यने शंकरके ही उदरमें चराचर प्राणियोंसे व्याप्त सारा जगत्, समुद्र एवं पातालोंको देखा । आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, विश्वेदेवों, गणों, यक्षों, किम्पुरुषों, गन्धर्वों, अप्सराओं, मुनियों, मनुष्यों, साध्यों, पशुओं, कीटों, पिपीलिकाओं, वृक्षों, गुल्मों, पर्वतों, लताओं, फलों, मूलों, ओषधियों, स्थलपर रहनेवालों, जलमें रहनेवालों, अनिमिषों, निमिषों, चतुष्पदों, द्विपदों, स्थावरों, जङ्गमों, अव्यक्तों, व्यक्तों, सगुणों एवं निर्गुणोंको देखते हुए कुतूहलवश (उसी उदरमें ही) भार्गव चारों ओर घूमने लगे । भृगु वंशी शुक्राचार्यको वहाँ इस प्रकार रहते हुए एक दिव्य वर्ष बीत गया । परंतु ब्रह्मन् ! शुक्रको अन्त नहीं मिला और वे थक गये । स्वयंको थका हुआ देखकर और बाहर निकलनेका मार्ग न पाकर आत्माको वशमें करनेवाले वे भक्तिसे नम्र होकर महादेवकी शरणमें आ गये ॥ ३४–३९ ॥

शुक्र उवाच

विश्वरूप महारूप विश्वरूपाक्षसूत्रधृक् । सहस्राक्ष महादेव त्वामहं शरणं गतः ॥ ४० ॥
नमोऽस्तु ते शङ्कर शर्व शम्भो सहस्रनेत्राङ्घ्रिभुजङ्गभूषण ।
दृष्ट्वैव सर्वान् भुवनांस्तवोदरे श्रान्तो भवन्तं शरणं प्रपन्नः ॥ ४१ ॥
इत्येवमुक्ते वचने महात्मा शम्भुर्वचः प्राह ततो विहस्य ।
निर्गच्छ पुत्रोऽसि ममाधुना त्वं शिश्नेन भो भार्गववंशचन्द्र ॥ ४२ ॥
नाम्ना तु शुक्रेति चराचरास्त्वां स्तोष्यन्ति नैवात्र विचारमन्यत् ।
इत्येवमुक्त्वा भगवान् मुमोच शिश्नेन शुक्रं स च निर्जगाम ॥ ४३ ॥
विनिर्गतो भार्गववंशचन्द्रः शुक्रत्वमापद्य महानुभावः ।
प्रणम्य शम्भुं स जगाम तूर्णं महासुराणां बलमुत्तमौजाः ॥ ४४ ॥

शम्भु नामका असुरराज ब्रह्मासे लड़ने लगा और कुजम्भ दैत्योंका अन्त करनेवाले महान् ओजस्वी विष्णुसे युद्ध करने लगा। शाम्ब सूर्यसे, त्रिशिरा वरुणसे, द्विमूर्धा पवनसे, राहु सोमसे और विरूपधृक् मित्रसे लड़ने लगा। वसु आदि नामसे विख्यात आठ वसुओंने सरभ, शलभ, पाक, पुर, विपृथु, पृथु, वातापी और इल्वल—इन आठ महान् धनुर्धारी असुरोंको युद्धमें लड़कर (पीछे) हटा दिया। ये असुर भाँति-भाँतिके शस्त्र और अस्त्र लेकर लड़ने लगे। कालनेमि नामका भयंकर महासुर युद्धमें अकेला ही विष्वक्सेन आदि विश्वेदेव गणोंसे युद्ध करने लगा ॥ ५३—५७ ॥

एकादशैव ये रुद्रास्तानेकोऽपि रणोत्कटः। योधयामास तेजस्वी विद्युन्माली महासुरः ॥ ५८ ॥
अश्विनौ च नरको भास्करानेव शम्बरः। साध्यान् मरुद्गणांश्चैव निवातकवचादयः ॥ ५९ ॥
एवं द्वन्द्वसहस्राणि प्रमथामरदानवैः। कृतानि च सुराब्दानां शतानि च महामुने ॥ ६० ॥
यदा न शकिता योद्धुं दैवतैरमरारयः। तदा मायां समाश्रित्य ग्रसन्तः क्रमशोऽव्ययान् ॥ ६१ ॥

रणमें उत्कट तेजवाले विद्युन्माली नामके महासुरने अकेले ही एकादश रुद्रोंका (डटकर) सामना किया। नरकने दोनों अश्विनीकुमारोंसे, शम्बरने (द्वादश) भास्करोंसे एवं निवातकवचादिने साध्यों तथा मरुद्गणोंसे युद्ध किया। महामुने! इस प्रकार आठ दिव्य वर्षोंतक प्रमथों एवं दानवोंके हजारोंकी संख्यामें दो-दो लड़ाके वीर आपसमें द्वन्द्वयुद्ध करते रहे। जब असुरगण इस प्रकार देवोंसे युद्ध करनेमें समर्थहीन हो गये, तब उन लोगोंने मायाका सहारा लेकर देवोंको क्रमश निगलना प्रारम्भ कर दिया ॥ ५८—६१ ॥

ततोऽभवच्छैलपृष्ठं प्रावृडभ्रसमप्रभैः। आवृतं वर्जितं सर्वैः प्रमथैरमरैरपि ॥ ६२ ॥
दृष्ट्वा शून्यं गिरिप्रस्थं ग्रस्तांश्च प्रमथामरान्। क्रोधादुत्पादयामास रुद्रो जृम्भायिकां वशी ॥ ६३ ॥
तया स्पृष्टा दनुसुता अलसा मन्दभाषिणः। वदनं विवृतं कृत्वा मुक्तशस्त्रा विजृम्भिरे ॥ ६४ ॥
जृम्भमाणेषु च तदा दानवेषु गणेश्वराः। सुराश्च निर्ययुस्तूर्णं दैत्यदेहेभ्य आकुलाः ॥ ६५ ॥

उसके बाद सारे प्रमथों और देवोंसे रहित पर्वत वर्षाकालीन मेघके समान दानवोंसे ढक गया। पर्वत-प्रान्तको शून्य और प्रमथों तथा देवोंको ग्रसित हुआ देखकर जितेन्द्रिय रुद्रने क्रोधसे जृम्भायिकाको उत्पन्न किया। उसका स्पर्श करनेपर अस्त्रोंको छोड़कर धीरे-धीरे बोलते हुए आलस्यसे पूर्ण दानव मुखको विवर्ण बनाकर जँभाई लेने लगे। दानवोंके जँभाई लेते समय आकुल होकर गणेश्वर एवं देवतालोग दैत्योंकी देहसे अविलम्ब बाहर निकल गये ॥ ६२—६५ ॥

मेघाभेभ्यो दैत्येभ्यो निर्गच्छन्तोऽमरोत्तमाः। शोभन्ते पद्मपत्राक्षा मेघेभ्य इव विद्युतः ॥ ६६ ॥
गणामरेषु च ब्रह्मन् निर्गतेषु तपोधन। अयुध्यन्त महात्मानो भूय एवातिकोपिताः ॥ ६७ ॥
ततस्तु देवैः सगणैर्दानवाः शर्वपालितैः। पराजीयन्त संग्रामे भूयो भूयस्त्वहर्निशम् ॥ ६८ ॥
ततस्त्रिनेत्रः स्वां संध्यां सप्ताब्दशतिके गते। कालेऽभ्युपासत तदा सोऽष्टादशभुजोऽव्ययः ॥ ६९ ॥

मेघके समान दैत्योंके शरीरसे बाहर निकल रहे कमलके सदृश आँखोंवाले श्रेष्ठ देवगण बादलसे निकलनेवाली बिजलीकी भाँति शोभित हो रहे थे। तपोधन! गणों और देवोंके बाहर आ जानेपर वे महान् (दैत्य) अत्यन्त कुपित होकर युद्ध करने लगे। उसके बाद शम्भुसे पालित गणों एवं देवोंने युद्धमें दानवोंको निरन्तर बारम्बार हराया। उसके बाद सात सौ वर्षोंका समय बीत जानेपर अठारह भुजाओंवाले अविनाशी त्र्यम्बक शंकर अपनी नित्यक्रियाकी संध्या करने लगे ॥ ६६—६९ ॥

उसके बाद महासुर (अन्धक) और सेनापति (सुन्द) शस्त्रास्त्रोंकी मारसे अधिक घायल हुए शरीरवाले रुद्र और नन्दीका रूप धारण कर मन्दरगिरिपर पहुँचे । असुरश्रेष्ठ अन्धक सुन्दका हाथ पकड़कर निडर होकर महादेवके मन्दिरमें घुस गया । उसके बाद शैलादि नन्दीके रूपमें स्थित सुन्दको पकड़कर मारोंसे जर्जर महादेवके शरीरमें छिपे अन्धकको दूरसे आते देखकर पार्वतीने यशस्विनी मालिनी, विजया तथा जयासे कहा—॥८२–८५॥

जये पश्यस्व देवस्य मदर्थे विग्रहं कृतम् । शत्रुभिर्दानववरैस्तदुत्तिष्ठस्व सत्वरम् ॥ ८६ ॥
घृतमानय पौराणं बीजिकां लवणं दधि । व्रणभङ्गं करिष्यामि स्वयमेव पिनाकिनः ॥ ८७ ॥
कुरुष्व शीघ्रं सुयशे स्वभर्तुर्व्रणनाशनम् । इत्येवमुक्त्वा वचनं समुत्थाय वरासनात् ॥ ८८ ॥
अभ्युद्ययौ तदा भक्त्या मन्यमाना वृषध्वजम् । शूलपाणेस्ततः स्थित्वा रूपं चिह्नानि यत्नतः ॥ ८९ ॥
अन्विवेष ततो ब्रह्मन्नोभौ पार्श्वस्थितौ वृषौ । सा ज्ञात्वा दानवं रौद्रं मायाच्छादितविग्रहम् ॥ ९० ॥

जये ! देखो, मेरे स्वामीके शरीरको मेरे लिये दानव-शत्रुओंने किस प्रकार जर्जरित कर डाला है । इसलिये अविलम्ब उठो । पुराना घी, बीजिका, लवण और दही ले आओ । पिनाक धारण करनेवाले शंकरके घावोंको मैं स्वयं ही भरूँगी । यशस्विनि ! शीघ्र अपने स्वामीके घावोंको भरो—ऐसा कहते हुए आसनसे उठकर उसे वृषध्वज शंकर समझती हुई वे भक्तिपूर्वक उसके पास गयीं । उसके बाद खड़ी होकर वे शंकरके रूप एवं चिह्नोंको भलीभाँति देखने लगीं । ब्रह्मन् ! उन्होंने देखा कि उसकी बगलमें स्थित दोनों वृष नहीं हैं । इसलिये उन्हें यह मालूम हो गया कि यह मायासे छिपे शरीरवाला भयानक दानव है ॥ ८६–९० ॥

अपयानं तदा चक्रे गिरिराजसुता मुने । देव्याश्चिन्तितमाज्ञाय सुन्दं त्यक्त्वान्धकोऽसुरः ॥ ९१ ॥
समाद्रवत वेगेन हरकान्तां विभावरीम् । समाद्रवत दैतेयो येन मार्गेण साऽगमत् ॥ ९२ ॥
अपस्कारान्तरं भञ्जन् पादप्लुतिभिराकुलः । समापतन्तं दृष्ट्वैव गिरिजा प्राद्रवद् भयात् ॥ ९३ ॥
गृहं त्यक्त्वा ह्युपवनं सखीभिः सहिता तदा । तत्राप्यनुजगामासौ मदान्धो मुनिपुङ्गव ॥ ९४ ॥
तथापि न शशापैनं तपसो गोपनाय तु । तद्भयादाविशद् गौरी श्वेतार्ककुसुमं शुचि ॥ ९५ ॥

मुने ! उसके बाद गिरिराजकी कन्या भाग चलीं । देवीके विचारको समझकर अन्धकासुर सुन्दको छोड़कर शीघ्रतापूर्वक शंकरप्रिया विभावरीके पीछे उसी रास्तेसे दौड़ा, जिससे वे गयी थीं । चरणके थपेड़ोंसे राहकी रुकावटोंको चूर चूर करते हुए वह अधीरतापूर्वक दौड़ पड़ा । उसे आते देखकर गिरितनया भयसे (और) भाग चलीं । मुनिवर ! उसके बाद देवी सखियोंके साथ घर छोड़कर उपवनमें चली गयीं । वहाँ भी मदान्ध-(अन्धक-) ने उनका पीछा किया । इतनेपर भी अपने तपकी रक्षाके लिये उन्होंने उसे शाप नहीं दिया । किंतु गौरी स्वयं उसके डरसे पवित्र सफेद अर्कके फूलमें छिप गयीं ॥ ९१–९५ ॥

विजयाद्या महागुल्मे सम्प्रयाता लयं मुने । नष्टायामथ पार्वत्यां भूयो हैरण्यलोचनिः ॥ ९६ ॥
सुन्दं हस्ते समादाय ससैन्यं पुनरागमत् । अन्धके पुनरायाते सबलं मुनिसत्तम ॥ ९७ ॥
प्रावर्तत महायुद्धं प्रमथासुरयोरथ । ततोऽमरगणश्रेष्ठो विष्णुश्चक्रगदाधरः ॥ ९८ ॥
विजयानासुरबलं शङ्करप्रियकाम्यया । शार्ङ्गचापच्युतैर्बाणैः संस्यूता दानवर्षभाः ॥ ९९ ॥
पञ्च षट् सप्त षाष्टौ वा प्रम्लापादैर्नता इव । गदया कांश्चिदपरांश्चक्रेणान्यांश्च जनार्दनः ॥१००॥
खड्गेन चक्रतान्यान् हलयान्यान् भस्मसाद् व्यधात् । हलेनाकृष्य चैवान्यान् मुसलेन व्यचूर्णयत् ॥१०१॥

सस्पृश्याप सरस्वत्या स्नात्वा च विधिना हरः । कृतार्थो भक्तिमान् मूर्ध्ना पुष्पाञ्जलिमुपाक्षिपत् ॥ ७० ॥
ततो ननाम शिरसा ततश्चक्रे प्रदक्षिणम् । हिरण्यगर्भेत्यादित्यमुपतस्थे जजाप ह ॥ ७१ ॥
त्वष्ट्रे नमो नमस्तेऽस्तु सम्यगुच्चार्य शूलधृक् । ननर्त भावगम्भीरं दोर्दण्डं भ्रामयन् बलात् ॥ ७२ ॥
परिनृत्यति देवेशे गणाश्चैवामरास्तथा । नृत्यन्ते भावसंयुक्ता हरस्यानुविलासिनः ॥ ७३ ॥

उन भक्तिमान् शंकरने जलका स्पर्शकर (आचमनकर) विधिपूर्वक सरस्वतीमें स्नान किया । वे कृतार्थ हो गये । उन्होंने पुष्पाञ्जलि सिरसे लगाकर समर्पित की । उसके बाद उन्होंने सिर झुकाकर प्रणाम एवं उसके पश्चात् प्रदक्षिणा कर 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि मन्त्रसे सूर्यकी वन्दना की और जप किया । उसके बाद 'त्वष्ट्रे नमो नमस्तेऽस्तु' इसका स्पष्टरूपसे उच्चारण कर शूलपाणि शंकर बलपूर्वक अपना बाहुदण्ड घुमाते हुए भाव-गम्भीर होकर नाचने लगे । देवेश्वरके नाचनेपर उनके अनुगामी गण और देवता भी (वैसे ही) भाव-विभोर होकर नाचने लगे ॥ ७०—७३ ॥

सन्ध्यामुपास्य देवेशः परिनृत्य यथेच्छया । युद्धाय दानवैः सार्द्धं मतिं भूयः समादधे ॥ ७४ ॥
ततोऽमरगणैः सर्वैस्त्रिनेत्रभुजपालितैः । दानवा निर्जिताः सर्वे बलिभिर्भयवर्जितैः ॥ ७५ ॥
स्वबलं निर्जितं दृष्ट्वा मत्वाऽजेयं च शङ्करम् । अन्धकः सुन्दमाहूय इदं वचनमब्रवीत् ॥ ७६ ॥
सुन्द भ्राताऽसि मे वीर विश्वास्यः सर्ववस्तुषु । तद्वदाम्यद्य यद्वाक्यं तच्छ्रुत्वा यत्क्षमं कुरु ॥ ७७ ॥

सन्ध्योपासन करके इच्छानुकूल नृत्य करनेके बाद शंकरने फिर दानवोंसे संग्राम करनेका विचार किया । फिर तो शंकरकी भुजाओंसे रक्षित बलशाली और निर्भय सम्पूर्ण देवताओंने सारे दानवोंको जीत लिया । अपनी सेनाको पराजित देखकर तथा महादेवको पराजित करनेमें कठिनाई जान करके अन्धकने सुन्दको बुलाकर यह वचन कहा—वीर सुन्द ! तुम मेरे भाई हो और सभी विषयोंमें तुम मेरे विश्वासी हो । इसलिये आज मैं तुमसे जो कहता हूँ, उसे सुनकर यथाशक्ति उसे पूर्ण करो ॥ ७४—७७ ॥

दुर्जयोऽसौ रणपटुर्धर्मात्मा कारणान्तरैः । समासते हि हृदये पद्माक्षी शैलनन्दिनी ॥ ७८ ॥
तदुत्तिष्ठस्व गच्छामो यत्रास्ते चारुहासिनी । तत्रैनां मोहयिष्यामि हररूपेण दानव ॥ ७९ ॥
भवान् भवस्यानुचरो भव नन्दी गणेश्वरः । ततो गत्वाऽथ भुक्त्वा तां जेष्यामि प्रमथान् सुरान् ॥ ८० ॥
इत्येवमुक्ते वचने बाढं सुन्दोऽभ्यभाषत । समजायत शैलादिरन्धकः शङ्करोऽप्यभूत् ॥ ८१ ॥

किन्हीं मुख्य कारणोंसे युद्ध करनेमें परम चतुर ये धर्मात्मा दुर्जय हैं । मेरे हृदयमें कमलनयनी पार्वती बसी हुई है । अतः उठो, हम वहाँ चलें, जहाँ वह मधुर मुसकानवाली स्थित है । दानव ! वहाँ मैं शंकरका रूप धारण करके उसे मुग्ध कर दूँगा (भुलावेमें डाल दूँगा) । तुम शंकरका अनुचर गणेश्वर नन्दी बनो । तब वहाँ पहुँच करके और उसका सुख भोगकर प्रमथों एवं देवोंको जीतूँगा । ऐसा कहनेपर सुन्दने कहा—ठीक है । उसके बाद वह शैलादि (नन्दी) बन गया और अन्धक शिव बन गया ॥ ७८—८१ ॥

नन्दिरुद्रौ ततो भूत्वा महासुरचमूपती । सम्प्राप्तौ मन्दरगिरिं प्रहारैः क्षतविग्रहौ ॥ ८२ ॥
हस्तमालम्ब्य सुन्दस्य अन्धको हरमन्दिरम् । विवेश निर्विशङ्केन चित्तेनासुरसत्तमः ॥ ८३ ॥
ततो गिरिसुता दूरादायान्तं वीक्ष्य चान्धकम् । महेश्वरवपुश्छन्नं प्रहारैर्जर्जरच्छविम् ॥ ८४ ॥
सुन्दं शैलादिरूपस्थमवरुह्याविशत् ततः । तं दृष्ट्वा मालिनीं प्राह सुयशां विजयां जयाम् ॥ ८५ ॥

उसके बाद महासुर (अन्धक) और सेनापति (सुन्द) शस्त्रोंकी मारसे अधिक घायल हुए शरीरवाले रुद्र और नन्दीका रूप धारण कर मन्दरगिरिपर पहुँचे। असुरश्रेष्ठ अन्धक सुन्दका हाथ पकड़कर निडर होकर महादेवके मन्दिरमें घुस गया। उसके बाद शैलादि नन्दीके रूपमें स्थित सुन्दको पकड़कर मारोंसे जर्जर महादेवके शरीरमें छिपे अन्धकको दूरसे आते देखकर पार्वतीने यशस्विनी मालिनी, विजया तथा जयासे कहा—॥८२–८५॥

जये पश्यस्व देवस्य मदर्थे विग्रहं कृतम्। शत्रुभिर्दानववरैस्त्वदुत्तिष्ठस्व सत्वरम् ॥ ८६ ॥
घृतमानय पौराणं बीजिकां लवणं दधि। व्रणभङ्गं करिष्यामि स्वयमेव पिनाकिनः ॥ ८७ ॥
कुरुष्व शीघ्रं सुयशे स्वभर्तुर्व्रणनाशनम्। इत्येवमुक्त्वा वचनं समुत्थाय वरासनात् ॥ ८८ ॥
अभ्युद्ययौ तदा भक्त्या मन्यमाना वृषध्वजम्। शूलपाणेस्ततः स्थित्वा रूपं चिह्नानि यत्नतः ॥ ८९ ॥
अन्विवेष ततो ब्रह्मन्नोभौ पार्श्वस्थितौ वृषौ। सा ज्ञात्वा दानवं रौद्रं मायाच्छादितविग्रहम् ॥ ९० ॥

जये! देखो, मेरे स्वामीके शरीरको मेरे लिये दानव-शत्रुओंने किस प्रकार जर्जरित कर डाला है। इसलिये अविलम्ब उठो। पुराना घी, बीजिका, लवण और दही ले आओ। पिनाक धारण करनेवाले शंकरके घावोंको मैं स्वयं ही भरूँगी। यशस्विनि! शीघ्र अपने स्वामीके घावोंको भरो—ऐसा कहते हुए आसनसे उठकर उसे वृषध्वज शंकर समझती हुई वे भक्तिपूर्वक उसके पास गयीं। उसके बाद खड़ी होकर वे शंकरके रूप एवं चिह्नोंको भलीभाँति देखने लगीं। ब्रह्मन्! उन्होंने देखा कि उसकी बगलमें स्थित दोनों वृष नहीं हैं। इसलिये उन्हें यह मालूम हो गया कि यह मायासे छिपे शरीरवाला भयानक दानव है ॥ ८६–९० ॥

अपयानं तदा चक्रे गिरिराजसुता मुने। देव्याश्चिन्तितमाज्ञाय सुन्दं त्यक्त्वान्धकोऽसुरः ॥ ९१ ॥
समाद्रवत वेगेन हरकान्तां विभावरीम्। समाद्रवत दैतेयो येन मार्गेण साऽगमत् ॥ ९२ ॥
अपस्कारान्तरं भञ्जन् पादप्लुतिभिराकुलः। तमापतन्तं दृष्ट्वैव गिरिजा प्राद्रवद् भयात् ॥ ९३ ॥
गृहं त्यक्त्वा ह्युपवनं सखीभिः सहिता तदा। तत्राप्यनुजगामासौ मदान्धो मुनिपुङ्गव ॥ ९४ ॥
तथापि न शशापैनं तपसो गोपनाय तु। तद्भयादाविशद् गौरी श्वेतार्ककुसुमं शुचि ॥ ९५ ॥

मुने! उसके बाद गिरिराजकी कन्या भाग चलीं। देवीके विचारको समझकर अन्धकासुर सुन्दको छोड़कर शीघ्रतापूर्वक शंकरप्रिया विभावरीके पीछे उसी रास्तेसे दौड़ा, जिससे वे गयी थीं। चरणके चपेटोंसे राहकी रुकावटोंको चूर चूर करते हुए वह अधीरतापूर्वक दौड़ पड़ा। उसे आते देखकर गिरितनया भयसे (और) भाग चलीं। मुनिवर! उसके बाद देवी सखियोंके साथ घर छोड़कर उपवनमें चली गयीं। वहाँ भी मदान्ध-(अन्धक-) ने उनका पीछा किया। इतनेपर भी अपने तपकी रक्षाके लिये उन्होंने उसे शाप नहीं दिया। किंतु गौरी स्वयं उसके डरसे पवित्र सफेद अर्कके फूलमें छिप गयीं ॥ ९१–९५ ॥

विजयाद्या महागुल्मे सम्प्रयाता लयं मुने। नष्टायामथ पार्वत्यां भूयो हैरण्यलोचनिः ॥ ९६ ॥
सुन्दं हस्ते समादाय ससैन्यः पुनरागमत्। अन्धके पुनरायाते सबलं मुनिसत्तम ॥ ९७ ॥
प्रावर्तत महायुद्धं प्रमथासुरयोरथ। ततोऽमरगणश्रेष्ठो विष्णुश्चक्रगदाधरः ॥ ९८ ॥
निजघानासुरबलं शङ्करप्रियकाम्यया। शार्ङ्गचापच्युतैर्बाणैः सस्यूता दानवर्षभाः ॥ ९९ ॥
पञ्च षट् सप्त चाष्टौ वा प्रभ्नपार्श्वेना इव। गदया कांश्चिदवधीच्चक्रेणान्याञ्जनार्दनः ॥१००॥
खड्गेन चकर्तान्यान् दृष्ट्वान्यान् भस्मसाद् व्यधात्। हलेनाकृष्य चैवान्यान् मुसलेन व्यचूर्णयत् ॥१०१॥

मुने ! विजया आदि भी घनी झाड़ियोंमें छिप गयीं । उसके बाद पार्वतीके अदृश्य हो जानेपर हिरण्याक्षपुत्र (अन्धक) सुन्दका हाथ पकड़कर पुन अपनी सेनामें वापस आ गया । मुनिसत्तम ! अन्धकके अपनी सेनामें पुनः लौट आनेपर प्रमथों और असुरोंमें घमासान लड़ाई होने लगी । उसके बाद अमरगणोंमें श्रेष्ठ चक्र एवं गदा धारण करनेवाले विष्णुभगवान् शंकरका प्रिय करनेकी इच्छासे असुर-सेनाका संहार करने लगे । शार्ङ्गनामक धनुषसे निकले हुए बाणोंसे पाँच-पाँच, छ -छ , सात-सात, आठ-आठ श्रेष्ठ दानव उसी प्रकार विदीर्ण होने लगे जैसे सूर्यकी किरणोंसे 'घन' (अन्धकार) विदीर्ण हो जाते हैं । जनार्दनने कुछको गदासे तथा कुछको चक्रसे मार डाला। किन्हींको तलवारसे काट डाला और किन्हींको देखकर ही भस्म कर दिया तथा कुछ असुरोंको हलद्वारा खींचकर मूसलसे चूर्ण-विचूर्ण कर दिया ॥ ९६-१०१ ॥

गरुडः पक्षपाताभ्यां तुण्डेनाप्युरसाऽहनत् । स चादिपुरुषो धाता पुराणः प्रपितामहः ॥१०२॥
भ्रामयन् विपुलं पद्ममभ्यषिञ्चत वारिणा । सस्पृष्टा ब्रह्मतोयेन सर्वतीर्थमयेन हि ॥१०३॥
गणामरगणाश्चासन् नवनागशताधिकाः । दानवास्तेन तोयेन सस्पृष्टाश्चाघहारिणा ॥१०४॥
सवाहनाः क्षयं जग्मुः कुलिशेनेव पर्वताः । दृष्ट्वा ब्रह्महरौ युद्धे घ्नन्तौ महासुरान् ॥१०५॥
शतक्रतुश्च दुद्राव प्रगृह्य कुलिशं बली । तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बलो दानवसत्तमः ॥१०६॥
मुक्त्वा देवं गदापाणिं विमानस्थं च पद्मजम् ।
शक्रमेवाद्रवद् योद्धुं मुष्टिमुद्यम्य नारद । बलवान् दानवपतिरजेयो देवदानवैः ॥१०७॥

गरुड़ने अपने दोनों डैनोंकी मारसे चोंच तथा छातीके बलसे अनेक दैत्योंको मौतके घाट उतार दिया। पुरातन आदिपुरुष धाता प्रपितामहने विशाल कमलको घुमाते हुए सभी (देवगणों) को जलसे अभिषिक्त किया । सर्वतीर्थरूप ब्रह्म जलका स्पर्श होनेसे गण तथा देवतालोग नौ सौ हाथियोंसे भी अधिक पराक्रमवाले हो गये । और सभी पाप दूर करनेवाले उस जलके स्पर्शके प्रभावसे सवारीके साथ दानव ऐसे नष्ट होने लगे जैसे वज्रसे पर्वत नष्ट हो जाते हैं । ब्रह्मा और विष्णुको संग्राममें महासुरोंको मारते देखकर (उत्साहमें आकर) बलशाली इन्द्र भी अपना वज्र लेकर दौड़ पड़े । [पुलस्त्यजी कहते हैं–] नारदजी ! उन्हें आते देखकर देवों तथा दानवोंसे अजेय शक्तिशाली श्रेष्ठ दानवपति बल, गदाधर विष्णु और विमानारूढ ब्रह्मासे लड़ना छोड़कर मुट्ठी तानकर इन्द्रसे ही युद्ध करनेके लिये दौड़ पड़ा ॥ १०२-१०७ ॥

तमापतन्तं त्रिदशेश्वरस्तु दोर्ष्णा सहस्रेण यथाबलेन ।
वज्रं परिभ्राम्य बलस्य मूर्ध्नि चिक्षेप हे मूढ हतोऽस्युदीर्य ॥ १०८ ॥
स तस्य मूर्ध्नि प्रवरोऽपि वज्रो जगाम चूर्णं हि सहस्रधा मुने ।
बलोऽद्रवद् देवपतिश्च भीतः पराङ्मुखोऽभूत् समरा महर्षे ॥ १०९ ॥
तं चापि जम्भो विमुखं निरीक्ष्य भूत्वाऽग्रतः प्राह न युक्तमेतत् ।
तिष्ठस्व राजाऽसि चराचरस्य न राजधर्मे गदितं पलायनम् ॥ ११० ॥
सहस्राक्षो जम्भवाक्यं निशम्य भीतस्तूर्णं विष्णुमागाम्महर्षे ।
उपेत्याह श्रूयतां वाक्यमीश त्वं मे नाथो भूतभव्येश विष्णो ॥ १११ ॥

उसे आते देखकर देवताओंके स्वामी इन्द्रने हजारों भुजाओंसे अपनी शक्तिभर वज्रको घुमाते हुए उसे बलके सिरपर 'हे मूढ ! अब तुम मारे गये'—कहकर फेंक दिया । मुने ! वह श्रेष्ठ वज्र भी उसके सिरपर शीघ्र ही हजारों टुकड़ोंमें टूक-टूक हो गया । (फिर) बल (इन्द्रकी ओर) दौड़ा । महर्षे ! देवराज

भयभीत होकर युद्धसे विमुख हो गये—भाग गये। उन्हें विमुख होकर भागते देख जम्भने आगे आकर कहा कि यह उचित नहीं है। इन्द्र! आप समस्त स्थावर-जङ्गमके राजा हैं। राजधर्ममें लड़ाईके मैदानसे भागनेका नियम नहीं है। महर्षे! जम्भका वचन सुनकर भयभीत होकर इन्द्र जल्दीसे विष्णुके समीप चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने कहा—हे ईश! आप मेरी बात सुनें। हे भूत तथा भव्यके स्वामी विष्णो! आप मेरे स्वामी हैं॥ १०८–१११॥

जम्भस्तर्जयतेऽत्यर्थं मां निरायुधमीक्ष्य हि। आयुधं देहि भगवन् त्वामहं शरणं गतः॥ ११२॥
तमुवाच हरिः शक्र त्यक्त्वा दर्पं व्रजाधुना। प्रार्थयस्वायुधं वह्निं स ते दास्यत्यसंशयम्॥ ११३॥
जनार्दनवचः श्रुत्वा शक्रस्त्वरितविक्रमः। शरणं पावकमगादिदं चोवाच नारद॥ ११४॥

जम्भ मुझे शस्त्रास्त्रसे रहित देखकर बहुत अधिक ललकार रहा है। भगवन्! आप मुझे आयुध दें। मैं आपकी शरणमें आया हूँ। विष्णुने इन्द्रसे कहा—इस समय (अपने पदके) अहंकारको छोड़कर तुम अग्निदेवके पास जाओ और उनसे आयुधके लिये प्रार्थना करो। वे निस्सन्देह तुम्हें आयुध प्रदान करेंगे। नारदजी! जनार्दनकी बात सुनकर तीव्र गतिवाले इन्द्र अग्निकी शरणमें चले गये और उनसे उन्होंने कहा—॥ ११२–११४॥

शक्र उवाच

निघ्नतो मे बलं वज्रं कृशानो शतधा गतम्। एष चाह्वयते जम्भस्तस्माद्देह्यायुधं मम॥ ११५॥

इन्द्रने कहा—अग्निदेव! बलको मारनेमें मेरा वज्र सैकड़ों टुकड़े हो गया, यह जम्भ मुझे ललकार रहा है। अतः आप मुझे आयुध प्रदान करें॥ ११५॥

पुलस्त्य उवाच

तमाह भगवान् वह्निः प्रीतोऽस्मि तव वासव। यत्त्वं दर्पं परित्यज्य मामेव शरणं गतः॥ ११६॥
इत्युच्चार्य स्वशक्त्यास्तु शक्तिं निष्क्राम्य भावतः। प्रादादिन्द्राय भगवान् रोचमानो दिवं गतः॥ ११७॥
तामादाय तदा शक्तिं शतघण्टां सुदारुणाम्। प्रत्युद्ययौ तदा जम्भं हन्तुकामोऽरिमर्दनः॥ ११८॥
तेनातियशसा दैत्यः सहसैवाभिसद्रुतः। क्रोधं चक्रे तदा जम्भो निजघान गजाधिपम्॥ ११९॥

पुलस्त्यजी बोले—भगवन्! अग्निदेवने उनसे कहा—वासव! मैं आपके ऊपर प्रसन्न हूँ, क्योंकि आप अहंकार छोड़कर मेरी शरणमें आये हैं। ऐसा कहनेके बाद प्रकाशयुक्त भगवान् अग्निदेवने भावपूर्वक अपनी शक्तिसे एक दूसरी शक्ति निकालकर उसे इन्द्रको दे दिया और वे स्वर्ग चले गये। शत्रुका मर्दन करनेवाले इन्द्र सैकड़ों घण्टाओंसे युक्त उस भीषण शक्तिको लेकर जम्भको मारनेके लिये चले गये। उन अत्यन्त यशस्वीके सहसा पीछा करनेपर जम्भने कोपपूर्वक गजाधिप (ऐरावत) पर वार कर दिया॥ ११६–११९॥

जम्भमुष्टिनिपातेन भग्नकुम्भकटो गजः। निपपात यथा शैलः शक्रवज्रहतः पुरा॥१२०॥
पतमानाद् द्विपेन्द्रात्तु शक्रश्चाप्लुत्य वेगवान्। त्यक्त्वैव मन्दरगिरिं पपात वसुधातले॥१२१॥
पतमानं हरिं सिद्धाश्चारणाश्च तदाऽब्रुवन्। मा मा शक्र पतस्वाद्य भूतले तिष्ठ वासव॥१२२॥
स तेषां वचनं श्रुत्वा योगी तस्थौ क्षणं तदा। प्राह चैतान् कथं योत्स्ये अत्र शत्रुभिः सह॥१२३॥

जम्भकी मुट्ठीके आघातसे हाथीका कुम्भस्थल विदीर्ण हो गया। उसके बाद वह इस प्रकार गिर पड़ा जैसे पूर्वकालमें इन्द्रके वज्रसे आहत होकर पर्वत गिरता था। इन्द्र गिरते हुए गजेन्द्रसे वेगपूर्वक उछले और मन्दर

पर्वतको भी छोड़कर पृथ्वीकी ओर नीचे गिर पड़े । उसके बाद गिरते हुए इन्द्रसे सिद्धों एवं चारणोंने कहा— इन्द्र ! आप पृथ्वीपर न गिरें । आप रुकें । उनकी बात सुनकर योगी इन्द्र उस समय आकाशमें स्थिर हो गये और बोले—मैं बिना वाहनके इन शत्रुओंसे कैसे लड़ूँगा ? ॥ १२०—१२३ ॥

तमूचुर्देवगन्धर्वा मा विषादं व्रजेश्वर । युध्यस्व त्वं समारुह्य प्रेषयिष्याम यद् रथम् ॥१२४॥
इत्येवमुक्त्वा विपुलं रथं स्वस्तिकलक्षणम् । वानरध्वजसंयुक्तं हरिभिर्हरिभिर्युतम् ॥१२५॥
शुद्धजाम्बूनदमयं किङ्किणीजालमण्डितम् । शक्राय प्रेषयामासुर्विश्वावसुपुरोगमाः ॥१२६॥
तमागतमुदीक्ष्याथ हीनं सारथिना हरिः । प्राह योत्स्ये कथं युद्धे संयमिष्ये कथं हयान् ॥१२७॥

देवताओं और गन्धर्वोंने उत्तर दिया—हे ईश्वर (इन्द्र) ! आप चिन्तित न हों । हमलोग जो रथ भेज रहे हैं उसपर चढ़कर आप युद्ध करें । ऐसा कहकर विश्वावसु आदिने स्वस्तिकके आकारवाले कपिध्वजसे युक्त हरितवर्ण अश्वोंसे जुते शुद्ध स्वर्णसे बनाये गये तथा किंकिणीजालसे मण्डित विशाल रथ इन्द्रके लिये भेज दिया । इन्द्र सारथिसे रहित उस रथको देखकर बोले—मैं युद्धमें कैसे लड़ूँगा और कैसे घोड़ोंको संयत करूँगा—दोनों काम एक साथ कैसे होंगे ? ॥ १२४—१२७ ॥

यदि कश्चिद्धि सारथ्यं करिष्यति ममाधुना । ततोऽहं घातये शत्रून् नान्यथेति कथंचन ॥१२८॥
ततोऽब्रुवंस्ते गन्धर्वा नास्माकं सारथिर्विभो । विद्यते स्वयमेवाश्वास्त्वं संयन्तुमिहार्हसि ॥१२९॥
इत्येवमुक्ते भगवांस्त्यक्त्वा स्यन्दनमुत्तमम् । क्ष्मातलं निपपातैव परिभ्रष्टस्रगम्बरः ॥१३०॥
चलन्मौलिर्मुक्तकचः परिभ्रष्टायुधाङ्गदः । पतमानं सहस्राक्षं दृष्ट्वा भूः समकम्पत ॥१३१॥

इस समय मेरे सारथिका काम यदि कोई करे तो मैं शत्रुओंका नाश कर सकता हूँ, अन्य किसी प्रकार नहीं । उसके बाद गन्धर्वोंने कहा—विभो ! हमारे पास कोई सारथि नहीं है । आप स्वयं घोड़ोंको नियन्त्रित कर सकते हैं । ऐसा कहनेपर भगवान् इन्द्र उत्तम रथको छोड़कर अस्त-व्यस्त हुए माल्य और वस्त्रोंके साथ पृथ्वीपर गिर गये । (पृथ्वीपर गिरते समय इन्द्रका) सिर काँप रहा था, उनके बाल बिखर गये थे और उनके आयुध तथा बाजूबन्द नीचे गिर पड़े थे । इन्द्रको गिरते देख पृथ्वी काँपने लगी ॥ १२८—१३१ ॥

पृथिव्यां कम्पमानायां शमीकर्षेस्तपस्विनी । भार्याऽब्रवीत् प्रभो बालं बहिः कुरु यथासुखम् ॥१३२॥
स तु शीलापयः श्रुत्वा किमर्थमिति चाब्रवीत् । सा चाह श्रूयतां नाथ दैवज्ञपरिभाषितम् ॥ १३३ ॥
यदेयं कम्पते भूमिस्तदा प्रक्षिप्यते बहिः । यद्वा ततो मुनिश्रेष्ठ तद् भवेद् द्विगुणं मुने ॥ १३४ ॥
एतद्वाक्यं तदा श्रुत्वा बालमादाय पुत्रकम् । निराशङ्को बहिः शीघ्रं प्राक्षिपत् क्ष्मातले द्विजः ॥१३५॥

पृथ्वीके काँपनेपर शमीक ऋषिकी तपस्विनी पत्नीने कहा—प्रभो ! बालकको सँभालकर बाहर ले जायँ । उन्होंने शीलाकी बात सुनकर कहा—क्यों ? उसने कहा—हे नाथ ! सुनिये, ज्योतिषियोंका कहना है कि इस भूमिके काँपनेपर वस्तुएँ बाहर निकाल दी जाती हैं, क्योंकि मुनिश्रेष्ठ ! उस समय बाहरमें रखी हुई वस्तु दुगुनी हो जाती है । इस वाक्यको सुनकर उस समय ब्राह्मणने अपने बालक पुत्रको लेकर निःशङ्क हो पृथ्वीपर बाहर रख दिया ॥ १३२—१३५ ॥

भूयो गोयुगलार्थाय प्रविष्टो भार्यया द्विजः । निवारितो गता वेला मर्वहानिर्भविष्यति ॥ १३६ ॥
इत्येवमुक्ते देवर्षिर्बहिर्निर्गम्य वेगवान् । ददर्श बालद्वितयं समरूपमवस्थितम् ॥ १३७ ॥
तं दृष्ट्वा देवता पूज्य भार्यां चारुप्रदर्शनाम् । प्राह तयं न विन्दामि यत् पृच्छामि वदस्व तत् ॥१३८॥
बालस्यास्य द्वितीयस्य के भविष्यद्गुणा वद । आम्यानि चास्य यचोत कर्म तद् कथयाधुना ॥१३९॥

फिर दो गायोंके लिये भीतर प्रविष्ट होनेपर पत्नीने ब्राह्मणको निवारित करते हुए कहा—समय बीत रहा है, अब इस समय आधे भागकी हानि हो जायगी । [पुलस्त्यजी कहते हैं—] देवर्षे ! ऐसा कहनेपर (ब्राह्मणने) शीघ्रतासे बाहर निकलकर देखा कि समान आकारके दो बालक पड़े हुए हैं । उन्हें देखकर उसने देवताओंकी पूजा करनेके बाद अपनी अद्भुत ज्ञानवती पत्नीसे कहा—मैं इसका रहस्य नहीं समझता । अत मैं जो पूछता हूँ उसे बतलाओ । यह बतलाओ कि इस दूसरे बालकमें कौन-से गुण होंगे ? उसके भाग्यों एव कर्मोंको भी तुम अभी बतलाओ ॥ १३६–१३९ ॥

साऽब्रवीन्नाद्य ते वक्ष्ये वदिष्यामि पुन प्रभो । सोऽब्रवीद् यद् मेऽद्यैव नोचेन्नाश्नामि भोजनम् ॥१४०॥
सा प्राह श्रूयता ब्रह्मन् वदिष्ये वचनं हितम् । कातरेणाद्य यत्पृष्टं भाव्य कारुर्यं किल ॥१४१॥
इत्युक्तवति वाक्ये तु बाल एव ह्यचेतनः । जगाम साह्यं शक्रस्य कर्तुं सौत्यविशारद ॥१४२॥
त व्रजन्त हि गन्धर्वा विश्वावसुपुरोगमाः । ज्ञात्वेन्द्रस्यैव साहाय्ये तेजसा समवर्धयन् ॥१४३॥

पत्नीने कहा—स्वामिन् ! मैं तुम्हें आज नहीं बतलाऊँगी । फिर कभी दूसरे समय बतलाऊँगी । उन्होंने कहा—आज ही मुझे बताओ, अन्यथा मैं भोजन नहीं करूँगा । उसने कहा—ब्रह्मन् ! आप सुनिये, आपने आर्त्ततासे जो पूछा है उस हितकर बातको मैं कहती हूँ । यह (बालक) निश्चय ही कारु (शिल्पी) होगा । ऐसा कहनेपर अज्ञान (अवस्थामें) होते हुए भी वह सूत-कर्ममें कुशल बालक इन्द्रकी सहायताके लिये गया । विश्वावसु आदि गन्धर्वोंने उस बालकको इन्द्रकी सहायताके लिये जाते हुए जानकर उसके तेजको बढ़ा दिया ॥ १४०–१४३ ॥

गन्धर्वतेजसा युक्त शिशु शक्रं समेत्य हि । प्रोवाचैह्येहि देवेश प्रियो यन्ता भवामि ते ॥ १४४ ॥
तच्छ्रुत्वास्य हरि प्राह कस्य पुत्रोऽसि बालक । सयन्ताऽसि कथ चाश्वान् संशय प्रतिभाति मे ॥ १४५॥
सोऽब्रवीदग्नितेजोत्थ क्ष्माभवं विद्धि वासव । गन्धर्वतेजसा युक्त वाजियानविशारदम् ॥१४६॥
तच्छ्रुत्वा भगवाञ्छक्र स्व भेजे योगिना वर । स चापि विप्रतनयो मातलिर्नामविश्रुत ॥१४७॥
ततोऽधिरूढस्तु रथ शक्रस्त्रिदशपुङ्गव । रश्मीन् शमीकतनयो मातलि प्रगृहीतवान् ॥१४८॥

गन्धर्वोके तेजसे परिपूर्ण होकर बालकने इन्द्रके निकट जाकर कहा—देवेश ! आइये, आइये ! मैं आपका प्रिय सारथि बनूँगा । उसे सुनकर इन्द्रने कहा—हे बालक ! तुम किसके पुत्र हो ? तुम घोड़ोंको कैसे सयमित करोगे ? इस विषयमें मुझे सन्देह हो रहा है । उसने कहा—वासव ! मुझे अग्निके तेजसे जल-वैभवमें बढ़े, भूमिसे उत्पन्न एव गन्धर्वोके तेजसे युक्त अश्वयानमें पारगत समझो । यह सुनकर योगिश्रेष्ठ भगवान् इन्द्र आकाशमें चले गये । मातलि नामसे विख्यात वह ब्राह्मणपुत्र भी आकाशमें चला गया । उसके बाद देवश्रेष्ठ इन्द्र रथपर चढ़ गये और शमीकपुत्र मातलिने प्रग्रह (लगाम) पकड़ लिया ॥ १४४–१४८ ॥

ततो मन्दरमागम्य विवेश रिपुवाहिनीम् । प्रविशन् ददृशे श्रीमान् पतित कार्मुक महत् ॥१४९॥
सशर पञ्चवर्णाभ सितरक्तासितारुणम् । पाण्डुच्छाय सुरश्रेष्ठस्त जग्राह समार्गणम् ॥१५०॥
ततस्तु मनसा देवान् रज सत्त्वतमोमयान् । नमस्कृत्य शर चापे साधिज्ये विनियोजयत् ॥१५१॥
ततो निश्चेरुरत्युग्रा शरा बर्हिणवाससः । ब्रह्मेशविष्णुनामाङ्का सूदयन्तोऽसुरान् रणे ॥१५२॥

उसके बाद मन्दरगिरिपर पहुँचकर वे (इन्द्र) शत्रुसेनामें प्रविष्ट हो गये । प्रवेश करते समय सुरश्रेष्ठ श्रीमान् (इन्द्र) ने बाणयुक्त, सफेद, लाल, काला, उषाकालीन लालिमावाले एव सफेद रंगसे मिले

पीले रंगवाले—पँचरंगे—एक महान् धनुषको पड़ा हुआ देखा और याणके साथ ही उसे उठा लिया। उन बाद रज सत्त्वतमोमय—त्रिगुणमय—(ब्रह्मा, विष्णु और महेश) देवोंको मनसे नमस्कार करके उन्होंने प्रत्य चढ़ाकर बाण संधान किया। उससे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरके नामोंसे अङ्कित मोरके पंख लगे हुए अत्यन्त भास बाण निकले और असुरोंका संहार करने लगे ॥ १४९–१५२ ॥

आकाशं विदिशः पृथ्वीं दिशश्च स शरोत्करैः। सहस्राक्षोऽतिपटुभिश्छादयामास नारद ॥१५३॥
गजो विद्धो हयो भिन्नः पृथिव्यां पतितो रथः। महामात्रो धरां प्राप्तः सद्यः सादञ्छरातुरः ॥१५४॥
पदातिः पतितो भूम्यां शक्रमार्गणताडितः। हतप्रधानभूयिष्ठं बलं तदभवद् रिपोः ॥१५५॥
तं शक्रबाणाभिहतं दुरासदं सैन्यं समालक्ष्य तदा कुजम्भः।
जम्भासुरश्चापि सुरेशमव्ययं प्रजग्मतुर्गृह्य गदे सुघोरे ॥१५६॥

[पुलस्त्यजी कहते हैं—] नारदजी! उन इन्द्रने बड़ी चतुराईसे बाणोंकी बौछारसे आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ एवं विदिशाओंको ढक (भर) दिया। हाथी बुरी तरह बिंध गये, घोड़े विदीर्ण हो गये, रथ पृथ्वीपर गिर पड़े एवं हाथीका संचालक (महावत) बाणोंसे व्याकुल होकर कराहता हुआ धरतीपर गिर गया। इन्द्रके बाणोंसे घायल हुए पैदल युद्ध करनेवाले वीर भूमिपर गिर पड़े। (इस प्रकार) शत्रुकी उस सेनाके बहुतेरे प्रधान (वीर) मारे गये। उस दुर्धर्ष (अपराजेय) सेनाको इन्द्रके बाणोंसे मारी जाती हुई देखकर असुर कुजम्भ और जम्भ भयानक गदाओंको लेकर अविनाशी सुरेन्द्रकी ओर तेजीसे बढ़ चले ॥ १५३–१५६ ॥

तावापतन्तौ भगवान् निरीक्ष्य सुदर्शनेनारिविनाशनेन।
विष्णुः कुजम्भं निजघान वेगात् स स्यन्दनाद् गामगमद् गतासुः ॥१५७॥
तस्मिन् हते भ्रातरि माधवेन जम्भस्ततः क्रोधवशं जगाम।
क्रोधान्वितः शक्रमुपाद्रवद् रणे सिंहं यथैणोऽतिविपन्नबुद्धिः ॥१५८॥
तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य शक्रस्त्यक्त्वैव चापं सशरं महात्मा।
जग्राह शक्तिं यमदण्डकल्पां तामग्निदत्तां रिपवे ससर्ज ॥ १५९ ॥
शक्तिं सघण्टां कृतनिःस्वनां वै दृष्ट्वा पतन्तीं गदया जघान।
गदां च कृत्वा सहसैव भस्मसाद् बिभेद जम्भं हृदये च तूर्णम् ॥ १६० ॥
शक्त्या स भिन्नो हृदये सुरारिः पपात भूम्यां विगतासुरेव।
तं वीक्ष्य भूमौ पतितं विमर्दं दैत्यास्तु भीता विमुखा बभूवुः ॥ १६१ ॥
जम्भे हते दैत्यबले च भग्ने गणास्तु दृष्ट्वा हरिमर्चयन्तः।
वीर्यं प्रशसन्ति शतक्रतोश्च स गोत्रभिच्छ्रयमुपेत्य तस्थौ ॥ १६२ ॥
इति श्रीवामनपुराणे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

भगवान् विष्णुने उन दोनों (कुजम्भ और जम्भ)को शीघ्रतासे सामने आते देखकर शत्रु-संहारक सुदर्शनचक्र कुजम्भको मारा। वह प्राणहीन होकर रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा। लक्ष्मीपति श्रीविष्णुके द्वारा भाईके मारे जानेपर जम्भ क्रुद्ध हो गया। कुपित होकर वह युद्धमें इन्द्रकी ओर ऐसे दौड़ा, जैसे विचारशक्ति नष्ट हो जानेसे मृग सिंहकी ओर दौड़ता है। उसे आते देखकर महात्मा इन्द्रने धनुष-बाणको छोड़ अग्निद्वारा प्रदत्त यमदण्डके समान शक्तिको लेकर उसे शत्रुकी ओर फेंका। घण्टासे घनघनाती हुई उस शक्तिको देखकर (जम्भने) उसपर बल लगाकर गदासे वार किया। (उस शक्तिने) गदाको एकाएक भस्मकर शीघ्र ही जम्भ

हृदय (भी) विदीर्ण कर दिया । शक्तिसे हृदयके विदीर्ण हो जानेपर वह देवशत्रु असुर जम्भ प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसे मरा और भूमिपर गिरा देख करके दैत्यगण डरकर पीठ दिखाकर भाग गये । जम्भके मार जाने एवं दैत्यसेनाके हार जानेपर सभी गण हरिका अर्चन एवं इन्द्रके पराक्रमका गुणगान करने लगे । (फिर) वे इन्द्र शङ्करके निकट जाकर खड़े हो गये ॥ १५७–१६२ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६९ ॥

[अथ सप्ततितमोऽध्याय:]

पुलस्त्य उवाच

तस्मिंस्तदा दैत्यबले च भग्ने शुक्रोऽब्रवीदन्धकमासुरेन्द्रम् ।
एह्येहि वीराद्य गृहं महासुर योत्स्याम भूयो हरमेत्य शैलम् ॥ १ ॥
तमुवाचान्धको ब्रह्मन् न सम्यग्भवतोदितम् । रणान्नैवापयास्यामि कुलं व्यपदिशन् स्वयम् ॥ २ ॥
पश्य त्वं द्विजशार्दूल मम वीर्यं सुदुर्धरम् । देवदानवगन्धर्वान् जेष्ये सेन्द्रमहेश्वरम् ॥ ३ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं हिरण्याक्षसुतोऽन्धकः । समाश्वास्याब्रवीच्छम्भुं सारथिं मधुराक्षरम् ॥ ४ ॥

सत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अन्धकका शिव-शूलसे भेदन, भैरवादिकी उत्पत्ति, अन्धककृत शिवस्तुति, अन्धकका भृङ्गित्व, देवादिकोंका भेजना, अर्द्धकुसुमसे पार्वतीका प्राकट्य और अन्धकद्वारा उनकी स्तुति)

पुलस्त्यजी बोले—उस समय दैत्यसेनाके हार जानेपर शुक्रने असुरोंके स्वामी अन्धकसे कहा—वीर महासुर ! इस समय घर चलो । फिर पर्वतपर आकर शङ्करसे युद्ध करेंगे । अन्धकने उनसे कहा—ब्रह्मन् ! आपने उचित बात नहीं कही । अपने कुलको कलङ्कित करते हुए मैं युद्धसे नहीं भागूँगा । द्विजश्रेष्ठ ! मेरा अत्यन्त प्रबल पराक्रम तो देखिये । मैं (उस पराक्रमसे) इन्द्र और महेश्वरके सहित सभी देवों और दानवों तथा गन्धर्वोंको जीत लूँगा । ऐसा वचन कहकर हिरण्याक्ष-पुत्र अन्धकने शम्भु (नामक) सारथिसे मीठी वाणीमें अच्छी तरह आश्वस्त करते हुए कहा—॥ १–४ ॥

सारथे वाहय रथं हराभ्याशं महाबल । यावन्निहन्मि बाणौघैः प्रमथामरवाहिनीम् ॥ ५ ॥
इत्यन्धवचः श्रुत्वा सारथिस्तुरगांस्तदा । कृष्णवर्णान् महावेगान् कशयाऽभ्याहनन् मुने ॥ ६ ॥
ते यत्नतोऽपि तुरगा प्रेर्यमाणा हरं प्रति । जघनेष्ववसीदन्त कृच्छ्रेणोहुश्च तं रथम् ॥ ७ ॥
वहन्तस्तुरगा दैत्यं प्राप्ता प्रमथवाहिनीम् । सवत्सरेण साग्रेण वायुवेगसमा अपि ॥ ८ ॥

महाबलशाली सारथे ! तुम रथको महादेवके (सामने) सामने ले चलो । मैं बाणोंकी वर्षासे प्रमथों एवं देवोंकी सेनाको मार भगाऊँगा । मुने ! अन्धकके वचनको सुनकर सारथिने (अपने रथके) काले रंगके तीव्रगामी घोड़ोंको कोड़ेसे मारा । शङ्करकी ओर चेष्टापूर्वक चलाये जाते हुए भी वे घोड़े जाँघोंमें कष्टका अनुभव करते हुए कठिनाईसे उस रथको खींच रहे थे । दैत्यको ले जानेवाले वे घोड़े वायुके वेगके समान होनेपर भी एक वर्षसे भी अधिक समयमें प्रमथोंकी सेनामें पहुँच सके ॥ ५–८ ॥

ततः कार्मुकमानम्य बाणजालैर्गणेश्वरान् । सुरान् सञ्छादयामास सेन्द्रोपेन्द्रमहेश्वरान् ॥ ९ ॥
बाणैश्छादितमीक्ष्यैव बलं त्रैलोक्यरक्षिता । सुरान् प्रोवाच भगवाञ्चक्रपाणिर्जनार्दनः ॥ १० ॥

उसके बाद (अन्धकने) धनुषको झुकाकर बाणसमूहोंसे गणेश्वरों एवं इन्द्र, विष्णु और महेशके गण सभी देवोंको ढक दिया। (पूरी) सेनाको बाणोंसे ढकी देखकर तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले चक्रधारी भगवान् जनार्दनने देवोंसे कहा—॥ ९-१० ॥

विष्णुरुवाच

किं तिष्ठध्वं सुरश्रेष्ठा हतेनानेन वै जयः। तस्मान्मद्वचनं शीघ्रं क्रियतां वै जयेप्सवः ॥ ११ ॥
शाल्यं तामस्य तुरगा समं रथकुटुम्बिना। भज्यतां स्यन्दनश्चापि विरथः क्रियतां रिपुः ॥ १२ ॥
विरथं तु कृतं पश्चादेनं धक्ष्यति शङ्करः। नोपेक्ष्यः शत्रुरुद्रिक्तो देवाचार्येण देवताः ॥ १३ ॥
इत्येवमुक्ताः प्रमथा वासुदेवेन सामराः। चक्रुर्वेगं सहेन्द्रेण समं चक्रधरेण च ॥ १४ ॥

विष्णुने कहा—सुरश्रेष्ठो ! आपलोग व्यर्थमें क्यों बैठे हैं? इसके मारे जानेसे ही विजय होगी। इसलिये विजयकी अभिलाषा रखकर आपलोग शीघ्र मेरे कहनेके अनुसार कार्य करें। (पहले) रथके सारथि साथ इस-(अन्धक-) के घोड़ोंको मार डालें एवं रथको तोड़कर शत्रुको बिना रथका कर दें। बिना रथका करनेके बाद तो शंकर इसे भस्म कर देंगे। देवो ! देवताओंके आचार्य बृहस्पतिने कहा है कि शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। भगवान् वासुदेवके ऐसा कहनेपर इन्द्र एवं विष्णुसहित प्रमथों तथा देवोंने शीघ्रतासे चढ़ाई कर दी ॥ ११—१४ ॥

सुरगाणां सहस्रं तु मेघाभानां जनार्दनः। निमिषान्तरमात्रेण गदया विनिपोथयत् ॥ १५ ॥
हताश्वात् स्यन्दनात् स्कन्दः प्रगृह्य रथसारथिम्। शक्त्या विभिन्नहृदयं गतासुं व्यसृजद् भुवि ॥ १६ ॥
विनायकाद्याः प्रमथाः समं शक्रेण दैवतैः। सध्वजाक्षं रथं तूर्णमभञ्जन्त तपोधनाः ॥ १७ ॥
सहसा स महातेजा विरथस्त्यज्य कार्मुकम्। गदामादाय बलवानभिदुद्राव दैवतान् ॥ १८ ॥

जनार्दन (विष्णु)ने क्षणमात्रमें ही अपनी (कौमोदकी) गदासे बादल-जैसे काले रंगवाले हजारों घोड़ोंको मार डाला। स्कन्दने मारे गये घोड़ोंवाले रथसे सारथिको खींचकर शक्तिसे उसके हृदयको विदीर्ण कर दिया और प्राणहीन हो जानेपर उसे पृथ्वीपर फेंक दिया। इन्द्र आदि देवताओंके साथ तपोधन विनायक प्रभृति प्रमथोंने शीघ्र ध्वजा और पहिये तथा धुरेके साथ रथको तोड़ डाला। (जब) महातेजस्वी पराक्रमी-(अन्धक)ने बिना रथके हो जानेपर धनुषको छोड़ दिया और गदा लेकर वह देवताओंकी ओर दौड़ पड़ा—॥ १५—१८ ॥

पदान्यष्टौ ततो गत्वा मेघगम्भीरया गिरा। स्थित्वा प्रोवाच दैत्येन्द्रो महादेवं स हेतुमत् ॥ १९ ॥
भिक्षो भवान् सदानीकस्त्वसहायोऽस्मि साम्प्रतम्। तथाऽपि त्वां विजेष्यामि पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ २० ॥
तद्वाक्यं शङ्करः श्रुत्वा सेन्द्रान्सुरगणांस्तदा। ब्रह्मणा सहितान् सर्वान् स्वशरीरे न्यवेशयत् ॥ २१ ॥
शरीरस्थांस्तान् प्रमथान् कृत्वा देवांश्च शङ्करः। प्राह एह्येहि दुष्टात्मन् अहमेकोऽपि संस्थितः ॥ २२ ॥

तब दैत्येन्द्रने आठ पग चलकर मेघके समान गम्भीर वाणीमें महादेवसे अपना अभीष्ट वचन कहा—भिक्षु ! यद्यपि इस समय तुम सेनावाले हो और मैं असहाय हूँ, फिर भी मैं तुमको जीत लूँगा। आज मेरी शक्ति देखो। उसका वचन सुनकर शंकरने इन्द्र और ब्रह्माके साथ सभी देवताओंको अपने शरीरमें निवेशित कर लिया—छिपा लिया। उन प्रमथों एवं देवोंको अपने शरीरमें छिपानेके बाद शंकरने कहा—दुरात्मन् ! आओ, आओ ! मैं अकेला रहनेपर भी (तुमसे लड़नेके लिये) खड़ा हूँ ॥ १९—२२ ॥

तं दृष्ट्वा महदाश्चर्यं सर्वामरगणक्षयम्। दैत्यः शङ्करमभ्यागाद् गदामादाय वेगवान्॥ २३॥
तमापतन्तं भगवान् दृष्ट्वा त्यक्त्वा वृषोत्तमम्। शूलपाणिर्गिरिप्रस्थे पदातिः प्रत्यतिष्ठत॥ २४॥
वेगेनैवापतन्तं च विभेदोरसि भैरवः। दारुणं सुमहद् रूपं कृत्वा त्रैलोक्यभीषणम्॥ २५॥
दंष्ट्राकरालं रविकोटिसंनिभं मृगारिचर्माभिवृतं जटाधरम्।
भुजङ्गहारामलकण्ठकन्दरं विंशार्धबाहुं सपडर्धलोचनम्॥ २६॥

समस्त देवगणोंसे संहार किये जाते उस महान् आश्चर्यको देखकर वह दैत्य गदा लेकर शीघ्रतासे शंकरके पास चला गया। भगवान् शूलपाणि उसे आते देख अपने श्रेष्ठ वृषभ-(नन्दी)को छोड़कर पर्वतपर पैरोंके बल खड़े हो गये। भैरवने तीनों लोकोंको डरा देनेवाला अत्यन्त भयानक रूप धारण करके तेजीसे आ रहे उस (अन्धक-)का हृदय विदीर्ण कर दिया। (उस समय शंकरका रूप) भयानक दाढ़ोंवाले करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान, बाघंबर पहने, जटासे सुशोभित, सर्पके हारसे अलंकृत ग्रीवावाला तथा दस भुजा और तीन नयनोंसे युक्त था॥ २३–२६॥

एतादृशेन रूपेण भगवान् भूतभावनः। बिभेद शत्रुं शूलेन शुभदः शाश्वतः शिवः॥ २७॥
सशूलं भैरवं गृह्य भिन्नेऽप्युरसि दानवः। विजहारातिवेगेन क्रोशमात्रं महामुने॥ २८॥
ततः कथंचिद् भगवान् संस्तभ्यात्मानमात्मना। तूर्णमुत्पाटयामास शूलेन सगदं रिपुम्॥ २९॥
दैत्याधिपस्त्वपि गदां हरमूर्ध्नि न्यपातयत्। कराभ्यां गृह्य शूलं च समुत्पतत दानवः॥ ३०॥

ऐसे लक्षणोंसे संयुक्त मङ्गलदाता, शाश्वत, भूतभावन भगवान् शिवने शूलसे शत्रुको विदीर्ण कर दिया। महामुने! हृदयके विदीर्ण हो जानेपर भी दानव शूलके साथ भैरवको पकड़कर एक कोसतक उन्हें खींच ले गया। तब भगवान्‌ने किसी प्रकार अपनेसे अपनेको रोककर गदा लिये हुए शत्रुको अपने शूलसे तुरत मारा। दैत्योंके स्वामी-(अन्धक)ने भी शंकरके सिरपर गदाका वार किया और शूलको दोनों हाथोंसे पकड़कर ऊपर उछल गया॥ २७–३०॥

संस्थितः स महायोगी सर्वाधारः प्रजापतिः। गदापातक्षताद् भूरि चतुर्धाऽसृगथापतत्॥ ३१॥
पूर्वधारासमुद्भूतो भैरवोऽग्निसमप्रभः। विद्याराजेति विख्यातः पद्ममालाविभूषितः॥ ३२॥
तथा दक्षिणधारोत्थो भैरवः प्रेतमण्डितः। कालराजेति विख्यातः कृष्णाञ्जनसमप्रभः॥ ३३॥
अथ प्रतीचीधारोत्थो भैरवः पत्रभूषितः। अतसीकुसुमप्रख्यः कामराजेति विश्रुतः॥ ३४॥

सबके आधारस्वरूप महायोगी वे प्रजापति शंकरजी खड़े रहे, परंतु इसके बाद गदाके आघातसे हुए चोटसे (चारों दिशाकी) चार धाराओंमें बहुत अधिक रक्त प्रवाहित होने लग गया। पूर्व दिशाकी धारासे अग्निके समान प्रभावाले, कमलकी मालासे सुशोभित 'विद्याराज' नामसे प्रसिद्ध भैरव उत्पन्न हुए। दक्षिण दिशाकी धारासे प्रेतसे मण्डित काले अञ्जनके समान प्रभावाले 'कालराज' नामसे प्रसिद्ध भैरव उत्पन्न हुए। उसके बाद पश्चिम दिशाकी धारासे अलसीके फूलके समान पत्रसे शोभित 'कामराज' नामसे विख्यात भैरव उत्पन्न हुए॥ ३१–३४॥

उदग्धाराभवश्चान्यो भैरवः शूलभूषितः। सोमराजेति विख्यातश्चक्रमालाविभूषितः॥ ३५॥
क्षतस्य रुधिराज्जातो भैरवः शूलभूषितः। स्वच्छन्दराजो विख्यात इन्द्रायुधसमप्रभः॥ ३६॥
भूमिस्थाद् रुधिराज्जातो भैरवः शूलभूषितः। ख्यातो ललितराजेति सौभाञ्जनसमप्रभः॥ ३७॥
एवं हि सप्तरूपोऽसौ कथ्यते भैरवो मुने। विघ्नराजोऽष्टमः प्रोक्तो भैरवाष्टकमुच्यते॥ ३८

उत्तर दिशाकी धारासे चक्रमालासे सुशोभित (एक) शूल लिये 'सोमराज' नामसे प्रसिद्ध अन्य भैरव उत्पन्न हुए। घावके रक्तसे इन्द्रधनुषके समान चमकनेवाले (एक) शूल लिये 'स्वच्छन्दराज' नामसे विख्यात भैरव उत्पन्न हुए। पृथ्वीपर गिरे हुए रक्तसे सौभाञ्जन (सहिजन) के समान (एक) शूल लिये शोभायुक्त 'ललितराज' नामसे विख्यात भैरव उत्पन्न हुए। मुने! इस प्रकार इन भैरवका सात रूप कहा जाता है। 'विघ्नराज' आठवें भैरव हैं। इन्हें भैरवाष्टक (आठों भैरव) कहा जाता है ॥ ३५–३८ ॥

एवं महात्मना दैत्यः शूलप्रोतो महासुरः। छत्रवद् धारितो ब्रह्मन् भैरवेण त्रिशूलिना ॥ ३९ ॥
तस्यासृगुल्बणं ब्रह्मञ्छूलभेदादथापतत्। येनाकण्ठं महादेवो निमग्नः सप्तमूर्तिमान् ॥ ४० ॥
ततः स्वेदोऽभवद् भूरि श्रमजः शङ्करस्य तु। ललाटफलके तस्माज्जाता कन्याऽसृगाप्लुता ॥ ४१ ॥
यद्भूम्यां न्यपतद् विप्र स्वेदबिन्दुः शिवाननात्। तस्मादङ्गारपुञ्जाभो बालकः समजायत ॥ ४२ ॥

[पुलस्त्यजी कहते हैं—] ब्रह्मन्! इस प्रकार त्रिशूल धारण करनेवाले महात्मा भैरवने शूलसे विद्ध हुए महासुर दैत्यको छातेकी भाँति ऊपर उठा लिया। ब्रह्मन्! शूलसे विद्ध होनेके कारण उसका बहुत अधिक रक्त गिरा, उससे सात मूर्तिवाले महादेव मस्तकतक लहू-लुहान हो गये। परिश्रम करनेके कारण शङ्करके पूरे ललाटपर बहुत अधिक पसीना आ गया। उससे खूनसे लथपथ एक कन्या उत्पन्न हुई। विप्र! शिवके मुखसे भूमिपर गिरे पसीनेकी बूँदोंसे अंगारे-जैसी कान्तिवाला एक बालक उत्पन्न हुआ ॥ ३९–४२ ॥

स बालस्तृषितोऽत्यर्थं पपौ रुधिरमान्धकम्। कन्या चोत्कृत्य संजातमसृग्विलिलिहेऽद्भुता ॥ ४३ ॥
ततस्तामाह बालार्कप्रभां भैरवमूर्तिमान्। शङ्करो वरदो लोके श्रेयोऽर्थाय वचो महत् ॥ ४४ ॥
त्वां पूजयिष्यन्ति सुरा ऋषयः पितरोरगाः। यक्षविद्याधराश्चैव मानवाश्च शुभङ्करि ॥ ४५ ॥
त्वां स्तोष्यन्ति सदा देवि बलिपुष्पोत्करैः करैः। चर्चिकेति शुभं नाम यस्माद् रुधिरचर्चिता ॥ ४६ ॥

अत्यन्त प्यासा वह बालक अन्धकका रक्त पीने लगा और अद्भुत कन्या भी काटकर उत्पन्न हुए रक्तको चाटने लगी। उसके बाद भैरवका रूप धारण करनेवाले वरदानी शङ्करने प्रातःकालके सूर्यके समान कान्तिवाली उस कन्यासे जगत् कल्याणकारी महान् वचन कहा—शुभङ्करि! देवता, ऋषि, पितर, सर्प, यक्ष, विद्याधर एवं मानव तुम्हारी पूजा करेंगे। देवि! (वे लोग) बलि एवं पुष्पाञ्जलिसे तुम्हारी स्तुति करेंगे। यतः तुम रक्तसे चर्चित (लथपथ) हो, अतः तुम्हारा शुभ नाम 'चर्चिका' होगा ॥ ४३–४६ ॥

इत्येवमुक्ता वरदेन चर्चिका भूतानुयाता हरिचर्मवासिनी।
महीं समन्ताद् विचचार सुन्दरी स्थानं गता हैङ्गुलताद्रिमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
तस्यां गतायां वरदः कुजस्य प्रादाद् वरं भव्यवरोत्तमं यत्।
महाधिपस्त्वं जगतां शुभाशुभं भविष्यति त्वद्वशगं महात्मन् ॥ ४८ ॥
हरोऽपि वर्षसहस्रमात्रं दिव्यं स्वनेत्रार्कहुताशनेन।
चकार संशुष्कतनुं स्वशोणितं त्वगस्थिशेषं भगवान् स भैरवः ॥ ४९ ॥
तस्याग्निना नेत्रभवेन शुद्धः स भृङ्गपादोऽसुरराड् बभूव।
ततः प्रजानां बहुरूपमाद्यं नाथं हि सर्वस्य चराचरस्य ॥ ५० ॥
ज्ञात्वा स सर्वेश्वरमीशमव्ययं त्रैलोक्यनाथं वरदं वरेण्यम्।
सर्वैः सुपद्यैरमलैः स्वभावात् ततोऽन्धकः स्तोत्रमिदं चकार ॥ ५१ ॥

वरदानी शंकरके ऐसा कहनेपर व्याघ्रचर्मको वस्त्ररूपमें धारण करनेवाली और सब भूतोंके बाद उत्पन्न हुई सुन्दरी चर्चिका पृथ्वीपर चारों ओर विचरती हुई इगुरके रंगवाले उत्तम पर्वतपर चली गयी। उसके (वहाँ) चले जानेपर वरदानी शंकरने कुज-(मंगल) को सर्वश्रेष्ठ वर दिया। (उन्होंने कहा—) महात्मन्! तुम ग्रहोंके स्वामी बनोगे तथा संसारका शुभ और अशुभ तुम्हारे अधीन होगा। उन भैरव-रूपधारी भगवान् शिवने अपने अग्नि और सूर्यरूपी नेत्रोंसे एक हजार दिव्य वर्षोंतक अन्धकके शरीरको सुखाकर रक्तरहित कर हड्डी तथा चाम शेष रखकर कंकाल बना दिया। शंकरके नेत्रसे उत्पन्न अग्निद्वारा शुद्ध होनेके कारण वह असुरराज पापसे छूट गया। उसके बाद अनेक रूप धारण करके प्रजाओंका नियमन करनेवाले, समस्त चर और अचरके स्वामी, सर्वेश्वर, अविनाशी ईश, त्रैलोक्यपति, वरदानी, वरेण्य, सभी सुरादिकोंद्वारा नियमपूर्वक स्तुति करनेयोग्य एवं सबके आदिमें रहनेवाले शंकरको वास्तवरूपमें जानकर अन्धकने यह स्तुति की—॥ ४७–५१ ॥

अन्धक उवाच

नमोऽस्तु ते भैरव भीममूर्ते त्रिलोकगोप्त्रे शितशूलधारिणे।
विंशार्द्धबाहो भुजगेशहार त्रिनेत्र मां पाहि विपन्नबुद्धिम्॥ ५२॥
जयस्व सर्वेश्वर विश्वमूर्ते सुरासुरैर्वन्दितपादपीठ।
त्रैलोक्यमातुर्गुरवे वृषाङ्क भीतः शरण्यं शरणागतोऽस्मि॥ ५३॥
त्वां नाथ देवाः शिवमीरयन्ति सिद्धा हरं स्थाणुं महर्षयश्च।
भीमं च यक्षा मनुजा महेश्वरं भूताश्च भूताधिपमामनन्ति॥ ५४॥
निशाचरा उग्रमुपार्चयन्ति भवेति पुण्याः पितरो नमन्ति।
दासोऽस्मि तुभ्यं हर पाहि मह्यं पापक्षयं मे कुरु लोकनाथ॥ ५५॥

हे विशालकाय भैरव! हे त्रिलोकीकी रक्षा करनेवाले! हे तीक्ष्ण शूल धारण करनेवाले! आपको नमस्कार है। हे दस भुजाओंवाले तथा नागेशका हार धारण करनेवाले त्रिनेत्र! आप मुझ नष्टमतिकी रक्षा करें। हे देवों तथा असुरोंसे वन्दित पादपीठवाले विश्वमूर्ति सर्वेश्वर! आपकी जय हो। हे त्रिलोक-जननीके स्वामी वृषाङ्क! मैं भयभीत होकर आप शरणागतकी रक्षा करनेवालेकी शरणमें आया हूँ। हे नाथ! देवता आपको शिव (मङ्गलमय) कहते हैं। सिद्धलोग आपको हर (पापहारी), महर्षिलोग स्थाणु (अचल), यक्षलोग भीम, मनुष्य महेश्वर और भूत भूताधिपति मानते हैं। निशाचर उग्र नामसे आपकी अर्चना करते हैं तथा पुण्यात्मा पितृगण भव नामसे आपको नमस्कार करते हैं। हे हर! मैं आपका दास हूँ, आप मेरी रक्षा करें। हे लोकनाथ! मेरे पापोंका आप विनाश कीजिये॥ ५२–५५॥

भवांस्त्रिदेवस्त्रियुगस्त्रिधर्मा त्रिपुष्करश्चासि विभो त्रिनेत्र।
त्र्यय्यारुणिस्त्रिश्रुतिरव्ययात्मन् पुनीहि मां त्वां शरणं गतोऽस्मि॥ ५६॥
त्रिणाचिकेतस्त्रिपदप्रतिष्ठः षडङ्गवित् त्वं विषयेष्वलुब्धः।
त्रैलोक्यनाथोऽसि पुनीहि शम्भो दासोऽस्मि भीतः शरणागतस्ते॥ ५७॥
कृतं महच्छङ्कर तेऽपराधं मया महाभूतपते गिरीश।
कामारिणा निर्जितमानसेन प्रसादये त्वां शिरसा नतोऽस्मि॥ ५८॥
पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसम्भव। त्राहि मां देव ईशान सर्वपापहरो भव॥ ५९॥

हे सर्वसमर्थ त्रिनेत्र! आप त्रिदेव, त्रियुग, त्रिधर्मा तथा त्रिपुष्कर हैं। हे अव्ययात्मन्! आप त्र्यय्यारुणि तथा त्रिश्रुति हैं। आप मुझे पवित्र करें। मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप त्रिणाचिकेत, त्रिपदप्रतिष्ठ (स्वर्ग, मर्त्य,

पातालरूप तीनों पर्वोंपर प्रतिष्ठित) षडङ्गवित् (वेदके शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन छः अङ्गोंके जाननेवाले), विषयोंके प्रति अनासक्त तथा तीनों लोकोंके स्वामी हैं । हे शम्भो ! आप मुझे क्षमा करें । मैं आपका दास हूँ । भयभीत होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ । हे शंकर ! हे महाभूतपते ! हे त्रिनेत्र कामरूपी शत्रुने मेरे मनको जीत लिया था, इसलिये मैंने आपका महान् अपराध किया है । मैं आपको सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ । मैं पापी, पापकर्मा, पापात्मा तथा पापसे उत्पन्न हूँ । हे देव ईशान ! हे समस्त पापोंको दूर करनेवाले महादेव ! आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ ५६—५९ ॥

मा मे क्रुध्यस्व देवेश त्वया चैतादृशोऽस्म्यहम् । सृष्टः पापसमाचारो मे प्रसन्नो भवेश्वर ॥ ६० ॥
त्वं कर्ता चैव धाता च त्वं जयस्त्वं महाजयः । त्वं मङ्गल्यस्त्वमोंकारस्त्वमीशानो ध्रुवोऽव्ययः ॥ ६१ ॥
त्वं ब्रह्मा सृष्टिकृन्नाथस्त्वं विष्णुस्त्वं महेश्वरः । त्वमिन्द्रस्त्वं वषट्कारो धर्मस्त्वं च सुरोत्तमः ॥ ६२ ॥
सूक्ष्मस्त्वं व्यक्तरूपस्त्वं त्वमव्यक्तस्त्वमीश्वरः । त्वया सर्वमिदं व्याप्तं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ ६३ ॥
त्वमादिरन्तो मध्यश्च त्वमनादिः सहस्रपात् । विजयस्त्वं सहस्राक्षो विरूपाक्षो महाभुजः ॥ ६४ ॥
अनन्तः सर्वगो व्यापी हंसः प्राणाधिपोऽच्युतः । गीर्वाणपतिरव्यग्रो रुद्रः पशुपतिः शिवः ॥ ६५ ॥
त्रैविद्यस्त्वं जितक्रोधो जितारिर्विजितेन्द्रियः । जयश्च शूलपाणिस्त्वं त्राहि मां शरणागतम् ॥ ६६ ॥

देवेश ! आप मेरे ऊपर कुपित न हों । आपने ही मुझे इस प्रकारके पापका आचरण करनेवाला बनाया है । ईश्वर ! मेरे ऊपर प्रसन्न होइये । आप सृष्टि तथा पालन-पोषण करनेवाले हैं । आप ही जय और आप ही महाजय हैं । आप मङ्गलमय हैं । आप ओंकार हैं । आप ही ईशान, अव्यय तथा ध्रुव हैं । आप सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा तथा (सब कुछ करनेमें) समर्थ हैं । आप विष्णु और महेश्वर हैं । आप इन्द्र हैं, आप वषट्कार हैं, आप धर्म तथा देवोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं । आप (कठिनतासे देखे जाने योग्य) सूक्ष्म हैं, आप (प्रतीतिका विषय होनेसे) व्यक्तरूप हैं, आप अप्रकटरहस्य—अव्यक्त हैं, आप ईश्वर हैं, आपसे ही यह चर अचर जगत् व्याप्त (ओतप्रोत या ढका) है । आप आदि, मध्य एवं अन्त हैं, (साथ ही) आप आदि-रहित एवं हजारों पैरोंवाले सहस्रपाद हैं । आप विजय हैं । आप हजारों आँखोंवाले, विरूप आँखवाले एवं बड़ी भुजावाले हैं । आप अन्तसे रहित, सर्वग, व्यापी, हंस, प्राणोंके स्वामी (सदा स्वस्वरूपमें स्थित) अच्युत, देवाधिदेव, शान्त, रुद्र, पशुपति एवं शिव हैं । आप तीनों वेदोंके जाननेवाले, क्रोधको जीत लेनेवाले, शत्रुओंको विजित करनेवाले, इन्द्रियजयी, जय एवं शूलपाणि हैं । आप मुझ शरणागतकी रक्षा करें ॥ ६०—६६ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्थं महेश्वरो ब्रह्मन् स्तुतो दैत्याधिपेन तु । प्रीतियुक्तः पिङ्गलाक्षो हैरण्याक्षिमुवाच ह ॥ ६७ ॥
सिद्धोऽसि दानवपते परितुष्टोऽस्मि तेऽन्धक । वरं वरय भद्रं ते यमिच्छसि विनाऽम्बिकाम् ॥ ६८ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन् ! दैत्योंके स्वामी अन्धकके इस प्रकार स्तुति करनेपर लालिमा लिये भूरी रंगकी आँखवाले महेश्वरने प्रसन्न होकर हिरण्याक्षके पुत्र अन्धकसे कहा—दानवपति अन्धक ! तुम सिद्ध हो गए हो, मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ । अम्बिकाके सिवाय तुम जो चाहो, वह वर माँग लो । तुम्हारा कल्याण हो ॥ ६७-६८ ॥

अन्धक उवाच

अम्बिका जननी मह्यं भगवांस्त्र्यम्बकः पिता । वन्दामि चरणौ मातुर्वन्दनीया ममाम्बिका ॥ ६९ ॥
वरदोऽसि यदीशान तद् यातु विलयं मम । शारीरं मानसं वाग्जं दुष्कृतं दुर्विचिन्तितम् ॥ ७० ॥
तथा मे दानवो भावो व्यपयातु महेश्वर । स्थिराऽस्तु त्वयि भक्तिस्तु वरमेतत् प्रयच्छ मे ॥ ७१ ॥

अन्धकने (विनीत भावसे) कहा—अम्बिका मेरी माता और आप त्र्यम्बक मेरे पिता हैं। अम्बिका मेरी वन्दनीया हैं। मैं उन माताके चरणोंकी वन्दना करता हूँ। ईशान ! यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो मेरे शरीरसम्बन्धी, मनसम्बन्धी एवं वचनसम्बन्धी पाप तथा नीच विचार नष्ट हो जायँ। महेश्वर ! मेरा दानवीय विचार भी दूर हो जाय एवं आपमें मेरी अटल भक्ति हो जाय—मुझे यही वर दीजिये ॥ ६९–७१ ॥

महादेव उवाच

एवं भवतु दैत्येन्द्र पापं ते यातु संक्षयम्। मुक्तोऽसि दैत्यभावाच्च भृङ्गी गणपतिर्भव ॥ ७२ ॥
इत्येवमुक्त्वा वरदः शूलाग्रादवतार्य तम्। निर्मार्ज्य निजहस्तेन चक्रे निर्व्रणमन्धकम् ॥ ७३ ॥
ततः स्वदेहतो देवान् ब्रह्मादीनाजुहाव सः। ते निश्चेरुर्महात्मानो नमस्यन्तस्त्रिलोचनम् ॥ ७४ ॥
गणान् सनन्दीनाहूय सन्निवेश्य तदाग्रतः। भृङ्गिनं दर्शयामास ध्रुवं नैषोऽन्धकेति हि ॥ ७५ ॥

भगवान् महादेवने कहा—दैत्येन्द्र ! ऐसा ही हो। तुम्हारे पाप नष्ट हो जायँ। तुम दानवीय विचारसे मुक्त हो गये। अब तुम भृङ्गी नामक गणपति हो गये। इस प्रकार कहकर वरदानी महादेवने उस अन्धकको शूलकी नोकसे उतारा और अपने हाथसे सहलाकर बिना घावका कर दिया। उसके बाद उन्होंने अपने शरीरमें स्थित ब्रह्मादि देवोंका आह्वान किया। वे सभी महान् देवगण त्र्यम्बक शिवको नमस्कार करते हुए बाहर निकले। नन्दीके साथ गणोंको बुलाकर और सामने बैठाकर भृङ्गीको दिखलाते हुए उन्होंने कहा—निश्चय ही यह अन्धक (पहले-जैसा) नहीं रह गया है ॥ ७२–७५ ॥

तं दृष्ट्वा दानवपतिं सशुष्कपिशितं रिपुम्। गणाधिपत्यमापन्नं प्रशशंसुर्वृषध्वजम् ॥ ७६ ॥
ततस्तान् प्राह भगवान् सम्परिष्वज्य देवताः। गच्छध्वं स्वानि धिष्ण्यानि भुङ्क्ष्वं त्रिदिवं सुखम् ॥ ७७ ॥
सहस्राक्षोऽपि संयातु पर्वतं मलयं शुभम्। तत्र स्वकार्यं कृत्वैव पश्चाद् यातु त्रिविष्टपम् ॥ ७८ ॥
इत्येवमुक्त्वा त्रिदशान् समाभाष्य व्यसर्जयत्।
पितामहं नमस्कृत्य परिष्वज्य जनार्दनम्। ते विसृष्टा महेशेन सुरा जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥ ७९ ॥

उस सूखे हुए मांसवाले शत्रु दानवपतिको गणाधिप हुआ देखकर वे सभी वृषध्वज (शंकर)की प्रशंसा करने लगे। उसके बाद भगवान् शंकरने उन देवोंको गले लगाकर कहा—देवताओ ! आपलोग अपने-अपने स्थानको जाइये और स्वर्ग-सुखका उपभोग कीजिये। इन्द्र भी सुखद मलय-पर्वतपर जायँ तथा वहाँ अपना काम समाप्त करके ही स्वर्ग चले जायँ। ऐसा कहकर देवोंसे वार्तालाप कर देवोंको विदा कर दिया। महेशने पितामहको नमस्कार तथा जनार्दनको गले लगाकर उन सभीको विदा कर दिया। (महेशसे विदा किये गये) वे देवगण स्वर्गको चले गये ॥ ७६–७९ ॥

महेन्द्रो मलयं गत्वा कृत्वा कार्यं दिवं गतः। गतेषु शक्रमुख्येषु देवेषु भगवाञ्छिवः ॥ ८० ॥
विसर्जयामास गणाननुमान्य यथार्हतः। गणाश्च शङ्करं दृष्ट्वा स्वं स्वं वाहनमास्थिताः ॥ ८१ ॥
जग्मुस्ते शुभलोकानि महाभोगानि नारद। यत्र कामदुघा गावः सर्वकामफलद्रुमाः ॥ ८२ ॥
नद्यस्त्वमृतवाहिन्यो ह्रदाः पायसकर्दमाः। स्वां स्वां गतिं प्रयातेषु प्रमथेषु महेश्वरः ॥ ८३ ॥
समादायान्धकं हस्ते सनन्दिः शैलमभ्यगात्। द्वाभ्यां च सहस्राभ्यां पुनरागाद्वरो गृहम् ॥ ८४ ॥
ददृशे च गिरेः पुत्रीं श्वेतार्ककुसुमस्थिताम्। समायातं निरीक्ष्यैव सर्वलक्षणसंयुतम् ॥ ८५ ॥
त्यक्त्वाऽर्कपुष्पं निर्गत्य सखीस्ताः समुपाह्वयत्। समाहूताश्च देव्या ता जयाद्यास्तूर्णमागमन् ॥ ८६ ॥

महेन्द्र भी मलयाचलपर जा करके (अपना) कार्य सम्पन्नकर स्वर्ग चले गये। शिवने इन्द्र आदि देवोंके चले जानेपर गणोंको यथायोग्य सम्मानित कर विदा कर दिया। [पुलस्त्यजी कहते हैं कि—] नारदजी ! गण

भी शङ्करका दर्शन कर अपने वाहनोंपर आरूढ हो विशाल भोगसे सम्पन्न उन सुखद लोकोंको चले। जहाँकी गौएँ इच्छित वस्तु प्रदान करनेवाली थीं, वृक्ष समस्त कर्मरूपी फलोंके दाता थे, नदियाँ अमृत बहानेवाली थीं और सरोवर दूधके पङ्कसे भरे थे। महेश्वर प्रमथोंके अपने-अपने स्थानपर चले जानेपर अन्धकका हाथ पकड़कर (उसे साथ लिये हुए) नन्दीसहित पर्वतपर चले गये। (वे) शंकर दो हजार वर्षोंके बाद अपने घर लौटे। उन्होंने सफेद अर्क-(आक या मन्दार-)के फूलमें स्थित गिरिजाको देखा। पार्वती रुद्र-स्थित युक्त शंकरको आया हुआ देखते ही अर्कके फूलको छोड़कर बाहर निकल आयीं और उन्होंने (अपनी सभी) सखियोंको पुकारा। पुकारी गयीं वे जया आदि सभी देवियाँ शीघ्र वहाँ चली आयीं॥ ८०–८६॥

ताभिः परिवृता तस्थौ हरदर्शनलालसा। ततस्त्रिनेत्रो गिरिजां दृष्ट्वा प्रेक्ष्य च दानवम्॥ ८७॥
नन्दिनं च तथा कृपाश्लिलिङ्गे गिरेः सुताम्। अथोवाचैष दासस्ते कृतो देवि मयान्धकः॥ ८८॥
पश्यस्व प्रणतिं यातं स्वसुतं चारुहासिनि। इत्युच्चार्यान्धकं चैव पुत्र पश्येहि सत्वरम्॥ ८९॥
प्रजस्व शरणं मातुरेषा श्रेयस्करी तव। इत्युक्तो विभुना नन्दी अन्धकश्च गणेश्वरः॥ ९०॥
समागम्याम्बिकापादौ ववन्दतुरुभावपि।
अन्धकोऽपि तदा गौरीं भक्तिनम्रो महामुने। स्तुतिं चक्रे महापुण्यां पापघ्नीं श्रुतिसम्मिताम्॥ ९१॥

उन-(अपनी सहेली जयादि देवियों)से घिरी हुई पार्वतीजी शिवके दर्शनकी अभिलाषासे (प्रतीक्षामें) खड़ी रहीं। त्रिनेत्रधारी शंकरने गिरिजाको देखकर दानव एवं नन्दीके ऊपर भी दृष्टिपात किया, फिर प्रसन्नतापूर्वक गिरिसुताको गले लगा लिया। उसके बाद उन्होंने कहा—देवि! मैंने अन्धकको तुम्हारा दास बना दिया है। चारुहासिनि! प्रणाम कर रहे अपने पुत्रको देखो। ऐसा कहनेके बाद उन्होंने कहा—पुत्र! तुम यहाँ आओ। अपनी इस माताकी शरणमें जाओ। ये तुम्हारा कल्याण करेंगी। प्रभुके इस प्रकार कहनेपर गणेश्वर नन्दी एवं अन्धक दोनोंने जाकर अम्बिकाके चरणोंमें प्रणाम किया। महामुने! उसके बाद भक्तिपूर्वक नम्र होकर अन्धकने गौरीकी पाप नाश करनेवाली एवं अत्यन्त पवित्र वेद-सम्मत स्तुति की॥ ८७–९१॥

अन्धक उवाच

ॐ नमस्ये भवानीं भूतभव्यप्रियां लोकधात्रीं जनित्रीं स्कन्दमातरं महादेवप्रियां धारिणीं स्यन्दिनीं चेतनां त्रैलोक्यमातरं धरित्रीं देवमातरमथेज्यां श्रुतिं स्मृतिं दयां लज्जां कान्तिमग्र्यामसूयां मतिं सदापावनीं दैत्यसैन्यक्षयकरीं महामायां वैजयन्तीं सुशुभां कालरात्रिं गोविन्दभगिनीं शैलराजपुत्रीं सर्वदेवार्चितां सर्वभूतार्चितां विद्यां सरस्वतीं त्रिनयनमहिषीं नमस्यामि मृडानीं शरण्यां शरणमुपागतोऽहं नमो नमस्ते॥
इत्थं स्तुता साऽन्धकेन परितुष्टा विभावरी। प्राह पुत्र प्रसन्नाऽस्मि वृणुष्व वरमुत्तमम्॥ ९२॥

अन्धकने कहा—ॐ मैं भवानीको प्रणाम करता हूँ। मैं भूतभव्य-शङ्करकी प्रिया, लोकधात्री, जनित्री, कार्तिकेयकी जननी, महादेवकी प्रिया, लोकोंको धारण करनेवाली, स्यन्दिनी, चेतना, त्रैलोक्यजननी, धरित्री, देवमाता, इज्या, श्रुति, स्मृति, दया, लज्जा, श्रेष्ठ कान्ति, अग्र्या, असूया, मति, सदापावनी, दैत्योंकी सेनाओंका विनाश करनेवाली, महामाया वैजयन्ती, अत्यन्त शोभावाली, कालरात्रि, गोविन्द-भगिनी, शैलराजपुत्री, सभी देवोंसे पूजित, सर्वभूतोंसे अर्चित, विद्या, सरस्वती, त्रिनयनकी महारानीको प्रणाम करता हूँ। मैं शरणागतोंकी रक्षा करनेवाली मृडानीकी शरणमें आया हूँ। (देवि!) आपको बार-बार प्रणाम है। अन्धकके इस प्रकार स्तुति करनेपर भवानी प्रसन्न होकर कहा—पुत्र! मैं प्रसन्न हूँ। तुम उत्तम वर माँगो॥ ९२॥

भृङ्गिरुवाच

पापं प्रशममायातु त्रिविधं मम पार्वति। तथेश्वरे च सततं भक्तिरस्तु ममाम्बिके ॥ ९३ ॥

भृङ्गिने कहा—पार्वति! अम्बिके! मेरे त्रिविध—मानसिक, कायिक, वाचिक पाप दूर हो जायँ एवं भगवान् शिवमें मेरी भक्ति सदा बनी रहे ॥ ९३ ॥

पुलस्त्य उवाच

बाढमित्यब्रवीद् गौरी हिरण्याक्षसुतं ततः। स चास्ते पूजयञ्शर्वं गणानामधिपोऽभवत् ॥ ९४ ॥

एवं पुरा दानवसत्तमं स महेश्वरेणाथ विरूपदृष्ट्या।
कृत्वैव रूपं भयदं च भैरवं भृङ्गित्वमीशेन कृतं स्वभक्त्या ॥ ९५ ॥
एतत् तवोक्तं हरकीर्तिवर्धनं पुण्यं पवित्रं शुभदं महर्षे।
संकीर्तनीयं द्विजसत्तमेषु धर्मायुरारोग्यधनैषिणा सदा ॥ ९६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद गौरीने हिरण्याक्षके पुत्र अन्धकसे कहा—ऐसा ही हो। वह वहाँ रहकर शिवकी पूजा करते हुए गणाधिप हो गया। इस प्रकार पहले समयमें महेश्वरने उस दानवश्रेष्ठको अपनी विरूपदृष्टिसे भयदायक भैरव रूप प्रदानकर अपनी भक्तिसे 'भृङ्गी' बना दिया। महर्षे (नारदजी)! मैंने आपसे शिवकी कीर्तिको बढ़ानेवाला यह पुण्य पवित्र एवं शुभद आख्यान कहा। धर्म, आयु, आरोग्य एवं धनको चाहनेवालोंको श्रेष्ठ द्विजातियोंमें इसका कीर्तन सदा करना चाहिये ॥ ९४-९६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

[अथैकसप्ततितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

मलयेऽपि महेन्द्रेण यत्कृतं ब्राह्मणर्षभ। निष्पादितं स्वकं कार्यं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

इकहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(इन्द्रका मलयपर असुरोंसे युद्ध, उनका 'पाकशासन' और 'गोत्रभिद्' होनेका हेतु, मरुतोंकी उत्पत्तिकी कथा)

नारदने कहा—द्विजश्रेष्ठ! महेन्द्रने मलयपर्वतपर भी अपना जो कार्य पूरा किया उसे आप मुझसे कहिये ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां यन्महेन्द्रेण मलये पर्वतोत्तमे। कृतं लोकहितं ब्रह्मन्नात्मनश्च तथा हितम् ॥ २ ॥
अन्धासुरस्यानुचरा मयतारपुरोगमाः। ते निर्जिताः सुरगणैः पातालगमनोत्सुकाः ॥ ३ ॥
ददृशुर्मलयं शैलं सिद्धाध्युषितकन्दरम्। लतावितानसंछन्नं मत्तसत्त्वसमाकुलम् ॥ ४ ॥
चन्दनैरुरगाक्रान्तैः सुशीतैरभिसेवितम्। माधवीकुसुमामोदं ऋष्यर्चितहरं गिरिम् ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन्! महेन्द्रने श्रेष्ठ मलयपर्वतपर जगत्के हित तथा अपने कल्याणके लिये जो कार्य किया था, उसे सुनिये। मय, तार आदि अन्धकासुरके अनुचर दैत्य देवताओंसे पराजित होकर पाताललोकमें जानेके लिये अत्यन्त उत्सुक होने लगे। उन लोगोंने सिद्धोंसे भरे कन्दराओंवाले तथा लतासमूहसे ढके, आमोदभरे प्राणियोंसे व्याप्त, साँपोंसे घिरे सुशीतल चन्दनसे युक्त तथा सुगन्धित माधवी लताके फूलोंकी सुगन्धिसे पूर्ण ऋषियों द्वारा पूजित शंकरके मलयगिरिको देखा ॥ २-५ ॥

स दृष्ट्वा शीतलच्छायं श्रान्ता व्यायामकर्षिताः । मयतारपुरोगास्ते निवासं समरोचयन् ॥ ६ ॥
तेषु तत्रोपविष्टेषु प्राणतृप्तिप्रदोऽनिलः । विवाति शीतः शनकैर्दक्षिणो गन्धसंयुतः ॥ ७ ॥
तत्रैव च रतिं चक्रुः सर्व एव महासुराः । कुर्वन्तो लोकसम्पूज्ये विद्वेषं देवतागणे ॥ ८ ॥
ताञ्ज्ञात्वा शङ्करः शक्रं प्रेषयन्मलयेऽसुरान् । स चापि ददृशे गच्छन् पथि गोमातरं हरिः ॥ ९ ॥

परिश्रमसे थके-माँदे तथा शक्तिहीन मय, तार आदि दानवोंने शीतल छायावाले उस पर्वतको देखकर वहाँ निवास करनेकी इच्छा की । उन लोगोंके वहाँ ठहर जानेपर प्राणोंको संतृप्ति प्रदान करनेवाली सुगन्धसे पूर्ण तथा शीतल दक्षिणी हवा मन्द-मन्द बहने लगी । जगत्-पूज्य देवगणोंसे द्वेष करते हुए सभी श्रेष्ठ दैत्य सुखसे वहीं रहने लगे । शंकरने उन असुरोंको मलय पर्वतपर रहते हुए जानकर इन्द्रको वहाँ भेजा । मार्गमें जाते हुए इन्द्रने गोमाताको देखा ॥ ६—९ ॥

तस्याः प्रदक्षिणां कृत्वा दृष्ट्वा शैलं च सुप्रभम् । ददृशे दानवान् सर्वान् सदर्पान् भोगसंयुतान् ॥ १० ॥
अथाजुहाव बलहा सर्वानेव महासुरान् । ते चाप्यायुयुरव्यग्रा विकिरन्तः शरोत्करान् ॥ ११ ॥
तानागतान् बाणजालै रथस्थोऽद्भुतदर्शनः । छादयामास विप्रर्षे गिरीन् वृष्ट्या यथा घनः ॥ १२ ॥
ततो बाणैरवच्छाद्य मयादीन् दानवान् हरिः । पाकं जघान तीक्ष्णाग्रैर्मार्गणैः कङ्कवाससैः ॥ १३ ॥

उसकी प्रदक्षिणा करनेके बाद उन्होंने सुकान्तिसे सम्पन्न पर्वतपर भोगसे संयुत तथा दर्पित सभी दानवोंको देखा । उसके बाद इन्द्रने सभी महासुरोंको ललकारा । वे भी बिना किसी हिचकके बाणोंकी वर्षा करते हुए आ गये । विप्रर्षे ! रथपर बैठे हुए अद्भुत दिखायी पड़नेवाले इन्द्रने आये हुए उन दानवोंको बाणोंके समूहोंसे इस प्रकार ढक दिया जिस प्रकार बादल जलकी वर्षासे पर्वतोंको ढक देता है । उसके बाद इन्द्रने मय आदि दानवोंको बाणोंसे ढककर कङ्क पक्षीके पंख लगे तेज—नुकीली धारवाले बाणोंसे पाक नामके दानवका वध कर दिया ॥ १०—१३ ॥

तत्र नाम विभुर्लेभे शासनत्वाद् शरैर्दृढैः । पाकशासनतां शक्रः सर्वामरपतिर्विभुः ॥ १४ ॥
तथाऽन्यं पुरनामानं बाणासुरसुतं शरैः । सुपुङ्खैर्दारयामास ततोऽभूत् स पुरन्दरः ॥ १५ ॥
हत्वैवं समरेऽजैषीद् गोत्रभिद् दानवं बलम् । सञ्चापि विजितं ब्रह्मन् रसातलमुपागमद् ॥ १६ ॥
एतदर्थं सहस्राक्षः प्रहितो मलयाचलम् । श्रूयतामन्यच्च मुनिश्रेष्ठ किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ १७ ॥

मजबूत बाणोंसे पाकका दण्डित (शासित) करनेके कारण सभी अमरोंके पति विभु इन्द्रने पाकशासनताकी प्राप्ति हुई । इसी प्रकार उन्होंने सुन्दर पुंख लगे बाणोंसे दूसरे पुर नामक बाणासुरके पुत्रका (भी) वध कर दिया । इसीसे वे पुरन्दर हुए । ब्रह्मन् ! इस प्रकार उन दानवोंका नाश कर इन्द्रने युद्धमें दानव-सेनाको जीत लिया । हारा हुआ वह दानवोंका सेना-समूह रसातलमें चला गया । मुनिश्रेष्ठ ! इसीलिये शंकरने इन्द्रको मलय पर्वतपर भेजा था । अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? ॥ १४—१७ ॥

नारद उवाच

किमर्थं दैत्यपतिर्गोत्रभिद् कथ्यते हरिः । एष मे संदेहो महान् हृदि सम्परिवर्तते ॥ १८ ॥

नारदने कहा (पूछा)—ब्रह्मन् ! मेरे हृदयमें यह संदेह है कि दैत्यपति-(इन्द्र-) को गोत्रभिद् क्यों कहा जाता है ? ॥ १८ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां गोत्रभिच्छक्रः कीर्तितो हि यथा मया। हते हिरण्यकशिपौ यच्चकारारिमर्दनः ॥ १९ ॥
दितिर्विनष्टपुत्रा कश्यपं प्राह नारद। विभो नाथोऽसि मे देहि शक्रहन्तारमात्मजम् ॥ २० ॥
कश्यपस्तामुवाचाथ यदि त्वमसितेक्षणे। शौचाचारसमायुक्ता स्थास्यसे दशतीर्दश ॥ २१ ॥
संवत्सराणां दिव्यानां ततस्त्रैलोक्यनायकम्। जनयिष्यसि पुत्रं त्वं शत्रुघ्नं नान्यथा प्रिये ॥ २२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—मैंने इन्द्रको गोत्रभिद् जैसे कहा तथा हिरण्यकशिपुके मार दिये जानेपर शत्रुमर्दन इन्द्रने जो किया ? आप (सब) सुनें। नारदजी! पुत्रकी मृत्यु हो जानेपर दितिने कश्यपसे कहा—प्रभो! आप मेरे पति हैं, मुझे इन्द्रका वध करनेवाला पुत्र दीजिये। कश्यपने उससे कहा—अमितनयने! यदि तुम सौ दिव्य वर्षोंतक पवित्र आचरण करोगी तो तुम तीनों लोकोंका मार्गदर्शक एवं शत्रुसंहारकारी पुत्र उत्पन्न करोगी। प्रिये! इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ १९–२२ ॥

इत्येवमुक्ता सा भर्त्रा दितिर्नियममास्थिता। गर्भाधानमृषिः कृत्वा जगामोदयपर्वतम् ॥ २३ ॥
गते तस्मिन् मुनिश्रेष्ठे सहस्राक्षोऽपि सत्वरम्। तमाश्रममुपागम्य दितिं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
करिष्याम्यनुशुश्रूषां भवत्या यदि मन्यसे। बाढमित्यब्रवीद् देवी भाविकर्मप्रचोदिता ॥ २५ ॥
समिदाहरणादीनि तस्याश्चक्रे पुरन्दरः। विनीतात्मा च कार्यार्थी छिद्रान्वेषी भुजङ्गवत् ॥ २६ ॥

पतिके ऐसा कहनेपर दितिने नियमका निर्वाह करना प्रारम्भ कर दिया। कश्यप ऋषि गर्भाधान करके उदयगिरिपर चले गये। उन मुनिश्रेष्ठके उदयगिरिपर चले जानेके पश्चात् इन्द्रने शीघ्रतासे उस आश्रममें जाकर दितिसे यह वचन कहा—यदि आप अनुमति प्रदान करें तो मैं आपकी सेवा करूँ। भवितव्यतासे प्रेरित होकर देवीने कहा—ठीक है। विनीत बना हुआ इन्द्र अपने कार्यकी सिद्धिके लिये छिद्र खोजनेवाले सर्पकी भाँति अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए उस (दिति) के लिये लकड़ी आदि लानेका कार्य करने लगे ॥ २३–२६ ॥

एकदा सा तपोयुक्ता शौचे महति संस्थिता। दशवर्षशतान्ते तु शिरःस्नाता तपस्विनी ॥ २७ ॥
जानुभ्यामुपरि स्थाप्य मुक्तकेशा निजं शिरः। सुष्वाप केशप्रान्तैस्तु संस्पृष्टचरणाऽभवत् ॥ २८ ॥
तमन्तरमशौचस्य ज्ञात्वा वेद सहस्रदृक्। विवेश मातुरुदरं नासारन्ध्रेण नारद ॥ २९ ॥
प्रविश्य जठरं क्रुद्धो दैत्यमातुः पुरन्दरः। ददर्शोर्ध्वमुखं बालं कट्यन्यस्तकरं महत् ॥ ३० ॥

एक हजार वर्ष बीत जानेपर मनोयोगसे पवित्रताका पालन करनेमें लगी हुई वह तपस्विनी एक दिन सिरसे स्नान करनेके बाद बालोंको खोले हुए अपने घुटनोंपर सिर रखकर सो गयी। उसके बालोंके ऊपरी भाग (लटककर) पैरोंसे लग गये। नारदजी! सहस्राक्ष इन्द्रदेव अपवित्रताके लिये उस अवसरको (उपयुक्त) जानकर नासिकाके छिद्रसे माताके उदरमें प्रवेश कर गये। इन्द्रने दैत्यमाताकी विशाल कोखमें प्रवेश कर कमरपर हाथ रखे ऊपरको मुख किये हुए एक बालकको देखा ॥ २७–३० ॥

तस्यैवास्तेऽथ ददृशे पेशीं मांसस्य वासवः। शुद्धस्फटिकसंकाशां कराभ्यां जगृहेऽथ ताम् ॥ ३१ ॥
ततः कोपसमाध्मातो मांसपेशीं शतक्रतुः। कराभ्यां मर्दयामास ततः सा कठिनाऽभवत् ॥ ३२ ॥
ऊर्ध्वं चार्धं च ववृधे त्वधोऽध ववृधे तथा। शतपर्वाऽथ कुलिशः संजातो मांसपेशितः ॥ ३३ ॥
तेनैव गर्भं दितिजं वज्रेण शतपर्वणा। चिच्छेद सप्तधा ब्रह्मन् स रुरोद च निःस्वरम् ॥ ३४ ॥

इन्द्रने उस बालकके मुँहमें एक शुद्ध स्फटिकके समान मांसपेशी देखी। इन्होंने उस मांसपेशीको दोनों हाथोंसे पकड़ लिया। उसके बाद क्रोधकी आगसे संतप्त हुए शतक्रतुने अपने दोनों हाथोंसे उस मांसपेशीको मसल दिया जिससे वह कठोर हो गयी (अब वह पिण्डके रूपमें हो गयी)। उस पिण्डका आधा भाग ऊपरकी ओर और आधा भाग नीचेकी ओर बढ़ गया। इस प्रकार उस मांसपेशीसे सौ पोरोंवाला वज्र बन गया। ब्रह्मन्! (इन्द्रने) उन्हीं पोरोंवाले वज्रसे दितिके द्वारा धारण किये हुए गर्भको सात भागोंमें काट डाला। फिर वह गर्भमें रहनेवाला बालक विलखते स्वरमें रोने लगा ॥ ३१–३४ ॥

ततोऽप्यबुध्यत दितिरज्ञानाच्छक्रचेष्टितम्। शुश्राव वाचं पुत्रस्य रुदमानस्य नारद ॥ ३५ ॥
शक्रोऽपि प्राह मा मूढ रुदस्वेति सुघर्घरम्। इत्येवमुक्त्वा चैकैकं भूयश्चिच्छेद सप्तधा ॥ ३६ ॥
ते जाता मरुतो नाम देवभृत्याः शतक्रतोः। मातुरेवापचारेण चलन्ते ते पुरस्कृताः ॥ ३७ ॥
ततः सकुलिशः शक्रो निर्गम्य जठरात् तदा। दितिं कृताञ्जलिपुटः प्राह भीतस्तु शापतः ॥ ३८ ॥
ममास्ति नापराधोऽयं यच्छस्तस्तनयस्तव। तवैवापनयाच्छस्तस्तन्मे न क्रोद्धुमर्हसि ॥ ३९ ॥

[पुलस्त्यजी कहते हैं—] नारदजी! उसके बाद दिति जग गयी और उसने इन्द्रकी की हुई चेष्टाको जान लिया। उसने रोते हुए पुत्रकी वाणी सुनी। इन्द्रने भी कहा—मूर्ख! घर्घर शब्दसे मत रोओ। ऐसा कहकर उन्होंने प्रत्येक टुकड़ेको पुनः सात-सात टुकड़ोंमें काट डाला। वे (कटे हुए टुकड़े) इन्द्रके मरुत् नामके देवता हो गये। माताके ही अनुचित कार्य करनेके कारण वे आगे चलते हैं। उसके बाद वज्र लिये हुए इन्द्र उदरसे बाहर आकर एवं शापसे भयभीत होकर हाथ जोड़कर दितिसे कहा—आपके पुत्रको जो मैंने काटा है इसमें मेरा अपराध नहीं है। आपके ही अपचरण-(पवित्रताका पालन न करने) से यह काटा गया। अतः मेरे ऊपर आपको कुपित नहीं होना चाहिये ॥ ३५–३९ ॥

दितिरुवाच

न तवात्रापराधोऽस्ति मन्ये दिष्टमिदं पुरा। सम्पूर्णे त्वपि काले वै याऽशौचत्वमुपागता ॥ ४० ॥

दितिने कहा—इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। मैं इसे पूर्वनियोजित मानती हूँ। इसीसे समय पूरा होनेपर भी मैंने अपवित्रताका आचरण कर दिया ॥ ४० ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा तान् बालान् परिसान्त्व्य दितिः स्वयम्। देवराज्ञा सहैतांस्तु प्रेषयामास भामिनी ॥ ४१ ॥
एवं पुरा स्वानपि सोदरान् स गर्भस्थितानुच्चरितुं भयार्तः।
बिभेद वज्रेण ततः स गोत्रभित् ख्यातो महर्षे भगवान् महेन्द्रः ॥ ४२ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

पुलस्त्यजी बोले—भामिनी दितिने ऐसा कहनेके बाद उन बालकोंको सान्त्वना देकर उन्हें देवराजके साथ ही भेज दिया। महर्षे! इस प्रकार पूर्वकालमें भयार्त होकर महेन्द्रने गर्भस्थित अपने ही सहोदरोंको रोनेके लिये उन्हें वज्रद्वारा काट दिया। इसीसे वे 'गोत्रभित्' नामसे प्रसिद्ध हो गये ॥ ४१-४२ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें एकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

[अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

यत्तो भवता प्रोक्ता मरुतो दितिजोत्तमाः । तत् केन पूर्वमासन् ये मरुमार्गेण कथ्यताम् ॥ १ ॥
पूर्वमन्वन्तरेष्वेव समतीतेषु सत्तम । के त्वासन् वायुमार्गस्थास्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

बहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत चाक्षुष-मन्वन्तरोंके मरुद्गणकी उत्पत्तिका वर्णन)

नारदजीने कहा—(पुलस्त्यजी !) आपने दितिसे उत्पन्न उत्तम मरुद्गणोंका जो वर्णन किया उसके विषयमें यह कहिये कि पहले वे मरुत् किस मार्गमें अवस्थित थे, सत्तम ! आप मुझे विशेषरूपसे यह बतलाइये कि पूर्व मन्वन्तरके बीत जानेपर कौन (मरुत्) वायुमार्गमें स्थित थे ? ॥ १ २ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां पूर्वमरुतामुत्पत्तिं कथयामि ते । स्वायम्भुवं समारभ्य यावन्मन्वन्तरं त्विदम् ॥ ३ ॥
स्वायम्भुवस्य पुत्रोऽभूमनोर्नाम प्रियव्रतः । तस्यासीत् सवनो नाम पुत्रस्त्रैलोक्यपूजितः ॥ ४ ॥
स वानपत्यो देवर्षे नृपः प्रेतगतिं गतः । ततोऽरुदत् तस्य पत्नी सुदेवा शोकविह्वला ॥ ५ ॥
न ददाति तदा दग्धुं समालिङ्ग्य स्थिता पतिम् । नाथ नाथेति बहुशो विलपन्ती त्वनाथवत् ॥ ६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) स्वायम्भुव मन्वन्तरसे लेकर इस मन्वन्तरतकके पहलेतकके मरुद्गणोंकी उत्पत्ति आपसे कहता हूँ, उसे सुनिये । स्वायम्भुव मनुके पुत्रका नाम प्रियव्रत था । तीनों लोकोंमें सत्कार प्राप्त सवन उन प्रियव्रतके पुत्र थे । देवर्षे ! वे राजा पुत्रहीन ही मृत्युको प्राप्त हो गये । उनके बाद उनकी सुदेवा नामकी पत्नी शोकसे विह्वल होकर रोने लगी । उसने उस मृत-शरीरको दाह-संस्कार करनेके लिये नहीं दिया । पतिके गलेसे लिपटी हुई वह 'हा नाथ, हा नाथ' कहती हुई असहायकी भाँति अत्यधिक विलाप करने लगी ॥ ३ ६ ॥

तामन्तरिक्षादशरीरिणी वाक् प्रोवाच मा राजपत्नीह रोदीः ।
यद्यस्ति ते सत्यमनुत्तमं तदा भवत्वयं ते पतिना सहाग्निः ॥ ७ ॥
सा तां वाणीमन्तरिक्षान्निशम्य प्रोवाचेदं राजपुत्री सुदेवा ।
शोचाम्येनं पार्थिवं पुत्रहीनं नैवात्मानं मन्दभाग्यं विहङ्ग ॥ ८ ॥
सोऽथाब्रवीन्मा रुदस्वायताक्षि पुत्रास्त्वत्तो भूमिपालस्य सप्त ।
भविष्यन्ति ह्यग्निमारोह शीघ्रं सत्यं प्रोक्तं श्रद्दधत्स्व त्वमद्य ॥ ९ ॥
इत्येवमुक्ता खचरेण बाला चितिं समारोप्य पतिं यथार्हम् ।
हुताशमासाद्य पतिव्रता सा सचिन्तयन्ती ज्वलनं प्रपन्ना ॥ १० ॥

उस समय आकाशसे अशरीरिणीवाणीने उससे कहा—राजपत्नि ! तुम रोओ मत । यदि तुम्हारा सत्य (पति-सेवा) का श्रेष्ठ है तो यह अग्नि पतिके साथ तुम्हारे हितके लिये हो । आकाशसे हुई उस वाणीको सुनकर राजपुत्री सुदेवाने कहा—आकाशचारिन् ! मैं इस सुत-हीन राजाके लिये सोच कर रही हूँ, न कि अपने दुर्भाग्यके लिये । उस आकाशवाणीने फिर कहा—विशालनयने ! तुम रोओ मत । तुम्हारे गर्भसे तो राजाको सात पुत्र होंगे । तुम शीघ्र चितापर चढ़ जाओ । मैं सच कहता हूँ । इसपर तुम आज विश्वास करो । आकाशचारीके

महाबलवानो ! रोओ मत । तुम्हारा नाम मरुत् होगा । तुम आकाशमें विचरण करनेवाले होओगे । इतना कहकर लोक-पितामह देवेश ब्रह्मा उन मरुतोंको लेकर आकाशमें चले गये और उन्हें (आकाशमें रहनेका) आदेश दे दिया । वे ही स्वायम्भुव मनुके समयमें 'आद्य मरुत' हुए ॥ २०—२३ ॥

स्वारोचिषे तु मरुतो वक्ष्यामि शृणु नारद । स्वारोचिषस्य पुत्रस्तु धीमानासीत् क्रतुध्वजः ॥ २४ ॥
तस्य पुत्राभवन् सप्त सप्तार्चिः प्रतिमा मुने । तपोऽर्थं ते गता शैलं महामेरुं नरेश्वराः ॥ २५ ॥
आराधयन्तो ब्रह्माणं पदमैन्द्रमथेप्सवः । ततो विपश्चिच्छ्रामाथ सहस्राक्षो भयातुरः ॥ २६ ॥
पूतनामप्सरोमुख्यां प्राह नारद वाक्यवित् । गच्छस्व पूतने शैलं महामेरुं विशालिनम् ॥ २७ ॥

नारदजी ! अब मैं स्वारोचिष मन्वन्तरके मरुतोंका वर्णन करता हूँ, (उसे) सुनो । स्वारोचिषके पुत्र श्रीमान् क्रतुध्वज थे । मुने ! उनके अग्निके समान सात पुत्र थे । वे सभी नरेश्वर तपस्या करनेके लिये महामेरु पर्वतपर चले गये । वे इन्द्रपदको प्राप्त करनेकी इच्छासे ब्रह्माकी आराधना करने लगे । उसके बाद बुद्धिमान् इन्द्र भयभीत हो गये । नारदजी ! वक्ताके अभिप्रायको स्पष्ट समझनेवाले इन्द्रने अप्सराओंमें प्रधान पूतनासे कहा—पूतने ! तुम महान् विशाल मेरु पर्वतपर जाओ ॥२४—२७॥

तत्र तप्यन्ति हि तपः क्रतुध्वजसुता महत् । यथा हि तपसो विघ्नं तेषां भवति सुन्दरि ॥ २८ ॥
तथा कुरुष्व मा तेषां सिद्धिर्भवतु सुन्दरि । इत्येवमुक्ता शक्रेण पूतना रूपशालिनी ॥ २९ ॥
तत्राजगाम त्वरिता यत्रातप्यन्त ते तपः । आश्रमस्याविदूरे तु नदी मन्दोदवाहिनी ॥ ३० ॥
तस्यां स्नातुं समायाताः सर्व एव सहोदराः । साऽपि स्नातुं सुचार्वङ्गी त्ववतीर्णा महानदीम् ॥ ३१ ॥

वहाँ क्रतुध्वजके पुत्र महान् तप कर रहे हैं । सुन्दरि ! उनके तपमें जिस प्रकार विघ्न हो तथा हे सुन्दरि ! उन्हें सिद्धिकी प्राप्ति जैसे न हो सके—ऐसा उपाय करो । इन्द्रके कहनेपर रूपवती पूतना शीघ्र वहाँ गयी, जहाँ वे तपस्या कर रहे थे । आश्रमके पास ही मन्द जल-प्रवाहवाली नदी थी । सभी सगे भाई उस नदीमें स्नान करनेके लिये आये । वह सुन्दरी भी स्नान करनेके लिये उस महानदीमें उतरी ॥ २८—३१ ॥

दृष्ट्वा ते नृपाः स्नातां ततश्चुक्षुभिरे मुने । तेषां च प्राच्यवच्छुक्रं तत्पपौ जलचारिणी ॥ ३२ ॥
शङ्खिनी ग्राहमुख्यस्य महाशङ्खस्य वल्लभा । तेऽपि विभ्रष्टतपसो जग्मू राज्यं तु पैतृकम् ॥ ३३ ॥
सा चाप्सरा शक्रमेत्य याथातथ्यं न्यवेदयत् । ततो बहुतिथे काले सा ग्राही शङ्खरूपिणी ॥ ३४ ॥
समुद्धृता महाजालैर्मत्स्यबन्धेन मानिनी । स तां दृष्ट्वा महाग्राहीं स्थलस्थां मत्स्यजीविकः ॥ ३५ ॥
निवेदयामास तदा क्रतुध्वजसुतेषु वै । तयाऽभ्येत्य महात्मानो योगिनो योगधारिणः ॥ ३६ ॥

मुने ! उन राजपुत्रोंने स्नान करती हुई उस पूतनाको देखा और वे क्षुभित हो गये, परिणामतः उनका शुक्रपात हो गया । मगरियोंमें प्रधान महाशङ्खकी प्रिया शङ्खिनीने उसे पी लिया । तपसे भ्रष्ट हो जानेपर वे भी अपने पिताके राज्यमें चले गये । उस अप्सराने भी इन्द्रके पास जाकर उनसे सत्य तथ्यको बतला दिया । उसके बाद बहुत समयके पश्चात् किसी धीवरने महाजालद्वारा उस शङ्खरूपिणी मानिनी बड़ी मछलीको पकड़ लिया । मछलीसे जीवनका निर्वाह करनेवाले-(धीवर) ने भूमिपर पड़ी हुई उस महाग्राहीको देखकर क्रतुध्वजके पुत्रोंसे निवेदित किया । योगको धारण करनेवाले वे महात्मा योगी उसके निकट गये ॥ ३२—३६ ॥

नीत्वा स्वमन्दिरं सर्वे पुरवाप्यां समुत्सृजन्। ततः क्रमाच्छङ्खिनी सा सुषुवे सप्त वै शिशून्॥ ३७॥
जातमात्रेषु पुत्रेषु मोक्षभावमगाच्च सा। अमातृपितृका बाला जग्मुरभ्यविदारिणः॥ ३८॥
स्तन्यार्थिनो वै रुरुदुस्त्वाययागात् पितामहः। मा रुदध्वमितीत्याह मरुतो नाम पुत्रकाः॥ ३९॥
यूयं देवा भविष्यध्वं वायुस्कन्धविचारिणः। इत्येवमुक्त्वाथादाय सर्वांस्तान् देवतान् प्रति॥ ४०॥
नियोज्य च मरुन्मार्गे वैराजं भवनं गतः। एवमासंश्च मरुतो मनोः स्वारोचिषेऽन्तरे॥ ४१॥

उन सभीने उसको अपने घर लाकर नगरके तालाबमें छोड़ दिया। उस शङ्खिनीने क्रमशः सात पुत्रोंको जन्म दिया। पुत्रोंका जन्म होते ही वह शङ्खिनी संसारसे विदा हो गयी। अब बिना माता-पिताके वे बालक जलमें विचरण करने लगे। दूधके लिये वे बिलखने लगे। उस समय वहाँ पितामह आ गये। उन्होंने 'मत रोओ' ऐसा कहा। इसीलिये उनका नाम मरुत् हुआ। 'तुमलोग वायुके कंधेपर विचरण करनेवाले देवता होगे' यह कहनेके बाद वे उन सभी देवताओंको ले जाकर उन्हें वायुमार्गमें नियुक्त कर ब्रह्मलोकको चले गये। इस प्रकार स्वारोचिष मनुके समयमें मरुत् हुए॥ ३७—४१॥

उत्तमे मरुतो ये च तान्शृणुष्व तपोधन। उत्तमस्यान्वयाये तु राजासीन्निषधाधिपः॥ ४२॥
वपुष्मानिति विख्यातो वपुषा भास्करोपमः। तस्य पुत्रो गुणश्रेष्ठो ज्योतिष्मान् धार्मिकोऽभवत्॥ ४३॥
स पुत्रार्थी तपस्तेपे नद्यां मन्दाकिनीमनु। तस्य भार्या च सुश्रोणी देवाचार्यसुता शुभा॥ ४४॥
तपश्चरणयुक्तस्य बभूव परिचारिका। सा स्वयं फलपुष्पाम्बुसमित्कुशान् समाहरत्॥ ४५॥

तपोधन! उत्तम-(मन्वन्तर-) में जो मरुत् थे, अब उनके विषयमें सुनिये। उत्तमके वंशमें शरीरसे सूर्यके सदृश वपुष्मान् नामके प्रसिद्ध निषधोंके एक राजा थे। उनका उत्तम गुणोंवाला ज्योतिष्मान् नामका एक धार्मिक पुत्र था। वह पुत्रकी कामनासे मन्दाकिनी नदीके किनारे तपस्या करने लगा। देवताओंके आचार्य बृहस्पतिकी सुन्दरी पुत्री उसकी कल्याणकारिणी पत्नी थी। वह उस तपस्वीकी सेविका बनी। वह स्वयं फल, पुष्प, जल, समिधा एवं कुश लाती थी॥ ४२—४५॥

चकार पद्मपत्राक्षी सम्यक् चातिथिपूजनम्। पतिं शुश्रूषमाणा सा कृशा धमनिसन्तता॥ ४६॥
तेजोयुक्ता सुचार्वङ्गी दृष्टा सप्तर्षिभिर्वने। तां तथा चारुसर्वाङ्गीं दृष्ट्वाऽथ तपसा कृशाम्॥ ४७॥
पप्रच्छुस्तपसो हेतुं तस्यास्तद्भर्तुरेव च। साऽब्रवीत् तनयार्थाय आयासौ वै तपःक्रिया॥ ४८॥
ते चास्यै वरदा ब्रह्मन् जाता सप्त महर्षयः। भविष्यन्ति तनयाः सप्त भविष्यन्ति न संशयः॥ ४९॥
युवयोर्गुणसंयुक्ता महर्षीणां प्रसादतः। इत्येवमुक्त्वा जग्मुस्ते सर्व एव महर्षयः॥ ५०॥

कमलदलके समान नयनोंवाली वह अच्छी तरह अतिथियोंका सत्कार करती थी। पतिकी सेवा करते हुए उसका शरीर दुबला हो गया तथा नाड़ियाँ दिखायी देने लगीं। सप्तर्षियोंने उस तेजस्विनी सर्वाङ्गसुन्दरीको वनमें देखा। तपसे दुर्बल उस सर्वाङ्गसुन्दरीको देखकर उन लोगोंने उसकी तथा उसके पतिकी तपस्याका कारण पूछा। उसने कहा—हम दोनों पुत्रके लिये तप कर रहे हैं। ब्रह्मन्! उन सप्तर्षियोंने उसे वर दिया—तुम जाओ; महर्षियोंकी कृपासे तुम दोनोंको निःसन्देह सात गुणवान् पुत्र होंगे। इस प्रकार कहकर वे सभी महर्षि चले गये॥ ४६—५०॥

इह चापि धर्मार्थिन्यसा सभार्यो नगरं निजम्। ततो मध्यंदिने जाते सा राज्ञो महिषी प्रिया॥ ५१॥
चकार गर्भं सम्पूर्णं तस्मात्पुनर्विलक्षणात्। सुदिव्यामथ भार्यां सा ममाराशां मराधिपः॥ ५२॥
सा चाप्याप्तुमिच्छन्ती भर्तारं वै पतिव्रता। निर्गता तद्गृहमार्येण तथापि स्वपीडन॥ ५३॥

समारोप्याथ भर्तारं चितायामारुरोह च सा। ततोऽग्निमध्यात् सलिले मांसपेश्यपतन्मुने ॥ ५४ ॥
साऽम्भसा सुखशीतेन ससिक्ता सप्तधाऽभवत्। तेऽजायन्ताथ मरुत उत्तमस्यान्तरे मनो ॥ ५५ ॥

वे राजर्षि भी अपनी पत्नीके सहित नगरमें गये। उसके बाद बहुत समय बीत जानेपर राजाकी उस प्रिय रानीने उन नृपतिश्रेष्ठसे गर्भ धारण किया। भार्याके गर्भिणी होनेपर वे राजा संसारसे चल बसे। उस पतिव्रताने अपने पतिके साथ चितापर आरूढ होनेकी इच्छा की। मन्त्रियोंने उसे रोका, परंतु वह रुकी नहीं। पतिको चितापर रखकर वह भी उसपर चढ़ गयी। मुने! उसके बाद अग्निके बीचसे जलमें एक मांसपेशी गिरी। अत्यन्त शीतल जलसे ससिक्त होनेपर वह (मांसपेशी) सात टुकड़ोंमें अलग-अलग हो गयी। वे ही टुकड़े उत्तम मनुके कालमें मरुत् हुए ॥ ५१—५५ ॥

तामसस्यान्तरे ये च मरुतोप्यभवन् पुरा। तांश्च कीर्तयिष्यामि गीतनृत्यकलिप्रिय ॥ ५६ ॥
तामसस्य मनोः पुत्रो ऋतध्वज इति श्रुतः। स पुत्रार्थी जुहावाग्नौ स्वमांसं रुधिरं तथा ॥ ५७ ॥
अस्थीनि रोमकेशांश्च स्नायुमज्जायकृद्धनम्। शुक्रं च विप्रर्षी राजा सुतार्थी इति नः श्रुतम् ॥ ५८ ॥

हे गीतनृत्यकलिप्रिय (नारदजी)! पहले तामस मन्वन्तरमें जो मरुत् हुए (अब मैं) उनका वर्णन करूँगा। तामस मनुके पुत्र ऋतध्वज नामसे विख्यात थे। उन्होंने पुत्रकी अभिलाषासे अग्निमें अपने शरीरके मांस और रक्तका हवन किया। हमलोगोंने सुना है कि पुत्रके अभिलाषी (उन) राजाने अस्थि, रोम, केश, स्नायु, मज्जा, यकृत् और घने शुक्रकी अग्निमें आहुति दी ॥ ५६—५८ ॥

ततस्त्वेवार्चिषु ततः शुक्रपातादनन्तरम्। मा मा क्षिपस्वेत्यभवच्छब्दः सोऽपि मृतो नृपः ॥ ५९ ॥
ततस्तस्माद्धुतवहात् सप्त तत्तेजसोपमाः। शिशवः समजायन्त ते रुदन्तोऽभवन् मुने ॥ ६० ॥
तेषां तु ध्वनिमाकर्ण्य भगवान् पद्मसम्भवः। समागम्य निवार्याथ स चक्रे मरुतः सुतान् ॥ ६१ ॥
ते त्वासन् मरुतो ब्रह्मंस्तामसे देवतागणाः। येऽभवन् रैवते तांश्च शृणुष्व त्वं तपोधन ॥ ६२ ॥

उसके बाद सातों अग्नियोंमें शुक्रपात होनेपर मत फेंको, मत फेंको' इस प्रकारका शब्द होने लगा। वे राजा भी मर गये। मुने! उसके बाद उस अग्निसे सात तेजस्वी शिशु उत्पन्न हुए और वे रोने लगे। उनके रोनेकी ध्वनि सुनकर भगवान् कमलयोनि (ब्रह्मा) ने आकर मना किया और उन पुत्रोंको मरुत् नामका देवता बना दिया। ब्रह्मन्! वे ही तामस मन्वन्तरमें (मरुद्गण) नामक देवता हुए। हे तपोधन! रैवत मन्वन्तरमें जो (मरुद्गण) हुए उनका विवरण आगे सुनिये ॥ ५९—६२ ॥

रैवतस्यान्ववाये तु राजासीद् रिपुजिद् वशी। रिपुजिन्नामतः ख्यातो न तस्यासीत् सुतः किल ॥ ६३ ॥
स समाराध्य तपसा भास्करं तेजसां निधिम्। अवाप कन्यां सुरतिं तां प्रगृह्य गृहं ययौ ॥ ६४ ॥
तस्याः पितृगृहे ब्रह्मन् वसन्त्याः स पिता मृतः। साऽपि दुःखपरीताङ्गी स्वां तनुं त्यक्तुमुद्यता ॥ ६५ ॥
ततस्तां वारयामासुर्ऋषयः सप्त मानसाः। तस्यामासक्तचित्तास्तु सर्वे एव तपोधनाः ॥ ६६ ॥

रैवतके वंशमें शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवाले संयमी रिपुजित् नामसे विख्यात एक राजा थे। उनको पुत्र नहीं था। उन्होंने तपद्वारा तेजोनिधि सूर्यकी आराधना कर सुरति नामकी कन्या प्राप्त की और उसे लेकर वे घर चले गये। ब्रह्मन्! उस कन्याके पितृ-गृहमें रहते हुए पिताका देहावसान हो गया। वह भी शोकसे आकुल होकर अपने शरीरका परित्याग करनेके लिये तैयार हुई। उसके बाद सात मानस ऋषियोंने उसे मना किया। किंतु वे सभी तपोधन उसमें आसक्तचित्त हो गये थे ॥ ६३—६६ ॥

अपारयन्ती तद्दुःखं प्रज्वाल्याग्निं विवेश ह । ते चापश्यन्त ऋषयस्तत्स्थिता भावितास्तथा ॥ ६७ ॥
तां मृतामृषयो दृष्ट्वा कष्टं कष्टेति वादिनः । प्रजग्मुर्ज्वलनाच्चापि प्रजाजायन्त दारकाः ॥ ६८ ॥
ते च मात्रा विना भूता रुरुदुस्तान् पितामहः । निवारयित्वा कृतवाँल्लोकनाथो मरुद्गणान् ॥ ६९ ॥
रैवतस्यान्तरे जाता मरुतोऽमी तपोधन । शृणुष्व कीर्तयिष्यामि चाक्षुषस्यान्तरे मनोः ॥ ७० ॥

किंतु वह कन्या उस दुःखको सहन न कर सकनेके कारण आग जलाकर उसमें प्रवेश कर गयी। उसमें आसक्त तथा प्रभावित ऋषियोंने उसे देखा। उसे मरा हुआ देखकर वे ऋषि 'दुःखकी बात है', 'दुःखकी बात है' कहते हुए चले गये। उसके बाद उस अग्निसे सात पुत्र हुए। माताके अभावमें वे रोने लगे। लोकनाथ पितामह ब्रह्माने उन्हें (रोनेसे) रोककर मरुद्गणका पद दे दिया। तपोधन! वे ही रैवत मन्वन्तरमें मरुद्गण हुए। अब मैं चाक्षुष मनुके कालके मरुद्गणोंका वर्णन करूँगा, उसे सुनिये—॥ ६७-७० ॥

आसीन्मङ्किरिति ख्यातस्तपस्वी सत्यवाक् शुचिः । सप्तसारस्वते तीर्थे सोऽतप्यत महत्तपः ॥ ७१ ॥
विघ्नार्थं तस्य तुषिता देवाः संप्रेषयन् वपुम् । सा चाभ्येत्य नदीतीरे क्षोभयामास भामिनी ॥ ७२ ॥
ततोऽस्य प्राच्यवच्छुक्रं सप्तसारस्वते जले । तां चैवाप्यशपन्मूढां मुनिर्मङ्कणको वपुम् ॥ ७३ ॥
गच्छ वध्याऽसि मूढे त्वं पापस्यास्य महत् फलम् । विध्वंसयिष्यति हयो भवतीं यज्ञसंसदि ॥ ७४ ॥
एवं शप्त्वा ऋषिः श्रीमाञ्जगामाथ स्वमाश्रमम् । सरस्वतीभ्यः सप्तभ्यः सप्त वै मरुतोऽभवन् ॥ ७५ ॥

एतत् तवोक्तं मरुतां पुरा यथा जाता वियद्व्यापिवरा महर्षे ।
येषां श्रुते जन्मनि पापहानिर्भवेच्च धर्माभ्युदयो महान् वै ॥ ७६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

मङ्कि नामसे विख्यात सत्यवादी और पवित्र एक तपस्वी थे। उन्होंने सप्तसारस्वत तीर्थमें महान् तप किया था। देवताओंने उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये 'वपु' नामकी अप्सराको भेजा। उस भामिनीने नदीके किनारे आकर मुनिको क्षोभित कर दिया। उसके बाद उनका शुक्र च्युत होकर सप्तसारस्वतके जलमें गिर गया। मुनि मङ्कणकने उस मूढा वपुको भी शाप दे दिया। हे मूढे! चली जाओ। तुम इस पापका दारुण फल प्राप्त करोगी। यज्ञसदनमें तुमको अश्व विध्वस्त करेगा। श्रीमान् ऋषि इस प्रकार शाप देकर अपने आश्रममें चले गये। उसके बाद उन सरस्वतियोंसे सात मरुत् उत्पन्न हुए। महर्षे! पूर्वकालमें आकाशव्यापी मरुद्गण जिस प्रकार उत्पन्न हुए थे, उसे मैंने आपसे कहा। इनका वर्णन सुननेसे पापका नाश तथा धर्मका महान् अभ्युदय होता है ॥ ७१-७६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७२ ॥

[अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

एवदर्थे बलिर्दैत्यः कृतो राजा कलिप्रिय। मन्त्रप्रदाता प्रह्लादः शुक्रश्चासीत् पुरोहितः ॥ १ ॥
ज्ञात्वाऽभिषिक्तं दैतेयं विरोचनसुतं बलिम्। दिदृक्षवः समायाताः समयाः सर्व एव हि ॥ २ ॥
तानागतांस्तिरीक्ष्यैव पूजयित्वा यथाक्रमम्। पप्रच्छ कुलजान् सर्वान् किं नु श्रेयस्करं मम ॥ ३ ॥
तमूचुः सर्व एवैनं शृणुष्व सुरमर्दन। यत् ते श्रेयस्करं कर्म यदस्माकं हितं तथा ॥ ४ ॥

तिहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलि, मय प्रभृति दैत्योंका देवताओंके साथ युद्ध, कालनेमिके साथ विष्णुभगवान्‌का युद्ध और कालनेमिका वध)

पुलस्त्यजी बोले—कलिप्रिय (नारदजी)! बलि दैत्यको इसीलिये राजा बनाया गया था। प्रह्लाद उसके परामर्श देनेवाले मन्त्री तथा शुक्राचार्य पुरोहित थे। विरोचनके पुत्र बलि दैत्यको राज्यपर अभिषिक्त हुआ जानकर एक साथ सभी दैत्य उसे देखनेकी इच्छासे आये। उन (वहाँ) आये हुए अपने कुलपुरुषोंको देखकर (बलिने) यथाक्रम उनकी पूजा की एवं उनसे पूछा कि मेरे लिये क्या कल्याणकारी है? उन सभीने उससे कहा—देवमर्दन! तुम्हारे लिये जो कल्याणकारी और हमारे लिये हितकर कर्म है, उसे सुनो ॥ १–४ ॥

पितामहस्तव बली आसीद् दानवपालकः। हिरण्यकशिपुर्वीरः स शक्रोऽभूज्जगत्त्रये ॥ ५ ॥
समागम्य सुरश्रेष्ठो विष्णुः सिंहवपुर्धरः। प्रत्यक्षं दानवेन्द्राणां नखैस्तं हि व्यदारयत् ॥ ६ ॥
अपकृष्टं तथा राज्यमन्धकस्य महात्मनः। तेषामर्थे महाबाहो शङ्करेण त्रिशूलिना ॥ ७ ॥
तथा तव पितृव्योऽपि जम्भः शक्रेण घातितः। कुजम्भो विष्णुना चापि प्रत्यक्षं पशुवत् तव ॥ ८ ॥

तुम्हारे पितामह हिरण्यकशिपु बलवान्, वीर और दानवकुलके पालन करनेवाले थे। तीनों लोकोंके वे इन्द्र हो गये थे। किंतु सिंहशरीर धारणकर देवोंमें श्रेष्ठ श्रीविष्णुने उनके पास आकर श्रेष्ठ दानवोंके सामने ही उन्हें अपने नखोंसे विदीर्ण कर डाला। महाबाहो! त्रिशूल धारण करनेवाले शंकरने भी उन-(देवों)के लिये महान् बलशाली अन्धकका राज्य छीन लिया था। और इन्द्रने तुम्हारे चाचा (पिताके भाई) जम्भको मार दिया एवं विष्णुने तुम्हारे सामने कुजम्भको पशुकी तरह मार डाला ॥ ५–८ ॥

शम्भुः पाको महेन्द्रेण भ्राता तव सुदर्शनः। विरोचनस्तव पिता निहतः कथयामि ते ॥ ९ ॥
श्रुत्वा गोत्रक्षयं ब्रह्मन् कृतं शक्रेण दानवः। उद्योगं कारयामास सह सर्वैर्महासुरैः ॥ १० ॥
रथैरन्ये गजैरन्ये वाजिभिश्चापरेऽसुराः। पदातयस्तथैवान्ये जग्मुर्युद्धाय दैवतैः ॥ ११ ॥
मयोऽग्रे याति बलवान् सेनानायो भयङ्करः। सैन्यस्य मध्ये च बलिः कालनेमिश्च पृष्ठतः ॥ १२ ॥
वामपार्श्वमवष्टभ्य शाल्वः प्रथितविक्रमः। प्रयाति दक्षिणं घोरं तारकाख्यो भयङ्करः ॥ १३ ॥

मैं तुमसे बतला दे रहा हूँ कि महेन्द्रने शम्भु, पाक और तुम्हारे भाई सुदर्शन एवं तुम्हारे पिता विरोचनको मार डाला है। [पुलस्त्यजी कहते हैं कि—] ब्रह्मन्! इन्द्रद्वारा किये गये अपने कुलका विनाश सुनकर दानव बलिने समस्त महान् असुरोंको युद्ध करनेके लिये तैयारी करनेकी प्ररणा दी। फिर तो कुछ असुर रथोंपर, कुछ हाथियोंपर, कुछ घोड़ोंपर और कुछ पैदल ही देवताओंसे युद्ध करनेके लिये चल पड़े।

उदयाद्रितटे रम्ये शुभे समशिलातले। निर्वृक्षे पक्षिरहिते जातो देवासुरो रण ॥ २६ ॥
सन्निपातस्तयो रौद्र सैन्ययोरभवन्मुने। महीधरोत्तमे पूर्वं यथा वानरहस्तिनो ॥ २७ ॥
रणरेणू रथोद्धूत पिङ्गलो रणमूर्धनि। सध्यानुरक्त सदृशो मेघ खे सुरतापस ॥ २८ ॥
तत्रासात् तुमुल युद्ध न प्राज्ञायत किंचन। श्रूयते त्वनिश शब्दश्छिन्धि भिन्धीति सर्वत ॥ २९ ॥

उदयाचलके वृक्ष एव पक्षियोंसे रहित रमणीय शुभ एव समतल पथरीले मैदानमें देवों और दैत्योंका भारी युद्ध हुआ। मुनि नारदजी! पहले समयमें जैसा युद्ध बदर एव हाथियोंके बीच हुआ था, वैसा ही घमासान सग्राम उन दोनों सेनाओंमें हुआ। सुरतापस! रथसे उड़ी हुई युद्धकी पिङ्गल वर्णकी धूल युद्ध-भूमिके ऊपर आकाशमें स्थित सन्ध्याकालके लाल बादलकी भाँति लग रही थी। उस समय चल रहे घनघोर युद्धमें कुछ भी नहीं जाना जा रहा था। चारों ओर लगातार '(काटकर) टुकड़े-टुकड़े कर दो', 'विदीर्ण कर दो'के शब्द ही सुनायी पड़ रहे थे ॥ २६—२९ ॥

ततो विशसनो रौद्रो दैत्याना दैवतै सह। जातो रुधिरनिष्यन्दो रज सशमनात्मक ॥ ३० ॥
शान्ते रजसि देवाद्यास्तद् दानवबल महत्। अभिद्रवन्ति सहिता सम स्कन्देन धीमता ॥ ३१ ॥
निजघ्नुर्दानवान् देवा कुमारभुजपालिता। देवान् निजघ्नुर्दैत्याश्च मयगुप्ता प्रहारिण ॥ ३२ ॥
ततोऽमृतरसास्वादाद् विना भूता सुरोत्तमा। निर्जिता समरे दैत्यै सम स्कन्देन नारद ॥ ३३ ॥

उसके बाद देवोंके साथ दैत्योंकी भयङ्कर मार-काटसे उत्पन्न रक्तप्रवाहकी धारा बह चली, जो धूलको शान्त करनेवाली हो गयी—रक्त और धूल मिलकर कीच बन गयी। धूलके शान्त हो जानेपर देवता आदि बुद्धिमान् कार्तिकेयके साथ बड़े दानव-दलपर टूट पड़े। कुमार कार्तिकेयके बाहुबलसे रक्षित देवताओंने दैत्योंका हनन किया और मयके द्वारा रक्षित दैत्योंने प्रहार करते हुए देवताओंको मारा। किंतु नारदजी! उसके बाद अमृतरसका आस्वाद न लेने—अमृत न पीनेके कारण कार्तिकेयके सहित श्रेष्ठ देवता युद्धमें दैत्योंसे पराजित हो गये ॥ ३०—३३ ॥

विनिर्जितान् सुरान् दृष्ट्वा वैनतेयध्वजोऽरिहा। शार्ङ्गमानम्य बाणौघैर्निजघान ततस्तत ॥ ३४ ॥
ते विष्णुना हन्यमाना पतत्रिभिरयोमुखै। दैतेया शरण जग्मु कालनेमिं महासुरम् ॥ ३५ ॥
तेभ्य स चाभय दत्त्वा ज्ञात्वाऽजेय च माधवम्। विवृद्धिमगमद् ब्रह्मन् यथा व्याधिरुपेक्षित ॥ ३६ ॥
यं यं करेण स्पृशति देव यक्ष सकिन्नरम्। त तमादाय चिक्षेप विस्तृते वदने बली ॥ ३७ ॥

देवताओंको पराजित हुआ देखकर शत्रुओंका दमन करनेवाले गरुडध्वज विष्णु शार्ङ्गधनुषको चढ़ाकर चारों ओर बाणोंकी वर्षा करने लगे। श्रीविष्णुद्वारा लोहेके मुँहवाले बाणोंसे मारे जा रहे दैत्य कालनेमि नामके महान् असुरकी शरणमें गये। ब्रह्मन्! उन्हें (दैत्योंको) अभय दान देकर और माधव (विष्णु)को अजेय जानकर भी (वह) उपेक्षित व्याधिके सदृश (घमण्डमें) बढ़ने लगा। बलवान् वह कालनेमि जिस देवता, यक्ष या किन्नरको हाथसे छू (पकड़) लेता था उसे लेकर अपने फैले मुँहमें डाल देता था ॥ ३४—३७ ॥

सरम्भाद् दानवेन्द्रो विमृदति दितिजै सयुतो देवसैन्य
सेन्द्र सार्क सचन्द्र करचरणनखैरस्त्रहीनोऽपि वेगात्।
यद्वैश्वानराभस्त्वयनिगगनयोस्तिर्यगूर्ध्व समन्तात्
प्राप्तेऽन्ते, कालवह्नेर्जगदखिलमिव रूपमासीद् दिधक्षो ॥ ३८ ॥
त दृष्ट्वा वर्द्धमान रिपुमतिबलिन देवगन्धर्वमुख्या
सिद्धा साध्याश्विमुख्या भयतरलदृश प्राद्रवन् दिक्षु सर्वे।
पोप्लूयन्तश्च दैत्या हरिममरगणैरर्चित चारुमौलिं
नानायुधास्त्रपातैर्विगलितयशस चक्रुरुत्सिक्तदर्पा ॥ ३९ ॥

इन्द्र बना हुआ बलि अत्यन्त दुर्लभ भोगोंको स्वयं भोगता हुआ स्वर्गमें रहने लगा। वहाँ विश्वावसु आदि गन्धर्व उसकी सेवा करने लगे। देवर्षे! तिलोत्तमा आदि अप्सराएँ (उसे प्रसन्न करनेके लिये) नृत्य किया करती थीं और यक्ष तथा विद्याधर आदि बाजे बजाते थे। ब्रह्मन्! विविध भोगोंका भोग करते हुए दैत्येश्वर बलिने अपने पितामह प्रह्लादका मनसे स्मरण किया। पौत्र-(बलि-)के स्मरण करते ही वे महान् भागवत (विष्णुके परम भक्त) असुर प्रह्लादजी पातालसे अक्षय स्वर्गलोकमें चले आये ॥ १७–२० ॥

तमागतं समीक्ष्यैव त्यक्त्वा सिंहासनं बलिः। कृताञ्जलिपुटो भूत्वा ववन्दे चरणावुभौ ॥ २१ ॥
पादयोः पतितं वीरं प्रह्लादस्त्वरितो बलिम्। समुत्थाप्य परिष्वज्य विवेश परमासने ॥ २२ ॥
तं बलिः प्राह भोस्तात त्वत्प्रसादात् सुरा मया। निर्जिताः शक्रराज्यं च हृतं वीर्यबलान्मया ॥ २३ ॥
तदिदं तात मद्वीर्यविनिर्जितसुरोत्तमम्। त्रैलोक्यराज्यं भुङ्क्ष्व त्वं मयि भृत्ये पुरःस्थिते ॥ २४ ॥

उन्हें आया हुआ देखते ही बलिने सिंहासन छोड़कर और हाथ जोड़कर उनके चरणोंकी वन्दना की। प्रह्लाद चरणोंमें पड़े हुए वीर बलिको जल्दीसे उठाकर और गले लगाकर उचित सुन्दर आसनपर बैठ गये। बलिने उनसे कहा—अये तात! मैंने आपके पुण्य-प्रसादसे (प्राप्त) पराक्रम और बलसे देवताओंको जीत लिया और इन्द्रके राज्यको छीन लिया है। तात! आप मेरे पराक्रमसे जीते गये देवोंवाले इन उत्तम तीनों लोकोंके राज्यका भोग करें और मैं आपके सामने नौकर बनकर रहूँ ॥ २१–२४ ॥

एतावता पुण्ययुतः स्यामहं तात यत् स्वयम्। त्वदङ्घ्रिपूजाभिरतस्त्वदुच्छिष्टान्नभोजनः ॥ २५ ॥
न सा पालयतो राज्यं धृतिर्भवति सत्तम। या धृतिर्गुरुशुश्रूषां कुर्वतो जायते विभो ॥ २६ ॥
ततस्तदुक्तं बलिना वाक्यं श्रुत्वा द्विजोत्तम। प्रह्लादः प्राह वचनं धर्मकामार्थसाधनम् ॥ २७ ॥
मया कृतं राज्यमकण्टकं पुरा प्रशासिता भूः सुहृदोऽनुपूजिताः।
दत्तं यथेष्टं जनितास्तथात्मजाः स्थितो बले सम्प्रति योगसाधकः ॥ २८ ॥

तात! इस प्रकार आपके चरणोंकी पूजासे और आपके जूठे अन्नका भोजन करनेसे मैं पुण्यवान् हो जाऊँगा। सत्तम! विभो! राज्यका पालन करनेवाले शासकमें वह धीरता नहीं होती, जो धीरता गुरुकी सेवा करनेवालेमें होती है। द्विजसत्तम! उसके बाद प्रह्लादने बलिके कहे वचनको सुनकर धर्म, अर्थ और कामका साधक वचन कहा। बलिराज! मैंने पहले शत्रुओंकी विघ्न-बाधासे रहित राज्य किया है। (मैं)पृथ्वीका शासन और मित्रोंका सत्कार कर चुका हूँ, इच्छानुसार दान दे चुका हूँ। (गृहस्थ धर्मके नाते) मैंने पुत्रोंको भी उत्पन्न किया है। किंतु (इन सबसे शान्ति न पाकर) इस समय मैं योगसाधक बन गया हूँ ॥ २५–२८ ॥

गृहीतं पुत्र विधिवन्मया भूयोऽर्पितं तव। एवं भव गुरूणां त्वं सदा शुश्रूषणे रतः ॥ २९ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं करे त्वादाय दक्षिणे। शाक्रे सिंहासने ब्रह्मन् बलिं तूर्णं न्यवेशयत् ॥ ३० ॥
सोपविष्टो महेन्द्रस्य सर्वरत्नमये शुभे। सिंहासने दैत्यपतिः शुशुभे मघवानिव ॥ ३१ ॥
तत्रोपविष्टश्चैवासौ कृताञ्जलिपुटो नतः। प्रह्लादं प्राह वचनं मेघगम्भीरया गिरा ॥ ३२ ॥

पुत्र! मैंने तुम्हारे दिये-(राज्य)को विधिपूर्वक ग्रहणकर पुनः तुमको दे दिया। तुम गुरुजनोंकी सेवामें इसी प्रकार सदा लगे रहो। (पुलस्त्यजी कहते हैं—) ब्रह्मन्! ऐसा वचन कहकर (प्रह्लादने बलिका) दाहिना हाथ पकड़कर उसे तुरत इन्द्रके सिंहासनपर आसीन करा दिया। महेन्द्रके सभी रत्नोंसे बने शुभ सिंहासनपर बैठा हुआ वह दैत्यपति बलि इन्द्रके समान शोभित हुआ। उसपर बैठनेके बाद उसने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर मेघके गर्जनके समान गम्भीर वाणीमें प्रह्लादसे कहा ॥ २९–३२ ॥

अमित शक्तिशाली चक्र और गदाको धारण करनेवाले देव विष्णुने इन्द्रको छोड़ दिया है। अतः मैं यहाँ तुम्हारे पास आयी हूँ। उन्होंने (विष्णुने) रूपसे सम्पन्न चार युवतियोंकी सृष्टि की। (पहली युवती) सत्त्वप्रधाना, श्वेतवर्णकी शरीरवाली, श्वेतवर्णका वस्त्र धारण करनेवाली, श्वेतमाल्य और अनुलेपनसे युक्त एवं श्वेत गजपर आरूढ थी। (दूसरी युवती) रजोगुणप्रधाना, रक्तवर्णकी शरीरवाली रक्तवर्णके वस्त्रको धारण करनेवाली, रक्तवर्णके माल्य और अनुलेपनसे युक्त तथा रक्तवर्णके अश्वपर आरूढ थी। (तीसरी युवती) तमोगुण प्रधाना, पीतवर्णके शरीरवाली, पीतवर्णका वस्त्र धारण करनेवाली, पीतवर्णकी माला और अनुलेपनसे युक्त तथा सुवर्णके बने रथपर आरूढ थी। (चौथी युवती) त्रिगुण-प्रधाना, नील शरीरवाली, नीलेवर्णका वस्त्र धारण करनेवाली एवं नीले वर्णकी माला, चन्दन और अनुलेपनसे युक्त तथा नील वर्णके वृषपर आरूढ थी। सत्त्वप्रधाना, श्वेतवर्णकी शरीरवाली, श्वेतवस्त्र धारण करनेवाली हाथीपर आरूढ (युवती) ब्रह्मा, चन्द्रमा एवं चन्द्रमाके अनुयायियोंके पास चली गयी। रजोगुणसे युक्त, रक्तवर्णकी शरीरवाली, रक्तवस्त्र धारण करनेवाली एवं घोड़पर आरूढ युवतीको (उन्होंने) इन्द्र, मनु तथा उनके समानवाले लोगोंको प्रदान किया। कनकवर्णकी शरीरवाली, पीतवर्णके वस्त्र धारण करनेवाली, सौभाग्यवती, रथपर आरूढा युवतीको (उन्होंने) प्रजापतियों, शुक्र एवं वैश्योंको दिया। नीलवर्णके वस्त्रको धारण करनेवाली, भ्रमरके समान, वृषपर स्थित चौथी (युवती) दानवों, नैर्ऋतों, शूद्रों एवं विद्याधरोंके पास चली गयी। उस श्वेतरूपाको विप्र आदि सरस्वती कहते हैं ॥ १७–२६ ॥

स्तुवन्ति ब्रह्मणा सार्धं मखे मन्त्रादिभिः सदा। क्षत्रिया रक्तवर्णां तां जयश्रीमिति शक्तिरे ॥ २७ ॥
सा चेन्द्रेणासुरश्रेष्ठ मनुना च यशस्विनी। वैश्यास्तां पीतवसनां कनकाङ्गीं सदैव हि ॥ २८ ॥
स्तुवन्ति लक्ष्मीमित्येवं प्रजापालास्तथैव हि। शूद्रास्तां नीलवर्णाङ्गीं स्तुवन्ति च सुभक्तितः ॥ २९ ॥
श्रिया देवीति नाम्ना तां सम दैत्यैश्च राक्षसैः। एवं विभक्तास्ता नार्यस्तेन देवेन चक्रिणा ॥ ३० ॥

यज्ञमें वे ब्रह्माके सहित उसकी मन्त्रादिसे सदा स्तुति करते हैं। क्षत्रियजन उस रक्तवर्णाको जयश्री कहते हैं। असुरश्रेष्ठ ! वह इन्द्र तथा मनुके साथ यशोमती हुई। वैश्य तथा प्रजापतिगण उस पीतवसना कनकाङ्गीकी स्तुति सदा लक्ष्मीके नामसे करते हैं। दैत्यों एवं राक्षसोंके साथ शूद्रगण श्रीदेवीके नामसे भक्तिपूर्वक उस नील वर्णाङ्गीकी स्तुति करते हैं। इस प्रकार उन चक्र धारण करनेवाले देवने उन नारियोंका विभाजन किया ॥२७–३०॥

एतास्वेव च सरूपस्थास्तिष्ठन्ति निधयोऽव्ययाः। इतिहासपुराणानि वेदाः साङ्गास्तथोक्तयः ॥ ३१ ॥
चतुःषष्टिकला श्वेता महापद्मो निधिः स्थितः। मुक्तासुवर्णरजतरथाश्वगजभूषणम् ॥ ३२ ॥
शस्त्रास्त्रादिकवस्त्राणि रक्ता पद्मो निधिः स्मृतः। गोमहिष्यः खरोष्ट्रं च सुवर्णाम्बरभूमयः ॥ ३३ ॥
ओषध्यः पशवः पीता महानीलो निधिः स्थितः। सर्वासामपि जातीनां जातिरेका प्रतिष्ठिता ॥ ३४ ॥
अन्येषामपि सङ्घर्षी नीला शङ्खो निधिः स्थितः।
एतासु संस्थितानां च यानि रूपाणि दानव। भवन्ति पुरुषाणां वै तान् निबोध वदामि ते ॥ ३५ ॥

अक्षय निधियाँ इनके स्वरूपमें स्थित हैं। इतिहास, पुराण, साङ्ग वेद, स्मृतियाँ, चौंसठ कलाएँ तथा महापद्म निधि श्वेताङ्गीके अन्तर्गत हैं। मुक्ता, सुवर्ण, रजत, रथ, अश्व, गज, भूषण, शस्त्र, अस्त्र एवं वस्त्रस्वरूप पद्मनिधि रक्ताङ्गीके अन्तर्गत हैं। गौ, भैंस, गर्दभ, उष्ट्र, सुवर्ण, वस्त्र, भूमि, ओषधियाँ एवं पशुस्वरूप महानील निधि पीताङ्गीमें स्थित हैं। अन्य सभी जातियोंको अपनेमें समाविष्ट करनेवाली सारी जातियोंमें सर्वश्रेष्ठ जाति (पर सामान्यात्मक) स्वरूप शङ्खनिधिकी नीलाङ्गी देवीमें स्थिति है। दानव ! इन (निधियों) के स्वरूपके अन्तर्गत पुरुषोंके जो लक्षण होते हैं, मैं उनका वर्णन कर रही हूँ, उन्हें समझो— ॥ ३१–३५ ॥

दिया है। दानवेन्द्र बलिमें इस प्रकार कहकर चन्द्रवदना शुभा जयश्री (बलिमें) प्रवेश करके (उन्हें) प्रका
रने लगी। उनके प्रवेश कर जानेपर ह्री, श्री, बुद्धि, धृति, कीर्ति, प्रभा, मति, क्षमा, समृद्धि, विद्या, ना
, श्रुति, स्मृति, धृति, कीर्ति, मूर्ति, शान्ति, क्रिया, पुष्टि, तुष्टि एवं अन्य सभी सत्त्वगुणके आश्रित अन्य देवि
दिव्य स्त्रियोंकी भाँति बलिकी प्रजायामें आनन्दपूर्वक रहने लगीं। अच्छी बुद्धिवाले, आत्मनिष्ठ, यज्ञ करन
तपस्वी, कोमल स्वभाववाले, सत्यवक्ता, दानी अभावग्रस्तोंके अभावको दूरकर पालन-पोषण ए
लोकोंकी रक्षा करनेवाले दैत्यश्रेष्ठ महात्मा बलि इस प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न थे। दानवेन्द्र बलिके स्वर्गका शासन
समय कोई भूखसे दुःखी, मलिन एवं अभावग्रस्त नहीं था। मनुष्य भी सदा शुद्ध धर्म-परायण, इन्द्रिय-
एवं इच्छानुकूल भोगसे सम्पन्न हो गये ॥ ४५–५२ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७५ ॥

[अथ षट्सप्ततितमोऽध्याय]

पुलस्त्य उवाच

गते त्रैलोक्यराज्ये तु दानवेषु पुरन्दरः। जगाम ब्रह्मसदनं सह देवैः शचीपतिः ॥ १ ॥
तत्रापश्यत् स देवेशं ब्रह्माणं कमलोद्भवम्। ऋषिभिः सार्धमासीनं पितरं स्वं च कश्यपम् ॥ २ ॥
ततो ननाम शिरसा शक्रः सुरगणैः सह। ब्रह्माणं कश्यपं चैव तांश्च सर्वांस्तपोधनान् ॥ ३ ॥
प्रोवाचेन्द्रः सुरैः सार्धं देवनाथं पितामहम्। पितामह हृतं राज्यं बलिना बलिना मम ॥ ४ ॥
ब्रह्मा प्रोवाच शक्रैतद् भुज्यते स्वकृतं फलम्। शक्रः पप्रच्छ भो ब्रूहि किं मया दुष्कृतं कृतम् ॥ ५ ॥
कश्यपोऽप्याह देवेश भ्रूणहत्या कृता त्वया। दित्युदरात् त्वया गर्भः कृत्तो वै बहुधा बलात् ॥ ६ ॥

छिहत्तरवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रायश्चित्त हेतु इन्द्रकी तपस्या, माताके आश्रममें आना, अदितिकी तपस्या और वासुदेवकी स्तुति, वासुदेवका अदितिके पुत्र बननेका आश्वासन और स्वतेजसे अदितिके गर्भमें प्रवेश)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) तीनों लोकोंका राज्य दानवोंके अधीन हो जानेपर शचीपति इन्द्र देवोंके साथ ब्रह्मलोक गये। वहाँ उन्होंने ऋषियोंके साथ बैठे हुए कमलयोनि ब्रह्मा एवं अपने पिता कश्यपको देखा। उसके बाद इन्द्रने देवताओंके सहित ब्रह्मा, कश्यप एवं उन सभी तपोधनोंको सिर झुकाकर प्रणाम किया। देवोंके साथ इन्द्रने देवनाथ पितामहसे कहा—पितामह! बलवान् बलिने मेरा राज्य छीन लिया है। ब्रह्माने कहा—इन्द्र! यह तुम अपने किये हुए कर्मका फल भोग रहे हो। इन्द्रने पूछा—कृपया आप बतलाइये कि मैंने कौन-सा दुष्कर्म किया है। कश्यपने भी (उत्तरमें) इन्द्रसे कहा—तुमने भ्रूण (गर्भस्थित बालक) की हत्या की है। तुमने दितिके उदरमें स्थित गर्भको बलपूर्वक अनेक टुकड़ोंमें काट डाला है ॥ १–६ ॥

पितरं प्राह देवेन्द्रः स मातुर्दोषतो विभो। दुष्कर्म प्राप्तवान् गर्भो यदशौचा हि साभवत् ॥ ७ ॥
ततोऽब्रवीत् कश्यपस्तु मातुर्दोषं स दासताम्। गतस्ततो विनिहतो दासोऽपि कुलिशेन भो ॥ ८ ॥
तच्छ्रुत्वा कश्यपवचः प्राह शक्रः पितामहम्। विनाशं पाप्मनो ब्रूहि प्रायश्चित्तं विभो मम ॥ ९ ॥
ब्रह्मा प्रोवाच देवेशं वसिष्ठः कश्यपस्तथा। हितं सर्वस्य जगतः ...

ततो द्वितीयेऽह्नि कृतप्रणामा स्नात्वा विधानेन च पूजयित्वा ।
दत्त्वा द्विजेभ्यः कणकं तिलाज्यं ततोऽभवत् सा प्रयता बभूव ॥ ३८ ॥
ततः प्रीतोऽभवद् भानुर्घृतार्चिः सूर्यमण्डलात् । विनिःसृत्याग्रतः स्थित्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
व्रतेनानेन सुप्रीतस्तवाहं दक्षनन्दिनि । प्राप्स्यसे दुर्लभं कामं मत्प्रसादान्न संशयः ॥ ४० ॥
राज्यं त्वत्तनयानां वै दास्ये देवि सुरारणि । दानवान् ध्वंसयिष्यामि सम्भूयैवोदरे तव ॥ ४१ ॥

दूसरे दिन प्रणाम करनेके बाद विधिसे स्नान एवं पूजा करके उन्होंने ब्राह्मणोंको कनक, तिल एवं घृत दान किया और उसके बाद वे और अधिक संयत रहने लगीं । इससे घृतार्चि भानु प्रसन्न हो गये । (वे) सूर्य मण्डलसे निकले एवं अदितिके सामने खड़े होकर यह वचन बोले—दक्षनन्दिनि ! तुम्हारे इस व्रतसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । अतः मेरी कृपासे तुम निःसन्देह मनोवाञ्छित दुर्लभ वस्तु प्राप्त करोगी । देवि ! देवजननि ! मैं तुम्हारे उदरसे उत्पन्न होकर तुम्हारे पुत्रोंको राज्य दूँगा और दानवोंका नाश करूँगा ॥ ३८–४१ ॥

तदाक्यं वासुदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मन् सुरारणिः । प्रोवाच जगतां योनिं वेपमाना पुनः पुनः ॥ ४२ ॥
कथं त्वामुदरेणाहं वोढुं शक्ष्यामि दुर्धरम् । यस्योदरे जगत्सर्वं वसते स्थाणुजङ्गमम् ॥ ४३ ॥
कस्त्वां धारयितुं नाथ शक्तस्त्रैलोक्यधारकम् । यस्य सप्तार्णवाः कुक्षौ निवसन्ति सहाद्रिभिः ॥ ४४ ॥
तस्माद् यथा सुरपतिः शक्रः स्यात् सुरराडिह । यथा च न मम क्लेशस्तथा कुरु जनार्दन ॥ ४५ ॥

[पुलस्त्यजी कहते हैं—] ब्रह्मन् ! वासुदेवका यह वाक्य सुनकर बार-बार काँपती हुई देवोंकी माता अदितिने संसारको उत्पन्न करनेवाले विष्णुसे कहा—जिसके (विशाल) उदरमें स्थावर जङ्गमात्मक समस्त संसार निवास करता है, ऐसे त्रिलोकीको धारण करनेवाले आपको मैं अपने उदरमें कैसे धारण कर सकूँगी ? नाथ ! आप तीनों लोकोंको धारण करनेवाले हैं । जिसकी कुक्षिमें पर्वतोंके साथ सातों समुद्र अवस्थित हैं ऐसे आपको कौन धारण कर सकता है ? अतः हे जनार्दन ! आप वैसा ही करें जिससे इन्द्र देवताओंके स्वामी बन जायँ और मुझे भी कष्ट न हो ॥ ४२–४५ ॥

विष्णुरुवाच

सत्यमेतन्महाभागे दुर्धराऽस्मि सुरासुरैः । तथापि सम्भविष्यामि अहं देव्युदरे तव ॥ ४६ ॥
आत्मानं भुवनान् शैलांस्त्वाञ्च देवि सकश्यपाम् । धारयिष्यामि योगेन मा विषादं वृथाऽऽकृथाः ॥ ४७ ॥
तवोदरेऽहं दाक्षायि सम्भविष्यामि वै यदा । तदा निस्तेजसो दैत्या सम्भविष्यन्त्यसंशयम् ॥ ४८ ॥
इत्येवमुक्त्वा भगवान् विवेश तस्याश्च भूयोऽरिगणप्रमर्दी ।
स्वतेजसोंऽशेन विवेश देव्या तदोदरे शक्रहिताय विप्र ॥ ४९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

विष्णुने कहा—महाभागे ! यह सत्य है कि मैं देवों और दानवोंसे धृत नहीं हो सकता, फिर भी हे देवि ! मैं आपके उदरसे उत्पन्न होऊँगा । देवि ! स्वयंको, (चौदहों) भुवनों, पर्वतों एवं कश्यपसहित आपको भी मैं योगद्वारा धारण करूँगा । माता ! आप विषाद न करें । दाक्षायणि ! जब मैं आपके उदरमें आऊँगा तब दैत्य निस्सन्देह तेजोहीन हो जायँगे । [पुलस्त्यजी कहते हैं—] विप्र ! ऐसा कहकर शत्रुओंके नाश करनेवाले भगवान् विष्णु इन्द्रकी भलाईके लिये अपने तेजके अंशमात्रसे उन देवीके उदरमें प्रविष्ट हो गये ॥ ४६–४९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७६ ॥

तत्साधु यदहं शप्तो भवता दानवेश्वर। न बिभेमि परेभ्योऽहं न च राज्यपरिक्षयात् ॥ ५० ॥
नैव दुःखं मम विभो यदहं राज्यविच्युतः। दुःखं कृतापराधत्वाद् भवता मे महत्तरम् ॥ ४१ ॥
तत् क्षम्यतां तात ममापराधो बालोऽस्म्यनाथोऽस्मि सुदुर्मतिश्च।
कृतेऽपि दोषे गुरवः शिशूनां क्षमन्ति दैन्यं समुपागतानाम् ॥ ४२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मन्! इस प्रकार कहे जानेपर बलशाली बलि शीघ्र ही आसनसे नीचे उतरा और हाथ जोड़कर उसने सिरसे झुककर प्रणाम कर कहा—गुरो! मेरे ऊपर आप प्रसन्न हों। बड़े लोग अपराध करनेपर भी बालकोंको क्षमा करते हैं। दानवेश्वर! आपका मुझे शाप देना ठीक है। मैं शत्रुओंसे तथा राज्यके विनाश होनेसे भयभीत नहीं हूँ। विभो! मुझे राज्यसे भ्रष्ट हो जानेका कष्ट भी नहीं है, परंतु आपका अपराध करनेका मुझे सबसे अधिक दुःख है। इसलिये तात! आप मेरे अपराधको क्षमा करें। मैं एक अनाथ दुर्बुद्धि शिशु हूँ। गुरुजन दोष करनेपर भी आर्त बने हुए बालकोंको क्षमा कर देते हैं ॥ ३८–४२ ॥

पुलस्त्य उवाच

स एवमुक्तो वचनं महात्मा विमुक्तमोहो हरिपादभक्तः।
चिरं विचिन्त्याद्भुतमेतदित्थमुवाच पौत्रं मधुरं वचोऽथ ॥ ४३ ॥

(फिर) पुलस्त्यजी बोले—इस प्रकारके वचन कहनेपर विष्णुके चरणोंमें श्रद्धा रखनेवाले ज्ञानी महात्मा (प्रह्लाद)ने बहुत देरतक विचारकर पौत्रसे इस प्रकार अद्भुत एवं मधुर यह वचन कहा ॥ ४३ ॥

प्रह्लाद उवाच

तात मोहेन मे ज्ञानं विवेकश्च तिरस्कृतः। येन सर्वगतं विष्णुं जानंस्त्वां शप्तवानहम् ॥ ४४ ॥
नूनमेतेन भाव्यं वै भवतो येन दानव। ममाविशन्महायादो विवेकप्रतिषेधकः ॥ ४५ ॥
तस्माद् राज्यम्प्रति विभो न ज्वरं कर्तुमर्हसि। अवश्यभाविनो ह्यर्था न विनश्यन्ति कर्हिचित् ॥ ४६ ॥
पुत्रमित्रकलत्रार्थे राज्यभोगधनाय च। आगमे निर्गमे प्राज्ञो न विषादं समाचरेत् ॥ ४७ ॥

प्रह्लादने कहा—तात! अज्ञानने मेरे ज्ञान एवं विवेकको ढक दिया था। इसीसे विष्णुको सर्वव्यापी जानते हुए भी मैंने तुम्हें शाप दे दिया। दानव! निश्चय ही तुम्हारी इस प्रकारकी होनहार थी। इससे विवेकका प्रतिबन्धक—विषय-वासनारूप अज्ञान मुझमें प्रवेश कर गया था। इसलिये विभो! राज्यके लिये कष्ट मत करो। अवश्यम्भावी विषय कभी भी विनष्ट नहीं होते। बुद्धिमान् व्यक्तिको पुत्र, मित्र, पत्नी, राज्यभोग और धनके आने तथा जानेपर चिन्तित नहीं होना चाहिये ॥ ४४–४७ ॥

यथा यथा समायान्ति पूर्वकर्मविधानतः। सुखदुःखानि दैत्येन्द्र नरस्तानि सहेत् तथा ॥ ४८ ॥
आपदामागमं दृष्ट्वा न विषण्णो भवेद् वशी। सम्पदं च सुविस्तीर्णां प्राप्य नोऽधृतिमान् भवेत् ॥ ४९ ॥
धनक्षये न मुह्यन्ति न हृष्यन्ति धनागमे। धीराः कार्येषु च सदा भवन्ति पुरुषोत्तमाः ॥ ५० ॥
एवं विदित्वा दैत्येन्द्र न विषादं कथंचन। कर्तुमर्हसि विद्वांस्त्वं पण्डितो नावसीदति ॥ ५१ ॥

दैत्येन्द्र! पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके विधानसे जैसे-जैसे सुख और दुःख आते हैं, मनुष्यको उसी प्रकार उनको सहन कर लेना चाहिये। संयम करनेवाले व्यक्तिको आपत्तियोंका आगमन देखकर पीड़ित नहीं होना चाहिये एवं अत्यन्त अधिक सम्पत्तिको देखकर धीरता नहीं खो देनी चाहिये। उत्तम पुरुष धनके नष्ट होनेपर खिन्न एवं धनकी प्राप्ति होनेपर हर्ष नहीं करते। वे कर्तव्य कर्मके प्रति सदा धीर बने रहते हैं। दैत्येन्द्र! इस प्रकार जानकर तुम्हें किसी प्रकारका शोक नहीं करना चाहिये, तुम विद्वान् हो! विद्वान् व्यक्ति दुःखी नहीं होते ॥ ४८–५१ ॥

तस्मिंस्तीर्थवरे स्नात्वा सतर्प्य पितृदेवताः। सम्पूज्य च जगन्नाथमच्युतं श्रुतिभिर्युतम् ॥ ४ ॥
उपोष्य भूयः सम्पूज्य देवर्षिपितृमानवान्। जगाम कच्छपं द्रष्टुं कौशिक्यां पापनाशनम् ॥ ५ ॥
तस्यां स्नात्वा महानद्यां सम्पूज्य च जगत्पतिम्। समुपोष्य शुचिर्भूत्वा दत्त्वा विप्रेषु दक्षिणाम् ॥ ६ ॥
नमस्कृत्य जगन्नाथमथो कूर्मवपुर्धरम्।
ततो जगाम कृष्णाख्यं द्रष्टुं वाजिमुखं प्रभुम्। तत्र देवह्रदे स्नात्वा तर्पयित्वा पितॄन् सुरान् ॥ ७ ॥
सम्पूज्य हयशीर्षं च जगाम गजसाह्वयम्। तत्र देवं जगन्नाथं गोविन्दं चक्रपाणिनम् ॥ ८ ॥
स्नात्वा सम्पूज्य विधिवज्जगाम यमुनां नदीम्।
तस्यां स्नातः शुचिर्भूत्वा सतर्प्यर्षिसुरान् पितॄन्। ददर्श देवदेवेशं लोकनाथं त्रिविक्रमम् ॥ ९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! सुनिये, मैं आपसे पापरूपी कीचड़को नष्ट करनेवाली एवं पवित्र पुण्यको देनेवाली प्रह्लादकी तीर्थयात्राको कहता हूँ। सुवर्णमय श्रेष्ठ मेरु पर्वतको छोड़कर वे (सबसे पहले) देवोंसे सेवित (और) पृथ्वीमें प्रसिद्ध कल्याणदायी मानसतीर्थमें गये, जहाँ मत्स्यशरीरधारी (मत्स्यावतारी) देवाधिदेव निवास करते हैं। उस उत्तम तीर्थमें स्नान और पितृ-देव-तर्पण कर उन्होंने वेद-मन्त्रोंसे अच्युत भगवान् विश्वेशका पूजन किया। फिर वहाँ उपवास रहकर देवों, ऋषियों, पितरों और मनुष्योंकी (यथायोग्य) पूजा कर कौशिकीमें (अवस्थित) पापका नाश करनेवाले भगवान् कच्छपका दर्शन करने गये। उस महानदीमें स्नान करनेके बाद उन्होंने जगत्-स्वामी भगवान्‌की पूजा की और उपवास (व्रत) करके पवित्र होकर ब्राह्मणोंको दक्षिणा दी। उसके बाद कच्छपावतार जगन्नाथ भगवान्‌को नमस्कार कर वे वहाँसे कृष्ण नामके अश्वमुख भगवान्‌का दर्शन करने चले गये। वहाँ उन्होंने देवह्रदमें स्नानकर देवों एवं पितरोंका तर्पण किया और हयग्रीव भगवान्‌का अर्चन कर वे हस्तिनापुर चले गये। वहाँ स्नान करनेके बाद चक्रपाणि विश्वपति गोविन्ददेवकी विधिसे पूजा करनेके बाद वे यमुना नदीके पास पहुँच गये। उसमें स्नान करके पवित्र होकर उन्होंने ऋषियों, पितरों और देवोंका तर्पण किया तथा देवोंके देव जगन्नाथ त्रिविक्रम (वामन भगवान्-) का दर्शन किया ॥ २—९ ॥

नारद उवाच

साम्प्रतं भगवान् विष्णुस्त्रैलोक्याक्रमणं वपुः। करिष्यति जगत्स्वामी बलेर्बन्धनमीश्वरः ॥ १० ॥
तत्कथं पूर्वकालेऽपि विभुरासीत् त्रिविक्रमः। कस्य वा बन्धनं विष्णुः कृतवांस्तद् वदस्व मे ॥ ११ ॥

नारदजीने पूछा—इस समय जगत्स्वामी भगवान् विष्णु तीनों लोकोंको आक्रान्त करनेवाला (विशालतम) देह धारण करेंगे और बलिको बाँधेंगे तो वे भगवान् विष्णु पहले समयमें भी कैसे त्रिविक्रम हुए थे और (उस समय) उन्होंने किसका बन्धन किया था—यह मुझे बतलाइये ॥ १०—११ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि योऽयं प्रोक्तस्त्रिविक्रमः। यस्मिन् काले सम्बभूव यं च वञ्चितवानसौ ॥ १२ ॥
आसीद् धुन्धुरिति ख्यातः कश्यपस्यौरसः सुतः। दनुगर्भसमुद्भूतो महाबलपराक्रमः ॥ १३ ॥
स समाराध्य वरदं ब्रह्माणं तपसाऽसुरः। अवध्यत्वं सुरैः सेन्द्रैः प्रार्थयत् स तु नारद ॥ १४ ॥
तद् वरं तस्य च प्रादात् तपसा पङ्कजोद्भवः। परितुष्टः स च बली निर्जगाम त्रिविष्टपम् ॥ १५ ॥
चतुर्थस्य कलेरादौ जित्वा देवान् सवासवान्। धुन्धुः शक्रत्वमकरोद्धिरण्यकशिपौ सति ॥ १६ ॥
तस्मिन् काले स बलवान् हिरण्यकशिपुस्ततः। चचार मन्दरगिरौ दैत्यं धुन्धुं समाश्रितः ॥ १७ ॥
ततोऽसुरा यथा कामं विहरन्ति त्रिविष्टपे। ब्रह्मलोके च त्रिदशाः संस्थिता दुःखसंयुताः ॥ १८ ॥

ऐसी बुद्धि न करें, क्योंकि ब्रह्मलोक मनुष्यों (एवं दैत्यों) के लिये सर्वथा अगम्य है। उनकी बात सुनकर (भी) देवोंको जीतनेके लिये ब्रह्मलोक जानेकी इच्छावाले धुन्धुने दानवोंसे (फिर) कहा—॥ २४–२७ ॥

कथं तु कर्मणा केन गम्यते दानवर्षभाः। कथं तत्र सहस्राक्षः सम्प्राप्तः सह दैवतैः ॥ २८ ॥
ते धुन्धुना दानवेन्द्राः पृष्टाः प्रोचुर्वचोऽधिपम्। कर्म तन्न वयं विद्म शुक्रस्तद् वेत्त्यसंशयम् ॥ २९ ॥
दैत्यानां वचनं श्रुत्वा धुन्धुर्दैत्यपुरोहितम्। पप्रच्छ शुक्रं किं कर्म कृत्वा ब्रह्मसदोगतिः ॥ ३० ॥
ततोऽस्मै कथयामास दैत्याचार्यः कलिप्रिय। शक्रस्य चरितं श्रीमान् पुरा वृत्ररिपोः किल ॥ ३१ ॥
शक्रः शतं तु पुण्यानां क्रतूनामयजत् पुरा। दैत्येन्द्र वाजिमेधानां तेन ब्रह्मसदो गतः ॥ ३२ ॥

दानवश्रेष्ठो ! वहाँ कैसे और किस कर्मसे जाया जा सकता है ? इन्द्र देवोंके साथ वहाँ कैसे पहुँचे ? धुन्धुके पूछनेपर उन श्रेष्ठ दानवोंने कहा—हमलोग उस कर्मको तो नहीं जानते, किंतु शुक्राचार्य उसको निःसंदेह जानते हैं। दैत्योंका वचन सुनकर धुन्धुने दैत्योंके पुरोहित शुक्राचार्यजीसे पूछा—(आचार्यजी!) किस कर्मको करनेसे ब्रह्मलोकमें जाया जा सकता है ? (पुलस्त्यजी कहते हैं—) कलिप्रिय ! उसके बाद दैत्योंके गुरु श्रीमान् शुक्राचार्यने उससे वृत्रशत्रु इन्द्रका चरित कहा। उन्होंने कहा—दैत्येन्द्र ! पहले समयमें इन्द्रने सौ पवित्र अश्वमेध यज्ञ किये थे। इसीसे वे ब्रह्मलोक गये ॥ २८–३२ ॥

तद्वाक्यं दानवपतिः श्रुत्वा शुक्रस्य वीर्यवान्।
यष्टुं तुरगमेधानां चकार मतिमुत्तमाम्। अथामन्त्र्यासुरगुरुं दानवांश्चाप्यनुत्तमान् ॥ ३३ ॥
प्रोवाच यक्ष्येऽहं यज्ञैरश्वमेधैः सदक्षिणैः। तदागच्छध्वमवनीं गच्छामो वसुधाधिपान् ॥ ३४ ॥
विजित्य हयमेधान् वै यथाकामगुणान्वितान्। आहूयन्तां च निधयस्त्वाज्ञाप्यन्तां च गुह्यकाः ॥ ३५ ॥
आमन्त्र्यन्तां च ऋषयः प्रयामो देविकातटम्।
सा हि पुण्या सरिच्छ्रेष्ठा सर्वसिद्धिकरी शुभा। स्थानं प्राचीनमासाद्य वाजिमेधान् यजामहे ॥ ३६ ॥

शुक्राचार्यके उस वाक्यको सुनकर बलवान् दानवपतिने अश्वमेधयज्ञ करनेकी उत्कट इच्छा की। उसके बाद दैत्योंके गुरुको और अच्छे दैत्योंको बुलाकर उसने कहा—मैं दक्षिणासहित अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करूँगा। इसलिये आओ, हमलोग पृथ्वीपर चलें और राजाओंको जीतकर इच्छानुकूल सामग्री एवं विधिसे पूर्ण अश्वमेधोंका अनुष्ठान करें। निधियोंको बुलाओ एवं गुह्यकोंको आदेश दे दो और ऋषियोंको आमन्त्रित करो। हमलोग देविकाके तटपर चलें। वह पुनीत उत्तम नदी कल्याणदायिनी तथा सर्वसिद्धिकारिणी है। उस प्राचीन स्थानपर पहुँचकर हम अश्वमेध यज्ञ करेंगे ॥ ३३–३६ ॥

इत्थं सुरारेर्वचनं निशम्यासुरयाजकः। बाढमित्यब्रवीद्धृष्टो निधयः संदिदेश सः ॥ ३७ ॥
ततो धुन्धुर्देविकायाः प्राचीने पापनाशने। भार्गवेन्द्रेण शुक्रेण वाजिमेधाय दीक्षितः ॥ ३८ ॥
सदस्या ऋत्विजश्चापि तत्रासन् भार्गवा द्विजाः। शुक्रस्यानुमते ब्रह्मन् शुक्रशिष्याश्च पण्डिताः ॥ ३९ ॥
यज्ञभागभुजस्तत्र स्वर्भानुप्रमुखा मुने। कृताश्चासुरनाथेन शुक्रस्यानुमतेऽसुराः ॥ ४० ॥
ततः प्रवृत्तो यज्ञस्तु समुत्सृष्टस्तथा हयः। हयस्यानुययौ श्रीमानसिलोमा महासुरः ॥ ४१ ॥

देवोंके शत्रु धुन्धुके उस वचनको सुनकर दैत्योंके यज्ञ करानेवाले शुक्राचार्यने 'ठीक है'—ऐसा कहा और प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने निधियोंको आदेश दे दिया। उसके बाद भार्गवश्रेष्ठ शुक्राचार्यने पापोंका नाश करनेवाले देविकाके प्राचीन तटपर अश्वमेध यज्ञके (अनुष्ठानके) लिये धुन्धुको दीक्षित किया। ब्रह्मन् ! शुक्राचार्यकी अनुमतिसे उनके शिष्य तथा भार्गव-गोत्रीय विद्वान् ब्राह्मण उस यज्ञमें सदस्य एवं ऋत्विक् बने। मुने !

समुत्तारयितुं विप्रमाद्रवन्त समाकुलाः। सदस्या यजमानश्च ऋत्विजोऽथ महौजसः ॥ ५५ ॥
निमज्जमानमुज्जह्रु सर्वे ते वामनं द्विजम्।
समुत्तार्य प्रसभास्ते प्रपच्छुः सर्व एव हि। किमर्थं पतितोऽसीह केनाक्षिप्तोऽसि नो वद ॥ ५६ ॥

सभी देवताओंको अभयदान देकर उन महाबाहुने उन देवताओंको लौटा दिया और उस महान् धर्मध्वजी (धर्मके नामपर पाखण्ड रचनेवाले) दैत्य धुन्धुको अजेय समझकर उन्होंने (श्रीहरिने) उसे बाँधनेका विचार किया। उसके बाद भगवान् विष्णुने बौनाका रूप धर लिया और देविका नदीके जलमें (अपनी) देहको लकड़ीकी तरह निरालम्ब छोड़ दिया। खुले हुए केशोंवाले वे क्षणमात्रमें अपने-आप डूबने-उतराने लगे। उसके बाद दैत्यपतिने तथा अन्य दैत्यों एवं ऋषियोंने उन्हें देखा। उसके बाद व्याकुल होकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण यज्ञके सभी काम छोड़कर उस ब्राह्मणको निकालनेके लिये दौड़े। सभी सदस्य, यजमान एवं अति तेजस्वी ऋत्विजोंने डूबते हुए बौनाके आकारवाले ब्राह्मणको (नदीके जलसे बाहर) निकाला और उससे पूछा—हमें यह बतलाओ कि तुम यहाँ क्यों गिरे अथवा तुम्हें किसने फेंका ?॥ ५१–५६ ॥

तेषामाकर्ण्य वचनं कम्पमानो मुहुर्मुहुः। प्राह धुन्धुपुरोगांस्तान्यच्छ्रूयतामत्र कारणम् ॥ ५७ ॥
ब्राह्मणो गुणवानासीत् प्रभास इति विश्रुतः। सर्वशास्त्रार्थवित् प्राज्ञो गोत्रतश्चापि वारुण ॥ ५८ ॥
तस्य पुत्रद्वयं जातं मन्दप्रज्ञं सुदुःखितम्। तत्र ज्येष्ठो मम भ्राता कनीयानपरस्त्वहम् ॥ ५९ ॥
नेत्रभास इति ख्यातो ज्येष्ठो भ्राता ममासुर। मम नाम पिता चक्रे गतिभासेति कौतुकात् ॥ ६० ॥

उसने उनके वचनको सुनकर बार-बार काँपते हुए धुन्धु आदिसे कहा—आपलोग इसका कारण सुनें। वरुण-गोत्रमें उत्पन्न प्रभास नामके एक ब्राह्मण थे। वे सभी शास्त्रोंके तात्पर्यको जाननेवाले और बुद्धिमान् थे। उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए। वे दोनों ही अल्पबुद्धि और अत्यन्त दुःखग्रस्त थे। उनमें मेरा भाई बड़ा और मैं छोटा हूँ। अये दैत्य! मेरा बड़ा भाई 'नेत्रभास' नामसे प्रसिद्ध है। मेरे पिताने कुतूहलवश मेरा नाम 'गतिभास' रख दिया ॥ ५७–६० ॥

रम्यश्चावसथो धुन्धो शुभश्चासीत् पितुर्मम। त्रिविष्टपगुणैर्युक्तश्चारुरूपो महासुर ॥ ६१ ॥
ततः कालेन महता आवयोः स पिता मृतः। तस्यौर्ध्वदैहिकं कृत्वा गृहमावां समागतौ ॥ ६२ ॥
ततो मयोक्तः स भ्राता विभजाम गृहं वयम्। तेनोक्तो नैव भवतो विद्यते भाग इत्यहम् ॥ ६३ ॥
कुब्जवामनखञ्जानां क्लीबानां श्वित्रिणामपि। उन्मत्तानां तथान्धानां धनभागो न विद्यते ॥ ६४ ॥
शय्यासनस्थानमात्रं स्वेच्छयाप्यभुजक्रिया। एतावद् दीयते तेभ्यो नार्थभागहरा हि ते ॥ ६५ ॥

महासुर धुन्धो! मेरे पिताका निवास-स्थान सुन्दर, आनन्ददायक, स्वर्गीय गुणोंसे युक्त एवं मनोहर था। उसके बाद बहुत दिनोंके पश्चात् हम दोनोंके पिता स्वर्ग चले गये। उनकी दाह-संस्कारादि श्राद्धक्रिया करके हम दोनों भाई घर आ गये। उसके बाद मैंने (अपने उन) बड़े भाईसे कहा—हम दोनों आपसमें घरका बँटवारा कर लें। उसने मुझसे कहा—तुम्हारा हिस्सा नहीं है, क्योंकि कुबड़े, बौने, लँगड़े, हिजड़े, चरकवाले, पागल और अन्धोंका धनमें हिस्सा नहीं होता है। उन्हें केवल सोने भरका स्थान तथा अपनी इच्छाके अनुसार अन्नभोगका अधिकार दिया जाता है। वे सम्पत्तिके भागी—अधिकारी नहीं होते ॥ ६१–६५ ॥

एवमुक्ते मया प्रोक्तः किमर्थं पैतृकाद् गृहात्। धनार्धभागमर्हामि नाहं न्यायेन केन वै ॥ ६६ ॥
इत्युक्तवति वाक्येऽसौ भ्राता मे कोपसंयुतः। समुत्क्षिप्याक्षिपत्तत्र धामस्थां मामिति कारणात् ॥ ६७ ॥

क्रमत्रय तावदवेक्ष्य दत्त महासुरेन्द्रेण विभुर्यशस्वी ।
चक्रे ततो लङ्घयितुं त्रिलोकीं त्रिविक्रम रूपमनन्तशक्ति ॥ ८२ ॥
कृत्वा च रूप दितिजांश्च हत्वा प्रणम्य चर्त्वीन् प्रथमक्रमेण ।
महीं महीध्रै सहिता सहार्णवां जहार रत्नाकरपत्तनैर्युताम् ॥ ८३ ॥

उन (विप्र वामन) महात्माके ऐसा वचन कहनेपर, तब उन्होंने और कुछ ग्रहण नहीं किया
तब ऋत्विजों-सहित दानवपतिने हँसकर उन द्विजेन्द्रको तीन पग (भूमि) प्रदान कर दी । महान् असुरेन्द्रद्वारा
तीन पग भूमि प्रदान की हुई देखकर अनन्त शक्तिवाले यशस्वी एवं विभु वामन भगवान्ने तीनों लोकोंको नाप
लिये त्रिविक्रम (विराट्) रूप धारण कर लिया । (विशाल) रूप धर लेनेके बाद उन्होंने दैत्योंका वध कर
योंको प्रणाम किया और प्रथम पादन्यासमें ही पर्वत, सागर, रत्नोंकी खान एवं नगरोंसे युक्त पृथ्वीको नापकर
लिया ॥ ८१–८३ ॥

भुव सनाक त्रिदशाधिवास सोमार्कऋक्षैरभिमण्डित नभ ।
देवो द्वितीयेन जहार वेगात् क्रमेण देवप्रियमीप्सुरीश्वर ॥ ८४ ॥
क्रम तृतीय न यदाऽस्य पूरित तदाऽतिकोपाद् दनुपुङ्गवस्य ।
पपात पृष्ठे भगवांस्त्रिविक्रमो मेरुप्रमाणेन तु विग्रहेण ॥ ८५ ॥
पतता वासुदेवेन दानवोपरि नारद । त्रिशद्योजनसाहस्री भूमेर्गर्ता दृढीकृता ॥ ८६ ॥

देवताओंका प्रिय करनेकी इच्छावाले भगवान् वामनदेवने द्वितीय पगसे तुरत ही देवताओंके निवास—स्वर्ग
र्लोक, चन्द्र, सूर्य एवं नक्षत्रोंसे मण्डित आकाशको भी ग्रहण कर लिया । उनका तृतीय पादक्रम जब
नहीं हुआ तो अत्यन्त क्रोधसे भगवान् त्रिविक्रम मेरुके समान शरीरसे दानवश्रेष्ठकी पीठपर गिर पड़े । नारदजी !
देवके दानवके ऊपर गिरनेसे भूमिमें हजार योजनका सुदृढ गड्ढा बन गया ॥ ८४–८६ ॥

ततो दैत्य समुत्पाट्य तस्यां प्रक्षिप्य वेगतः । अवर्षत् सिकतावृष्ट्या तां गर्तामपूरयत् ॥ ८७ ॥
ततः स्वर्ग सहस्राक्षो वासुदेवप्रसादतः । सुराश्च सर्वे त्रैलोक्यमवापुर्निरुपद्रवा ॥ ८८ ॥
भगवानपि दैत्येन्द्र प्रक्षिप्य सिकतार्णवे । कालिन्द्या रूपमाधाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ ८९ ॥
एव पुरा विष्णुरभूच्च वामनो धुन्धु विजेतुं च त्रिविक्रमोऽभूत् ।
यस्मिन् स दैत्येन्द्रसुतो जगाम महाश्रमे पुण्ययुतो महर्षे ॥ ९० ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

उसके बाद उन्होंने दैत्यको उठाकर जोरसे उसमें फेंक दिया और बालूकी वर्षा करके उस गड्ढेको भर दि
उसके बाद वासुदेवकी कृपासे इन्द्रने स्वर्ग पा लिया और उपद्रवोंसे रहित सम्पूर्ण देवोंने त्रिलोकीको प्राप्त
गयी । कालिन्दी भी अपना स्वरूप धारणकर वहीं अन्तर्हित हो गयी । प्राचीन कालमें इस प्रकार धुन्धुको जी
विष्णु भगवान् वामन तथा (उसके बाद) त्रिविक्रम बने । महर्षि नारदजी ! वह पुण्यात्मा दैत्ये
द (तीर्थ-यात्राके प्रसङ्गमें) उसी आश्रममें गया ॥ ८७–९० ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

पुलस्त्य उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि कथां पापप्रणाशिनीम्। पूर्वं त्रेतायुगस्यादौ यथावृत्तं तपोधन ॥ ११ ॥
मद्रदेश इति ख्यातो देशो वै ब्रह्मणः सुत। शाकलं नाम नगरं ख्यातं स्थानीयमुत्तमम् ॥ १२ ॥
तस्मिन् विपणिवृत्तिस्थः सुधर्माख्योऽभवद् वणिक्। धनाढ्यो गुणवान् भोगी नानाशास्त्रविशारदः ॥ १३ ॥
स स्वेकदा निजाद् राष्ट्रात् सुराष्ट्रं गन्तुमुद्यतः। सार्थेन महता युक्तो नानाविपणपण्यवान् ॥ १४ ॥
गच्छतः पथि तस्याथ मरुभूमौ कलिप्रिय। अभवद् दस्युतो रात्रौ अवस्कन्दोऽतिदुःसहः ॥ १५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—तपोधन ! सुनिये, मैं प्राचीनकालमें त्रेतायुगके आदिमें घटित, पापको नष्ट करनेवाली कथा कहता हूँ। ब्रह्मपुत्र ! प्रसिद्ध मद्रदेशमें शाकल नामसे प्रसिद्ध उत्तम नगर है। वहाँ सुधर्मा नामका एक धनी, गुणशाली, भोगी एवं नानाशास्त्रोंमें निपुण व्यापारी रहता था। एक समय वह अपने देशसे सुराष्ट्र जानेको तैयार हुआ। कलिप्रिय ! अनेक बेंची जानेवाली वस्तुओंसे युक्त व्यापारियोंके भारी समुदायके साथ जाते समय मार्गमें मरुभूमिमें रातमें (उसके ऊपर) डाकुओंका अत्यन्त उग्र असहनीय आक्रमण हुआ ॥ ११–१५ ॥

ततः स हृतसर्वस्वो वणिग्दुःखसमन्वितः। असहायो मरौ तस्मिंश्चचारोन्मत्तवद् वशी ॥ १६ ॥
चरता तदरण्ये वै दुःखाक्रान्तेन नारद। आत्मा इव शमीवृक्षो मरावासादितः शुभः ॥ १७ ॥
न मृगैः पक्षिभिश्चैव हीनं दृष्ट्वा शमीतरुम्। श्रान्तः क्षुत्तृट्परीतात्मा तस्याधः समुपाविशत् ॥ १८ ॥
सुप्तश्चापि सुविश्रान्तो मध्याह्ने पुनरुत्थितः। समपश्यद्थायान्तं प्रेतं प्रेतशतैर्वृतम् ॥ १९ ॥

उसके बाद सब कुछ लुट जानेसे दुखी हुआ वह असहाय वणिक् मरुभूमिमें पागलकी भाँति इधर-उधर घूमने लगा। नारदजी ! दुःखसे ग्रस्त होकर उस वनमें घूमते हुए उसे मरुभूमिमें अपने जनके समान एक सुन्दर शमीका वृक्ष मिला। थका तथा भूख-प्याससे अभिभूत हुआ वह वणिक् उस शमीवृक्षको पशु-पक्षियोंसे रहित देखकर उसके नीचे बैठ गया और सो गया तथा पूर्ण विश्राम कर दोपहरको जगा। उसके बाद उसने सैकड़ों प्रेतोंसे घिरे एक प्रेतको आते हुए देखा ॥ १६–१९ ॥

उह्यमानमथान्येन प्रेतेन प्रेतनायकम्। पिण्डाशिभिश्च पुरतो धावद्भिः रूक्षविग्रहैः ॥ २० ॥
अथाजगाम प्रेतोऽसौ पर्यटित्वा वनानि च। उपागम्य शमीमूले वणिक्पुत्रं ददर्श सः ॥ २१ ॥
स्वागतेनाभिवाद्यैनं समाभाष्य परस्परम्। सुखोपविष्टश्छायायां पृष्ट्वा कुशलमास्थवान् ॥ २२ ॥
ततः प्रेताधिपतिना पृष्टः स तु वणिक्सखः। कुत आगम्यते ब्रूहि क्व साधो वा गमिष्यसि ॥ २३ ॥

प्रेतनायकको एक दूसरा प्रेत ढो रहा था और आगे रूखे शरीरवाले प्रेत दौड़ रहे थे। वनोंमें घूमनेके बाद वह प्रेत लौट रहा था। शमीवृक्षके नीचे आकर उसने वणिक्-पुत्रको देखा। स्वागतके साथ उसे अभिवादन किया। फिर (दोनोंने) परस्पर वार्तालाप किया। इसके बाद वह प्रेत छायामें सुखपूर्वक बैठ गया और उसने उससे कुशल पूछी और जानी। उसके बाद प्रेताधिपतिने वणिक्-बन्धुसे पूछा—साधो ! यह बतलाओ कि तुम कहाँसे आ रहे हो और कहाँ जाओगे ? ॥ २०–२३ ॥

कथं चेदं महारण्यं मृगपक्षिविवर्जितम्। समायातोऽसि भद्रं ते सर्वमाख्यातुमर्हसि ॥ २४ ॥
एवं प्रेताधिपतिना वणिक् पृष्टः समासतः। सर्वमाख्यातवान् ब्रह्मन् स्वदेशधनविच्युतिम् ॥ २५ ॥
तस्य श्रुत्वा स वृत्तान्तं तस्य दुःखेन दुःखितः। वणिक्पुत्रं ततः प्राह प्रेतपालः स्वयं सुवत् ॥ २६ ॥
एवं गतेऽपि मा शोकं कर्तुमर्हसि सुव्रत। भूयोऽप्यर्था भविष्यन्ति यदि भाग्यबलं तव ॥ २७ ॥

[अथैकोनाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

कालिन्दीसलिले स्नात्वा पूजयित्वा त्रिविक्रमम्। उपोष्य रजनीमेकां लिङ्गभेदं गिरिं ययौ ॥ १ ॥
तत्र स्नात्वा च विमले भवं दृष्ट्वा च भक्तितः। उपोष्य रजनीमेकां तीर्थं केदारमागमत् ॥ २ ॥
तत्र स्नात्वाऽर्च्य चेशानं माधवं चाप्यभेदतः। उषित्वा वासरान् सप्त कुब्जाम्रं प्रजगाम ह ॥ ३ ॥
ततः सुतीर्थे स्नात्वा च सोपवासी जितेन्द्रियः। हृषीकेशं समभ्यर्च्य ययौ बदरिकाश्रमम् ॥ ४ ॥

उन्नासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(पुरूरवाद्वारा रूपकी प्राप्ति और उसी सन्दर्भमें प्रेत और वणिक्की भेंट तथा परस्पर वृत्तान्त कहना एवं श्रवण द्वादशीका माहात्म्य, गयामें श्राद्ध करनेसे प्रेत-योनिसे मुक्ति और पुरूरवाको सुरूपकी प्राप्ति)

पुलस्त्यजी बोले—यमुनाजलमें स्नानकर प्रह्लादने त्रिविक्रम भगवान्की पूजा की। एक रात उपवास करनेके बाद (फिर) वे लिङ्गभेदनामक पर्वतपर चले गये। वहाँ विमल जलमें स्नानकर उन्होंने भक्तिसे भगवान् शंकरका दर्शन किया, एवं वहाँ भी एक रात निवासकर केदार नामके तीर्थमें गये। वहाँ स्नान करनेके बाद (उन्होंने) अभेदबुद्धिसे शिव एवं विष्णुका पूजन किया, (वहाँ) सात दिनोंतक रहकर कुब्जाम्रमें चले गये। उसके बाद उस सुन्दर तीर्थमें स्नानकर उपवास करनेवाले इन्द्रियजयी (प्रह्लाद) हृषीकेशका अर्चनकर बदरिकाश्रम चले गये ॥ १—४ ॥

तत्रोष्य नारायणमर्च्य भक्त्या स्नात्वाऽथ विद्वान् स सरस्वतीजले।
वराहतीर्थे गरुडासनं स दृष्ट्वाऽथ सम्पूज्य सुभक्तिमांश्च ॥ ५ ॥
भद्रकर्णे ततो गत्वा जयेशं शशिशेखरम्। दृष्ट्वा सम्पूज्य च शिवं विपाशामभितो ययौ ॥ ६ ॥
तस्यां स्नात्वा समभ्यर्च्य देवदेवं द्विजप्रियम्। उपवासी इरावत्यां ददर्श परमेश्वरम् ॥ ७ ॥
यमाराध्य द्विजश्रेष्ठ शाकले वै पुरूरवाः। समवाप परं रूपमैश्वर्यं च सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥
कुष्ठरोगाभिभूतश्च यं समाराध्य वै भृगुः। आरोग्यमतुलं प्राप संतानमपि चाक्षयम् ॥ ९ ॥

वहाँ रहते हुए सरस्वतीके जलमें स्नानकर उन विद्वान्-(प्रह्लादजी)ने नारायणका पूजन किया। फिर अत्यन्त भक्तिके साथ उन्होंने वराहतीर्थमें गरुडासन विष्णुका दर्शन और पूजन किया। वहाँसे भद्रकर्णमें पहुँचकर जयेश शशिशेखर शिवका दर्शन तथा पूजन करके बादमें विपाशाकी ओर चले गये। उस विपाशामें स्नानकर द्विजप्रिय देवाधिदेवका अर्चन कर (प्रह्लाद) उपवास करते हुए इरावतीकी ओर चले गये। द्विजोत्तम! (उन्होंने) वहाँ उन भगवान्का दर्शन किया, जिनकी शाकलमें आराधना करनेसे (पहले) पुरूरवाको उत्तम रूप एवं सुदुर्लभ ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था। कुष्ठरोगसे अभिभूत भृगुने उन परमेश्वरकी आराधना करके अतुलनीय नीरोगता और अक्षय सन्तान प्राप्त की थी ॥ ५—९ ॥

नारद उवाच

कथं पुरूरवा विष्णुमाराध्य द्विजसत्तम। विरूपत्वं समुत्सृज्य रूपं प्राप प्रियं वद ॥ १० ॥

नारदने पूछा—द्विजोत्तम! पुरूरवाने विष्णुकी आराधना करनेके बाद विरूपताको छोड़कर देवोंके समान सुन्दर रूप कैसे प्राप्त किया? ॥ १० ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुतां कथयिष्यामि कथां पापप्रणाशिनीम्। पूर्वं त्रेतायुगस्यादौ यथावृत्तं तपोधन ॥ ११ ॥
मद्रदेश इति ख्यातो देशो वै ब्रह्मणः सुत। शाकलं नाम नगरं ख्यातं स्थानीयमुत्तमम् ॥ १२ ॥
तस्मिन् विपणिवृत्तिस्थः सुधर्माख्योऽभवद् वणिक्। धनाढ्यो गुणवान् भोगी नानाशास्त्रविशारदः ॥ १३ ॥
स त्वेकदा निजाद् राष्ट्रात् सुराष्ट्रं गन्तुमुद्यतः। सार्थेन महता युक्तो नानाविपणपण्यवान् ॥ १४ ॥
गच्छतः पथि तस्याथ मरुभूमौ कलिप्रिय। अभवद् दस्युतो रात्रौ ग्रयस्कन्दोऽतिदुःसहः ॥ १५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—तपोधन ! सुनिये, मैं प्राचीनकालमें त्रेतायुगके आदिमें घटित, पापको नष्ट करनेवाली कथा कहता हूँ। ब्रह्मपुत्र ! प्रसिद्ध मद्रदेशमें शाकल नामसे प्रसिद्ध उत्तम नगर है। वहाँ सुधर्मा नामका एक धनी, गुणशाली, भोगी एवं नानाशास्त्रोंमें निपुण व्यापारी रहता था। एक समय वह अपने देशसे सुराष्ट्र जानेको तैयार हुआ। कलिप्रिय ! अनेक बेंची जानेवाली वस्तुओंसे युक्त व्यापारियोंके भारी समुदायके साथ जाते समय मार्गमें मरुभूमिमें रातमें (उसके ऊपर) डाकुओंका अत्यन्त उग्र असहनीय आक्रमण हुआ ॥ ११—१५ ॥

ततः स हृतसर्वस्वो वणिग्दुःखसमन्वितः। असहायो मरौ तस्मिंश्चचारोन्मत्तवद् वशी ॥ १६ ॥
चरता तदरण्यं वै दुःखाक्रान्तेन नारद। आत्मा इव शमीवृक्षो मरावासादितः शुभः ॥ १७ ॥
स मृगैः पक्षिभिश्चैव हीनं दृष्ट्वा शमीतरुम्। श्रान्तः क्षुत्तृट्परीतात्मा तस्याधः समुपाविशत् ॥ १८ ॥
सुप्तश्चापि सुविश्रान्तो मध्याह्ने पुनरुत्थितः। समपश्यदथायान्तं प्रेतं प्रेतशतैर्वृतम् ॥ १९ ॥

उसके बाद सब कुछ लुट जानेसे दुःखी हुआ वह असहाय वणिक् मरुभूमिमें पागलकी भाँति इधर-उधर घूमने लगा। नारदजी ! दुःखसे ग्रस्त होकर उस वनमें घूमते हुए उसे मरुभूमिमें अपने जनके समान एक सुन्दर शमीका वृक्ष मिला। थका तथा भूख-प्याससे अभिभूत हुआ वह वणिक् उस शमीवृक्षको पशु-पक्षियोंसे रहित देखकर उसके नीचे बैठ गया और सो गया तथा पूर्ण विश्राम कर दोपहरको जगा। उसके बाद उसने सैकड़ों प्रेतोंसे घिरे एक प्रेतको आते हुए देखा ॥ १६—१९ ॥

उह्यमानमथान्येन प्रेतेन प्रेतनायकम्। पिण्डाशिभिश्च पुरतो धावद्भिः रूक्षविग्रहैः ॥ २० ॥
अथाजगाम प्रेतोऽसौ पर्यटित्वा वनानि च। उपागम्य शमीमूले वणिक्पुत्रं ददर्श सः ॥ २१ ॥
स्वागतेनाभिवाद्यैनं समाभाष्य परस्परम्। सुखोपविष्टश्छायायां पृष्ट्वा कुशलमास्थितः ॥ २२ ॥
ततः प्रेताधिपतिना पृष्टः स तु वणिक्सखः। कुत आगम्यते ब्रूहि क्व साधो वा गमिष्यसि ॥ २३ ॥

प्रेतनायकको एक दूसरा प्रेत ले रहा था और आगे रूखे शरीरवाले प्रेत दौड़ रहे थे। वनोंमें घूमनेके बाद वह प्रेत लौट रहा था। शमीवृक्षके नीचे आकर उसने वणिक्-पुत्रको देखा। स्वागतके साथ उसे अभिवादन किया। फिर (दोनोंने) परस्पर वार्तालाप किया। इसके बाद वह प्रेत छायामें सुखपूर्वक बैठ गया और उसने उससे कुशल पूछा और जानी। उसके बाद प्रेताधिपतिने वणिक्-बन्धुसे पूछा—साधो ! यह बतलाओ कि तुम कहाँसे आ रहे हो और कहाँ जाओगे ? ॥ २०—२३ ॥

कथं चेदं महारण्यं मृगपक्षिविवर्जितम्। समापन्नोऽसि भद्रं ते सर्वमाख्यातुमर्हसि ॥ २४ ॥
एवं प्रेताधिपतिना वणिक् पृष्टः समासतः। सर्वमाख्यातवान् ब्रह्मन् स्वदेशाधनविच्युतिम् ॥ २५ ॥
तस्य श्रुत्वा स वृत्तान्तं तस्य दुःखेन दुःखितः। वणिक्पुत्रं ततः प्राह प्रेतपालः स्वयं सुयत् ॥ २६ ॥
एवं गतेऽपि मा शोकं कर्तुमर्हसि सुव्रत। भूयोऽप्यर्थाः भविष्यन्ति यदि भाग्यबलं तव ॥ २७ ॥

स चापि हि वणिक्पुत्रो निजमालयमाव्रजत्। श्रवणद्वादशीं कृत्वा कालधर्ममुपेयिवान्॥ ७३॥
गन्धर्वलोके सुचिरं भोगान् भुक्त्वा सुदुर्लभान्। मानुष्यं जन्ममासाद्य स बभौ शाकले विराट्॥ ७४॥

उस महाबुद्धि (वणिक्) ने अपने लिये तिलसे रहित महाबोल्य नामका पिण्डदान किया। उसके बाद अन्य गोत्रोंमें उत्पन्न हुओंके उद्देशसे भी पिण्डदान किया। द्विज! इस प्रकार पिण्डदान करनेपर वे प्रेत प्रेतयोनिसे मुक्त होकर ब्रह्मलोकको चले गये। वह वणिक् पुत्र भी अपने घर चला गया और श्रवणद्वादशीका (यथोचित रीतिसे) (व्रत) पालन करते हुए वह भी समय आनेपर स्वर्गीय हो गया। गन्धर्वलोकमें चिरकालतक अत्यन्त दुर्लभ भोगोंका उपभोग करनेके बाद मनुष्य-जन्म प्राप्त कर वह शाकलपुरीका सम्राट् बना॥ ७१—७४॥

स्वधर्मकर्मवृत्तिस्थ श्रवणद्वादशीरतः। कालधर्ममवाप्यासौ गुह्यकावासमाश्रयत्॥ ७५॥
तत्रोष्य सुचिरं कालं भोगान् भुक्त्वाऽथ कामतः। मर्त्यलोकमनुप्राप्य राजन्यतनयोऽभवत्॥ ७६॥
तत्रापि क्षत्रवृत्तिस्थो दानभोगरतो वशी।
गोग्रहेऽरिगणाञ्जित्वा कालधर्ममुपेयिवान्। शक्रलोकं स सम्प्राप्य देवैः सर्वैः सुपूजितः॥ ७७॥
पुण्यक्षयात् परिभ्रष्टः शाकले सोऽभवद् द्विजः। ततो विकटरूपोऽसौ सर्वशास्त्रार्थपारगः॥ ७८॥

अपने धर्म तथा कर्ममें स्थित रहता हुआ वह श्रवणद्वादशी (व्रत)में रत रहता रहा। (समय आनेपर) मृत्युके बाद उसने गुह्यकोंका लोक प्राप्त कर लिया। वहाँ बहुत कालतक ठहरकर और इच्छानुकूल भाँति भाँतिके भोग्य पदार्थोंका भोग करनेके बाद वह मृत्युलोकमें आकर राजपुत्र बना। वहाँ भी क्षत्रिय-वृत्तिसे निर्वाह करते हुए वह दान और भोगमें लगा रहा। गौओंके अपहरणमें उसने शत्रुओंको जीतकर कालधर्म-(मृत्यु)को प्राप्त हुआ। फिर वह इन्द्रलोकमें गया और सभी देवोंसे पूजित हुआ। पुण्यका क्षय होनेसे 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'—नियमसे स्वर्गच्युत होकर वह फिर शाकल देशमें ब्राह्मण हुआ। उसका रूप तो अत्यन्त विद्रूप (भयङ्कर) था, परंतु वह (विद्यासे) सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारङ्गत था॥ ७५—७८॥

विवाहयद् द्विजसुतां रूपेणानुपमां द्विज। साऽवमेने च भर्त्तारं सुशीलमपि भामिनी॥ ७९॥
विरूपमिति मन्वाना ततस्सोभूत् सुदुःखितः। ततो निर्वेदसंयुक्तो गत्वाश्रमपदं महत्॥ ८०॥
इरावत्यास्तटे श्रीमान् रूपधारिणमासदत्। तमाराध्य जगन्नाथं नक्षत्रपुरुषेण हि॥ ८१॥
सुरूपतामवाप्याग्र्यां तस्मिन्नेव च जन्मनि।
ततः प्रियोऽभूद् भार्याया भोगवांश्चाभवद् वशी। श्रवणद्वादशीभक्तः पूर्वाभ्यासादजायत॥ ८२॥
एवं पुराऽसौ द्विजपुङ्गवस्तु कुरूपरूपो भगवत्प्रसादात्।
अनङ्गरूपप्रतिमो बभूव मृतश्च राजा स पुरूरवाऽभूत्॥ ८३॥
इति श्रीवामनपुराणे एकोनाशीतितमोऽध्यायः॥ ७९॥

द्विज! उसने अनुपम सुन्दरी ब्राह्मण-कन्यासे विवाह किया। वह ललना (अपने) अत्यन्त शीलवान् पतिको भी कुरूप मानकर निरादर करती रहती। इससे वह बहुत दुःखित हो गया। उसके बाद ग्लानिसे भरकर वह इरावतीके तीरपर स्थित महान् आश्रममें पहुँचा और नक्षत्रपुरुषके द्वारा स्थापित सुन्दर रूप धारण करनेवाले जगन्नाथ भगवान्‌की आराधना की। इस प्रकार उसी जन्ममें परम सुन्दर रूप प्राप्त कर वह अपनी भार्याका प्यारा एवं ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो गया। पूर्वके अभ्याससे संयत रहनेवाला वह श्रवणद्वादशीका भक्त बना रहा। इस प्रकार पहले कुरूप रहनेपर भी भगवान्‌की कृपासे वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कामदेवके समान सुन्दर रूपवाला हो गया और स्वर्गीय होकर दूसरे जन्ममें राजा पुरूरवा हुआ॥ ७९—८३॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें उनासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ७९॥

नारदजी ! अब मैं उस व्रतके विधानका वर्णन करूँगा, जिस व्रतसे नियमपूर्वक आराधित होनेपर भगवान् विष्णु इच्छित फल प्रदान करते हैं । चैत्र मासके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथिमें चन्द्रमाके मूल नक्षत्रमें स्थित होनेपर भगवान्‌के दोनों पैरोंकी विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये । नक्षत्रकी सन्निधिमें ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिये । अश्विनी नक्षत्रके योगमें श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के दोनों घुटनोंकी अर्चना करनी चाहिये एवं 'दोहद'में (यात्रा-दोषकी शान्तिके लिये खाये पिये जानेवाले निश्चित पदार्थमें) हविष्यान्न समर्पित करना एवं पूर्ववत् ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये । विद्वान् मनुष्य पूर्वाषाढ़ तथा उत्तराषाढ़के योगमें विष्णुके दोनों ऊरुओंकी पूजा करे । (इसमें देय) दोहदमें शीतल जलका विधान है ॥ १०—१३ ॥

फाल्गुनीद्वितये गुह्यं पूजनीयं विचक्षणैः । दोहदे च पयो गव्यं देयं च द्विजभोजनम् ॥ १४ ॥
कृत्तिकासु कटिः पूज्या सोपवासो जितेन्द्रियः । देयं च दोहदं विष्णोः सुगन्धकुसुमोदकम् ॥ १५ ॥
पार्श्वे भाद्रपदायुग्मे पूजयित्वा विधानतः । गुडं सलेहकं दद्याद् दोहदे देवकीर्तितम् ॥ १६ ॥
द्वे कुक्षी रेवतीयोगे दोहदे मुद्गमोदकाः । अनुराधासु जठरं षष्टिकान्नं च दोहदे ॥ १७ ॥

[अनुक्रान्त विधानमें पुलस्त्यजी कहते हैं—] विद्वान् पुरुष दोनों फाल्गुनी नक्षत्रोंमें भगवान्‌के गुह्य-देशकी पूजा करे । दोहदके लिये दूध और घी दे और ब्राह्मण भोजन कराये । कृत्तिका नक्षत्रमें उपवासपूर्वक जितेन्द्रिय रहकर भगवान्‌के कटि-देशकी अर्चना करे और सुगन्धित कुसुमसे युक्त जलका 'दोहद' दान करे । दोनों भाद्रपदाओंमें रहे हुए विधानसे भगवान्‌की दोनों बगलोंकी अर्चना करके 'दोहद'में देवद्वारा कथित—शास्त्रानुमोदित चाटनेवाली वस्तुसे युक्त गुड़ देना चाहिये । रेवती नक्षत्रके योगमें भगवान्‌की दोनों कुक्षियोंकी पूजाके बाद दोहदमें मूँगके लड्डू प्रदान करने चाहिये । अनुराधा नक्षत्रमें उदरकी पूजा करके दोहदमें साठीका चावल देना चाहिये ॥ १४—१७ ॥

श्रविष्ठायां तथा पृष्ठं शालिभक्तं च दोहदे । भुजयुग्मं विशाखासु दोहदे परमोदनम् ॥ १८ ॥
हस्ते हस्तौ तथा पूज्यौ यावकं दोहदे स्मृतम् । पुनर्वस्वावङ्गुलीश्च पटोलस्तत्र दोहदे ॥ १९ ॥
आश्लेषासु नखान् पूज्य दोहदे तित्तिरामिषम् । ज्येष्ठायां पूजयेद् ग्रीवां दोहदे तिलमोदकम् ॥ २० ॥
श्रवणे श्रवणौ पूज्यौ दधिभक्तं च दोहदे । पुष्ये मुखं पूजयेत दोहदे घृतपायसम् ॥ २१ ॥

धनिष्ठा नक्षत्रमें पृष्ठकी पूजा करके दोहदमें शालिका भात देना चाहिये । विशाखा नक्षत्रमें भगवान्‌की दोनों भुजाओंकी पूजा कर दोहदमें उत्तम अन्न देना चाहिये । हस्त नक्षत्रमें भगवान्‌के दोनों करोंकी पूजा करके दोहदमें जौसे बना पक्वान्न देना चाहिये । पुनर्वसु नक्षत्रमें अङ्गुलियोंकी पूजा करके दोहदमें रेशमी वस्त्र या परवल प्रदान करना चाहिये । आश्लेषा नक्षत्रमें नखकी पूजा कर दोहदमें तित्तिरकी आहुति प्रदान करे । ज्येष्ठामें ग्रीवाकी पूजा करके दोहदमें तिलका लड्डू प्रदान करे । श्रवण-नक्षत्रमें दोनों कानोंकी पूजा करके दोहदमें दही और भात प्रदान करे । पुष्यनक्षत्रमें मुखकी पूजा करे और दोहदमें घी मिला हुआ पायस प्रदान करे ॥ १८—२१ ॥

स्वातियोगे च दशना दोहदे तिलशष्कुली । दातव्या केशवप्रीत्यै ब्राह्मणस्य च भोजनम् ॥ २२ ॥
हनू शतभिषायोगे पूजयेच्च प्रयत्नतः । प्रियङ्गुरक्तशाल्यन्नं दोहदं मधुविद्धि च ॥ २३ ॥
मघासु नासिका पूज्या मधु दद्याच्च दोहदे । मृगोत्तमाङ्गे नयने मृगमांसं च दोहदे ॥ २४ ॥
चित्रायोगे ललाटं च दोहदे चारुभोजनम् । भरणीषु शिरः पूज्यं चारु भक्तं च दोहदे ॥ २५ ॥

इस प्रकार पूजित होनेपर नक्षत्रपुरुष जनार्दन भगवान् मधुर वाणी, कान्ति तथा अन्य मनोऽभिलषित पदार्थ प्रदान करते हैं। नारदजी! इन नक्षत्रोंके योगमें क्रमश उपवासकर महाभाग्यशालिनी अरुन्धतीने उत्तम प्रसिद्धि प्राप्त की थी। आदित्यने पुत्रकी इच्छासे नक्षत्र-पुरुष जनार्दनकी अर्चनाकर रेवन्तनामक पुत्र प्राप्त किया था। (नक्षत्राङ्ग जनार्दनकी पूजा करके) रम्भाने श्रेष्ठ रूप, मेनकाने वाणीकी मधुरता, चन्द्रने उत्तम कान्ति तथा पुरूरवाने राज्य प्राप्त किया था। [पुलस्त्यजी कहते हैं कि—] ब्रह्मन्! इस प्रकार जिसने नक्षत्राङ्ग-रूपधारी जनार्दनकी पूजा की, उसने अपने मनोरथोंकी भलीभाँति पूर्ति कर ली। मैंने आपसे भगवान् नक्षत्रपुरुषके परम पवित्र धन देनेवाले, कीर्ति बढ़ानेवाले और सुन्दर रूपको देनेवाले व्रतके विधानका वर्णन कर दिया। अब पवित्र तीर्थयात्राका वर्णन सुनिये ॥ ३४-३९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अस्सीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

[अथैकाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

इरावतीमनुप्राप्य पुण्यां तामृषिकन्यकाम्। स्नात्वा सम्पूजयामास चैत्राष्टम्यां जनार्दनम् ॥ १ ॥
नक्षत्रपुरुषं चीर्त्वा व्रतं पुण्यप्रदं शुचि। जगाम स कुरुक्षेत्रं प्रह्लादो दानवेश्वरः ॥ २ ॥
ऐरावतेन मन्त्रेण चक्रतीर्थं सुदर्शनम्। उपामन्त्र्य ततः सस्नौ वेदोक्तविधिना मुने ॥ ३ ॥
उपोष्य क्षणदां भक्त्या पूजयित्वा कुरुध्वजम्। कृतशौचो जगामाथ द्रष्टुं पुरुषकेसरिम् ॥ ४ ॥

इक्यासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लादकी अनुक्रमिक तीर्थयात्राका वर्णन और जलोद्भवका आख्यान)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) प्रह्लादने परम पवित्र ऋषिकन्या उस इरावती नदीके पास जाकर स्नान किया और चैत्र मासकी अष्टमी तिथिमें जनार्दनकी पूजा की। वहाँ पवित्र पुण्यदायक नक्षत्र-पुरुषके व्रतका अनुष्ठान कर दानवेश्वर प्रह्लाद कुरुक्षेत्र चले गये। मुने! उन्होंने ऐरावत-मन्त्रसे सुदर्शनचक्र तीर्थका आवाहन करके वेदविहित विधिसे स्नान किया। वहाँ एक रात्रि निवास कर श्रद्धासे कुरुध्वजका पूजन किया और शौचाचारसे शुद्ध होकर नृसिंहका दर्शन करनेके लिये चले गये ॥ १-४ ॥

स्नात्वा तु देविकायां च नृसिंहं प्रतिपूज्य च। तत्रोष्य रजनीमेकां गोकर्णं दानवो ययौ ॥ ५ ॥
तस्मिन् स्नात्वा तथा प्राचीं पूज्यश्च विश्वकर्मिणम्। प्राचीने चापरे दैत्यो द्रष्टुं कामेश्वरं ययौ ॥ ६ ॥
तत्र स्नात्वा च दृष्ट्वा च पूजयित्वा च शङ्करम्। द्रष्टुं ययौ च प्रह्लादः पुण्डरीकं महाम्भसि ॥ ७ ॥
तत्र स्नात्वा च दृष्ट्वा च संतर्प्य पितृदेवताः। पुण्डरीकं च सम्पूज्य उवास दिवसत्रयम् ॥ ८ ॥
विशाखयूपे तदनु दृष्ट्वा देवं तथाजितम्। स्नात्वा तथा कृष्णतीर्थे त्रिरात्रं न्यवसच्छुचिः ॥ ९ ॥

दानव-(प्रह्लाद)ने वहाँ देविकामें स्नान कर नृसिंहकी पूजा की और एक रात वहाँ निवासकर गोकर्ण तीर्थ चले गये। वहाँ प्राची-(पूज्य-पूजकके मध्य स्थान)में स्नान कर पहले उन्होंने विश्वकर्मा भगवान्‌की पूजा की। उसके बाद दूसरे प्राचीन-(परकोटा या चहारदिवारी)में कामेश्वरका दर्शन करनेके लिये गये। वहाँ स्नान करनेके बाद शङ्करभगवान्‌का दर्शन और पूजनकर प्रह्लाद श्रेष्ठ जलमें स्थित पुण्डरीकका दर्शन करने चले गये। वहाँ भी स्नानकर उन्होंने पितरोंका तर्पण और पुण्डरीकका दर्शन-पूजन

स त्वेकदा सम पित्रा कुत्रचिद् द्विजवेश्मनि। क्षीरौदनं च बुभुजे सुस्वादु प्राणपुष्टिदम्॥ ८॥
स लब्ध्वानुपमं स्वादं क्षीरस्य ऋषिदारकः। मात्रा दत्तं द्वितीयेऽह्नि नादत्ते पिष्टवारि तत्॥ ९॥

मुनिश्रेष्ठ! अत्यन्त दरिद्रतासे जर्जर हुई उसकी माता पिसे हुए चावलके जलको यह दूध है—ऐसा कहकर उससे उस-(पुत्र) का पालन करती थी। दूधके स्वादसे अपरिचित होनेके कारण वह पिसे चावलके रस-(जल-) में ही दूधकी संभावना करता था। एक दिन उसने अपने पिताके साथ किसी ब्राह्मणके घर प्राणको स्वस्थ बनानेवाली मधुर खीरका भोजन किया। ऋषिके उस पुत्रने दूधके अद्भुत स्वादको पाकर दूसरे दिन माताके द्वारा दिये गये पिसे हुए चावलके उस रसको ग्रहण नहीं किया॥ ६—९॥

रुरोदाथ ततो बाल्यात् पयोऽर्थी चातको यथा। तं माता रुदती प्राह बाष्पगद्गदया गिरा॥ १०॥
उमापतौ पशुपतौ शूलधारिणि शङ्करे। अप्रसन्ने विरूपाक्षे कुतः क्षीरेण भोजनम्॥ ११॥
यदीच्छसि पयो भोक्तुं सद्यः पुष्टिकरं सुत। तदाराधय देवेशं विरूपाक्षं त्रिशूलिनम्॥ १२॥
तस्मिंस्तुष्टे जगद्धाम्नि सर्वकल्याणदायिनि। प्राप्यतेऽमृतपायित्वं किं पुनः क्षीरभोजनम्॥ १३॥

उसके बाद दूध चाहनेवाला यह बालक बचपनके कारण प्यासे चातककी भाँति रोने लगा। रोती हुई माताने आँखोंमें आँसू भरे गद्गद वाणीमें उससे कहा—शूल धारण करनेवाले पार्वतीपति पशुपति विरूपाक्ष शंकरके असंतुष्ट रहते दूधसे मिला भोजन कहाँसे प्राप्त हो सकता है? पुत्र! यदि तुम तत्काल स्वास्थ्यकर दूध पीना चाहते हो तो त्रिशूल धारण करनेवाले विरूपाक्ष महादेवकी सेवा करो। संसारके आधार, सभी प्रकारसे कल्याण करनेवाले उन शंकरके संतुष्ट होनेपर अमृत पीनेको मिल सकता है, दूध पीनेकी तो बात ही क्या है॥ १०—१३॥

तन्मातुर्वचनं श्रुत्वा वीतमन्युसुतोऽब्रवीत्। कोऽयं विरूपाक्ष इति त्वयाराध्यस्तु कीर्तितः॥ १४॥
ततः सुतं धर्मशीला धर्माढ्यं वाक्यमब्रवीत्। योऽयं विरूपाक्ष इति श्रूयतां कथयामि ते॥ १५॥
आसीन्महासुरपतिः श्रीदाम इति विश्रुतः। तेनाक्रम्य जगत्सर्वं श्रीर्नीता स्ववशं पुरा॥ १६॥
निःश्रीकास्तु त्रयो लोकाः कृतास्तेन दुरात्मना। श्रीवत्सं वासुदेवस्य हर्तुमैच्छन्महाबलः॥ १७॥

माताके उस वचनको सुनकर वीतमन्युके पुत्रने कहा—आप जिनकी सेवा-पूजा करनेको कहती हैं, वे विरूपाक्ष कौन हैं? उसके बाद धर्मशीलाने पुत्रसे धर्मसे युक्त वचन कहा—(बेटा!) सुनो, मैं तुम्हें बतलाती हूँ कि ये विरूपाक्ष कौन हैं? प्राचीन कालमें श्रीदामा नामसे विख्यात एक महान् असुरोंका राजा था। उसने सारे संसारको अपने अधीन करके लक्ष्मीको अपने वशमें कर लिया (सारे विश्वपर अपना अधिकार जमा लिया)। (फिर तो) उस दुरात्माने तीनों लोकोंको ही श्रीसे रहित कर दिया। उसके बाद उस महाबलशाली असुरने वासुदेवके श्रीवत्सको छीन लेनेकी कामना की॥ १४—१७॥

तमस्य दुष्टं भगवानभिप्रायं जनार्दनः। ज्ञात्वा तस्य वधाकाङ्क्षी महेश्वरमुपागमत्॥ १८॥
एतस्मिन्नन्तरे शम्भुर्योगमूर्तिधरोऽव्ययः। तस्थौ हिमाचलप्रस्थमाश्रित्य श्लक्ष्णभूतलम्॥ १९॥
अथाभ्येत्य जगन्नाथं सहस्रशिरसं विभुम्। आराधयामास हरिः स्वयमात्मानमात्मना॥ २०॥
साग्रं वर्षसहस्रं तु पादाङ्गुष्ठेन तस्थिवान्। गृणन् सत्परमं ब्रह्म योगिज्ञेयमलक्षणम्॥ २१॥

उसकी उस दूषित इच्छाको जानकर भगवान् जनार्दन उसके मारनेकी इच्छासे महेश्वरके पास गये। उस समय योगमूर्तिके धारण करनेवाले अविनाशी शंकर हिमालयकी ऊँची चोटीके चिकने भूतलपर स्थित थे। उसके बाद सहस्रशीर्षा सर्वसमर्थ जगन्नाथजीके पास जाकर विष्णुने अपने द्वारा स्वयं अपनी ही अर्चना की। योगियोंद्वारा

सकुचित हो गये। वे (शंकरको) प्रणाम करने लगे। चरणोंमें प्रणत हुए दामोदरको उठाकर श्रीमान् भवने (शंकरने) प्रसन्नतापूर्वक बार बार 'उठो-उठो' कहते हुए (यह) कहा—॥ ३२-३५ ॥

प्राकृतोऽयं महाबाहो विकारश्चक्रनेमिना। निकृत्तो न स्वभावो मे सोऽच्छेद्योऽदाह्य एव च ॥ ३६ ॥
तदेतानि चक्रेण त्रीणि भागानि केशव। कृतानि तानि पुण्यानि भविष्यन्ति न संशय ॥ ३७ ॥
हिरण्याक्षः स्मृतो ह्येकः सुवर्णाक्षस्तथा परः। तृतीयश्च विरूपाक्षस्त्रयोऽमी पुण्यदा नृणाम् ॥ ३८ ॥
उत्तिष्ठ गच्छस्व विभो निहन्तुममरार्दनम्। श्रीदाम्नि निहते विष्णो नन्दयिष्यन्ति देवता ॥ ३९ ॥
इत्येवमुक्तो भगवान् हरेण गरुडध्वज। गत्वा सुरगिरिप्रस्थं श्रीदामानं ददर्श ह ॥ ४० ॥
तं दृष्ट्वा देवदर्पघ्नं दैत्यं देववरो हरिः। मुमोच चक्रं वेगाढ्यं हतोऽस्मीति मुहुर्मुहुः ॥ ४१ ॥

महाबाहो! चक्रकी नेमिद्वारा मेरा यह प्राकृत विकार ही काटा गया है। इसके द्वारा मेरा स्वभाव नहीं क्षत हुआ है। यह तो अच्छेद्य एवं अदाह्य है। केशव! चक्रद्वारा किये गये ये तीनों अंश निस्सन्देह पुण्य प्रदान करनेवाले होंगे। एक अंश हिरण्याक्ष नामधारी, दूसरा सुवर्णाक्ष नामधारी और तीसरा विरूपाक्ष नामका होगा। ये तीनों अंश मनुष्योंके लिये पुण्यप्रदाता होंगे। विभो! उठिये और देवशत्रुका वध करनेके लिये जाइये। विष्णो! श्रीदामाके वध किये जानेपर देवता प्रसन्न होंगे। शंकरके इस प्रकार कहनेपर भगवान् गरुडध्वजने पर्वतकी ऊँची चोटीपर जाकर श्रीदामाको देखा। देवताओंके दर्पका विनाश करनेवाले उस दैत्यको देववर देव-श्रेष्ठ विष्णुने बार-बार (यह कहे) 'तुम मारे गये' ऐसा कहते हुए तीव्र गतिसे चक्र चलाया ॥ ३६-४१ ॥

ततस्तु तेनाप्रतिपौरुषेण चक्रेण दैत्यस्य शिरो निकृत्तम्।
सच्छिन्नशीर्षो निपपात शैलाद् वज्राहतं शैलशिरो यथैव ॥ ४२ ॥
तस्मिन् हते देवरिपौ मुरारिरीशं समाराध्य विरूपनेत्रम्।
लब्ध्वा च चक्रं प्रवरं महायुधं जगाम देवो निलयं पयोनिधिम् ॥ ४३ ॥
सोऽयं पुत्र विरूपाक्षो देवदेवो महेश्वरः। तमाराधय चेत् साधो क्षीरेणेच्छसि भोजनम् ॥ ४४ ॥
तन्मातुर्वचनं श्रुत्वा धौतमन्युसुतो बली। तमाराध्य विरूपाक्षं प्राप्तः क्षीरेण भोजनम् ॥ ४५ ॥
एवं तवोक्तं परमं पवित्रं सच्छेदनं शर्वतनोः पुरा वै।
तत्तीर्थवर्यं स महासुरो वै समाससादाथ सुपुण्यहेतोः ॥ ४६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

फिर तो अनुपम पौरुषवाले उस चक्रने दैत्यका मस्तक काट डाला। मस्तक कट जानेपर दैत्य पर्वतके ऊपरसे इस प्रकार गिरा जैसे वज्रसे आहत होकर पर्वतकी ऊँची चोटी गिरती है। उस देवशत्रुके मारे जानेपर मुरारिने विरूपाक्ष शंकरकी आराधना की और चक्ररूपी श्रेष्ठ महायुध लेकर वे देव क्षीरसागरमें स्थित अपने गृहको चले गये। [धौतमन्युकी धर्मशील पत्नी आत्रेयी कहती हैं—] पुत्र! ये वही देव-देव महेश्वर विरूपाक्ष हैं। साधो! यदि तुम दूधके साथ भोजन करना चाहते हो तो उनकी सेवा-पूजा करो। माताके उस वचनको सुनकर धौतमन्युके बलवान् पुत्रने उन विरूपाक्ष शंकरकी आराधनाकर दूधसे युक्त भोजन प्राप्त किया। [पुलस्त्यजी कहते हैं—] इस प्रकार प्राचीन कालमें घटित हुई शंकरके शरीर-छेदनसे सम्बद्ध परम पवित्र कथाको मैंने तुमसे कहा। उसी श्रेष्ठ तीर्थमें वे महान् असुर प्रह्लाद सुन्दर पुण्य प्राप्तिके लिये गये ॥ ४२-४६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बयासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८२ ॥

वहाँ महोदकीमें स्नान करनेके बाद श्रद्धापूर्वक विष्णु, देवताओं एवं पितरोंका पूजन कर वे पारियात्र पर्वतपर चले गये। वहाँ लाङ्गलिनीमें स्नान करनेके बाद उन्होंने अपराजितका पूजन किया और कशेरुदेशमें जाकर विश्वरूपका दर्शन किया। वहाँ योगवित् देववर शम्भुने गणोंसे पूजित अपना विश्वरूप प्रकट किया था, वहाँ मणिमत्कि जलमें स्नान करनेके बाद महेश्वरका पूजनकर प्रह्लाद सुगन्धियुक्त मलय पर्वतपर गये॥ १३-१६॥

महाह्रदे ततः स्नात्वा पूजयित्वा च शङ्करम्। ततो जगाम योगात्मा द्रष्टुं विन्ध्ये सदाशिवम्॥ १७॥
ततो विपाशासलिले स्नात्वाभ्यर्च्य सदाशिवम्। त्रिरात्रं समुपोष्याथ अवन्तीं नगरीं ययौ॥ १८॥
तत्र शिप्राजले स्नात्वा विष्णुं सम्पूज्य भक्तितः। श्मशानस्थं ददर्शाथ महाकालवपुर्धरम्॥ १९॥
तस्मिन् हि सर्वसत्त्वानां तेन रूपेण शङ्करः। तामसं रूपमास्थाय संहारं कुरुते वशी॥ २०॥

उसके बाद महाह्रदमें स्नान करनेके पश्चात् शंकरकी पूजाकर योगात्मा प्रह्लाद सदाशिवका दर्शन करनेके लिये विन्ध्यपर्वतपर गये। उसके बाद विपाशाके जलमें उन्होंने स्नान किया और सदाशिवका पूजन किया। उसके पश्चात् तीन रातोंतक वहाँ निवास करके वे अवन्ती नगरीमें गये। वहाँ शिप्राके जलमें स्नान करनेके बाद श्रद्धापूर्वक विष्णुका पूजनकर उन्होंने श्मशानमें स्थित महाकाल-शरीरधारीका दर्शन किया। वहाँ उस रूपमें स्थित आत्मवशी शंकर तामसरूप धारण करके समस्त प्राणियोंका संहार करते हैं॥ १७-२०॥

तत्रस्थेन सुरेशेन श्वेतकिर्नाम भूपतिः। रक्षितस्त्वन्तकं दग्ध्वा सर्वभूतापहारिणम्॥ २१॥
तत्रातिहृष्टो वसति नित्यं शर्वः सहोमया। वृतः प्रमथकोटीभिर्बहुभिस्त्रिदशार्चितः॥ २२॥
तं दृष्ट्वाथ महाकालं कालकालान्तकान्तकम्। यमस्यमनं मृत्योर्मृत्युं चित्रविचित्रकम्॥ २३॥
श्मशाननिलयं शम्भुं भूतनाथं जगत्पतिम्। पूजयित्वा शूलधरं जगाम निषधान् प्रति॥ २४॥

वहाँपर स्थित हुए सुरेशने सर्वभूतापहारी (समस्त भूतोंका अपहरण करनेवाले) अन्तकको जलाकर श्वेतकि नामक राजाकी रक्षा की थी। करोड़ों गणोंसे घिरे हुए एवं देवोंसे पूजित भगवान् शंकर उमाके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वहाँ नित्य निवास करते हैं। उन कालोंके काल, अन्तकोंके अन्तक, यमोंके नियामक, मृत्युके मृत्यु, चित्रविचित्र श्मशानके वासी, भूतपति, जगत्पति, शूल धारण करनेवाले शंकरका दर्शन एवं पूजनकर वे निषध देशकी ओर चले गये॥ २१-२४॥

तत्रामरेश्वरं देवं दृष्ट्वा सम्पूज्य भक्तितः। महोदयं समभ्येत्य हयग्रीवं ददर्श सः॥ २५॥
अश्वतीर्थे ततः स्नात्वा दृष्ट्वा च तुरगाननम्। श्रीधरं चैव सम्पूज्य पञ्चालविषयं ययौ॥ २६॥
तत्रेश्वरगुणैर्युक्तं पुत्रमर्थपतेरथ। पाञ्चालिकं वशी दृष्ट्वा प्रयागं परतो ययौ॥ २७॥
स्नात्वा सन्निहिते तीर्थे यामुने लोकविश्रुते। दृष्ट्वा वटेश्वरं रुद्रं माधवं योगशायिनम्॥ २८॥
द्वावेव भक्तितः पूज्यौ पूजयित्वा महासुरः। माघमासमथोपोष्य ततो वाराणसीं गतः॥ २९॥

वहाँ श्रद्धापूर्वक अमरेश्वर देवका दर्शन एवं अर्चन करनेके बाद उन्होंने महोदयमें जाकर हयग्रीवका दर्शन किया। उसके बाद अश्वतीर्थमें स्नान कर अश्वमुखका दर्शन तथा श्रीधरका अर्चन कर वे पाञ्चाल देशमें गये। जितेन्द्रिय प्रह्लाद वहाँ ईश्वरीय गुणोंसे सम्पन्न धनपति कुबेरके पुत्र पाञ्चालिकका दर्शनकर प्रयाग चले गये। निकटमें रहनेवाले यमुनाके विख्यात तीर्थमें स्नान करनेके पश्चात् वटेश्वर रुद्र तथा योगशायी माधवका दर्शन एवं श्रद्धापूर्वक उन दोनों पूजनीयोंका अर्चन कर उन महासुरने माघमासमें वहाँ निवास किया। उसके बाद वे वाराणसी चले गये॥ २५-२९॥

विद्वान् दानव (प्रह्लादजी) वहाँसे सर्वपापहारी हरिका दर्शन करनेके लिये सर्वपापनाशक श्रेष्ठ तीर्थमें चले गये। उन्होंने उनके सामने प्राचीन कालमें क्रोडरूपी जनार्दनसे कथित पापनाश करनेवाले दो स्तोत्रोंका पाठ किया। उसके बाद वे वहाँसे दैत्येन्द्र (प्रह्लाद) महाफलदायक शालग्रामतीर्थमें गये। वहाँ विष्णु समस्त चर और स्थावर पदार्थोंमें विराजमान हैं। [पुलस्त्यजी कहते हैं—] मुने ! वहाँ महान् विष्णुभक्त बलवान् प्रह्लाद विष्णुको सर्वव्यापी जानकर भगवान्‌के चरणोंकी पूजा करते हुए उन (की भक्ति) में परायण हो गये। मैंने तुमसे मुनियोंके समूहोंसे सेवित अत्यन्त पवित्र प्रह्लादकी तीर्थयात्राका वर्णन कर दिया जिसके कीर्तन, श्रवण एवं स्पर्शसे मनुष्य निष्पाप हो जाते हैं ॥ ७०-७४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८३ ॥

[शेष अध्याय अगले अङ्कमें*]

भगवान् वामनसे श्रेयःकामना

येनेन्द्रस्य त्रासविनाशहेतवे स्वमायया वामनविग्रहो धृतः ।
त्रिविक्रमत्वेन बलिं बबन्ध यः स माधवः शं वितनोत्वहर्निशम् ॥

जिन्होंने देवराज इन्द्रके (दैत्योंसे पराजय-रूप) कष्टकी निवृत्तिके लिये अपनी मायासे वामन-(बटु-)का शरीर धारण कर लिया, विराट्‌वपु त्रिविक्रम बनकर तीन पगोंसे सम्पूर्ण त्रिलोकीको नापते हुए जिन्होंने दैत्यराज बलिको बाँध लिया (अर्थात् उसे अनुग्रहपूर्वक ऐश्वर्य-रहित कर दिया) ऐसे वे लक्ष्मीपति भगवान् (वामन) श्रीहरि अहर्निश (हम सबका) कल्याण करें। —श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र, 'विनय'

नम्र निवेदन और क्षमा-याचना

भगवान् वामनका लघु पूजनरूप यह विशेषाङ्क 'कल्याण'के पाठकोंके करकमलोंमें सादर समर्पित है। इसकी अच्छाइयाँ भगवत्कृपाकी प्रसाद स्वरूपा हैं और त्रुटियाँ हमारी अल्पज्ञता—अज्ञताकी स्वाभाविक अनिवार्यता। अतः हमारी त्रुटियाँ पाठकोंके समक्ष इस दृष्टिसे क्षम्य होंगी और इस पुराणके उपयोगी, उपादेय वस्तुविषय सर्वथा रुचिप्रद, पठनीय, मननीय एवं अनुपालनीय होकर कल्याणकारी होंगे—यही हमारी आशा और आशंसा है।

भगवान् व्यासदेवकी कल्याणकारिणी लेखनीने पुराणोंको प्रस्तुत कर विश्वका—विशेषतः साधारण जनवर्गका, जो तत्त्वविमर्शी क्लिष्ट शास्त्रोंकी दुरूहता और प्रगल्भताको सरलतया आत्मसात् नहीं कर सकते, उनका—महान् कल्याण किया है। पुराण विद्या सर्वसुलभ, सबके लिये सुगम है और पुराण हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृतिके प्रकाश-स्तम्भ हैं, जिनसे हमारे जीवनके कल्याण-पक्ष प्रकाशित एवं निर्देशित हैं। पुराणोंमें हमारी संस्कृतिके मूर्तरूप तीर्थ, व्रत, पुरावृत्त, देवी-देवताओं, सृष्टिक्रम (सर्ग-प्रतिसर्ग) राजवंशों, मन्वन्तरों आदिका सुनिपुण वर्णन तो मिलता ही है, नीति और धर्मके प्रशस्त विवेचन भी सोदाहरण प्रस्तुत हुए हैं। पुराण वेदार्थके उपबृंहण हैं, ज्ञान विज्ञानकी सांस्कृतिक सम्पत्ति हैं। यदि हम पुराण-प्रदर्शित पथसे चलें, उनकी शिक्षा और

* इस जनवरी (१९८२) के विशेषाङ्कमें स्थानाभावसे हम पूरा वामनपुराण न दे सके, अतः अगले अङ्कमें इसे पूरा कर रहे हैं।

—सम्पादक

उन्होंने श्रीनिवासकी अर्चना की। फिर कुण्डिनमें जाकर प्राणोंके तृप्तिदाता देवका अर्चन किया। उन्होंने शूर्पारकमें चतुर्भुज देवकी भलीभाँति पूजा करनेके बाद मागधारण्यमें जाकर वसुधाधिपका दर्शन किया। उन विश्वेशका पूजन कर वे प्रजामुखमें गये। उसके बाद उन्होंने महातीर्थमें स्नानकर वासुदेवको प्रणाम किया। उन्होंने शोणनदपर जाकर स्वर्णकवच धारण करनेवाले ईश्वरका पूजन किया। उसके बाद श्रद्धालु-(प्रह्लाद) ने महाकोशीमें हंस नामक महादेवका अर्चन किया एवं श्रेष्ठ सैन्धवारण्यमें जाकर शङ्ख तथा शूल धारण करनेवाले सुनेत्र नामक पूज्य ईश्वरका पूजन किया। उसके बाद वे महाबाहु त्रिविष्टप चले गये ॥ ५४–६१ ॥

तत्र देवं महेशानं जटाधरमिति श्रुतम्। तं दृष्ट्वाऽर्च्य हरिं चासौ तीर्थं कनखलं ययौ ॥ ६२ ॥
तत्रार्च्य भद्रकालीशं वीरभद्रं च दानवः। धनाधिपं च मेधाङ्कं ययावथ गिरिव्रजम् ॥ ६३ ॥
तत्र देवं पशुपतिं लोकनाथं महेश्वरम्। सम्पूजयित्वा विधिवत्कामरूपं जगाम ह ॥ ६४ ॥
शशिप्रभं देववरं त्रिनेत्रं सम्पूजयित्वा सह वै मृडान्या।
जगाम तीर्थप्रवरं महाख्यं तस्मिन् महादेवमपूजयत् स ॥ ६५ ॥

वहाँ जटाधर नामसे प्रसिद्ध महेशान देवका दर्शन और विष्णुकी पूजा कर वे कनखल तीर्थमें गये। दानव प्रह्लाद वहाँ भद्रकालीश और वीरभद्र तथा धनाधिप मेधाङ्ककी पूजा कर गिरिव्रज चले गये। वहाँ लोकनाथ महेश्वर पशुपति देवका विधिवत् अर्चन कर वे कामरूप चले गये। वहाँ चन्द्रकी कान्तिसे युक्त देवश्रेष्ठ त्रिनेत्र शङ्करकी मृडानी-(पार्वती)के साथ विधिवत् अर्चना कर प्रह्लाद श्रेष्ठ महाख्य तीर्थमें गये और वहाँपर (भी) उन्होंने महादेवकी अर्चना की ॥ ६२–६५ ॥

ततस्त्रिकूटं गिरिमत्रिपुत्रं जगाम द्रष्टुं स हि चक्रपाणिनम्।
तमीड्य भक्त्या तु गजेन्द्रमोक्षणं जजाप जप्यं परमं पवित्रम् ॥ ६६ ॥
तत्रोष्य दैत्येश्वरसूनुरादरान्मासत्रयं मूलफलाम्बुभक्षी।
निवेद्य विप्रप्रवरेषु काञ्चनं जगाम घोरं स हि दण्डकं वनम् ॥ ६७ ॥

तत्र दिव्यं महाशाखं वनस्पतिवपुर्धरम्। ददर्श पुण्डरीकाक्षं महाश्वापदवारणम् ॥ ६८ ॥
तस्याधस्तात् त्रिरात्रं स महाभागवतोऽसुरः। स्थितः स्थण्डिलशायी तु पठन् सारस्वतं स्तवम् ॥ ६९ ॥

उसके बाद वे अत्रिपुत्र चक्रपाणि विष्णुका दर्शन करनेके लिये त्रिकूट पर्वतपर चले गये और श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा कर उन्होंने परम पवित्र जपनेयोग्य गजेन्द्र-मोक्षणस्तवका पाठ किया। मूल, फल एवं जलका भक्षण करते हुए दैत्येश्वर-पुत्र प्रह्लादने वहाँ तीन मासतक श्रद्धापूर्वक निवास किया। उसके बाद श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सुवर्ण दान कर वे घोर दण्डकवन चले गये। वहाँ उन्होंने महान् हिंस्र पशुओंके निवारक, महान् शाखाओंसे युक्त वनस्पतिका शरीर धारण करनेवाले पुण्डरीकाक्षका दर्शन किया। सारस्वतस्तोत्रका पाठ करते हुए महान् विष्णुभक्त असुर प्रह्लादने तीन रातोंतक उसके नीचे बिना बिस्तरके चबूतरेपर शयन किया ॥ ६६–६९ ॥

तस्मात् तीर्थवरं विद्वान् सर्वपापप्रमोचनम्। जगाम दानवो द्रष्टुं सर्वपापहरं हरिम् ॥ ७० ॥
तस्याग्रतो जजापासौ स्तवौ पापप्रणाशनौ। यौ पुरा भगवान् प्राह क्रोडरूपी जनार्दनः ॥ ७१ ॥
तस्मादथागाद् दैत्येन्द्रः शालग्रामं महाफलम्। यत्र संनिहितो विष्णुश्चरेषु स्थावरेषु च ॥ ७२ ॥
तत्र सर्वगतं विष्णुं मत्वा चक्रे रतिं बली। पूजयन् भगवत्पादौ महाभागवतो मुने ॥ ७३ ॥
इय तवोक्ता मुनिसंघजुष्टा प्रह्लादतीर्थानुगतिः सुपुण्या।
यत्कीर्तनाच्छ्रवणात् स्पर्शनाच्च विमुक्तपापा मनुजा भवन्ति ॥ ७४ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

विद्वान् दानव (प्रह्लादजी)वहाँसे सर्वपापहारी हरिका दर्शन करनेके लिये सर्वपापनाशक क्षेत्र तीर्थमें चले गये। उन्होंने उनके सामने प्राचीन कालमें कोडरूपी जनार्दनसे कथित पापनाश करनेवाले दो स्तोत्रोंका पाठ किया। उसके बाद वे वहाँसे दैत्येन्द्र (प्रह्लाद) महाफलदायक शालग्रामतीर्थमें गये। वहाँ विष्णु समस्त चर और स्थावर पदार्थोंमें विराजमान हैं। [पुलस्त्यजी कहते हैं—] मुने! वहाँ महान् विष्णुभक्त बलवान् प्रह्लाद विष्णुको सर्वव्यापी जानकर भगवान्‌के चरणोंकी पूजा करते हुए उन (की भक्ति) में परायण हो गये। मैंने तुमसे मुनियोंके समूहोंसे सेवित अत्यन्त पवित्र प्रह्लादकी तीर्थयात्राका वर्णन कर दिया जिसके कीर्तन, श्रवण एवं स्पर्शसे मनुष्य निष्पाप हो जाते हैं ॥ ७०–७४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८३ ॥

[शेष अध्याय अगले अङ्कमें*]

भगवान् वामनसे श्रेयःकामना

येनेन्द्रसन्त्रासविनाशहेतवे स्वमायया वामनविग्रहो धृतः।
त्रिविक्रमरवेन बलिं बबन्ध यः स माधवः शं वितरत्वहर्निशम् ॥

जिन्होंने देवराज इन्द्रके (दैत्योंसे पराजय-रूप) कष्टकी निवृत्तिके लिये अपनी मायासे वामन-(बटु)का शरीर धारण कर लिया, विराट्‌वपु त्रिविक्रम बनकर तीन पगोंसे सम्पूर्ण त्रिलोकीको नापते हुए जिन्होंने दैत्यराज बलिको बाँध लिया (अर्थात् उसे अनुग्रहपूर्वक ऐश्वर्य-रहित कर दिया) ऐसे वे लक्ष्मीपति भगवान् (वामन) श्रीहरि अहर्निश (हम सबका) कल्याण करें। —श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र, 'विनय'

नम्र निवेदन और क्षमा-याचना

भगवान् वामनका लघु पूजनरूप यह विशेषाङ्क 'कल्याण'के पाठकोंके करकमलोंमें सादर समर्पित है। इसकी अच्छाइयाँ भगवत्कृपाकी प्रसाद-स्वरूपा हैं और त्रुटियाँ हमारी अल्पज्ञता—अज्ञताकी स्वाभाविक अनिवार्यता। अतः हमारी त्रुटियाँ पाठकोंके समक्ष इस दृष्टिसे क्षम्य होंगी और इस पुराणके उपयोगी, उपादेय वस्तुविषय सर्वथा रुचिप्रद, पठनीय, मननीय एवं अनुपालनीय होकर कल्याणकारी होंगे—यही हमारी आशा और आशंसा है।

भगवान् व्यासदेवकी कल्याणकारिणी लेखनीने पुराणोंको प्रस्तुत कर विश्वका—विशेषतः साधारण जनवर्गका, जो तत्त्वविमर्शी क्लिष्ट शास्त्रोंकी दुरूहता और प्रगल्भताको सरलतया आत्मसात् नहीं कर सकते, उनका—महान् कल्याण किया है। पुराण विद्या सर्वसुलभ, सबके लिये सुगम है और पुराण हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृतिके प्रकाश-स्तम्भ हैं, जिनसे हमारे जीवनका कल्याण-पक्ष प्रकाशित एवं निर्देशित है। पुराणोंमें हमारी संस्कृतिके मूर्तरूप तीर्थ, व्रत, पुरावृत्त, देवी देवताओं, सृष्टिक्रम (सर्ग-प्रतिसर्ग) राजवंशों, मन्वन्तरों आदिका सुनिपुण वर्णन तो मिलता ही है, नीति और धर्मके प्रशस्त विवेचन भी सोदाहरण प्रस्तुत हुए हैं। पुराण वेदार्थके उपबृंहण हैं, ज्ञान-विज्ञानकी सांस्कृतिक सम्पत्ति हैं। यदि हम पुराण-प्रदर्शित पथसे चलें, उनकी शिक्षा और

* इस जनवरी (१९८२) के विशेषाङ्कमें स्थानाभावसे हम पूरा वामनपुराण न दे सके, अतः अगले अङ्कमें इसे पूरा कर रहे हैं।

—सम्पादक

उपदेशोंका अनुपालन करें तो हमारा मङ्गलमय लोक और कल्याणमय परलोक—उभय साथ-साथ सिद्ध होते चले जायँ। आज जगद्गुरु भारतके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।

वामनपुराण अष्टादशपुराणोंकी शृङ्खलामें चौदहवीं कड़ीके रूपमें परिगणित है। इसमें भगवान् त्रिविक्रम (वामन) का माहात्म्य प्रमुखतया वर्णित है। इस पुराणमें मुख्यतः वामन-बलिके चरित्रके अतिरिक्त शिव-पार्वती एवं नर-नारायणकी कथा, विष्णु-शिव-संवाद, देवीमाहात्म्य, पृथूदक तीर्थ, कुरुजाङ्गल क्षेत्रादि तथा अनेक अन्य तीर्थों और मूर्तियोंका सुविशद वर्णन है। कई महत्त्वके स्तोत्र (सरस्वतीस्तोत्र, पापप्रशमनस्तोत्र, गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र प्रभृति) एवं प्रह्लाद श्रीदामा आदिके चरित्र वर्णित हैं। अनेक वर्णन और माहात्म्य भी सुन्दरतासे निरूपित हैं। व्रत चतुर्थीकथा, सत्यव्रतशीलकथा, गङ्गास्नानविधि, स्नान, गङ्गामाहात्म्य, नरसिंहावतारस्तोत्र, वाराहमाहात्म्य, मेरु गिरिमाहात्म्य आदि इसीके अन्तर्गत माने जाते हैं। थोड़ेमें यह कहा जा सकता है कि यह पुराण नितान्त उपयोगी अतएव सर्वथा उपादेय है। हिन्दी-अनुवादसहित यह पुराण ८३ वें अध्यायतक 'कल्याण'के छप्पनवें वर्षके प्रथम एवं विशेष अङ्कके रूपमें हम ग्राहकोंको भेंट कर रहे हैं। (शेष दूसरे (फरवरीके) अङ्कमें देकर उपर्युक्त पुराणको पूर्ण किया जा रहा है।)

यह पुराण वैष्णवपुराण तो है ही, शिव-पार्वतीके विशद चरित्र-वर्णन होनेसे शैव भी है। विष्णु और शिवके एकत्वका अनूठा प्रतिपादन इस पुराणकी अद्वितीय विशेषता है।

जिन श्रद्धेय सन्त-महात्माओं, पूज्य आचार्यों, मनीषी लेखकोंने शुभाशंसाएँ, शुभाशीर्वाद एवं रचनाएँ भेज कर हमें अनुगृहीत किया है, उनका चिरऋण हमारे ऊपर है और उनके प्रतिदानमें हम उनसे प्रणिपातपूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। वे सहज कृपालुता-वश हमें अनुगृहीत करते रहेंगे—ऐसी आशा है।

विशेषाङ्कके परिसीमित कलेवरमें स्थानाभावसे हम जिनके लेखादि न दे सके हैं, वे हमारी उस विवशताको देखते हुए क्षमा करेंगे जिससे हम बाध्य होकर प्रकृत जनवरीके अङ्कमें पूर्ण श्रीवामनपुराण ही न दे सके हैं और अगले अङ्कमें शेषांश देकर इसे पूरा करनेके लिये विवश हुए हैं।

वामनपुराणके अनुवाद करनेमें जिन प्रतियोंसे हमें यथास्थान सहायता मिली है उनके सहृदय प्रकाशकों एवं संस्थानोंके हम कृतज्ञ हैं और उनका हार्दिक आभार ज्ञापित करते हैं। पाठ-निर्धारणादि कार्योंमें हमें सर्वभारतीय काशिराजन्यासकी प्रतियोंसे और वेंकटेश्वर प्रेससे प्रकाशित संस्करण एवं मूल प्रतियोंसे उल्लेख्य सहायताएँ मिली हैं। हम इन दोनों संस्थाओंके विशेष आभारी हैं।

सम्पादन-कार्यमें जिन विद्वानों और कर्मचारियोंने मनोयोगसे हमारी सहायता की है, उन्हें हम धन्यवाद देते हैं। प्रूफ पढ़नेवाले एवं अन्य कर्मचारियोंने भी अपने कर्तव्यके प्रति तत्परता तथा कर्तव्यशीलता दिखलायी है। वे प्रशंसाके पात्र हैं।

कल्याणका कार्य भगवान्‌का कार्य है और 'श्रीवामनपुराणाङ्क' तो साक्षात् भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति ही है। इस मूर्तिकी सेवा-पूजामें जिनका सहयोग है, वे सुतरां कल्याणके भागी हैं, उनका कर्तव्य नित्य मङ्गलमयी हो— यही हमारी उन प्रभुसे प्रार्थना है।

—मोतीलाल जालान
(सम्पादक)

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

भगवान् वामनका स्तवन

अदितिरुवाच

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥
विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने ।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोधव्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ॥
आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मीर्द्योभूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः ।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात् त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥
(श्रीमद्भा० ८ । १७ । ८-१०)

अदितिने कहा—आप यज्ञके स्वामी हैं और स्वयं यज्ञ भी आप ही हैं। अच्युत! आपके चरणकमलोंका आश्रय लेकर लोग भवसागरसे तर जाते हैं, आपके यश-कीर्तनका श्रवण भी संसारसे तारनेवाला है। आपके नामोंके श्रवणमात्रसे ही कल्याण हो जाता है। आदिपुरुष! जो आपकी शरणमें आ जाता है, आप उसकी सारी विपत्तियोंका नाश कर देते हैं। भगवन्! आप दीनोंके स्वामी हैं। आप हमारा कल्याण कीजिये। आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं और विश्वरूप भी आप ही हैं। अनन्त होनेपर भी स्वच्छन्दतासे आप अनेक शक्ति और गुणोंको स्वीकार कर लेते हैं। आप सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। नित्य-निरन्तर बढ़ते हुए पूर्ण बोधके द्वारा आप हृदयके अन्धकारको नष्ट करते रहते हैं। भगवन्! मैं आपको नमस्कार करती हूँ। प्रभो! अनन्त! जब आप प्रसन्न हो जाते हैं, तब मनुष्योंको ब्रह्माजीकी दीर्घ आयु, उनके ही समान दिव्य शरीर, प्रत्येक अभीष्ट वस्तु, अतुलित धन, स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल, योगकी समस्त सिद्धियाँ, अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्ग और अद्वितीय ज्ञानतक प्राप्त हो जाता है, फिर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना आदि जो छोटी-छोटी कामनाएँ हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है।

Free of charge] संस्करण १,२०,००० [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]

शरणागत गजेन्द्रकी पाशोसे मुक्ति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ये मानवा विगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति।
ते धौतपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम्॥
(भीता० पु० ११।७१)

वर्ष ५६ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०७, फरवरी १९८२ ई० { संख्या २ पूर्ण संख्या ६६३

गजेन्द्रपर श्रीहरिका अनुग्रह

सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥
(श्रीमद्भा० ८।३।३२)

सरोवरके भीतर बलवान् ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ रखा था और वह अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। जब उसने देखा कि आकाशमें गरुडपर सवार होकर हाथमें चक्र लिये भगवान् श्रीहरि आ गये हैं, तब अपनी सूँड़में कमलका एक सुन्दर पुष्प लेकर उसने ऊपरको उठाया और बड़े कष्टसे बोला—'नारायण! जगद्गुरो! भगवन्! आपको नमस्कार है।'

शरणागत गजेन्द्रकी पाशोंसे मुक्ति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ये मानवा विगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति।
ते धौतपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम्॥
(भीवा० पु० ११ । ७१)

र्ष ५६ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०७, फरवरी १९८२ ई० | संख्या २
पूर्ण संख्या ६६२

गजेन्द्रपर श्रीहरिका अनुग्रह

सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥
(श्रीमद्भा० ८ । ३ । ३२)

सरोवरके भीतर बलवान् ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ रखा था और वह अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। जब उसने देखा कि आकाशमें गरुड़पर सवार होकर हाथमें चक्र लिये भगवान् श्रीहरि आ गये हैं, तब अपनी सूँड़में कमलका एक सुन्दर पुष्प लेकर उसने ऊपरको उठाया और बड़े कष्टसे बोला—'नारायण! जगद्गुरो! भगवन्! आपको नमस्कार है।'

[अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः]

नारद उवाच

यान् जप्यान् भगवद्भक्त्या प्रह्लादो दानवोऽजपत्। गजेन्द्रमोक्षणादींस्तु चतुरस्तान् वदस्व मे ॥ १ ॥

चौरासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(प्रह्लादके तीर्थयात्रा प्रसङ्गमें त्रिकूटगिरिस्थित सरोवरमें ग्राहद्वारा गजेन्द्रका पकड़ा जाना, गजेन्द्रद्वारा विष्णुकी स्तुति, गज-ग्राहका उद्धार एवं 'गजेन्द्रमोक्षणस्तोत्र'की फलश्रुति)

नारदजीने कहा—दनुवंशमें उत्पन्न हुए प्रह्लादने भगवान्‌की भक्तिसे भावित होकर जप (पाठ) करनेयोग्य गजेन्द्रमोक्षणादि जिन चार स्तोत्रोंका जप किया था उन चारों स्तोत्रोंको आप मुझे बतलावें ॥ १ ॥

पुलस्त्य उवाच

शृणुष्व कथयिष्यामि जप्यानेतांस्तपोधन। दुःस्वप्ननाशो भवति यैरुक्तैः संश्रुतैः स्मृतैः ॥ २ ॥
गजेन्द्रमोक्षणं त्वादौ शृणुष्व तदनन्तरम्। सारस्वतं ततः पुण्यौ पापप्रशमनौ स्तवौ ॥ ३ ॥
सर्वरत्नमयः श्रीमांस्त्रिकूटो नाम पर्वतः। सुतः पर्वतराजस्य सुमेरोर्भास्करद्युतेः ॥ ४ ॥
क्षीरोदजलवीच्यग्रैर्धौतामलशिलातलः। उत्थितः सागरं भित्त्वा देवर्षिगणसेवितः ॥ ५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—तपोधन! मैं उन (जप करनेयोग्य) स्तोत्रोंका वर्णन करता हूँ जिनके कहने, सुनने और स्मरण करनेसे दुःस्वप्नोंका विनाश होता है उसे आप सुनें। पहले गजेन्द्रमोक्षण-स्तोत्र सुनिये। उसके बाद सारस्वतस्तोत्र एवं उसके बाद पापोंके प्रशमन करनेवाले (दो पवित्र) स्तोत्रोंका वर्णन करूँगा। सूर्यके सदृश कान्तिवाले पर्वतराज सुमेरुका पुत्र सर्वरत्नोंसे भरा श्रीसे सम्पन्न त्रिकूट नामका एक पर्वत है। क्षीरसागरके जलकी लहरोंसे धुले हुए निर्मल शिलातलवाला वह पर्वत समुद्रका भेदन कर उसके ऊपर निकल आया है एवं देवता और ऋषिगण वहाँ सदा निवास करते हैं ॥ २—५ ॥

अप्सरोभिः परिवृतः श्रीमान् प्रस्रवणाकुलः। गन्धर्वैः किन्नरैर्यक्षैः सिद्धचारणपन्नगैः ॥ ६ ॥
विद्याधरैः सपत्नीकैः संयतैश्च तपस्विभिः। वृकद्वीपिगजेन्द्रैश्च वृतगात्रो विराजते ॥ ७ ॥
पुंनागैः कर्णिकारैश्च बिल्वामलकपाटलैः। चूतनीपकदम्बैश्च चन्दनागुरुचम्पकैः ॥ ८ ॥
शालैस्तालैस्तमालैश्च सरलार्जुनपर्पटैः। तथान्यैर्विविधैर्वृक्षैः सर्वतः समलङ्कृतः ॥ ९ ॥

अप्सराओंसे घिरा, झरते हुए झरनोंवाला, गन्धर्वों, किन्नरों, यक्षों, सिद्धों, चारणों, पन्नगों, पत्नीके साथ विद्याधरों, संयमका पालन करनेवाले तपस्वियों और भेड़ियों, चीतों एवं गजेन्द्रोंसे भरा-पूरा वह शोभाशाली पर्वत अत्यन्त सुशोभित है। पुनाग, कर्णिकार, बिल्व, आमलक, पाटल, आम, नीप, कदम्ब, चन्दन, अगुरु, चम्पक, शाल, ताल, तमाल, सरल, अर्जुन, पर्पट तथा दूसरे बहुत प्रकारके वृक्षोंसे यह पर्वत सब तरहसे सुशोभित है ॥ ६—९ ॥

नानाधात्वङ्कितैः शृङ्गैः प्रस्रवद्भिः समन्ततः। शोभितो रुचिरप्रख्यैस्त्रिभिर्विस्तीर्णसानुभिः ॥ १० ॥
मृगैः शाखामृगैः सिंहैर्मातङ्गैश्च सदामदैः। जीवञ्जीवकसंघुष्टैश्चकोरशिखिनादितैः ॥ ११ ॥
तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गं सेवते यं दिवाकरः। नानापुष्पसमाकीर्णं नानागन्धाधिवासितम् ॥ १२ ॥
द्वितीयं राजतं शृङ्गं सेवते यं निशाकरः। पाण्डुराम्बुदसंकाशं तुषारचयसंनिभम् ॥ १३ ॥

यह पर्वत भाँति-भाँतिकी धातुओंसे चमकती चोटियों, चारों ओरसे बहनेवाले झरनों और अत्यन्त मनोहर तथा दूर देशमें फैले हुए तीन शिखरोंसे शोभित है। यह पर्वत हरिण, बन्दर, सिंह, मदसे मतवाले हाथी,

✿

चातक, चकोर एवं मोर आदिके शब्दोंसे सदा शब्दायमान होता रहता है। कई प्रकारके फूलोंसे भरे-पूरे एवं तरह तरहकी सुगन्धोंसे सुवासित उसके एक सुनहले शिखरका सेवन सूर्य करते हैं। सफेद बादलोंकी तरह एवं बर्फके ढेरके समान चाँदी-जैसी उसकी दूसरी चोटीका सेवन चन्द्रमा करते हैं॥ १०—१३॥

वज्रेन्द्रनीलवैदूर्यतेजोभिर्भासयन् दिशः। तृतीयं ब्रह्मसदनं प्रकृष्टं शृङ्गमुत्तमम्॥ १४॥
न तद् कृतघ्ना पश्यन्ति न नृशंसा न नास्तिकाः। नातप्ततपसो लोके ये च पापकृतो जनाः॥ १५॥
तस्य सानुमतः पृष्ठे सरः काञ्चनपङ्कजम्। कारण्डवसमाकीर्णं राजहंसोपशोभितम्॥ १६॥
कुमुदोत्पलकह्लारैः पुण्डरीकैश्च मण्डितम्। कमलैः शतपत्रैश्च काञ्चनैः समलङ्कृतम्॥ १७॥
पत्रैर्मरकतप्रख्यैः पुष्पैः काञ्चनसंनिभैः। गुल्मैः कीचकवेणूनां समन्तात् परिवेष्टितम्॥ १८॥

हीरा, इन्द्रनील, वैदूर्य आदि रत्नोंकी चमकसे दिशाओंको प्रकाशित करनेवाला उसका अत्यन्त उत्तम तीसरा शिखर ब्रह्माका निवास-स्थान है। कृतघ्न, क्रूर, नास्तिक, तपस्यासे हीन एवं लोकमें पापकर्म करनेवाले मनुष्य उसे नहीं देख सकते। उस पर्वतके पीछेकी ओर कमलोंसे युक्त, कारण्डव पक्षियोंसे भरे, राजहंसोंसे सुशोभित, कुमुद, उत्पल, कह्लार, पुण्डरीक आदि अनेक प्रकारके सुनहले कमलोंसे अलङ्कृत एवं सुनहले शतपत्रोंवाले तथा अन्य प्रकारके कमलोंसे (और भी) सुशोभित एवं मरकतके सदृश पत्तों तथा सोनेके समान पुष्पों और हवासे चूँ-चूँ शब्द करनेवाले बाँसके झाड़ोंसे चारों ओरसे घिरा एक सरोवर है॥ १४—१८॥

तस्मिन् सरसि दुष्टात्मा विरूपोऽन्तर्जलेशयः। आसीद् ग्राहो गजेन्द्राणां रिपुराकेकरेक्षणः॥ १९॥
अथ दन्तोज्ज्वलमुखः कदाचिद् गजयूथपः। मदस्रावी जलाकाङ्क्षी पादचारीव पर्वतः॥ २०॥
वासयन् मदगन्धेन गिरिमैरावतोपमः। गजो ह्यञ्जनसंकाशो मदाच्चलितलोचनः॥ २१॥
तृषितः पातुकामोऽसौ अवतीर्णश्च तज्जलम्। सलीलः पङ्कजवने यूथमध्यगतश्चरन्॥ २२॥
गृहीतस्तेन रौद्रेण ग्राहेणाव्यक्तमूर्तिना। पश्यन्तीनां करेणूनां क्रोशन्तीनां च दारुणम्॥ २३॥
ह्रियते पङ्कजवने ग्राहेणातिबलीयसा। वारुणैः संयतः पाशैर्निष्प्रयत्नगतिः कृतः॥ २४॥

उस सरोवरके जलमें हाथियोंका शत्रु दुष्ट स्वभावका आधी खुली आँखोंवाला कुरूप एक मगर रहता था। एक समय उज्ज्वल दाँतोंवाला, मदस्रावी, पैरसे चलनेवाले पर्वतके समान, मदके गन्धसे वासित ऐरावतके सदृश अञ्जनकी भाँति काला, मदके कारण चञ्चल नेत्रोंवाला, प्यासा एक गजयूथपति पानी पीनेकी इच्छासे उस सरोवरके जलमें पैठा और कमलोंके समूहमें अपने झुंडके बीचमें रहकर क्रीडा करने लगा। (जलके भीतर) अपने शरीरको छिपाये हुए एक भयंकर ग्राहने उसे पकड़ लिया। करुण स्वरसे चिग्घाड़ कर रही हथिनियोंके देखते-ही-देखते अत्यन्त बलवान् ग्राह उसे कमलोंसे संकुल जलमें खींच ले गया और वरुणके पाशोंसे बाँधकर उसे चेष्टारहित एवं गतिहीन (विवश) कर दिया॥ १९—२४॥

वेष्ट्यमानः सुघोरैस्तु पाशैर्नागो दृढैस्तथा। विस्फूर्य च यथाशक्ति विक्रोशंश्च महारवान्॥ २५॥
व्यथितः स निरुत्साहो गृहीतो घोरकर्मणा। परमापदमापन्नो मनसाऽचिन्तयद्धरिम्॥ २६॥
स तु नागवरः श्रीमान् नारायणपरायणः। तमेव शरणं देवं गतः सर्वात्मना तदा॥ २७॥
एकात्मा निगृहीतात्मा विशुद्धेनान्तरात्मना। जन्मजन्मान्तराभ्यासाद् भक्तिमान् गरुडध्वजे॥ २८॥
नान्यं देवं महादेवात् पूजयामास केशवात्। मथितामृतफेनाभं शङ्खचक्रगदाधरम्॥ २९॥
सहस्रशुभनामानमादिदेवमजं विभुम्।
प्रगृह्य पुष्करायेण काञ्चनं कमलोत्तमम्। आपद्विमोक्षमन्विच्छन् गजः स्तोत्रमुदीरयत्॥ ३०॥

वहाँ सुदृढ़ और भयङ्कर पाशोंसे आबद्ध हो जानेके कारण गजराज यथाशक्ति छटपटाकर ऊँचे स्वरसे चिग्घाड़ने लगा। क्रूर कर्मवाले (उस ग्राह) के द्वारा पकड़ जानेपर वह पीड़ित और उत्साहरहित हो गया। भारी विपत्तिमें पड़कर वह मनसे भगवान् श्रीहरिका ध्यान करने लगा। वह सुन्दर गजराज (पूर्वजन्मका) नारायणका भक्त था। इसलिये वह उस समय सर्वतोभावेन उन्हीं देवकी शरणमें प्राप्त हो गया। वह गजराज जन्म-जन्मान्तरके अभ्याससे एकाग्र एवं संयतचित्त होकर विशुद्ध अन्तःकरणसे गरुडध्वज भगवान् विष्णुकी भक्तिमें लग गया था। उसने महान् देव केशव (श्रीविष्णु) के सिवा अन्य देवताकी पूजा नहीं की। उस गजने मथे हुए अमृतके फेनके समान कान्तिवाले, शङ्ख तथा चक्र और गदाको धारण करनेवाले, सहस्रों शुभ नामोंवाले, आदिदेव एवं अजन्मा सर्वव्यापक विष्णु (नारायण) का ध्यान किया और अपने शुण्डके अग्रभागमें एक उत्तम स्वर्ण-कमल लेकर (इस) आपत्तिसे मुक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे इस स्तोत्रका पाठ करने लगा ॥ २५-३० ॥

गजेन्द्र उवाच

ॐ नमो मूलप्रकृतये अजिताय महात्मने। अनाश्रिताय देवाय निःस्पृहाय नमोऽस्तु ते ॥ ३१ ॥
नम आद्याय बीजाय आर्षेयाय प्रवर्तिने। अनन्तराय चैकाय अव्यक्ताय नमो नमः ॥ ३२ ॥
नमो गुह्याय गूढाय गुणाय गुणवर्तिने। अतर्क्यायाप्रमेयाय अतुलाय नमो नमः ॥ ३३ ॥
नमः शिवाय शान्ताय निश्चिन्ताय यशस्विने। सनातनाय पूर्वाय पुराणाय नमो नमः ॥ ३४ ॥

गजेन्द्र बोला—ॐ मूलप्रकृतिस्वरूप महान् आत्मा अजित विष्णुभगवान्‌को नमस्कार है। अन्योंपर आश्रित न रहनेवाले एवं (किसी वस्तुकी आसक्तिकी) इच्छासे रहित आप देवको नमस्कार है। आद्यबीजस्वरूप, ऋषियोंके आराध्यदेव संसारचक्रके प्रवर्तक आपको नमस्कार है। अन्तररहित—सर्वत्र व्याप्त एकमात्र अव्यक्तको पुनः-पुनः नमस्कार है। गुह्य, गूढ़, गुणस्वरूप एवं गुणोंमें रहनेवालेको नमस्कार है। तर्कसे अतीत, निर्णयात्मिका बुद्धिसे भी नहीं समझे जानेयोग्य, अतुलनीय (आप) को बार-बार नमस्कार है। प्रथम मङ्गलमय, शान्त, निश्चिन्त, यशस्वी, सनातन और पुराणपुरुषको बार-बार नमस्कार है ॥ ३१-३४ ॥

नमो देवाधिदेवाय स्वभावाय नमो नमः। नमो जगत्प्रतिष्ठाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ३५ ॥
नमोऽस्तु पद्मनाभाय नमो योगोद्भवाय च। विश्वेश्वराय देवाय शिवाय हरये नमः ॥ ३६ ॥
नमोऽस्तु तस्मै देवाय निर्गुणाय गुणात्मने। नारायणाय विश्वाय देवानां परमात्मने ॥ ३७ ॥
नमो नमः कारणवामनाय नारायणायामितविक्रमाय।
श्रीशार्ङ्गचक्रासिगदाधराय नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ॥ ३८ ॥

आप देवाधिदेवको नमस्कार है। स्वभावस्वरूपी आपको बार-बार नमस्कार है। जगत्‌की प्रतिष्ठा करनेवाले (आप) को नमस्कार है। गोविन्दको बार-बार नमस्कार है। पद्मनाभको नमस्कार है और योगसे उत्पन्न होनेवाले (आप) योगेश्वरको नमस्कार है। विश्वेश्वर, देव, शिव, हरिको नमस्कार है। निर्गुण और गुणात्मन (प्रसिद्ध) देवको नमस्कार है। विश्वात्मा नारायण एवं देवोंके परम आत्मा (आप) को नमस्कार है। कारणवश वामनरूप धारण करनेवाले, अतुल विक्रमवाले नारायणको नमस्कार है। श्री, शार्ङ्ग, चक्र, तलवार एवं गदा धारण करनेवाले उन पुरुषोत्तमको नमस्कार है ॥ ३५-३८ ॥

गुह्याय वेदनिलयाय महोदराय सिंहाय दैत्यनिधनाय चतुर्भुजाय।
ब्रह्मेन्द्ररुद्रमुनिचारणसंस्तुताय देवोत्तमाय वरदाय नमोऽच्युताय ॥ ३९ ॥
नागेन्द्रदेहशयनासनसुप्रियाय गोक्षीरहेमशुकनीलघनोपमाय।
पीताम्बराय मधुकैटभनाशनाय विश्वाय चारुमुकुटाय नमोऽजराय ॥ ४० ॥

नाभिप्रजातकमलस्थचतुर्मुखाय क्षीरोदकार्णवनिकेतयशोधराय।
नानाविचित्रमुकुटाङ्गदभूषणाय सर्वेश्वराय वरदाय नमो वराय ॥ ४१ ॥
भक्तिप्रियाय वरदीप्तसुदर्शनाय फुल्लारविन्दविपुलायतलोचनाय।
देवेन्द्रविघ्नशमनोद्यतपौरुषाय योगेश्वराय विरजाय नमो वराय ॥ ४२ ॥

गुह्य, वेदनिलय, महोदर, दैत्योंके निधनके लिये सिंहरूप धारण करनेवाले, चार भुजाओंवाले, ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, मुनि तथा चारणोंके द्वारा स्तुत किये गये वरदानी देवोत्तम अच्युत भगवान्‌को नमस्कार है। शेषनागके शरीरपर प्रसन्नतापूर्वक शयन करनेवाले, गोदुग्ध, स्वर्ण, शुक एवं नीलघनकी उपमासे युक्त, पीला वस्त्र धारण करनेवाले, मधु-कैटभका विनाश करनेवाले, सुन्दर मुकुट धारण करनेवाले, वृद्धावस्थासे रहित, विश्वकी आत्मा आप देवको नमस्कार है। नाभिसे उत्पन्न हुए कमलपर स्थित ब्रह्मासे युक्त, क्षीरसमुद्रको अपना निवास बनानेवाले, यशस्वी, अनेक प्रकारके विचित्र मुकुट एवं अङ्गद आदि आभूषणोंसे युक्त, वरदानी तथा वरस्वरूप सर्वेश्वरको नमस्कार है। भक्तिके प्रेमी, श्रेष्ठ दीप्तिसे सर्वथा पूर्ण सुन्दर दिव्यदर्शी देनेवाले, खिले हुए कमलके समान विशाल आँखोंवाले, देवेन्द्रके विघ्नोंका विनाश करनेके लिये पुरुषार्थ करनेको उद्यत वरस्वरूप, विरज योगेश्वरको नमस्कार है ॥ ३९-४२ ॥

ब्रह्मायनाय त्रिदशायनाय लोकाधिनाथाय भवापनाय।
नारायणायात्महितायनाय महावराहाय नमस्करोमि ॥ ४३ ॥
कूटस्थमव्यक्तमचिन्त्यरूपं नारायणं कारणमादिदेवम्।
युगान्तशेषं पुरुषं पुराणं तं देवदेवं शरणं प्रपद्ये ॥ ४४ ॥
योगेश्वरं चारुविचित्रमौलिमज्ञेयमग्र्यं प्रकृतेः परस्थम्।
क्षेत्रज्ञमात्मप्रभवं वरेण्यं तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ॥ ४५ ॥
अदृश्यमव्यक्तमचिन्त्यमव्ययं महर्षयो ब्रह्ममयं सनातनम्।
वदन्ति यं वै पुरुषं सनातनं तं देवगुह्यं शरणं प्रपद्ये ॥ ४६ ॥

ब्रह्मा और अन्य देवोंके आगारस्वरूप, लोकाधिनाथ, भवहर्ता, नारायण आत्महितके आश्रयस्थान महावराहको नमस्कार करता हूँ। मैं कूटस्थ, अव्यक्त, अचिन्त्य रूपवाले, कारणस्वरूप, आदिदेव नारायण, युगान्तमें शेष रहनेवाले पुराणपुरुष, देवाधिदेवकी शरण ग्रहण करता हूँ। मैं योगेश्वर, सुन्दर विचित्र रत्नोंसे युक्त मुकुटको धारण करनेवाले, अज्ञेय, सर्वश्रेष्ठ, प्रकृतिके परे अवस्थित, क्षेत्रज्ञ, आत्मप्रभव, वरेण्य उन वासुदेवकी शरण ग्रहण करता हूँ। महर्षिजन जिन्हें अदृश्य, अव्यक्त, अचिन्तनीय, अव्यय, ब्रह्ममय और सनातन पुरुष कहते हैं, उन देवगुह्यकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ४३-४६ ॥

यदक्षरं ब्रह्म वदन्ति सर्वगं निशम्य यं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।
तमीश्वरं तृप्तमनुत्तमैर्गुणैः परायणं विष्णुमुपैमि शाश्वतम् ॥ ४७ ॥
कार्यं क्रिया कारणमप्रमेयं हिरण्यबाहुं वरपद्मनाभम्।
महाबलं वेदनिधिं सुरेशं व्रजामि विष्णुं शरणं जनार्दनम् ॥ ४८ ॥
किरीटकेयूरमहार्हनिष्कैर्मण्युत्तमालङ्कृतसर्वगात्रम्।
पीताम्बरं काञ्चनभक्तिचित्रं मालाधरं केशवमभ्युपैमि ॥ ४९ ॥
भवोद्भवं वेदविदां वरिष्ठं योगात्मनां सांख्यविदां वरिष्ठम्।
आदित्यरुद्राश्विवसुप्रभावं प्रभुं प्रपद्येऽच्युतमात्मवन्तम् ॥ ५० ॥

(ब्रह्मवेत्ता) जिसे अक्षर एवं सर्वव्यापी ब्रह्म कहते हैं तथा जिसके श्रवणसे मृत्युके मुखसे मुक्ति मिल जाती है, मैं उसी श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त, आत्मतृप्त, शाश्वत आश्रयस्वरूप ईश्वरकी शरण ग्रहण करता हूँ। मैं कार्य, क्रिया और कारणस्वरूप, प्रमाणसे अगम्य, हिरण्यबाहु, नाभिमें श्रेष्ठ कमल धारण करनेवाले, महायशस्वी, वेदोंकी निधि, सुरेश्वर जनार्दन विष्णुकी शरणमें जाता हूँ। मैं किरीट, केयूर एवं अतिमूल्यवान् श्रेष्ठ मणियोंसे सुसज्जित समस्त शरीरवाले, पीताम्बर धारण करनेवाले, स्वर्णिम पत्र-रचनासे अलङ्कृत, माला धारण करनेवाले केशवकी शरणमें जाता हूँ। मैं संसारको उत्पन्न करनेवाले, वेदके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ, योगात्माओं तथा सांख्यशास्त्रके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ, आदित्य, रुद्र, अश्विनीकुमार एवं वसुओंके प्रभावसे युक्त अच्युत, आत्मस्वरूप प्रभुकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ४७–५० ॥

श्रीवत्साङ्कं महादेवं देवगुह्यमनौपमम्। प्रपद्ये सूक्ष्ममचलं वरेण्यमभयप्रदम् ॥ ५१ ॥
प्रभवं सर्वभूतानां निर्गुणं परमेश्वरम्। प्रपद्ये मुक्तसङ्गानां यतीनां परमां गतिम् ॥ ५२ ॥
भगवन्तं गुणाध्यक्षमक्षरं पुष्करेक्षणम्। शरण्यं शरणं भक्त्या प्रपद्ये भक्तवत्सलम् ॥ ५३ ॥
त्रिविक्रमं त्रिलोकेशं सर्वेषां प्रपितामहम्। योगात्मानं महात्मानं प्रपद्येऽहं जनार्दनम् ॥ ५४ ॥
आदिदेवमजं शम्भुं व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्। नारायणमणीयांसं प्रपद्ये ब्राह्मणप्रियम् ॥ ५५ ॥

मैं श्रीवत्स-चिह्न धारण करनेवाले, महान् देव, देवताओंमें गुह्य, उपमासे रहित, सूक्ष्म, अचल तथा अभय देनेवाले वरेण्य देवकी शरण ग्रहण करता हूँ। मैं समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले, निर्गुण, निःसङ्ग, यम और नियमका पालन करनेवाले संन्यासियोंकी परम गतिस्वरूप परमेश्वरकी शरण ग्रहण करता हूँ। मैं गुणाध्यक्ष, अक्षर, कमलनयन, आश्रय ग्रहण करनेयोग्य, शरण देनेवाले, भक्तोंसे प्रेम रखनेवाले भगवान्‌की श्रद्धापूर्वक शरण ग्रहण करता हूँ। मैं तीन पगोंमें तीनों लोकोंको नाप लेनेवाले, तीनों लोकोंके ईश्वर, सभीके प्रपितामह, योगकी मूर्ति, महात्मा जनार्दनकी शरण ग्रहण करता हूँ। मैं आदिदेव, अजन्मा, शम्भु, व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप, सनातन, परम सूक्ष्म, ब्राह्मणप्रिय नारायणकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ५१–५५ ॥

नमो वराय देवाय नमः सर्वसहाय च। प्रपद्ये देवदेवेशमणीयांसमणोः सदा ॥ ५६ ॥
एकाय लोकतत्त्वाय परतः परमात्मने। नमः सहस्रशिरसे अनन्ताय महात्मने ॥ ५७ ॥
त्वामेव परमं देवमृषयो वेदपारगाः। कीर्तयन्ति च यं सर्वे ब्रह्मादीनां परायणम् ॥ ५८ ॥
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष भक्तानामभयप्रद। सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु त्राहि मां शरणागतम् ॥ ५९ ॥

श्रेष्ठ देवको नमस्कार है। सर्वशक्तिमान्‌को नमस्कार है। मैं सदा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म देवदेवेशकी शरण हूँ। लोकतत्त्वस्वरूप, एकमात्र, परात्पर परमात्मा, सहस्रशीर्ष महात्मा अनन्तको नमस्कार है। वेदोंके पारगामी ऋषिगण आपको ही परम देव एवं ब्रह्मा आदि देवोंका आश्रयस्थान कहते हैं। हे पुण्डरीकाक्ष! हे भक्तोंको अभयदान देनेवाले! आपको नमस्कार है। सुब्रह्मण्य! आपको नमस्कार है। आप मुझ शरणागतकी रक्षा करें ॥ ५६–५९ ॥

पुलस्त्य उवाच

भक्तिं तस्यानुसंचिन्त्य नागस्यामोघसंश्रयः। प्रीतिमानभवद् विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ६० ॥
सांनिध्यं कल्पयामास तस्मिन् सरसि केशवः। गरुडस्थो जगत्स्वामी लोकाधारस्तपोमयः ॥ ६१ ॥
ग्राहग्रस्तं गजेन्द्रं तं तं च ग्राहं जलाशयात्। उज्जहाराप्रमेयात्मा तरसा मधुसूदनः ॥ ६२ ॥

ग्राहस्य दारयामास ग्राहं चक्रेण माधवः। मोक्षयामास नागेन्द्रं पाशेभ्यः शरणागतम् ॥ ६३ ॥
स हि देवलशापेन हूहूर्गन्धर्वसत्तम। ग्राहत्वमगमत् कृष्णाद् वधं प्राप्य दिवंगतः ॥ ६४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—शङ्ख, चक्र एवं गदाको धारण करनेवाले, सफलताके आश्रय विष्णु उस गजेन्द्रकी भक्तिका विचार कर प्रसन्न हो गये। उसके बाद संसारके आधार जगत्स्वामी तपोधन केशव गरुडपर सवार हो उस सरोवरके निकट गये। अप्रमेय आत्मस्वरूप मधुसूदनने ग्राहके द्वारा पकड़े गये उस गजेन्द्र तथा उस ग्राहको वेगपूर्वक सरोवरसे बाहर निकाला। माधवने पृथ्वीपर स्थित ग्राहको चक्रके द्वारा विदीर्ण कर शरणापन्न गजेन्द्रको बन्धनसे मुक्त कर दिया। देवलके शापसे ग्राह बना हुआ गन्धर्वश्रेष्ठ हूहू भगवान् श्रीकृष्णसे मृत्यु पाकर स्वर्ग चला गया ॥ ६०—६४ ॥

गजोऽपि विष्णुना स्पृष्टो जातो दिव्यवपुः पुमान्। आपद्विमुक्तौ युगपद् गजगन्धर्वसत्तमौ ॥ ६५ ॥
प्रीतिमान् पुण्डरीकाक्षः शरणागतवत्सलः। अभवत् त्वथ देवेशस्ताभ्यां चैव प्रपूजितः ॥ ६६ ॥
इदं च भगवान् योगी गजेन्द्रं शरणागतम्। प्रोवाच मुनिशार्दूल मधुरं मधुसूदनः ॥ ६७ ॥

भगवान् विष्णुका स्पर्श होनेसे वह हाथी भी दिव्य शरीर धारण करनेवाला पुरुष हो गया। इस प्रकार हाथी एवं गन्धर्वश्रेष्ठ दोनों एक ही साथ सकटसे मुक्त हो गये। मुनिवर! उसके बाद उन दोनोंसे पूजित होकर शरणागतवत्सल पुण्डरीकाक्ष देवेश प्रसन्न हुए और उन योगी भगवान मधुसूदनने शरणागत गजेन्द्रसे यह मधुर वचन कहा—॥ ६५—६७ ॥

श्रीभगवानुवाच

ये मां त्वां च सरश्चैव ग्राहस्य च विदारणम्। गुल्मकीचकरेणूनां रूपं मेरोः सुतस्य च ॥ ६८ ॥
अश्वत्थं भास्करं गङ्गां नैमिषारण्यमेव च। संस्मरिष्यन्ति मनुजाः प्रयताः स्थिरबुद्धयः ॥ ६९ ॥
कीर्तयिष्यन्ति भक्त्या च श्रोष्यन्ति च शुचिव्रताः। दुःस्वप्नो नश्यते तेषां सुस्वप्नश्च भविष्यति ॥ ७० ॥
मात्स्यं कौर्मं च वाराहं वामनं तार्क्ष्यमेव च। नारसिंहं च नागेन्द्रं सृष्टिप्रलयकारकम् ॥ ७१ ॥
एतानि प्रातरुत्थाय संस्मरिष्यन्ति ये नराः। सर्वपापैः प्रमुच्यन्ते पुण्यं लोकमवाप्नुयुः ॥ ७२ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—स्थिर बुद्धिसे पवित्र व्रत धारण करनेवाले जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक मेरा, तुम्हारा तथा इस सरोवरका एवं ग्राहके विदारण, गुल्म, कीचक, रेणु एवं मेरु पुत्रके रूप, पीपल, सूर्य, गङ्गा और नैमिषारण्यका श्रद्धापूर्वक स्मरण एवं कीर्तन तथा श्रवण करेंगे उनके दुःस्वप्नका विनाश हो जायगा एवं सुस्वप्नकी सृष्टि होगी। जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, वामनावतार, गरुड, नरसिंहावतार, गजेन्द्र और सृष्टि-प्रलय करनेवाले-(भगवान्) का स्मरण करेंगे, वे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यलोकको प्राप्त करेंगे ॥ ६८—७२ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशो गजेन्द्रं गरुडध्वजः। स्पर्शयामास हस्तेन गजं गन्धर्वमेव च ॥ ७३ ॥
ततो दिव्यवपुर्भूत्वा गजेन्द्रो मधुसूदनम्। जगाम शरणं विप्र नारायणपरायणः ॥ ७४ ॥
ततो नारायणः श्रीमान् मोक्षयित्वा गजोत्तमम्। पापबन्धाच्च शापाच्च ग्राहं चाद्भुतकर्मकृत् ॥ ७५ ॥
ऋषिभिः स्तूयमानश्च देवगुह्यपरायणैः। गतः स भगवान् विष्णुर्दुर्विज्ञेयगतिः प्रभुः ॥ ७६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी !) गजेन्द्रसे ऐसा कहकर गरुडध्वज हृषीकेशने हाथसे गजेन्द्र और ग्राह दोनोंका स्पर्श किया । हे विप्र ! उसके बाद नारायणकी आराधना करनेमें लीन गजेन्द्र दिव्य शरीर धारणकर मधुसूदनकी शरणमें चला गया । उसके बाद अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीमान् नारायणने गजोत्तम एवं मकरको पाशबन्धसे एवं शापसे मुक्त किया । भगवद्भक्त ऋषियोंद्वारा स्तुत होते हुए वे अविज्ञेय गतिवाले प्रभु भगवान् विष्णु (अपने धाम) चले गये ॥ ७३–७६ ॥

गजेन्द्रमोक्षणं दृष्ट्वा देवाः शक्रपुरोगमाः । ववन्दिरे महात्मानं प्रभुं नारायणं हरिम् ॥ ७७ ॥
महर्षयश्चारणाश्च दृष्ट्वा गजविमोक्षणम् । विस्मयोत्फुल्लनयनाः संस्तुवन्ति जनार्दनम् ॥ ७८ ॥
प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा चक्रपाणिविचेष्टितम् । गजेन्द्रमोक्षणं दृष्ट्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ ७९ ॥
य इदं शृणुयान्नित्यं प्रातरुत्थाय मानवः । प्राप्नुयात् परमां सिद्धिं दुःस्वप्नस्तस्य नश्यति ॥ ८० ॥

गजेन्द्रके मोक्षको देखकर इन्द्र आदि देवोंने महात्मा प्रभु नारायण श्रीहरिकी वन्दना की । गजको ग्राहसे मुक्त हुए देखकर विस्मयसे खिले नेत्रोंवाले महर्षियों एवं चारणोंने जनार्दनकी स्तुति की । चक्रपाणिके गजेन्द्रमोक्षणरूपी कर्मको देखकर प्रजापति ब्रह्माने यह वचन कहा—जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर प्रतिदिन इसे सुनेगा, वह परमसिद्धिको प्राप्त करेगा और उसका दुःस्वप्न विनष्ट हो जायगा ॥ ७७–८० ॥

गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
कथितेन स्मृतेनाथ श्रुतेन च तपोधन । गजेन्द्रमोक्षणेनेह सद्यः पापात् प्रमुच्यते ॥ ८१ ॥
एतत्पवित्रं परमं सुपुण्यं संकीर्तनीयं चरितं मुरारेः ।
यस्मिन् किलोक्ते बहुपापबन्धनात् लभ्येत मोक्षो द्विरदेन यद्वत् ॥ ८२ ॥
अजं वरेण्यं वरपद्मनाभं नारायणं ब्रह्मनिधिं सुरेशम् ।
तं देवगुह्यं पुरुषं पुराणं वन्दाम्यहं लोकपतिं वरेण्यम् ॥ ८३ ॥

तपोधन ! गजेन्द्रमोक्ष पवित्र और सब प्रकारके पापोंका नाश करनेवाला है । इस गजेन्द्रमोक्षके कहने, स्मरण करने और सुननेसे मनुष्य तुरत सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । मुरारि विष्णुका यह पवित्र चरित्र पुण्य प्रदान करनेवाला तथा कीर्तन करने योग्य है । इसे पढ़नेसे मनुष्य गजेन्द्रके समान अनेक पापोंके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है । मैं अज, वरेण्य, श्रेष्ठ, पद्मनाभ, नारायण, ब्रह्मनिधि, सुरेश, देवगुह्य, पुराणपुरुष उन लोकस्वामीकी वन्दना करता हूँ ॥ ८१–८३ ॥

पुलस्त्य उवाच

एतद् मयोक्तं प्रवरं स्तवानां स्तवं मुरारेर्वरनागकीर्तनम् ।
यं कीर्त्य संश्रुत्य तथा विचिन्त्य पापात्प्रमोक्षं पुरुषो लभेत ॥ ८४ ॥

इति श्रीवामनपुराणे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

पुलस्त्यजी बोले—स्तुतियोंमें श्रेष्ठ गजेन्द्रद्वारा कीर्तित मुरारिके इस श्रेष्ठ स्तोत्रको मैंने तुमसे कहा । इसके कीर्तन, श्रवण तथा चिन्तन करनेसे मनुष्य पापोंसे विमुक्ति पा जाता है ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें चौरासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८४ ॥

[अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

कश्चिदासीद् द्विजद्रोग्धा पिशुनः क्षत्रियाधमः। परपीडारुचिः क्षुद्रः स्वभावादपि निर्घृणः ॥ १ ॥
पर्यासिता सदा तेन पितृदेवद्विजातयः। स त्वायुषि परिक्षीणे जज्ञे घोरो निशाचरः ॥ २ ॥
तेनैव कर्मदोषेण स्वेन पापकृतां वरः। क्रूरैश्चक्रे ततो वृत्तिं राक्षसत्वाद् विशेषतः ॥ ३ ॥
तस्य पापरतस्यैव जग्मुर्वर्षशतानि तु। तेनैव कर्मदोषेण नान्यां वृत्तिमरोचयत् ॥ ४ ॥
यं यं पश्यति सत्त्वं स तं तं समादाय राक्षसः। चखाद रौद्रकर्मासौ बाहुगोचरमागतम् ॥ ५ ॥

पचासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(सारस्वतस्तोत्रके संदर्भमें विष्णुपञ्जरस्तोत्र, सारस्वतस्तव-कथन-प्रसङ्गमें राक्षस-वृत्तान्त, राक्षसमस्त मुनिकी अग्नि-प्रार्थना, सारस्वतस्तोत्र और मुनिद्वारा राक्षसको उपदेश)

पुलस्त्यजी बोले—(नारदजी!) ब्राह्मणसे वैर और घृणा रखनेवाला, चुगलखोर, दूसरोंको कष्ट देनेवाला, नीच, स्वभावसे भी निर्दय एक अधम क्षत्रिय था। उसने सदा ही पितरों, देवों एवं द्विजातियोंका अपमान किया। आयु समाप्त होनेपर वह भयंकर राक्षस हुआ। अपने उसी कर्मके दोष एवं विशेषकर राक्षस होनेके कारण वह नीच पापी अशुभ कर्मोंद्वारा जीवनका निर्वाह करता रहा। पापकर्म करते हुए उसके सौ वर्ष बीत गये। उसी कर्म-दोषके कारण जीविकाके दूसरे साधनोंमें उसकी इच्छा नहीं होती थी। वह निन्दनीय कर्म करनेवाला राक्षस जिस प्राणीको देखता उसे अपनी भुजाओंसे पकड़कर खा जाता था ॥ १–५ ॥

एवं तस्यातिदुष्टस्य कुर्वतः प्राणिनां वधम्। जगाम च महान् कालः परिणामं तथा वयः ॥ ६ ॥
स कदाचित् तपस्यन्तं ददर्श सरितस्तटे। महाभागमूर्ध्वभुजं यथावत्संयतेन्द्रियम् ॥ ७ ॥
अनया रक्षया ब्रह्मन् कृतरक्षं तपोनिधिम्। योगाचार्यं शुचिं दक्षं वासुदेवपरायणम् ॥ ८ ॥
विष्णुः प्राच्यां स्थितश्चक्री विष्णुर्दक्षिणतो गदी। प्रतीच्यां शार्ङ्गधृग्विष्णुर्विष्णुः खड्गी ममोत्तरे ॥ ९ ॥
हृषीकेशो विकोणेषु तच्छिद्रेषु जनार्दनः। क्रोडरूपी हरिर्भूमौ नारसिंहोऽम्बरे मम ॥ १० ॥
क्षुरान्तममलं चक्रं भ्रमत्येतत् सुदर्शनम्। अस्यांशुमाला दुष्प्रेक्ष्या हन्तुं प्रेतनिशाचरान् ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्राणियोंका संहार करते हुए उस अतिदुष्टका अधिक समय बीत गया और उसकी अवस्था ढलने लगी। किसी समय उसने नदी-तीरपर बाँह ऊपर उठाये एवं, भलीभाँति इन्द्रियोंपर संयम किये हुए महाभाग्यशाली ऋषिको तपस्या करते हुए देखा। ब्रह्मन्! तपोनिधि पवित्र दक्ष और वासुदेवकी आराधना करनेमें तत्पर उस योगाचार्यने अपनी रक्षा इस रक्षामन्त्रके द्वारा कर ली थी कि पूर्वदिशामें चक्र धारण करनेवाले विष्णु, दक्षिण दिशामें गदा धारण करनेवाले विष्णु, पश्चिम दिशामें शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले विष्णु और उत्तर दिशामें खड्ग धारण करनेवाले विष्णु मेरी रक्षा करें। दिशाओंके कोणों-(अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, वायव्यकोण, ईशानकोणों-)में हृषीकेश, उन दिशाओं और कोणोंके मध्य अवशिष्ट स्थानोंमें जनार्दन, भूमिमें वराह रूप धारण करनेवाले हरि एवं आकाशमें नृसिंहभगवान् मेरी रक्षा करें। प्रेतों एवं निशाचरोंके संहारके लिये छुरेकी धारके समान अत्यन्त तीक्ष्ण यह निर्मल सुदर्शन चक्र घूम रहा है। इसकी किरणमालाका दर्शन होना प्रयत्न करनेपर भी सम्भव नहीं है ॥ ६–११ ॥

नहीं हुई तबतक, रुका रहा । जप समाप्त होनेपर उन्होंने उस निशाचरको देखा । उन्होंने दीन, बलसे हीन, उत्साहसे रहित, भयसे आकुल तथा निस्तेज हुए उस निशाचरको देखकर दयापूर्वक उसे निर्भयता प्रदान कर दी तथा उसके आनेका कारण पूछा । उसने अपने यथार्थ स्वभाववश देखनेसे इन्द्र एवं आनेपर तेजका नाश होना बताया । उसके बाद दूसरे और भी बहुत-से कारणोंका वर्णन कर अपने कर्मसे दुःखी हुए उस राक्षसने ब्राह्मणसे कहा—आप प्रसन्न हो जायँ ॥ २१–२७ ॥

बहूनि पापानि मया कृतानि बहवो हताः ।
कृता स्त्रियो मया बह्व्यो विधवाः पुत्रवर्जिताः । अनागसां च सत्त्वानामल्पकानां क्षयः कृतः ॥ २८ ॥
तस्मात् पापादहं मोक्षमिच्छामि त्वत्प्रसादतः । पापप्रशमनायालं कुरु मे धर्मदेशनम् ॥ २९ ॥
पापस्यास्य क्षयकरमुपदेशं प्रयच्छ मे । तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसस्य द्विजोत्तमः ॥ ३० ॥
वचनं प्राह धर्मात्मा हेतुमच्च सुभाषितम् ।
कथं क्रूरस्वभावस्य सतस्तव निशाचर । सहसैव समायाता जिज्ञासा धर्मवर्त्मनि ॥ ३१ ॥

मैंने बहुत पाप किये हैं । मैंने बहुत-से मनुष्योंको मारा है । मैंने बहुत-सी स्त्रियोंको विधवा एवं पुत्रसे हीन कर दिया है तथा निर्दोष और निर्बल प्राणियोंका विनाश किया है । आपकी दयासे मैं उन पापोंसे मुक्त होना चाहता हूँ, अतः आप मुझे पापोंका नाश करनेवाले धर्माचरणका उपदेश दें । आप मुझे इस पापको नष्ट करनेवाला उपदेश प्रदान करें । उस राक्षसके उस वचनको सुनकर धर्मात्मा द्विजोत्तमने युक्तियुक्त मधुर वचन कहा—निशाचर ! क्रूर स्वभावके होते हुए भी एकाएक धर्मके मार्गमें तुम्हारी जिज्ञासा कैसे उत्पन्न हुई ? ॥ २८–३१ ॥

राक्षस उवाच

त्वां वै समागतोऽस्म्यद्य क्षिप्तोऽहं रक्षया बलात् । तव संसर्गतो ब्रह्मन् जातो निर्वेद उत्तमः ॥ ३२ ॥
का सा रक्षा न तां वेद्मि वेद्मि नास्याः परायणम् । यस्याः संसर्गमासाद्य निर्वेदं प्रापितः परम् ॥ ३३ ॥
त्वं कृपां कुरु धर्मज्ञ मय्यनुक्रोशमावह । यथा पापापनोदो मे भवत्यार्य तथा कुरु ॥ ३४ ॥

राक्षसने कहा—मैं आज आपके निकट आते ही बलपूर्वक रक्षाद्वारा फेंक दिया गया । ब्रह्मन् ! आपके सम्पर्कसे मुझे श्रेष्ठ वैराग्य प्राप्त हो गया । मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि जिसका सम्पर्क पाकर मुझे श्रेष्ठ वैराग्य उत्पन्न हुआ है वह रक्षा क्या है और उसका आधार कौन है ? धर्मज्ञ ! आर्य ! आप कृपा करें । मेरे ऊपर दया करें । आप वह कार्य करें जिससे मेरे पापोंका विनाश हो जाय ॥ ३२–३४ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्तः स मुनिस्तदा वै तेन रक्षसा । प्रत्युवाच महाभागो विमृश्य सुचिरं मुनिः ॥ ३५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उस राक्षसके इस प्रकार कहनेपर उन महाभाग मुनिने बहुत देरतक विचार कर उत्तर दिया ॥ ३५ ॥

ऋषिरुवाच

यन्ममादोपदेशार्थं निर्विण्णः स्वेन कर्मणा । युक्तमेतद्धि पापानां निवृत्तिरुपकारिका ॥ ३६ ॥
करिष्ये यातुधानानां न त्वहं धर्मदेशनम् । तान् सम्पृच्छ द्विजान् सौम्य ये वै प्रवचने रताः ॥ ३७ ॥
एवमुक्त्वा ययौ विप्रश्चिन्तामाप स राक्षसः । कथं पापापनोदः स्यादिति चिन्ताकुलेन्द्रियः ॥ ३८ ॥
न चखाद स सत्त्वानि क्षुधा सम्बाधितोऽपि सन् । षष्ठे षष्ठे तदा काले जन्तुमेकमभक्षयत् ॥ ३९ ॥
स कदाचित्क्षुधाविष्टः पर्यटन् विपुले वने । ददर्शाथ फलाहारमागतं ब्रह्मचारिणम् ॥ ४० ॥
गृहीतो रक्षसा तेन स तदा मुनिदारकः । निराशो जीविते प्राह सामपूर्वं निशाचरम् ॥ ४१ ॥

राक्षस उवाच

मया निसर्गतो ब्रह्मन् जातिदोषाद् विशेषत । निर्विवेकेन चित्तेन पापकर्म सदा कृतम् ॥ ५० ॥
आबाल्यात् मम पापेषु न धर्मेषु रत मन । तत्पापसक्षयान्मोक्ष प्राप्नुयां येन तद् वद ॥ ५१ ॥
यानि पापानि कर्माणि बाल्यत्वाच्चरितानि च । दुष्टां योनिमिमां प्राप्य तन्मुक्तिं कथय द्विज ॥ ५२ ॥
यद्येतद् द्विजपुत्र त्व समाख्यास्यस्यशेषत । तत क्षुधार्तान्मत्तस्त्व नियत मोक्षमाप्स्यसि ॥ ५३ ॥
न चेत् तत्पापशीलोऽहमत्यर्थं क्षुत्पिपासित । षष्ठे काले नृशसात्मा भक्षयिष्यामि निर्घृण ॥ ५४ ॥

राक्षसने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने स्वभावत तथा विशेषत जातिदोषके कारण और विचारशक्तिसे रहित मनके कारण सदा पापका कार्य किया है । बाल्यावस्थासे ही मेरा मन धर्ममें नहीं, अपितु पापमें आसक्त रहा है । इसलिये तुम वह उपाय बताओ जिससे पापका नाश होकर मेरी मुक्ति हो जाय । द्विज ! इस पापयोनिको पाकर अज्ञानवश मैंने जिन पापकर्मोंका आचरण किया है, उनसे छुटकारा पानेका उपाय बतलाओ । ब्राह्मणपुत्र ! यदि तुम मुझे यह भलीभाँति बतलाओ तो मुझ भूखसे पीड़ित हुएसे नि सदेह छुटकारा पा जाओगे । यदि ऐसा नहीं हुआ तो अत्यन्त भूखा-प्यासा निर्दय हुआ मैं छठे समयमें (प्राप्त हुए) तुमको खा जाऊँगा ॥ ५०–५४ ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुक्तो मुनिसुतस्तेन घोरेण रक्षसा । चिन्तामवाप महतीमशक्तस्तदुदीरणे ॥ ५५ ॥
स विमृश्य चिर विप्र शरण जातवेदसम् । जगाम ज्ञानदानाय सशय परम गत ॥ ५६ ॥
यदि शुश्रूषितो वह्निर्गुरुशुश्रूषणादनु । व्रतानि वा सुचीर्णानि सप्तार्चि पातु मा तत ॥ ५७ ॥
न मातर न पितर गौरवेण यथा गुरुम् । सर्वदैवावगच्छामि तथा मा पातु पावक ॥ ५८ ॥
यथा गुरु न मनसा कर्मणा वचसाऽपि वा । अवजानाम्यह तेन पातु सत्येन पावक ॥ ५९ ॥
इत्येव मनसा सत्यान् कुर्वत शपथान् पुन । सप्तार्चिषा समादिष्टा प्रादुरासीत् सरस्वती ॥ ६० ॥
सा प्रोवाच द्विजसुत राक्षसग्रहणाकुलम् । मा भैर्द्विजसुताह त्वा मोक्षयिष्यामि सकटात् ॥ ६१ ॥
यदस्य रक्षसः श्रेयो जिह्वाग्रे सस्थिता तव । तत् सर्व कथयिष्यामि ततो मोक्षमवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥
अदृश्या रक्षसा तेन प्रोक्त्वेत्थ सा सरस्वती । अदर्शन गता सोऽपि द्विज प्राह निशाचरम् ॥ ६३ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उस भयकर राक्षसके इस प्रकार कहनेपर मुनिपुत्र (राक्षसकी पापसे मुक्तिका उपाय) कहनेमें असमर्थ होनेसे बहुत चिन्तित हुआ । बहुत समयतक विचार करनेके पश्चात् अत्यन्त सशययुक्त ब्राह्मण ज्ञानदानके हेतु अग्निके पास गया । (उसने कहा—) अग्निदेव ! गुरुकी सेवा करनेके बाद यदि मैंने आपकी सेवा की हो तथा व्रतोंका अच्छी तरह पालन किया हो तो हे सप्तार्चि ! आप मेरी रक्षा करें । अग्निदेव ! यदि मैंने गौरवमें माता-पितासे गुरुको अधिक महत्त्व दिया हो तो आप मेरी रक्षा करें । यदि मन, कर्म एव वाणीसे भी मैंने गुरुका अनादर न किया हो तो उस सत्यके कारण अग्निदेव आप मेरी रक्षा करें । इस प्रकार मनसे सत्य शपथोंके लेनेवाले उसके सामने अग्निदेवके आदेशसे सरस्वती प्रकट हुईं । उन्होंने राक्षसके द्वारा पकड़े जानेके कारण व्याकुल हुए ब्राह्मणके पुत्रसे कहा—ब्राह्मणपुत्र ! डरो मत । मैं तुम्हें सकटसे मुक्त करूँगी । तुम्हारी जीभके अग्रभागपर स्थित होकर मैं राक्षसके कल्याणकारी समस्त विषयोंका कथन करूँगी । उसके बाद तुम मुक्त हो जाओगे । उस राक्षससे अदृश्य रहती हुई सरस्वती ऐसा कहनेके बाद अन्तर्धान हो गयी । उस ब्राह्मण निशाचरसे (सरस्वतीकी शक्तिसे) कहा—॥ ५५–६३ ॥

ब्राह्मण उवाच

श्रूयतां तव यच्छ्रेयस्तथाऽन्येषां च पापिनाम्। समस्तपापशुद्ध्यर्थं पुण्योपचयदं च यत्॥ ६४॥
प्रातरुत्थाय जप्तव्यं मध्याह्नेऽह्नःक्षयेऽपि वा। असंशयं सदा जप्तो जपतां पुष्टिशान्तिदः॥ ६५॥
ॐ हरिं कृष्णं हृषीकेशं वासुदेवं जनार्दनम्। प्रणतोऽस्मि जगन्नाथं स मे पापं व्यपोहतु॥ ६६॥
चराचरगुरुं नाथं गोविन्दं शेषशायिनम्। प्रणतोऽस्मि परं देवं स मे पापं व्यपोहतु॥ ६७॥
शङ्खिनं चक्रिणं शार्ङ्गधारिणं स्रग्धरं परम्। प्रणतोऽस्मि पतिं लक्ष्म्याः स मे पापं व्यपोहतु॥ ६८॥
दामोदरमुदाराक्षं पुण्डरीकाक्षमच्युतम्। प्रणतोऽस्मि स्तुतं स्तुत्यैः स मे पापं व्यपोहतु॥ ६९॥
नारायणं नरं शौरिं माधवं मधुसूदनम्। प्रणतोऽस्मि धराधारं स मे पापं व्यपोहतु॥ ७०॥

ब्राह्मणने कहा—(निशाचर!) सुनो! तुम्हारे और दूसरे अन्य पापियोंके लिये कल्याणकारक सारे पापोंकी शुद्धि एवं पुण्य बढ़ानेवाले तथ्योंको मैं कहता हूँ। प्रातःकाल उठकर, मध्याह्नमें अथवा सायंकाल इस जपने योग्य स्तोत्रका सदा जप करना चाहिये। यह जप जप करनेवालोंको निःसंदेह शान्ति एवं पुष्टि प्रदान करता है। ॐ, हरि, कृष्ण, हृषीकेश, वासुदेव, जनार्दन, जगन्नाथको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें। चर और अचरके गुरु, नाथ, शेषशय्यापर विराजमान, परमेश्वर गोविन्दको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें। शङ्ख धारण करनेवाले, चक्र धारण करनेवाले, शार्ङ्ग धारण करनेवाले एवं उत्तम मालाधारी, लक्ष्मीपतिको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें। दामोदर, उदाराक्ष, पुण्डरीकाक्ष, स्तवनीय स्तोत्रोंसे स्तुत अच्युतको मैं नमस्कार करता हूँ। वे मेरे पापोंको दूर करें। नारायण, नर, शौरि, माधव, मधुसूदन एवं धराको धारण करनेवाले भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापको दूर करें॥ ६४—७०॥

केशवं चन्द्रसूर्याक्षं कंसकेशिनिषूदनम्। प्रणतोऽस्मि महाबाहुं स मे पापं व्यपोहतु॥ ७१॥
श्रीवत्सवक्षसं श्रीशं श्रीधरं श्रीनिकेतनम्। प्रणतोऽस्मि श्रियः कान्तं स मे पापं व्यपोहतु॥ ७२॥
यमीशं सर्वभूतानां ध्यायन्ति यतयोऽक्षरम्। वासुदेवमनिर्देश्यं तमस्मि शरणं गतः॥ ७३॥
समस्तालम्बनेभ्यो यं व्यावृत्य मनसो गतिम्। ध्यायन्ति वासुदेवाख्यं तमस्मि शरणं गतः॥ ७४॥
सर्वगं सर्वभूतं च सर्वस्याधारमीश्वरम्। वासुदेवं परं ब्रह्म तमस्मि शरणं गतः॥ ७५॥
परमात्मानमव्यक्तं यं प्रयान्ति सुमेधसः। कर्मक्षयेऽक्षयं देवं तमस्मि शरणं गतः॥ ७६॥
पुण्यपापविनिर्मुक्ता यं प्रविश्य पुनर्भवम्। न योगिनः प्राप्नुवन्ति तमस्मि शरणं गतः॥ ७७॥
ब्रह्मा भूत्वा जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम्। यः सृजत्यच्युतो देवस्तमस्मि शरणं गतः॥ ७८॥

चन्द्र एवं सूर्यरूपी नेत्रोंवाले, कंस और केशीको मारनेवाले महाबाहु केशवको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापोंको दूर करें। वक्षःस्थलपर श्रीवत्स धारण करनेवाले, श्रीश, श्रीधर, श्रीनिकेतन एवं श्रीकान्तको मैं प्रणाम करता हूँ। वे मेरे पापोंको दूर करें। संयम करनेवाले यतिजन जिन सब प्राणियोंके स्वामी, अक्षर एवं अनिर्देश्य वासुदेवका ध्यान करते हैं मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ। (ध्यानी लोग) अन्य समस्त सहारोंसे मनकी गतिको लौटाकर जिन वासुदेव नामक देवका ध्यान करते हैं, मैं उनकी शरणमें जाता हूँ। मैं सर्वग, सर्वभूत, सर्वेश्वर शिव एवं वासुदेव नामक परब्रह्मकी शरण जाता हूँ। बुद्धिमान् लोग समस्त कर्मोंके क्षीण हो जानेपर जिन अक्षय, अविनाशी परमात्माको प्राप्त करते हैं, मैं उनकी शरणमें जाता हूँ। पुण्य तथा पापसे रहित योगीलोग जिन्हें पाकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करते, मैं उनकी शरणमें जाता हूँ। ब्रह्माका रूप धारण कर देवता, दैत्य एवं मनुष्योंसे युक्त सारे जगत्‌की सृष्टि करनेवाले अच्युत देवकी मैं शरणमें जाता हूँ॥ ७१—७८॥

ब्रह्मत्वे यस्य वक्त्रेभ्यश्चतुर्वेदमयं वपुः । प्रभुः पुरातनो जज्ञे तमस्मि शरणं गतः ॥ ७९ ॥
ब्रह्मरूपधरं देवं जगद्योनिं जनार्दनम् । स्रष्टृत्वे संस्थितं सृष्टौ प्रणतोऽस्मि सनातनम् ॥ ८० ॥
स्रष्टा भूत्वा स्थितो योगी स्थितावसुरसूदनः । तमादिपुरुषं विष्णुं प्रणतोऽस्मि जनार्दनम् ॥ ८१ ॥
धृता मही हता दैत्याः परित्रातास्तथा सुराः । येन तं विष्णुमाद्येशं प्रणतोऽस्मि जनार्दनम् ॥ ८२ ॥
यज्ञैर्यजन्ति यं विप्रा यज्ञेशं यज्ञभावनम् । तं यज्ञपुरुषं विष्णुं प्रणतोऽस्मि सनातनम् ॥ ८३ ॥
पातालवासीभूतानि तथा लोकान् निहन्ति यः । तमन्तपुरुषं रुद्रं प्रणतोऽस्मि सनातनम् ॥ ८४ ॥
सम्भक्षयित्वा सकलं यथासृष्टमिदं जगत् । यो वै नृत्यति रुद्रात्मा प्रणतोऽस्मि जनार्दनम् ॥ ८५ ॥
सुरासुराः पितृगणा यक्षगन्धर्वराक्षसाः । सम्भूता यस्य देवस्य सर्वगं तं नमाम्यहम् ॥ ८६ ॥

ब्रह्माका रूप धारण करनेपर जिनके मुखोंसे चारों वेदोंसे युक्त शरीर धारण करनेवाले पुरातन प्रभुका आविर्भाव हुआ था, मैं उनकी शरणमें जाता हूँ। मैं सृष्टिके लिये स्रष्टारूपसे स्थित ब्रह्मरूप धारण करनेवाले सनातन जगद्योनि जनार्दनको प्रणाम करता हूँ। सृष्टिकर्ता होकर योगिरूपमें विद्यमान एवं स्थितिकालमें राक्षसोंका नाश करनेवाले आदिपुरुष जनार्दनको मैं प्रणाम करता हूँ। मैं उन आदि पुरुष ईश्वर जनार्दन विष्णुको प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने पृथ्वीको धारण किया है, दैत्योंको मारा है एवं देवताओंकी रक्षा की है। ब्राह्मणलोग यज्ञोंके द्वारा जिनकी अर्चना करते हैं, मैं उन यज्ञपुरुष, यज्ञभावन, यज्ञेश, सनातन विष्णुको प्रणाम करता हूँ। मैं पाताललोकमें रहनेवाले प्राणियों तथा लोकोंका विनाश करनेवाले उन अन्तपुरुष सनातन रुद्रको प्रणाम करता हूँ। सृष्ट किये गये इस समस्त जगत्का भक्षणकर नृत्य करनेवाले रुद्रात्मा जनार्दनको मैं प्रणाम करता हूँ। मैं सर्वत्र गमन करनेवाले देवको प्रणाम करता हूँ, जिनसे समस्त सुर, असुर, पितृगण, यक्ष, गन्धर्व एवं राक्षस उत्पन्न हुए हैं ॥ ७९—८६ ॥

समस्तदेवाः सकला मनुष्याणां च जातयः । यस्यांशभूता देवस्य सर्वगं तं नतोऽस्म्यहम् ॥ ८७ ॥
वृक्षगुल्मादयो यस्य तथा पशुमृगादयः । एकांशभूता देवस्य सर्वगं तं नमाम्यहम् ॥ ८८ ॥
यस्मान्नान्यत् परं किञ्चिद् यस्मिन् सर्वं महात्मनि । यः सर्वमध्यगोऽनन्तः सर्वगं तं नमाम्यहम् ॥ ८९ ॥
यथा सर्वेषु भूतेषु गूढोऽग्निरिव दारुषु । विष्णुरेव तथा पापं ममाशेषं प्रणश्यतु ॥ ९० ॥
यथा विष्णुमयं सर्वं ब्रह्मादि सचराचरम् । यच्च ज्ञानपरिच्छेद्यं पापं नश्यतु मे तथा ॥ ९१ ॥
शुभाशुभानि कर्माणि रजःसत्त्वतमांसि च । अनेकजन्मकर्मोत्थं पापं नश्यतु मे तथा ॥ ९२ ॥
यन्निशायां च यत्प्रातर्यन्मध्याह्नापराह्णयोः । सन्ध्ययोश्च कृतं पापं कर्मणा मनसा गिरा ॥ ९३ ॥
यत् तिष्ठता यद् व्रजता यच्च शय्यागतेन मे । कृतं यदशुभं कर्म कायेन मनसा गिरा ॥ ९४ ॥
अज्ञानतो ज्ञानतो वा मदाचलितमानसैः । तत् क्षिप्रं विलयं यातु वासुदेवस्य कीर्तनात् ॥ ९५ ॥

मैं उन सर्वव्यापी देवको प्रणाम करता हूँ जिनके अंशसे सम्पूर्ण देव एवं मनुष्योंकी सभी जातियाँ उत्पन्न हुई हैं। वृक्ष, गुल्म आदि तथा पशु, मृग आदि जिन परमदेवके एक अंशरूप हैं, मैं उन सर्वगामी देवको प्रणाम करता हूँ। मैं उन सर्वव्यापी देवको प्रणाम करता हूँ जिनसे पृथक् कोई वस्तु नहीं है एवं जिन महात्मामें सम्पूर्ण पदार्थ स्थित हैं तथा जो सभीके अन्तःकरणमें रहनेवाले और अनन्त हैं। काष्ठमें अग्निके समान समस्त प्राणियोंमें व्याप्त विष्णु मेरे सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करें, क्योंकि विष्णुमें ब्रह्मा आदि समस्त चराचरात्मक जगत् व्याप्त है तथा जो ज्ञानके द्वारा धारण करने योग्य हैं। इसलिये मेरे पाप नष्ट हो जायँ। (विष्णुकी कृपासे) मेरे शुभ तथा अशुभ कर्म, सत्त्व, रज एवं तमोगुण तथा अनेक जन्मोंके कर्मसे उत्पन्न पाप नष्ट हो जायँ।

सात्विक पाठके साथ प्रतिदिन तिलसे भरे सोलह पात्रोंका दान करनेवाला मनुष्य विष्णुलोकको प्राप्त करता है। यदि मैंने यह सत्य कहा हो एवं इसमें अल्पमात्र भी असत्य न हो तो यह राक्षस सब अङ्गोंसे पीड़ित हो चुके मुझे छोड़ दे ॥ १०४–११० ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुच्चारिते तेन मुक्तो विप्रस्तु रक्षसा। अकामेन द्विजो भूयस्तमाह रजनीचरम् ॥१११॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके ऐसा कहते ही राक्षसने ब्राह्मणको छोड़ दिया। पुनः द्विजने निष्कामभावसे राक्षससे कहा—॥ १११ ॥

ब्राह्मण उवाच

एतद् भद्र मया ख्यातं तव पातकनाशनम्। विष्णोः सारस्वतं स्तोत्रं यज्जगाद सरस्वती ॥११२॥
हुताशनेन प्रहिता मम जिह्वाग्रसंस्थिता। जगादेमं स्तवं विष्णोः सर्वेषां चोपशान्तिदम् ॥११३॥
अनेनैव जगन्नाथं त्वमाराधय केशवम्। ततः शापापनोदं तु स्तुते लप्स्यसि केशवे ॥११४॥
अहर्निशं हृषीकेशं स्तवेनानेन राक्षस। स्तुहि भक्तिं दृढां कृत्वा ततः पापाद् विमोक्ष्यसे ॥११५॥
स्तुतो हि सर्वपापानि नाशयिष्यत्यसंशयम्। स्तुतो हि भक्त्या नृणां वै सर्वपापहरो हरिः ॥११६॥

ब्राह्मणने कहा—भद्र! सरस्वती देवीने जिस पापका नाश करनेवाले सारस्वत विष्णुस्तोत्रको कहा है, उसे मैंने तुमसे कह दिया। अग्निदेवसे भेजी गयी एवं मेरी जिह्वाके अग्रभागमें स्थित सरस्वतीने सभीको शान्ति देनेवाले इस विष्णुस्तोत्रको कहा है। तुम इसीसे जगत्स्वामी केशवकी आराधना करो। उसके बाद केशवकी स्तुति करनेसे तुम शापसे मुक्त हो जाओगे। राक्षस! इस स्तुतिके द्वारा दृढ़ भक्तिपूर्वक दिन-रात हृषीकेशकी स्तुति करो। तब तुम पापसे मुक्त हो जाओगे। स्तुति किये गये हरि निःसंदेह समस्त पापोंको नष्ट करेंगे। भक्तिपूर्वक स्तुति करनेसे सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाले हरि मनुष्योंके सब पापोंका नाश कर देते हैं ॥ ११२–११६ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततः प्रणम्य तं विप्रं प्रसाद्य स निशाचरः। तदैव तपसे धीमान् शालग्राममगाद् वशी ॥११७॥
अहर्निशं स एवैनं जपन् सारस्वतं स्तवम्। देवक्रियारतिर्भूत्वा तपस्तेपे निशाचरः ॥११८॥
समाराध्य जगन्नाथं स तत्र पुरुषोत्तमम्। सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकमवाप्तवान् ॥११९॥
एतत् ते कथितं ब्रह्मन् विष्णोः सारस्वतं स्तवम्। विप्रवक्त्रस्थया सम्यक् सरस्वत्या समीरितम् ॥१२०॥
य एतत् परमं स्तोत्रं वासुदेवस्य मानवः। पठिष्यति स सर्वेभ्यः पापेभ्यो मोक्षमाप्स्यति ॥१२१॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद आत्मनिष्ठ वह राक्षस ब्राह्मणको प्रणाम एवं प्रसन्न करनेके पश्चात् उसी समय तपस्याके लिये शालग्राम नामक स्थानमें चला गया। वह राक्षस दिन-रात इसी सारस्वतस्तोत्रका जप करते हुए देवक्रियामें लीन होकर तप करने लगा। वहाँ पुरुषोत्तम जगन्नाथकी पूजा कर सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर उसने विष्णुलोक प्राप्त किया। ब्रह्मन्! मैंने तुमसे ब्राह्मणके मुखमें सरस्वतीद्वारा कहा गया विष्णुका यह सारस्वतस्तोत्र कहा। वासुदेवके इस श्रेष्ठ स्तोत्रको पढ़नेवाला मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ ११७–१२१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८५ ॥

कर्म, मन एवं वाणीके द्वारा रात्रिमें तथा प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, अपराह्णकाल और सन्ध्याकालमें चलते, बैठते और शयन करते हुए ज्ञान या अज्ञानपूर्वक अथवा निरहंकार भावसे मैंने जो अशुभ (पाप) कर्म किये हों वे वासुदेवके नाम-कीर्तनसे शीघ्र नष्ट हो जायँ ॥ ८७–९५ ॥

परदारपरद्रव्यवाञ्छाद्रोहोद्भवं च यत्। परपीडोद्भवा निन्दा कुर्वता यन्महात्मनाम् ॥ ९६ ॥
यच्च भोज्ये तथा पेये भक्ष्ये चोष्ये विलेह्यके। तद् यातु विलयं तोये यथा लवणभाजनम् ॥ ९७ ॥
यद् बाल्ये यच्च कौमारे यत् पापं यौवने मम। वयःपरिणतौ यच्च यच्च जन्मान्तरे कृतम् ॥ ९८ ॥
तन्नारायण गोविन्द हरिकृष्णेश कीर्तनात्। प्रयातु विलयं तोये यथा लवणभाजनम् ॥ ९९ ॥
विष्णवे वासुदेवाय हरये केशवाय च। जनार्दनाय कृष्णाय नमो भूयो नमो नमः ॥१००॥
भविष्यन्नरकघ्नाय नमः कंसविघातिने। अरिष्टकेशिचाणूरदेवारिक्षयिणे नमः ॥१०१॥
कोऽन्यो बलेर्बञ्चयिता त्वामृते वै भविष्यति। कोऽन्यो नाशयति बलाद् दर्पं हैहयभूपतेः ॥१०२॥
कः करिष्यत्यथाऽन्यो वै सागरे सेतुबन्धनम्। वधिष्यति दशग्रीवं कः सामात्यपुरस्सरम् ॥१०३॥

परस्त्री और परधनकी कामना, द्रोह, परपीड़ा, महात्माओंकी निन्दा तथा (निषिद्ध) भोज्य, पेय, भक्ष्य, चोष्य एवं चाटनेवाले वस्तुके कारण उत्पन्न सम्पूर्ण पाप इस प्रकार नष्ट हो जायँ जैसे लवण रखनेवाला मिट्टीका पात्र पानीमें (पड़ते ही) नष्ट हो जाता है। नारायण, गोविन्द, हरि, कृष्ण, ईशका कीर्तन करनेसे बाल्यकाल, कुमारावस्था, यौवन, वार्द्धक्य एवं जन्मान्तरमें किये गये मेरे सम्पूर्ण पाप इस प्रकार नष्ट हो जायँ जैसे जलमें नमक रखनेसे मिट्टीका बर्तन विलीन हो जाता (गल जाता) है। हरि, विष्णु, वासुदेव, केशव, जनार्दन, कृष्णको पुनः-पुनः प्रणाम है। भावी नरकका नाश करनेवाले तथा कंसको मारनेवालेको नमस्कार है। अरिष्ट, केशी एवं चाणूर आदि राक्षसोंके नष्ट करनेवालेको नमस्कार है। आपके सिवाय बलिको कौन छल सकता था एवं आपके बिना हैहयनरेशके घमंडको कौन नष्ट कर सकता था? आपके सिवाय समुद्रमें सेतुको कौन बाँध सकता था तथा मन्त्री आदिके साथ ही दशग्रीव रावणको कौन मार सकता था ॥ ९६–१०३ ॥

कस्त्वामृतेऽन्यो नन्दस्य गोकुले रतिमेष्यति।
प्रलम्बपूतनादीनां त्वामृते मधुसूदन। निहन्ताऽप्यथवा शास्ता देवदेव भविष्यति ॥१०४॥
जपन्नेवं नरः पुण्यं वैष्णवं धर्ममुत्तमम्। इष्टानिष्टप्रसंगेभ्यो ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ॥१०५॥
कृतं तेन तु यत् पापं सप्तजन्मान्तराणि वै। महापातकसंज्ञं वा तथा चैवोपपातकम् ॥१०६॥
यज्ञादीनि च पुण्यानि जपहोमव्रतानि च। नाशयेद् योगिनां सर्वमामपात्रमिवाम्भसि ॥१०७॥
नरः संवत्सरं पूर्णं तिलपात्राणि षोडश। अहन्यहनि यो दद्यात् पठत्येतच्च तत्समम् ॥१०८॥
अविलुप्तब्रह्मचर्यं सम्प्राप्य स्मरणं हरेः। विष्णुलोकमवाप्नोति सत्यमेतन्मयोदितम् ॥१०९॥
यथैतत् सत्यमुक्तं मे न ह्यल्पमपि मे मृषा। राक्षसस्त्रस्तसर्वाङ्गं तथा मामेष मुञ्चतु ॥११०॥

मधुसूदन! आपके सिवाय कौन ऐसा है जो नन्दके गोकुलमें प्रेममयी क्रीडा कर सके? देवदेव! आपके सिवा प्रलम्ब और पूतना आदिका वध एवं शासन कौन कर सकता था? इस धर्ममय उत्तम वैष्णव-मन्त्रका जप करनेवाला मनुष्य इष्ट और अनिष्टके प्रसङ्गवश तथा ज्ञान या अज्ञानपूर्वक सात जन्मोंमें किये अपने महापातकों, उपपातकों, यज्ञ, होम एवं व्रत आदिके पुण्य कर्मोंकि भी योगको इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे जलमें मिट्टीका कच्चा घड़ा नष्ट हो जाता है। मैं यह सत्य कहता हूँ कि अखण्डित ब्रह्मचर्य एवं हरिस्मरणपूर्वक एक वर्षतक प्र

स्तोत्र पाठके साथ प्रतिदिन तिलसे भरे सोलह पात्रोंका दान करनेवाला मनुष्य विष्णुलोकको प्राप्त करता है। यदि मैंने यह सत्य कहा हो एवं इसमें अल्पमात्र भी असत्य न हो तो यह राक्षस सब अङ्गोंसे पीड़ित हो चुके मुझे छोड़ दे ॥ १०४-११० ॥

पुलस्त्य उवाच

एवमुच्चारिते तेन मुक्तो विप्रस्तु रक्षसा। अकामेन द्विजो भूयस्तमाह रजनीचरम् ॥१११॥

पुलस्त्यजी बोले—उसने ऐसा कहते ही राक्षसने ब्राह्मणको छोड़ दिया। पुनः द्विजने निष्कामभावसे राक्षससे कहा—॥ १११ ॥

ब्राह्मण उवाच

एतद् भद्र मया ख्यातं तव पातकनाशनम्। विष्णोः सारस्वतं स्तोत्रं यज्जगाद सरस्वती ॥११२॥
हुताशनेन प्रहिता मम जिह्वाग्रसंस्थिता। जगादेनं स्तवं विष्णोः सर्वेषां चोपशान्तिदम् ॥११३॥
अनेनैव जगन्नाथं त्वमाराधय केशवम्। ततः शापापनोदं तु स्तुते लप्स्यसि केशवे ॥११४॥
अहर्निशं हृषीकेशं स्तवेनानेन राक्षस। स्तुहि भक्तिं दृढां कृत्वा ततः पापाद् विमोक्ष्यसे ॥११५॥
स्तुतो हि सर्वपापानि नाशयिष्यत्यसंशयम्। स्तुतो हि भक्त्या नृणां वै सर्वपापहरो हरिः ॥११६॥

ब्राह्मणने कहा—भद्र! सरस्वती देवीने जिस पापका नाश करनेवाले सारस्वत विष्णुस्तोत्रको कहा है, उसे मैंने तुमसे कह दिया। अग्निदेवसे भेजी गयी एवं मेरी जिह्वाके अग्रभागमें स्थित सरस्वतीने सभीको शान्ति देनेवाले इस विष्णुस्तोत्रको कहा है। तुम इसीसे जगत्स्वामी केशवकी आराधना करो। उसके बाद केशवकी स्तुति करनेसे तुम शापसे मुक्त हो जाओगे। राक्षस! इस स्तुतिके द्वारा दृढ़ भक्तिपूर्वक दिन-रात हृषीकेशकी स्तुति करो। तब तुम पापसे मुक्त हो जाओगे। स्तुति किये गये हरि निःसंदेह समस्त पापोंको नष्ट करेंगे। भक्तिपूर्वक स्तुति करनेसे सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाले हरि मनुष्योंके सब पापोंका नाश कर देते हैं ॥ ११२-११६ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततः प्रणम्य तं विप्रं प्रसाद्य स निशाचरः। तदैव तपसे श्रीमान् शालग्राममगाद् वशी ॥११७॥
अहर्निशं स एवैनं जपन् सारस्वतं स्तवम्। देवक्रियारतिर्भूत्वा तपस्तेपे निशाचरः ॥११८॥
समाराध्य जगन्नाथं स तत्र पुरुषोत्तमम्। सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकमवाप्तवान् ॥११९॥
एतत् ते कथितं ब्रह्मन् विष्णोः सारस्वतं स्तवम्। विप्रवक्त्रस्थया सम्यक् सरस्वत्या समीरितम् ॥१२०॥
य एतत् परमं स्तोत्रं वासुदेवस्य मानवः। पठिष्यति स सर्वेभ्यः पापेभ्यो मोक्षमाप्स्यति ॥१२१॥

इति श्रीवामनपुराणे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—उसके बाद आत्मनिष्ठ वह राक्षस ब्राह्मणको प्रणाम एवं प्रसन्न करनेके पश्चात् उसी समय तपस्याके लिये शालग्राम नामक स्थानमें चला गया। वह राक्षस दिन-रात इसी सारस्वतस्तोत्रका जप करते हुए देवक्रियामें लीन होकर तप करने लगा। वहाँ पुरुषोत्तम जगन्नाथकी पूजा कर सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर उसने विष्णुलोक प्राप्त किया। ब्रह्मन्! मैंने तुमसे ब्राह्मणके मुखमें सरस्वतीद्वारा कहा गया विष्णुका यह सारस्वतस्तोत्र कहा। वासुदेवके इस श्रेष्ठ स्तोत्रको पढ़नेवाला मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ ११७-१२१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें पचासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८५ ॥

[अथ षडशीतितमोऽध्याय]

पुलस्त्य उवाच

नमस्तेऽस्तु जगन्नाथ देवदेव नमोऽस्तु ते। वासुदेव नमस्तेऽस्तु बहुरूप नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥
एकशृङ्ग नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं वृषाकपे। श्रीनिवास नमस्तेऽस्तु नमस्ते भूतभावन ॥ २ ॥
विष्वक्सेन नमस्तुभ्यं नारायण नमोऽस्तु ते। ध्रुवध्वज नमस्तेऽस्तु सत्यध्वज नमोऽस्तु ते ॥ ३ ॥
यज्ञध्वज नमस्तुभ्यं धर्मध्वज नमोऽस्तु ते। तालध्वज नमस्तेऽस्तु नमस्ते गरुडध्वज ॥ ४ ॥
वरेण्य विष्णो वैकुण्ठ नमस्ते पुरुषोत्तम। नमो जयन्त विजय जयानन्त पराजित ॥ ५ ॥
कृतावर्त महावर्त महादेव नमोऽस्तु ते। अनाद्याद्यन्त मध्यान्त नमस्ते पद्मजप्रिय ॥ ६ ॥
पुरञ्जय नमस्तुभ्यं शत्रुञ्जय नमोऽस्तु ते। शुभञ्जय नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु धनञ्जय ॥ ७ ॥
सृष्टिगर्भ नमस्तुभ्यं शुचिश्रव पृथुश्रवः। नमो हिरण्यगर्भाय पद्मगर्भाय ते नमः ॥ ८ ॥

छियासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(स्तोत्रोंके क्रममें पुलस्त्यजीद्वारा उपदिष्ट महेश्वर-कथित पापप्रशमनस्तोत्र)

पुलस्त्यजी बोले—हे जगन्नाथ! आपको नमस्कार है। हे देवदेव! आपको नमस्कार है। हे वासुदेव! आपको नमस्कार है। हे अनन्त रूप धारण करनेवाले! आपको नमस्कार है। हे एकशृङ्ग! आपको नमस्कार है। हे वृषाकपे! आपको नमस्कार है। हे श्रीनिवास! आपको नमस्कार है। हे भूतभावन! आपको नमस्कार है। हे विष्वक्सेन! आपको नमस्कार है। हे नारायण! आपको नमस्कार है। हे ध्रुवध्वज! आपको नमस्कार है। हे सत्यध्वज! आपको नमस्कार है। हे यज्ञध्वज! आपको नमस्कार है। हे धर्मध्वज! आपको नमस्कार है। हे तालध्वज! आपको नमस्कार है। हे गरुडध्वज! आपको नमस्कार है। हे वरेण्य! हे विष्णो! हे वैकुण्ठ! हे पुरुषोत्तम! आपको नमस्कार है। हे जयन्त! हे विजय! हे जय! हे अनन्त! हे पराजित! आपको नमस्कार है। हे कृतावर्त! हे महावर्त! हे महादेव! आपको नमस्कार है। हे अनादि एवं आदि और अन्तमें विद्यमान! हे मध्यान्त, ! (मध्य और अन्तवाले) हे पद्मजप्रिय! आपको प्रणाम है। हे पुरञ्जय! आपको नमस्कार है। हे शत्रुञ्जय! आपको प्रणाम है। हे शुभञ्जय! आपको प्रणाम है। हे धनञ्जय! आपको प्रणाम है। सृष्टिगर्भ! हे सृष्टिको अपनेमें सुरक्षित रखनेवाले! श्रवण-मात्रसे ही पवित्र कर देनेवाले हे शुचिश्रव! आर्तजनोंकी पुकारको विशाल कानोंसे सुननेवाले हे पृथुश्रव! आपको नमस्कार है। आप हिरण्यगर्भको नमस्कार है। आप पद्मगर्भको नमस्कार है ॥ १-८ ॥

नमः कमलनेत्राय कालनेत्राय ते नमः। कालनाभ नमस्तुभ्यं महानाभ नमो नमः ॥ ९ ॥
वृष्टिमूल महामूल मूलावास नमोऽस्तु ते। धर्मावास जलावास श्रीनिवास नमोऽस्तु ते ॥ १० ॥
धर्माध्यक्ष प्रजाध्यक्ष लोकाध्यक्ष नमो नमः। सेनाध्यक्ष नमस्तुभ्यं कालाध्यक्ष नमोऽस्तु ते ॥ ११ ॥
गदाधर श्रुतिधर चक्रधारिन् श्रियोधर। वनमालाधर हरे नमस्ते धरणीधर ॥ १२ ॥
आर्चिषेण महासेन नमस्तेऽस्तु पुरुष्टुत। बहुकल्प महाकल्प नमस्ते कल्पनामुख ॥ १३ ॥
सर्वात्मन् सर्वग विभो विरिञ्चे श्वेत केशव। नील रक्त महानील अनिरुद्ध नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥
द्वादशात्मक कालात्मन् सामात्मन् परमात्मक। व्योमकात्मक सुब्रह्मन् भूतात्मक नमोऽस्तु ते ॥ १५ ॥
हरिकेश महाकेश गुडाकेश नमोऽस्तु ते। मुञ्जकेश हृषीकेश सर्वनाथ नमोऽस्तु ते ॥ १६ ॥

आप कमलनेत्रको प्रणाम है। आप कालनेत्रको प्रणाम है। हे कालनाभ! आपको प्रणाम है। हे महानाभ! आपको बारम्बार प्रणाम है। हे वृष्टिमूल! हे महामूल! हे मूलावास! आपको प्रणाम है। हे धर्मावास! हे जलावास!

हे श्रीनिवास ! आपको प्रणाम है। हे धर्माध्यक्ष ! हे प्रजाध्यक्ष ! हे लोकाध्यक्ष ! आपको बार-बार प्रणाम है। हे सेनाध्यक्ष ! आपको प्रणाम है। हे कालाध्यक्ष ! आपको प्रणाम है। हे गदाधर ! हे श्रुतिधर ! हे चक्रधर ! हे श्रीधर ! वनमाला और पृथ्वीको धारण करनेवाले हे हरे ! आपको प्रणाम है। हे आर्चिषेण ! हे महासेन ! हे पुरुषे स्तुत ! आपको प्रणाम है। हे बहुकल्प ! हे महाकल्प ! हे कल्पनामुख ! आपको प्रणाम है। हे सर्वात्मन् ! हे सर्वग ! हे विभो ! हे विरिञ्चिन् ! हे श्वेत ! हे कृष्ण ! हे नील ! हे रक्त ! हे महानील ! हे अनिरुद्ध ! आपको नमस्कार है। हे द्वादशात्मक ! हे कालात्मन् ! हे सामात्मन् ! हे परमात्मक ! हे व्योमकात्मक ! हे सुब्रह्मन् ! हे भूतात्मक ! आपको प्रणाम है। हे हरिकेश ! हे महाकेश ! हे गुडाकेश ! आपको प्रणाम है। हे मुञ्जकेश ! हे हृषीकेश ! हे सर्वनाथ ! आपको प्रणाम है ॥ १-१६ ॥

सूक्ष्म स्थूल महास्थूल महासूक्ष्म शुभङ्कर। श्वेतपीताम्बरधर नीलवास नमोऽस्तु ते ॥ १७ ॥
कुशेशय नमस्तेऽस्तु पद्मेशय जलेशय। गोविन्द प्रीतिकर्ता च हंस पीताम्बरप्रिय ॥ १८ ॥
अधोक्षज नमस्तुभ्यं सीरध्वज जनार्दन। वामनाय नमस्तेऽस्तु नमस्ते मधुसूदन ॥ १९ ॥
सहस्रशीर्षाय नमो ब्रह्मशीर्षाय ते नमः। नमः सहस्रनेत्राय सोमसूर्यानलेक्षण ॥ २० ॥
नमश्चाथर्वशिरसे महाशीर्षाय ते नमः। नमस्ते धर्मनेत्राय महानेत्राय ते नमः ॥ २१ ॥
नमः सहस्रपादाय सहस्रभुजमन्यवे। नमो यज्ञवराहाय महारूपाय ते नमः ॥ २२ ॥
नमस्ते विश्वदेवाय विश्वात्मन् विश्वसम्भव। विश्वरूप नमस्तेऽस्तु त्वत्तो विश्वमभूदिदम् ॥ २३ ॥
न्यग्रोधस्त्वं महाशाखस्त्वं मूलकुसुमार्चित। स्कन्धपत्राङ्कुरलतापल्लवाय नमोऽस्तु ते ॥ २४ ॥

हे सूक्ष्म ! हे स्थूल ! हे महास्थूल ! हे महासूक्ष्म ! हे शुभङ्कर ! हे उज्ज्वल-पीले वस्त्रको धारण करनेवाले ! हे नीलवास ! आपको प्रणाम है। हे कुशपर शयन करनेवाले ! हे पद्मपर शयन करनेवाले ! हे जलमें शयन करनेवाले ! हे गोविन्द ! हे प्रीतिकर्त ! हे हंस ! हे पीताम्बरप्रिय ! आपको नमस्कार है। हे अधोक्षज ! हे सीरध्वज ! हे जनार्दन ! आपको प्रणाम है। हे वामन ! आपको प्रणाम है। हे मधुसूदन ! आपको प्रणाम है। आप सहस्रसिरवालेको नमस्कार है। आप ब्रह्मशीर्षको प्रणाम है। आप सहस्रनेत्र और चन्द्र, सूर्य एवं अग्निरूपी आँखवालेको प्रणाम है। अथर्वशिराको नमस्कार है। महाशीर्षको प्रणाम है। धर्मनेत्रको प्रणाम है। महानेत्रको प्रणाम है। सहस्रपादको नमस्कार है। सहस्रों भुजाओं एवं सहस्रों यज्ञोंवालेको नमस्कार है। यज्ञवराहको नमस्कार है। आप महारूपको नमस्कार है। विश्वदेवको प्रणाम है। हे विश्वात्मन ! हे विश्वसम्भव ! हे विश्वरूप ! आपको नमस्कार है। आपसे यह विश्व उत्पन्न हुआ है। आप न्यग्रोध और महाशाख हैं तथा मूलकुसुमार्चित हैं। स्कन्ध, पत्र, अङ्कुर, लता एवं पल्लवस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ १७-२४ ॥

मूलं ते ब्राह्मणा ब्रह्मन् स्कन्धस्ते क्षत्रियाः प्रभो। वैश्याः शाखा दलं शूद्रा वनस्पते नमोऽस्तु ते ॥ २५ ॥
ब्राह्मणाः साग्नयो वक्त्राद् दोर्दण्डात् सायुधा नृपाः। पार्श्वाद् विशश्चोरुयुगाज्जाताः शूद्राश्च पादतः ॥ २६ ॥
नेत्राद् भानुरभूत् तुभ्यं पद्भ्यां भूः श्रोत्रयोर्दिशः। नाभ्या ह्यभूदन्तरिक्षं शशाङ्को मनसस्तव ॥ २७ ॥
प्राणाद् वायुः समभवत् कामाद् ब्रह्मा पितामहः। क्रोधात् त्रिनयनो रुद्रः शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ॥ २८ ॥
इन्द्राग्नी वदनात् तुभ्यं पशवो मलसम्भवाः। ओषध्यो रोमसम्भूता विराजस्त्व नमोऽस्तु ते ॥ २९ ॥
पुष्पहास नमस्तेऽस्तु महाहास नमोऽस्तु ते। ॐकारस्त्वं वषट्कारो वौषट् त्वं च स्वधा सुधा ॥ ३० ॥
स्वाहाकार नमस्तुभ्यं हन्तकार नमोऽस्तु ते। सर्वाकार निराकार वेदाकार नमोऽस्तु ते ॥ ३१ ॥
त्वं हि देवमयो देव सर्वदेवमयस्तथा। सर्वतीर्थमयश्चैव [illegible] सर्वयज्ञमयस्तथा ॥ ३२ ॥

ब्रह्मन् ! ब्राह्मण आपके मूल हैं। प्रभो ! क्षत्रिय आपके स्कन्ध, वैश्य शाखा एवं शूद्र पत्ते हैं वनस्पते ! आपको नमस्कार है। अग्निसहित ब्राह्मण आपके मुख एवं शस्त्रसहित क्षत्रिय आपकी भुजाएँ हैं। वैश्य आपके दोनों जाँघोंके पार्श्वभागसे तथा शूद्र आपके चरणोंसे उत्पन्न हुए हैं। आपके नेत्रसे सूर्य उत्पन्न हुए हैं आपके चरणोंसे पृथ्वी, कानोंसे दिशाएँ, नाभिसे अन्तरिक्ष तथा मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए हैं। आपके प्राणसे वायु कामसे पितामह ब्रह्मा, क्रोधसे त्रिनेत्र रुद्र और सिरसे द्युलोक आविर्भूत हुए हैं। आपके मुखसे इन्द्र और अग्नि, मर्म पशु तथा रोमसे ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। आप विराज हैं। आपको नमस्कार है। हे पुष्पहास ! आपको प्रणाम है हे महाहास ! आपको प्रणाम है। आप ओङ्कार, वषट्कार और वौषट् हैं। आप स्वधा और सुधा हैं। हे स्वाहाकार आपको प्रणाम है। हे हन्तकार ! आपको प्रणाम है। हे सर्वाकार ! हे निराकार ! हे वेदाकार ! आपको प्रणाम है। आप वेदमय रुद्र तथा सर्वदेवमय हैं। आप सर्वतीर्थमय और सर्वयज्ञमय हैं ॥ २५–३२ ॥

नमस्ते यज्ञपुरुष यज्ञभागभुजे नमः। नमः सहस्रधाराय शतधाराय ते नमः ॥ ३३ ॥
भूर्भुवःस्वःस्वरूपाय गोदायामृतदायिने। सुवर्णब्रह्मदात्रे च सर्वदात्रे च ते नमः ॥ ३४ ॥
ब्रह्मेशाय नमस्तुभ्यं ब्रह्मादे ब्रह्मरूपधृक्। परब्रह्म नमस्तेऽस्तु शब्दब्रह्म नमोऽस्तु ते ॥ ३५ ॥
विद्यास्त्वं वेद्यरूपस्त्वं वेदनीयस्त्वमेव च। बुद्धिस्त्वमपि बोध्यश्च बोधस्त्वं च नमोऽस्तु ते ॥ ३६ ॥
होता होमश्च हव्यं च हूयमानश्च हव्यवाट्। पाता पोता च पूतश्च पावनीयश्च ॐ नमः ॥ ३७ ॥
हन्ता च हन्यमानश्च ह्रियमाणस्त्वमेव च। हर्ता नेता च नीतिश्च पूज्योऽग्र्यो विश्वधार्यसि ॥ ३८ ॥
स्रुक्स्रुवौ परधामासि कपालोलूखलोऽरणिः। यज्ञपात्रारणेयस्त्वमेकधा बहुधा त्रिधा ॥ ३९ ॥
यज्ञस्त्वं यजमानस्त्वमीड्यस्त्वमसि याजकः। ज्ञाता ज्ञेयस्तथा ज्ञानं ध्येयो ध्यातासि चेश्वर ॥ ४० ॥
ध्यानयोगश्च योगी च गतिर्मोक्षो धृतिः सुखम्। योगाङ्गानि त्वमीशान सर्वगस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ४१ ॥

यज्ञपुरुष ! आपको प्रणाम है। हे यज्ञभागके भोक्ता ! आपको प्रणाम है। सहस्रधार और शतधारको प्रणाम है भूर्भुवः स्वः स्वरूप, गोदाता, अमृतदाता, सुवर्ण और ब्रह्म (संसारके निमित्त और उपादान कारण आदि) के भी जन्मदाता तथा सर्वदाता आपको प्रणाम है। आप ब्रह्मेशको नमस्कार है। हे ब्रह्मादि ! हे ब्रह्मरूपधारिन् ! हे परब्रह्म ! आपको प्रणाम है। हे शब्दब्रह्म ! आपको प्रणाम है। आप ही विद्या, आप ही वेद्यरूप तथा आप ही जानने योग्य हैं। आप ही बुद्धि, बोध्य और बोधरूप हैं। आपको प्रणाम है। आप होता, होम, हव्य, हूयमान द्रव्य तथा हव्यवाट्, पाता, पोता, पूत तथा पावनीय ओङ्कार हैं। आपको नमस्कार है। आप हन्ता, हन्यमान, ह्रियमाण, हर्ता, नेता, नीति, पूज्य, श्रेष्ठ तथा संसारको धारण करनेवाले हैं। आप स्रुक्, स्रुव, परधाम, कपाली, उलूखल, अरणि, यज्ञपात्र, आरणेय, एकधा, त्रिधा और बहुधा हैं। आप यज्ञ हैं और आप यजमान हैं। आप स्तुत्य और याजक हैं। आप ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, ध्येय, ध्याता तथा ईश्वर हैं। आप ध्यानयोग, योगी, गति, मोक्ष, धृति, सुख, योगाङ्ग, ईशान एवं सर्वग हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३३–४१ ॥

ब्रह्मा होता तथोद्गाता साम यूपोऽथ दक्षिणा। दीक्षा त्वं त्वं पुरोडाशस्त्वं पशुः पशुवाह्यसि ॥ ४२ ॥
गुह्यो धाता च परमः शिवो नारायणस्तथा। महाजनो निरयनः सहस्रार्केन्दुरूपवान् ॥ ४३ ॥
द्वादशारोऽथ षण्णाभिस्त्रिव्यूहो त्रियुगस्तथा। कालचक्रो भवानीशो नमस्ते पुरुषोत्तमः ॥ ४४ ॥
पराक्रमो विक्रमस्त्वं हयग्रीवो हरीश्वरः। नरेश्वरोऽथ ब्रह्मेशः सूर्येशस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ४५ ॥
अश्ववक्त्रो महामेधा शम्भुः शक्रः प्रभञ्जनः। मित्रावरुणमूर्तिस्त्वममूर्तिरनघः परः ॥ ४६ ॥
प्राग्वंशकायो भूतादिर्महाभूतोऽच्युतो द्विजः। त्वमूर्ध्वकर्ता ऊर्ध्वश्च ऊर्ध्वरेता नमोऽस्तु ते ॥ ४७ ॥
महापातकहा त्वं च उपपातकहा तथा। अनीशः सर्वपापेभ्यस्त्वामहं शरणं गतः ॥ ४८ ॥

इत्येतत् परमं स्तोत्रं सर्वपापप्रमोचनम्। महेश्वरेण कथितं वाराणस्यां पुरा मुने ॥ ४९ ॥
केशवस्याग्रतो गत्वा स्नात्वा तीर्थे सितोदके। उपशान्तस्तथा जातो रुद्रः पापवशात् ततः ॥ ५० ॥
एतत् पवित्रं त्रिपुरघ्नभाषितं पठन् नरो विष्णुपरो महर्षे।
विमुक्तपापो ह्युपशान्तमूर्तिः सम्पूज्यते देववरैः प्रसिद्धैः ॥ ५१ ॥

इति श्रीवामनपुराणे षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

आप ब्रह्मा, होता, उद्गाता, साम, यूप, दक्षिणा तथा दीक्षा हैं। आप पुरोडाश एवं आप ही पशु तथा पशुवाही हैं। आप गुह्य, धाता, परम, शिव, नारायण, महाजन, निराश्रय तथा हजारों सूर्य और चन्द्रमाके समान रूपवान् हैं। आप बारह अरों, छः नाभियों, तीन व्यूहों एवं दो युगोंवाले कालचक्र तथा ईश एवं पुरुषोत्तम हैं। आपको नमस्कार है। आप पराक्रम, त्रिक्रम, हयग्रीव, हरीश्वर, नरेश्वर, ब्रह्मेश और सूर्येश हैं। आपको नमस्कार है। आप अश्ववक्त्र, महामेधा, शम्भु, शक्र, प्रभञ्जन, मित्रावरुणकी मूर्ति, अमूर्ति निष्पाप और श्रेष्ठ हैं। आप प्राग्वंशकाय (मूलपुरुष), भूतादि, महाभूत, अच्युत और द्विज हैं। आप ऊर्ध्वकर्त्ता, ऊर्ध्व और ऊर्ध्वरेता हैं। आपको नमस्कार है। आप महापातकोंका विनाश करनेवाले तथा उपपातकोंके नाशक हैं। आप सभी पापोंसे निर्लिप्त हैं। मैं आपकी शरणमें आया हूँ। मुने! प्राचीन कालमें महेश्वरने सम्पूर्ण पापोंसे मुक्ति देनेवाले इस श्रेष्ठ स्तोत्रको वाराणसीमें कहा था। तीर्थके स्वच्छ जलमें स्नान कर केशवका दर्शन करनेसे रुद्र पापके प्रभावसे मुक्त एवं शान्त हुए थे। महर्षे! त्रिपुरारिके द्वारा कहे गये इस स्तोत्रका पाठ करनेसे विष्णुभक्त मनुष्य पापसे मुक्त और सौम्य होकर प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठ देवताओंसे पूजित होता है ॥ ४२–५१ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें छियासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८६ ॥

[अथ सप्ताशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

द्वितीयं पापशमनं स्तवं वक्ष्यामि ते मुने। येन सम्यगधीतेन पापं नाशं तु गच्छति ॥ १ ॥
मत्स्यं नमस्ये देवेशं कूर्मं गोविन्दमेव च। हयशीर्षं नमस्येऽहं भवं विष्णुं त्रिविक्रमम् ॥ २ ॥
नमस्ये माधवेशानौ हृषीकेशकुमारिणौ। नारायणं नमस्येऽहं नमस्ये गरुडासनम् ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वकेशं नृसिंहं च रूपधारं कुरुध्वजम्। कामपालमखण्डं च नमस्ये ब्राह्मणप्रियम् ॥ ४ ॥
अजितं विश्वकर्माणं पुण्डरीकं द्विजप्रियम्। हंसं शम्भुं नमस्ये च ब्रह्माणं सप्रजापतिम् ॥ ५ ॥
नमस्ये शूलबाहुं च देवं चक्रधरं तथा। शिवं विष्णुं सुवर्णाक्षं गोपतिं पीतवाससम् ॥ ६ ॥
नमस्ये च गदापाणिं नमस्ये च कुशेशयम्। अर्धनारीश्वरं देवं नमस्ये पापनाशनम् ॥ ७ ॥
गोपालं च सवैकुण्ठं नमस्ये चापराजितम्। नमस्ये विश्वरूपं च सौगन्धिं सर्वदाशिवम् ॥ ८ ॥

सतासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(अगस्त्यद्वारा कथित पापप्रशमनस्तोत्र)

पुलस्त्यजी बोले—मुने! अब मैं आपसे पापोंका निवारण करनेवाला दूसरा स्तोत्र कहूँगा, जिसका भलीभाँति अध्ययन (पाठ) करनेसे पाप विनष्ट हो जाता है। मैं मत्स्य एवं कच्छपका रूप धारण करनेवाले देवेश गोविन्द भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। मैं हयशीर्ष, भव और त्रिविक्रम विष्णु भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। मैं माधव, ईशान, हृषीकेश और कुमारको नमस्कार करता हूँ। मैं नारायणको नमस्कार करता हूँ। मैं गरुडासन भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। मैं ऊर्ध्वकेश तथा नरसिंहका रूप धारण करनेवाले एवं कुरुध्वज कामपाल

सम्बन्ध और ब्राह्मणप्रिय देवको नमस्कार करता हूँ । मैं अजित, विश्वकर्मा, पुण्डरीक, द्विजप्रिय, हंस, शम्भु तथा प्रजापतिके सहित ब्रह्माको नमस्कार करता हूँ । मैं गुह्याह्व, चक्रधरदेव, शिव, विष्णु, सुवर्णाक्ष और गोपति तथा पीतवासाको प्रणाम करता हूँ । मैं गदा धारण करनेवाले गदाधर भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ और कुशेशयको नमस्कार करता हूँ । मैं पापका नाश करनेवाले अर्धनारीश्वर देवको नमस्कार करता हूँ । मैं वैकुण्ठसहित गोपाल तथा अपराजितको नमस्कार करता हूँ । मैं विश्वरूप, सौगन्धि और सदाशिवको प्रणाम करता हूँ ॥ १–८ ॥

पाञ्चालिकं हयग्रीवं स्वयम्भुवममरेश्वरम् । नमस्ये पुष्कराक्षं च पयोगन्धिं च केशवम् ॥ ९ ॥
अविमुक्तं च लोलं च ज्येष्ठेशं मध्यमं तथा । उपशान्तं नमस्येऽहं मार्कण्डेयं सजम्बुकम् ॥ १० ॥
नमस्ये पद्मकिरणं नमस्ये वडवामुखम् । कार्तिकेयं नमस्येऽहं बाह्लीकं शिखिनं तथा ॥ ११ ॥
नमस्ये स्थाणुमनघं नमस्ये वनमालिनम् । नमस्ये लाङ्गलीशं च नमस्येऽहं श्रियः पतिम् ॥ १२ ॥
नमस्ये च त्रिनयनं नमस्ये हव्यवाहनम् । नमस्ये च त्रिसौवर्णं नमस्ये धरणीधरम् ॥ १३ ॥
त्रिणाचिकेतं ब्रह्मेशं नमस्ये शशिभूषणम् । कपर्दिनं नमस्ये च सर्वामयविनाशनम् ॥ १४ ॥
नमस्ये शशिनं सूर्यं ध्रुवं रौद्रं महौजसम् । पद्मनाभं हिरण्याक्षं नमस्ये स्कन्दमव्ययम् ॥ १५ ॥
नमस्ये भीमहंसौ च नमस्ये हाटकेश्वरम् । सदाहंसं नमस्ये च नमस्ये प्राणतर्पणम् ॥ १६ ॥

मैं पाञ्चालिक, हयग्रीव, स्वयम्भुव, अमरेश्वर, पुष्कराक्ष, पयोगन्धि और केशवको नमस्कार करता हूँ । मैं अविमुक्त, लोल, ज्येष्ठेश, मध्यम, उपशान्त तथा जम्बुकसहित मार्कण्डेयको नमस्कार करता हूँ । मैं पद्मकिरणको नमस्कार करता हूँ । मैं वडवामुखको नमस्कार करता हूँ । मैं कार्तिकेय, बाह्लीक तथा शिखीको प्रणाम करता हूँ । मैं स्थाणु एवं अनघको नमस्कार करता हूँ तथा वनमालीको नमस्कार करता हूँ । मैं लाङ्गलीश तथा लक्ष्मीपतिको नमस्कार करता हूँ । मैं त्रिनेत्रको प्रणाम करता हूँ तथा हव्यवाहनको नमस्कार करता हूँ । मैं त्रिसौवर्णको नमस्कार करता हूँ तथा धरणीधरको नमस्कार करता हूँ । मैं त्रिणाचिकेत, ब्रह्मेश तथा शशिभूषणको प्रणाम करता हूँ । मैं सम्पूर्ण रोगोंको नष्ट करनेवाले कपर्दी भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ । मैं चन्द्र, सूर्य, ध्रुव तथा महान् ओजस्वी रुद्रभगवान्‌को प्रणाम करता हूँ । मैं पद्मनाभ, हिरण्याक्ष तथा अव्यय स्कन्दको प्रणाम करता हूँ । मैं भीम और हंसको प्रणाम करता हूँ । मैं हाटकेश्वरको प्रणाम करता हूँ । मैं सदाहंसको प्रणाम करता हूँ और प्राणोंको तृप्त करनेवालेको प्रणाम करता हूँ ॥ ९–१६ ॥

नमस्ये रुक्मकवचं महायोगिनमीश्वरम् । नमस्ये श्रीनिवासं च नमस्ये पुरुषोत्तमम् ॥ १७ ॥
नमस्ये च चतुर्बाहुं नमस्ये वसुधाधिपम् । वनस्पतिं पशुपतिं नमस्ये प्रभुमव्ययम् ॥ १८ ॥
श्रीकण्ठं वासुदेवं नीलकण्ठं सदण्डिनम् । नमस्ये सर्वमनघं गौरीशं नकुलीश्वरम् ॥ १९ ॥
मनोहरं कृष्णकेशं नमस्ये चक्रपाणिनम् । यशोधरं महाबाहुं नमस्ये च कुशप्रियम् ॥ २० ॥
भूधरं छादितगदं सुनेत्रं शूलशङ्खिनम् । भद्राक्षं वीरभद्रं च नमस्ये शङ्कुकर्णिकम् ॥ २१ ॥
वृषध्वजं महेशं च विश्वामित्रं शशिप्रभम् । उपेन्द्रं चैव गोविन्दं नमस्ये पङ्कजप्रियम् ॥ २२ ॥
सहस्रशिरसं देवं नमस्ये कुन्दमालिनम् । कालाग्निं रुद्रदेवेशं नमस्ये कृत्तिवाससम् ॥ २३ ॥
नमस्ये छागलेशं च नमस्ये पङ्कजासनम् । सहस्राक्षं कोकनदं नमस्ये हरिशङ्करम् ॥ २४ ॥

मैं रुक्म-कवच धारण करनेवाले महायोगी ईश्वरको नमस्कार करता हूँ और पुरुषोत्तम श्रीनिवास भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ । मैं चार भुजा धारण करनेवाले देवको प्रणाम करता हूँ । मैं पृथ्वीके अधिपतिको प्रणाम करता हूँ । मैं वनस्पति, पशुपति और अव्यय प्रभुको प्रणाम करता हूँ । मैं श्रीकण्ठ वासुदेव, दण्डिसहित नीलकण्ठ, [illegible] गौरीश तथा नकुलीश्वर भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ । मैं मनको हरण करनेवाले कृष्णकेश चक्रपाणि

भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ और यशोधारी, महाबाहु कुशप्रियको नमस्कार करता हूँ। मैं भूधर, अदितगर, सुनेत्र, शूलशायी, भद्राक्ष, वीरभद्र तथा शङ्कुकर्णिकको नमस्कार करता हूँ। मैं वृषध्वज, महेश, विश्वामित्र, शशिप्रभ, उपेन्द्र, गोविन्द तथा पङ्कजप्रियको नमस्कार करता हूँ। मैं सहस्रशीर्षा तथा कुन्दमाली देवको नमस्कार करता हूँ। मैं कालाग्नि, रुद्रदेवेश तथा कृत्तिवासाको प्रणाम करता हूँ। मैं छागलेशको नमस्कार करता हूँ तथा पङ्कजासनको नमस्कार करता हूँ। मैं सहस्राक्ष, कोकनद तथा हरिशंकरको नमस्कार करता हूँ ॥ १७–२४ ॥

अगस्त्यं गरुडं विष्णुं कपिलं ब्रह्मवाङ्मयम्। सनातनं च ब्रह्माणं नमस्ये ब्रह्मतत्परम् ॥ २५ ॥
अप्रतर्क्यं चतुर्बाहुं सहस्रांशुं तपोमयम्। नमस्ये धर्मराजानं देवं गरुडवाहनम् ॥ २६ ॥
सर्वभूतगतं शान्तं निर्मलं सर्वलक्षणम्। महायोगिनमव्यक्तं नमस्ये पापनाशनम् ॥ २७ ॥
निरञ्जनं निराकारं निर्गुणं निर्मलं पदम्। नमस्ये पापहन्तारं शरण्यं शरणं व्रजे ॥ २८ ॥
एतत् पवित्रं परमं पुराणं प्रोक्तं त्वगस्त्येन महर्षिणा च।
धन्यं यशस्यं बहुपापनाशनं संकीर्तनात् स्मरणात् संश्रवाच्च ॥ २९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

मैं अगस्त्य, गरुड, विष्णु, कपिल, ब्रह्मवाङ्मय, सनातन, ब्रह्मा तथा ब्रह्मतत्परको नमस्कार करता हूँ। मैं अनुमानसे परे, चार भुजाधारी, सहस्रांशु, तपोमूर्ति, धर्मराज गरुडवाहन देवको नमस्कार करता हूँ। मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्याप्त, शान्तस्वरूप, निर्मल, समस्त लक्षणोंसे युक्त, महान् योगी, अव्यक्तस्वरूप एवं पाप नाश करनेवाले भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। मैं निरञ्जन, निराकार, गुणोंसे रहित, निर्मलपदस्वरूप, पाप हरण करनेवालेको नमस्कार करता हूँ तथा शरणागतकी रक्षा करनेवालेकी शरणमें जाता हूँ।

महर्षि अगस्त्यने इस परम पवित्र पुरातन स्तोत्रको कहा था। इसके कथन, स्मरण तथा श्रवण करनेसे अनेक पापोंका विनाश हो जाता है और मनुष्य धन्य एवं यशस्वी हो जाता है ॥ २५–२९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें सतासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८७ ॥

[अथाष्टाशीतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

गतेऽथ तीर्थयात्रायां प्रह्लादे दानवेश्वरे। कुरुक्षेत्रं समभ्यागाद् यष्टुं वैरोचनो बलिः ॥ १ ॥
तस्मिन् महाधर्मयुते तीर्थे ब्राह्मणपुङ्गव। शुक्रो द्विजातिप्रवरानामन्त्रयत भार्गवान् ॥ २ ॥
भृगूनामन्त्र्यमाणान् वै श्रुत्वात्रेयाः सगौतमाः। कौशिकाङ्गिरसश्चैव तत्यजुः कुरुजाङ्गलम् ॥ ३ ॥
उत्तराशां प्रजग्मुस्ते नदीमनु शतद्रुकाम्। शतद्रौ जले स्नात्वा विपाशां प्रययुस्ततः ॥ ४ ॥
विज्ञाय तत्राप्यरतिं स्नात्वाऽर्च्य पितृदेवताः। प्रजग्मुः किरणां पुण्यां दिनेशकिरणच्युताम् ॥ ५ ॥
तस्यां स्नात्वाऽर्च्य देवर्षे सर्व एव महर्षयः। ऐरावतीं सुपुण्योदां स्नात्वा जग्मुरथेश्वरीम् ॥ ६ ॥
देविकाया जले स्नात्वा पयोष्ण्या चैव तापसाः। अवतीर्णा मुने स्नातुमात्रेयाद्याः शुभां नदीम् ॥ ७ ॥
ततो निमग्ना ददृशुः प्रतिबिम्बमथात्मनः। अन्तर्जले द्विजश्रेष्ठ महदाश्चर्यकारकम् ॥ ८ ॥

अट्ठासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलिका कुरुक्षेत्रमें आना, महर्षि मुनियोंका पलायन, वामनका आविर्भाव, उनकी स्तुति, बलिके यज्ञमें आनेका उपक्रम और भरद्वाजका साक्ष्यान कथन)

पुलस्त्यजी बोले—दानवेश्वर प्रह्लादके तीर्थयात्राके लिये चले जानेपर विरोचनका पुत्र बलि कुरुक्षेत्रमें यज्ञ करनेके लिये गया। उस महान् धर्मयुक्त तीर्थमें ब्राह्मणश्रेष्ठ शुक्राचार्यने द्विजोंमें श्रेष्ठ भार्गवोंको आमन्त्रित किया

भृगुवंशीय ब्राह्मणोंका आमन्त्रित किया जाना सुनकर अत्रि, गौतम, कौशिक और अङ्गिरागोत्रीय ब्राह्मणोंने कुरुजाङ्गल का त्याग कर दिया। वे उत्तर दिशामें शतद्रु नदीके तटपर गये। शतद्रुके जलमें स्नान करनेके बाद वे सभी विपाशा नदीके निकट चले गये। वहाँ भी मनके अनुकूल न होनेके कारण वे सब स्नान करनेके पश्चात् पितरों एवं देवोंका पूजन कर सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न किरणा नदीके समीप गये। देवर्षे! उसमें स्नान और अर्चन करनेके बाद सभी महर्षि पवित्र जलवाली ऐरावती नदीके निकट गये तथा उसमें स्नान करके ईश्वरी नदीके तटपर चले गये। मुने! देविका और पयोष्णीमें स्नान करके आत्रेय आदि तपस्वियोंने शुभा नामकी नदीमें स्नान करनेके लिये प्रवेश किया। द्विजश्रेष्ठ! जलमें गोता लगानेपर उन लोगोंने जलके भीतर महान् आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अपनी-अपनी परछाईं देखी ॥ १-८ ॥

उन्मज्जने च ददृशु पुनर्विस्मितमानसा । ततः स्नात्वा समुत्तीर्णा ऋषयः सर्व एव हि ॥ ९ ॥
जग्मुस्ततोऽपि ते ब्रह्मन् कथयन्तः परस्परम् । चिन्तयन्तश्च सततं किमेतदिति विस्मिताः ॥ १० ॥
ततो दूरादपश्यन्त वनषण्डं सुविस्तृतम् । घनं हरगलश्यामं खगध्वनिनिनादितम् ॥ ११ ॥
अतितुङ्गतया व्योम आवृण्वानं नगोत्तमम् । विस्तृताभिर्जटाभिस्तु अन्तर्भूमिं च नारद ॥ १२ ॥
काननं पुष्पितैर्वृक्षैरतिभाति समन्ततः । पञ्चवर्णैः सुबहुलैर्नभस्तारागणैरिव ॥ १३ ॥
तं दृष्ट्वा कमलैर्व्याप्तं पुण्डरीकैश्च शोभितम् । तद्वत् कोकनदैर्व्याप्तं वनं पश्यन् ययाः ॥ १४ ॥
प्रजग्मुस्तुष्टिमतुलां ते ह्लाद परमं ययुः । विविशुः प्रीतमनसो हंसा इव महासरः ॥ १५ ॥
तन्मध्ये ददृशुः पुण्यमाश्रमं लोकपूजितम् । चतुर्णां लोकपालानां वर्गाणां मुनिसत्तम ॥ १६ ॥

महर्षियोंने डुबकी लगानेके बाद जब सिर ऊपर किया तब पुनः वैसा ही देखा, इससे वे आश्चर्यमें पड़ गये। उसके बाद स्नान करके सभी ऋषि बाहर निकले। ब्रह्मन्! उसके पश्चात् वे सभी लोग यह क्या है!—इस विषयमें आश्चर्यपूर्वक आपसमें बातचीत एवं विचार-विमर्श करते हुए वहाँसे भी चले गये। उसके बाद उन लोगोंने दूरसे ही अतिविस्तृत, शंकरके कण्ठकी भाँति श्यामवर्णवाले और पक्षियोंकी ध्वनिसे भरा एक वृक्षोंका समूह (वन) देखा। नारदजी! वह वन अत्यन्त ऊँचा होनेके कारण आकाशको घेरे हुए था तथा उसकी नीचेकी भूमि फैले हुए फूलोंसे दबी रहती थी। वह वन तारागणोंसे जगमगाते हुए आकाशके समान खिले हुए पँचरंगे वृक्षोंसे बहुत सुंदर लग रहा था। कमलवनके समान कमलोंसे व्याप्त, पुण्डरीकोंसे विभूषित एवं कोकनदोंसे भरे उस वनको देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न एवं गद्गद हो गये। वे लोग संतुष्ट चित्तसे उसमें इस प्रकार प्रविष्ट हुए, जिस प्रकार हंस महासरोवरमें प्रवेश करते हैं। मुनिसत्तम! उन लोगोंने उसके बीचमें लोकपालोंके चार वर्गों-(धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) का लोकपूजित पवित्र आश्रम देखा ॥ ९-१६ ॥

धर्माश्रमं प्राङ्मुखं तु पलाशविटपावृतम् । मर्त्यान्यभिमुखं ब्रह्मन् अर्थस्येक्षुवनावृतम् ॥ १७ ॥
दक्षिणाभिमुखं काम्यं रम्भाशोकवनावृतम् । उदङ्मुखं च मोक्षस्य शुद्धस्फटिकवर्चसम् ॥ १८ ॥
कृतान्ते त्वाश्रमी मोक्षः कामस्त्रेतान्तरे शर्मी । आश्रम्यथा द्वापरान्ते तिष्यान्ते धर्म आश्रमी ॥ १९ ॥
तान्याश्रमाणि मुनयो दृष्ट्वात्रेयादयोऽव्ययाः । नैव च र्मि चतुष्खण्डे महाप्तु ॥ २० ॥
धर्मार्थकामधाम् विष्णुखण्ड इति विश्रुत । चतुर्मूर्तिजगन्नाथ पूर्वमेव प्रतिष्ठितः ॥ २१ ॥
तमर्चयन्ति ऋषयो योगात्मानो बहुश्रुताः । शुश्रूषयाऽथ तपसा ब्रह्मचर्येण नारद ॥ २२ ॥
एवं ते न्यवसंस्तत्र समना मुनयो वने । असुरेभ्यस्तदा भीता ब्राह्मयाराधनतत्परम् ॥ २३ ॥
तथाऽन्ये ब्राह्मणा ब्रह्मन् अदमदृष्टा मरीचिना । स्नात्वा जले हि कालिन्द्या प्रजग्मुर्दक्षिणामुखाः ॥ २४ ॥

ब्रह्मन् ! पूर्व दिशाकी ओर मुखवाला पलाशवृक्षसे घिरा हुआ धर्माश्रम, पश्चिममुख इक्षुवनसे घिरा हुआ अर्थाश्रम, दक्षिणकी ओर कदली और अशोकके वनसे घिरा हुआ कामाश्रम तथा उत्तरकी ओर शुद्धस्फटिकके समान तेजस्वी मोक्षाश्रम स्थित था। सत्ययुगके अन्तमें मोक्ष अपने आश्रममें निवास करने लगता है, त्रेतामें काम आश्रमवासी हो जाता है, द्वापरके अन्तमें अर्थ आश्रमी बन जाता है और कलिके आदिमें धर्म आश्रममें रहना प्रारम्भ करता है। अत्रय, आत्रेय आदि मुनियोंने उन आश्रमोंको देखकर अखण्ड जलसे परिपूर्ण उस स्थानमें सुखसे रहनेका निश्चय किया। धर्म आदिके द्वारा भगवान् विष्णु अखण्ड नामसे विख्यात हैं। जगन्नाथ चार मूर्तियोंवाले हैं, यह पहलेसे ही निश्चित है। नारदजी ! बहुश्रुत योगात्मा ऋषिगण सेवा, तप और ब्रह्मचर्यके द्वारा उनकी पूजा करते हैं। असुरोंसे त्रस्त होकर वे मुनिगण सम्मिलितरूपसे उस अखण्ड पर्वतका भलीभाँति आश्रयण कर रहने लगे। ब्रह्मन् ! केवल पत्थरसे कूटे हुए अन्नको खानेवाले वानप्रस्थी साधु तथा सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले अन्य ब्राह्मण आदि कालिन्दीके जलमें स्नान कर दक्षिण दिशाकी ओर चले गये ॥ १७—२४॥

अवन्तिविषयं प्राप्य विष्णुमासाद्य संस्थिताः। विष्णोरपि प्रसादेन दुष्प्रवेशं महासुरैः ॥ २५ ॥
वालखिल्याश्रयो जग्मुरवशा दानवाद् भयात्। रुद्रकोटिं समाश्रित्य स्थितास्ते ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥
एवं गतेषु विप्रेषु गौतमाङ्गिरसादिषु। शुक्रस्तु भार्गवान् सर्वान् निन्ये यज्ञविधौ मुने ॥ २७ ॥
अधिष्ठिते भार्गवैस्तु महायज्ञेऽमितद्युते। यज्ञदीक्षां बले: शुक्रश्चकार विधिना स्वयम् ॥ २८ ॥
श्वेताम्बरधरो दैत्यः श्वेतमाल्यानुलेपनः। मृगाजिनावृतः पृष्ठे बर्हिपत्रविचित्रितः ॥ २९ ॥
समास्ते वितते यज्ञे सदस्यैरभिसंवृतः। हयग्रीवप्रलम्बाद्यैर्मयबाणपुरोगमैः ॥ ३० ॥
पत्नी विन्ध्यावली चास्य दीक्षिता यज्ञकर्मणि। ललनानां सहस्रस्य प्रधाना ऋषिकन्यका ॥ ३१ ॥
शुक्रेणाश्वः श्वेतवर्णो मधुमासे सुलक्षणः। मही विहर्तुमुत्सृष्टस्तारकाक्षोऽन्वगाच्च तम् ॥ ३२ ॥

वे विष्णु भगवान्‌की कृपासे महान् असुरोंके कारण प्रवेश पानेमें कठिन अवन्ति नगरीमें पहुँचे और उनके निकट रहने लगे। दानवोंके डरसे विवश होकर वालखिल्य आदि ब्रह्मचारी ऋषि रुद्रकोटि चले गये और वहाँ रहने लगे। मुने ! इस प्रकार गौतम और आङ्गिरस आदि ब्राह्मणोंके चले जानेपर शुक्राचार्य सभी भार्गववंशीय ब्राह्मणोंको यज्ञ-कार्यमें ले गये। अमिततेजस्विन् ! भार्गववंशीय ब्राह्मणोंसे अधिकृत शुक्राचार्यने बलिको महायज्ञमें स्वयं विधिवत् यज्ञकी दीक्षा दी। श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले, श्वेत माल्य एवं अनुलेपनसे युक्त, मृगचर्मसे आवृत एवं मयूरपुच्छसे सुसज्जित दैत्य बलिने हयग्रीव, प्रलम्ब, मय एवं बाण आदि सदस्योंसे घिरे हुए विस्तृत यज्ञ मण्डपमें आसन ग्रहण किया। उसकी पत्नी विन्ध्यावली भी यज्ञकर्ममें दीक्षित हुई। वह ऋषिकन्या हजारों ललनाओंमें प्रधान थी। शुक्राचार्यने चैत्रमासमें सुलक्षण अश्व पृथ्वीपर विचरण करनेके लिये छोड़ा। तारकाक्ष नामका असुर उसके पीछे-पीछे चलने लगा ॥ २५—३२ ॥

एवमश्वे समुत्सृष्टे वितते यज्ञकर्मणि। गते च मासत्रितये हूयमाने च पावके ॥ ३३ ॥
पूज्यमानेषु दैत्येषु मिथुनस्थे दिवाकरे। सुषुवे देवजननी माधवं वामनाकृतिम् ॥ ३४ ॥
तं जातमात्रं भगवन्तमीशं नारायणं लोकपतिं पुराणम्।
ब्रह्मा समभ्येत्य समं महर्षिभिः स्तोत्रं जगादाथ विभोर्महर्षे ॥ ३५ ॥
नमोऽस्तु ते माधव सत्यमूर्ते नमोऽस्तु ते शाश्वत दिव्यचक्र।
नमोऽस्तु ते शत्रुवनेन्धनाग्ने नमोऽस्तु ते पापमहादवाग्ने ॥ ३६ ॥

नमस्ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन । नमस्ते जगदाधार नमस्ते पुरुषोत्तम ॥ ३७ ॥
नारायण जगन्मूर्ते जगन्नाथ गदाधर । पीतवासः श्रियः कान्त जनार्दन नमोऽस्तु ते ॥ ३८ ॥
भवांस्त्राता च गोप्ता च विश्वात्मा सर्वगोऽव्ययः । सर्वधारी धराधारी रूपधारी नमोऽस्तु ते ॥ ३९ ॥
वर्धस्व वर्धिताशेषत्रैलोक्य सुरपूजित । कुरुष्व दैवतपते मघोनोऽश्रुप्रमार्जनम् ॥ ४० ॥
त्वं धाता च विधाता च संहर्ता त्वं महेश्वरः । महालय महायोगिन् योगशायिन् नमोऽस्तु ते ॥ ४१ ॥

इस प्रकार उस अश्वके छोड़ जानेपर यज्ञकर्मके चलते हुए अग्निमें हवन करते तीन मास व्यतीत हो जानेपर तथा दैत्योंसे पूजित होने और सूर्यके मिथुन राशिमें सङ्क्रमण करनेपर देवमाता अदितिने वामनके आकारवाले माधवको जन्म दिया । महर्षे ! उन भगवान्, ईश, नारायण, लोकपति पुराण-पुरुषके अवतार होते ही ब्रह्मा महर्षियोंके साथ उनके निकट गये तथा (उन) विभुकी स्तुति करने लगे । हे सत्यमूर्ते ! हे माधव ! आपको नमस्कार है । हे शाश्वत ! हे विश्वरूप ! आपको नमस्कार है । शत्रुरूपी वनके ईंधनके लिये हे अग्निस्वरूप ! आपको नमस्कार है । पापरूपी वनके लिये हे महादावाग्निस्वरूप ! आपको नमस्कार है । हे पुण्डरीकाक्ष ! आपको नमस्कार है । हे विश्वकी सृष्टि करनेवाले ! आपको नमस्कार है । हे जगत्के आधार ! आपको नमस्कार है । हे पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है । हे नारायण ! हे जगन्मूर्ते ! हे जगन्नाथ ! हे गदाधर ! हे पीताम्बर धारण करनेवाले ! हे लक्ष्मीपते ! हे जनार्दन ! आपको नमस्कार है । आप पालन करनेवाले, रक्षक, विश्वात्मा, सर्वत्र गमन करनेवाले, अविनाशी, सबको धारण करनेवाले, पृथ्वीको धारण करनेवाले तथा रूप धारण करनेवाले हैं । आपको नमस्कार है । हे देवपूजित ! हे सारी त्रिलोकीको बढ़ानेवाले ! आपका अभ्युदय हो । हे दैवतपते ! आप इन्द्रके आँसू पोंछें । आप धाता, विधाता, संहर्ता, महेश्वर, महालय, महायोगी और योगशायी हैं । आपको नमस्कार है ॥ ३३–४१ ॥

इत्थं स्तुतो जगन्नाथः सर्वात्मा सर्वगो हरिः । प्रोवाच भगवान् मह्यं कुरुतोपनयनं विभो ॥ ४२ ॥
ततश्चकार देवस्य जातकर्मादिकाः क्रियाः । भरद्वाजो महातेजा बार्हस्पत्यस्तपोधनः ॥ ४३ ॥
व्रतबन्धं तथेशस्य कृतवान् सर्वशास्त्रवित् । ततो ददुः प्रीतियुताः सर्व एव वरान् क्रमात् ॥ ४४ ॥
यज्ञोपवीतं पुलहस्त्वहं च सितवाससी । मृगाजिनं कुम्भयोनिर्भरद्वाजस्तु मेखलाम् ॥ ४५ ॥
पालाशमददद् दण्डं मरीचिर्ब्रह्मणः सुतः । अक्षसूत्रं वारुणिस्तु कौश्यं वेदमथाङ्गिराः ॥ ४६ ॥

इस प्रकारकी स्तुति किये जानेपर सर्वात्मा, सर्वगामी जगन्नाथ भगवान् श्रीहरिने कहा—विभो ! मेरा उपनयन-संस्कार कीजिये । उसके बाद बृहस्पतिवंशमें उत्पन्न महातेजस्वी तपोधन भरद्वाजने वामनकी जातकर्म आदि सभी क्रियाएँ सम्पन्न करायीं । उसके पश्चात् सभी शास्त्रोंके वेत्ता भरद्वाजने ईश्वरका व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत) कराया । उसके बाद सभीने प्रसन्न होकर यदुकको क्रमशः श्रेष्ठ दान दिये । पुलहने यज्ञोपवीत, मैं (पुलस्त्य)ने दो शुक्ल वस्त्र, अगस्त्यने मृगचर्म तथा भरद्वाजने मेखला दी । ब्रह्माके पुत्र मरीचिने पलाशदण्ड, वारुणि-(वसिष्ठ)ने अक्षसूत्र एवं अङ्गिराने रेशमी वस्त्र तथा वेद दिया ॥ ४२–४६ ॥

छत्रं प्रादाद् रघू राजा उपानद्युगलं नृगः । कमण्डलुं बृहत्तेजाः प्रादाद्विष्णोर्बृहस्पतिः ॥ ४७ ॥
एवं कृतोपनयनो भगवान् भूतभावनः । संस्तूयमानो ऋषिभिः साङ्गं वेदमधीयत ॥ ४८ ॥
भरद्वाजादाङ्गिरसात् सामवेदं महाध्वनिम् । महदाख्यानसंयुक्तं गान्धर्वसहितं मुने ॥ ४९ ॥
मासेनैकेन भगवान् ज्ञानश्रुतिमहार्णवः । लोकाचारप्रवृत्त्यर्थमभूच्छ्रुतिविशारदः ॥ ५० ॥
सर्वशास्त्रेषु नैपुण्यं गत्वा देवोऽक्षयोऽव्ययः । प्रोवाच ब्राह्मणश्रेष्ठं भरद्वाजमिदं वचः ॥ ५१ ॥

राजा रघुने छत्र, नृगने एक जोड़ा जूता एवं अत्यन्त तेजस्वी बृहस्पतिने विष्णुको कमण्डलु दिया। इस प्रकार उपनयन-संस्कार हो जानेपर ऋषियोंसे संस्तुत होते हुए भगवान् भूतभावनने (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष—इन) अङ्गोंके साथ चारों वेदोंका अध्ययन किया। मुने! उन्होंने आङ्गिरस भरद्वाजसे गन्धर्वविद्याके साथ महान् आख्यानोंसे पूर्ण महाधन्यात्मक सामवेदका अध्ययन किया। इस प्रकार ज्ञानस्वरूप वदके अगाध समुद्र भगवान् एक मासमें लोकाचारके व्यवहारके लिये वेदविशारद हो गये। समस्त शास्त्रोंमें निपुण होकर अक्षय, अव्यय वामनने ब्राह्मणश्रेष्ठ भरद्वाजजीसे यह वचन कहा—॥ ४७–५१ ॥

श्रीवामन उवाच

ब्रह्मन् व्रजामि देहाज्ञां कुरुक्षेत्रं महोदयम्। तत्र दैत्यपतेः पुण्यो हयमेधः प्रवर्तते ॥ ५२ ॥
समाविष्टानि पश्यस्व तेजांसि पृथिवीतले।
ये सन्निधाना सततं मदंशाः पुण्यवर्धनाः। तेनाहं प्रतिजानामि कुरुक्षेत्रं गतो बलिः ॥ ५३ ॥

श्रीवामनजीने कहा—ब्रह्मन्! मैं अत्यन्त उत्तम कुरुक्षेत्र तीर्थमें जाना चाहता हूँ। आप आज्ञा दीजिये। वहाँ दैत्यराज बलिका पवित्र अश्वमेध यज्ञ हो रहा है। देखिये, पृथ्वीतलपर पुण्यकी वृद्धि करनेवाले मेरे स्थानोंमें तेजोंका समावेश हो रहा है। अतः मुझे यह मालूम हो रहा है कि बलि कुरुक्षेत्रमें स्थित है ॥ ५२-५३ ॥

भरद्वाज उवाच

स्वेच्छया तिष्ठ वा गच्छ नाहमाज्ञापयामि ते। गमिष्यामो वयं विष्णो बलेरध्वरं मा खिद ॥ ५४ ॥
यद् भवन्तमहं देव परिपृच्छामि तद् वद।
केषु केषु विभो नित्यं स्थानेषु पुरुषोत्तम। सांनिध्यं भवतो ब्रूहि ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ५५ ॥

भरद्वाजजीने कहा—आप अपनी इच्छासे यहाँ रहें अथवा जायँ। मैं आपको आदेश नहीं दूँगा। विष्णो! हमलोग बलिके यज्ञमें जायँगे। आप चिन्ता न करें। देव! मैं आपसे जो पूछता हूँ उसे आप बतलायें। विभो! पुरुषोत्तम! मैं यथार्थरूपसे यह जानना चाहता हूँ कि आप किन किन स्थानोंमें रहते हैं ॥ ५४-५५ ॥

वामन उवाच

श्रूयतां कथयिष्यामि येषु येषु गुरो अहम्। निवसामि सुपुण्येषु स्थानेषु बहुरूपधान् ॥ ५६ ॥
ममावतारैर्वसुधा नभस्तलं पातालमम्भोनिधयो दिवं च।
दिशः समस्ता गिरयोऽम्बुदाश्च व्याप्ता भरद्वाज ममानुरूपैः ॥ ५७ ॥
ये दिव्या ये च भौमा जलगगनचराः स्थावरा जङ्गमाश्च
सेन्द्राः सार्काः सचन्द्रा यमवसुवरुणा ह्यग्नयः सर्वपालाः।
ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता द्विजपशुसहिता मूर्तिमन्तो ह्यमूता-
स्ते सर्वे मत्प्रसूता बहुविविधगुणाः पूरणार्थं पृथिव्याः ॥ ५८ ॥
एते हि मुख्याः सुरसिद्धदानवैः पूज्यास्तथा मन्निहिता महीतले।
येषां स्मरणे सहसैव नाशं प्रयाति पापं द्विजवर्य कीर्तने ॥ ५९ ॥

इति श्रीवामनपुराणे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

श्रीवामनजी बोले—गुरो! अनेक रूपोंसे युक्त होकर जिन जिन पवित्र स्थानोंमें मैं रहता हूँ, उनका मैं वर्णन कर रहा हूँ, उसे आप सुनें। भरद्वाजजी! मेरे अनुरूप मेरे अवतारोंसे पृथ्वी, आकाश पाताल समुद्र स्वर्ग,

सभी दिशाएँ, पर्वत तथा मेघ व्याप्त हैं। ब्रह्मन्! दिव्य, पार्थिव, जलचर, आकाशचर, स्थावर, जङ्गम, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, यम, वसु, वरुण, सभी अग्नियाँ, समस्त प्राणियोंके पालक, ब्रह्मासे लेकर स्थावरतक पशु-पक्षिसहित सभी मूर्त और अमूर्त पदार्थ, भाँति-भाँतिके गुणोंसे सम्पन्न—ये सभी पदार्थ पृथ्वीकी पूर्तिके लिये मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं। पृथ्वीपर स्थित ये सभी मुख्य पदार्थ देवों, सिद्धों एवं दानवोंके पूजनीय हैं। द्विजश्रेष्ठ! इनके कीर्तन एवं दर्शनमात्रसे पाप शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ५६—५९ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें अट्ठासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८८ ॥

[अथैकोननवतितमोऽध्यायः]

श्रीभगवानुवाच

आद्यं मात्स्यं महद्रूपं संस्थितं मानसे ह्रदे। सर्वपापक्षयकरं कीर्तनस्पर्शनादिभिः ॥ १ ॥
कौर्ममन्यत्सन्निधानं कौशिक्यां पापनाशनम्। हयशीर्षं च कृष्णांशे गोविन्दं हस्तिनापुरे ॥ २ ॥
त्रिविक्रमं च कालिन्द्यां लिङ्गभेदे भवं विभुम्। केदारे माधवं शौरिं कुब्जाम्रे हृष्टमूर्धजम् ॥ ३ ॥
नारायणं बदर्यां च वाराहे गरुडासनम्। जयेशं भद्रकर्णे च विपाशायां द्विजप्रियम् ॥ ४ ॥
रूपधारमिरावत्यां कुरुक्षेत्रे कुरुध्वजम्। कृतशौचे नृसिंहं च गोकर्णे विश्वकर्मिणम् ॥ ५ ॥
प्राचीने कामपालं च पुण्डरीकं महाम्भसि। विशाखयूपे ह्यजितं हंसं हंसपदे तथा ॥ ६ ॥
पयोष्ण्यामखण्डं च वितस्तायां कुमारिलम्। मणिमत्पर्वते शम्भुं ब्रह्मण्ये च प्रजापतिम् ॥ ७ ॥
मधुनद्यां चक्रधरं शूलबाहुं हिमालये। विद्धि विष्णुं मुनिश्रेष्ठ स्थितमोषधिसानुनि ॥ ८ ॥

नवासीवाँ अध्याय प्रारम्भ

(वामन भगवान्‌का विविध स्थानोंमें निवास वर्णन और कुरुजाङ्गलके लिये प्रस्थान करना)

श्रीभगवान् बोले—मेरा प्रथम विशाल मत्स्यरूप मानससरोवरमें स्थित है। वह कीर्तन और स्पर्श आदिसे सभी पापोंका विनाश करनेवाला है। दूसरा पापका विनाश करनेवाला मेरा कूर्मावतार कौशिकी नदीमें स्थित है। कृष्णांशमें हयशीर्ष और हस्तिनापुरमें गोविन्द नामसे विराजमान हैं। कालिन्दीमें त्रिविक्रम तथा लिङ्गभेदमें व्यापक भव, केदार तीर्थमें माधव, शौरि और कुब्जाम्रमें हृष्टमूर्धज स्थित हैं। बदरिकाश्रममें नारायण, वाराहमें गरुडासन, भद्रकर्णमें जयेश एवं विपाशा नदीके तटपर द्विजप्रिय विद्यमान हैं। इरावतीमें रूपधार, कुरुक्षेत्रमें कुरुध्वज, कृतशौचमें नृसिंह और गोकर्णमें विश्वकर्मा वर्तमान हैं। प्राचीन स्थानमें कामपाल, महाम्भस्‌में पुण्डरीक, विशाखयूपमें अजित तथा हंसपदमें हंसरूप विद्यमान हैं। पयोष्णीमें अखण्ड, वितस्तामें कुमारिल, मणिमान् पर्वतपर शम्भु एवं ब्रह्मण्यमें प्रजापति रूप स्थित हैं। मुनिश्रेष्ठ! मधुनदीमें चक्रधर, हिमालयमें शूलबाहु और ओषधिप्रस्थमें मेरे विष्णु रूपको अवस्थित जानें ॥ १—८ ॥

भृगुतुङ्गे सुवर्णाक्षं नैमिषे पीतवाससम्। गयायां गोपतिं देवं गदापाणिनमीश्वरम् ॥ ९ ॥
त्रैलोक्यनाथं वरदं गोप्रतारे कुशेशयम्। अर्द्धनारीश्वरं पुण्ये माहेन्द्रे दक्षिणे गिरौ ॥ १० ॥
गोपालमुत्तरे नित्यं महेन्द्रे सोमपीथिनम्। वैकुण्ठमपि सह्याद्रौ पारियात्रे पराजितम् ॥ ११ ॥
कशेरुदेशे देवेशं विश्वरूपं तपोधनम्। मलयाद्रौ च सौगन्धिं विन्ध्यपादे सदाशिवम् ॥ १२ ॥
अवन्तिविषये विष्णुं निषधेष्वमरेश्वरम्। पाञ्चालिकं च कर्णे पाञ्चालेषु व्यवस्थितम् ॥ १३ ॥
हयग्रीवं प्रयागे योगशायिनम्। स्वयम्भुवं मधुवने अयोगन्धिं च पुष्करे ॥ १४ ॥

तथैव विप्रप्रवर वाराणस्यां च केशवम्। अविमुक्तकमत्रैव लोलश्चात्रैव गीयते ॥ १५ ॥
पद्मायां पद्मकिरणं समुद्रे वडवामुखम्। कुमारधारे बाह्लीशं कार्तिकेयं च बर्हिणम् ॥ १६ ॥

भृगुतुङ्गमें सुवर्णाक्ष, नैमिषमें पीतवासा एवं गयामें गोपति गदाधर ईश्वररूपसे वर्तमान हैं। गोप्रतारमें वरदायक, तीनों लोकोंके स्वामी कुशेशय एवं पवित्र महेन्द्र पर्वतपर दक्षिणमें अर्धनारीश्वर रूप विद्यमान है। महेन्द्र पर्वतपर उत्तरमें सोमपीथी गोपाल, सह्याद्रि पर्वतपर वैकुण्ठ एवं पारियात्रमें अपराजितरूप स्थित है। कशेरुदेशमें तपोधन, विश्वरूप देवेश, मलय पर्वतपर सौगन्धि तथा विन्ध्यपादमें सदाशिव रूप वर्तमान है। ब्रह्मर्षे! अवन्तिदेशमें विष्णु, निषधदेशमें अमरेश्वर और पाञ्चालदेशमें मेरा पाञ्चालिक रूप अवस्थित है। महोदयमें हयग्रीव, प्रयागमें योगशायी, मधुवनमें स्वयम्भुव और पुष्करमें अयोगन्धि रूप विद्यमान है। विप्रश्रेष्ठ! उसी प्रकार वाराणसीमें मेरा केशवरूप तथा यहींपर अविमुक्तक तथा लोलरूप स्थित कहा गया है। पद्मामें पद्मकिरण, समुद्रमें वडवामुख तथा कुमारधारमें बाह्लीश और वहीं कार्तिकेय रूपसे स्थित हैं ॥ ९–१६ ॥

अजेशे शम्भुमनघं स्थाणुं च कुरुजाङ्गले। वनमालिनमाहुर्मां किष्किन्धावासिनो जनाः ॥ १७ ॥
वीरं कुवल्यारूढं शङ्खचक्रगदाधरम्। श्रीवत्साङ्कमुदाराङ्गं नर्मदायां श्रियः पतिम् ॥ १८ ॥
माहिष्मत्यां त्रिनयनं तत्रैव च हुताशनम्। अर्बुदे च त्रिसौपर्णं क्ष्माधरं शूकराचले ॥ १९ ॥
त्रिणाचिकेतं ब्रह्मर्षे प्रभासे च कपर्दिनम्। तथैवात्रापि विख्यातं तृतीयं शशिशेखरम् ॥ २० ॥
उदये शशिनं सूर्यं ध्रुवं च त्रितयं स्थितम्। हेमकूटे हिरण्याक्षं स्कन्दं शरवणे मुने ॥ २१ ॥
महालये स्मृतं रुद्रमुत्तरेषु कुरुष्वथ। पद्मनाभं मुनिश्रेष्ठ सर्वसौख्यप्रदायकम् ॥ २२ ॥
सप्तगोदावरे ब्रह्मन् विख्यातं हाटकेश्वरम्। तत्रैव च महाहंसं प्रयागेऽपि वटेश्वरम् ॥ २३ ॥
शोणे च रुक्मकवचं कुण्डिने घ्राणतर्पणम्। भिल्लीवने महायोगं माद्रेषु पुरुषोत्तमम् ॥ २४ ॥

अजेशमें अनघ शम्भु तथा कुरुजाङ्गलमें स्थाणुमूर्ति हैं। किष्किन्धाके निवासी लोग मुझे वनमाली कहते हैं। नर्मदाके क्षेत्रमें मुझे वीर, कुवल्यारूढ, शङ्ख-चक्र-गदाधर, श्रीवत्साङ्क एवं उदाराङ्ग श्रीपति कहा जाता है। माहिष्मतीमें मेरा त्रिनयन एवं हुताशन रूप विद्यमान है। इसी प्रकार अर्बुदमें त्रिसौपर्ण एवं शूकराचलमें मेरा क्ष्माधर रूप अवस्थित है। ब्रह्मर्षे! प्रभासमें मेरा त्रिणाचिकेत, कपर्दी और तृतीय शशिशेखर रूप विख्यात है। उदयगिरिमें चन्द्र, सूर्य और ध्रुव—ये तीन मूर्तियाँ अवस्थित हैं। मुने! हेमकूटमें हिरण्याक्ष एवं शरवणमें स्कन्दनामक रूप विद्यमान है। मुनिश्रेष्ठ! महालयमें रुद्र एवं उत्तरकुरुमें हर प्रकारका सुख प्रदान करनेवाला पद्मनाभ रूप विख्यात है। ब्रह्मन्! सप्तगोदावरमें हाटकेश्वर एवं महाहंस तथा प्रयागमें वटेश्वर रूप अवस्थित है। शोणमें रुक्मकवच, कुण्डिनमें घ्राणतर्पण, भिल्लीवनमें महायोग, माद्रमें पुरुषोत्तम रूप विद्यमान है ॥ १७–२४ ॥

प्लक्षावतरणे विश्वं श्रीनिवासं द्विजोत्तम। शूर्पारके चतुर्बाहुं मगधायां सुधापतिम् ॥ २५ ॥
गिरिव्रजे पशुपतिं श्रीकण्ठं यमुनातटे। वनस्पतिं समाख्यातं दण्डकारण्यवासिनम् ॥ २६ ॥
कालिञ्जरे नीलकण्ठं सरय्वां शम्भुमुत्तमम्। हंसयुक्तं महाकोश्यां सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २७ ॥
गोकर्णे दक्षिणे शर्वं वासुदेवं प्रजामुखे। विन्ध्यशृङ्गे महाशौरिं कन्यायां मधुसूदनम् ॥ २८ ॥
त्रिकूटशिखरे ब्रह्मन् चक्रपाणिनमीश्वरम्। लोहदण्डे हृषीकेशं कोसलायां मनोहरम् ॥ २९ ॥
महाबाहुं सुराष्ट्रे च नवराष्ट्रे यशोधरम्। भूधरं देविकायां महोदायां कुशप्रियम् ॥ ३० ॥
गोमत्यां छादितगदं शङ्खोद्धारे च शङ्खिनम्। सुनेत्रं सैन्धवारण्ये शूरं शूरपुरे स्थितम् ॥ ३१ ॥
रुद्राख्यं च हिरण्वत्यां वीरभद्रं त्रिविष्टपे। शङ्कुकर्णं च भीमायां भीमं शालवने विदुः ॥ ३२ ॥

द्विजोत्तम ! प्लक्षावतरणमें विश्वात्मक श्रीनिवास, शूर्पारकमें चतुर्बाहु एवं मगधामें सुधापति रूप स्थित हैं। गिरिव्रजमें पशुपति, यमुनातटपर श्रीकण्ठ एवं दण्डकारण्यमें मेरा वनस्पति रूप विख्यात है। कालिञ्जरमें नीलकण्ठ, सरयूमें उत्तम शम्भु और महाकोशीमें सभी पापोंका विनाश करनेवाला हंसयुक्त रूप स्थित है। दक्षिण गोकर्णमें श प्रजामुखमें वासुदेव, विन्ध्यपर्वतके शिखरमें महाशौरि और कन्यामें मधुसूदन रूप विद्यमान है। ब्रह्मन् ! त्रिकूटपर्वत ऊँची चोटीपर चक्रपाणि ईश्वर, लोहदण्डमें हृषीकेश तथा कोसलमें मनोहर रूप वर्तमान हैं। सुराष्ट्रमें महाबा नवराष्ट्रमें यशोधर, देविका नदीमें भूधर तथा महोदामें कुशप्रिय रूप स्थित हैं। गोमतीमें छन्दिगद, शङ्खोद्धा शङ्खी, सैन्धवारण्यमें सुनेत्र एवं शूरपुरमें शूर रूप विद्यमान हैं। हिरण्वतीमें रुद्र, त्रिविष्टपमें वीरभद्र, भीमामें शङ्कर और शाल्वनमें भीमनामक रूपको लोग जानते हैं ॥ २५–३२ ॥

विश्वामित्रं च गदितं कैलासे वृषभध्वजम्। महेशं महिलाशैले कामरूपे शशिप्रभम् ॥ ३३ ॥
वलभ्यामपि गोमित्रं कटाहे पङ्कजप्रियम्। उपेन्द्रं सिंहलद्वीपे शक्राह्वे कुन्दमालिनम् ॥ ३४ ॥
रसातले च विख्यातं सहस्रशिरसं मुने। कालाग्निरुद्रं तत्रैव तथाऽन्यं कृत्तिवाससम् ॥ ३५ ॥
सुतले कूर्ममचलं वितले पङ्कजासनम्। महातले गुरो ख्यातं देवेशं छागलेश्वरम् ॥ ३६ ॥
तले सहस्रचरणं सहस्रभुजमीश्वरम्। सहस्राक्षं परिख्यातं मुसलाकृष्टदानवम् ॥ ३७ ॥
पाताले योगिनामीशं स्थितं च हरिशङ्करम्। धरातले कोकनदं मेदिन्यां चक्रपाणिनम् ॥ ३८ ॥
भुवर्लोके च गरुडं स्वर्लोके विष्णुमव्ययम्। महर्लोके तथाऽगस्त्यं कपिलं च जने स्थितम् ॥ ३९ ॥
तपोलोकेऽखिलं ब्रह्मन् वाङ्मयं सत्यसंयुतम्। ब्रह्माणं ब्रह्मलोके च सप्तमे वै प्रतिष्ठितम् ॥ ४० ॥

कैलासमें वृषभध्वज और विश्वामित्र, महिलाशैलमें महेश और कामरूपमें शशिप्रभ रूप वर्तमान हैं। वलभी गोमित्र, कटाहमें पङ्कजप्रिय, सिंहलद्वीपमें उपेन्द्र एवं शक्राह्वमें कुन्दमाली नामक रूप स्थित है। मुने ! रसातल विख्यात सहस्रशीर्ष एवं कालाग्नि-रुद्र तथा कृत्तिवासा नामक रूप विद्यमान हैं। गुरो ! सुतलमें अचल कूर्म वितलमें पङ्कजासन तथा महातलमें छागलेश्वर नामक विख्यात देवेशरूप स्थित है। तलमें सहस्रचरण, सहस्रबा एवं मुसलसे दानवको आकृष्ट करनेवाला मेरा सहस्राक्ष-रूप अवस्थित है। पातालमें योगीश हरिशङ्कर, धरातल कोकनद तथा मेदिनीमें चक्रपाणि-रूप वर्तमान है। भुवर्लोकमें गरुड, स्वर्लोकमें अव्यय विष्णु, महर्लोकमें अगस्त्य तथा जनलोकमें कपिल नामक रूप विद्यमान है। ब्रह्मन् ! तपोलोकमें सत्यसे संयुक्त अखिल वाङ्मय एवं सप्त ब्रह्मलोकमें ब्रह्मा नामक रूप प्रतिष्ठित है ॥ ३३–४० ॥

सनातनं तथा शैवे परं ब्रह्म च वैष्णवे। अप्रतर्क्यं निरालम्बे निराकाशे तपोमयम् ॥ ४१ ॥
जम्बूद्वीपे चतुर्बाहुं कुशद्वीपे कुशेशयम्। प्लक्षद्वीपे मुनिश्रेष्ठ ख्यातं गरुडवाहनम् ॥ ४२ ॥
पद्मनाभं तथा क्रौञ्चे शाल्मले वृषभध्वजम्। सहस्रांशुः स्थितः शाके धर्मराट् पुष्करे स्थितः ॥ ४३ ॥
तथा पृथिव्यां ब्रह्मर्षे शालग्रामे स्थितोऽस्म्यहम्। सजलस्थलपर्यन्तं चरेषु स्थावरेषु च ॥ ४४ ॥

एतानि पुण्यानि ममालयानि ब्रह्मन् पुराणानि सनातनानि।
धर्मप्रदानीह महोत्तमानि संकीर्तनीयान्यघनाशनानि ॥ ४५ ॥
संकीर्तनात् स्मरणाद् दर्शनाच्च संस्पर्शनाद्वै च देवतायाः।
धर्मार्थकामाद्यपवर्गमेव लभन्ति देवा मनुजाः ससाध्याः ॥ ४६ ॥
एतानि तुभ्यं विनिवेदितानि ममालयानीह तपोमयानि।
उत्तिष्ठ गच्छामि महासुरस्य गृहं पुराणं हि हिताय दिव ॥ ४७ ॥

शिवलोकमें सनातन, विष्णुलोकमें परम ब्रह्म, निरालम्बमें अप्रतर्क्य और निराकाशमें तपोमय नामक रूप स्थित है। मुनिश्रेष्ठ! जम्बूद्वीपमें चतुर्बाहु, कुशद्वीपमें कुशेशय और प्लक्षद्वीपमें गरुडवाहन नामसे विख्यात रूप वर्तमान है। क्रौञ्चद्वीपमें पद्मनाभ, शाल्मलद्वीपमें वृषभध्वज, शाकद्वीपमें सहस्रांशु तथा पुष्करद्वीपमें धर्मराज नामक रूप विद्यमान हैं। महर्षे! इसी प्रकार पृथ्वीमें मैं शालग्रामके भीतर अवस्थित हूँ। इस प्रकार जलसे लेकर सत्यपर्यन्त समस्त चराचरमें मैं वर्तमान हूँ। ब्रह्मन्! ये ही मेरे पुण्य, पुरातन एवं सनातन धर्मप्रद, अत्यन्त ओजस्वी, सङ्कीर्तनके योग्य एवं अघोंके नाश करनेवाले निवास-स्थान हैं। देव, मनुष्य और साध्यलोग देवताके कीर्तन, स्मरण, दर्शन और स्पर्श करनेसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करते हैं। विप्र! मैंने आपसे अपने इन तपोमय स्थानोंको कह दिया। हे विप्र! अब आप उठिये, देवताओंका हित-साधन करनेके लिये मैं बलिके यज्ञमें जाता हूँ॥ ४१-४७॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा विष्णुर्भरद्वाजमृषिं महात्मा।
विलासलीलागमनो गिरीन्द्रात् स चाभ्यगच्छत् कुरुजाङ्गलं हि॥ ४८॥

इति श्रीवामनपुराणे एकोननवतितमोऽध्यायः॥ ८९॥

पुलस्त्यजी बोले—महर्षे! महात्मा विष्णु महर्षि भरद्वाजसे इस प्रकारका वचन कहकर मनोहर चालसे चलते हुए गिरीन्द्रसे कुरुजाङ्गलमें पहुँचे॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें नवासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ८९॥

[अथ नवतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः समागच्छति वासुदेवे मही चकम्पे गिरयश्च चेलुः।
क्षुब्धाः समुद्रा दिवि ऋक्षमण्डलो बभौ विपर्यस्तगतिर्महर्षे॥ १॥
यज्ञः समागात् परमाकुलत्वं न वेद्मि किं मे मधुहा करिष्यति।
यथा प्रदग्धोऽस्मि महेश्वरेण किं मां न संधक्ष्यति वासुदेवः॥ २॥
ऋग्यजुस्सामघ्राहुतिभिर्हुताभिर्वितानकीयान् ज्वलनास्तु भागान्।
भक्त्या द्विजेन्द्रैरपि सम्प्रपादितान् नैव प्रतीच्छन्ति विभोर्भयेन॥ ३॥
तान् दृष्ट्वा घोररूपांस्तु उत्पातान् दानवेश्वरः। पप्रच्छोशनसं शुक्रं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः॥ ४॥
किमर्थमाचार्य मही सशैला रम्भेव वाताभिहता चचाल।
किमासुरीयान् सुहुतानपीह भागान् न गृह्णन्ति हुताशनाश्च॥ ५॥
क्षुब्धाः किमर्थं मकरालयाश्च भा ऋक्षा न खे किं प्रचरन्ति पूर्ववत्।
दिशः किमर्थं तमसा परिप्लुता दोषेण कस्याद्य वदस्व मे गुरो॥ ६॥

नब्बेवाँ अध्याय प्रारम्भ

(भगवान् वामनके आगमनसे पृथिवीकी क्षुब्धता, बलि और शुक्रके संवाद प्रसंगमें प्रह्लादकी कथा)

पुलस्त्यजी बोले—महर्षे! उसके बाद वामनका रूप धारण करनेवाले वासुदेवके आनेपर पृथ्वी काँपने लगी, पर्वत अपने स्थानसे डिग गये, समुद्रमें जोरसे लहरें उठने लगीं और आकाशमें तारासमूहकी गति अव्यवस्थित हो गयी। यज्ञ भी अत्यन्त व्याकुल हो गया और सोचने लगा—न जाने मधुसूदन भगवान् वासुदेव

द्विजोत्तम ! प्लक्षावतरणमें विश्वात्मक श्रीनिवास, शूर्पारकमें चतुर्बाहु एवं मगधामें सुधापति रूप स्थित हैं। गिरिव्रजमें पशुपति, यमुनातटपर श्रीकण्ठ एवं दण्डकारण्यमें मेरा वनस्पति रूप विख्यात है। कालिञ्जरमें नीलकण्ठ, सरयूमें उत्तम शम्भु और महाकोशामें सभी पापोंका विनाश करनेवाला हंसयुक्त रूप स्थित है। दक्षिण गोकर्णमें शर्व, प्रजामुखमें वासुदेव, विन्ध्यपर्वतके शिखरमें महाशौरि और कन्यामें मधुसूदन रूप विद्यमान है। ब्रह्मन् ! त्रिकूटपर्वतकी ऊँची चोटीपर चक्रपाणि ईश्वर, लोहदण्डमें हृषीकेश तथा कोसलामें मनोहर रूप वर्तमान हैं। सुराष्ट्रमें महाबाहु, नवराष्ट्रमें यशोधर, देविका नदीमें भूधर तथा महोदमें कुशप्रिय रूप स्थित है। गोमतीमें ब्रादितगद, शङ्खोद्धारमें शङ्खी, सैन्धवारण्यमें सुनेत्र एवं शूरपुरमें शूर रूप विद्यमान है। हिरण्वतीमें रुद्र, त्रिविष्टपमें वीरभद्र, भीमामें शङ्कुकर्ण और शालवनमें भीमनामक रूपको लोग जानते हैं ॥ २५–३२ ॥

विश्वामित्रं च गदितं कैलासे वृषभध्वजम्। महेशं महिलाशैले कामरूपे शशिप्रभम् ॥ ३३ ॥
वलभ्यामपि गोमित्रं कटाहे पङ्कजप्रियम्। उपेन्द्रं सिंहलद्वीपे शक्राह्वे कुन्दमालिनम् ॥ ३४ ॥
रसातले च विख्यातं सहस्रशिरसं मुने। कालाग्निरुद्रं तत्रैव तथाऽन्यं कृत्तिवाससम् ॥ ३५ ॥
सुतले कूर्ममचलं वितले पङ्कजासनम्। महातले गुरो ख्यातं देवेशं छागलेश्वरम् ॥ ३६ ॥
तले सहस्रचरणं सहस्रभुजमीश्वरम्। सहस्राक्षं परिख्यातं मुसलाकृष्टदानवम् ॥ ३७ ॥
पाताले योगिनामीशं स्थितं च हरिशङ्करम्। धरातले कोकनदं मेदिन्यां चक्रपाणिनम् ॥ ३८ ॥
भुवर्लोके च गरुडं स्वर्लोके विष्णुमव्ययम्। महर्लोके तथाऽगस्त्यं कपिलं च जने स्थितम् ॥ ३९ ॥
तपोलोकेऽखिलं ब्रह्मन् वाङ्मयं सत्यसंयुतम्। ब्रह्माणं ब्रह्मलोके च सप्तमे वै प्रतिष्ठितम् ॥ ४० ॥

कैलासमें वृषभध्वज और विश्वामित्र, महिलाशैलमें महेश और कामरूपमें शशिप्रभ रूप वर्तमान हैं। वलभीमें गोमित्र, कटाहमें पङ्कजप्रिय, सिंहलद्वीपमें उपेन्द्र एवं शक्राह्वमें कुन्दमाली नामक रूप स्थित है। मुने ! रसातलमें विख्यात सहस्रशीर्षा एवं कालाग्नि-रुद्र तथा कृत्तिवासा नामक रूप विद्यमान हैं। गुरो ! सुतलमें अचल कूर्म, वितलमें पङ्कजासन तथा महातलमें छागलेश्वर नामक विख्यात देवेशरूप स्थित है। तलमें सहस्रचरण, सहस्रबाहु एवं मुसलसे दानवको आकृष्ट करनेवाला मेरा सहस्राक्ष-रूप अवस्थित है। पातालमें योगीश हरिशङ्कर, धरातलमें कोकनद तथा मेदिनीमें चक्रपाणि-रूप वर्तमान है। भुवर्लोकमें गरुड, स्वर्लोकमें अव्यय विष्णु, महर्लोकमें अगस्त्य तथा जनलोकमें कपिल नामक रूप विद्यमान है। ब्रह्मन् ! तपोलोकमें सत्यसे संयुक्त अखिल वाङ्मय एवं सप्तम ब्रह्मलोकमें ब्रह्मा नामक रूप प्रतिष्ठित है ॥ ३३–४० ॥

सनातनं तथा शैवे परं ब्रह्म च वैष्णवे। अप्रतर्क्यं निरालम्बे निराकाशे तपोमयम् ॥ ४१ ॥
जम्बूद्वीपे चतुर्बाहुं कुशद्वीपे कुशेशयम्। प्लक्षद्वीपे मुनिश्रेष्ठ ख्यातं गरुडवाहनम् ॥ ४२ ॥
पद्मनाभं तथा क्रौञ्चे शाल्मले वृषभध्वजम्। सहस्रांशुः स्थितः शाके धर्मराट् पुष्करे स्थितः ॥ ४३ ॥
तथा पृथिव्यां ब्रह्मर्षे शालग्रामे स्थितोऽव्ययम्। सजलस्थलपर्यन्तं चरेषु स्थावरेषु च ॥ ४४ ॥
एतानि पुण्यानि ममालयानि ब्रह्मन् पुराणानि सनातनानि।
धर्मप्रदानीह महोज्ज्वलानि संकीर्तनीयान्यघनाशनानि ॥ ४५ ॥
संकीर्तनात् स्मरणाद् दर्शनाच्च संस्पर्शनाच्चैव च देवतायाः।
धर्मार्थकामाद्यपवर्गमेव लभन्ति देवा मनुजाः ससाध्याः ॥ ४६ ॥
एतानि तुभ्यं विनिवेदितानि ममालयानीह तपोधनानि।
उत्तिष्ठ गच्छामि महासुरस्य गृहं पुराणां हि हिताय विप्र ॥ ४७ ॥

शिवगोष्ठमें सनातन, विष्णुलाभमें परम ब्रह्म, निरालम्बमें अप्रतर्क्य और निराकाशमें तपोमय नामक रूप स्थित है। मुनिश्रेष्ठ! जम्बूद्वीपमें चतुर्बाहु, कुशद्वीपमें कुशेशय और प्लक्षद्वीपमें गरुडवाहन नामसे विख्यात रूप वर्तमान है। क्रौञ्चद्वीपमें पद्मनाभ, शाल्मलद्वीपमें वृषभध्वज, शाकद्वीपमें सहस्रांशु तथा पुष्करद्वीपमें धर्मराज नामक रूप विद्यमान हैं। ब्रह्मर्षे! इसी प्रकार पृथ्वीमें मैं शालग्रामके भीतर अवस्थित हूँ। इस प्रकार जलसे लेकर सत्पर्यन्त समस्त चराचरमें मैं वर्तमान हूँ। ब्रह्मन्! ये ही मेरे पुण्य, पुरातन एवं सनातन धर्मप्रद, अत्यन्त ओजस्वी, सङ्कीर्तनके योग्य एवं अघोंके नाश करनेवाले निवास-स्थान हैं। देव, मनुष्य और साध्यगण देवताके कीर्तन, स्मरण, दर्शन और स्पर्श करनेसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करते हैं। विप्र! मैंने आपसे अपने इन तपोमय स्थानोंको कह दिया। हे विप्र! अब आप उठिये, देवताओंका हित-साधन करनेके लिये मैं बलिके यज्ञमें जाता हूँ ॥ ४१–४७ ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं महर्षे विष्णुर्भरद्वाजमृषिं महात्मा।
विलासलीलागमनो गिरीन्द्रात् स चाभ्यगच्छत कुरुजाङ्गलं हि ॥ ४८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

पुलस्त्यजी बोले—महर्षे! महात्मा विष्णु महर्षि भरद्वाजसे इस प्रकारका वचन कहकर मनोहर चालसे चलते हुए गिरीन्द्रसे कुरुजाङ्गलमें पहुँचे ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें नवासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८९ ॥

[अथ नवतितमोऽध्यायः]

पुलस्त्य उवाच

ततः समागच्छति वासुदेवे मही चकम्पे गिरयश्च चेलुः।
क्षुब्धाः समुद्रा दिवि ऋक्षमण्डलो बभौ विपर्यस्तगतिर्महर्षे ॥ १ ॥
यज्ञः समागात् परमाकुलश्च न वेद्मि किं मे मधुहा करिष्यति।
यथा प्रदग्धोऽस्मि महेश्वरेण किं मां न संधक्ष्यति वासुदेवः ॥ २ ॥
ऋक्सामसामाहुतिभिर्हुताभिर्वितानकीयान् ज्वलनास्तु भागान्।
भक्त्या द्विजेन्द्रैरपि सम्प्रपादितान् नैव प्रतीच्छन्ति विभोर्भयेन ॥ ३ ॥
तान् दृष्ट्वा घोररूपांस्तु उत्पातान् दानवेश्वरः। पप्रच्छोशनसं शुक्रं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ ४ ॥
किमर्थमाचार्य मही सशैला रम्भेव वाताभिहता चचाल।
किमासुरीयान् सुहुतानपीह भागान् न गृह्णन्ति हुताशनाश्च ॥ ५ ॥
क्षुब्धाः किमर्थं मकरालयाश्च भा ऋक्षा न खे किं प्रचरन्ति पूर्ववत्।
दिशः किमर्थं तमसा परिप्लुता दोषेण कस्याद्य वदस्व मे गुरो ॥ ६ ॥

नब्बेवाँ अध्याय प्रारम्भ

(भगवान् वामनके आगमनसे पृथिवीकी क्षुब्धता, बलि और शुक्रके संवाद प्रसंगमें प्रह्लादकी कथा)

पुलस्त्यजी बोले—महर्षे! उसके बाद वामनका रूप धारण करनेवाले वासुदेवके आनेपर पृथ्वी काँपने लगी, पर्वत अपने स्थानसे डिग गये, समुद्रमें जोरसे लहरें उठने लगीं और आकाशमें तारामण्डलकी गति अव्यवस्थित हो गयी। यज्ञ भी अत्यन्त व्याकुल हो गया और सोचने लगा—न जाने मधुसूदन भगवान् वासुदेव

आकर मेरी क्या गति करेंगे? जैसे महेश्वरने मुझे दग्ध कर दिया था, क्या वासुदेव भी तो मुझे वैसे ही दग्ध (भस्म) नहीं कर देंगे? अग्नि विष्णुके भयसे श्रेष्ठ द्विजोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक ऋग्वेद एवं सामवेदके मन्त्रोंसे आहुतिके हवन किये गये यज्ञीय भागोंको ग्रहण नहीं कर रहे थे। उन घोर उत्पातोंको देखकर दानवेश्वर (बलि)ने उशना शुक्राचार्यको प्रणाम किया तथा हाथ जोड़कर उनसे पूछा—आचार्यजी! पर्वतोंके साथ पृथ्वी वायुके झोंकेसे केलेके वृक्षके समान क्यों काँप रही है और अग्निदेव भी विधिपूर्वक हवन किये गये आसुरीय भागोंको क्यों नहीं स्वीकार कर रहे हैं? समुद्रमें भयंकर लहरें क्यों उठ रही हैं? आकाशमें नक्षत्र पहलेकी भाँति क्यों नहीं सुव्यवस्थित रूपसे स्थित हैं और दिशाएँ क्यों अन्धकारसे भर गयी हैं? गुरो! मुझे आप कृपया यह बतलायें कि किसके अपराधसे यह सब हो रहा है?॥ १—६॥

पुलस्त्य उवाच

शुक्रस्तद् वाक्यमाकर्ण्य विरोचनसुतेरितम्। अथ ज्ञात्वा कारणं च बलिं वचनमब्रवीत्॥ ७॥

पुलस्त्यजी बोले—विरोचनपुत्रके द्वारा कहे गये उस वाक्यको सुननेके बाद पूछे गये प्रश्नके कारणको जानकर शुक्राचार्यने बलिसे कहा—॥ ७॥

शुक्र उवाच

शृणुष्व दैत्येश्वर येन भागान् नाग्नी प्रतीच्छति हि ह्यासुरीयान्।
हुताशना मन्त्रहुतानपीह नूनं समागच्छति वासुदेवः॥ ८॥
तदङ्घ्रिविक्षेपमपारयन्ती मही सशैला चलिता दितीश।
तस्यां चलत्यां मकरालयामी उद्वृत्तवेला दितिजाद्य जाताः॥ ९॥

शुक्राचार्यने कहा—दैत्येश्वर! सुनो। निश्चय ही वासुदेव आ रहे हैं। इसीलिये अग्निदेव मन्त्रके द्वारा आहुति देनेपर भी आसुरीय भागोंको नहीं ग्रहण कर रहे हैं। दितीश! उनके चरण रखनेके भारको सहन न कर सकनेके कारण पर्वतोंसहित पृथ्वी काँप रही है। दितिज! पृथ्वीके कम्पनसे ये समुद्र आज तटका उल्लङ्घन कर गये हैं॥ ८-९॥

पुलस्त्य उवाच

शुक्रस्य वचनं श्रुत्वा बलिर्भार्गवमब्रवीत्। धर्म्यं सत्यं च पथ्यं च वीर्योत्साहसमीरितम्॥ १०॥

पुलस्त्यजी बोले—शुक्राचार्यका वचन सुनकर बलिने उनसे धर्मसे युक्त, सत्य, कल्याणप्रद और सभी प्रकारके उत्साहसे भरा वचन कहा॥ १०॥

बलिरुवाच

आयाते वासुदेवे वद मम भगवन् धर्मकामार्थतत्त्वं
किं कार्यं किं च देयं मणिकनकमयीं भूगजाश्वादिकं वा।
किं वा वाच्यं मुरारेर्निजहितमथवा तद्धितं वा प्रयुञ्जे
सत्यं पथ्यं प्रियं भो मम वद शुभदं तत्करिष्ये न चान्यत्॥ ११॥

बलिने कहा—भगवन्! वासुदेवके आनेपर मेरे करने योग्य धर्म, काम एवं अर्थके तत्त्वको बतलायें। मैं उन्हें मणि, स्वर्ण, पृथ्वी, हाथी अथवा अश्वोंमेंसे क्या दान करूँ? मैं मुरारिसे क्या कहूँ? अपना अथवा उनका क्या कल्याण सिद्ध करूँ? आप मुझे कल्याणकारी, मङ्गलमय तथा प्रिय तथ्य बतलायें। मैं वही करूँगा, अन्य कुछ नहीं करूँगा॥ ११॥

पुलस्त्य उवाच

तद्वाक्यं भार्गव श्रुत्वा दैत्यनाथेरितं परम्। विचिन्त्य नारद प्राह भूतभव्यविदीश्वरः ॥ १२ ॥
त्वया कृता यज्ञभुजोऽसुरेन्द्रा बहिष्कृता ये श्रुतिदृष्टमार्गे।
श्रुतिप्रमाणं मखभोजिनो वहि सुरास्तदर्थं हरिरभ्युपैति ॥ १३ ॥
तस्याध्वरं दैत्यसमागतस्य कार्यं हि किं मां परिपृच्छसे यत्।
कार्यं न देयं हि विभो तृणाग्रं यदध्वरे भूकनकादिकं वा ॥ १४ ॥
वाच्यं तथा साम निरर्थकं विभो कस्ते वरं दातुमलं हि शक्नुयात्।
यस्योदरे भूर्भुवनाकपालरसातलेशा निवसन्ति नित्यशः ॥ १५ ॥

पुलस्त्यजी बोले—नारदजी ! दैत्यपतिद्वारा कहे गये उस उत्तम वचनको सुननेके पश्चात् भूत एवं भविष्यके जाननेवाले भार्गवने विचार कर कहा—तुमने श्रुतिद्वारा प्रतिपादित मार्गमें अनधिकृत असुरेन्द्रों (दैत्यों)को यज्ञभागका भोक्ता बनाया है एवं वेदप्रमाणके अनुसार यज्ञभोक्ता देवोंको अधिकाररहित कर दिया है । इसी कारण हरि आ रहे हैं । दैत्य ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया कि यज्ञमें उनके आनेपर क्या करना चाहिये, तो (उसके विषयमें मेरा यह कहना है कि) यज्ञमें तिनकेके नोकके बराबर भी पृथ्वी या सुवर्ण आदि (कुछ भी) उन्हें नहीं देना चाहिये । इस तरहका अर्थहीन और सामयुक्त वचन उनसे कहना चाहिये कि विभो ! जिसके पेटमें भूलोक, भुवर्लोक एवं स्वर्लोकके स्वामी तथा रसातलके शासक सदा निवास करते हैं ऐसे आपको दान देनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ १२–१५ ॥

बलिरुवाच

मया न चोक्तं वचनं हि भार्गव नं चास्ति मह्यं न च दातुमुत्सहे।
समागतेऽप्यर्थिनि हीनवृत्ते जनार्दने लोकपतौ कथं तु ॥ १६ ॥
एवं च श्रूयते श्लोकः सतां कथयतां विभो।
सद्भावो ब्राह्मणेष्वेव कर्त्तव्यो भूतिमिच्छता। दृश्यते हि तथा तच्च सत्यं ब्राह्मणसत्तम ॥ १७ ॥
पूर्वाभ्यासेन कर्माणि सम्भवन्ति नृणां स्फुटम्। वाक्कायमानसानीह योन्यन्तरगतान्यपि ॥ १८ ॥
किं वा त्वया द्विजश्रेष्ठ पौराणी न श्रुता कथा। या वृत्ता मलये पूर्वं कोशकारसुतस्य तु ॥ १९ ॥

बलिने कहा—भार्गव ! मैंने निम्नकोटिकी वृत्तिवाले याचकके आनेपर भी यह बात नहीं कही कि मेरे पास कुछ नहीं है और मैं देना नहीं चाहता तो लोकपति जनार्दनके याचक बनकर आनेपर मैं इस प्रकार कैसे कह सकता हूँ । विभो ! सज्जनोंके द्वारा कही गयी इस तरहकी पवित्र वाणी सुनी जाती है कि ऐश्वर्य चाहनेवाले मनुष्यको ब्राह्मणोंके प्रति अच्छे भाव रखने चाहिये । ब्राह्मणश्रेष्ठ ! यह सत्य भी मालूम होता है कि वचन, शरीर एवं मनके द्वारा किये गये मनुष्योंके कर्म दूसरी योनियोंमें भी पहलेके अभ्याससे स्पष्टरूपसे प्रकट होते हैं । द्विजश्रेष्ठ ! प्राचीन कालमें मलयपर्वतपर घटित हुई कोशकारके पुत्रकी प्राचीन कथाको क्या आपने नहीं सुना है ? ॥ १६–१९ ॥

शुक्र उवाच

कथयस्व महाबाहो कोशकारसुताश्रयाम्। कथां पौराणिकीं पुण्यां महाकौतूहलं हि मे ॥ २० ॥

शुक्राचार्यने कहा—महाबाहो ! कोशकारकी पुत्रसम्बन्धिनी पवित्र प्राचीन कथाको मुझसे कहो । उसे सुननेके लिये मुझे महान् कौतूहल हो रहा है ॥ २० ॥

ब्राह्मणने भी उस शिशुको देखा । अपने पुत्रके ही समान रंग और रूप आदिसे युक्त उस बालकको देखकर कोशकार मुनिने हँसकर अपनी पत्नीसे कहा—॥ २९–३६ ॥

एतेनाविश्य धर्मिष्ठे भाव्यं भूतेन साम्प्रतम् । कोऽप्यस्माकं छलयितुं सुरूपी भुवि संस्थितः ॥ ३७ ॥
इत्युक्त्वा वचनं मन्त्री मन्त्रैस्तं राक्षसात्मजम् । बबन्धोल्लिख्य वसुधां सकुशेनाथ पाणिना ॥ ३८ ॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता सूर्पाक्षी विप्रबालकम् । अन्तर्धानगता भूमौ चिक्षेप गृहदूरतः ॥ ३९ ॥
तं क्षिप्तमात्रं जग्राह कोशकारः स्वकं सुतम् । सा चाभ्येत्य ग्रहीतुं स्वं नाशकद् राक्षसी सुतम् ॥ ४० ॥
ततः स्वेनाश्च विभ्रष्टा सा भर्तारमुपागमत् । कथयामास यद् वृत्तं स्वद्विजात्मजहारिणम् ॥ ४१ ॥
एवं गतायां राक्षस्यां ब्राह्मणेन महात्मना । स राक्षसशिशुर्ब्रह्मन् भार्यायै विनिवेदितः ॥ ४२ ॥
स चात्मतनयः पित्रा कपिलायाः सवत्सयाः । दध्ना संयोजितोऽत्यर्थं क्षीरेणेक्षुरसेन च ॥ ४३ ॥
द्वावेव वर्धितौ बालौ संजातौ सप्तवार्षिकौ । पित्रा च कृतनामानौ निशाकरदिवाकरौ ॥ ४४ ॥

धर्मिष्ठे ! इस बालकके अंदर अवश्य कोई भूत प्रवेश कर गया है । हमलोगोंको धोखा देनेके लिये सुन्दर रूपवाला कोई (भूत) इस स्थानपर विद्यमान है । ऐसा कहकर उस मन्त्रवेत्ताने हाथमें कुशा लेकर मन्त्रोंके द्वारा भूमिको रेखासे अङ्कितकर राक्षसपुत्रको बाँध दिया । इसी बीच सूर्पाक्षी वहाँ पहुँची और अदृश्यरूपमें (छिपकर) घरसे दूर स्थित होकर उसने ब्राह्मणके बालकको फेंका । फेंकते ही कोशकारने अपने उस पुत्रको पकड़ लिया । परंतु वह राक्षसी वहाँ जाकर अपने पुत्रको नहीं पकड़ सकी । दोनों ओरसे हाथ धोकर वह अपने पतिके पास गयी और अपने पुत्र तथा ब्राह्मणपुत्र दोनोंके खोनेकी घटना कह सुनायी । ब्रह्मन् ! इस प्रकार राक्षसीके चले जानेपर महात्मा ब्राह्मणने अपनी पत्नीको उस राक्षस-पुत्रको दे दिया । पिताने अपने पुत्रको सवत्सा कपिला गायके दूध, दही और ईखके रससे पाला-पोसा । दोनों ही बालक बढ़कर सात वर्षके हो गये । पिताने उन दोनोंका नाम निशाकर और दिवाकर रखा ॥ ३७–४४ ॥

नैशाचरिर्दिवाकीर्तिर्निशाकीर्तिः स्वपुत्रकः । तयोश्चकार विप्रोऽसौ व्रतबन्धक्रियां क्रमात् ॥ ४५ ॥
व्रतबन्धे कृते वेदं पपाठासौ दिवाकरः । निशाकरो जडतया न पपाठेति नः श्रुतम् ॥ ४६ ॥
तं बान्धवाश्च पितरौ माता भ्राता गुरुस्तथा । पर्यनिन्दंस्तथा ये च जना मलयवासिनः ॥ ४७ ॥
ततः स पित्रा क्रुद्धेन क्षिप्तः कूपे निरूदके । महाशिलां चोपरि वै पिधानमवरोपयत् ॥ ४८ ॥
एवं क्षिप्तस्तदा कूपे वर्षपर्यगणान् स्थितः । तत्रास्त्यामलकीगुल्मः पापाय फलितोऽभवत् ॥ ४९ ॥
ततो दशासु वर्षेषु समतीतेषु भार्गव । तस्य माताऽगमत् कूपं समन्धं शिलयान्वितम् ॥ ५० ॥
सा दृष्ट्वा निचितं कूपं शिलया गिरिकल्पया । उच्चैः प्राह च कोऽयं कूपोपरि शिला कृता ॥ ५१ ॥
कूपान्तस्थः स तां वाणीं श्रुत्वा मातुर्निशाकरः । प्राह मदर्थं पित्रा मे कूपोपरि शिला त्वियम् ॥ ५२ ॥
साऽभिभीताऽब्रवीत् कोऽसि कूपान्तस्थोऽद्भुतस्वरः । सोऽप्याह तव पुत्रोऽस्मि निशाकरेति विश्रुतः ॥ ५३ ॥

राक्षसके बालकका नाम दिवाकीर्ति (दिवाकर) और ब्राह्मणके बालकका नाम निशाकीर्ति (निशाकर) था । ब्राह्मणने क्रमशः दोनोंका उपनयन-संस्कार किया । उपनयन (जनेऊ) हो जानेपर दिवाकर वेदपाठ करने लगा । किंतु निशाकर जड़ताके कारण वेदाध्ययन नहीं करता था—ऐसा हमलोगोंने सुना है । माता, पिता, भाई, बन्धुजन, गुरु और दूसरे मलयके निवासी उसकी निन्दा करने लगे । उसके बाद पिताने कुपित होकर उसे जलरहित कुएँमें फेंक दिया और ऊपरसे एक बड़ी शिलासे ढँक दिया । इस प्रकार कुएँमें फेंक दिये जानेपर वह बालक बहुत दिनोंतक वहाँ पड़ा रहा । उस कुएँमें एक आँवलेका पेड़ (गुल्म) था । वह बालक ...

ब्राह्मणने भी उस शिशुको लेगा। अपने पुत्रके ही समान रंग और रूप आदिसे युक्त उस बालकको देखकर कोशकार मुनिने हँसकर अपनी पत्नीसे कहा—॥ २९—३६ ॥

एतेनाविश्य धर्मिष्ठे भाव्य भूतेन साम्प्रतम्। कोऽप्यस्माक छलयितु सुरूपं भुवि संस्थितः ॥ ३७ ॥
इत्युक्त्वा वचा मन्त्री मन्त्रैस्त राक्षसात्मजम्। ववन्धोल्लिख्य वसुधा सकुशेनाथ पाणिना ॥ ३८ ॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता सूर्पाक्षी विप्रबालकम्। अन्तर्धानगता भूमौ चिक्षेप गृहदूरतः ॥ ३९ ॥
स क्षिप्तमात्र जग्राह कोशकारः स्वकं सुतम्। सा चाभ्येत्य ग्रहीतु स्व नाशकद् राक्षसी सुतम् ॥ ४० ॥
इतश्चेतश्च विभ्रष्टा सा भर्तारमुपागमत्। कथयामास यद् वृत्तं स्वद्विजात्मजहारिणम् ॥ ४१ ॥
एव गतायां राक्षस्या ब्राह्मणेन महात्मना। स राक्षसशिशुर्ब्रह्मन् भार्यायै विनिवेदितः ॥ ४२ ॥
स चात्मतनयः पित्रा कपिलाया सवत्सयाः। दध्ना संयोजितोऽत्यर्थं क्षीरेणेक्षुरसेन च ॥ ४३ ॥
द्वावेव वर्धितौ बालौ सजातौ समवार्षिकौ। पित्रा च कृतनामानौ निशाकरदिवाकरौ ॥ ४४ ॥

धर्मिष्ठे! इस बालकके अंदर अवश्य कोई भूत प्रवेश कर गया है। हमलोगोंको धोखा देनेके लिये सुन्दर रूपवाला कोई (भूत) इस स्थानपर विद्यमान है। ऐसा कहकर उस मन्त्रवेत्ताने हाथमें कुशा लेकर मन्त्रोंके द्वारा भूमिको रेखासे अङ्कितकर राक्षसपुत्रको बाँध दिया। इसी बीच सूर्पाक्षी वहाँ पहुँची और अदृश्यरूपमें (छिपकर) घरसे दूर स्थित होकर उसने ब्राह्मणके बालकको फेंका। फेंकते ही कोशकारने अपने उस पुत्रको पकड़ लिया। परंतु वह राक्षसी वहाँ जाकर अपने पुत्रको नहीं पकड़ सकी। दोनों ओरसे हाथ धोकर वह अपने पतिके पास गयी और अपने पुत्र तथा ब्राह्मणपुत्र दोनोंके खोनेकी घटना कह सुनायी। ब्रह्मन्! इस प्रकार राक्षसीके चले जानेपर महात्मा ब्राह्मणने अपनी पत्नीको उस राक्षस-पुत्रको दे दिया। पिताने अपने पुत्रको सवत्सा कपिला गायके दूध, दही और ईखके रससे पाला-पोसा। दोनों ही बालक बढ़कर सात वर्षके हो गये। पिताने उन दोनोंका नाम निशाकर और दिवाकर रखा॥ ३७—४४ ॥

नैशाचरिर्दिवाकीर्तिर्निशाकीर्तिः स्वपुत्रकः। तयोश्चकार विप्रोऽसौ व्रतबन्धक्रियां क्रमात् ॥ ४५ ॥
व्रतबन्धे कृते वेद पपाठासौ दिवाकरः। निशाकरो जडतया न पपाठेति नः श्रुतम् ॥ ४६ ॥
त बान्धवाश्च पितरौ माता भ्राता गुरुस्तथा। पर्यनिन्दस्तथा ये च जना मत्यवासिनः ॥ ४७ ॥
ततः स पित्रा क्रुद्धेन क्षिप्तः कूपे निरूदके। महाशिलां चोपरि वै पिधानमददात्तदा ॥ ४८ ॥
एवं क्षिप्तस्तदा कूपे वहुवर्षगणान् स्थितः। तत्रास्य मातुर्गुल्मः पापाय पतितोऽभवत् ॥ ४९ ॥
ततो दशसु वर्षेषु समतीतेषु भार्गव। तस्य माताऽगमत् कूप समन्ध शिलयाचितम् ॥ ५० ॥
सा दृष्ट्वा निचित कूप शिलया गिरिकल्पया। उच्चैः प्रावाच केनेयं कूपोपरि शिला कृता ॥ ५१ ॥
कूपान्तस्थः स तां वाणीं श्रुत्वा मातुर्निशाकरः। प्राह मदृत्ता पित्रा मे कूपोपरि शिला स्वियम् ॥ ५२ ॥
साऽनिर्भीताऽब्रवीत् कोऽसि कूपान्तस्थोऽद्भुतस्वरः। साऽप्याह तव पुत्रोऽस्मि निशाकरेति विश्रुतः ॥ ५३ ॥

राक्षसके बालकका नाम दिवाकीर्ति (दिवाकर) और ब्राह्मणके बालकका नाम निशाकीर्ति (निशाकर) था। ब्राह्मणने क्रमशः दोनोंका उपनयन-संस्कार किया। उपनयन (जनेऊ) हो जानेपर दिवाकर वेदपाठ करने लगा। किंतु निशाकर जड़ताके कारण वेदपाठ नहीं करता था—ऐसा हमने सुना है। माता, पिता, भाई, बन्धुजन, गुरु और दूसरे मत्यके निवासी उसकी निन्दा करने लगे। उसके बाद पिताने क्रुद्ध होकर उसे जलरहित कूपमें फेंक दिया और ऊपरसे एक बड़ी शिलासे ढँक दिया। इस प्रकार कूपमें फेंक दिये जानेपर वह बालक [illegible] बहुत वर्षोंतक वहाँ पड़ा रहा। [illegible] (४९) था। [illegible] बालकके

ब्राह्मणने भी उस शिशुको देखा । अपने पुत्रके ही समान रंग और रूप आदिसे युक्त उस बालकको देखकर कोशकार मुनिने हँसकर अपनी पत्नीसे कहा—॥ ३०–३६ ॥

एतेनाविश्य धर्मिष्ठे भाव्यं भूतेन साम्प्रतम् । योऽस्मानपि च्छलयितुं सुरूपी भुवि संस्थितः ॥ ३७ ॥
इत्युक्त्वा वचनं मन्त्री मन्त्रैस्तं राक्षसात्मजम् । दर्भेर्योल्लिखय वसुधां बबन्धैनाथ पाणिना ॥ ३८ ॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता सूर्याक्षी विप्रबालकम् । अन्तर्धानगता भूमौ चिक्षेप गृहदूरतः ॥ ३९ ॥
तं क्षिप्तमात्रं जग्राह कोशकारः स्वकं सुतम् । सा चाभ्येत्य ग्रहीतुं स्वं नाशकद् राक्षसी सुतम् ॥ ४० ॥
इतश्चेतश्च विभ्रष्टा सा भर्तारमुपागमत् । कथयामास यद् वृत्तं स्वद्विजात्मजहारिणम् ॥ ४१ ॥
एवं गताया राक्षस्या ब्राह्मणेन महात्मना । स राक्षसशिशुर्ब्रह्मन् भार्यायै विनिवेदितः ॥ ४२ ॥
स चात्मतनयः पित्रा कपिलाया सवत्सया । दध्ना संयोजितोऽत्यर्थं क्षीरेणेक्षुरसेन च ॥ ४३ ॥
द्वावेव वर्धितौ बालौ संजातौ सप्तवार्षिकौ । पित्रा च कृतनामानौ निशाकरदिवाकरौ ॥ ४४ ॥

धर्मिष्ठे ! इस बालकके अंदर अवश्य कोई भूत प्रवेश कर गया है । हमलोगोंको धोखा देनेके लिये सुन्दर रूपवाला कोई (भूत) इस स्थानपर विद्यमान है । ऐसा कहकर उस मन्त्रवेत्ताने हाथमें कुशा लेकर मन्त्रोंके द्वारा भूमिको रेखासे अङ्कितकर राक्षसपुत्रको बाँध दिया । इसी बीच सूर्याक्षी वहाँ पहुँची और अदृश्यरूपमें (छिपकर) घरसे दूर स्थित होकर उसने ब्राह्मणके बालकको फेंका । फेंकते ही कोशकारने अपने उस पुत्रको पकड़ लिया । परंतु वह राक्षसी वहाँ जाकर अपने पुत्रको नहीं पकड़ सकी । दोनों ओरसे हाथ धोकर वह अपने पतिके पास गयी और अपने पुत्र तथा ब्राह्मणपुत्र दोनोंके खोनेकी घटना कह सुनायी । ब्रह्मन् ! इस प्रकार राक्षसीके चले जानेपर महात्मा ब्राह्मणने अपनी पत्नीको उस राक्षस-पुत्रको दे दिया । पिताने अपने पुत्रको सवत्सा कपिला गायके दूध, दही और ईखके रससे पाला-पोसा । दोनों ही बालक बढ़कर सात वर्षके हो गये । पिताने उन दोनोंका नाम निशाकर और दिवाकर रखा ॥ ३७–४४ ॥

नैशाचरिर्दिवाकीर्तिर्निशाकीर्तिः स्वपुत्रकः । तयोश्चकार विप्रोऽसौ व्रतबन्धक्रियां क्रमात् ॥ ४५ ॥
व्रतबन्धे कृते वेदं पपाठासौ दिवाकरः । निशाकरो जडतया न पपाठेति नः श्रुतम् ॥ ४६ ॥
तं बान्धवाश्च पितरौ माता भ्राता गुरुस्तथा । पर्यनिन्दंस्तथा ये च जना मलयवासिनः ॥ ४७ ॥
ततः स पित्रा क्रुद्धेन क्षिप्तः कूपे निरूदके । महाशिला चोपरि वै पिधानमवरोपयत् ॥ ४८ ॥
एवं क्षिप्तस्तदा कूपे बहुवर्षगणान् स्थितः । तत्रास्त्यामलकीगुल्मं पाथाय फलितोऽभवत् ॥ ४९ ॥
ततो दशसु वर्षेषु समतीतेषु भार्गव । तस्य माताऽगमत् कूपं तमन्धं शिलयावृतम् ॥ ५० ॥
सा दृष्ट्वा निचितं कूपं शिलया गिरिकल्पया । उच्चैः प्राहाथ कोऽयं कूपोपरि शिला कृता ॥ ५१ ॥
कूपान्तस्थः स तां वाणीं श्रुत्वा मातुर्निशाकरः । प्राह भद्रास्ता पित्रा मे कूपोपरि शिला त्वियम् ॥ ५२ ॥
साऽतिभीताऽब्रवीत् कोऽसि कूपान्तस्थोऽद्भुतस्वरः । सोऽप्याह तव पुत्रोऽस्मि निशाकरेति विश्रुतः ॥ ५३ ॥

राक्षसके बालकका नाम दिवाकीर्ति (दिवाकर) और ब्राह्मणके बालकका नाम निशाकीर्ति (निशाकर) था । ब्राह्मणने क्रमशः दोनोंका उपनयन-संस्कार किया । उपनयन (जनेऊ) हो जानेपर दिवाकर वेदपाठ करने लगा । किंतु निशाकर जडताके कारण वेदाध्ययन नहीं करता था—ऐसा हमलोगोंने सुना है । माता, पिता, भाई, बन्धुजन, गुरु और दूसरे मलयके निवासी उसकी निन्दा करने लगे । उसके बाद पिताने क्रुद्ध होकर उसे जलरहित कुएँमें फेंक दिया और ऊपरसे एक बड़ी शिलासे ढँक दिया । इस प्रकार कुएँमें फेंक दिये जानेपर वह बालक बहुत दिनोंतक वहाँ पड़ा रहा । उस कुएँमें एक आँवलेका पौधा ([illegible]) था । उस बालकके [illegible]

बन्धनसे ग्रस्त होनेपर मैं मरकर (विवशतया) रौरव नरकमें गया । एक हजार वर्षके बाद नरक-भोगसे बचे उस पापके कारण मैं पशुओंकी हत्या करनेवाला पापी बाघ होकर जंगलमें उत्पन्न हुआ ॥ ६०—६७ ॥

व्याघ्रत्वे संस्थितस्तात बद्धः पञ्जरगः कृतः । नराधिपेन विभुना नीतश्च नगरं निजम् ॥ ६८ ॥
बद्धस्य पिञ्जरस्थस्य व्याघ्रत्वेऽधिष्ठितस्य ह । धर्मार्थकामशास्त्राणि प्रत्यभासन्त सर्वशः ॥ ६९ ॥
ततो नृपतिशार्दूलो गदापाणिः कदाचन । एकवस्त्रपरीधानो नगरान्निर्ययौ बहिः ॥ ७० ॥
तस्य भार्या जिता नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि । सा निर्गते तु रमणे ममान्तिकमुपागता ॥ ७१ ॥
तां दृष्ट्वा चवृधे मह्यं पूर्वाभ्यासान्मनोभवः । यथैव धर्मशास्त्राणि तथाहमवदं च ताम् ॥ ७२ ॥
राजपुत्रि सुकल्याणि नवयौवनशालिनि । चित्तं हरसि मे भीरु कोकिला ध्वनिना यथा ॥ ७३ ॥
सा मद्वचनमाकर्ण्य प्रोवाच तनुमध्यमा । कथमेवावयोर्व्याघ्र रतियोगमुपेष्यति ॥ ७४ ॥
ततोऽहमब्रुवं तात राजपुत्रीं सुमध्यमाम् । द्वारमुद्घाटयस्वाद्य निर्गमिष्यामि सत्वरम् ॥ ७५ ॥

तात ! एक प्रभावशाली राजाने व्याघ्रयोनिमें उत्पन्न हुए मुझको बाँधकर पिंजड़ेमें डाल दिया और अपने नगरमें ले गया । व्याघ्रकी योनिको प्राप्त हुए बन्धनसे ग्रस्त और पिंजड़ेमें पड़े हुए मुझे धर्म, अर्थ एवं कामसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी शास्त्र मनमें स्फुरित हो रहे थे । उसके कुछ समय बाद वह श्रेष्ठ राजा हाथमें गदा लिये एक वस्त्र धारणकर नगरसे बाहर चला गया । उसकी जिता नामकी भार्या मृत्युलोकमें अनुपम सुन्दरी थी । पतिके बाहर जानेपर वह मेरे पास आयी । उसे देखकर पूर्व अभ्यासके कारण धर्मशास्त्रोंके ज्ञानकी वृद्धिकी तरह मेरे मनमें कामना बढ़ने लगी । उसके बाद मैंने उससे कहा—नवयौवने ! सुकल्याणि ! राजपुत्रि ! तुम मेरा मन उसी प्रकार हरण करती हो जिस प्रकार कोयल अपनी कूकसे लोगोंके चित्तको । उस सुन्दरीने मेरा वचन सुनकर कहा—व्याघ्र ! हम दोनोंका सम्भोग कैसे सम्भव है ? तात ! उसके बाद मैंने उस सुन्दरी राजपुत्रीसे कहा—तुम अभी पिंजड़ेका द्वार खोलो, मैं शीघ्र बाहर निकल आऊँगा ॥ ६८—७५ ॥

साऽप्यब्रवीद् दिवा व्याघ्र लोकोऽयं परिवक्ष्यति । रात्रावुद्घाटयिष्यामि ततो रंस्याव स्वेच्छया ॥ ७६ ॥
तामेवाहमवोचं वै कालक्षेपेऽहमक्षमः । तस्मादुद्घाट्य द्वारं मां बन्धाच्च विमोचय ॥ ७७ ॥
ततः सा पीवरश्रोणी द्वारमुद्घाट्य मुने । उद्घाटिते ततो द्वारे निर्गतोऽहं बहिः क्षणात् ॥ ७८ ॥
पाशानि निगडादीनि छिन्नानि हि बलान्मया । सा गृहीता च नृपतेर्भार्या रमितुमिच्छता ॥ ७९ ॥
ततो दृष्टोऽस्मि नृपतेर्भृत्यैरतुलविक्रमैः । शस्त्रहस्तैः सर्वतश्च तैरहं परिवेष्टितः ॥ ८० ॥
महापाशैः शृङ्खलाभिः समाहत्य च मुद्गरैः । वध्यमानोऽब्रुवमहं मा मा हिंसध्वमातुरम् ॥ ८१ ॥
ते मद्वचनमाकर्ण्य मत्वैव रजनीचरम् । दृढं वृक्षे समुद्बध्य घातयन्त तपोधन ॥ ८२ ॥
भूयो गतश्च नरकं परदारनिषेवणात् । मुक्तो वर्षसहस्रान्ते जातोऽहं रोमगर्दभः ॥ ८३ ॥

उसने कहा—व्याघ्र ! दिनमें लोग देखेंगे । रात्रिमें खोलूँगी, तब इच्छानुकूल हम दोनों विहार करेंगे । मैंने पुनः उससे कहा—समय बितानेमें मैं असमर्थ हूँ । इसलिये द्वार खोलो और मुझे बन्धनसे मुक्त करो । उसके बाद उस सुन्दरीने द्वार खोल दिया । द्वार खुलनेपर मैं क्षणमात्रमें बाहर निकला । मैंने बलपूर्वक बेड़ी आदि बन्धनोंको तोड़ डाला और उस राजाकी पत्नीको रमण करनेकी कामनासे पकड़ लिया । उसके बाद राजाके अतुल पराक्रमी अनुचरोंने मुझे देखा और हाथमें शस्त्र लेकर उन लोगोंने मुझे चारों ओरसे घेर लिया । मोटी रस्सियों और जंजीरोंसे बाँधकर उन लोगोंने मुझे मुद्गरोंसे बहुत मारा । मारे जाते समय मैंने उनसे कहा—तुमलोग मुझे मत

जाननेवाला तथा दोषोंको दूर करनेवाला समझकर रख दिया। पिताजी! वहाँ रहते समय वे युवतियाँ प्रतिदिन मुझे भात, जल, अनारके फल तथा अन्य भक्ष्य पदार्थ खिलाकर पालने लगीं। एक समय वणिक्‌पुत्रकी कमलदलके समान नेत्रोंवाली श्यामा, विशाल स्तनों तथा सुन्दर जघाओं एव सूक्ष्मकटिवाली कल्याणी चन्द्रावली नामकी प्रियाने पिंजड़ेको खोला। मधुर मुसकानवाली सुन्दरीने मुझे दोनों हाथोंमें पकड़ लिया और अपने दोनों स्तनोंपर रख लिया॥ ९२–९९॥

ततोऽहं कृतवान् भावं तस्या विलसितुं प्लवन्। ततोऽनुप्लवतस्तत्र हारे मर्कटबन्धनम्॥१००॥
बद्धोऽहं पापसयुक्तो मृतश्च नरकान्तरम्। भूयोऽपि नरकं घोरं प्रपन्नोऽस्मि सुदुर्मतिः॥१०१॥
ततश्चाहं वृषत्वं वै गतश्चाण्डालपक्वणे। स चैकदा मां शकटे नियोज्य स्वां विलासिनीम्॥१०२॥
समारोप्य महातेजा गन्तुं कृतमतिर्वनम्। ततोऽग्रत स चण्डालो गतस्त्वेवास्य पृष्ठतः॥१०३॥
गायन्ती याति तच्छ्रुत्वा जातोऽहं व्यथितेन्द्रियः। पृष्ठतस्तु समालोक्य विपर्यस्तस्तथोत्प्लुतः॥१०४॥
पतितो भूमिमगमं तद्वक्षे क्षणविक्रमात्। योक्त्रे सुबद्धः प्राप्तोऽस्मि पञ्चत्वमगमं ततः॥१०५॥
भूयो निमग्नो नरके वर्षायुतशतान्यपि। अतस्तव गृहे जातस्त्वहं जातिमनुस्मरन्॥१०६॥
तावन्त्येवाद्य जन्मानि स्मरामि चानुपूर्वशः। पूर्वाभ्यासाच्च शास्त्राणि बन्धनं चागतं मम॥१०७॥
सोऽहं जातविज्ञानो नाचरिष्ये कथंचन। पापानि घोररूपाणि मनसा कर्मणा गिरा॥१०८॥

उसके बाद मैंने चन्द्रावलीके साथ विहार करनेका आशय प्रकट किया। तब पापमें आसक्त होकर घूमता हुआ मैं उसके हारमें बदरके बन्धनकी भाँति बँधकर मर गया। मैं पुनः अत्यन्त पापमय बुद्धि होनेके कारण मरकर नरकमें पड़ गया। उसके बाद मैं बैल होकर चाण्डालके घरमें पहुँचा। उसने एक दिन मुझे गाड़ीमें जोतकर उस गाड़ीपर अपनी स्त्रीको चढ़ाया। इस प्रकार वनमें जानेकी इच्छासे वह महातेजस्वी चाण्डाल आगे चला और उसके पीछे वह गाती हुई चली। उसका गान सुनकर मेरी इन्द्रियाँ विकल हो उठीं। मैंने पीछे घूमकर देखा और कूदा तथा उलट गया। क्षणमात्रके विपरीत गतिके कारण मैं भूमिपर गिर पड़ा और रस्सीमें अत्यन्त बँध जानेसे मृत्युको प्राप्त हो गया। मैं फिर हजार वर्षतक नरकमें पड़ा रहा। वहाँसे अपने पूर्व जन्मका स्मरण करता हुआ मैं आपके गृहमें उत्पन्न हुआ हूँ। मैं आज उन्हीं जन्मोंका क्रमशः स्मरण कर रहा हूँ। पूर्व अभ्याससे मुझे शास्त्रोंका ज्ञान तथा बन्धन मिला है। अतः ज्ञानी होकर मैं मन, कर्म और वाणीसे कभी घोर पापकर्मोंका आचरण नहीं करूँगा॥ १००–१०८॥

शुभं वाप्यशुभं वाऽपि स्वाध्यायः शास्त्रजीविका। बन्धनं वा वधो वाऽपि पूर्वाभ्यासेन जायते॥१०९॥
जातिं यदा पौर्विकीं तु स्मरते तात मानवः। तदा स तेभ्यः पापेभ्यो निवृत्तिं हि करोति वै॥११०॥
तस्माद् गमिष्ये शुभवर्धनाय पापक्षयायाथ मुने शरण्यम्।
भवान् दिवाकीर्तिमिमं सुपुत्रं गार्हस्थ्यधर्मे विनियोजयस्व॥१११॥

मङ्गल, अमङ्गल, स्वाध्याय, शास्त्रजीविका, बन्धन या वध पूर्व अभ्यासवश ही होते हैं। तात! मनुष्यको जब अपने पूर्व-जन्मका स्मरण होता है तब वह उन पापोंसे दूर रहता है। अतः मुने! शुभकी वृद्धि और पापके क्षयके लिये मैं वनमें जाऊँगा। आप इस सुपुत्र दिवाकीर्तिको गृहस्थधर्ममें लगायें॥ १०९–१११॥

पुलस्त्यउवाच

इत्येवमुक्त्वा स निशाकरस्तदा प्रणम्य मातापितरौ महर्षे।
जगाम पुण्यं सदनं मुरारेः बदर्याश्रमं[illegible]॥११२॥

भगवान बा

पाद एवं परम हैं। आप सोम, सूर्य, दीक्षा, दक्षिणा, नर, त्रिनयन, महानयन, आदित्यप्रभव, सुरोत्तम, शुचि, शुक्र, नभ, नभस्य, इष, ऊर्ज, सह, सहस्य, तप, तपस्य, मधु, माधव, काल, संक्रम, विक्रम, पराक्रम, अश्वग्रीव, महामेघ, शंकर, हरीश्वर, शम्भु, ब्रह्मेश, सूर्य, मित्रावरुण, प्राग्वंशकाय, भूतादि, महाभूत, ऊर्ध्वकर्मा, कर्त्ता, सर्वपापविमोचन एवं त्रिविक्रम हैं। आपको ॐ नमस्कार है ॥ ५—७० ॥

पुलस्त्य उवाच

इत्थं स्तुतः पद्मभवेन विष्णुस्त्वपरिमिताद्भुतकर्मकारी।
प्रोवाच देव प्रपितामह त्वं वरं वृणीष्वामलसत्त्ववृत्ते ॥ १२ ॥
तमब्रवीत् प्रीतियुतः पितामहो वरं ममेहाद्य विभो प्रयच्छ।
रूपेण पुण्येन विभो ह्यनेन सन्तिष्ठतां मद्भवने मुरारे ॥ १३ ॥
इत्थं वृते देववरेण प्रादात् प्रभुस्तथास्त्विति तमव्ययात्मा।
तस्थौ हि रूपेण हि वामनेन सम्पूज्यमानः सदने स्वयम्भोः ॥ १४ ॥
नृत्यन्ति तत्राप्सरसां समूहा गायन्ति गीतानि सुरेन्द्रगायनाः।
विद्याधरास्तूर्यवरांश्च वादयन् स्तुवन्ति देवासुरसिद्धसङ्घाः ॥ १५ ॥
ततः समाराध्य विभुं सुराधिपं पितामहो धौतमलः स शुद्धः।
स्वर्गे विरिञ्चिः सदनात् सुपुष्पाण्यानीय पूजां प्रचकार विष्णोः ॥ १६ ॥
स्वर्गे सहस्रं स तु योजनानां विष्णोः प्रमाणेन हि वामनोऽभूत्।
तत्रापि शक्रः प्रचकार पूजां स्वयम्भुवस्तुल्यगुणां महर्षे ॥ १७ ॥
एतत् तपोऽत्र भगवानसिवित्सप्रदार यद् देवहितं महात्मा।
रसातलस्थो विविक्तश्चकार यच्चक्रुष्तपुत्वाघ वदामि विप्र ॥ १८ ॥

इति श्रीवामनपुराणे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

पुलस्त्यजी बोले—ब्रह्मा एवं तपस्वियोंके इस प्रकार स्तुति करनेपर अद्भुत कर्म करनेवाले विष्णुने पितामह देवसे कहा—अमलसत्त्ववृत्ते! (निर्मल सत्त्वस्वरूपवाले) आप वर माँगिये। पितामहने प्रसन्नतापूर्वक उनसे कहा—विभो! मुरारे! 'आप इस पवित्र रूपसे मेरे भवनमें स्थित रहें। मुझे यही वर प्रदान करें। इस प्रकार देवश्रेष्ठके वर माँगनेपर अव्ययात्मा प्रभुने उनसे कहा—ऐसा ही होगा। उसके बाद वे स्वयम्भूके भवनमें वामनरूपसे पूजित होते हुए रहने लगे। वहाँ अप्सराओंका समूह नृत्य करने लगा, सुरेन्द्रके गायक गान करने लगे, विद्याधर श्रेष्ठ तूर्य बजाने लगे एवं देव, असुर तथा सिद्धोंके समूह स्तुति करने लगे। विभुकी समाराधनाके पश्चात् देवेश पितामह ब्रह्मा पापरहित एवं शुद्ध हो गये। स्वर्गमें ब्रह्माने घरमेंसे सुन्दर पुष्पोंको लाकर उनसे विष्णुका पूजन किया। विष्णु स्वर्गमें वामन-रूपसे (बढ़कर) हजार योजन विस्तृत हो गये। महर्षे! वहाँ इन्द्रने ब्रह्माके समान गुणोंसे युक्त पदार्थोंसे उनकी पूजा की। विप्र! महात्मा भगवान् [illegible] बलिको रसातलमें भेजकर देवताओंका जो कल्याण-साधन किया [illegible], वह मैंने [illegible] कहा। [illegible] रसातलमें रहते हुए जो कार्य किया उसका वर्णन मैं [illegible] कर रहा हूँ, उसे सुनिये—॥ १२—१८ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें बानबेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९२ ॥

—

मध्यान्तेषु जीमूताः सौदामिन्यृक्षतारकाः । बाह्यतो मुनयो यस्य वालखिल्यादयस्तथा ॥ १४ ॥
तमायुधवरं वन्दे वासुदेवस्य भक्तितः । यन्मे पापं शरीरोत्थं वाग्जं मानसमेव च ॥ १५ ॥
तन्मे दहस्व दीप्तांशो विष्णोश्चक्र सुदर्शन । यन्मे कुलोद्भवं पापं पैतृकं मातृकं तथा ॥ १६ ॥
तन्मे हरस्व तरसा नमस्ते अच्युतायुध । आधयो मम नश्यन्तु व्याधयो यान्तु संक्षयम् ॥
त्वन्नामकीर्तनाच्चक्र दुरितं यातु संक्षयम् ॥ १७ ॥
इत्येवमुक्त्वा मतिमान् समभ्यर्च्याथ भक्तितः । संस्मरन् पुण्डरीकाक्षं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ १८ ॥

बलिने स्तुति की—दैत्य-समूहका संहार करनेवाले, अनन्तकिरणोंसे युक्त हजारों प्रभातकी आभावाले, हजारों अरोंसे युक्त विष्णुके निर्मल सुदर्शनचक्रको मैं नमस्कार करता हूँ । विष्णुके उस चक्रको मैं नमस्कार करता हूँ, जिसकी नाभिमें पितामह, चोटीपर त्रिशूल धारण करनेवाले महादेव, अरोंके मूलमें महान् पर्वत, अरोंमें इन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि देवता, वेगमें वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी और आकाश, अरोंके किनारोंमें मेघ, विद्युत्, नक्षत्र एवं ताराओंके समूह तथा बाह्यभागमें बालखिल्य आदि मुनि स्थित हैं । मैं श्रद्धापूर्वक वासुदेवके उस श्रेष्ठ आयुधको नमस्कार करता हूँ । विष्णुके प्रदीप्त किरणवाले सुदर्शनचक्र ! मेरे शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक पापोंका आप विनाश करें । अच्युतायुध ! मेरे कुलमें हुए पैतृक एवं मातृक पापोंका शीघ्रतापूर्वक आप हरण करें । आपको नमस्कार है । मेरी सारी आधि-व्याधियोंका नाश हो जाय । चक्र ! आपके नामका कीर्तन करनेसे पापोंका नाश हो जाय । इस प्रकार बुद्धिमान् (बलि)ने श्रद्धापूर्वक चक्रकी पूजा की तथा समस्त पापोंका विनाश करनेवाले पुण्डरीकाक्ष भगवान्‌का स्मरण किया ॥ ११–१८ ॥

पूजितं बलिना चक्रं कृत्वा निस्तेजसोऽसुरान् । निश्चक्रामाथ पातालाद् विषुवे दक्षिणे मुने ॥ १९ ॥
सुदर्शने निर्गते तु बलिर्विक्लवतां गतः । परमामापदं प्राप्य सस्मार स्वपितामहम् ॥ २० ॥
स चापि संस्मृतः प्राप्तः सुतलं दानवेश्वरः । दृष्ट्वा तस्थौ महातेजाः सार्घपाणो बलिस्तदा ॥ २१ ॥
तमर्च्य विधिना प्राज्ञः पितुः पितरमीश्वरम् । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
संस्मृतोऽसि मया तात सुविषण्णेन चेतसा । तन्मे हितं च पथ्यं च श्रेयोग्यं वद तात मे ॥ २३ ॥
किं कार्यं तात संसारे वसता पुरुषेण हि । कृतेन येन वै साम्यं बन्धः समुपजायते ॥ २४ ॥
संसारार्णवमग्नानां नराणामल्पचेतसाम् । तरणे यो भवेत् पोतस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २५ ॥

मुने ! बलिसे अर्चित हुआ चक्र असुरोंको तेजरहित करके पातालसे निकला और दक्षिण दिशाकी ओर चला गया । सुदर्शनके निकल जानेपर बलि अत्यन्त बेचैन हो गया । घोर संकट आनेपर उसने अपने पितामहको याद किया । स्मरण करते ही दैत्येश्वर (प्रह्लाद) सुतलमें आ गये । (उन्हें) देखते ही महातेजस्वी बलि तुरंत हाथमें अर्घ्य लिये उठ खड़ा हुआ । महान् ! अपने समर्थ पितामहकी विधिपूर्वक पूजा करनेके बाद बलिने हाथ जोड़कर यह वचन कहा—तात ! अत्यन्त शोकमग्न चित्तसे मैंने आपका स्मरण किया है । तात ! मुझे हितकर, पथ्य एवं कल्याणकारी उत्तम उपदेश दें । तात ! मनुष्योंको संसारमें रहते हुए क्या करना चाहिये, जिसके करनेसे उसे बन्धन न हो । संसार-समुद्रमें निमग्न हुए अल्पमति मनुष्योंको तरनेके लिये पोतस्वरूप क्या है, आप मुझसे इसे बतावें ॥ १९–२५ ॥

पुलस्त्य उवाच

एतद्वचनमाकर्ण्य तत्पौत्राद् दानवेश्वरः । विचिन्त्य प्राह वचनं संसारे यद्धितं परम् ॥ २६ ॥

पुलस्त्यजी बोले—अपने उस पौत्रके वचनको सुननेके बाद दानवेश्वर (प्रह्लाद)ने विचारकर संसारमें कल्याणकर श्रेष्ठ वचन कहा—॥ २६ ॥

यनार्चितो हि भगवान् चतुर्धा वै त्रिविक्रमः। तेनार्चिता न संदेहो लोकाः सामरदानवाः ॥ ३८ ॥
यथा रत्नानि जलधेरसंख्येयानि पुत्रक। तथा गुणा हि देवस्य त्वसंख्यातास्तु चक्रिणः ॥ ३९ ॥
ये शङ्खचक्राब्जकरं सशार्ङ्गिणं खगेन्द्रकेतुं वरदं श्रियः पतिम्।
समाश्रयन्ते भवभीतिनाशनं संसारगर्ते न पतन्ति ते पुनः ॥ ४० ॥
येषां मनसि गोविन्दो निवासी सततं बले। न ते परिभवं यान्ति न मृत्योरुद्विजन्ति च ॥ ४१ ॥
देवं शार्ङ्गधरं विष्णुं ये प्रपन्नाः परायणम्। न तेषां यमसालोक्यं न च ते नरकौकसः ॥ ४२ ॥
न तां गतिं प्राप्नुवन्ति श्रुतिशास्त्रविशारदाः। विप्रा दानवशार्दूल विष्णुभक्ता व्रजन्ति याम् ॥ ४३ ॥
या गतिर्दैत्यशार्दूल हतानां तु महाहवे। ततोऽधिका गतिं यान्ति विष्णुभक्ता नरोत्तमाः ॥ ४४ ॥

त्रिविक्रम भगवान्‌की चार प्रकारसे अर्चना करनेवाले मनुष्योंने निःसंदेह सुर और असुर-सहित सम्पूर्ण लोकोंका पूजन कर लिया है। पुत्र! जिस प्रकार समुद्रके रत्न अनगिनत हैं, उसी प्रकार चक्र धारण करनेवाले विष्णुके गुण भी असंख्य हैं। हाथोंमें शङ्ख, चक्र, कमल एवं शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले गरुडध्वज, भवभीतिके नाश करनेवाले वरदानी लक्ष्मीपतिका आश्रय ग्रहण करनेवाले मनुष्य फिर संसाररूपी गड्ढेमें नहीं पड़ते। बल! जिनके मनमें गोविन्द निरन्तर निवास करते हैं, उनका अनादर नहीं होता और वे मृत्युसे आतङ्कित नहीं होते। मोक्ष-प्राप्ति करनेके श्रेष्ठ शरण स्थान शार्ङ्गधारी विष्णुकी शरणमें पहुँचे मनुष्योंको यमलोक या नरकमें नहीं जाना पड़ता। दानवश्रेष्ठ! वेदशास्त्रमें कुशल ब्राह्मणोंको वह गति नहीं प्राप्त होती जो गति विष्णुभक्त प्राप्त करते हैं। दैत्यश्रेष्ठ! महान् युद्धमें मारे गये व्यक्ति जो गति प्राप्त करते हैं, उस नरश्रेष्ठ विष्णुभक्तको उससे भी उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ ३८–४४ ॥

या गतिर्धर्मशीलानां सात्त्विकानां महात्मनाम्। सा गतिर्गदिता दैत्य भगवत्सेविनामपि ॥ ४५ ॥
सर्वावासं वासुदेवं सूक्ष्ममव्यक्तविग्रहम्। प्रविशन्ति महात्मानं तद्भक्ता नान्यचेतसः ॥ ४६ ॥
अनन्यमनसो भक्त्या ये नमस्यन्ति केशवम्। शुचयस्ते महात्मानस्तीर्थभूता भवन्ति ते ॥ ४७ ॥
गच्छन् तिष्ठन् स्वपन् जाग्रत् पिबन्नश्नन्नभीक्ष्णशः।
ध्यायन् नारायणं यस्तु न ततोऽन्योऽस्ति पुण्यभाक्। वैकुण्ठं चक्रपरशुं भवबन्धसमुच्छिदम् ॥ ४८ ॥
प्रणिपत्य यथान्याय्यं संसारे न पुनर्भवेत्। क्षेत्रेषु वसते नित्यं क्षेत्रज्ञास्तेऽमितद्युतिः ॥ ४९ ॥
आसीनः सर्वदेहेषु कर्मभिर्न स बध्यते। येषां विष्णुः प्रियो नित्यं ते विष्णोः सततं प्रियाः ॥ ५० ॥
न ते पुनः सम्भवन्ति तद्भक्तास्तत्परायणाः। ध्यायेद् दामोदरं यस्तु भक्तिनम्रोऽर्चयेत वा ॥ ५१ ॥
न स संसारपङ्केऽस्मिन् मज्जते दानवेश्वर।
प्रत्युत्थाय च भक्त्या ये स्मरन्ति मधुसूदनम्। स्तुवन्त्यप्यभिरक्षन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५२ ॥

दैत्य! धर्मशील, सात्त्विक महात्माओंको जो गति प्राप्त होती है, भगवद्भक्तोंकी भी वही गति कही गयी है। अनन्यमनसे भगवान्‌की भक्ति करनेवाले सर्वावास, सूक्ष्म, अव्यक्त शरीरवाले महात्मा वासुदेवमें प्रवेश करते हैं। अनन्यमनसे श्रद्धापूर्वक केशवको नमन करनेवाले मनुष्य पवित्र एवं तीर्थस्वरूप होते हैं। चलते, रुकते, सोते, जागते एवं खाते-पीते हुए निरंतर नारायणका ध्यान करनेवालेसे अधिक पुण्यका भागी और कोई नहीं होता। विधानानुकूल संसार-बन्धनका समुच्छेद करनेवाले चक्र और परशु धारण करनेवाले वैकुण्ठको नमस्कार करनेसे संसारमें पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता। क्षेत्रमें निवास करते हुए सर्वदा [illegible] करनेवाला [illegible] समस्त शरीरोंमें रहनेपर भी उनके कर्मोंके बन्धनमें नहीं पड़ता। विष्णु जिन्हें नित्य प्रिय हैं, वे सर्वदा

विष्णुको प्रिय होते हैं । दामोदरका चिन्तन करनेवाले उनके भक्त, उनके शरणागत अथवा श्रद्धापूर्वक उनका अर्चन करनेवाले मनुष्य फिर जन्म ग्रहण नहीं करते । दानवेश्वर ! प्रातःकाल उठकर श्रद्धापूर्वक मधुसूदनका चिन्तन करनेवाले मनुष्य इस संसाररूपी कीचड़में नहीं फँसते । उनका गुणगान करनेवाले एवं गुणोंका श्रवण करनेवाले मनुष्य कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं ॥ ४५–५२ ॥

हरिवाक्यामृतं पीत्वा विमलैः श्रोत्रभाजनैः । प्रहृष्यति मनो येषां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५३ ॥
येषां चक्रगदापाणौ भक्तिरव्यभिचारिणी । ते यान्ति नियतं स्थानं यत्र योगेश्वरो हरिः ॥ ५४ ॥
विष्णुकर्मप्रसक्तानां भक्तानां या परा गतिः । सा तु जन्मसहस्रेण न तपोभिरवाप्यते ॥ ५५ ॥
किं जप्यैस्तस्य मन्त्रैर्वा किं तपोभिः किमाश्रमैः । यस्य नास्ति परा भक्तिः सततं मधुसूदने ॥ ५६ ॥
वृथा यज्ञा वृथा वेदा वृथा दानं वृथा श्रुतम् । वृथा तपश्च कीर्तिश्च यो द्वेष्टि मधुसूदनम् ॥ ५७ ॥
किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दने । नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥ ५८ ॥
विष्णुरेव गतिर्येषां कुतस्तेषां पराजयः । येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥ ५९ ॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं वरेण्यं वरदं प्रभुम् । नारायणं नमस्कृत्य सर्वकर्माणि कारयेत् ॥ ६० ॥

विमल कर्णरूपी पात्रोंसे अमृतरूपी हरिके वचनोंका पान कर (श्रवण कर) जिनका मन अत्यन्त आह्लादित होता है वे कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं । चक्र-गदाधारी विष्णुमें स्थिर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्य निःसंदेह योगेश्वर हरिके स्थानमें जाते हैं । विष्णुकी सेवामें तत्पर रहनेवाले भक्तोंको जो श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है वह हजारों जन्मोंके भी तपसे नहीं प्राप्त हो सकती । मधुसूदनमें निरंतर पराभक्तिसे रहित मनुष्योंके जप, मन्त्र, तप एवं आश्रमोंसे क्या लाभ ? मधुसूदनसे द्वेष करनेवाले मनुष्योंके यज्ञ, वेद, दान, ज्ञान, तप एवं कीर्ति व्यर्थ हैं । जनार्दनमें श्रद्धा रखनेवालोंको बहुत-से मन्त्रोंसे क्या लाभ ? 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र सभी अर्थोंका सिद्ध करनेवाला है । जिनकी गति विष्णु हैं एवं जिनके हृदयमें नील कमलके समान श्याम वर्णवाले जनार्दन अवस्थित हैं, उनकी हार कहाँ सम्भव है ? सभी मङ्गलोंके मङ्गलमूर्ति, वरेण्य, वरदानी प्रभु नारायणको नमस्कार कर समस्त कर्म करना चाहिये ॥ ५३–६० ॥

विष्टयो व्यतिपाताश्च येऽन्ये दुर्नीतिसम्भवाः । ते नामस्मरणाद्विष्णोर्नाशं यान्ति महासुर ॥ ६१ ॥
तीर्थकोटिसहस्राणि तीर्थकोटिशतानि च । नारायणप्रणामस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ६२ ॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च । तानि सर्वाण्यवाप्नोति विष्णोर्नामानुकीर्तनात् ॥ ६३ ॥
प्राप्नुवन्ति न तॉंल्लोकान् व्रतिनो वा तपस्विनः । प्राप्यन्ते ये तु कृष्णस्य नमस्कारपरैर्नरैः ॥ ६४ ॥
योऽप्यन्यदेवताभक्तो मिथ्यार्चयति केशवम् । सोऽपि गच्छति साधूनां स्थानं पुण्यकृतां महत् ॥ ६५ ॥
शाठ्येन हृषीकेशं पूजयित्वा तु यत्फलम् । सुचीर्णतपसां नॄणां तत् फलं न कदाचन ॥ ६६ ॥
अभ्यर्च्य पद्मनाभं तु ये स्वपन्ति सुमेधसः । ते लभन्त्युपवासस्य फलं नास्त्यत्र संशयः ॥ ६७ ॥

महासुर ! विष्टियाँ, व्यतिपात एवं दुर्नीतिसे उत्पन्न हुई अन्य सभी आपत्तियाँ विष्णुके नामका स्मरण करनेसे विनष्ट हो जाती हैं । सौ करोड़ एवं हजारों करोड़ तीर्थ भी नारायणको प्रणाम करनेकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं । मृत्युलोकमें जितने तीर्थ और पवित्र स्थान—देवस्थान हैं, वे सभी विष्णुके नामका संकीर्तनसे प्राप्त होते हैं । श्रीकृष्णको नमन करनेवाले मनुष्य जिन लोकोंको प्राप्त करते हैं, उन्हें व्रत करनेवाले या तपस्या करनेवाले लोग नहीं प्राप्त करते । अन्य देवताका भक्त होते हुए केशवकी आडम्बरपूर्ण अर्चना करनेवाला मनुष्य भी पुण्यकर्म करनेवाले साधुओंके महान् स्थानको प्राप्त करता है । हृषीकेशके निरन्तर पूजनसे भी इस मांग

होता है घोर तप करनेवाले मनुष्योंको वह फल कभी नहीं प्राप्त होता । तीनों सन्ध्याओंके समयमें पद्मनाभका स्मरण करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको निस्सन्देह उपवासका फल प्राप्त होता है ॥ ६१–६७ ॥

सततं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा हरिमर्चय । तत्प्रसादात् परां सिद्धिं बले प्राप्स्यसि शाश्वतीम् ॥ ६८ ॥
तन्मना भव तद्भक्तस्तद्याजी तं नमस्कुरु । तमेवाश्रित्य देवेशं सुखं प्राप्स्यसि पुत्रक ॥ ६९ ॥

आद्यं ह्यनन्तमजरं हरिमव्ययं च ये वै स्मरन्त्यहरहर्नृवरा भुविस्थाः ।
सर्वत्रगं शुभदं ब्रह्ममयं पुराणं ते यान्ति वैष्णवपदं ध्रुवमक्षयञ्च ॥ ७० ॥
ये मानवा विगतरागपरापरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति ।
ते धौतपाण्डुरपुटा इव राजहंसाः संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम् ॥ ७१ ॥
ध्यायन्ति ये सततमच्युतमीशितारं निष्कल्मषं प्रवरपद्मदलायताक्षम् ।
ध्यानेन तेन हतकिल्बिषवेदनास्ते मातुः पयोधररसं न पुनः पिबन्ति ॥ ७२ ॥

बले ! शास्त्रोंमें वर्णित कर्मद्वारा निरन्तर हरिका अर्चन करो । उनके प्रसादसे निरन्तर स्थिर रहनेवाली उत्तम सिद्धि प्राप्त करोगे । पुत्र ! तुम तन्मना, तद्भक्त एवं उनका भजन करनेवाला होकर उन्हें नमन करो, उन देवेशका ही आश्रय ग्रहण कर तुम सुख प्राप्त करोगे । आद्य, अनन्त, अजर, सर्वत्रगामी, शुभदाता, ब्रह्ममय, पुराण, अव्यय हरिका दिन-रात स्मरण करनेवाले मृत्युलोकके वासी श्रेष्ठ मनुष्य ध्रुव एवं अक्षय वैष्णव पदको प्राप्त करते हैं । जो आसक्तिहीन एवं पर और अपरके ज्ञाता मनुष्य निरन्तर गुरुदेव नारायणका चिन्तन करते हैं वे धुले हुए श्वेत पंखोंवाले राजहंसोंके समान विषय-रूपी जलसे भरे संसार-सागरको पार कर जाते हैं । जो मनुष्य उत्तम कमल-दलके समान विस्तृत नेत्रोंवाले निर्दोष, नियमन करनेवाले अच्युतका निरन्तर चिन्तन करते हैं, वे उस ध्यानसे पाप कष्टका नाश हो जानेपर फिर माताके पयोधरका रस नहीं पान करते (उनका पुनर्जन्म नहीं होता ।) ॥ ६८–७२ ॥

ये कीर्तयन्ति वरदं वरपद्मनाभं शङ्खाब्जचक्रशरचापगदासिहस्तम् ।
पद्मालयावदनपङ्कजषट्पदाख्यं नूनं प्रयान्ति सदनं मधुघातिनस्ते ॥ ७३ ॥
शृण्वन्ति ये भक्तिपरा मनुष्याः संकीर्त्यमानं भगवन्तमाद्यम् ।
ते मुक्तपापाः सुखिनो भवन्ति यथाऽमृतप्राशनतर्पितास्तु ॥ ७४ ॥
तस्माद् ध्यानं स्मरणं कीर्तनं वा नाम्नां श्रवणं पठतां सज्जनानाम् ।
कार्यं विष्णोः श्रद्दधानैर्मनुष्यैः पूजातुल्यं तत् प्रशंसन्ति देवाः ॥ ७५ ॥
वाह्यैस्तथाऽन्तःकरणैरविह्वलैर्यो नार्चयेत् केशवमीशितारम् ।
पुष्पैश्च पत्रैर्जलपल्लवादिभिर्नूनं स मुष्टो विधिना स्वकालेन ॥ ७६ ॥

इति श्रीवामनपुराणे त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

हाथोंमें शङ्ख, कमल, चक्र, श्रेष्ठ धनुष, गदा तथा तलवार धारण करनेवाले, लक्ष्मीके मुखकमलके भ्रमर, वर देनेवाले पद्मनाभका कीर्तन करनेवाले मनुष्य निश्चय ही मधुसूदनका लोक प्राप्त करते हैं । अमृत पीनेसे तृप्त होनेवाले प्राणीके समान भक्तिपरायण मनुष्य आद्य भगवान्का कीर्तन सुनकर पापसे मुक्त एवं सुखी होते हैं । अतः श्रद्धाशील मनुष्यको विष्णुका ध्यान, स्मरण, कीर्तन अथवा पाठ करनेवाले मनुष्योंसे विष्णुके नामोंका श्रवण करना चाहिये । देवगण पूजाके समान उसकी प्रशंसा करते हैं । स्वस्थ, बाह्य तथा आन्तरिक इन्द्रियोंसे जो मनुष्य पुष्प, पत्र, जल एवं पल्लवादिद्वारा शासन करनेवाले केशवका अर्चन नहीं करता, निश्चय ही विधिकी उसको कालने ठग लिया है ॥ ७३–७६ ॥

इस प्रकार श्रीवामनपुराणमें तिरानबेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९३ ॥

[अथ चतुर्नवतितमोऽध्यायः]

बलिरुवाच

भवता कथितं सर्वं समाराध्य जनार्दनम् । या गतिः प्राप्यते लोके तां मे वक्तुमिहार्हसि ॥ १ ॥
केनार्चनेन देवस्य प्रीतिः समुपजायते । कानि दानानि शस्तानि प्रीणनाय जगद्गुरोः ॥ २ ॥
उपवासादिकं कार्यं कस्यां तिथ्यां महोदयम् । कानि पुण्यानि शस्तानि विष्णोस्तुष्टिप्रदानि वै ॥ ३ ॥
यच्चान्यदपि कर्त्तव्यं हृष्टरूपैरनालसैः । तदप्यशेषं दैत्येन्द्र समाख्यातुमिहार्हसि ॥ ४ ॥

चौरानबेवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलिका प्रह्लादसे प्रश्न, विष्णुकी पूजनादि-विधि, मासानुसार विविध दान विधान, विष्णु मन्दिर निर्माण और विष्णुभक्त एवं वृद्धसमयकी महिमाका वर्णन)

बलिने कहा—(तात !) आपने सब कुछ कह दिया । अब आप जनार्दनकी पूजा करनेसे प्राप्त होनेवाली गतिका कथन करें । किस प्रकारकी आराधना करनेसे वासुदेवकी प्रसन्नता होती है ? (उन) जगद्गुरुको प्रसन्न करनेके लिये किस प्रकारके दान करने चाहिये (कौन-सी वस्तुएँ प्रशस्त हैं ?) किस तिथिमें उपवास आदि करनेसे महान् उन्नति होती है ? विष्णुकी प्रीति उत्पन्न करनेवाले कौन-से पवित्र कार्य कहे गये हैं ? दैत्येन्द्र ! आलस्यसे रहित होकर प्रीतिपूर्वक करने योग्य अन्य कार्योंका भी वर्णन आप भलीभाँति मुझसे कीजिये ॥ १–४ ॥

प्रह्लाद उवाच

श्रद्धावद्भिर्भक्तिपरैर्यान्युद्दिश्य जनार्दनम् । बले दानानि दीयन्ते तान्यूचुर्मुनयोऽक्षयान् ॥ ५ ॥
ता एव तिथयः शस्ता यास्वभ्यर्च्य जगत्पतिम् । तच्चित्तस्तन्मयो भूत्वा उपवासी नरो भवेत् ॥ ६ ॥
पूजितेषु द्विजेन्द्रेषु पूजितः स्याज्जनार्दनः । एतान् द्विषन्ति ये मूढास्ते यान्ति नरकं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
तानर्चयेन्नरो भक्त्या ब्राह्मणान् विष्णुतत्परः । एवमाह हरिः पूर्वं ब्राह्मणा मामकी तनुः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणो नावमन्तव्यो बुधो वाप्यबुधोऽपि वा । सोऽपि दिव्या तनुर्विष्णोस्तस्मात् तामर्चयेन्नरः ॥ ९ ॥
तान्येव च प्रशस्तानि कुसुमानि महासुर । यानि स्युर्वर्णयुक्तानि रसगन्धयुतानि च ॥ १० ॥
विशेषतः प्रवक्ष्यामि पुष्पाणि तिथयस्तथा । दानानि च प्रशस्तानि माधवप्रीणनाय तु ॥ ११ ॥

प्रह्लादने कहा—बले ! श्रद्धासे भरे और भक्तिसे युक्त होकर जनार्दनके उद्देश्यसे जो दान दिये जाते हैं, उन्हें मुनियोंने कभी भी विनाश न होनेवाला (दान) कहा है । वे ही तिथियाँ प्रशस्तनीय होती हैं, जिनमें मनुष्य विष्णुकी पूजा करनेके बाद उनमें चित्त एवं मन लगाकर उपवास करता है । ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे जनार्दनकी (ही) पूजा होती है । उनसे वैर करनेवाले मूढ़ व्यक्ति निश्चय ही नरकमें जाते हैं । विष्णुमें अनुराग रखनेवाले भक्तिमान् मनुष्यको श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये । पूर्वकालमें विष्णुने यह कहा था कि ब्राह्मण मेरे शरीर हैं । ज्ञानी (हो) अथवा अज्ञानी, (पर) ब्राह्मणका तिरस्कार (कभी) नहीं करना चाहिये । वह विष्णुका शरीर होता है । अतः उसकी पूजा करनी चाहिये । (जहाँतक विष्णुपूजाके लिये पुष्पका प्रश्न है,) महासुर ! वर्ण, रस एवं गन्धसे युक्त पुष्प ही उत्तम होते हैं । अब मैं माधवकी प्रसन्नताके लिये कहे गये विशेष पुष्पों, तिथियों एवं दानोंका (स्पष्टतासे) वर्णन करता हूँ ॥ ५–११ ॥

जाती शताह्वा सुमनाः कुन्दं बहुपुटं तथा । बाणं च चम्पकाशोकं करवीरं च यूथिका ॥ १२ ॥
पारिभद्रं पाटला च बकुलं गिरिशालिनी । तिलकं च जपाकुसुमं पीतकं नागरं त्वपि ॥ १३ ॥

एतानि हि प्रशस्तानि कुसुमान्यच्युतार्चने । सुरभीणि तथान्यानि वर्जयित्वा तु केतकीम् ॥ १४ ॥
बिल्वपत्रं शमीपत्रं पत्रं भृङ्गमृगाङ्कयोः । तमालामलकीपत्रं शस्तं केशवपूजने ॥ १५ ॥
येषामपि हि पुष्पाणि प्रशस्तान्यच्युतार्चने । पल्लवान्यपि तेषां स्युः पत्राण्यर्चाविधौ हरेः ॥ १६ ॥
वीरुधां च प्रवालेन बर्हिषा चार्चयत्तथा । नानारूपैश्चाम्बुभवैः कमलेन्दीवरादिभिः ॥ १७ ॥
प्रवालैः शुचिभिः श्लक्ष्णैर्जलप्रक्षालितैर्नृप । वनस्पतीनामर्चेत तथा दूर्वाग्रपल्लवैः ॥ १८ ॥
चन्दनेनानुलिम्पेत कुङ्कुमेन प्रयत्नतः । उशीरपद्मकाभ्यां च तथा कालेयकादिना ॥ १९ ॥
महिषाख्यं कणं दारु सिह्लकं सागरं सिता । शङ्खं जातीफलं श्रीशे धूपानि स्युः प्रियाणि वै ॥ २० ॥

अच्युत (श्रीविष्णु) की अर्चनाके लिये—मालती, शतावरी, चमेली, कुन्द, गुलाब, बहुपुर, बाण, चम्पा, अशोक, कनेर, जूही, पारिभद्र, पाटल, मौलसिरी, गिरिशालिनी, तिलक, अड्डहुल, पीतक एवं नागर नामक पुष्प उत्तम हैं। इनके सिवा केतकीको छोड़कर अन्य सुगन्धित पुष्प भी श्रेष्ठ हैं। केशवके पूजनमें बिल्वपत्र, शमीपत्र, भृङ्ग एवं मृगाङ्कके पत्र, तमाल तथा आमलकीके पत्र प्रशंसनीय हैं। अच्युतके अर्चनमें जिन वृक्षोंके पुष्पोंका प्रयोग होता है उनके पल्लव एवं पत्र भी विष्णुके पूजनमें प्रशंसनीय होते हैं। वीरुधोंके किसलय एवं कुशा तथा जलमें उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके कमल एवं इन्दीवरसे विष्णुका पूजन करना चाहिये। वत्से! वनस्पतियोंके चिकने, पवित्र एवं जलसे धोये हुए कोपलोंसे तथा दूबके अङ्कुरसे (विष्णुका) पूजन करना चाहिये। प्रयत्नपूर्वक चन्दन, कुङ्कुम, उशीर, खश, पद्मक एवं कालेयक आदिसे विष्णुका अनुलेपन करना चाहिये। श्रीविष्णुको महिष नामक कण, दारु, सिह्लक, अगरु, सिता, शङ्ख एवं जातीफलका धूप प्रिय होता है ॥ १२-२० ॥

हविषा संस्कृता ये तु यवगोधूमशालयः । तिलमुद्गादयो माषा व्रीहयश्च प्रिया हरेः ॥ २१ ॥
गोदानानि पवित्राणि भूमिदानानि चानघ । वस्त्रान्नस्वर्णदानानि प्रीतये मधुघातिनः ॥ २२ ॥
माघमासे तिला देयास्तिलधेनुश्च दानव । इन्धनादीनि च तथा माधवप्रीणनाय तु ॥ २३ ॥
फाल्गुने व्रीहयो मुद्गा वस्त्रकृष्णाजिनादिकम् । गोविन्दप्रीणनार्थाय दातव्यं पुरुषर्षभैः ॥ २४ ॥
चैत्रे चित्राणि वस्त्राणि शयनान्यासनानि च । विष्णोः प्रीत्यर्थमेतानि देयानि ब्राह्मणेष्वथ ॥ २५ ॥
गन्धमाल्यानि देयानि वैशाखे सुरभीणि वै । देयानि द्विजमुख्येभ्यो मधुसूदनतुष्टये ॥ २६ ॥
उदकुम्भाम्बुधेनुं च तालवृन्तं सुचन्दनम् । त्रिविक्रमस्य प्रीत्यर्थं दातव्यं साधुभिः सदा ॥ २७ ॥
उपानद्युगलं छत्रं लवणामलकादिकम् । आषाढे वामनप्रीत्यै दातव्यानि तु भक्तितः ॥ २८ ॥

घृतसे संस्कृत जौ, गेहूँ, शालिधान्य, तिल, मूँग, उड़द और अन्न हरिको प्रिय हैं। हे निष्पाप! मधुसूदनको गौ, पवित्र भूमि, वस्त्र, अन्न और सोनेके दान प्रिय होते हैं। दानव! माघमासमें माधवकी प्रसन्नताके लिये तिल, तिलधेनु एवं इन्धनादिका दान करना चाहिये। श्रेष्ठ पुरुषोंको गोविन्दकी प्रीतिके लिये फाल्गुन मासमें चावल, मूँग, वस्त्र तथा कृष्णमृगचर्म दान करना चाहिये। चैत्र मासमें विष्णुकी प्रीतिके लिये ब्राह्मणोंको भाँति-भाँतिके वस्त्र, शय्या एवं आसनोंका दान करना चाहिये। मधुसूदनकी प्रीतिके लिये वैशाख मासमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सुगन्धित गन्ध एवं मालाओंका दान करना चाहिये। त्रिविक्रमकी प्रीतिके लिये सज्जन व्यक्तिको जलसे भरा घड़ा, जलधेनु, ताड़का पंखा तथा सुन्दर चन्दनका दान करना चाहिये। वामनकी प्रीतिके लिये आषाढ़ मासमें भक्तिपूर्वक जूतेका जोड़ा, छत्र, नमक एवं आँवले आदिका दान करना चाहिये ॥ २१-२८ ॥

[अथ चतुर्नवतितमोऽध्यायः]

बलिरुवाच

भवता कथितं सर्वं समाराध्य जनार्दनम्। या गतिः प्राप्यते लोके तां मे वक्तुमिहार्हसि ॥ १ ॥
केनार्चनेन देवस्य प्रीतिः समुपजायते। कानि दानानि शस्तानि प्रीणनाय जगद्गुरोः ॥ २ ॥
उपवासादिकं कार्यं कस्यां तिथ्यां महोदयम्। कानि पुण्यानि शस्तानि विष्णोस्तुष्टिप्रदानि वै ॥ ३ ॥
यच्चान्यदपि कर्त्तव्यं हृष्टरूपैरनालसैः। तदप्यशेषं दैत्येन्द्र ममाख्यातुमिहार्हसि ॥ ४ ॥

चौरानबेवाँ अध्याय प्रारम्भ

(बलिका प्रह्लादसे प्रश्न, विष्णुकी पूजनादि-विधि, मासानुसार विविध दान विधान, विष्णु मन्दिर-निर्माण और विष्णुभक्त एवं वृक्षवाटिकाकी महिमाका वर्णन)

बलिने कहा—(तात !) आपने सब कुछ कह दिया। अब आप जनार्दनकी पूजा करनेसे प्राप्त होनेवाली गतिका कथन करें। किस प्रकारकी आराधना करनेसे वासुदेवकी प्रसन्नता होती है ? (उन) जगद्गुरुको प्रसन्न करनेके लिये किस प्रकारके दान करने चाहिये (कौन-सी वस्तुएँ प्रशस्त हैं ?) किस तिथिमें उपवास आदि करनेसे महान् उन्नति होती है ? विष्णुकी प्रीति उत्पन्न करनेवाले कौन-से पवित्र कार्य कहे गये हैं ? दैत्येन्द्र ! आलस्यसे रहित होकर प्रीतिपूर्वक करने योग्य अन्य कार्योंका भी वर्णन आप भलीभाँति मुझसे कीजिये ॥ १-४ ॥

प्रह्लाद उवाच

श्रद्दधानैर्भक्तिपरैर्यान्युद्दिश्य जनार्दनम्। बले दानानि दीयन्ते तान्यूचुर्मुनयोऽक्षयान् ॥ ५ ॥
ता एव तिथयः शस्ता यास्वभ्यर्च्य जगत्पतिम्। तच्चित्तस्तन्मयो भूत्वा उपवासी नरो भवेत् ॥ ६ ॥
पूजितेषु द्विजेन्द्रेषु पूजितः स्याज्जनार्दनः। एतान् द्विषन्ति ये मूढास्ते यान्ति नरकं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
तानर्चयेन्नरो भक्त्या ब्राह्मणान् विष्णुतत्परः। एवमाह हरिः पूर्वं ब्राह्मणा मामकी तनुः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणो नावमन्तव्यो बुधो वाप्यबुधोऽपि वा। सोऽपि दिव्या तनुर्विष्णोस्तस्मात् तामर्चयेन्नरः ॥ ९ ॥
तान्येव च प्रशस्तानि कुसुमानि महासुर। यानि स्युर्वर्णयुक्तानि रसगन्धयुतानि च ॥ १० ॥
विशेषतः प्रवक्ष्यामि पुष्पाणि तिथयस्तथा। दानानि च प्रशस्तानि माधवप्रीणनाय तु ॥ ११ ॥

प्रह्लादने कहा—बले ! श्रद्धासे भरे और भक्तिसे युक्त होकर जनार्दनके उद्देश्यसे जो दान दिये जाते हैं, उन्हें मुनियोंने कभी भी विनाश न होनेवाला (दान) कहा है। वे ही तिथियाँ प्रशंसनीय होती हैं, जिनमें मनुष्य विष्णुकी पूजा करनेके बाद उनमें चित्त एवं मन लगाकर उपवास करता है। ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे जनार्दनकी (ही) पूजा होती है। उनसे वैर करनेवाले मूढ़ व्यक्ति निश्चय ही नरकमें जाते हैं। विष्णुमें अनुराग रखनेवाले भक्तिमान् मनुष्यको श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये। पूर्वकालमें विष्णुने यह कहा था कि ब्राह्मण मेरे शरीर हैं। ज्ञानी (हो) अथवा अज्ञानी, (पर) ब्राह्मणका तिरस्कार (कभी) नहीं करना चाहिये। वह विष्णुका शरीर होता है। अतः उसकी पूजा करनी चाहिये। (जहाँतक विष्णुपूजाके लिये पुष्पका प्रश्न है,) महासुर ! वर्ण, रस एवं गन्धसे युक्त पुष्प ही उत्तम होते हैं। अब मैं माधवकी प्रसन्नताके लिये कहे गये विशेष पुष्पों, तिथियों एवं दानोंका (स्पष्टतासे) वर्णन करता हूँ ॥ ५-११ ॥

जाती शताह्वा सुमनाः कुन्दं बहुपुटं तथा। बाणं च चम्पकाशोकं करवीरं च यूथिका ॥ १२ ॥
पारिभद्रं पाटला च बकुलं गिरिशालिनी। तिलकं च जपाकुसुमं पीतकं नागरं त्वपि ॥ १३ ॥

एतानि हि प्रशस्तानि कुसुमान्यच्युतार्चने । सुरभीणि तथान्यानि वर्जयित्वा तु केतकीम् ॥ १४ ॥
बिल्वपत्रं शमीपत्रं पत्रं भृङ्गमृगाङ्कयोः । तमालामलकीपत्रं शस्तं केशवपूजने ॥ १५ ॥
येषामपि हि पुष्पाणि प्रशस्तान्यच्युतार्चने । पल्लवान्यपि तेषां स्युः पत्राण्यर्चाविधौ हरेः ॥ १६ ॥
वीरुधां च प्रवालेन बर्हिषा चार्चयेत्तथा । नानाम्बुरुहजातैश्च कमलेन्दीवरादिभिः ॥ १७ ॥
प्रवालैः शुचिभिः श्लक्ष्णैर्जलप्रक्षालितैर्बले । वनस्पतीनामर्च्येत तथा दूर्वाग्रपल्लवैः ॥ १८ ॥
चन्दनेनानुलिम्पेत कुङ्कुमेन प्रयत्नतः । उशीरपद्मकाभ्यां च तथा कालीयकादिना ॥ १९ ॥
महिषाख्यं कणं दारु सिह्लकं सागुरु सिता । शङ्खं जातीफलं श्रीशे धूपानि स्युः प्रियाणि वै ॥ २० ॥

अच्युत (श्रीविष्णु) की अर्चनाके लिये—मालती, शतावरी, चमेली, कुन्द, गुलाब, बहुपुट, बाण, चम्पा, अशोक, कनेर, जूही, पारिभद्र, पाटल, मौलसिरी, गिरिशालिनी, तिलक, अड्हुल, पीतक एवं नागर नामक पुष्प उत्तम हैं। इनके सिवा केतकीको छोड़कर अन्य सुगन्धित पुष्प भी श्रेष्ठ हैं। केशवके पूजनमें बिल्वपत्र, शमीपत्र, भृङ्ग एवं मृगाङ्कके पत्र, तमाल तथा आमलकीके पत्र प्रशंसनीय हैं। अच्युतके अर्चनमें जिन वृक्षोंके पुष्पोंका प्रयोग होता है उनके पल्लव एवं पत्र भी विष्णुके पूजनके लिये प्रशस्त होते हैं। वीरुधके किसलय एवं कुश तथा जलमें उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके कमल एवं इन्दीवरादिसे विष्णुका पूजन करना चाहिये। बले! वनस्पतियोंके चिकने, पवित्र एवं जलसे धोये हुए कोपलोंसे तथा दूर्वाके अङ्कुरसे (विष्णुका) पूजन करना चाहिये। प्रयत्नपूर्वक चन्दन, कुङ्कुम, उशीर, खश, पद्मक एवं कालीयक आदिसे विष्णुका अनुलेपन करना चाहिये। श्रीविष्णुको महिष नामक कण, दारु, सिह्लक, अगरु, सिता, शङ्ख एवं जातीफलका धूप प्रिय होता है ॥ १२–२० ॥

हविषा संस्कृता ये तु यवगोधूमशालयः । तिलमुद्गादयो माषा व्रीहयश्च प्रिया हरेः ॥ २१ ॥
गोदानानि पवित्राणि भूमिदानानि चानघ । वस्त्रान्नस्वर्णदानानि प्रीतये मधुघातिनः ॥ २२ ॥
माघमासे तिला देयास्तिलधेनुश्च दानव । इन्धनादीनि च तथा माधवप्रीणनाय तु ॥ २३ ॥
फाल्गुने व्रीहयो मुद्गा वस्त्रकृष्णाजिनादिकम् । गोविन्दप्रीणनार्थाय दातव्यं पुरुषर्षभैः ॥ २४ ॥
चैत्रे चित्राणि वस्त्राणि शयनान्यासनानि च । विष्णोः प्रीत्यर्थमेतानि देयानि ब्राह्मणेष्वथ ॥ २५ ॥
गन्धमाल्यानि देयानि वैशाखे सुरभीणि वै । देयानि द्विजमुख्येभ्यो मधुसूदनतुष्टये ॥ २६ ॥
उदकुम्भाम्बुधेनुं च तालवृन्तं सुचन्दनम् । त्रिविक्रमस्य प्रीत्यर्थं दातव्यं साधुभिः सदा ॥ २७ ॥
उपानद्युगलं छत्रं लवणामलकादिकम् । आषाढे वामनप्रीत्यै दातव्यानि तु भक्तितः ॥ २८ ॥

घृतसे संस्कृत जौ, गेहूँ, शालि-धान्य, तिल, मूँग, उड़द और अन्न हरिको प्रिय हैं। हे निष्पाप! मधुसूदनको गौ, पवित्र भूमि, वस्त्र, अन्न और सोनेके दान प्रिय होते हैं। दानव! माघमासमें माधवकी प्रसन्नताके लिये तिल, तिलधेनु एवं इन्धनादिका दान करना चाहिये। महान् पुरुषोंको गोविन्दकी प्रीतिके लिये फाल्गुन मासमें चावल, मूँग, वस्त्र तथा कृष्णमृगचर्म दान करना चाहिये। चैत्र मासमें विष्णुकी प्रीतिके लिये ब्राह्मणोंको भाँति-भाँतिके वस्त्र, शय्या एवं आसनोंका दान करना चाहिये। मधुसूदनकी प्रीतिके लिये वैशाख मासमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सुगन्धित गन्ध एवं माल्योंका दान करना चाहिये। त्रिविक्रमकी प्रीतिके लिये सज्जन व्यक्तिको जलसे भरा घड़ा, जलधेनु, ताड़का पंखा तथा सुन्दर चन्दनका दान करना चाहिये। भगवान् वामनकी प्रीतिके लिये आषाढ़ मासमें भक्तिपूर्वक जूतेका जोड़ा, छत्र, नमक एवं आँवले आदिका दान करना चाहिये ॥ २१–२८ ॥

घृतं च क्षीरकुम्भाश्च घृतधेनुफलानि च। श्रावणे श्रीधरप्रीत्यै दातव्यानि विपश्चिता ॥ २९ ॥
मासि भाद्रपदे दद्यात् पायसं मधुसर्पिषा। हृषीकेशप्रीणनार्थं लवणं सगुडोदनम् ॥ ३० ॥
तिलास्तुरङ्गं वृषभं दधि ताम्रायसादिकम्। प्रीत्यर्थं पद्मनाभस्य देयमाश्वयुजे नरैः ॥ ३१ ॥
रजतं कनकं दीपान् मणिमुक्ताफलादिकम्। दामोदरस्य तुष्ट्यर्थं प्रदद्यात् कार्तिके नरः ॥ ३२ ॥
खरोष्ट्राश्वतरान् नागान् यानयुग्यमजाविकम्। दातव्यं केशवप्रीत्यै मासि मार्गशिरे नरैः ॥ ३३ ॥
प्रासादनगरादीनि गृहप्रावरणादिकम्। नारायणस्य तुष्ट्यर्थं पौषे देयानि भक्तितः ॥ ३४ ॥
दासीदासमलङ्कारमन्नं षड्रससंयुतम्। पुरुषोत्तमस्य तुष्ट्यर्थं प्रदेयं सार्वकालिकम् ॥ ३५ ॥
यद्यदिष्टतमं किंचिद्यद्वाप्यस्ति शुचि गृहे। तत्तद्धि देयं प्रीत्यर्थं देवदेवाय चक्रिणे ॥ ३६ ॥

बुद्धिमान् मनुष्यको श्रीधरकी प्रसन्नताके लिये श्रावण मासमें घी और दूधसे भरे घड़े, घृत, धेनु एवं फलोंका दान करना चाहिये। भाद्रपद मासमें हृषीकेशकी प्रसन्नताके लिये पायस, मधु, घी, नमक और गुड़से बनाये गये मीठे भातका दान करना चाहिये। मनुष्योंको पद्मनाभकी प्रसन्नताके लिये आश्विन मासमें तिल, घोड़ा, बैल, दही, ताँबा और लोहे आदिका दान करना चाहिये। मनुष्योंको दामोदरकी संतुष्टिके लिये कार्तिक मासमें चाँदी, सोना, दीप, मणि, मुक्ता और फल आदिका दान करना चाहिये। मनुष्योंको केशवकी प्रीतिके लिये मार्गशीर्ष (अगहन) मासमें खर, उष्ट्र, खच्चर, हाथी, सामान ढोनेवाला वाहन एवं भेड़का दान करना चाहिये। नारायणकी संतुष्टिके लिये पौष मासमें श्रद्धापूर्वक प्रासाद, नगर, गृह एवं ओढ़नेके वस्त्र आदिका दान करना चाहिये। पुरुषोत्तमकी संतुष्टिके लिये सभी समय दासी, दास, आभूषण एवं मधुर आदि षड् रसोंसे युक्त अन्नका दान करना चाहिये। चक्र धारण करनेवाले देवाधिदेवकी प्रसन्नताके लिये अपनी जो सबसे अधिक इच्छित वस्तु हो अथवा घरमें जो वस्तु पवित्र हो उसका दान करना चाहिये ॥ २९–३६ ॥

यः कारयेन्मन्दिरं केशवस्य पुण्याँल्लोकान् स जयेच्छाश्वतान् वै।
दत्त्वारामान् पुष्पफलाभिपन्नान् भोगान् भुङ्क्ते कामतः श्लाघनीयान् ॥ ३७ ॥

पितामहस्य पुरतः कुलान्यष्टौ तु यानि च। तारयेदात्मना सार्धं विष्णोर्मन्दिरकारकः ॥ ३८ ॥
इमाश्च पितरो दैत्य गाथा गायन्ति योगिनः। पुरतो यदुसिंहस्य ज्यामघस्य तपस्विनः ॥ ३९ ॥
अपि नः स्व कुले कश्चिद् विष्णुभक्तो भविष्यति। हरिमन्दिरकर्ता यो भविष्यति शुचिव्रतः ॥ ४० ॥
अपि नः सन्ततौ जायेद् विष्ण्वालयविलेपनम्। सम्मार्जनं च धर्मात्मा करिष्यति च भक्तितः ॥ ४१ ॥
अपि नः सन्ततौ जातो ध्वजं केशवमन्दिरे। दास्यते देवदेवाय दीपं पुष्पानुलेपनम् ॥ ४२ ॥
महापातकयुक्तो वा पातकी चोपपातकी। विमुक्तपापो भवति विष्ण्वायतनचित्रकृत् ॥ ४३ ॥

केशवभगवान्का मन्दिर-निर्माण करानेवाला मनुष्य सतत स्थायी पुण्यलोकोंको प्राप्त करता है। फल-फूलवाले वाटिकाओंका दान करनेवाला इच्छानुसार प्रशंसनीय भोगोंका उपभोग करता है। विष्णुभगवान्के मन्दिरका निर्माण करानेवाला पुरुष अपने पितामहसे आगेके आठ कुलपुरुषोंका उद्धार करता है। दैत्य! पितरोंने यदुश्रेष्ठ योगी एवं तपस्वी ज्यामघके सामने इस गाथाका वर्णन किया था। क्या हमारे कुलमें पवित्र व्रत धारण करनेवाला इस प्रकारका कोई विष्णुभक्त उत्पन्न होगा जो हरिका मन्दिर बनवायेगा? क्या हमारी सन्ततिमें कोई विष्णुमन्दिरमें श्रद्धापूर्वक चूने आदिसे सफाई करानेवाला और झाड़ू देनेवाला धार्मिक उत्पन्न होगा? क्या हमारी सन्ततिमें ऐसा कोई होगा जो केशवके मन्दिरमें ध्वजाका दान करेगा और देवदेवेश्वरको दीप, पुष्प और सुगन्धित